खण्डनखण्डखाद्यम्,

कवितार्किकचूडामणिश्रीहर्षमिश्रप्रणीतम् ।

श्रीपण्डितचण्डीप्रसादसुकुल-
विरचितभाषानुवादयुतम् ।

प्रकाशकस्थानम्-
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,
काशी ।

खण्डनखण्डखाद्यम्,

कवितार्किकचूडामणिश्रीहर्षमिश्रप्रणीतम् ।

श्रीपण्डितचण्डीप्रसादसुकुल-
विरचितभाषानुवादयुतम् ।

प्रकाशनस्थानम्—
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,
काशी ।

श्रीकवितार्किकचूडामणिश्रीहर्षमिश्रप्रणीतम्,

खण्डनखण्डखाद्यम् ।

काशीस्थश्रीजोखीराम-मटरूमल्लगोयनका-संस्कृतमहाविद्यालयप्रधानाध्यापकेन

पण्डितश्रीचण्डीप्रसादसुकुलेन

विरचितया भाषाटीकया समेतम् ।

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः, काशी ।

संवत् १९८५

प्रथमावृत्तिः १०००

प्रकाशकः—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका,
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय,
काशी।

मुद्रकः—
माधव विष्णु पराड़कर,
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय,
काशी।

भूमिका

वेद के चरम भाग को वेदान्त कहते हैं। वेदान्त ब्रह्म (परमात्मा) का प्रतिपादन करता है, अतः उसे ब्रह्मविद्या कहते हैं, और रहस्य तथा ब्रह्म-प्राप्तिसाधन होने के कारण उपनिषद् भी कहते हैं। वेदान्त पद का मुख्यतः वाच्य उपनिषद् ही है। शारीरकभाष्य-प्रभृति वेदान्तपरिभाषापर्यन्त ग्रन्थों में वेदान्त पद का (वेदान्त के व्याख्यानरूप होने से) उपचार से ही प्रयोग होता है। आधुनिक जनता वेदान्त पर अकर्मण्यता दोष लगाती है। कहती है कि वेदान्ती कर्म्मवीर नहीं होते हैं। उनको वेदान्तसूत्रकार भगवान् वेदव्यास के वेदविभाग और इतिहास-पुराण-निर्माणरूप कर्मशीलता पर तथा भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य के सूत्रभाष्यादिनिर्माण और सनातनधर्म-प्रचाररूप कर्म्मण्यता पर ध्यान देना चाहिये। भगवद्गीतोपदेश के श्रवणानन्तर ही अर्जुन ने संग्रामादि अनेक कार्य किये थे। तथा योगवाशिष्ठ-श्रवणानन्तर ही भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने रावणकुल-विध्वंसादि परश्शत कार्य किये थे। वेदान्त आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराता है, शोक और मोह को दूर करता है एवं राग और द्वेष का उच्छेद करता है। अकर्मण्यता आलस्यजन्य है और पुरुष का दोष है, वेदान्तशास्त्र का दोष नहीं है।

वेदान्तशास्त्र कहता है कि प्रमाण, प्रमेयआदि निखिलपदार्थ अनिर्वचनीय हैं, निर्वचन (लक्षण) न होने से स्वप्नवत् मिथ्या हैं। इसीसे वेदान्त को अनिर्वचनीयवाद भी कहते हैं। परन्तु प्रमाण प्रमेय के लक्षणों का खण्डन प्राधान्येन किसी वेदान्त ग्रन्थ में कहीं भी नहीं किया गया है। प्रत्युत स्वाभिमत प्रमाण, प्रमेयआदि पदार्थों का चित्सुखी अद्वैतसिद्धिआदि ग्रन्थों में निर्वचन (लक्षण) कर व्याघात को आश्रय दिया गया है। कवितार्किकचूडामणि प्रणीत खण्डनखण्डखाद्य ही एक ग्रन्थ है जिसमें एक एक कर सब लक्षणों का अकाट्य युक्तियों से खण्डनकर अनिर्वचनीयतावादरूप नाम की रक्षा की गई है। इसीसे खण्डन को अनिर्वचनीयतासर्वस्व भी कहते हैं। लक्षण-खण्डनरूप खाँडनिर्मित मिठाई इस ग्रन्थ में है, अतः इसका अन्वर्थ खण्डनखण्डखाद्य नाम है और अतिप्रसिद्ध होने से कोई २ खण्डन या खण्ड-खाद्य भी कहते हैं। यदि कहा जाय कि खण्डनोक्त खण्डनों का अद्यावधि किसी ने समाधान नहीं किया है, प्रत्युत कई अंशों में मान लिया है, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

भूतल में घट, संयोगसम्बन्ध से रहता है और घट-संयोग, समवायसम्बन्ध से और समवाय, स्वरूपसम्बन्ध से रहता है—यह न्याय का सिद्धान्त है। यहाँ पर खण्डनकार कहते हैं कि यदि अन्त में स्वरूप को मानना ही है, तो भूतल में घट स्वरूपसम्बन्ध से रहता है ऐसा आरम्भ में ही क्यों न मान लें। सम्बन्ध परम्परा को क्यों मानें। "इदं सत् इदं सत्" ऐसी अनुगत प्रतीति से जैसे सत्ता जाति सिद्ध होती है वैसे ही "इदमेकम्,

इदमेकम्" इस अनुगत प्रतीति से एकत्व जाति की सिद्धि क्यों न हो, दोनों स्थानों में एक सी अनुगत प्रतीति होने पर भी एकत्व को गुण और सत्ता को जाति यदि मानें, तो विपरीत ही अर्थात् सत्ता को गुण और एकत्व को जाति क्यों न मानें। ऐसे अनेक खण्डन हैं।

खण्डन के अवलोकन से ज्ञात होता है कि पूर्व काल में शून्यवादी बौद्धों ने वितण्डा-रूप शास्त्रार्थ का आश्रयण कर प्रायः पण्डितमात्र को व्याकुल कर दिया था। और वे लोग कुछ नहीं मानते थे, जिसके खण्डन से स्वयं भी कहीं निगृहीत होते। पीछे विद्वानों ने उनको शास्त्रार्थ में १६ (षोडश) पदार्थों का स्वीकार कराकर अपसिद्धान्त से निगृहीत करने अथवा शास्त्रार्थ से निष्कासन करने के अर्थ प्रमाणप्रमेयादि १६ पदार्थों का स्वीकार शास्त्रार्थ का हेतु है—ऐसा शास्त्रार्थ का एक नवीन नियम बनाया। महर्षि गौतम जी ने परस्पर असंकीर्ण द्रव्यत्वादिरूप से सप्त पदार्थों का विभाग न कर परस्पर संकीर्ण प्रमाणत्वादिरूप से १६ पदार्थों का विभाग इसी अभिप्रायसे किया है। बहुत विचारने पर भी प्रमाणत्वादिरूपसे १६ पदार्थ-विभाग का शास्त्रार्थ व्यवस्था से अन्य कारण ज्ञात नहीं होता। इसके बाद इस नियम के अनुसार अद्वैतवादियों का भी शास्त्रार्थ में अनधिकार न हो, इसलिये खण्डन में सब से पहिले इस नियम का ही खण्डन किया है। और शास्त्रार्थ में अधिकार पाकर "लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः" इस सिद्धान्त के अनुसार प्रमाण से वस्तु-सिद्धि में अन्योन्याश्रय हो जायगा। देखिये—प्रमा का करण प्रमाण है और प्रमात्व वस्तुतत्व के अधीन है, अतः प्रमाण से वस्तु की सिद्धि और वस्तुतत्व से प्रमाण की सिद्धि। अतः लक्षण से ही वस्तु की सिद्धि होने से लक्षणों के खण्डन द्वारा सब प्रमाण प्रमेय की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन किया गया है।

इस ग्रन्थ की भूमिका में आचार्य ने प्रमाणादि-स्वीकार के शास्त्रार्थहेतुत्व का खण्डन किया है। तदनन्तर संक्षेप से शून्यवाद और अद्वैत (स्वप्रकाश) वाद का प्रतिपादन कर इन दोनों में परस्पर भेद दिखाया है। इसके बाद अद्वैत का साधन और भेद का खण्डन किया गया है। और ग्रन्थनिर्माण का प्रयोजन तत्वनिर्णय और विजय को दिखाया है। वाद, जल्प और वितण्डा इन तीनों शास्त्रार्थों में तथा शून्यवाद, अद्वैतवाद, द्वैतवाद सब मतों में खण्डन-युक्तियों का एकसा उपकार दिखा कर भूमिका की समाप्ति की है। प्रथम परिच्छेद में लक्षणसामान्य का और क्रम से प्रमा-प्रमाण के तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि रूप ६ प्रमाण-लक्षणों का तथा असिद्ध, विरुद्ध, सव्यभिचार, सत्प्रतिपक्ष, बाध ५ हेत्वाभास-लक्षणों का खण्डन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर-प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिबन्दी और अपसिद्धान्त इन पांच निग्रहस्थानों का खण्डन कर तृतीय परिच्छेद में किंशब्दार्थ के निर्वचन का खण्डन किया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में भाव, अभाव, विशिष्ट, द्रव्य, गुण, कर्म्म, विशेष, जाति, सम्बन्ध, आधार, विषयविषयिभाव, भेद, कारणत्व, वर्त्तमानादिकाल, प्रागभाव, ध्वंसाभाव, संशय, भावाभावविरोध, तर्क के लक्षणों का खण्डन करके अन्त में उपदेश दिया है कि जिन लक्षणों का खण्डन विस्तार के भय से इस ग्रन्थ में नहीं किया गया है। उनका खण्डन भी खण्डनोक्त युक्तियों के योजन से अथवा स्वयं तत्सदृश युक्तियों की कल्पना से करना चाहिये। और यदि दैववश युक्तिस्फुरण न हो तो लक्षणघटक अन्य पदार्थ के निर्वचन का प्रश्न कर उसी का खण्डन करना चाहिये। इस प्रकार से त्रिधा खण्डन युक्तियां का सर्वत्र भ्रमण हो सकता है।

श्री ६ मान् कवितार्किकचूड़ामणि उक्त ग्रन्थ के निर्माता श्रीहर्षमिश्र का स्थान संस्कृत साहित्य में बहुत उच्च है। इनका जैसा सरस कविता पर अधिकार था, वैसा

ही कर्कश तर्कशास्त्र पर भी अधिकार था। ये जितेन्द्रिय (ब्रह्मचारी) और समाधिनिष्ठ थे, इनको समाधि में ब्रह्म (परमेश्वर) का दर्शन होता था। ये त्रयोदशशताब्दी के सम्राट् कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द्र (जयन्तचन्द्र) की राजसभा के प्रधान पण्डित थे। राजसभा में आने पर राजा के समीप में इनको विशिष्ट आसन मिलता था। और सम्राट् निजकरकमल से इनको दो पान के [1]बीड़े देते थे। इनकी बनाई हुई छोटी बड़ी अनेक पुस्तक हैं। जैसे स्थैर्य्यविचार, श्रीविजयप्रशस्ति, खण्डनखण्डखाद्य, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, अर्णववर्णन, छन्दःप्रशस्ति, शिवशक्तिसिद्धि, ईश्वराभिसन्धि और नैषधचरित इत्यादि। ये पूर्ण आस्तिक थे। इनका विश्वास था कि हमारा बुद्धिवैभव [2]चिन्तामणि मन्त्र-चिन्तन का फल है। नैषधीय-पुरुषोत्तम स्तुति से प्रतीत होता है कि ये शुष्क वेदान्ती ही नहीं किन्तु भगवद्भक्त भी थे। खण्डन के अन्तिम श्लोक तथा नैषध के सर्गान्त श्लोक से यही इनका प्रामाणिक जीवन चरित प्रतीत होता है।

खण्डनखण्डखाद्य प्रथम परिच्छेद पृ० ३१ में लिखा है कि "वेद प्रामाण्य का और सिद्धार्थ उपनिषद्प्रामाण्य का साधन ईश्वराभिसन्धि में करेंगे" इससे ज्ञात होता है कि खण्डन के बाद ईश्वराभिसन्धि बनी है। और खं० प्र० परिच्छेद पृष्ठ ६३ में लिखा है कि "अवोचाम च जल्पविचारप्रस्तावे विस्तरेणैतत्" यहां शङ्कर मिश्र जी ने "ईश्वराभिसन्धौ" इसका अध्याहार किया है इससे ज्ञात होता है कि ईश्वराभिसन्धि के बाद खण्डन का निमार्ण हुआ है इन विरुद्ध लेखों के समन्वय का उपाय एक यही है कि ईश्वराभिसन्धौ इसका अध्याहार न करें, और श्रीहर्षकृत कथालोचन नामक ग्रन्थ की कल्पना कर "कथालोचने" का अध्याहार करें। नैषध षष्ठ सर्ग के अन्त में लिखा है "षष्ठः खण्डनखण्डतोपि सहजात् क्षोदक्षमे" इससे ज्ञात होता है कि खण्डन के बाद नैषधचरित का निर्माण हुआ है। और ख० प्र० परिच्छेद पृ० ६० में लिखा है कि "यथाच परिहृतचापलमात्मतत्वामृतसरसि निमज्य रज्यति मानसं तथाहमकथयं नैषधचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्गे" इससे ज्ञात होता है कि नैषधचरित के बाद खण्डन का निर्माण हुआ है। इस विरोध का परिहार नैषधचरित में भावी खण्डन के (बुद्धि विषय होने से) निर्देश से हो सकता है। ऐसी अनेक बातें हैं, परन्तु सब को लिखने से यह भूमिका न हो कर स्वतन्त्र निर्मिति हो जायगी। अतः इधर से निवृत्त होते हैं।

ग्रन्थकार ने जान कर इस ग्रन्थ को कठिन बनाया है। आप अन्त में लिखते हैं कि [3]पण्डितम्मन्य अल्पज्ञ इस ग्रन्थ में तर्करस का आस्वाद न करें, इस लिये हमने कहीं कहीं ग्रन्थ-ग्रन्थि (काठिन्य) कर दी है। यह ग्रन्थ अद्वैतवेदान्तियों का सर्वस्वभूत और प्राणवत् प्रिय होने पर भी अतिकाठिन्य से दुर्बोध हो रहा है। इस दुर्बोधता को दूर करने तथा गाँठ को खोलने के लिये मैंने इस ग्रन्थ का हिन्दी (मातृभाषा) में अनुवाद किया है। यद्यपि पूरा पूरा अनुवाद नहीं हुआ है तथापि हिन्दी अनुवाद लिखनेवालों के लिए पथप्रदर्शन कुछ हो गया है। इससे चित्त संतुष्ट है।

१—ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद् यः साक्षात् कुरुते समाधिषु परब्रह्मप्रमोदार्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः, श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्॥

२—श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥

३—ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया, प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठती मास्मिन्खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुः श्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादयत्वेतत्तर्करसोर्मिमज्जन सुखेष्वासज्जनं सज्जनः॥

यह अनुवाद तथा इसका मुद्रण अनूपसहर भेरिया में प्रायः निवासी श्री ६ स्वामी अच्युत मुनि जी की कृपा से हुआ है, अतः उक्त मुनि महाराज का मैं बड़ी भक्ति से स्मरण करता हूँ। यद्यपि चौदह वर्ष पूर्व ही इस अनुवाद का निर्माण हो चुका था परन्तु अनेक उलझनों के कारण आप महानुभावों के सन्मुख उपस्थित नहीं हो सका। सम्प्रति दानवीर श्रीसेठ गौरीशङ्कर गोयनका जी की उदारता से इसका प्रकाशन हुआ है, अतः श्रीसेठ जी का मैं परम कृतज्ञ हूँ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन तथा संशोधन में न्यायाचार्य पं० गिरीश शुक्ल जी, साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री जी और साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त जी से बहुत सहायता मिली है, अतः इन लोगों को हृदय से धन्यवाद देते हैं। और विद्वानों के करकमलों में इस उपक्रम को सादर समर्पण करते हैं तथा प्रार्थना करते हैं कि आप लोग स्वाभाविककरुणा से इस उपक्रम को पूर्ण करें।

वैशाख कृष्ण ५ सं० १९८५
काशी।

चण्डीप्रसाद सुकुल।

खण्डनखण्डखाद्य में वर्णित मुख्य २ विषयों का

सूचीपत्र--

श्रीगणेशाय नमः

अथ खण्डनखण्डखाद्यम्

भाषानुवादसहितम्

अविकल्पविषय एकः, स्थाणुः पुरुषः श्रुतोस्ति यः श्रुतिषु;
ईश्वरमुमया न परम्, वन्देऽनुमयापि तमधिगतम् ॥ १ ॥
मानापनोदनविनोदनते गिरीशे,
भासेवसङ्कुचितयोरुचितन्तदिन्दोः ।
भेत्तुम्भवानिशचितन्दुरितम्भवानि !
नम्रीभवानि घनमङ्घ्रिसरोजयोस्ते ॥ २ ॥

अथ भाषानुवादः

श्रेयो दिशतु सश्रीशः सच्चिदानन्दविग्रहः । यज्ज्ञानाद्ध विरसायन्ते पराचान्तु निरुक्तयः ॥ १ ॥
अनुमापतये तस्मायप्युमापतये सदा । नमोस्तु गुरवे सर्व-वेदिनेपि द्विवेदिने ॥ २ ॥
श्रीहर्षमिश्रकृतखण्डनखण्डखाद्य—भाषानुवादकरणे कृतसाहसोहम् ।
यत्पादपङ्कजपरागनिषेवणेन, तान्पूज्यपादगुरुदेववरान् नमामि ॥ ३ ॥

मैं केवल उमा ही से नहीं किन्तु अनुमा से (अनुमान से, या श्रवण, मनन, आदि के पीछे मुक्त से) भी प्राप्त उस परमेश्वर का वन्दन करता हूँ; जो श्रुतियों में अनेक नाम रूप से श्रुत, एक, नित्य, और निर्विकल्प समाधि का विषय है ॥ १ ॥

हे भवानि ! मैं, संसार में अनादिकाल से संचित पाप को दूर करने के लिये आप के उस चरण कमल में नत होता हूँ, जो मान छुड़ाने के लिये प्रियतम के नत होने पर उन के शिरोभूषण चन्द्र के किरणों से जैसे सङ्कुचित हों ऐसे औचित्यवश सङ्कुचित हैं । अथवा

१ यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है क्योंकि जो उमा से अधिगत है वह न - उमा = अनुमा से अधिगत कैसे होगा ? इस तरह आपात से विरोध की प्रतीति है । जो स्थाणु (शुष्कवृक्ष) है, वह पुरुष; तथा जो निर्विकल्पक (प्रकार रहित ज्ञान) का विषय है वह श्रुतज्ञान का विषय कैसे ? ऐसा आपात से विरोध का ज्ञान है ।

२ यहाँ श्लेष अलङ्कार है, प्रथम पक्ष में 'मानः (ईर्ष्या) तस्य अपनोदनं (दूरीकरण) तदर्थविनोदः' (क्रीड़ा) ऐसा समास है । द्वितीय पक्ष में 'मानं (प्रमाणं) अपनुद्यते अनेनेतिमानापनोदनम् अज्ञानं तस्य विनोदः (दूरीकरणं) तत्र नते' ऐसा समास है ।

३ पराचां (बाह्यपदार्थानां) निरुक्तयो (लक्षणानि)

'शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्तः,
सर्वत्र निर्वचनभावमखर्वगर्वान्;
धीरा यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा,
लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम् ॥ ३ ॥

अथ 'कथायां वादिनो नियममेतादृशम्' मन्यन्ते–"प्रमाणादयः सर्वतन्त्रसिद्धान्ततया सिद्धाः पदार्थाः सन्तीति कथकाभ्यामभ्युपेयम्" ॥ ४ ॥ तदपरे न क्षमन्ते। तथाहि प्रमाणादीनां सत्वं यदभ्युपेयम् कथकेन तत् कस्य हेतोः ? किं तदनभ्युपगच्छद्भ्यां वादिप्रतिवादिभ्याम् 'तदभ्युपगमसाहित्यनियतस्य वाग्व्यवहारस्य प्रवर्त्तयितु-

अज्ञान के नाश के लिये जीवों के नत (उपासना में तत्पर) होने पर उनकी उपासना रूपचन्द्र के किरणों से सङ्कुचित (साकारता को प्राप्त) हैं ॥ २ ॥

हे धीरो ! आपलोग जैसा लिखा है वैसा ही (ऊहापोह से रहित भी) इस ग्रन्थ को शुक के तुल्य कह कर पदार्थ मात्र के लक्षणों के खण्डन द्वारा अति गर्व से युक्त पण्डितों को सब जगह चुप करते हुए लोक में दिग्विजय रूप क्रीड़ा का विस्तार करें ॥ ३ ॥

अथ। कथा—(शास्त्रार्थ) के आरम्भ से पहिले नैयायिक आदि भेदवादी एक ऐसा भी नियम मानते हैं कि सब तन्त्रों (शास्त्रों) के सिद्धान्त रूप से सिद्ध "प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान, सोलह पदार्थ हैं–यह वादी, प्रतिवादी दोनों को अवश्य मान लेना चाहिये–" ॥४॥ अद्वैतवादी वेदान्ती इस नियम को नहीं मानते, वे कहते हैं कि शास्त्रार्थ के

१ 'शब्दस्य अर्थः तस्य निर्वचनम्'···ऐसा समास है। विद्यासागरी और शांकरी में शब्दश्च अर्थश्च··· ऐसा लिखा है, इसमें शब्द विशेषण व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि शब्द भी शब्द-शब्द का अर्थ ही है, "अर्थनिर्वचन"······कहने से ही इष्ट सिद्ध हो जायगा। ठीक ठीक बात तो यह है कि "इस शब्द का यह अर्थ है" इस बोध के द्वारा शब्दप्रयोग रूप व्यवहार की सिद्धि ही लक्षण का प्रयोजन है। इससे शब्द के अर्थ का ही लक्षण होता है।

२ शास्त्रार्थ के आरम्भ से पहिले वादी, प्रतिवादी, दोनों मिलकर कुछ नियम मान लेते हैं। इसलिये कि शास्त्रार्थ निर्विघ्न समाप्त हो। जैसे—सत्यनिष्ट, दोनों से अधिक विद्वान्, सीमा के लांघने वाले को दण्ड देने में समर्थ, मध्यस्थ होना चाहिये; वादी को अपने पक्ष की प्रमाण-तर्क से सिद्धि करनी चाहिये, प्रतिवादी को वादी के पक्ष में दोष देना चाहिये, ऐसे बहुत से नियम देश काल के अनुसार करते हैं। नैयायिक इनसे अधिक एक और नियम सब को मनवाना चाहते हैं। "प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थ हैं, यह वादी प्रतिवादी दोनों को शास्त्रार्थ से पहिले ही मान लेना चाहिये।" उनका आशय यह है कि यदि प्रतिवादी इस नियम को मान लेगा तो अपने सिद्धान्त शून्यवाद आदि से गिर जायगा। और यदि नहीं मानेगा तो शास्त्रार्थ का अनधिकारी होने से विद्वत्समाज से बहिष्कृत हो जायगा। इस ग्रन्थ में सब से प्रथम उसी नियम का खण्डन करते हैं।

३ एकम् अपरम् अपीतिशेषः। अपिना प्रमाणैर्व्यवहर्तव्यमित्यादिनियमान्तराणां संग्रहः

४ इस ग्रन्थ को देखने से ज्ञात होता है कि नियत व्याप्य को कहते हैं। यह ठीक भी है, क्योंकि 'दण्ड-नियत घट है' ऐसा प्रयोग होता है 'घट-नियत दण्ड है' ऐसा प्रयोग नहीं होता है। परन्तु "नियतोपस्थिकः प्रातिपदिकार्थः" "अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियतापूर्ववर्त्तिता" इत्यादि ग्रन्थों के देखने से ज्ञात होता है कि नियत व्यापक को कहते हैं। वह अनुभव विरुद्ध सा ज्ञात होता है।

मशक्यत्वात् ? उत कथकाभ्यां प्रवर्त्तनीयवाग्व्यहारं प्रति हेतुत्वात्, उत लोकसिद्धत्वात्, अथवा तदनभ्युपगमस्य तत्वनिर्णयविजयफलातिप्रसञ्जकत्वात् ॥५॥

न तावदाद्यः । तदनभ्युपगच्छतोपि चार्वाकमाध्यमिकादेर्वाग्विस्तराणाम्प्रतीयमानत्वात् । तस्यैव वाऽनिष्पत्तौ भवतस्तन्निरासप्रयासानुपपत्तेः । सोयमपूर्वोवाक्स्तम्भनमन्त्रो भवताभ्यूहितः । नूनं यस्य प्रभावाद्व भगवता सुरगुरुणा लोकायतकानि सूत्राणि न प्रणीतानि, तथागतेन वा मध्यमागमा नोपदिष्टाः, भगवत्पादेन वा बादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यन्नाभापि ॥६॥ प्रमाणाद्यनभ्युपगम्यापि प्रवर्त्तयन्तु नाम ते वाचोभङ्गीः, तास्तु साधनबाधनक्षमा न भवन्ति तावतेति ब्रूम इतिचेन्न । प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्त्तितत्वं तदीयसाधनबाधनाऽक्षमतायां न नियामकं, किन्तु [1]सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वमित्य-

आरम्भ से पहिले शास्त्रार्थी प्रमाणादि की सत्ता को क्यों मानें ? क्या इस कारण से कि प्रमाणादि के स्वीकार के विना वाग्व्यवहार (वचन) की प्रवृत्ति नहीं कर सकते हैं । क्योंकि वाग्व्यवहार, प्रमाणादि के स्वीकार से नियत (व्याप्य) है । अर्थात् प्रमाणादि के स्वीकार के विना नहीं रहता है । या इस कारण से कि प्रमाणादि-स्वीकार उस वाग्व्यवहार का हेतु है, जिसको वादी, प्रतिवादी, दोनों करना चाहते हैं। या इससे कि "प्रमाणादि-स्वीकार शास्त्रार्थ-हेतु है"—यह लोक सिद्ध है । या इस कारण से कि शास्त्रार्थ का फल, (तत्व-निर्णय, या विजय) प्रमाणादि-स्वीकार के विना सिद्ध नहीं हो सकता है ॥५॥

प्रथम विकल्प-खण्डन—इनमें पहिला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि चार्वाक, माध्यमिक (बौद्ध) प्रभृति, प्रमाणादिको नहीं मानते हैं, और उनके भी शास्त्रार्थ में वाग्व्यवहार देखे जाते हैं । यदि उनके शास्त्रार्थ में वाग्व्यवहार न हो तो उनके मत के खण्डन के लिये बड़ी बड़ी पुस्तकों के लिखने में आपका परिश्रम व्यर्थ हो जायगा। आपसे विलक्षण वाक्स्तम्भनकारी, यह, यह, मन्त्र कल्पित हुआ है । मानो जिस मन्त्र के प्रभाव से ही भगवान् सुरगुरु (बृहस्पति) ने लोकायत सूत्र का प्रणयन नहीं किया है; और तथागत (बुद्धदेव) ने मध्यमागम (शून्यवाद) का उपदेश नहीं दिया है; श्री ६ भगवत्पाद (शंकराचार्य्य जी) ने श्री ६ वेदव्यासजी के सूत्रों पर भाष्य नहीं किया है ॥ ६ ॥ समर्थन—चार्वाक आदि प्रमाणादि को न मानकर भी वाग्व्यवहार की प्रवृत्ति करें । परन्तु उनका वचन प्रमाणादि को न मानने से स्वपक्षके साधन और परपक्ष के बाधन में क्षम नहीं है । खण्डन—आपलोगों ने जो उनके वचन के खण्डन में बड़ी बड़ी पुस्तकें लिखी हैं, उसीसे यह कल्पन हो सकता है कि उनका वचन साधन बाधन में समर्थ है । और ठीक बात तो यह है कि वचन में जो साधन तथा बाधन की अशक्ति है उसका कारण, प्रमाण आदि को न मानकर प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु सद्वचनाभासत्व है, इसको आप भी अवश्य मानेंगे । अन्यथा यदि प्रमाणादि के अस्वीकार को साधन बाधन की अशक्ति

[1] सद्वचन = सद्धेतुप्रतिपादकवाक्य, और सद्वचनाभास = हेत्वाभासप्रतिपादकवाक्य, उसका लक्षण = हेत्वाभासप्रतिपादकवाक्यत्व, तद्योगित्व = उसका सम्बन्ध । विद्यासागरी और शाङ्करी दोनों में यह अर्थ किया है—'सद्वचनाभासः = स्फुटावभासो व्यभिचारादिः तल्लक्षणं = साध्यात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यादि...' मेरे समझ में यह नहीं आता है कि असद्धेतु में रहनेवाला यह धर्म वचन रूप सद्वचनाभास में कैसे जायगा ?

वश्यमभ्युपेयम्भवता येनाभ्युपगम्यापि प्रमाणादीनि प्रवर्त्तिता मतान्तरानुसारिभिर्व्यवहारा अभ्युपगतप्रमाणादिसत्त्वैर्मतान्तरव्यवहारिभिरपरैरतथाभूता इति कथ्यन्ते ॥ ७ ॥ यदि त्वस्मद्वचसि सद्वचनाभासलक्षणं न भवान् दर्शयितुमीष्टे तदाऽनभ्युपगम्य प्रमाणादीनि भवता प्रवर्त्तितोयं व्यवहार इति शतकृत्वस्त्वयोच्यमानेपि नास्माकमादरः। अन्यथाऽभ्युपगम्य प्रमाणादीनि भवता प्रवर्त्तितोयं व्यवहार इत्येतावता भवदीयोव्यवहाराभास इत्यस्माभिरपि वक्तुं शक्यत एव ॥८॥ ननु यदि प्रमाणादीनि न सन्ति तदा व्यवहार एव धर्म्मी कथं सिध्येत् ? दूषणादिव्यवस्था वा कथं स्यात् ? सर्वविधिनिषेधानां प्रमाणाधीनत्वात्। मैवम् न ब्रूमोवयं न सन्ति प्रमाणादीनीति स्वीकृत्य कथारभ्येति, किन्नाम सन्ति न सन्ति वा प्रमाणादीनीत्यस्यां चिन्तायामुदासीनैः, यथा स्वीकृत्य तानि व्यवह्रियते तथाव्यवहारिभिरेव कथा प्रवर्त्यतामिति ॥९॥ अन्यथा न सन्ति प्रमाणादीनीति मतमस्माकमारोप्य यदिदं भवता दूषणमुक्तं तदपि वक्तुं न शक्यम्। कीदृशीं मर्य्यादामालम्ब्य प्रवृत्तायां कथायामिदं दूषणमुक्तम् ? किं प्रमाणादीनां सत्त्वमभ्युपगम्योभाभ्यां वादिभ्यां प्रवर्त्तितायां कथायाम् ? उतासत्वमभ्युपेत्य ? अथैकेन

का कारण मानें, तो यह भी मानना पड़ेगा कि प्रमाणादि-स्वीकार साधन बाधन की शक्ति का कारण है, और यह मान नहीं सकते हैं; क्योंकि प्रमाणादि को माननेवाले नैयायिक, प्रमाणादि को मानने वाले मीमांसक के वचन को साधन-बाधन में असमर्थ कहते हैं। प्रमाणादि-स्वीकार को साधन-बाधन की शक्ति के अकारण होनेपर भी यदि आप हमारे वचन में आभासत्व (दोष) न दिखा सकें, तो सौ बार भी कहें कि प्रमाणादि न मानकर प्रवृत्त होने से यह आपका वाग्व्यवहार प्रमाणाभास (अप्रमाण) है; परन्तु हमारा आदर आपके वचन में नहीं होगा। यदि वचन में आभासत्व को न दिखाकर भी साधन में अक्षमत्व का प्रतिपादन कर सकें, तो हम भी कह सकते हैं कि प्रमाणादि को मान कर प्रवृत्त होने से आप का वचन भी साधन में अक्षम है ॥८॥ समर्थन—यदि प्रमाणादि नहीं हैं तो वाग् व्यवहार रूप धर्म्मी (अङ्गी) कैसे सिद्ध होगा ? और दूषण आदि की व्यवस्था कैसे होगी ? क्योंकि सब विधि निषेध, प्रमाण के ही अधीन हैं। खण्डन–हम यह नहीं कहते हैं कि "प्रमाण आदि नहीं हैं" ऐसा मान कर शास्त्रार्थ का आरम्भ करिये। किन्तु प्रमाणादि हैं या नहीं इस चिन्ता में उदासीन होकर जैसा आप मानते हैं वैसा ही मान कर शास्त्रार्थ का आरम्भ करना चाहिये ॥९॥ अन्यथा (प्रमाणादि स्वीकार को यदि शास्त्रार्थ का अङ्ग मानें तो) 'प्रमाणादि नहीं हैं' ऐसा मेरा मत मान कर जो आप दोष देते हैं कि 'यदि प्रमाणादि नहीं हैं तो व्यवहार रूप धर्मी कैसे सिद्ध होगा' यह दोष देना भी नहीं बनेगा। देखिये, किस मर्य्यादा (नियम) को मान कर प्रवृत्त शास्त्रार्थ में आप इस दोष को देते हैं ? क्या प्रमाणादि के सत्व को मान कर वादी प्रतिवादी दोनों से प्रवृत्त शास्त्रार्थ में ? या प्रमाण आदि के असत्व को मान कर दोनों से प्रवृत्त शास्त्रार्थ में ? या एक से सत्व को और अन्य से असत्व को मान कर प्रवृत्त शास्त्रार्थ में ? इनमें प्रथम विकल्प युक्त नहीं है, क्योंकि जो प्रमाणादि को मानते हैं उनके प्रति प्रमाण आदि को न मानने पर व्यवहार रूप धर्मी कैसे सिद्ध होगा ? इस दोष का देना नहीं बनता है, द्वितीय पक्ष में आप भी प्रमाण आदि के न मानने वाले सिद्ध होंगे। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसी शास्त्रार्थ के तुल्य अन्य शास्त्रार्थ को भी प्रमाणादि-स्वीकार के विना ही सिद्ध

सत्वमपरेणासत्वमङ्गीकृत्य। नाद्यः। अभ्युपगतप्रमाणादिसत्वम्प्रति एतादृशपर्य्यनु-योगानवकाशात्। द्वितीये स्वतोप्यापत्तेः। न तृतीयः तथैव कथान्तरस्यापि प्रसक्तेः ॥१०॥ उभयाभ्युपगमानुरोधित्वाच्च कथानियमस्य। अन्यथा स्वाभिप्रायमालम्ब्य तेनापि त्वद्वचसि यत्किंचिद्वागात्मनि दूषणेऽभिहिते कस्य जयो व्यवतिष्ठताम्; प्रमाणाभ्युपगन्तुरेव याव-न्नियमभरयन्त्रणा महती स्यात्। तस्मात्प्रमाणादिसत्वासत्वाभ्युपगमौदासीन्येन व्यवहार-नियमेन समयं बद्ध्वा प्रवर्त्तितायां कथायां भवतेदं दूषणमुक्तमित्युचितमेव तथासति स्यात् ॥११॥ योयं भवान् स्वाभिप्रायमपि नावधारयितुं शक्नोति दूरतः तस्मिन् परा-भिसन्धानावधारणप्रत्याशा ॥१२॥ अथ वादीकृत्य 'दुर्वैतण्डिकं तस्मिन्नुपाधौ वाधोऽभि-धीयते इत्येव नेष्यते, शिष्यादयस्तु तस्य कथानधिकारम् ज्ञाप्यन्ते, अतएव भगवान् भाष्यकारः "स प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते–" इत्याह स्म नतु प्रतिपद्यसे इति। मैवम्।

होने से 'प्रमाणादि का स्वीकार शास्त्रार्थ-हेतु है' यह कथन असङ्गत हो जायगा ॥१०॥ और शास्त्रार्थ-नियम वादी प्रतिवादी दोनोंके स्वीकारपर निर्भर है। इससे केवल आपके स्वीकार से प्रमाणादि का स्वीकार, शास्त्रार्थ हेतु हो भी नहीं सकता है। यदि शास्त्रार्थ-नियम को एक के स्वीकार का अनुरोधी मानें, तो यदि प्रतिवादी स्वेच्छा से स्वीकृत—"प्रतिवादी हुँ फट् शब्द के उच्चारण रूप दोष भी वादी के पक्ष में दे सकता है"—इस नियम से हुँ फट् के उच्चारण रूप दोष दे, तो किसका जय होगा? बल्कि नियम के एकानुरोधी होनेपर प्रमाणादि-स्वीकार को शास्त्रार्थ-हेतु माननेवाले को ही नियम से महान् क्लेश होगा। अतः आपने प्रमाण आदि के सत्व असत्व में उदासीनता से प्रवृत्त शास्त्रार्थ में—"यदि प्रमाणादि को न मानें तो व्यवहार रूप धर्म्मी कैसे सिद्ध होगा"—यह दोष दिया है, इस बात को हम दोनों यदि मान लें तो अच्छा है, जब आप अपने अभिप्राय के जानने में असमर्थ हैं, तो आपसे प्रमाणादि-स्वीकार शास्त्रार्थ में हेतु नहीं है—यह हम कहते हैं, प्रमाणादि ही नहीं हैं—यह नहीं कहते हैं, इस हमारे अभिप्राय के जानने की आशा तो अति दूर है ॥१२॥

समर्थन—यहाँ कोई शास्त्रार्थ नहीं होता है आप हमारे ग्रन्थ को उद्धृत कर खण्डन करते हैं, और हम भी वैतण्डिक को वादी बनाकर किसी शास्त्रार्थ में प्रमाणादि स्वीकार के शास्त्रार्थ-हेतुत्व की सिद्धि नहीं करते हैं; किन्तु शिष्य से वैतण्डिक के शास्त्रार्थ में अनधिकार का बोधन करते हैं; इसीसे न्याय भाष्यकार ने "सप्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते"—ऐसा कहा है। अर्थात् परोक्षवाची तत् शब्द से वैतण्डिक का परामर्श किया है, और प्रथम पुरुष की क्रिया दी है। इससे 'कीदृशी' इत्यादि विकल्प व्यर्थ है। खण्डन—शिष्य से भी आप यही कहेंगे कि चार्वाकादि का कथा में अधिकार नहीं है यह कैसे हो सकता है; क्योंकि यदि उनका

१ शास्त्रार्थ—वाद, जल्प, वितण्डा तीन प्रकार के हैं। वाद और जल्प में वादी, प्रतिवादी दोनों स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का खण्डन करते हैं। इनमें भेद यह है कि वाद में छल प्रयोग नहीं होता है और उसका फल सत्य-निर्णय है। जल्प में छल-प्रयोग भी होता है और उसका फल विजय है, वितण्डा में वादी स्वपक्ष का साधन, और प्रतिवादी उसके पक्ष का खण्डन करता है। उसका फल विजय है। वितण्डा से विजय के लिये जो प्रवृत्त हो उसे वैतण्डिक कहते हैं। दुष्टवैतण्डिक को दुर्वैतण्डिक कहते हैं।

२ यह वैतण्डिक यदि शास्त्रार्थ के प्रयोजन पूछनेपर मान लेगा तो प्रमाण भी मानही लेगा, यह उक्त भाष्य का अर्थ है।

शिष्यादीन् प्रति अपि चार्व्वाकादेर्दोषोयमित्येवाभिधातव्यम्, कथं च तथा स्यात् तस्य कथाप्रवेशनाप्रवेशनयोः तद्बाधात्तमत्वात् । कथायामेव हि निग्रहः ॥१३॥ नापि द्वितीयः । तथाहि स्यादप्येवं यदि कथकप्रवर्त्तनीयवाग्व्यवहारम्प्रति प्रमाणादीनाम् हेतुता तत्सत्त्वाऽनभ्युपगमे निवर्त्तेत । नत्वेवं सम्भवति । तथासति तत्सत्वानभ्युपगन्तॄणां वाग्व्यवहारस्वरूपमेव न निष्पद्येत हेत्वनुपपत्तेः । उक्तश्चायमर्थो यन्माध्यमिकादिवाग्व्यवहाराणां स्वरूपापलापो न शक्यत इति ॥१४॥ अथ मन्यसे कथकवाग्व्यवहारम्प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्वं, सत्वाच्चाभ्युपगमः, यत्सत् तद्ध अभ्युपगम्यते इति स्थितेरिति । मैवम् । कयापि नियमस्थित्या प्रवृत्तायां कथायां कथकवाग्व्यवहारम्प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्वं सत्वाच्चाभ्युपगमोभवता प्रसाध्यः ॥१५॥ कथातः पूर्वं तत्वावधारणं वा परपराजयं वाऽभिलपद्भ्यां कथकाभ्यां यावता विनाऽभिलपितं न पर्य्यवस्यति तावदनुरोद्धव्यम् । तच्च [1]व्यवहारनियमसमयबन्धादेव द्वाभ्यामपि ताभ्यां सम्भाव्यते इति व्यवहारनियमसमयमेव बध्नीतः ॥१६॥

अधिकार है तो अधिकार नहीं है—यह कथन व्याहत है, और यदि अधिकार नहीं है तो शिष्य उनको इस दोष से निगृहीत (विजित) कहाँ करेगा ? क्योंकि कथा में ही निग्रह होता है, और कथा में उनका अधिकार ही नहीं है ॥१३॥

द्वितीय विकल्प-खण्डन—द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि शास्त्रार्थ के प्रमाणादि तो कभी हेतु होभी सकते हैं । परन्तु प्रमाणादि-स्वीकार, हेतु नहीं हो सकता है । प्रमाणादि-स्वीकार भी हेतु होता, यदि शास्त्रार्थ में प्रमाणादि की हेतुता, प्रमाणादि को न मानने पर निवृत्त हो जाती। परन्तु ऐसा नहीं होता है, क्योंकि ऐसा मानें तो प्रमाणादि को न माननेवालों के वाग्व्यवहार के स्वरूप की ही निष्पत्ति, कारण के न होने से नहीं होगी। और यह बात हमने कही है कि माध्यमिकादि के वाग्व्यवहार के स्वरूप का अपलाप नहीं हो सकता है ॥१४॥

समर्थन—वाग्व्यवहार के हेतु होने से प्रमाणादि सत्य हैं, और सत्य होने से वे स्वीकार के योग्य हैं, क्योंकि जो सत्य होते हैं वे माने जाते हैं, ऐसी लोक की स्थिति है ।

खण्डन—इस युक्ति से भी प्रमाणादि-स्वीकार सिद्ध हुआ, प्रस्तुत (प्रमाणादि-स्वीकार का शास्त्रार्थ हेतुत्व) सिद्ध नहीं हुआ । किञ्च आप किसी नियम से प्रवृत्त कथा में वाग्व्यवहार के कारण होने से प्रमाणादि के सत्यत्व को और सत्यत्व होने से प्रमाणादि के स्वीकार को साधेंगे । यदि ऐसा है तो जिस कथा में प्रमाणादि की सत्ता को सिद्ध करेंगे उसीमें व्यभिचार होने से अथवा उसीके तुल्य अन्य कथा के भी निर्वाह होने से प्रमाणादि-स्वीकार कथा का हेतु सिद्ध नहीं हुआ ॥१५॥ कथा के आरम्भ से पूर्व जितने के विना तत्व-निश्चय, या वादी का पराजय रूप अभिलपित फल की सिद्धि न हो, उतना ही दोनों को मानना चाहिये । और अभिलपित फल की सिद्धि (व्यवहार-नियम से समयबन्ध [प्रतिज्ञारूपबन्धन] से ही) कथा प्रवृत्ति से हो सकती है; इससे दोनों व्यवहार-नियम से प्रतिज्ञा रूप बन्धन को स्वीकार करते हैं ॥१६॥

---

१ व्यवहारः = वाग्व्यवहारः शास्त्रार्थं इतियावत्, तस्य प्रयोजका नियमाः प्रमाणैर्व्यवहर्त्तव्यमित्यादिरूपाः, तैः समयस्य = प्रतिज्ञायाः 'इमान् नियमान् पालयिष्यामित्यादिरूपायाः' बन्धनं = करणम् ।

स च—"प्रमाणेन तर्केण च व्यवहर्त्तव्यम् वादिना । प्रतिवादिनापि कथाङ्गतत्त्वज्ञानविपर्य्ययलिङ्गप्रतिज्ञाहान्याद्यन्यतमनिग्रहस्थानं तस्य दर्शनीयम् । तद्व्युत्पादने प्रथमस्य भङ्गोव्यवहर्त्तव्यः । अन्यथातु द्वितीयस्यैव । तादृशेतरौ जेतृतया व्यवहर्त्तव्यौ । प्रामाणिकः पक्षः तात्त्विकतया व्यवहर्त्तव्यः"—इत्यादिरूपः ॥१७॥ अत एव व्यवहारनियमसमयवन्धेपिहेतुर्वक्तव्यः तथा च सोपि कथायाम्प्रवृत्तायामभिधातुं युक्तः इति प्रमाणसत्त्वहेत्वभिधानवत् प्रत्यवस्थानमनवकाशम् । द्वाभ्यामपि वादिभ्यां विचारप्रवृत्त्याऽभिलष्यमाणतत्त्वव्यवस्थाजयमूलत्वेन व्यवहारनियमस्य स्वेच्छयैव परिगृहीतत्वात् ॥१८॥ नचैवं प्रमाणानुपञ्जस्वेच्छामात्रपरिगृहीतमूलत्वात् मूलापरिशुद्धिसम्भवेन सर्वविचारविचार्य्यफलविप्लवापत्तिः स्यात् ? अविद्या[1]विद्यमानाऽनादिपारम्पर्य्याऽऽयातस्य लोकव्युत्पत्तिगृहीतसम्वादस्य च तस्यान्यथाभावासम्भाव्यतालक्षणस्वतःसिद्धपरिशुद्धित्वात् ॥१९॥ न च प्रमाणादीनां सत्तापीत्थमुभाभ्यामङ्गीकर्त्तुमुचिता । तादृश-

---

वह समयवन्ध—वादी को प्रमाण तथा तर्क से स्वपक्ष की सिद्धि करनी चाहिये, और प्रतिवादी को कथा के अङ्ग (फल) तत्वज्ञान के विपर्य्यय (अज्ञान वा अतत्वज्ञान) का हेतु = प्रतिज्ञाहान्यादि निग्रह-स्थान दिखाना चाहिये। यदि प्रतिवादी निग्रह-स्थान का समर्थन कर सके तो वादी का पराजय होगा, और यदि न कर सके तो उसका पराजय होगा। तादृश (पराजित) से अन्य जेता कहावेंगे। प्रमाण-युक्त पक्ष यथार्थ (ठीक) माना जायगा—इत्यादि रूप हैं ॥१७॥ शंका—व्यवहार-नियम, शास्त्रार्थ का कारण है, इसका साधन भी शास्त्रार्थ में ही होगा, तब तो जिस शास्त्रार्थ में उसकी सिद्धि होगी उसीमें व्यभिचार होने से तथा उसीके तुल्य अन्य शास्त्रार्थ के भी निर्वाह होने से व्यवहार-नियम भी शास्त्रार्थ का अङ्ग सिद्ध नहीं होगा। खण्डन—विचार (शास्त्रार्थ की प्रवृत्ति से अभिलषित जो तत्व-ज्ञान और विजय रूप फल उसके कारण होने से वादी प्रतिवादी दोनों अपनी अपनी इच्छा से समय-बन्ध को कारण मान लेते हैं ॥१८॥ शंका—समय बन्ध की हेतुता को प्रमाण के विना ही (स्वेच्छा से स्वीकृत होने से) विचार के मूल की अपरिशुद्धि (प्रमाणशून्यत्व) से शास्त्रार्थ, और उससे विचारणीय तत्व और फल सब की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि वादी, अपनी इच्छा से "हुँ फट् का उच्चारण भी साधक या बाधक प्रमाण है" ऐसा नियम बना सकते हैं।

खण्डन—समयबन्ध शास्त्रार्थ हेतु है—यह बात अनादिकाल से वृद्ध परम्परा में आ रही है। और इसके विना शास्त्रार्थ का फल नहीं हो सकता है—यह बात भी वृद्धों में प्रसिद्ध है। अतः समय-बन्ध के विना तत्व निर्णय या विजय के असम्भव होने से स्वतः सिद्ध अर्थापत्ति रूप प्रमाण विद्यमान है। भावार्थ यह है कि जब समयबन्ध के कथाङ्गत्व में अर्थापत्ति प्रमाण है, तब वैसे ही समयबन्ध को कथाङ्ग मानेंगे; जैसे समयबन्ध के विना कथा अनुपपन्न है। 'हुँ फट्' के उच्चारण प्रमाण हैं ऐसे समयबन्ध की कल्पना नहीं होगी ॥१९॥

शंका—प्रमाणादि-स्वीकार को भी इसी रीति से (वृद्ध व्यवहार से सिद्ध होने से) कथाङ्ग क्यों न माना जाय ?

---

1 अविद्यमानादिपारम्पर्य्यायातस्येतिविद्यासागरीसम्मतः पाठः सएवानुसृतः

व्यवहारनियममात्रेणैव कथाप्रवृत्त्युपपत्तेः। प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमेपि तथाविधव्यवहार-नियमव्यतिरेके तत्त्वनिर्णयस्य जयस्य वा अभिलषितस्य कथकयोरपर्य्यवसानात् ॥२०॥ नापि तृतीयः। लोकव्यवहारो हि प्रमाणलोकव्यवहारो वा स्यात् पामरादिसाधारण-व्यवहारोवा? नाद्यः, विचारप्रवृत्तिमन्तरेण तस्य दुर्निरूपत्वात्, तदर्थमेव च पूर्वं नियमस्य गवेषणात्। नापि द्वितीयः, शरीरात्मवादीनामपि तथासति भवता स्वीकर्त्त-व्यत्वापातात्। पश्चात् तद्विचारबाध्यतया नाभ्युपेयते इतिचेत्, तर्हि प्रमाणादयोपि यदि विचारबाध्या भविष्यन्ति तदानाभ्युपेया एव, अन्यथातूपगन्तव्या इति लोकव्यव-हारसिद्धतया सत्वमभ्युपगम्यते इतितावन्न भवति ॥२१॥

नापि चतुर्थः। यादृशोभवता प्रमाणादीन्यभ्युपगम्य व्यवहारनियमः कथा-यामालम्ब्यते, तस्यैव प्रमाणादिसत्वासत्वानुसरणोदासीनैरस्माभिरप्यवलम्बनात्। तस्य यदि मां प्रति फलातिप्रसञ्जकत्वं तदा त्वां प्रत्यपि समानः प्रसङ्गः ॥२२॥

खण्डन—प्रमाणादि-स्वीकार को कथाङ्ग न मान कर भी केवल उक्त व्यवहार-नियम को कथाङ्ग मान कर कथा प्रवृत्ति हो सकती है। और उक्त व्यवहार नियम को कथाङ्ग न मान कर केवल प्रमाणादि-स्वीकार से प्रवृत्त कथा से तत्व-निर्णय या विजय रूप फल की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥२०॥ तृतीय विकल्प-खण्डन—'लोक व्यवहार से सिद्ध होने से प्रमाणादि–स्वीकार कथाङ्ग है'—यह तृतीय विकल्प भी युक्त नहीं है। क्योंकि लोक-व्यवहार से प्रमाण-भूत लोक-व्यवहार का ग्रहण है? या पामरादि-साधारण लोक व्यवहार का? इनमें प्रथम ठीक नहीं है। क्योंकि शास्त्रार्थ-प्रवृत्ति से पहिले 'यह लोक-व्यवहार 'प्रामाणिक है' इसका निश्चय नहीं हो सकता है। और पहिले कथा के लिये ही नियम का अन्वेषण करते हैं। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि शरीरात्मवाद को लोक-सिद्ध होने से मानना पड़ेगा।

समर्थन—पीछे शास्त्रार्थ में बाधित होने से शरीरात्मवाद को नहीं मानते हैं।

खण्डन—तब तो प्रमाणादि-स्वीकार को कथाङ्गत्व भी यदि शास्त्रार्थ में बाधित होगा तो नहीं माना जायगा, और प्रमाण से अबाधित होने पर माना जायगा—यह सिद्ध हुआ। लोक व्यवहार से सिद्ध होने से प्रमाणादि-स्वीकार, कथाङ्ग है—यह सिद्ध नहीं हुआ ॥२१॥

चतुर्थ विकल्प-खण्डन—"प्रमाणादि-स्वीकार के विना तत्वनिर्णय या विजय रूप फल की सिद्धि नहीं हो सकती है इससे प्रमाणादि स्वीकार कथाङ्ग है" यह चतुर्थ विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाणादि का अस्वीकार शास्त्रार्थ-फल का असाधक नहीं है, क्योंकि प्रमाणादि के न मानने वाले चार्वाकादि के भी कहीं कहीं शास्त्रार्थ फल देखे जाते हैं, और कहीं कहीं प्रमाणादि-स्वीकर्त्ता के भी फल नहीं देखे जाते हैं; जब इन दोनों में सम्बन्ध न रहा तब जैसे प्रमाणादि के स्वीकर्त्ता आप व्यवहार-नियम को कथाङ्ग मानते हैं। प्रमाणादि के सत्व असत्व में उदासीन हम भी वैसे ही व्यवहार नियम को कथाङ्ग मानते हैं; इससे वह नियम यदि हमारे फल का असाधक हो, तो आपके फल का भी असाधक होगा। अर्थात् हमें फल (विजय) न दे, तो आप को भी विजय नहीं देगा ॥२२॥

समर्थन—व्यवहार नियम से समय बाँध कर कथा करने वाले पुरुष भी व्यवहार की सत्ता को अवश्य मानेंगे, क्योंकि व्यवहार की सत्ता को न मान कर व्यवहारक्रिया का अभिधान भी नहीं हो सकता है। क्रिया = उत्पादना है, अर्थात् असत् को सत् रूप होना ही

स्यादेतत्—'नियतवाग्व्यवहारक्रियासमयबन्धेन कथां प्रवर्त्तयतापि व्यवहारसत्ता अभ्युपगन्तव्या । नहि सत्तामनभ्युपगम्य व्यवहारक्रियाऽभिधातुं शक्या । क्रिया हि निष्पादना= असतः सद्रूपताप्रापणमितियावत् । प्रमाणैर्व्यवहर्त्तव्यमितिनियमबन्धनं प्रमाणकारणभावस्य नियमान्तर्भावात् नियतपूर्वसत्त्वं कारणत्वं प्रमाणानामनादाय न पर्य्यवस्यति । दूषणानाञ्चास्तित्वेन भङ्गावधारणनियमबन्धने, साधनाङ्गव्याप्त्यादीनां सत्त्वेन तद्विपयस्य तत्त्वरूपताव्यवहारनियमनादौ च कण्ठोक्तमेव तस्य तस्य सत्त्वमङ्गीकृतमिति रिक्तमिदमुच्यते प्रमाणादीनां सत्तामनभ्युपगम्य कथारम्भः शक्यत इति ॥२३॥

मैवम्, एभिरपिबाधकैः कथायामारब्धायामेवाभिमतस्य प्रसाधनीयत्वे पूर्वोक्तबाधाया अनिस्तारात् ॥२४॥ न च व्यवहारनियमस्य स्वेच्छास्वीकृतस्यैव प्रमाणादिसत्तास्वीकारपर्य्यवसायितया नायं दोषः स्यात् । यतः सत्ताज्ञानस्य तत्राङ्गत्वम्, नतु सत्तायाः ॥२५॥ तत्र किं सत्त्वावगममात्रात् सत्ताऽभ्युपगम्येति मन्यसे, अबाधितात्

क्रिया है । ऐसे ही "प्रमाणैर्व्यवहर्त्तव्यम्" यह नियम-बन्ध भी—कारणत्व के शरीर में नियम के प्रवेश होने से प्रमाण में 'नियतपूर्वसत्व-रूपकारणत्व' को न जानकर—नहीं हो सकता है; ऐसे ही दूषण के रहने पर पराजय के अवधारण (निश्चय) रूप नियम में और साधन के अङ्ग व्याप्ति के सत्त्व से साध्य के सत्यत्वावधारण रूप नियम में कण्ठ से ही प्रमाण-दूषण-व्याप्ति आदि के सत्त्व का अङ्गीकार किया है; इससे प्रमाण आदि को न मान कर कथारम्भ हो सकता है, यह कथन युक्ति-शून्य है ॥२३॥

खण्डन—इन बाधक युक्तियों से भी कथा के आरम्भ होने पर ही अभिलषित (प्रमाणादि-स्वीकार की कथाङ्गता) की सिद्धि होगी । अतः पीछे कहे दोषों का वारण नहीं हुआ । अर्थात् जिस कथा में प्रमाणादि-सत्ता सिद्ध हुई है—उसी में व्यभिचार होने से, और वैसे ही अन्य कथा के भी निर्वाह होने से, प्रमाणादि-स्वीकार कथाङ्ग नहीं है ॥ २४ ॥

समर्थन—हम किसी कथा में प्रमाणादि-स्वीकार की कथाङ्गता को सिद्ध नहीं करते हैं; किन्तु अपनी इच्छा से स्वीकृत व्यवहार-नियम ही प्रमाणादि-स्वीकार में पर्यवसित (प्राप्त) हो जाता है; यह आप से कहते हैं ।

खण्डन—उक्त प्रकार से भी प्रमाणादि-सत्ता का ज्ञान कथाङ्ग हुआ, सत्ता कथाङ्ग नहीं हुई २५॥

समर्थन—यदि प्रमाणादि-ज्ञान कथाङ्ग हुआ तो उस ज्ञान का विषय होने से प्रमाणादि-सत्ता भी कथाङ्ग हुई ।

खण्डन—आप प्रमाणादि-ज्ञान से प्रमाणादि को स्वीकार करते हैं ? या अबाधित प्रमाणादि के ज्ञान से ? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि मरु-मरीचि में जल के ज्ञान होने से उसका (जलका) भी स्वीकार करना पड़ेगा । द्वितीय पक्ष में भी, वादी प्रतिवादी मध्यस्थमात्र के केवल कथाकाल में अबाधित ज्ञान से ? या किसी के भी (अर्थात् मनुष्य मात्र के) बाधित ज्ञान के न होने से प्रमाणादि-सत्ता का स्वीकार करते हैं ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है । क्योंकि

१ नियम्यतेऽनेनेतिनियतम् = नियमः । वाग्व्यवहारक्रियायाः = शास्त्रार्थस्य प्रयोजकं नियतम् = नियतवाग्व्यवहारक्रिया तया समयबन्धः तेनेत्यर्थः । राजदन्तादित्वात् नियतशब्दस्य पूर्वनिपातः, प्रयोजकशब्दस्य लोपश्च । लाजरसयन्त्रालयमुद्रित—'खण्डन'-टिप्पण्यां १८ पृष्ठे 'नियतो वाग्व्यवहारक्रियया क्रियमाणः समयबन्धः' इत्यादि विवृतं तन्न चेतः प्रनिभाति ।

तदवगमाद्वा, न तावदाद्यः, मरुमरीचिकादौ जलरूपतासद्भावाभ्युपगमप्रसङ्गात्। द्वितीयेपि किं वादिप्रतिवादिमध्यस्थमात्रस्य, तस्यापि कथाकालमात्रे एव बाधितावगमाभावात्? अथवा कस्यचिदपि कालान्तरेपि च बाधितबोधविरहात्? नाद्योऽतिप्रसङ्गात्। पुरुषत्रयावगतस्यापि एकक्षणावगतस्य पुरुषान्तरेण तेनापि क्षणान्तरे बहुलं बाध्यत्वदर्शनात्। नचासावर्थोऽसत्योपि द्वित्रादिपुरुषमात्रपूर्वजाततत्प्रतीत्यनुरोधात् बाधदर्शने संजातेऽपि तथैव सन्नित्यभ्युपगम्यते, तस्माद् द्वितीयः पक्षः परिशिष्यते—यत्र सर्वप्रकारेण बाधितत्वं नास्ति तत्सदित्यभ्युपगन्तव्यम् ॥२६॥ तदित्थं यदि नाम वादिप्रतिवादि-मध्यस्थमात्रस्य दूषणादिसत्तावगमः कथाकालमात्रे तैरबाध्यमानः कथाङ्गत्वेनाभ्युपेयते, तदा किमायातं सर्वप्रकाराबाधिततत्सत्त्वावगमायत्त-तत्सत्ताभ्युपगमकथाङ्गतानङ्गीकारस्य[1]? ॥२७॥ कतिपयप्रतिपत्तृ-कतिपयकाल-तथात्वावगमादेव प्रायेण लौकिको व्यवहारः प्रतीयते, तादृशश्चायं सत्त्वागमः कथाङ्गम्। एतत्तदुच्यते—व्यावहारिकीं प्रमाणादिसत्तामादाय विचारारम्भ इति। तस्माद् यादृग्व्यवहारनियमः

तीन या चार पुरुष से अभ्रान्त रूप से ज्ञात भी अन्य पुरुष से या दूसरे क्षण में उनसे ही प्रायः बाधित रूप से ज्ञात देखा जाता है। असत्य वस्तु को तीन या चार पुरुष की पहिली प्रतीति के अनुरोध से बाध-ज्ञान होने पर भी बाध-ज्ञान से पूर्व क्षण के तुल्य सत्य नहीं मान सकते हैं, तस्मात् द्वितीय पक्ष युक्त रहा। अर्थात्—जहां सब प्रकार से बाध न हो, वह सत् है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये ॥ २६ ॥

तब इस रीति से यदि वादी प्रतिवादी मध्यस्थ के ही कथाकाल में ही बाध बुद्धि से रहित प्रमाणादि-स्वीकार को कथाङ्ग मान भी लें, तब भी सब काल में सब मनुष्यों के अबाधित ज्ञान के न होने से प्रमाण-प्रमेय आदि का स्वीकार नहीं हो सकता है। इससे आकाश पुष्पायमान उसको शास्त्रार्थ का हेतु न भी मानें तो हानि क्या है? ॥२७॥ कुछ मनुष्यों के कुछ काल में अबाधित ज्ञान से ही प्रायः लौकिक सब व्यवहार देखा जाता है। अर्थात् कुछ मनुष्यों के कुछ काल में अबाधित प्रमाणादि-ज्ञान कथाङ्ग है। यह फलित हुआ कि व्यावहारिकी प्रमाणादि-सत्ता को ग्रहण कर विचार (कथा) का आरम्भ करना चाहिये। तस्मात् जैसा व्यवहार-नियम किया गया है, उसकी मर्य्यादा (सीमा) का उल्लंघन इसने नहीं किया है—ऐसा जिस वादी के वाग्-व्यवहार में मध्यस्थ को ज्ञान हो वह विजय को पाता है, और जिस वादी के वचन (वाग्व्यवहार) में मध्यस्थ को ऐसा ज्ञान न हो वह पराजय

---

१ निष्कर्ष यह है कि प्रमाण-प्रमेय की सत्ता परमार्थ में नहीं है। क्योंकि उन में सब प्रकार से अबाधितत्व-ज्ञान (बाधरहित ज्ञान) नहीं हैं। किन्तु व्यावहारिक सत्ता है। अतः परमार्थ में न होने से शून्यवादी तथा अद्वैतवादी आदि को अपसिद्धान्त दोष नहीं है, और व्यवहार में प्रमाणादि के होने से शास्त्रार्थ का भी निर्वाह होता है। प्रश्न—जो बात अन्त में कही गई है, वह आरम्भ में ही क्यों न कही गई? उत्तर—ऐसे करने से यह पुस्तक प्राथमिक कक्षा में पाठ्य होती, शास्त्री एवं आचार्य्य में पाठ्य नहीं होती। छोटी सी बात कैसे बड़ी बनती है, वादी विकल्प जाल में फँसा कर निष्प्रतिभ कैसे किये जाते हैं,—इत्यादि-शिक्षा ही ऐसी रचना का मुख्य लक्ष्य है।

कुतः तन्मर्य्यादाऽनेननोल्लंघितेति—यद्वादिव्यवहारे मध्यस्थावगमः स विजयते, यस्य तु वचसि नैवम् तस्यावगमः तस्य पराजयः, यत्र वाद्युक्तनिग्रहसत्त्वावगमः स निगृहीतः, तदितरस्तु न तथेत्यादिनियम एव कथारम्भाय ग्राह्यः ॥२८॥

अथशून्यवादविचारः

अनेन नियमेन वक्तव्यमित्यस्यायमर्थः—अनेन नियमेनोक्तमनेनेतिमध्यस्थावगमस्य विषयीभवितव्यमिति ॥२९॥ नच वाच्यमन्ततस्तदवगमस्यापि सत्ताऽभ्युपेयेति, तस्यापि सत्ताचिन्तायां तत्सत्तावगमान्तरस्यैव शरणत्वात् ॥३०॥ नचैवमनवस्था, तद-

को पाता है, और जिस वादी के वचन में प्रतिवादी से उक्त निग्रहस्थान का ज्ञान मध्यस्थ को हो वह पराजित होता है, और जिस वादी के वचन में निग्रह स्थान का ज्ञान न हो वह पराजित नहीं होता है-इत्यादि नियम ही कथारम्भ के लिये ग्राह्य हैं ॥२८॥

॥ इति प्रमाणादि-स्वीकार-कथाङ्गत्व-खण्डन ॥

॥ अथ शून्यवादविचारः ॥

जैसे वेदान्ती प्रमाण-प्रमेय आदि सब ही पदार्थों की प्रातिभासिक सत्ता मानते हैं। अर्थात् घट-पट आदि भासते हैं—यही उनकी सत्ता है। इससे अन्य सत्य सत्ता नहीं है, वैसे ही शून्यवादी भी सबको प्रातिभासिक मानते हैं। भेद यह है कि वेदान्ती प्रतिभास को सत्य मानते हैं, और शून्यवादी प्रतिभास की भी प्रातिभासिक ही सत्ता मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे घटादि की सत्ता "घटः"इत्याकारक ज्ञान ही है, ऐसे ही "घटः" इस ज्ञान की भी "ज्ञातोघटः" यह ज्ञान ही सत्ता है, अन्य नहीं है। यहाँ संक्षेप से उनके मत का विचार करते हैं। इस वितण्डा (शास्त्रार्थ) में शङ्का वा खण्डन कर्ता नैयायिक हैं। और समाधान कर्त्ता बौद्ध हैं।

शंका—आप प्रमाणादि-स्वीकार को शास्त्रार्थ का हेतु न मानें इससे लाभ क्या हुआ? यदि आपने व्यवहार-नियम को शास्त्रार्थ-हेतु मान लिया तो इसीसे द्वैत सिद्ध हुआ।

समाधान—हम व्यवहार-नियम की भी प्रातिभासिक (स्वप्न पदार्थ के तुल्य प्रतिभास-मात्र) सत्ता ही मानते हैं। अर्थात् इस नियम से कथन करना चाहिये, इस वाक्य का यह भाव है कि इस नियम से इसने कथन किया है—ऐसा मध्यस्थको ज्ञान होना चाहिये। इससे द्वैत नहीं होगा ॥२९॥

शंका—आपने अन्त में समयबन्ध के ज्ञान की सत्ता को मान लिया?

समाधान—ज्ञान की सत्ता की चिन्ता होने पर ज्ञान का ज्ञान ही शरण है; अर्थात् ज्ञान की भी प्रातिभासिक सत्ता ही है ॥३०॥

शंका—समय-बन्ध (विषय) की सत्ता ज्ञान, और उस ज्ञान की सत्ता अन्य ज्ञान, इस रीति से अनवस्था[1] हो जायगी?

१ अवस्था = स्थिति, उसके अभाव को अनवस्था कहते हैं। यह दोष है। विश्राम न होने से किसी वस्तु का निर्णय न होना, दोषत्व का कारण है।

नुसरणावश्यम्भावानङ्गीरात्। "एवं त्रिचतुरज्ञान-जन्मनो नाधिका मतिः"—इतिन्यायात् ॥३१॥ नचान्तिमासत्त्वे पूर्वप्रवाहासत्त्वापत्तिः, तथाचाऽवगममादायापि व्यवहरतो न निस्तार इति वाच्यम्? अस्तु एवं हि, तथापि त्रिचतुरज्ञानकक्षागवेषणमात्रविश्रान्तेन विचारेण ततः परमननुसरणरमणीयेनैव च समयं बद्ध्वा कथायां मिथः सम्प्रतिपत्त्या प्रवर्त्तनात्। अन्यथा प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमेपि ज्ञानानवस्थायाः दुष्परिहरत्त्वात् ॥३२॥

न च वाच्यम्—मत्पक्षे स्वरूपसत्ताज्ञानेन व्यवहारस्य चरितार्थयितुं शक्यत्त्वात् तज्ज्ञानपरम्परानानुसरणमुचितम्, नत्वेवं त्वत्पक्षे स्वरूपसत्ताज्ञानेन व्यवहारस्य चरितार्थता, ज्ञानस्वरूपसत्त्वाङ्गीकारप्रसङ्गादिति। स्वरूपसत्तामादायापि परिहरतोऽनवस्थाप्रसङ्गस्य स्वप्रकाशप्रस्तावे वक्तव्यत्वात्। यथा च त्वत्पक्षे स्वरूपसत्त्वाविशेषेपि [1]विज्ञान-

समाधान—ज्ञान का ज्ञान अवश्य हो ऐसा नियम नहीं है। "तीन या चार ज्ञान से अधिक ज्ञान नहीं होता है"—यह भट्ट का न्याय है, अर्थात् "अयंघटः" "ज्ञातोघटः" इससे अधिक ज्ञानधारा अनुभव-सिद्ध नहीं है ॥३१॥

शंका—जिस अन्तिम ज्ञान का ज्ञान नहीं हुआ उसकी प्रातिभासिक सत्ता के न होने से समय-बन्ध (विषय) तक प्रवाह का असत्त्व हो जायगा?

समाधान—ऐसा ही हो हानि क्या है? विचार से ऐसा ही सिद्ध होता है, अर्थात् शून्यवाद ही ठीक है।

शंका—ऐसा होने पर प्रातिभासिक सत्ता को मान कर भी व्यवहर्त्ता के व्यवहार का निर्वाह कैसे होगा?

समाधान—सबके शून्य होने पर भी तीन या चार ज्ञान की कक्षा के गवेषण में विश्रान्त—और पंचमादि कक्षा के अन्वेषण से रहित—विचार से ही समय बाँध कर परस्पर की सम्मति से कथा में प्रवृत्ति होती है। अन्यथा (तीन या चार ज्ञान कक्षा में विश्रान्त विचार से व्यवहार का निर्वाह न मानें तो) ज्ञान की तात्त्विक (सत्य) सत्ता मानने पर भी अनवस्था का परिहार नहीं होगा ॥३२॥

शंका—मेरे मत में स्वरूप-सत् ज्ञान से व्यवहार का निर्वाह हो सकता है, इससे ज्ञान की परम्परा का स्वीकार ठीक नहीं है, इस रीति से तुम्हारे मत में स्वरूप-सत् ज्ञान से व्यवहार का निर्वाह नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञान की स्वरूप सत्ता के स्वीकार होने से शून्यवादी को अपसिद्धान्त हो जायगा? समाधान—ज्ञान की स्वरूपसत्ता को स्वीकार कर अनवस्था के परिहर्त्ता के मत में भी अनवस्था है, यह स्वप्रकाश के प्रकरण में कहेंगे। वहाँ यह कहा है कि—यदि ज्ञान का ज्ञान न हो तो—ज्ञान प्रमाण के अभाव से सिद्ध नहीं होगा। और यदि ज्ञान का ज्ञान मानें तो ज्ञान-धारा के स्वीकार से अनवस्था प्रत्यक्ष ही है। जैसे तुम्हारे मत में घट आदि विषय और ज्ञान दोनों के स्वरूप सत्त्व में विशेष के न होने पर भी ज्ञान ही स्वरूप से सत् स्वविषय (घटादि) के व्यवहार का उपपादक है घटादि नहीं, ऐसे ही मेरे मत में घट और विज्ञान दोनों के असत्त्व में विशेष के न होने पर भी असत् विज्ञान ही स्वविषय (घटादि) के व्यवहार का उपपादक (कारण) है, अन्य घटादि नहीं हैं, घटादि तो प्रातिभासिक सत्ता से

1 ज्ञानस्वरूपसत्तेति पाठान्तरम् (विद्यासागरी)

स्वरूपसत्त्वैव परं व्यवहारोपपादिका न घटादिसत्ता, एवमेवासत्त्वाऽविशेषेपि ज्ञानमेवासत् व्यवहारोपपादकम् नान्यत् ॥३३॥ असच्च उपपादकञ्चेतिव्याहतम्—इति चेन्न, सत् उपपादकम् इति कुतो न व्याहतम्? नहि सत् उपपादकम् असन्नेति क्वचिदावयोः सिद्धम् ॥३४॥ ननु तदसत्त्वाविशेषात्कार्य्यस्यान्यदापि जन्मप्रसङ्गः? न, कार्य्यस्याद्यसत्ताक्षण इवान्यदापिसामग्र्यसत्त्वाविशेषात् तत्रापि किन्नान्यदा कार्य्यजन्म ॥३५॥

अथ न मम तदानीन्तनं सामग्र्यसत्त्वं तदानींतनस्यकार्य्यजन्मनो नियामकम्, किन्तु ततः प्राक्सामग्रीसत्त्वं, तथादर्शनात्? तर्हि ममापि कालान्तरस्थमपि तदसत्त्वं तदातनकार्य्यजन्मनो नियामकम्, तथादर्शनादेव ॥३६॥ मम तु तदव्यवहितोत्तरत्वं तदा कार्य्यजन्मनो नियामकम् इति चेन्न, समसमयत्वादागन्तुकत्वाच्चाऽविशेषेण नियम्य-नियामकव्यवस्थानुपपत्तेः। तस्मात् अन्यदास्थायाः सामग्र्याः तदाकार्य्यजन्मनियमोऽ-

युक्त ही स्व-व्यवहार में कारण है ॥३३॥ शंका—असत् उपपादक है यह कथन व्याहत है। समाधान[1]—सत् उपपादक है—यह कथन व्याहत क्यों नहीं है? सत् उपपादक है असत् उपपादक नहीं है-यह बात हम दोनों की किसी कथा (शास्त्रार्थ) में सिद्ध नहीं हुई है। ॥३४॥ शंका—यदि कारण असत् है तो असत्त्व में कोई विशेष तो है नहीं, फिर अन्य काल में भी कार्य्य-जन्म क्यों नहीं होता है? समाधान[2]—कार्य्य की आद्यसत्ता क्षण में जैसे सामग्री का असत्त्व है, वैसे ही द्वितीयादिक्षण में भी उसका असत्त्व है, असत्त्व में विशेष तो है नहीं फिर तुम्हारे मत में द्वितीयादिक्षण में कार्य्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है? ॥३५॥

प्रतिवन्दी का परिहार—मेरे मत में कार्य्य के आद्यक्षण में विद्यमान सामग्री का असत्त्व, आद्यक्षण में जायमान कार्य्य का नियामक नहीं है; किन्तु कार्य्य की उत्पत्ति से पूर्वक्षण में स्थित सामग्री का सत्त्व ही नियामक है, क्योंकि सामग्री से उत्तरक्षण में ही कार्य्य देखा जाता है। खण्डन—तब मेरे मत में भी अन्य काल में स्थित भी कारण का असत्त्व उस काल में जात कार्य्य-जन्म का नियामक होगा, क्योंकि उसी क्षण में कार्य्य की उत्पत्ति देखी जाती है ॥३६॥ प्रतिवन्दी का परिहार—मेरे मत में कारण का अव्यवहितोत्तरत्व उस काल में कार्य्यजन्म का नियामक है। खण्डन—समय (क्षण) सम (एक) है. अर्थात् जो कार्य्योत्पत्तिक्षणत्व है, वही सामग्र्युत्तरक्षणत्व भी है, इससे एक में नियम्य-नियामक भाव नहीं हो सकता है। या साम-ग्र्युत्तरक्षणत्व और कार्य्यक्षणत्व दोनों के समय (काल) एक हैं, इससे वाम-दक्षिण शृङ्ग के तुल्य इनमें नियम्य-नियामक भाव नहीं हो सकता है। या समय (सङ्केत) की एकता है, अर्थात् सामग्र्युत्तरक्षणत्व और कार्य्यक्षणत्व दोनों शब्दों के घट-कलश शब्दों के तुल्य अर्थ एक हैं, इससे नियम्य-नियामक भाव नहीं हो सकता है। या आगन्तुक (आकस्मिक) किसी से अनियमित सामग्री अपने उत्तरत्व से कार्य्य के जन्म का नियमन नहीं कर सकती है। यदि च—सामग्री का नियामक अन्य सामग्री को माने तो उस नियामक का भी अन्य नियामक, और उसका भी अन्य, इस रीति से अनवस्था हो जायगी। तस्मात् पूर्वक्षणवर्त्ती ही सामग्री उत्तरक्षणवर्त्ती कार्य्य-जन्म का नियामक होगी। क्योंकि सामग्री से उत्तर क्षणमें कार्य्य

१ यह समाधान प्रतिवन्दी रूप है। शङ्काकर्त्ता जिस दोष को अपने मत में दे उसी दोष को उस के मत में देना—उसका समाधान न देना—प्रतिवन्दी है।

२ यह भी प्रतिवन्दी रूप समाधान है।

भ्युपेयः, तथादर्शनात् इत्येवंवाच्यम्; तथाच समः समाधिः ॥३७॥ तथापि कार्य्यजन्मकालस्य को विशेषः ? कार्य्यजन्मैव । अन्यथा यद्व विशेषान्तरं तदपि विशेषान्तरवतः कालस्य स्यादित्यपर्य्यवसानमेव पर्य्यवस्येत् ॥३८॥

तथापि तत्कालस्यानुगतं किं रूपम् इति चेन्न, रूपान्तरवतोपि किं तद्व इत्यस्यापि पर्य्यनुयोगस्यापत्तेः ॥ ३९ ॥ किञ्च—

अन्तर्भावितसत्त्वञ्चेत् कारणं तदसत्ततः । नान्तर्भावितसत्त्वंञ्चेत् कारणं तदसत्ततः ॥१॥

तथाहि अन्तर्भूतसत्त्वं यदि कारणत्वं तदा स्वविशिष्टे स्ववृत्तिरंशतः स्वाश्रयसमापादयति । विशिष्टस्यार्थान्तरत्वेऽपि च स्वस्मिन् स्ववृत्तिव्यतिरेकवत् स्वविशिष्टे

जन्म देखा जाता है, यही आप कहेंगे तब तो समाधान तुल्य है, अर्थात् हम भी कह सकते हैं कि अन्य काल में स्थित भी कारण का असत्त्व उस काल में कार्य्य जन्म का नियामक है, क्योंकि उसी काल में कार्य्य-जन्म देखा जाता है। यहाँ पर यह नहीं भूलना चाहिये कि शून्यवाद में भी ज्ञान ही असत् (मिथ्या) स्व(ज्ञान) विषय(घटादि) के व्यवहार का कारण है, अन्य कारण तो प्रातिभासिक सत्ता से युक्त ही प्रातिभासिक कार्य्य के कारण हैं, और ज्ञान भी स्वव्यवहार में प्रातिभासिक सत्ता युक्त ही कारण है, असत् नहीं ॥३७॥ शंका—तब भी अन्यक्षणों से कार्य्य के जन्म के क्षणमें क्या भेद है ? समाधान—अन्य क्षणमें कार्य्य का जन्म नहीं होता है, उसी क्षणमें कार्य्य-जन्म होता है, यही अन्य क्षणसे कार्य्य-जन्म क्षणमें विशेष है। अन्यथा कार्य्य-जन्म से अन्य 'सामग्र्यव्यवहितोत्तरत्वादि' जो विशेष आप कहेंगे, वह भी अव्यावर्त्तक होने से निर्विशेष काल में नहीं कहेंगे, किन्तु सामग्री की सामग्री से युक्त काल में ही कहेंगे, इस रीति से उत्तर-उत्तर सामग्री के आश्रयण में अनवस्था हो जायगी ॥३८॥

शंका—तब भी कार्य्य-जन्म के काल का अनुगत रूप क्या है ? समाधान-कार्य्य-जन्म का सम्बन्ध ही काल का अनुगत रूप है। अन्यथा जो सामग्र्युत्तरत्वादि अन्य रूप मानोगे उसका भी अनुगमक रूप क्या है ? ऐसा उत्तरोत्तर प्रश्न होने से अनवस्था हो जायगी ॥३९॥

किञ्च—सद्वाद का खण्डन[1]—

यदि कारण सत्ता-सहित, यदि वा सत्ता-हीन
उभय पक्ष कारण असत, जानो तुम मति-पीन ! ॥१॥

देखिये, सत्-वादी सत्ता-विशिष्ट बीजादि को अथवा सत्ता से उपलक्षित बीजादि को अंकुरादि का कारण कहेंगे। यहां प्रथम पक्षमें यह विकल्प होता है, कि—सत्ता-विशिष्ट में सत्ता रहती है कि नहीं ? यदि नहीं तो असत् ही कारण रहा। क्योंकि सत्ता के योग से ही वस्तु सत् होता है। और यदि रहती है तो 'विशिष्ट में वृत्ति धर्म्म विशेषण में भी रहता है' इस नियम से आत्माश्रय[2] हो जायगा। यदि विशिष्ट को विशेषण विशेष्य-सम्बन्ध से अतिरिक्त भी मानें तब भी जैसे स्व में स्व-वृत्तित्व विरुद्ध है, ऐसे ही स्व-विशिष्ट में भी स्व-वृत्तित्व विरुद्ध है, क्योंकि कहीं देखने में नहीं आता है।

---

१ यहां तक नैयायिक शून्यवाद पर आक्षेप करते थे, और शून्यवादी अपने मत का समर्थन करते थे। अब यहां से शून्यवादी सद्वाद का खण्डन करते हैं, और नैयायिक सद्वाद का समर्थन करते हैं।

२ स्व की स्थिति या ज्ञान में स्व का आश्रयण आत्माश्रय है। इसके दोष होने का कारण 'भूतल में घट है' ऐसे प्रयोगों का होना, और 'घट में घट है' ऐसे प्रयोगों का न होना है।

स्ववृत्तिव्यतिरेकनियमदर्शनात्। न सैव सत्ता तस्मिन्निति। अन्यस्या¹ विशिष्टवृत्त्यभ्युपगमे तामनिवेश्य कारणत्वमभ्युपगन्तुः सर्वथैवासत्कारणं पर्य्यवस्यति। अपरापरसत्तानिवेशनेचाऽपर्य्यवसानमेव ॥४०॥ न च सत्ताभेदानन्त्यमस्त्येवेत्यपि पादप्रसारिका निस्ताराय। सत्ताभेदे हि सद्बुद्धिव्यवहारानुगम²-समर्थनलंघिनः प्रथमापि सत्ता न स्यादिति वृद्धिमिच्छतो मूलमपि ते नष्टमिति हा³ कष्टतरम्!! ॥४१॥

न च स्वरूपसत्तोपगमाय स्वस्ति, भिन्नानप्यनुगतबुद्ध्याधानपदेऽभिषिञ्चता त्वया हि जातिमात्राय जलाञ्जलिर्वितीर्य्येत, माभूदनुगतिस्स्वरूपसत्त्वस्येति वदन् तद्व-

---

सद्वादका समर्थन— वही सत्ता अपने से विशिष्ट में नहीं रहती है, किन्तु अन्य सत्ता सत्ता-विशिष्ट कारण में रहती है।

खण्डन—यदि ऐसा मानें तो प्रथम सत्ता कुछ कर न सकी, क्योंकि उसके वैशिष्ट्य से कारण सत् नहीं हुआ। रही द्वितीय सत्ता उसका कारण-कोटि में निवेश है कि नहीं? यदि नहीं तो असत् ही कारण रहा। क्योंकि जैसे धूम में विद्यमान भी कृष्णत्व हेतु-दल में अनिविष्ट होने से हेतुता में अनुपयोगी है, वैसे ही प्रथम सत्ता से विशिष्ट कारण में विद्यमान भी द्वितीय सत्ता—कारण कोटिमें निवेश के न होने से कारण के सत् होने में—उपयोगी नहीं है। यदि द्वितीय सत्ता का कारण कोटि में निवेश करें, तो यह विकल्प होता है कि द्वितीय सत्ता से विशिष्ट (युक्त) कारण में सत्ता है कि नहीं? नहीं तो कारण असत् ही रहा, और यदि है तो यदि द्वितीय सत्ता से विशिष्ट में द्वितीय सत्ता ही रहती है तो आत्माश्रय, और प्रथम सत्ता रहती है तो अन्योन्याश्रय⁴, और यदि तृतीय सत्ता रहती है तो इस रीति से अनन्त सत्ता मानने से अनवस्था होगी॥४०॥ समर्थन—⁵सत्ता में सत्ता इस प्रकारसे अनन्त सत्ता इष्ट ही है, अर्थात् अनुभव सिद्ध होने से बीजांकुर के तुल्य यहाँ अनवस्था दोष नहीं है।

खण्डन— ऐसा पैर फैलाने से भी निर्वाह नहीं होगा। क्योंकि अनन्त सत्ता के मानने पर सत् इत्याकारक अनुगत प्रतीति के प्रमाण न होने से प्रथम सत्ता भी सिद्ध नहीं हुई। शोक! व्याज को चाहने वाले आपका मूल धन भी नष्ट हुआ ॥४१॥

समर्थन—हम जाति रूपसत्ता को नहीं मानते हैं, स्वरूप सत्ता को मानते हैं, अर्थात् घटादि स्वरूप से ही सत् है, इस से अनवस्था दोष नहीं है। खण्डन—स्वरूपसत्ता को प्रति व्यक्ति भिन्न होने से "इदं सत्, इदं सत्" इत्याकारक अनुगत प्रतीति नहीं होगी। यदि अनेक में एक अनुगत रूप के न होने पर भी अनुगत प्रतीति मानी जाय, तो गौ आदि व्यक्तियों

---

१ तस्या इति वि० सा० अधिकः।

२ अनुगमननिबन्धनेति वि० सा० पाठः

३ हा इति नास्ति। वि० सा०

४ अन्योन्य की स्थिति में या ज्ञान में अन्योन्य का आश्रय अन्योन्याश्रय है। 'भूतल में घट है, और उसी घट में वही भूतल है' ऐसा प्रयोग का न होना ही इसके दोषत्व का कारण है।

५ यद्यपि इस शास्त्रार्थ में नैयायिक प्रतिवादी हैं। और वे सत्ता में सत्ता अथवा स्वरूप सत्ता को नहीं मानते हैं। अतः उनके तरफ से ऐसी शंकाएं नहीं हो सकतीं हैं। यदि ऐसी शंकायें हों तो अपसिद्धान्त से ही उनका खण्डन ठीक है। तथापि खण्डन-कार ने स्वप्रौढ़ी (अपनी विद्वत्ता) दिखाने के लिये स्वयं शंका कर उनका खण्डन किया है।

गर्भिणीं कारणतां कथमनुगमयितासीति ॥४२॥ किञ्च स्वरूपसत्त्वं, स्वरूपाद्ध घटाद्यात्मनो नाधिकम्, असतोपि स्वरूपं स्वरूपमेव, न हि असन् घटादिर्न घटादिः, तथासति 'घटादिर्न' इत्यपि न स्यात्, असतोऽघटादित्वात् ॥४३॥ अथ सदपि सत्तामनन्तर्भाव्य कारणम्, तदानीमसदपि तत्तथास्तु, सत्त्वासत्त्वयोः कारणकोट्यप्रवेशाविशेषात् ॥४४॥ अथ सत्ता न कारणकोटिनिविष्टा किन्तु कारणत्वं सत्त्वं, नियतपूर्वसत्तां हि कारणतां मन्ये—इति मन्यसे, तर्हि मत्पक्षेपि सैव कारणताऽस्तु, तर्हि कारणस्य सत्तामभ्युपगतवान् असीति घट्टकुट्यां प्रभातम् इति चेन्न ॥४५॥

भावानवबोधात्। सत्तामसतीमभ्युपगच्छतापि सत्ता मयाभ्युपगतैव; अन्यथा कासावसतीति। त्वमपि किं सत्तां तत्सत्तामन्तर्भाव्य कारणत्वमिच्छसि? नत्वेवम्; पूर्ववत्क्वापि सत्तात्यागो वा अनवस्थायां वा पर्य्यवसानं स्यात्॥४६॥ असत्त्वाविशेषात्कारणनियमः

में गोत्वादि न होने पर भी "गौः" इत्याकारक अनुगत प्रतीति के निर्वाह के होने से सब जातियों को तिलाञ्जलि दिया जायगा। समर्थन—सत्ता का सब जगह अनुगम न हो, स्वरूपभूत-सत्ता प्रति व्यक्ति भिन्न ही रहे, तब भी स्वरूपसत्ता से कारण तो सत् ही सिद्ध हुआ खण्डन—स्वरूपसत्त्व को प्रति व्यक्ति भिन्न २ होने से उससे घटित कारणत्व को भी हर व्यक्ति में भिन्न २ होने से कारणत्व का अनुगम कैसे करोगे? ॥४२॥ किञ्च—स्वरूपसत्त्व स्वरूप (घटादि) से अधिक तो है नहीं, और असत् का स्वरूप भी स्वरूप ही है; क्योंकि असत् घटादि 'घटादि नहीं है' ऐसा नहीं है, किन्तु असत् घटादि भी घटादि ही है। यदि असत् घटादि न होते तो "घटादिर्न" यह प्रयोग भी नहीं होता, क्योंकि असत् घटादि है नहीं फिर निषेध किस का? जो वस्तु एक रूप से या एक देश में रहती है उसी का अन्य रूप से या अन्य देश में निषेध होता है। और "असन् घटः" यह प्रयोग भी नहीं होता, क्योंकि जब घट है नहीं फिर असत्त्व का विधान कहां होगा? ॥४३॥ समर्थन—सत्ता कारण-कोटि में विशेषण नहीं है, उपलक्षण है, यद्यपि घट का दण्ड कारण है—ऐसा ही कार्य्य कारण भाव है, तब भी सत्ता के उपलक्षण होने से कारण सत् है। खण्डन—यदि ऐसा है तो हम भी कह सकते हैं, कि असत्ता का कारण-दल में प्रवेश न होने से कारण असत् है; क्योंकि सत्त्व असत्त्व का कारण कोटि में निवेश न होने से दोनों मत में विशेष के न रहने से असत् ही कारण को क्यों न मानें? ॥४४॥ समर्थन—सत्ता कारणता में उपलक्षणत्व से या विशेषणत्व से प्रविष्ट नहीं है, कारणत्व ही सत्त्व है। क्योंकि नियत-पूर्व-सत्त्व ही को कारणत्व मानते हैं। खण्डन—यदि ऐसा मानते हैं, तब हमारे मत में भी नियत-पूर्व-सत्त्व ही कारणत्व है। समर्थन—तब आपने कारण की सत्ता मान ली, इससे घट्ट-कुटी में प्रभात हुआ। अर्थात् राज-कर के भय से छिपे मनुष्य का दैववश तहसील में प्रभात होने से जैसी गति हो ऐसी आपकी गति हुई ॥४५॥

सद्वाद-खण्डन—आप ने मेरे भाव को नहीं जाना। सत्ता को असती मानने पर भी मैं सत्ता को मानता ही हूँ। यदि सत्ता को न मानूँ तो असत् किसको कहूँगा? आप भी "नियतपूर्वसत्त्वरूप कारणत्व" में अन्य सत्ता को मानते हैं या नहीं? यदि नहीं तो असत् ही कारण हुआ। और यदि मानते हैं, तो उस द्वितीय सत्ता को कारणत्व-दल में प्रवेश कर कारणत्व मानते हैं? या प्रवेश न कर? यदि न प्रवेश कर, तो असत् ही कारण रहा। यदि प्रवेश कर तो सत्ता में सत्ता, उसमें अन्य सत्ता, इस रीति से अनवस्था हो जायगी। और यदि किसी सत्ता में सत्ता न मानें, तो जड़ (मूल-कारण) तक सब असत् (सत्तारहित = मिथ्या) हो जायगा ॥४६॥

कथं स्यात् इतिचेन्न, सत्त्वाविशेषेपि तुल्यत्वात् ॥४७॥ सत्त्वेऽस्त्यन्वयव्यतिरेकानुविधानम् तस्य तज्जातीयस्य वा, त्वत्पक्षेऽसत्त्वाविशेषाद्ध व्यतिरेकः, परं सोप्यनियतः, यदा कारणाभावः तदा कार्य्याभावावश्यम्भावानभ्युपगमात्, नित्यासतः कारणस्यासत्त्व एव कदाचित्कार्य्योत्पादात्, अन्वयस्तु न क्वचिदपि इति चेन्न, तुल्यत्वात् । अन्वयो नास्तीत्यभ्युपगच्छताप्यन्वयोपगमात् । अन्वयस्यापि सत्तान्तर्भावने कथितदोषापत्तेः ।४८। एतेन—

"आशामोदकतृप्ता ये ये चोपार्जितमोदकाः ।
रस-वीर्य्य-विपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते"-(२)

—इत्यस्यबाधकत्वमाशामोदकायते । सत्तान्तर्भावानन्तर्भावाभ्यां प्रत्यादेशात् ।

शंका—यदि कारण असत् है, तो असत्त्व में कोई विशेष है नहीं, फिर 'घट का दण्ड कारण है रासभ नहीं'—यह नियम कैसे होगा ?

समाधान—यदि कारण सत् है, तब भी सत्त्व में कोई विशेष तो है नहीं, दण्ड-रासभ सब की सत्ता एक सी है, फिर तुम्हारे मत में भी 'दण्ड कारण है, और रासभ कारण नहीं है' यह नियम कैसे होगा ? ॥४७॥

सद्वाद-समर्थन—सत्त्व पक्ष में दण्ड या दण्डजातीय के साथ घट का—"जब दण्ड तब घट" "जब दण्ड का अभाव तब घट का अभाव"—ऐसा अन्वय व्यतिरेक है । वह (अन्वय व्यतिरेक) "दण्ड कारण है, रासभ नहीं है"-इसमें नियामक है । तुम्हारे मत में खाली व्यतिरेक (अभाव) है; वह भी नियत नहीं है, क्योंकि जब कारण का अभाव हो तो कार्य्य का अभाव अवश्य हो ऐसा नहीं है, किन्तु सदा असत् कारण के असत्त्व में ही कभी कभी कार्य्य की उत्पत्ति देखी जाती है । अन्वय तो कहीं भी नहीं है ।

खण्डन—'जहाँ दण्ड वहाँ घट, जहाँ दण्डाभाव वहाँ घटाभाव'-ऐसा अन्वय-व्यतिरेक दोनों मत में एकसा है । क्योंकि असत्वादी भी वस्तु को स्वरूप-सत् (प्रातिभासिक) मानते ही हैं । यदि स्वरूप से भी सत् नहीं मानेंगे तो उनके मतमें "असन् घटः" 'घटो न' इत्यादि-व्यवहार नहीं होगा । यह अन्य बात है कि प्रमाण से परमार्थ में दण्डादि सिद्ध नहीं होते हैं; परन्तु व्यवहार में तो दण्डादि हैं ही ।

किञ्च (और) अन्वय नहीं है—ऐसा कहने वालों को भी अन्वय अवश्य मानना पड़ेगा । यदि असत् भी अन्वय न हो तो निषेध किसका होगा ? समर्थन—सत् अन्वय कार्य्य-कारण-भाव का नियामक है, और असत् पक्ष में वह नहीं है । खण्डन—सत्ता से विशिष्ट या सत्ता से उपलक्षित अन्वय कार्य्य-कारण-भाव का नियामक है ? यह दोनों पक्ष उक्त रीति से अयुक्त हैं ॥४८॥

शंका—"आशा-मोदक विपणि के, मोदक से सममोद । चहिये तुम्हरे मतहि में, तुष्टि-पुष्टि अरु तोंद" । २ ।

अर्थात् जब सब वस्तु असत् (प्रातिभासिक) हैं, तो मनोमोदक और बाजार के मोदक से एक सा रस-वीर्य्य-विपाक होना चाहिये । समाधान—यह तर्क भी मनोमोदक के तुल्य आभास ही है। क्योंकि तर्क विपर्य्यय (अभाव) में पर्य्यवसायी होता है । यहाँ विपर्य्यय में इस प्रकार से पर्य्यवसान होगा कि तुल्य रसादि दोनों से नहीं होता है, अतः कारण सत् है । परन्तु सत् पक्ष का पूर्वोक्त युक्ति से खण्डन होने से विपर्य्यय में पर्य्यवसान बनता नहीं है ।

आशामोदकादिनाऽपि च रसवीर्य्यविपाकादिजननात् ।४९। तदसत् कथं कार्य्यं स्यात् इतिचेन्न, सत्तामन्तर्भाव्य कार्य्यत्वोपगमे कारणवत् कार्य्येपि उक्तदोषस्य अनन्तर्भावेत्राऽविशेषस्य पूर्ववादाद्वृत्तेः । तस्मात्—

"पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्यएव नौ । हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा" (३) ।५०।

आस्तां प्रतिबन्दिग्रहाऽऽग्रहः; कथं पुनरसतः कारणत्वमवसेयम्, प्राक्सत्त्वनियमस्य विशेषस्यानभ्युपगमात्; असत्त्वस्य चाविशेषात् इतिचेन्न इदमस्मान्नियतप्राक् सत् इति बुद्ध्या विशेषात् ॥५१॥ भ्रान्तैवंबुद्धिगोचरेऽतिप्रसङ्ग इतिचेन्न, यादृश्या हि धिया त्रिचतुरकक्षाबाधाऽनवबोधविश्रान्तया वस्तुसत्त्वनिश्चयस्ते, तादृश्यैव विषयीकृतस्य ममापि कारणतानिश्चयः ॥५२॥ केवलं ततः परास्वपि कक्षासु बाधात् पूर्वपूर्वभ्रान्तिसम्भवेन न तावता सत्त्वावधारणम् वयं मन्यामहे इतिविशेषः ॥५३॥ परदर्शनसिद्धान्तस्य भूरि-

सत्य तो यह है कि स्वप्न में मनोमोदक से भी जाग्रत के मोदक के समान ही रसादि देखा जाता है; और गुञ्जा-पुञ्ज में कल्पित अग्नि से भी वानर की शीत-निवृत्ति देखी जाती है। अतः दोनों से तुल्य रसादि नहीं होता है—यह कथन नहीं बनता है ।४९। शंका—प्राक् (उत्पत्ति से पहले) असत् घटादि में सत्ता-सम्बन्धरूप कार्य्यत्व रहता है, इससे कार्य्य असत् कैसे हो सकता है? समाधान—यदि सत्ता के अन्तर्भाव से कार्य्यत्व मानें, तो कारण के तुल्य कार्य्य में भी उक्त दोष आवेगा; और यदि सत्ता का कार्य्यत्व में अन्तर्भाव न मानें तो असत्ता के अनन्तर्भाव से असत् ही कार्य्य क्यों न हो? पूर्वोक्त युक्ति से सत्त्व, कारण-कोटि में निविष्ट नहीं है, इससे दोनों मत में नियत-सम्बन्धरूप हेतुत्व तुल्य है। फिर हेतुत्व से पृथक् भूत कारण के सत्त्व-असत्त्व का विचार इस प्रसङ्ग में व्यर्थ है। यदि कारणत्व के सत्त्व-असत्त्व का विचार ही करना हो तो अलग ही करना चाहिये।

"पूर्व नियम से कार्य्य के, जो सो कारण यार!
इस प्रसङ्ग में क्यों करो, कारण-सत्त्व विचार" । ३ ॥ ५० ॥

शंका—प्रतिबन्दीरूप राहु का ग्रहण रहे; क्योंकि प्रतिबन्दी को वक्ष्यमाण (आगे कही जाने वाली) रीति से आप दोष नहीं मानते हैं, कारण में नियत प्राक्सत्त्व रूप विशेष को आप नहीं मानते हैं, और असत्त्व में कोई विशेष है नहीं; फिर असत् के कारणत्व को कैसे जानें? समाधान—दण्ड घट से नियमतः प्राक्क्षण में रहता है; यह बुद्धि ही विशेष है ॥५१॥ शंका—यदि बुद्धि ही विशेष है तो, रासभ (गदहा) घट से पूर्व है—इस बुद्धि से रासभ को कारण क्यों न मानें? समाधान—तीन या चार ज्ञान की कक्षा में बाध के अदर्शन से विश्रान्त जैसी बुद्धि से तुम्हें वस्तु का निश्चय होता है, वैसी ही बुद्धि से हमें भी कारणता का ज्ञान होता है ॥५२॥ भेद यह है कि तीन या चार कक्षा से अग्रिम कक्षा में बाध की सम्भावना से सम्भव है कि पूर्व पूर्व ज्ञान भ्रम हो; इससे हम तीन चार कक्षा में बाध के न होने पर भी वस्तु सत्त्व का निश्चय नहीं करते हैं ॥ ५३॥ शंका—तीन चार ज्ञान कक्षा में अबाध से अग्रिम कक्षा में भी अबाध अनुमान से सिद्ध होगा। समाधान—यह नियम नहीं है कि जो तीन चार कक्षा में अबाधित हो वह अग्रिम

१ पूर्वेण (कार्यपूर्वक्षणेन) नियमेन संबन्धः (वृत्तित्वम्) राजदन्तादित्वान्नियमशब्दस्य पूर्वनिपातः।

कक्षाबाधविनोपि ततः परकक्षाबाध्यमानत्वेनातथाभावोपगमात् । अन्यथैकदर्शनपरिशेषः स्यात् ॥५४॥ एतेनासत्त्वाविशेषेपि कथं कस्यचित्पक्षस्य त्रिचतुरकक्षाबाधित्वाबाधित्व-मास्ताम् इत्यपि निरस्तम् ॥५५॥

अनेवं बुद्धिविषयतादशायां कोविशेष इतिचेत्, यदा कदापि तादृशबुद्धिविषयतैव । अन्यथा कथय कथम् अन्यदातनतादृशबुद्धिविषयतयाऽन्यदासत्त्वं स्यात् । तदा सत्त्वम् अन्यदास्थेन गृह्यते इति चेत्, अन्यकालिकमेव तर्हि तत् तदातनकारणत्वोपयोगीतिसमा-नम् । तदेतत् सम्वृतिसत्त्वमितिगीयते ॥५६॥

असती सा न विशेषिका सती सा नेष्टेत्यभिसन्धानेन सम्वृतिरपिसतीनैवेति पृच्छन् प्रतिवक्तव्यः। विज्ञानं तावत् व्यवहारोपपादकतया द्वाभ्यामप्यनुमतम् । तस्यापि

कक्षा में अबाधित ही हो। क्योंकि नैयायिक मीमांसा-सिद्धान्त (शब्द-नित्यत्व) को—तीन चार ज्ञान कक्षा में बाध न होने पर भी—अग्रिम कक्षा में बाधित मानते हैं । यदि तीन चार कक्षामें अबाधित होने से प्रामाणिक मानें; तो सब दर्शनों के सिद्धान्त, आपाततः (बिना विचार) अबाधित होने से प्रामाणिक हैं; फिर प्रामाणिकत्व-अप्रामाणिकत्व-कृत दर्शनों के भेद नहीं होंगे। किन्तु सब दर्शन मिल कर एक दर्शन हो जायंगे ॥५४॥ शंका—यदि शुक्ति-रजत और यथार्थ-रजत दोनों की प्रातिभासिक सत्ता एक सी है, तो शुक्ति-रजत झटिति बाधित होता है, और यथार्थ रजत देर से बाधित होता है; इस भेद में क्या हेतु है ? समाधान—यद्यपि आप अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों में और शुक्ति-रजत में एक सी सत्ता मानते हैं, तब भी जैसे अन्य सिद्धान्तों में बाधोदय देर से होता है, और शुक्ति-रजत में झटिति (अति शीघ्र) ऐसा ही यहाँ भी जानिये ॥५५॥

शंका—यदि कारण में वस्तुभूत 'नियत-प्राक्-सत्त्व' नहीं है, किन्तु प्रातिभासिक है, तब जिस काल और जिस बीज में "इदं अस्मात् नियत-प्राक्-सत्" यह बुद्धि नहीं है, उस काल या उस बीज में कारणत्व की व्यवस्था कैसे होगी ?

समाधान—उस काल में भी रासभादि में जो 'इदं अस्मात् नियतप्राक् सत्'—इस बुद्धि विषयत्व के अभाव का अधिकरणत्व है, उसका अभाव ही व्यवस्थापक है । अथवा यदा कदा (अन्य देश या काल में) या अन्य पुरुष में जायमान 'इदं अस्मात् नियतप्राक् सत्' यह बुद्धि ही नियामक है । यदि अन्य काल की बुद्धि नियामक न हो तो सद्वादी के मत में भी 'इदम् अस्मात् प्राक् आसीत्' इस बुद्धि से भूत दण्डादि में कारणत्व की व्यवस्था कैसे होगी ?

शंका—सद्वादी के मत में कारण सत् है, इससे अन्य काल के ज्ञान से गृहीत होता है ।

खण्डन—तब अन्य काल की बुद्धि ही वर्तमान कारणत्व-व्यवहार में उपयोगी (कारण) है । इसी को आचार्य लोग सम्वृति-सत्त्व कहते हैं; ज्ञान अपने सत्त्व से विषय के असत्त्व (अभाव) का सम्वरण कर लेता (छिपालेता) है; इससे ज्ञान को सम्वृति कहते हैं; और उसके सत्त्व को सम्वृतिसत्त्व कहते हैं ॥५६॥

प्रश्न—असत् (मिथ्या) सम्वृति (ज्ञान) व्यवहार का कारण नहीं हो सकती है, और शून्यवाद की हानि के भय से विज्ञान को सत् आप मानेंगे नहीं; फिर व्यवहार कैसे होगा ?

जिज्ञासायां त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तगवेषणस्य यदि सत्त्वोपपन्ना भविष्यति, तदा सता तेनेद-मुपपादितं भविष्यति। अथासत्ता तस्य पर्य्यवसास्यति, तदाऽसतैव तेनेदमुपपाद्यते इति स्वीकर्तव्यम्। भ्रमविषयेणेव भ्रमे विशिष्टता-व्यवहारः ॥५७॥

अविचार्य्यैव तावत् तस्य सदसत्त्वम् विचार आरब्धव्यः। अन्यथा प्रथममेव मति-कर्दमे कथारम्भणमशक्यमापद्येत। स्वीकृतं च भवतापि भविष्यदादिविषये विज्ञाने विशि-ष्टव्यवहारनिदानत्वम् असतो विषयस्य। कारणशक्तेश्च विशेषकमसदेव कार्य्यम् ॥५८॥ नच कालान्तरसम्बन्धिनी सत्ता तस्यैकत्र, अन्यत्र नान्यदापीति वैधर्म्यमेतयोरपीति वक्तव्यम्। विशिष्टव्यवहारप्रवृत्तिसमये द्वयोरप्यसत्त्वाविशेषात्। प्रयोजनानुपयुक्ते काले तस्य स्वरूपतोऽवस्थानं पाटच्चरलुण्ठिते वेश्मनि यामिक-जागरण-वृत्तान्तमनुहरति ॥५९॥ तथापि कालान्तरस्थित्या घटादिकं स्वरूपतः विशेषणतश्च व्यवच्छिन्नं तद्विज्ञानेन स्व-भावबलाद्द स्वविशेषणत्वेनोपादीयते, नत्वेवमत्यन्ताऽसद्द भवितुमर्हति। तस्य स्वरूपतो

समाधान—ज्ञान व्यवहार का कारण है यह दोनों को इष्ट है। उसकी भी सत्ता की जिज्ञासा होने पर विचार होना चाहिये। विचार में तीन या चार कक्षाओं में सत्ता के अन्वेषण के समाप्त होने पर यदि युक्ति से असत्ता निश्चित होगी, तो व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति से मानना पड़ेगा कि—असत् ही ज्ञान व्यवहार का निमित्त है। क्योंकि दृष्ट में कोई अनुप-पत्ति की शंका नहीं होती है। जैसे "इदं रजतं" इस भ्रम स्थल में असत् रजत ही "रजतीयं ज्ञानं" इस व्यवहार का प्रयोजक आप के मत में है, वैसे ही असत् विज्ञान ही मेरे मत में व्यवहार कारण है ॥५७॥

अतः ज्ञानके सत्त्व को न विचार कर ही कारण की सत्ता का विचार करना चाहिये। यदि नियम किया जाय कि ज्ञान की सत्ता के विचार के बिना विचार का आरम्भ नहीं हो सकता है, तो ज्ञान के सत्त्व-असत्त्व के विचार का आरम्भ भी नहीं होगा। क्योंकि यह भी विचार स्व से पूर्व स्व के न होने से ज्ञान के सत्त्व-असत्त्व-विचार-पूर्वक नहीं है। अर्थात् यदि ऐसा नियम करें तो ज्ञान रूप कीचड़ में गौ के तुल्य फँस जाने से विचार का आरंभ अशक्य हो जायगा। 'पुत्र होगा' 'बिजली चमक गई'—इत्यादि भूत-भविष्यत्-विषयक विज्ञानस्थल में असत् विषय को ही व्यवहार का कारण आप भी मानते हैं। तथा असत् कार्य्य ही "कार्यपूर्ववर्त्ति-कारणं"—यहां कारणत्व का निश्चायक होता है ॥५८॥

शंका—सद्वादीके मतमें अन्य कालमें सत् (सत्त्व) घटादि ज्ञान का विषय होता है, और असद्वादी के मत में घटादि अन्य काल में भी असत् है, यह दोनों मतमें विशेष है।

समाधान—जिस काल में व्यवहार होता है, उस काल में असत्त्व दोनों मत में एक सा है। और जिस काल में व्यवहार नहीं होता है, उस काल में सत्त्व चोरों से घर लूट जाने पर पहरे वालों के जागने के तुल्य व्यर्थ है ॥५९॥

शंका—व्यवहारकाल में दोनों मत में एक सा असत्त्व होनेपर भी सद्वादी के मत में अन्यकालमें घटादि के सत् होनेसे स्वरूप और विशेषण से युक्त घटादि हैं, अतः विज्ञान स्वभाव से उसको विषय करता है। और असद्वादी के मत में अत्यन्त (कालान्तर में) भी

विशेषणतश्च व्यवच्छिन्नतयाऽनंगीकारात् कुत्र स्वभावतो विज्ञानं सम्बन्धि निरूप्येत॥६०॥
न, उक्तमत्राऽसतोपि तदेव स्वरूपं, तस्य नियतस्वरूपस्यैव नियतविशेषणस्यैवासत्त्वात्। अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। भ्रान्तिविषयेण दत्तोत्तरत्वाच्चेत्यलमतिप्रपञ्चेन ॥६१॥

इति शून्यवाद-विचारः

अथ स्वप्रकाश-विज्ञान-विचारः।

अपरे पुनः चेतसोपि शून्यताऽङ्गीकारे मनःप्रत्ययमनासादयन्तः सर्वमिदमसदेव विश्वम् इत्यभिधातुं सहसैवानुत्सहमाना मन्यन्ते—विज्ञानं तावत् स्वप्रकाशं स्वतएव सिद्धस्वरूपम्। न खलु विज्ञाने सति जिज्ञासोरपि कस्यचित् जानामि नवेति संशयः, न जानामीति वा विपर्य्ययः, व्यतिरेकप्रमा वा। तेन जिज्ञासितस्याऽतत्त्वज्ञानव्यतिरेकप्रमाणानामभावसमुदायः स्वव्यापकं जिज्ञासितस्य प्रमितत्वमानयति। अन्यथा हि जिज्ञासितप्रमितत्वव्यतिरेकव्यापकं जिज्ञासित-व्यतिरेकोल्लेखि ज्ञानमविघ्नितजिज्ञासस्य स्यात्। अतः सर्वजनस्वात्मसम्वेदनसिद्धमेवास्यबोधस्य स्वरूपम् ॥६२॥

असत् घटादि विज्ञान का विषय कैसे हो सकता है? क्योंकि शून्यवादमें घटादि स्वरूप और विशेषण से युक्त नहीं हैं, फिर स्वभाव से विज्ञान का सम्बन्ध कहां होगा? ॥६०॥

समाधान—मैंने इस विषय में कहा है, कि असत् का स्वरूप भी स्वरूप ही है। अर्थात् नियत-स्वरूप और विशेषण से युक्त ही घटादि का असत्त्व है। यदि सर्वथा असत् मानें तो 'घटः असन्' 'घटो न' इत्यादि प्रयोग भी नहीं होंगे, और "इदं रजतं" इस भ्रम का विषय असत् रजत ही जैसे 'रजतीयं ज्ञानं" इस व्यवहार का कारण होता है, वैसे ही सब जगह असत् ही व्यवहार का कारण होता है। विज्ञान के बोध के लिये इतना ही बहुत है, अतः विस्तार व्यर्थ है ॥६१॥ इति शून्यवाद-विचारः।

अथ स्वप्रकाशवाद-विचारः।

शून्यवाद-खण्डन—विज्ञानको शून्य मानने में सन्तोष न करने वाले, तथा सारे संसार को असत् कहने में उत्साह से रहित वेदान्ताचार्य्य मानते हैं कि—स्वप्रकाश स्वतः (आप से) ही सिद्ध स्वरूप विज्ञान है। क्योंकि विज्ञान होने पर किसी जिज्ञासु को भी "मैं जानता हूँ या नहीं" ऐसा सन्देह, या ज्ञान में "यह ज्ञान नहीं है यह इच्छा है" ऐसा भ्रम, या "मैं नहीं ही जानता हूँ" ऐसी अभाव-प्रमा नहीं होती है। इससे जिज्ञासित-विज्ञान में सन्देह एवं मिथ्याज्ञान और व्यतिरेक प्रमा के अभाव का समूह अपने व्यापक जिज्ञासित विषय की प्रमिति (यथार्थज्ञान) का आक्षेप

१—"घटः" ऐसा ज्ञान होने पर जैसे घट में सन्देह विपर्ययादि नहीं होते हैं, वैसे ही घटज्ञान में भी सन्देहादि नहीं होते हैं। इससे अनुमान होता है कि घट के साथ २ घट-ज्ञान भी ज्ञात होता है। अर्थात् ज्ञान सूर्य्य के तुल्य अपने विषय (घटादि) के साथ २ स्व का (अपना) भी प्रकाश करता है अतः स्व-प्रकाश है। यदि ज्ञान को स्व-प्रकाश न मानें तो सन्निकर्षादि कारण रहते जिज्ञासा होने पर घट-ज्ञान में सन्देहादि होने चाहियें, क्योंकि यह व्याप्ति है कि "यत्र २ सन्निकर्षादि-कारण-सत्त्वे जिज्ञासायाम् अज्ञातत्वम् तत्र २ सन्देहादिः" अतः स्वप्रकाश-विज्ञान के स्वतः सिद्ध होने से शून्यवाद ठीक नहीं है, विज्ञानवाद ही ठीक है यह वेदान्त-मत है। यहाँ संक्षेप से उस मत का विचार करते हैं।

व्यवसायस्यानुव्यवसायनियमान्न तत्र संशयादिरिति चेन्न, यत्रैवानुव्यवसाये ज्ञेयता नोपेया तत्र जिज्ञासायाम् आत्मधर्म्मिकं तत्संशयमारभ्य व्यवसायविषयपर्य्यन्तं संशयाक्रान्तेर्दुष्परिहरत्वात् । विषयिसद्भावसंशये तद्विषयेपि संशयस्य सम्भवात् । एवं त्रिचतुरसंवेदनकक्षाज्ञानध्रौव्यनियमाभ्युपगमेऽपीति ॥६३॥ स्वप्रकाशेतु मान-मेय-भावव्यवस्थाया अभावादेव तदाश्रया दोषा निरवकाशाः । अन्यथा तु बोधस्वरूप-मेव न सिध्येत्, यदि हि विज्ञानं परतः सिध्येत् तदाऽनवस्था स्यात् । नच वाच्यम् अवश्यवेद्यताविरोनाभ्युपेयते स्वार्थव्यवहारस्तु स्वरूपसत्तया सूयते इति क्वानव स्थेति ? यतः तस्यां प्रमाणानुपन्यासे स्वरूपसत्तापि कुतः, ययाव्यवहारोपपत्तिः को ब्रूते सती सा वित्तिः, असत्येव न कुतः ? ॥६४॥

सामान्यतो वित्तेस्तथात्वविधावपेक्षितसिद्ध्या यत्र विशेषरूपायां प्रमाणाऽप्रवृत्तिः तदा

करेगा। अन्यथा (विज्ञान की प्रमिति यदि न हो तो) विज्ञान के अभाव का व्यापक—जिज्ञा-सित-विज्ञान के अभाव को विषय करने वाला—ज्ञान (सन्देहादि) अवश्य होने चाहियें। और होते नहीं हैं, इससे जानना चाहिये कि सब मनुष्यों के अपने ज्ञान से बोध का स्वरूप सिद्ध ही है ॥६२॥

शून्यवाद-समर्थन—व्यवसाय (ज्ञान) का अनुव्यवसाय (द्वितीय ज्ञान) होता है, इससे वहां (ज्ञानमें) सन्देह आदि नहीं होते हैं।

खण्डन—जिस ज्ञान का ज्ञान नहीं होगा उसकी जिज्ञासा होने पर सन्देह आदि हो जायँगे। और उसमें (ज्ञान में) सन्देह होने पर प्रथम ज्ञान के विषय तक संदेह हो जायगा। क्योंकि विषयी (ज्ञान) के सन्देह से विषय में सन्देह अवश्य होता है, ऐसे ही तीन या चार ज्ञान-प्रवाह का ज्ञान अवश्य होना जो वादी मानते हैं, उनके मत में भी सन्देह आदि दोष जानना चाहिये ॥६३॥

प्रश्न—स्वप्रकाश मानने पर वही ज्ञान कर्म्म और क्रिया दोनों कैसे होगा ? क्योंकि क्रिया-कर्म्म भाव और विषय-विषयिभाव भेद में होते हैं।

उत्तर—विज्ञानवाद में विज्ञान से अलग बाह्य किसी भी पदार्थ का स्वीकार न होने से विषय-विषयिभाव ही नहीं होता है। और यदि भेद में विषय-विषयि-भाव मानें तो विज्ञान सिद्ध ही नहीं होगा। और यदि विज्ञान की सिद्धि अन्य विज्ञान से मानी जाय तो अनवस्था हो जायगी।

समर्थन—वित्ति (ज्ञान) का अवश्य ज्ञान हो ऐसा नहीं मानते हैं, किन्तु ज्ञान स्वरूपसत्ता से ही स्वविषय (घटादि) के व्यवहार का निमित्त होता है। इससे अनवस्था नहीं होती है।

खण्डन—उस वित्ति (ज्ञान) में प्रमाण के न होने से उसकी स्वरूपसत्ता कैसे सिद्ध होगी ? जिससे व्यवहार की प्रवृत्ति होगी। कौन प्रमाण कहेगा कि वित्ति सती है ? असती ही वित्ति क्यों न हो ? ॥६४॥

समर्थन—व्यवहार में कारण होने से सामान्य रूप से ज्ञान के सिद्ध होने पर व्यव-हारकाल में जिस ज्ञान में प्रमाण नहीं है, उसमें भी पीछे जिज्ञासा होने पर विशेष-व्यवहार या स्मरण ही प्रमाण हो सकता है ॥ ६५ ॥

तत्र सत्त्वसाधनासत्त्वेपि जिज्ञासायां सत्यां पश्चाद्व्यवहारसत्त्वैव वा अन्यद्वा प्रमाणमस्त्येवेति चेन्न ॥६५॥

तस्यापि कथं सत्त्वमित्यनवस्था वा स्यात्, शेषासिद्ध्या सर्वासिद्धिर्वा प्रसज्येतेत्यर्थाऽसिद्धिपर्य्यन्तस्य व्यसनस्य दुरुत्तरत्वात् । सेयम् 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यतीति' ॥६६॥

घटसत्तां हि व्यवहरता प्रामाणिकेन तत्र प्रमाणसद्भावो वाच्यः । यदि प्रमाणमनुपन्यस्य सास्तीत्यङ्गीक्रियते, तदा वैपरीत्यमेव वा किं न स्यात् । ततश्च घटसत्तायां प्रमाणसत्ता दर्शनीया, तथाच प्रमाणसत्तापि तत्प्रमाणसत्तामन्तरेण प्रामाणिकस्य नाङ्गीकारार्हा, सर्वप्रमाणसत्तानिवृत्तेः वस्तुसत्तानिवृत्तिनियतत्वात् । अन्यथा सप्तमरसादेरप्यापत्तेः—इति व्यक्तमनवस्थादौस्थ्यमस्वप्रकाशवादिनः स्यात् । यदि हि विनैव प्रमाणसत्तां प्रमाणसत्तां परोऽङ्गीकारयेत् । तदा घटसत्तामपि तथैवाङ्गीकारयतामिति घटेपि वृथा प्रमाणोपन्यासः ॥६७॥

अथ नाव्यवधानलग्नवित्तितद्वित्तिधाराऽभ्युपगम्यते, किं नाम कदाचित् कुतश्चित् काचित् वित्तिः प्रमीयते इति सर्वा वित्तिः प्रमाणसिद्धैवेत्यभ्युपेयते इति चेन्न,

---

खण्डन—जिस सामान्य या विशेष व्यवहार से ज्ञानकी सिद्धि होती है, उस व्यवहार की सिद्धि भी ज्ञान के अधीन ही है, तथा उस ज्ञानकी सिद्धि भी अन्य ज्ञान के अधीन है, इस तरह अनवस्था हो जायगी । या जिस ज्ञानका ज्ञान न होगा उसकी असिद्धि से सब की असिद्धि हो जायगी । इस तरह से अर्थ की असिद्धि तक दोष हो जायगा । जो परीक्षक उपलम्भ (ज्ञान) का प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं, उनके मत में अर्थ सिद्ध नहीं होगा, इस धर्मकीर्त्ति के वचन का भी यही अभिप्राय है ॥ ६६ ॥

घट-व्यवहार के करने वाले प्रामाणिक को घट में प्रमाण अवश्य कहना चाहिये । यदि प्रमाण को न देकर "घट है" ऐसा स्वीकार करें, तो उलटा ही अर्थात् "घट नहीं है" ऐसा ही स्वीकार क्यों न किया जाय । तस्मात् घट में प्रमाण अवश्य दिखाना चाहिये । तब तो प्रमाण भी प्रमाण के विना स्वीकार के योग्य नहीं है । क्योंकि सब प्रमाणों के अभाव से वस्तु का अभाव अवश्य होता है, यदि प्रमाण न होने पर भी वस्तु की सिद्धि हो तो सप्तम रस को मानना पड़ेगा । इस प्रकार से ज्ञान को जो स्व-प्रकाश नहीं मानते हैं, उनके मत में अनवस्था साफ ही है; यदि वादी प्रमाण के विना ही प्रमाण को स्वीकार कराना चाहें तो प्रमाण के विना ही घट का भी स्वीकार करावें, फिर घट में प्रमाण देना व्यर्थ ही है ॥ ६७ ॥

समर्थन—अन्य विषय के ज्ञान होने से धारावहनके तुल्य अव्यवधान से ज्ञान और तद्-ज्ञान—(उस ज्ञान का ज्ञान) धारा नहीं होती है, किन्तु जिज्ञासा होनेपर व्यवहार आदि हेतु से कोई २ वित्ति प्रतीत होती हैं । अतः सामान्य लक्षण से सब वित्ति प्रमाण-सिद्ध ही हैं, ऐसा माना जाता है ।

खंडन—'जिज्ञासा होने पर'...इत्यादि कथन से ज्ञात होता है कि आप भी व्यवधान से उत्पन्न ज्ञान और तज्-ज्ञान-धारा मानते हैं । परन्तु मान नहीं सकते हैं । ऐसा मानते यदि

स्यादप्येवं यदि घट इति घटं जानामीत्यतोऽधिका— घटवित्तितद्वित्तिधारया विषयभावेन प्रविष्टया तादृग्विषयशतभारमन्थरा—वित्तिरस्मदादेरुत्पद्यमानाऽनुभूयेत ॥ ६८ ॥

यद्यस्मदादिविलक्षणजन्मनि सा सम्भाव्यते, तदापि यस्या वित्तेः तावद्वित्तिगर्भिता धीर्विषयः साप्यन्यया कयाचिदुल्लेख्येत्यत्र प्रमाणाभावश्च । अनिर्मोक्षापत्तिश्च । न हि स्वमन्तर्भाव्य कयाचिद्द्धिया स प्रवाहो ग्राह्यः। तथासति स्वप्रकाशतासिद्धेः । अत एवान्योन्यविषयता निरस्ता । स्वविषयकान्योन्यग्रहे स्वग्रहापत्तेः ॥६९॥

नच पुरुषान्तरेण सा प्रमास्यते न तु तदभाव इति प्रमातेऽस्ति । तदर्थमपि प्रमाणान्तरसद्भावपरम्परापत्तेः ॥७०॥

नचैवं[1] घटसामग्री-तत्सामग्री-गवेषणेऽप्यनवस्था स्यात् ? वैषम्यात्, यदि हि घटसामग्री-तत्सा-

"घटः" "ज्ञातोघटः" इससे अधिक ज्ञान-प्रवाह (जिसमें विषयरूप से अनेक ज्ञान प्रविष्ट हों) अनुभव गोचर होता, परन्तु होता नहीं है ॥६८॥

समर्थन—हम लोगों से विलक्षण जन्म वाले योगियों की बुद्धि का विषय—विच्छिद्य उत्पन्न—विषय भार से मन्थर—ज्ञान भी होता है । खण्डन—तब भी जिस योगी के ज्ञान का विषय—विच्छिद्य उत्पन्न (व्यवधान रखकर उत्पन्न)—विषय शतभार से मन्थर (अनेक ज्ञानरूप विषयों के पड़ने से मन्द)--पूर्वोक्त ज्ञान होता है, वह योगी का ज्ञान भी किसी ज्ञान का विषय होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । समर्थन— वह योगी का ज्ञान भी योगी के अन्य ज्ञान का विषय होता है । खण्डन—ज्ञानधारा के अविश्राम होने से अन्य विषय का अज्ञान और मोक्ष का अभाव हो जायगा । समर्थन— उस ज्ञान-प्रवाह का ग्रहण करने वाला ज्ञान स्व-(अपनेआप) का भी ग्रहण करता है । खण्डन—ऐसा मानने पर ज्ञान स्व-प्रकाश सिद्ध हो गया । समर्थन—योगी के ज्ञान के प्रवाह में अन्त का ज्ञान अन्त के समीप के ज्ञान को, और समीप का ज्ञान अन्तकेज्ञान को विषय करता है; इससे न अनवस्था है, और न स्वप्रकाशता ही है। खण्डन-अन्त्य-ज्ञान स्व को विषय करने वाले उपान्त्य-ज्ञान (अन्त के ज्ञान का समीपवर्ती ज्ञान) को विषय करता हुआ स्व का भी ग्रहण करेगा। एवं उपान्त्य ज्ञान, स्व के ग्रहण करने वाले अन्त्य-ज्ञान को ग्रहण करता हुआ स्व का भी ग्रहण करता है, इस तरह अन्योन्य-ग्रह में भी स्वप्रकाश ही ज्ञान सिद्ध हुआ ॥ ६९ ॥ समर्थन— एक पुरुष के ज्ञानों के प्रवाह का अन्त्यज्ञान—अन्य-विषय के सञ्चार से, और मोक्ष होने से, विश्रान्त भी—अन्य पुरुष से गृहीत होता है, इससे अन्त्य की असिद्धि से सबकी असिद्धि नहीं है । खण्डन— अन्य पुरुष का अन्त्य-ज्ञान अन्य-पुरुष के ज्ञान का गोचर होता है । इसमें भी प्रमाण आप अवश्य देंगे। उसमें भी अन्य प्रमाण की अपेक्षा होने से अनवस्था वैसी ही है । किञ्च (और) अन्य पुरुष से भी अंत्य-ज्ञान ही गृहीत होता है, उसका अभाव गृहीत नहीं होता है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है ॥ ७० ॥

शंका—यदि ज्ञान का ज्ञान तथा उस ज्ञान का अन्य ज्ञान इस प्रकार से ज्ञान के प्रवाह को अनवस्थित न मानें, तो ज्ञान की सिद्धि ही नहीं होगी । अतः ज्ञान की अन्यथा

1 यहाँ शंकाकर्त्ता नैयायिक हैं, और समाधान-कर्ता वेदान्ती हैं । दोनों घट-सामग्री को परमाणु और प्रकृति (माया) में विश्रान्त मानते हैं । और घटादि के अनित्यत्व का कारण सामग्री का अविश्राम नहीं है, किन्तु जन्यत्व है । अतः शंका-समाधान दोनों समक्ष में नहीं आते हैं ।

मग्री-धारा कुत्रचिद्द विच्छिद्येत, तदा घटः सदातनः स्यात् इत्यार्थापत्त्यैव घटः सामग्री-परम्पराविच्छेदरहित एव प्रमीयते । यदि तु ज्ञानेऽप्येवं स्यात् तदा स्वस्य प्रवेशात् स्वप्रकाशापत्तिः । अप्रवेशादनवस्था । अवेदने शेषासिद्ध्या सर्वासिद्धिः—इति व्यसनं दुरुत्तरमेव । ये च मानमेयाश्रया दोषाः कीर्त्तनीयाः तेपि प्रसज्येरन् ॥७१॥ न च तैर्दोषै र्नास्त्येव ज्ञानमित्यास्थेयम् । स्वतः सर्वसिद्धस्य दुरपह्नवत्वात् । स्वप्रकाशाङ्गीकारादेव चाऽनुभवस्य सर्वदोषप्रहानेर्वक्ष्यमाणत्वात् । प्रकाशात्मतामात्रस्यैव स्वतः सिद्धिसम्भवे जडात्मनां धर्म्माणां केषामपि तदन्तर्भावानुपपत्तिः । अत एव धर्म्मोपग्रहप्रवर्त्तिष्णुवाग्व्यवहाराविषयत्वम्, कालानवच्छेदमादाय च नित्यत्वोपचारः ॥७२॥

देशानवच्छेदमादाय विभुत्वव्यपदेशः । प्रकारावच्छेदविरहनिबन्धनश्च सर्वात्मत्वाऽद्वैतादिव्यवहारः । सौगतप्रभाकरादिवद्द भावे नैयायिकवच्चाभावेऽभावानतिरेकस्वी-

असिद्धि रूप अर्थापत्ति प्रमाण से अनवस्था स-प्रमाण है, अतः दोष नहीं है । अन्यथा (यदि अनवस्था को सर्वत्र दोष मानें तो) घट के अनित्यत्व की अन्यथाऽनुपपत्तिसे घट-सामग्री-प्रवाह की अनवस्था भी दोष कही जायेगी । समाधान—यदि घट की सामग्री और उस सामग्री की सामग्री, इस प्रकार से अधः (पीछे) दौड़ती अनवस्था का कहीं भी अन्त (विश्राम) मानें, तो घट अनित्य सिद्ध नहीं होगा । अतः घट के अनित्यत्व की अन्यथाऽनुपपत्ति रूप प्रमाण-सामर्थ्य से अनवस्था दोष नहीं है । और ज्ञान की सिद्धि स्व-प्रकाश मानने पर भी होती है, अतः ज्ञान की सिद्धि की अन्यथाऽनुपपत्ति रूप प्रमाण के न होने से ज्ञान के प्रवाह की अनवस्था दोष है । यदि प्रवाह का कहीं विच्छेद मानें, तो अन्त्य की असिद्धि से सब की असिद्धि होती है, और यदि अन्त्य ज्ञान को स्व-विषयक मानें तो ज्ञान स्वप्रकाश सिद्ध होता है । और यदि ज्ञान को अन्य ज्ञान का विषय मानें, तो अन्य ज्ञान के साथ ज्ञान का सम्बन्ध कहना होगा । और वह सम्बन्ध—सम्बन्धी ज्ञान के द्रव्य न होने से—संयोग नहीं हो सकता है । तथा दोनों के गुण होने से समवाय नहीं हो सकता है । और भिन्न होने से तादात्म्य नहीं हो सकता है । द्रव्य आदि सात पदार्थों में अन्तर्भाव के न होने से विषय-विषयि-भाव का असम्भव है, अतः वह भी नहीं हो सकता है । ज्ञान असम्बद्ध का ही ग्रहण करता है—यह भी नहीं कह सकते हैं । क्योंकि यदि असम्बद्ध का ग्रहण करे तो अन्य का भी ग्रहण हो जायगा । ॥७१॥

प्रश्न—उक्त दोषों से ज्ञान ही नहीं है, ऐसा क्यों न मानें ? उत्तर—ज्ञान सब मनुष्यों के अपने अनुभव से सिद्ध है । अतः ज्ञान का अस्वीकार नहीं हो सकता है । स्वप्रकाश होने से ही अनवस्था और असम्बन्ध आदि दोष नहीं होता है, यह कहेंगे; केवल ज्ञान की ही स्वतः सिद्धि का सम्भव है, इसी से ज्ञानस्वरूपब्रह्म को सत्ता-गुणत्व-ज्ञानत्व आदि जड़ धर्म्मों के सम्बन्ध से प्रवृत्त-वाग्व्यवहार का अगोचर (अविषय) कहा है । प्रश्न—यदि ब्रह्म में कोई धर्म्म नहीं है "तो सत्यं ज्ञानमानन्दम्ब्रह्म" इस श्रुति में नित्यत्व धर्म्म का व्यवहार कैसे होता है ? उत्तर—काल के सम्बन्ध से वस्तु में अनित्यत्व का व्यवहार होता है, और वह (काल-संबन्ध) ब्रह्म में नहीं है । अतः अनित्यत्व के अभाव को मान कर उपचार (आरोप = कल्पना) से नित्यत्वव्यवहार होता है, जैसे रक्तादि (लाल पीले आदि) रूप के अभाव के होने से आकाश में नील रूप का व्यवहार होता है ॥७२॥

प्रश्न—'जगद् बृंहयति (व्याप्नोति) इति ब्रह्म'—इस व्युत्पत्ति से तथा 'महतो महीयान्' इस श्रुति से ब्रह्म में परम महत् परिमाण को अवश्य मानना पड़ेगा । उत्तर—देश के सम्बन्ध

कारादेव चाद्वैताऽव्याघातः। भ्रमविषयनिषेधवच्च प्रतियोगिनः सर्वथैवासिद्ध्याऽपि न काचित् क्षतिः ॥७३॥ तदेतत्तु श्रुत्या प्रमाणेनोपलक्षणन्यायात् तात्पर्य्यतः प्रकाश्यते। तेन परमार्थतोऽभिधानाभिधेयभावविरहे तात्पर्य्यतः श्रुतिस्तस्मिन्नविद्यादशायां पराभ्युपगमरीत्या प्रमाणमित्युच्यते। वस्तुतस्तु स्वात्मसिद्धमेव चिद्रूपम् ॥७४॥ ननु च स्वप्रकाशत्वं ज्ञानस्येत्यनुपपन्नमिदम्, क्रियाकर्म्मभावस्य भेदव्यतिरेकेणानुपपत्तेः; कार्य्या क्रिया हि कर्म्मणो भवति, कर्म्म च कारणं क्रियायाः, नच स्वेनैव स्वनिष्पादनम् शक्यम्, पूर्वापरभावविशेषस्य हेतुहेतुमद्भावरूपत्वात्, नच तस्मादेव तदेव पूर्वमपरं च सम्भवति। तदनवच्छिन्नकालविशेषस्य तत्पूर्वशब्दार्थत्वात्, तदा च तस्य सद्भावस्वीकारे स एव कालः तदवच्छिन्नः तदनवच्छिन्नश्चेति विरोधात् ॥७५॥ मैवम्, क्रियायाः कर्म्म-

से मूर्त्तत्व (परिमितत्व) का व्यवहार होता है, और ब्रह्म में मूर्त्तत्व नहीं है, अतः आरोप से विभुत्व (व्यापकत्व) का व्यवहार होता है। प्रश्न— घटत्वादि एक २ धर्म्म के सम्बन्ध से घटादि घटत्वाद्यात्मक हैं; और द्वैत हैं। और ब्रह्म सर्व धर्म्म के सम्बन्ध से सर्वात्मक तथा अद्वैत है। इस रीति से ब्रह्म में सर्व धर्म्मों का सम्बन्ध मानना पड़ेगा। उत्तर— घटत्वादि एक २ धर्म्म के सम्बन्ध से घटादि असर्व-धर्म्मात्मक हैं; और ब्रह्म में असर्व-धर्म्मात्मकत्व के अभाव के होने से आरोपित सर्व धर्म्मात्मकत्व का व्यवहार होता है। प्रश्न—द्वैत के अभाव को अद्वैत कहते हैं, और ब्रह्म में द्वैत का अभाव है, वह अधिकरण रूप नहीं है, अतः निर्धर्म्मक ब्रह्म सिद्ध नहीं हुआ। उत्तर—बौद्ध तथा प्राभाकर लोग जैसे अभाव को अधिकरण रूप मानते हैं, और नैयायिक जैसे अभाव में स्थित अभाव को अधिकरण रूप मानते हैं, वैसे ही हम भी अभाव को अधिकरण रूप ही मानते हैं। प्रश्न—यदि द्वैत के अभाव को अद्वैत कहते हैं, तब तो प्रतियोगी रूप से द्वैत भी मानना पड़ेगा। अतः अद्वैत ब्रह्म है—यह कथन नहीं बनता है। उत्तर—जैसे भ्रमस्थल में असत् (मिथ्या) रजत का ही 'नेदं रजतं' निषेध होता है, ऐसे ही असत् (मिथ्या = कल्पित) द्वैत का ही निषेध होता है। अभाव-ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान अपेक्षित है। प्रतियोगी की प्रमा (यथार्थज्ञान) अपेक्षित नहीं है, द्वैत का भ्रम रूप ज्ञान है ही। प्रश्न—ब्रह्म यदि वाक् (वाणी) का अ-गोचर है तो उसमें श्रुति प्रमाण कैसे हो सकती है? उत्तर—यद्यपि धर्म्म-सम्बन्ध के न होने से ब्रह्म पद-वाच्य नहीं है। तथा योग्यता-ज्ञान के न होने से वाक्यार्थ भी नहीं है। तब भी जैसे 'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः' इस वाक्य में काकपद उपलक्षण रूप से तृणच्छादन (छप्पर) का प्रतिपादन करता है, वैसे ही श्रुति विशेषण (जगत्कर्तृत्वादि) को त्याग कर तात्पर्य्य-बल से ब्रह्म को कहती है। तस्मात् वाच्य-वाचक भाव से रहित उस ब्रह्म में अविद्या-दशा (व्यवहार) में नैयायिकादि की रीति से श्रुति प्रमाण है। यथार्थ में अपने आप से सिद्ध चिद्रूप ब्रह्म है। प्रश्न—ज्ञान स्व-प्रकाश है यह बात युक्त नहीं है। क्योंकि क्रिया—कर्म्मभाव भेद के विना नहीं होता है। देखिये क्रिया कर्म्म का कार्य्य है। और कर्म्म क्रिया का कारण है। और स्व से स्व की उत्पत्ति नहीं होती है। क्योंकि पूर्व-पर-भाव कार्य्य-कारण-भाव रूप है। और अपने से आप पूर्व तथा पर नहीं हो सकता। अपने से अनवच्छिन्न (रहित) काल पूर्व—शब्द का अर्थ है। यदि पूर्वकाल में भी कार्य्य को मानें तो—वही काल उस कार्य्य से युक्त है, और अयुक्त-ऐसा विरोध होजायगा ॥७५॥ उत्तर—क्रिया कर्म्म से जन्य है—इस नियम को

जन्यतानियमानङ्गीरात्। सर्वथैवानागत-विषय विज्ञाने तदसम्भवात्। कचिज्जनकतामादाय च कर्म्मणि कारकत्वव्यपदेशात्। करणव्यापारविषयत्वाद्व वा परसमवेतक्रियाफलभागित्वाद्वा कर्म्मलक्षणात् विनापि क्रियाजनकत्वेन कर्म्मव्यवहारोपपत्तेः ॥७६॥ किञ्च तत् कर्म्मत्वं यत् स्वंप्रति विरुध्यते ? । परसमवेतक्रियाफलभागित्वम् इति चेन्न, अपादानस्यापि व्याप्तेः। अपादानं कर्म्मापि इति चेन्न, वृक्षात्पतति पर्णमितिवत् वृक्षम्पर्णं पततीत्यपि स्यात्। विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति तदविवक्षया नैवम् इतिचेन्न, वस्तुतः सतः ताद्रूप्यस्य यदि विवक्षा स्यात्तदा तदपि स्यात्। अपादानस्य कर्म्मत्वं न विवक्ष्यते इति शाब्दिकसम्प्रदायोऽयम् इति चेत्। तर्हि तत्र निवृत्तसर्वकर्म्मव्यवहारेऽपि स्वकृतकर्मलक्षणानुरोधेन कर्म्मत्वमभ्युगच्छता वस्तुमात्रं कर्म्मेत्यपि लक्षणं सावकाशितं स्यात्। कथञ्च लोकोत्तरप्रज्ञेन निवृत्तसर्वकर्म्मव्यवहारेऽपि स्वकृतकर्म्मत्वमस्तीत्यधिगतम् ? । अपादानेतरद्व ईदृशं कर्म्मेति चेन्न, तत्रापि नदी वर्द्धते इत्यादौ तद्वृद्धेरप्राप्ततीरभागादिप्राप्तिफलायाः सकर्म्मकत्वापत्तेः।

हम नहीं मानते हैं। क्योंकि "घटं ज्ञास्यति" इस भावीस्थल में व्यभिचार है। प्रश्न—यदि कर्म्म क्रिया का कारण नहीं है, तो कर्म्म की कारक में गणना का हेतु क्या है ? उत्तर—कहीं ("आत्मानं जानाति" इस स्थल में) पर क्रिया का जनक कर्म्म होता है, अतएव कारक में कर्म्म की गणना होती है। प्रश्न—अतीत और अनागत कर्म्म-साधारण इसके (कर्म के) लक्षण के न होने से अनुगत कर्म्म का व्यवहार कैसे होगा ? उत्तर—करण का जो व्यापार है उसके विषय को कर्म्म कहते हैं। अथवा अन्य में रहनेवाली क्रिया के फल से युक्त को कर्म्म कहते हैं, इन लक्षणों से क्रिया का जनक न होने पर भी 'घटं ज्ञास्यति' इत्यादि स्थल में कर्म्मत्व का व्यवहार होता है। क्रिया के जनक होने से नहीं होता ॥७६॥ प्रश्न—और वह कर्म्मत्व क्या है जो स्व का कर्म्मत्व स्व में विरुद्ध है ? निर्वचनकर्त्ता— अन्य में विद्यमान क्रिया के फल से युक्त कर्म्म है। खण्डनकर्त्ता—'वृक्षात् पर्णं पतति' यहाँ पर्णनिष्ठ पतन रूप क्रिया के विभाग रूप फल से युक्त वृक्ष रूप अपादान में कर्म्म के लक्षण की अति-व्याप्ति होजायगी। निर्वचन—अपादान कर्म्म भी है। खण्डन—जैसे 'वृक्षात्पतति' प्रयोग होता है, वैसे ही 'वृक्षं पतति' प्रयोग हो जायगा। निर्वचन—कारक वक्ता की इच्छा से होते हैं, यहाँ वक्ता की कर्म्मत्व की इच्छा न होने से द्वितीया नहीं होती है। खण्डन—यदि वस्तुतः अपादान कर्म्म है तब जिस काल में कर्म्मत्व रूप से कहने की इच्छा होगी उस काल में 'वृक्षम्पतति' ऐसा प्रयोग भी होजायगा।

निर्वचन—अपादान की कर्म्मत्व-रूप से विवक्षा नहीं होती है, ऐसा वैयाकरणों का सम्प्रदाय है। खण्डन—जिस में कर्म्म का कोई भी व्यवहार नहीं होता है, उस में स्वकल्पित लक्षण के अनुरोध से कर्म्मत्व को मानने वाले आप वस्तु मात्र कर्म्म है-ऐसी ही लक्षण की कल्पना क्यों न करें ? जब कोई दोष दे तो वैयाकरणों के सम्प्रदाय का आश्रयण कीजिये। किञ्च-जिसमें कर्म्मत्व-कृत कोई भी व्यवहार नहीं होता है; उस अपादान में कर्म्मत्व को लोक से उत्तर (अधिक) बुद्धि वाले आपने कैसे जाना? अर्थात् वृद्धों का जब अपादान में कर्म्मत्व व्यवहार नहीं होता है, तब उसको कर्म्म मानना ठीक नहीं है। निर्वचन—अपादान से इतर जो पर में समवेत क्रिया के फल का आश्रय, वह कर्म्म है-इस निवेश में कुछ दोष नहीं है। खण्डन—इसमें भी 'नदी वर्द्धते' इसस्थल में नदी की वृद्धि रूप क्रिया का जो फल-अप्राप्त तीर भाग में

अपादानेतरदिति स्थाने क्रियानाशकेति करणेऽप्यस्य दोषस्य तादवस्थ्यात्। विनाशलक्षणायां 'वृद्धौ तदसम्भवाच्च। वृक्षं त्यजतीत्यादवकर्म्मत्वप्रसङ्गाच्च। आत्मानं जानामीत्यत्र परत्वाभावादव्याप्तेः। तत्राप्युपाधिभेदात्परत्वम्, कर्त्तृत्वभोक्तृत्वाद्युपहितस्यैवात्मनोऽङ्गीकृत्वाभ्युपगमात् इति चेन्न; यतोऽस्तु तावद्द यथाकथंचिदेवं, तथाप्यध्यात्मविदो निरुपाधिमात्मानं जानतो ज्ञानं नात्मकर्म्मकं स्यात्। पच्यते फलं स्वयमेवेत्यादौकर्मकर्त्तरि का गतिः स्यात्? सर्वज्ञमीश्वरं मन्यमानेन च नित्यज्ञाने तस्मिन् भगवति फलनाशकत्वस्यानभ्युपगमाच्चम्यत्येतल्लक्षणाऽसिद्धेः। तस्माद्द व्याकरणकारैः शब्दसिद्ध्यर्थं नदीवृद्ध्यादिवत् कर्म्मापि परिभाषितमिति अलं तदनुगतलक्षणगवेषणया। करणव्यापारविषयः कर्म इति चेन्न, हस्तेन रामेण शरेण इत्यादावतिप्रसङ्गात्। लक्षणं विनापि क्रियाजनकत्वे सति व्यापा-

---

प्राप्ति–उस का आश्रय होने से तीर को कर्म्मत्व हो जायगा। निर्वचन—क्रिया का नाशक जो पर समवेत क्रिया का फल, उसका भागी कर्म्म है; और वृक्षनिष्ठ विभाग क्रिया का नाशक नहीं है; किन्तु अधः संयोग ही पतन रूप क्रिया का नाशक है, अतः दोष ('वृक्षं पतति' ऐसा प्रयोग) नहीं है। खण्डन—इस लक्षण में भी 'नदी वर्द्धते' इसी स्थल में ही दोष है। क्योंकि नीर-(जल) तीर संयोग रूप फल वृद्धि रूप क्रिया का नाशक है, अतः तद्-भागी (आश्रय) होने से तीर कर्म्म हो जायगा। किञ्च–जहाँ नाश रूप वृद्धि है, वहाँ असम्भव हो जायगा; अर्थात् जहाँ 'वृध' धातु का छेदन अर्थ है, वहाँ ('वृक्षं वर्द्धते वर्धकिः' यहां) नाश रूप फल क्रिया का अ-नाशक है, अतः वृक्ष को कर्म्मत्व नहीं होगा। किञ्च–'वृक्षं त्यजति' यहां विभाग रूप फल क्रिया का नाशक नहीं है, अतः वृक्ष में कर्म्मत्व नहीं होगा। और 'आत्मानं जानाति' यहां पर (इतर) के न होने से कर्म्मत्व नहीं होगा। निर्वचन—शरीर-इन्द्रिय से युक्त—स्थूल शरीर युक्त—आत्मा कर्त्ता है, और कर्तृत्वादिविशिष्ट—सूक्ष्मशरीर-युक्त—आत्मा कर्म्म है, इस रीति से औपाधिक भेद के होने से दोष नहीं होगा। खण्डन—यद्यपि उपाधि भिन्न २ हैं, तब भी उपहित (उपाधि वाला) आत्मा एक ही है; इससे कर्त्ता-कर्म्म दोनों में भेद दुर्लभ ही है। किञ्च (और) जो अध्यात्मविद् हैं (निरुपाधि आत्मतत्त्व को जानते हैं) उनके अभिप्राय से ज्ञान का 'आत्मानं' कर्म्म नहीं होगा। किञ्च—'पच्यते फलं स्वयमेव' इस प्रयोग में जहाँ कर्म्म की कर्तृत्व रूप से विवक्षा है (अर्थात् कर्म को ही कर्त्ता मान लिया है) वहाँ पर 'पर' के न होने से फल में कर्म्मत्व नहीं बनेगा।

किञ्च—(और) जो ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं, उनके मत में ईश्वर का ज्ञान नित्य है, फल नाश्य नहीं है, अतः 'ईश्वरः सर्वंजानाति' इस स्थल में 'सर्व' को कर्म्मत्व नहीं होगा। कर्म्म का निर्दुष्ट लक्षण नहीं हो सकता है, अतः वैयाकरणों ने नदी-वृद्धि आदि के तुल्य कर्म्म की भी शब्द-सिद्ध्यर्थ केवल परिभाषा (संकेत) की है। ऐसा ही मानना उचित है। अतः कर्म्म के अनुगत लक्षण का अन्वेषण व्यर्थ है। निर्वचन— करण के व्यापार का विषय कर्म्म है। खण्डन—'हस्तेन रामेण शरेण वाली हतः' इस जगह में हस्त-रूप करण के व्यापार का विषय होने से शर कर्म्म हो जायगा। किञ्च—लक्षण के विना भी, क्रियाजनक होकर व्यापार का उद्देश्यत्व-रूप अनुगत (सब कर्मों में रहने वाला) धर्म से कर्म्म का व्यवहार होगा। शेष 'ईश्वराभिसन्धि' ग्रन्थ

टी० १ वर्ध छेदने चुरादि का धातु है। वहाँ 'वृध' इस पाठान्तर के अनुसार यह ग्रन्थ है।

रोद्देश्यत्वेन कर्म्मव्यवहारोपपत्तेः। शेषश्चेश्वराभिसन्धौ स्वप्रकाशवादे निर्वक्ष्यामः ॥७७॥ ननु चाऽभेदे विषयविषयिभावस्यैवासंगतत्वम्, विषयित्वं हि विषयसम्बन्धिता,स स्वन्धश्च भेदमन्तरेणासम्भवदवस्थितिः, सम्बन्धमितेः सम्बन्धिस्वरूपभेदमितिव्यतिरेके वैपरीत्यावधारणात् ॥७८॥ मैवम् । विषयविषयिभावसम्बन्धो हि न सम्बन्धिस्वरूपाद्भिन्नः तथाभूतत्वेऽपि चान्ततः तत्सम्बन्धस्यापि स्वाश्रयात्मकत्वमभ्युपगम्यम्, अनवस्थाभयात् । तथासति च सैव यथा सम्बन्धमितिः सम्बन्धस्वरूपात् सम्बन्धिनोर्भेदमनादायैव पर्य्यवस्यतीत्यभ्युपगन्तव्यम् । स्वभावसम्बन्धस्येतरसम्बन्धमर्य्यादातिशायित्वात् । तथा विनापि सम्बन्धिभेदं विषयविषयिभावात्माऽयं सम्बन्धः पर्य्यवसास्यति, तदवगमोपि तथावगमव्यतिरेकेणैव भविष्यति को विरोधः ? ॥७९॥ नचैवं घट-तज्ज्ञानयोर्यादृग्विषयविषयिभावः ततोमात्रयाऽपि स्वप्रकाशे विषयविषयिभावान्यत्वे बाध्यतैकत्र स्यात्। अस्त्येव ह्यविद्याविद्यमाने घट-तज्ज्ञाने बाध्यत्वम्, परमार्थसति तु स्वप्रकाशे पारमार्थिकत्वमिति द्वयोरननुगमेऽपि न दोषः ॥८०॥ अथवा स्वात्मना सह क्रियाकर्म्मभावो विषयविषयिभावो वा स्वप्रकाशार्थ इति नाभ्युपेयमेव, यथा तु भवतां सत्तासम्बन्धादित-

के स्वप्रकाश प्रकरण में कहेंगे ॥७७॥ शंका—अभेद में विषय-विषयि-भाव असङ्गत है, क्योंकि विषयित्व विषय की सम्बन्धिता है, और सम्बन्ध की स्थिति सम्बन्धियों के भेद के बिना हो नहीं सकती है । क्योंकि जहाँ जहाँ सम्बन्धी के भेद की प्रमा है, वहाँ ही सम्बन्ध की प्रमा होती है, और स्व-प्रकाश ज्ञान स्थल में सम्बन्धी के भेद की प्रमा नहीं है; अतः विषय-विषयि-भाव भी नहीं होगा ॥७८॥

समाधान—विषय-विषयि-भाव रूप सम्बन्ध सम्बन्धी के स्वरूप से भिन्न नहीं है । यदि उसको सम्बन्धी के रूप से भिन्न भी मानें, तब भी अन्त में उसके सम्बन्धको अवश्यमेव सम्बन्धी-स्वरूप मानना पड़ेगा। यदि उसे सम्बन्धी-स्वरूप न मानें, तो सम्बन्ध का सम्बन्ध, फिर उसका सम्बन्ध, इस प्रकार से अनवस्था हो जायगी। ऐसा होनेपर जैसे विषय-विषयि-भाव-रूप सम्बन्ध की बुद्धि सम्बन्धी के भेद के ज्ञान के बिना होती हैं। क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध का स्वभाव इतर सम्बन्ध के स्वभाव से भिन्न होता है, वैसे ही विषय-विषयि-भाव रूप यह सम्बन्ध सम्बन्धी के भेद के बिना ही सिद्ध होगा, और उसका ज्ञान भी सम्बन्धी के भेद के ज्ञान के बिना ही होगा, इसमें विरोध क्या है ? ॥७९॥ प्रश्न—घट और उसका ज्ञान इन दोनों का जैसा विषय-विषयि-भाव होता है, यदि उससे थोड़ा भी स्वप्रकाश ज्ञान के विषय-विषयि-भाव में भेद हो, तो एकस्थल में वह अवश्य बाध्य होगा। उत्तर—अविद्या से कल्पित और घट तद्-(घट) ज्ञान के बाधित होने से उसका सम्बन्ध विषय-विषयि-भाव भी बाधित ही है; और परमार्थ में जो सत् स्वप्रकाश उस में वह (संबन्ध) परमार्थ-सत् है, उन दोनों में अनुगत एक रूप के न होने पर भी कोई हानि नहीं है ॥ ८० ॥ अथवा स्व के साथ क्रिया-कर्म्म

१ यहाँ भविष्यत्कालिक प्रयोग कर आगे 'अवोचाम च जल्पे' इत्यादि भूतकालिक प्रयोग किया है । इससे संदेह होता है—कि ग्रन्थकार ने प्रथम 'ईश्वराभिसन्धि' का निर्माण कर 'खण्डन' का निर्माण किया है ? अथवा 'खण्डन' का निर्म्माण कर 'ईश्वराभिसन्धि' का निर्माण किया है ? अथवा दोनों का निर्माण एक काल में हुआ है ? परन्तु मेरे विचार में तो दोनों का निर्माण एक साथ ही हुआ है ।

त्र सद्व्यवहारव्यवस्था, सत्ता तु स्वयमेवसद्रूपा, नचैतावता स्वात्माश्रयता तस्याः, तथा ज्ञानमपि स्वतएव सिद्धस्वरूपम् ॥८१॥ अथवा यथा बहुव्रीहिसमासे तद्गुणसंविज्ञाने गुणमादायैव प्रधानस्यान्यपदार्थस्य बहुव्रीहिसिद्धपदप्रतिपाद्यता, तथा विज्ञानस्याऽविषयमपि स्वात्मानमादायैव स्वविषयव्यवहारप्रवर्त्तनं समर्थ्यताम् ।

सोयं गुरूणां सविषयकस्वप्रकाशतापक्षो न ब्रह्मस्वप्रकाशतापक्षः । तत्र विषयाभावात् । एतावन्मात्रेण तु स्यात्, यथा स्वाविषयेपि कुटादौ बहुव्रीहिवाक्यं व्यवहारं प्रवर्त्तयति इति, तथा ज्ञानमविषयेऽप्यात्मनि अविद्यादशायामिति ॥८२॥

तदेवं यद्व यदन्यत्र दृष्टवैधर्म्यं स्वप्रकाशे पर्य्यवसास्यति, तत्सर्वमन्यथानुपपत्तिरेव स्वप्रकाशसाधकतया प्रदर्शिता स्वीकारयिष्यति । तद्व यथा—अन्यो ज्ञाताऽन्यश्च ज्ञेय इत्यन्यत्र दृष्टमहमितिव्यवहारान्यथानुपपत्या त्याज्यम् । तथा अन्यज् ज्ञानमन्यज् ज्ञेयमिति—जानामीतिव्यवहारान्यथानुपपत्या त्याज्यम् । सर्वतोबलवती ह्यन्यथानुपपत्तिः तथादृष्टतामात्रबलमवलम्ब्य प्रवृत्तं तर्कशतमपि बाधते । तदिदमाहुः—'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि 'सुबहून्यपि'-इति ॥८३॥ तस्मात्—

भाव या विषय-विषयि-भाव स्वप्रकाश शब्द का अर्थ नहीं मानना चाहिये । किन्तु जैसे आप के मत में सत्ता के सम्बन्ध से द्रव्यादि में सत् व्यवहार होता है, और सत्ता स्वयं सद्रूप है, अतः सत्ता में आत्माश्रय दोष भी नहीं होता है, ऐसे ही ज्ञान-स्वविषय (घटादि) और स्व (ज्ञान) दोनों का साधक है ॥ ८१ ॥ अथवा जैसे तद्गुण-संविज्ञान बहुव्रीहिसमास में गुण (समास के अन्तर्गत पद का अर्थ) का ग्रहण कर के ही प्रधान (अन्य पदार्थ) कुटादि पद का वाच्य है, ऐसे ही विज्ञान भी—स्व के अविषय अपने आत्मा को ग्रहण करके ही—स्व विषय में व्यवहार की प्रवृत्ति कराता है ।

यह—गुरु (प्रभाकर) का सत्य विषय से युक्त विज्ञान-स्व-प्रकाशता पक्ष है । ब्रह्म-स्वप्रकाशतापक्ष नहीं है, क्योंकि उस पक्ष में विषय असत् होता है । केवल इतना साम्य है, कि जैसे 'लम्बकर्ण' और 'कुटादि' पद स्व के अवाच्य कर्ण-कुट आदि में व्यवहार का प्रवर्त्तक है । ऐसे ही ज्ञान, स्व के अविषय अपने आत्मा (स्वरूप) में व्यवहार का अविद्या-दशा में प्रवर्त्तक है, ॥८२॥ जैसे "अहं" इस व्यवहार की अन्यथाऽनुपपत्ति से घटादि व्यवहार में दृष्ट—"ज्ञाता अन्य होता है" और "ज्ञेय अन्य होता है"—यह नियम त्यागा जाता है, और "जानामि" इस व्यवहार की अन्यथा—अनुपपत्ति से 'ज्ञान अन्य होता है—ज्ञेय अन्य होता है' यह नियम त्यागा जाता है। ऐसे ही स्वप्रकाश के साधन में प्रदर्शित अन्यथा-अनुपपत्ति ही—जिस जिस का अभाव घटादि-व्यवहार में देखा गया है, और स्वप्रकाश में भाव देखा गया है—उन सबों (अभेद में किया-कर्म भाव विषय-विषयि-भाव आदि) का स्वीकार करावेगी। अन्यथाऽनुपपत्ति (अर्थापत्ति) सब प्रमाणों से बलवती है, अतः अर्थापत्ति—लोक में ऐसा ही देखा गया है, इस बल का केवल अवलम्बन कर प्राप्त तर्क शत को भी—बाध कर सकती है । किसी आचार्य्य ने कहा भी है,—कि "लोक में अदृष्ट भी बहुत सी वस्तुओं का स्वीकार प्रमाण के होने पर किया जाता है ।" ॥८३॥

१ 'अदृष्टशतभागोपि न कल्प्यो निष्प्रमाणकः' इति अस्योत्तरार्द्धम् ।

"अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका । पिनष्टि दृष्टवैषम्यं सैव सर्वबलाधिका" ॥६॥

वाच्याऽन्यथोपपत्ति र्वा त्याज्यो वा दृष्टताग्रहः । नह्येकत्र समावेशः, छायातपवदेतयोः ॥७॥ इति ॥८४॥

तदित्थं त्वदङ्गीकृतसद्विचारलक्षणोपपन्नैरेवंविधैर्विचारैः स्वप्रकाशता भवता सुप्रतिपदा, अस्माभिस्तु स्वसंवेदनबलादेव स्वतः सिद्धस्वरूपं विज्ञानमास्थीयत इति ॥८५॥ (इति स्वप्रकाश-विज्ञान-विचारः)

अथ शून्यवाद-स्वप्रकाशवादयोर्भेदः ।

एवं च सति सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषः यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति, तदुक्तं भगवतालङ्कावतारे "बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्य्यते । अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः"—इति विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते, तथाहि नेदं सत् भवितुमर्हति वक्ष्यमाणदूषणग्रस्तत्वात् । नाप्यसदेव, तथासति लौकिकविचारकाणां सर्वव्यवहारव्याहत्यापत्तेः, ॥८६॥ यदपि निर्वक्तुमसामर्थ्यें गुरव उपास्यन्ताम् येभ्यो निरुक्तयः शिक्ष्यन्ते—इत्यु-

---

अर्थापत्ति पदार्थ का, साधक यदि है मान; वे ही दृष्टि-विरोध का चूर्ण करेंगी मान ॥६॥

उपपत्ति हि तू अन्यथा, करो या छोड़ो दृष्टि । एक जगह कस होयगी, छाया तप की सृष्टि ॥ ७ ॥ ८४ ॥

इस रीति से आप के द्वारा अङ्गीकृत सद्विचार (कथा) के लक्षण से युक्त विचार द्वारा आपको ज्ञान की स्वप्रकाशता जाननी चाहिये । हम तो अपने अनुभव से स्वतः सिद्ध ब्रह्म रूप विज्ञान को प्राप्त हैं ॥८५॥ इति स्वप्रकाश-विज्ञान-विचार ।

अथ शून्यवाद और विज्ञान वाद का भेद ।

ऐसा होने पर बौद्ध और वेदान्तियों में यह भेद है—कि बौद्ध तो सब वस्तुओं को ही अनिर्वचनीय कहते हैं । देखिये 'अलङ्कारावतार' नामक ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के शिष्यों ने कहा है कि—"बुद्धि से विचारने पर वस्तु के स्वभाव निश्चित नहीं होते हैं । अतः सम्पूर्ण वस्तु स्वभाव से रहित और अनिर्वचनीय हैं" । और विज्ञान से भिन्न सब वस्तु सत्-असत् से विलक्षण हैं, यह ब्रह्मवादी कहते हैं । देखिये यह प्रपञ्च सत् नहीं है, क्योंकि वस्तु की सिद्धि लक्षण से होती है, और लक्षण वक्ष्यमाण दूषणों से दूषित हैं । तथा असत् भी नहीं हैं, क्योंकि लौकिक तथा परीक्षक के व्यवहार के विषय होते हैं ॥८६॥ प्रश्न—यदि निरुक्ति

१ बौद्धों के चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक । इनमें प्रथम शून्यवादी, द्वितीय क्षणिक विज्ञान-वादी, तृतीय क्षणिक विज्ञान से अनुमेय क्षणिक बाह्य पदार्थ-वादी, चतुर्थ क्षणिक-विज्ञान से अभिन्न क्षणिक बाह्य पदार्थ-वादी हैं । यहाँ शून्यवादी और वेदान्तियों का भेद दिखाया है ।

२ अलंकारावतारे इति पाठः—इति विद्यासागरः, पुस्तकस्यानुपलम्भात् क सुपाठः इति निर्णेतुमशक्यते ।

पालम्भवचनम्, तत्तदा शोभेत, यदि मेयस्वभावानुगामिनीयमनिर्वचनीयतेति न ब्रूयुः, वक्तृदोषादिति च वदेयुः। यस्तु वादी निरुक्त्यभिमानं धत्ते, स निर्वक्तुं न तु शक्नोति वक्तव्यदोषात् ॥८७॥

नच ते दोषाः स्वकमपि घ्नन्तः जातयः कथं न स्युरिति वाच्यम्, यतो निर्वचनीयत्वं बाध्यते तै र्दोषैः स्वयमप्यनिर्वचनीयैरेव। अनिर्वचनीयैरेव च तै र्व्यवहियत एवेति कुतोऽस्मान् प्रति व्याघातः स्यात्। तज्जातित्वस्य च निरुच्य योजयितुमशक्यत्वात् ॥ ८८ ॥ ननु सदसत्पक्षयोर्दोषदर्शनादनिर्वचनीयतेतिब्रुवाणस्य किं सदसत्त्वसंशयः? किम्वा सदसत्त्व-पक्षबहिर्भावाभ्युपगमः? आद्ये भवितव्यं तावत्सदसत्त्वयोरन्यतरेणेत्येकपक्षदोषस्याभासत्वं, तत्र सत्त्वपक्षदोषस्यैवाभ्युपेयमावश्यकत्वात्, यदि तावत्सत्त्वपक्षः तदा सत्त्वपक्ष-दोषः कथं संगच्छेत? अथाऽसत्त्वपक्षः तदा सर्वासत्त्वे तद्दोषः कथं सद्भाववान् भवितुं प्रभवेत्? द्वितीयस्तु व्याघातादेवासम्भवी। 'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति' ॥८९॥ तदेतदनाकलितपराभिसन्धेः प्रत्यवस्थानम्। यो हि सर्वमनिर्वचनीयसद-

(लक्षण) नहा कर सकते हैं, तो उन गुरुओं की सेवा कीजिये, जिनसे निरुक्ति की शिक्षा मिलती है। उत्तर—यह निन्दा गर्भ प्रश्न तब शोभा देता, यदि आप मेय के स्वभाव को ही अनिर्वचनीय न कह कर वक्ता के दोष से अनिर्वचनीय है—ऐसा कहते, जो वादी निरुक्ति (लक्षण) करने का अभिमान करते हैं, वे भी निरुक्ति को वक्तव्य (मेय) के दोष से नहीं कर सकते हैं ॥८७॥

प्रश्न—वे अव्याप्ति-अतिव्याप्ति आदि जैसे प्रमाण-प्रमेय आदि के लक्षणों को दूषित करते हैं, वैसे ही स्व-लक्षणों को भी दूषित करते हैं। अतः प्रमाण आदि के लक्षण का खण्डन जाति है। स्वव्याघातक (अपने स्वरूप को नष्ट करने वाले) असत् उत्तर को जाति कहते हैं। उत्तर—अव्याप्ति आदि भी—स्व-लक्षण में अव्याप्ति आदि दोष के होने से—सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय अवश्य हैं। किन्तु अनिर्वचनीय दोषों से ही लक्षणों के खण्डन द्वारा जगत् की अनिर्वचनीयता बोधित होती है। क्योंकि आप तो अनिर्वचनीय अव्याप्त्यादि दोषों से भी व्यवहार करते ही हैं। फिर मेरे कथन में व्याघात कैसे हो सकता है? किञ्च—जाति की निरुक्ति (लक्षण) भी आप नहीं कर सकते हैं, अतः जाति भी असत् है। फिर मेरे कथन में आप 'जाति' कैसे दे सकते हैं? ॥ ८८ ॥ प्रश्न—सत्-असत् दोनों पक्ष में दोष है—इस युक्ति से अनिर्वचनीय कहने वाले आप को सत्-असत्-विषयक सन्देह है? या तृतीय पक्ष का स्वीकार है? यदि सन्देह है, तो सत्त्व असत्त्व दोनों में एक अवश्य सिद्ध होगा, और एक पक्ष के दोष को आभास कहना पड़ेगा। सत्त्व पक्ष के दोषों को ही आवश्यक होने से आभास कहा जायगा। क्योंकि यदि सत्त्व पक्ष है, तब तो सत्त्व पक्ष के दोष आभास हैं ही। और यदि असत्त्व पक्ष है, तब भी सब के असत् होने से सत्त्व पक्ष के दोष भी असत् हैं। सत्-असत् से विलक्षण तृतीय पक्ष का आश्रयण तो व्याघात होने से असंगत है। सत्त्व-असत्त्व दोनों आपस में विरुद्ध हैं। अतः इनसे भिन्न तृतीय पक्ष नहीं है। क्योंकि जो सत् नहीं है, वह अवश्य असत् है, और जो असत् नहीं है, वह सत् है ॥८९॥ उत्तर—इस २ दोष से सत्-पक्ष का दोष आभास है, इस प्रकार से साफ साफ जब तक दोष न दें, तब तक सत्त्व-पक्ष का स्थापन या अनिर्वचनीयत्व का खण्डन नहीं हो सकता है। और

सत्त्वं ब्रूते, स कथमनिर्वचनीयतासत्त्वव्यवस्थितौ पर्य्यनुयुज्येत, साऽपि हि कृत्स्नप्रपञ्चपरसर्वशब्दाभिधेयमध्यनिविष्टैव। परस्यैव व्यवस्थया एवं पर्य्यवस्यति–निर्वचनप्रतिक्षेपादनिर्वचनीयत्वं, विधिनिषेधयोरेकतरनिरासस्येतरपर्य्यवसायितायास्तेनाभ्युपगमात्। ततः परकीयरीत्येदमुच्यते—अनिर्वचनीयत्वं विश्वस्य पर्य्यवस्यतीति। वस्तुतस्तु वयं सर्वप्रपञ्चसत्त्वासत्त्वव्यवस्थापनविनिवृत्ताः स्वतः सिद्धे चिदात्मनि ब्रह्मतत्त्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्थाः सुखमास्महे। ये तु स्वपरिकल्पितसाधनदूषणव्यवस्थया विचारमवतार्य्य तत्त्वं निर्णेतुमिच्छन्ति, तान् प्रतिब्रूमः—न साध्वीयं भवतां विचार-व्यवस्था, भवत्कल्पितव्यवस्थयैव व्याहतत्वात्॥६०॥ अतएवास्मदुपन्यस्यमानदूषणस्थितिविषयाः पर्य्यनुयोगा निरवकाशाः, त्वद्व्यवस्थयैव त्वद्व्यवस्थाया व्याहत्युपन्यासात्। नचोपन्यास एव निर्बन्धकारणम्, 'विचारोपन्यासस्य सदसत्त्वोपगमाद्युदासीनैर्विचार्य्यमित्युपेत्यैव परं विचारप्रवर्त्तनायाश्शक्यत्वमित्यावेदितत्वात्॥६१॥ यदि तु विचारस्य सत्त्वमनभ्युपेत्य

यदि अनिर्वचनीयत्व का खण्डन भी हो तो हानि क्या है, जो सम्पूर्ण जगत् को अनिर्वचनीय कहता है, वह अनिर्वचनीयत्व को भी अनिर्वचनीय ही कहेगा, क्योंकि जगत् के मध्य में अनिर्वचनीयत्व भी आ गया है।

प्रश्न—आप यदि अनिर्वचनीयत्व का साधन न करेंगे, तो वह सिद्ध कैसे होगा?

उत्तर—पर की व्यवस्था के अनुरोध से इस प्रकार निर्वचनीयत्व (लक्षण) के खण्डन से अनिर्वचनीयत्व सिद्ध होता है। क्योंकि विधि या निषेध इन दोनों में से एक के खण्डन से अन्य की सिद्धि अर्थात् फलित होती है, इसको पर भी मानते हैं। अतः संसार अनिर्वचनीय है, यह कथन भी दूसरों की रीति से है; यथार्थ में हम तो सारे संसार के सत्त्व, असत्त्व के साधन से निवृत्त होकर स्वतः सिद्ध चिद्रूप केवल ब्रह्मतत्त्व का निश्चय पाकर कृतकृत्य हो कर सुख से स्थित हैं। जो परीक्षक स्वकल्पित साधन और दूषण की व्यवस्था से कथा के आरम्भ की इच्छा करते हैं, उनसे हम कहते हैं, कि यह आप की व्यवस्था ठीक नहीं है, क्योंकि आप के कल्पित दूषणों से ही खण्डित है। ॥६०॥ प्रश्न—अव्याप्ति आदि दोषों के लक्षणों में दोष के होने से वे अनिर्वचनीय हैं कि नहीं? यदि अनिर्वचनीय हैं, तो उन दोषों से प्रमाण-प्रमेय के लक्षण दूषित कैसे होंगे? और यदि अनिर्वचनीय नहीं है, तो उन दोषों से ही द्वैत हुआ।

उत्तर—हम उन दोषों को भी अनिर्वचनीय ही मानते हैं, अतः द्वैत नहीं है। और आप उन दोषों को मानते हैं। अतः आप के मत के अनुसार उन दोषों से प्रमाण-प्रमेय के लक्षणों का खण्डन करते हैं। प्रश्न—दोषों और कथा के स्वीकार के बिना दोषों का कथन नहीं हो सकता है, क्योंकि कथा में स्वीकृत ही का कथन होता है, अतः दोषों का उपन्यास (कथन) ही उनके स्वीकार का हेतु होगा। उत्तर—विचार (कथा) और दोषों के सत्त्व असत्त्व के स्वीकार में उदासीन होकर ही विचार करना चाहिये इस बात को मान कर ही विचार की प्रवृत्ति हो सकती है। इस बात का निवेदन कर चुके हैं॥ ६१ ॥ यदि कहें कि विचार के सत्त्व को न मान कर विचार नहीं हो सकता है, तब प्रमाण की प्रवृत्ति के बिना विचार के सत्त्व का स्वी-

---

१ विचारस्येति सुपाठः विचारोपन्यासस्येति कुपाठः, अनन्वयात्। विचारस्येत्यस्य निर्बन्धेऽन्वयः निर्बन्धः = स्वीकारः। उपन्यास इत्यस्याग्रे दोषाणामिति शेषः। विचारं विना दोषोपन्यासानुपपत्तेरिति।

न विचारयितुं शक्यमित्युच्यते, तदा प्रमाणमव्यापार्य्य न तदीयसत्त्वाभ्युपगमोपि शक्यतेऽतिप्रसङ्गादिति विचारस्य विचार्य्यग्रहणेऽनवस्थया विचारारम्भ एवाशक्यः स्यात् ॥६२॥

नच पूर्वपूर्वसिद्धत्वाद्व विचारे विचारान्तरमिदानीमगवेषणीयम् । विचारस्य पूर्वसिद्धत्वे विचार्य्यरूपस्वविषयव्यवस्थितत्वात् तस्य, विचार्य्यमपि पूर्वमेव विचारितमित्यनारम्भ एव विचारस्य । अथ विचार्य्यविशेषस्य पूर्वमसिद्धत्वात्तदर्थं विचारारम्भः, तर्हि विचारविशेषस्यापि तद्विषयकस्य पूर्वमसिद्धिरेवेति वृथा शुष्कचर्वणम् ॥६३॥ यदि च त्वद्दर्शनरीत्याऽभिधीयमानम् अस्माभिर्बाधं बाधसे, तदा स्वाभ्युपगमरीतिबाधाऽभिधायितैव ते स्यात् । अस्माभिर्निर्वाह्यमानस्य त्वया खण्डनयुक्त्यैव बाधेऽस्माकमेव जेतृता, 'खण्डनयुक्तयो बाधिकाः, निर्वाह्यपक्षश्च बाध्य'-इत्यस्यास्मदुक्तपक्षस्य त्वयैव निर्वाहात् । तस्मात् त्वया निर्वाह्यमस्माभिश्चखण्डनीयमितीदृश्यामेव परं कथायां त्वन्निर्वाह्यनिर्वाहे तव जयो नान्यथेति ॥६४॥ तदेवं भेदप्रपञ्चोऽनिर्वचनीयः, ब्रह्मैवतु परमार्थसदद्वितीयमिति स्थितम् ॥६५॥ (इति बौद्ध-वेदान्ति-भेदविचारः)

कार भी नहीं हो सकता है, क्योंकि यदि प्रमाण के विना ही किसी वस्तु का सत्त्व मानें, तो शश-शृङ्ग का भी सत्त्व होना चाहिये। और विचार के सत्त्व में प्रमाणों का कथन भी शास्त्रार्थ में ही होगा, और उस शास्त्रार्थ का आरम्भ भी उसके सत्त्व के अभ्युपगम के विना नहीं हो सकता है, इस प्रकार विचार में प्रमाण से उसके सत्त्व का स्वीकार, और स्वीकार के अनन्तर शास्त्रार्थ के आरम्भ-होने से अनवस्था हो जायगी, कथा का आरम्भ नहीं होगा ॥६२॥

प्रश्न—पूर्व पूर्व लोक के व्यवहार से विचार का सत्त्व सिद्ध है, अतः उस की सिद्धि के लिये विचार की आवश्यकता नहीं है। खण्डन—यदि विचार लोक-व्यवहार से सिद्ध है, तो विचार को विचार्य्यरूप फल के व्याप्य (नियत) होने से विचार्य्य भी पूर्व सिद्ध ही है, अतः फल के न होने से कथा का आरम्भ नहीं हो सकता है। समर्थन—विचार्य्य जो विशेष वह पूर्व से असिद्ध है, अतः उसकी सिद्धि के लिये विचार का आरम्भ हो सकता है।

खण्डन—विचार-विशेष भी पूर्व से असिद्ध है, अतः उसकी सिद्धि के लिये भी विचार का आरम्भ हो सकता है। और यदि उसकी सिद्धि के लिये अन्य विचार का आरम्भ करें, तो अनवस्था होती है, अतः मानिये कि विचार के सत्त्व-असत्त्व में उदासीन होकर भी विचार का आरम्भ हो सकता है, अतः यह शुष्क-चर्वण (निष्फल-विवाद) व्यर्थ है ॥६३॥ यदि तुम्हारे दर्शन की रीति से हमने जो अव्याप्ति आदि दोष दिये हैं, उन दोषों का खण्डन तुम करते हो तो अपनी रीति का ही खण्डन करते हो। और यदि हम कदाचित् अव्याप्त्यादि दोषों का समर्थन करें, और तुम खण्डन में उक्त युक्तियों से उनका खण्ड करो, तब भी हमारा ही जय होगा। क्योंकि 'खण्डन में उक्त युक्ति बाधक हैं, और निर्वाह्य पक्ष बाध्य है'—इस मेरे पक्ष का साधन आपने ही किया है। आप प्रपञ्च को सत्य मानते हैं, अतः आपको प्रमाण-प्रमेय के लक्षणों का निर्वाह करना चाहिये, और हम अनिर्वचनीय-वादी हैं, अतः हमे लक्षणों का खण्डन करना चाहिये;—ऐसी वितण्डा में आप यदि लक्षणों का समर्थन कर सकें, तभी आपका जय होगा अन्यथा नहीं ॥६४॥ और आप लक्षणों का स्थापन नहीं कर सकते हैं। अतः भेद प्रपञ्च अनिर्वचनीय है, और अद्वितीय ब्रह्म ही परमार्थ में सत् है यह सिद्ध हुआ ॥६५॥ इति बौद्ध-वेदान्ति-भेद-विचारः।

अथ अद्वैत-प्रमाण-विचारः

ननु अद्वैते किं प्रमाणम्? प्रश्न एव तावत् अद्वैतमनङ्गीकुर्वतो नोपपद्यते। प्रमाणं यत्राद्वैते पृच्छ्यते तस्याऽप्रतीतौ कथमेवंभूतः प्रश्नः संगच्छते? नहि प्रमाणमात्रम्भवता पृच्छ्यते, किन्नाम विषयविशेषनियतम्। तच्च तदोपपद्यते यदि तादृशं ते प्रतीतिमारोहेत्। प्रश्नस्य वाग्व्यवहारविशेषत्वात्, व्यवहारस्य च स्वजनकज्ञानविषयनियतत्वात्। अन्यथा व्यवहाराणां विषयनियमप्रयोजकस्य ज्ञानस्यासम्भवेन व्यवहारविषयपारिप्लवापत्तेः। यदि चाद्वैतं प्रश्नविषयः प्रतीतमुच्यते, तदा तत्प्रतीतिस्ते प्रमा वा स्यात्? अप्रमा वा? आद्ये यदेव तस्याः प्रमायाः करणं तदेवाद्वैते प्रमाणं तत्रापि सम्प्रतिपन्नमिति वृथा तस्य प्रश्नः ॥९६॥ न च वाच्यम् सामान्यतोऽद्वैतप्रमाणसिद्धौ भूतायामपि विशेषतः प्रमाणप्रश्नः। यतः सामान्यसिद्धावेवाद्वैतसिद्धौ विशेषविचारः काकदन्तविचारवत् स्यात्। सामान्यसिद्धिरेव च विशेषमप्याक्षिप्यानयन्ती विशेषमपि ते कथितवती किमत्र प्रश्नेन, परिगणितेषु हि प्रमाणप्रकारेषु मध्ये यत्रैव दोषं न प्रमिणोषि तत्रैव विशेषे सामान्यस्य विश्रान्तेः।

अथ अद्वैते प्रमाण-विचारः ॥

प्रश्न—अद्वैत में क्या प्रमाण है? प्रश्न का खण्डन—जो पुरुष अद्वैत को स्वीकार नहीं करते हैं, वे पुरुष अद्वैत में क्या प्रमाण है—ऐसा प्रश्न ही नहीं कर सकते हैं; आप जिस अद्वैत में प्रमाण पूछते हैं, उसके अज्ञान में ऐसा प्रश्न कैसे होगा? क्योंकि आप केवल प्रमाण तो पूछते नहीं है, अद्वैत में प्रमाण पूछते हैं, अद्वैत में प्रमाण का प्रश्न तब हो सकता है, जब आप अद्वैत को जानते हों। क्योंकि प्रश्न वचन-व्यवहार-विशेष रूप है। और व्यवहार ज्ञान से जन्य होता है, अतः व्यवहार स्व-जनक ज्ञान के विषय से नियत (व्याप्य) है। यदि व्यवहार स्व-जनक ज्ञान के विषय का अतिक्रमण करे, तो अमुक व्यवहार का विषय अमुक व्यवहर्तव्य है, यह नियम नहीं होगा और यदि प्रश्न का विषय अद्वैत प्रतीत (ज्ञात) है, तो वह प्रतीति भ्रम है? या प्रमा,? यदि प्रमा है तो जो प्रमा का कारण है, वही अद्वैत में प्रमाण है। यह तुम भी मानोगे, अतः प्रमाण का प्रश्न व्यर्थ है ॥९६॥

प्रश्न का समर्थन—सामान्य रूप से प्रमाण अद्वैत में सिद्ध है, विशेष रूप से प्रमाण का प्रश्न है।

प्रश्न-खण्डन—प्रमाण यदि सामान्य रूप से सिद्ध है, तो विशेष रूप से प्रमाण का विचार काक के दांत की परीक्षा के तुल्य निष्फल है। क्योंकि सामान्य रूप से प्रमाण की सिद्धि ही (विशेष के विना सामान्य नहीं होता है, इस कारण से) विशेष का भी आक्षेप करेगी। प्रत्यक्ष आदि परिगणित प्रमाणों में से जिस प्रमाण में दोष की आप प्रमिति न करें उसी विशेष में विश्राम होगा। यदि च आप पूर्व परिचित प्रत्यक्षादि सब प्रमाणों में दोष को जानें, तो सामान्य इनसे अन्य विशेष प्रमाण का अध्याहार कर विश्राम करेगा।

---

१ "काकस्य कति दन्ताः सन्ति" यह विचार नहीं होता है, क्योंकि इस विचार का कुछ फल नहीं है। और विना फल किसी काम में प्रवृत्ति नहीं होती है।

यदि च परिचितचरेषु प्रमाणप्रकारेषु सर्वेष्वेव दोषं प्रमिणोषि; तदा प्रमाणान्तरमाक्षिप्यापि सामान्येन विश्रमणीयमेव। यदि च का प्रमाणव्यक्तिरसौ इति प्रश्नार्थः परिशिष्यते। तदा न सर्वा व्यक्तिर्विशेषतो निर्देष्टुं शक्यते इति तदनिर्देशेऽपि न नः किञ्चिदपचीयते ॥९७॥

यदि च द्वितीयः, तदानीमद्वैतप्रतीतिमप्रमां मन्यमानस्य तव 'अप्रमाविषये किं प्रमाणम्' इति कथं न प्रश्नो व्याहन्यते। अथ अप्रमा सा मम मते, त्वन्मते तु प्रमैवेति तत्करणं प्रमाणं पृच्छ्यते--इति ब्रूषे; नैतदप्युपपद्यते; तवाऽद्वैते ज्ञानं यदुत्पद्यते तत्करणं मया प्रमाणरूपं वक्तव्यमित्यत्र ममाऽनियमात्। यदि नाम मया सदाऽद्वैतमभ्युपेयते, तावता किं तावकीनस्य तज्ज्ञानस्य करणमवश्यं प्रमाणं स्यात्?। वस्तुतो वह्निमत्यपि पर्वते यदि कश्चिद्वाष्पं धूमं प्रतीत्य ततो वह्निमनुमिनोत्येतावता किं वाष्पविषयं धूमज्ञानं करणं प्रमाणमेष्टव्यम् इति? ॥ ९८ ॥ अस्तु वा प्रश्नोऽयं यथा तथा, श्रुतिरेवाद्वैते प्रमाणमिति ब्रूमः। श्रूयते खलु-"एकमेवाद्वितीयं" "नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि।

श्रुतिप्रामाण्यं सिद्धार्थप्रामाण्यं चेश्वराभिसन्धौ साधयिष्यते। सिद्धार्थानां श्रुतीनामन्यपरत्वमपि यदि स्यात्तथापि पदसमन्वयबलेन तासु प्रतीयमानमर्थमबाधितमादायैव

प्रश्न-समर्थन—अनुमानत्व रूप विशेष भी सामान्य ही है, अतः अद्वैत में कौन सी अनुमान व्यक्ति प्रमाण है?—यह प्रश्न का आशय है।

प्रश्न-खण्डन—सम्पूर्ण प्रमाण व्यक्तियों का विशेष रूप से कोई भी निर्देश नहीं कर सकता, अतः हम उसका निर्देश (कथन) न भी कर सकें, तो हमारी हानि क्या है? ॥९७॥

और यदि आपकी अद्वैत प्रतीति अप्रमा (मिथ्या) हो, तो प्रश्न का आशय यह हुआ कि अप्रमा के विषय अद्वैत में प्रमाण क्या है? परन्तु वह (प्रश्न) व्याहत (बाधित) है। क्योंकि जो अप्रमा का विषय है, वह प्रमा-विषय कैसे होगा?

समर्थन—हमारे मत में अद्वैत-ज्ञान अप्रमा है, आपके मत में तो अद्वैत-ज्ञान सदा प्रमा है, अतः तत्करण (प्रमाण) के प्रश्न में व्याघात का देना ठीक नहीं है।

खण्डन—तुम्हें अद्वैतविषयक जो ज्ञान हुआ है, उसका प्रमाण रूप करण हमें कहना चाहिये—इसमें मेरी नियुक्ति नहीं हो सकती है। यदि हम सदा अद्वैत मानते हैं, इससे तुम्हारे अद्वैत के ज्ञान का कारण क्या अवश्य प्रमाण होगा? (कदापि नहीं)। वस्तुतः वह्निमान् भी पर्वत है। परन्तु कोई यदि वाष्प (भाफ) या धूलि-पटल को धूम जानकर, उससे वह्नि का अनुमान करे, तो वह्नि-ज्ञान के प्रमा होनेपर भी क्या वाष्प का धूम रूप से ज्ञान उसका (वह्नि-ज्ञान का) कारण प्रमाण माना जायगा? ॥९८॥

प्रश्नका उत्तर—यदि किसी प्रकार से-"अद्वैत में क्या प्रमाण है" यह प्रश्न हो, तब छान्दोग्य की (६।२।१) "एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म" और बृहदारण्यक की (६।८।१) "नेह नानास्ति किञ्चन"—इत्यादि श्रुतिही प्रमाण हैं।

तासामन्यपरिभवनात्, धियां स्वतः प्रामाण्यस्य बाधकैकापोद्यत्वात् ॥९९॥ ननु नाद्वैत-श्रुतीनामृजावर्थे प्रामाण्यं सम्भवति, प्रत्यक्षादिबाधात्। ततश्चान्यत्रैव क्वचित्तात्पर्यं कल्प्यम् ॥१००॥ मैवम्, यदद्वैतश्रुतेर्बाधकं प्रत्यक्षादि मन्यसे तदात्मीये विषये घटपटादे-र्भेदे नियत एवोत्पद्यते, न तु प्रत्यक्षादिकं भूत-भावि-वर्त्तमान-सकलव्यक्तिभेदग्राहि

शंका—प्रथम तो 'चार्वाकादि-कथित दोषों से वेद ही अप्रमाण है। और उसमें भी स्वतः सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादक उपनिषद् तो मीमांसा में उक्त युक्तियों से अप्रमाण ही है।

समाधान—श्रुतियों के प्रामाण्य की सिद्धि, तथा स्वतः सिद्ध ब्रह्म के प्रतिपादक उप-निषदों के प्रामाण्य की सिद्धि 'ईश्वराभिसन्धि' नामक स्व-ग्रन्थ में करेंगे।

शंका—उपनिषदों का ब्रह्माद्वैत में तात्पर्य्य नहीं है, किन्तु एकही ब्रह्म (ईश्वर) है, ब्रह्म ही उपासनीय है, इत्यादि अर्थ में ही तात्पर्य है।

समाधान—यदि स्वतः सिद्ध अद्वैत के प्रतिपादक उपनिषदों का ("एक ईश्वर है" केवल ब्रह्म ही उपासनीय है) इस अर्थ में भी तात्पर्य्य मानें, तो भी श्रुति "एकं ब्रह्म" इन पदों के अन्वय से प्रतीयमान (मालूम होने वाले) अद्वैत अर्थ को ग्रहण (स्वीकार) कर ही द्वैत का बाध करेगी।

शंका—"आदित्यो यूपः" इस अर्थवाद का प्रशंसा में तात्पर्य होने से, पद-समन्वय से प्रतीयमान सामानाधिकरण्य जैसे प्रत्यक्षसे बाधित होता है। वैसे ही "एकं ब्रह्म" इसस्थल में अद्वैत का बाध क्यों न हो?

उत्तर—बुद्धि का स्वतः प्रामाण्य केवल बाधक के हो होने से अपनीत (दूर) होता है, "आदित्यो यूपः" यहाँ प्रत्यक्ष बाधक है, "एकं ब्रह्म" यहाँ कोई बाधक नहीं है ॥९९॥

प्रश्न—श्रुति का ऋजु अर्थ (वाच्यार्थ) अद्वैत में प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से द्वैत गृहीत होता है। अतः प्रत्यक्ष से अद्वैत बाधित होगा, इसलिये उपासना आदि में ही श्रुति का तात्पर्य है ॥१००॥

---

१ नास्तिक लोग पुत्रेष्टि करने पर भी पुत्र के न होने से वेद में अनृत, (मिथ्या कथन) तथा "उदिते जुहुयात्" कह कर "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति" निषेध करने से व्याघात (आपस में विरोध) दोष देते हैं। परन्तु यह उनका भ्रम है। क्योंकि 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' इस श्रुति का यह आशय है—कि पुत्रोत्पत्ति के लौकिक सब कारणों के रहते भी यदि किसी पाप से पुत्र न होता हो तो इस इष्टि से पाप की निवृत्ति द्वारा पुत्र होता है। तथा अग्निहोत्र का यह प्रकार है कि उदित होमी सदा उदय में ही होम करें, और अनुदित होमी सदा अनुदित में ही होम करें। और यदि विपरीत करें तो "श्याव…" इत्यादि निषेध के भागी हों। अतः अनृत-व्याघात आदि दोष नहीं है। यद्यपि 'ईश्वराभिसन्धि' ग्रन्थ अब मिलता नहीं है, परन्तु सम्भव है कि ऐसे ही परिहार उसमें हों।

२ मीमांसक लोग कहते हैं कि—"सोमेन यजेत" "न कलञ्जं भक्षयेत्" इत्यादि वेदवाक्य शुभ काम में प्रवृत्ति तथा अशुभ से निवृत्ति कराते हैं, अतः प्रमाण हैं। उपनिषद् सिद्धस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति नहीं बतलाते, अतः प्रमाण नहीं हैं। यदि प्रमाण भी हों तो शरीर से व्यतिरिक्त (जुदे) आत्मा के प्रतिपादक होने से कर्मकाण्ड के अङ्ग है, क्योंकि जो शरीर से पृथक् आत्मा को मानते हैं, वे ही स्वर्गादि फल वाले कर्म्म-काण्ड में प्रवृत्त हो सकते हैं। उपनिषद् स्वतंत्र-प्रमाण नहीं हैं—परन्तु यह उनका भ्रम है। उपनिषद् में भी "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि विधिवाक्य हैं। जिनसे श्रवणादि में प्रवृत्ति होती है। और 'ब्रह्मविद् परमप्नोति' इत्यादि स्वतंत्र फल हैं, अतः वे भी स्वतंत्र शास्त्र एवं प्रमाण हैं।

जायमानमावयोः सम्प्रतिपन्नमस्ति, तादृशेन ज्ञानेन चोत्पद्यमानेन सर्वज्ञतां तदा तव श्रद्ध्यां, यदि जानासि मम चेतसि किं वर्त्तते इति। यदि च प्रत्यक्षादि किञ्चिन्मात्रविषयम्, तदा तद्विषयादन्यत्रापि प्रवर्तमानाऽद्वैतश्रुतिस्तेन न बाधितुं शक्यते, स्वविषयमात्रे प्रमया विपरीतविषयज्ञानबाधनात्; अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्—मा हि भूदग्नीषोमीयपश्वालम्भनविधिना सर्वभूताहिंसाश्रुतेर्वैयर्थ्यम् ॥१०१॥ यदा चैवं तदा बाधिकायाः प्रत्यक्षधियो बाध्यायाश्चाऽद्वैतबोधने श्रुतिर्निराबाधा सती तयोरैक्यं बोधयतीति तत्प्रत्यक्षादि कथं स्वात्मानमेव बाधेत। घटेन पटेन तद्भेदेन च स्वविषयेण सह तस्या एव धियः श्रुत्या सर्वस्याद्वैतं गोचरयन्त्या कथं नाभेदे प्रामाण्यमासादयितव्यम्। तत्राबाध्यमानत्वात्। नहि तस्या धियः स्वात्मा वा स्वात्मना सह घटपटादेर्भेदोऽपि वा विषयः। घटपटौ भिन्नावित्येवमाकारा हि सा जायते न 'तु अहं घटात् पटाच्च भिन्ना, मत्तो वा तौ भिन्नौ'—इति ॥१०२॥ स्वप्रकाशतापि स्वमात्रे साक्षिणी, न तु यतो यतः प्रकाशो भिद्यते ततस्ततस्तस्य भेदेऽपि। अन्यथा तत्तदपि स्वप्रकाशकुक्षौ निक्षिपन्ती

उत्तर—जिन प्रत्यक्षादिकों को अद्वैत का बाधक मानते हैं, वे प्रत्यक्षादि (केवल अपने नियत विषय घटादि के भेद में ही) उत्पन्न होते हैं, अतः श्रुति से जात सर्वाद्वैत-बोध का बाध कैसे होगा?

प्रत्यक्ष के सर्वविषयकत्व का समर्थन—सामान्यलक्षणा से सकलभेदविषयक एक प्रत्यक्ष होता है, वह प्रत्यक्ष अद्वैत का बाधक है।

खण्डन—सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) से आपके सर्वविषयक ज्ञान में हम तब श्रद्धा करते, यदि आप सामान्य-लक्षणा के बल से बतला दें, कि हमारे चित्त में क्या है। यदि प्रत्यक्ष किञ्चित्मात्र विषयक होता है, तो प्रत्यक्ष के विषय से अन्यत्र प्रवृत्त अद्वैत-श्रुति प्रत्यक्ष से कैसे बाधित होगी?। स्व-विषय में प्रमाण स्व-विषय के अभावविषयक ज्ञान का बाधक होता है। अतएव "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" यह श्रुति "मा हिंस्याः सर्वा भूतानि" इस श्रुति का अग्नीषोमीय पशुमात्र विषय में बाध करती है। और अन्य पशु विषय में बाध नहीं करती है। यदि अन्यत्र भी बाध करे तो "मा हिंस्याः सर्वा भूतानि" इस श्रुति का वैयर्थ्य हो जायगा ॥१०१॥ यदि ऐसा है, तो बाधक जो प्रत्यक्ष बुद्धि, तथा बाध्य जो अद्वैत बुद्धि, उन दोनों के अद्वैत बोधन में बाध-रहित अद्वैत-श्रुति उन दोनों के अभेद का बोध करावेगी। अतः वह प्रत्यक्ष बुद्धि अपने आपका बाध कैसे कर सकती है? परस्पर सब जगत् के अभेद को विषय करने वाली श्रुति "घटः पटात् भिन्नः" इस प्रत्यक्ष बुद्धि के स्व-विषय घट-पट और भेद के साथ अभेद के बोधन में प्रामाण्य क्यों न प्राप्त करे? क्योंकि उस विषय में कोई बाधक नहीं है। उस बुद्धि का अपना आत्मा (स्वरूप) या अपने आत्मा के साथ घट-पट के भेद विषय नहीं हैं, क्योंकि "घटपटौ भिन्नौ" इत्याकारक ही प्रत्यक्ष बुद्धि होती है। "अहं घटात् पटाच्च भिन्ना" अथवा "मत्तो वा तौ भिन्नौ" इत्याकारक नहीं होती है ॥१०२॥

समर्थन—बुद्धि स्वप्रकाश है। अतः स्व में और स्व के भेद में व्यवहार करायेगी।

खण्डन—स्वप्रकाश होने से बुद्धि स्व में तो व्यवहार अवश्य करायेगी, परन्तु जिससे २ बुद्धि भिन्न है, उससे २ जो स्व में भेद है उस भेद में व्यवहार नहीं करायेगी, क्योंकि भेद

न कथमद्वैते एव पर्यवस्यति ॥१०३॥ नच तया धिया स्वस्य स्वविषयस्य च स्वरूपावगाहने स्वरूपलक्षणो भेदः प्रकाशित एव स्यादिति वाच्यम्। "पुरोवर्ति रजतम्"—इति भ्रान्तौ पुरोवर्त्यात्मनो रजतात्मनश्च प्रकाशे भेदग्रहापत्तेः। धर्मविशेषमन्तर्भाव्य स्वरूपस्य भेदत्वे धियोऽपि तथा स्यादिति सैव धीर्न तत्प्रकाशः, तस्मिन्सन्निकर्षाद्यपेक्षायां धियः प्राक्तदसंभवात्। आत्मवदात्मधर्म्मेपि सन्निकर्षानपेक्षा सा इति चेन्न, ग्रहणत्व-स्मृतित्व प्रमात्वादावपि तथैव स्यादिति ॥१०४॥

तदेवं सा बुद्धिः श्रुत्या घटपटात्मतया व्यवस्थाप्यमाना कथमात्मनः स्वस्मादेवभेदे प्रमाणीभवितुं प्रभवतीति बाधिकायां बुद्धौ घट-पटयोर्भेदे प्रमात्वाभावमासादयन्त्यां श्रुतिस्तत्र तत्राऽप्रतिद्वन्द्वित्वाऽसङ्कुचितस्वतःप्रामाण्यबल-लब्धतत्तदर्थैक्यान्यथानुपपत्तिसहायसम्पद-

---

का स्वभाव है कि प्रतियोगी और धर्म्मी से व्यतिरिक्त ज्ञान का गोचर (विषय) होता है। यदि ज्ञान का गोचर न होकर भी भेद को सिद्ध मानें, तो भेद भी ज्ञान स्वरूप हो जायगा, क्योंकि सम्विद्-(ज्ञान) विषय के न होनेपर भी सिद्धत्व सम्विद् का ही स्वभाव है ॥१०३॥

समर्थन—स्व-प्रकाश ज्ञान का स्व भी विषय है, अतः घट-पट आदि विषय और स्व का स्वरूपलक्षण भेद-ज्ञान का विषय है।

खण्डन—स्वरूप भेद नहीं है, क्योंकि यदि स्वरूप को भेद कहें तो "इदं रजतम्" इस स्थल में शुक्ति रजत दोनों के स्वरुप-लक्षण भेद के ग्रह–होने से अभेद भ्रम नहीं होगा। क्योंकि भेद-ग्रह अभेद-ग्रह का विरोधी है।

समर्थन—स्वरूप मात्र भेद नहीं है, किन्तु वैधर्म्य-विशिष्ट स्वरूप जो वह भेद है। शुक्ति-रजतका वैधर्म्य-युक्त स्वरूपलक्षण भेद गृहीत नहीं है, अतः "इदं रजतम्" ऐसा अभेद भ्रम होता है।

खण्डन—बुद्धि का भी स्वरूप भेद नहीं है, किन्तु वैधर्म्य से युक्त स्वरूप ही भेद है। और बुद्धि के स्वप्रकाश होनेपर भी वैधर्म्य स्व का विषय नहीं है। क्योंकि सन्निकर्ष के बिना वैधर्म्य का भान हो नहीं सकता है, और वैधर्म्य के साथ "मनस्संयुक्तात्मसमवेतज्ञान-समवाय" ही सन्निकर्ष हो सकता है। वह ज्ञान-घटित होने से स्व से पूर्व नहीं है, अतः विरोधी (भेद-ग्रह) के न होने से श्रुति घट-पट-भेद-रूप स्व-विषय के साथ प्रत्यक्ष बुद्धि के अभेद का बोधन करेगी।

समर्थन—वैधर्म्य स्व-प्रकाश (ज्ञान) का विषय है, जैसे ज्ञान स्व का सन्निकर्ष के बिना ही ग्रहण करता है, वैसे ही स्व-धर्म का भी ग्रहण करेगा।

खण्डन—यदि स्व-प्रकाश ज्ञान को स्व-धर्म्म का प्रकाशक मानें तो बुद्धित्व और स्मृतित्व का भी ज्ञान हो जायगा ॥१०४॥

यदि ज्ञान के स्वप्रकाश होने से ज्ञान-धर्म्म का ज्ञान मान लें, तो ज्ञान के होने पर प्रमात्वादि का जो सन्देह होता है, वह नहीं होगा। तस्मात् इस प्रकार श्रुति-द्वारा घटपट के अभेद रूप से व्यवस्थित प्रत्यक्ष बुद्धि, कैसे स्व के आत्मा घट के (स्व के आत्मा पट से) भेद में प्रमाण हो सकती है?। अतः बाधक प्रत्यक्षबुद्धि के घट-पट-भेद रूप विषय में अप्रमात्व होने पर, अभेद में प्रतिद्वन्द्वी के न होने से असङ्कुचित—और स्वतःप्रामाण्य के बल से लब्ध जो स्व (श्रौत बुद्धि) से घट-पट आदि अर्थों का ऐक्य, उसकी जो अन्यथा अनुपपत्ति है

ऽजय्या तयोरप्यभेदं बोधयन्ती न प्रतिहन्तुं शक्येति न क्वचिदपि प्रतिहतप्रसरा सती सर्वाद्वैतप्रमापिकेति ॥१०८॥ भेदप्रमान्यथानुपपत्त्या च वैपरीत्यमशक्यम्, तत्राद्वैतश्रुत्या सन्दिह्यमानस्य प्रमात्वस्यैवासिद्धेः। भेदधीमात्रस्य च द्विचन्द्रादिबोधवदन्यथाप्युपपत्तेः ॥१०९॥ "एकम्"—इत्युपादाय यद्व 'एव'-कारमप्युपादत्ते श्रुतिः "एकमेवेदम्"—इति रूपा, तदैकान्तिकमैक्यं बोधयतीति भेदाभेदेनाप्यशक्यसमर्थनं घटपटादिभेदग्राहि प्रत्यक्षादि-प्रामाण्यमिति ॥११०॥ बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात् कथमित्थमिति चेन्न, श्रुतितो प्रागेव जातायाः सर्वविषयाया अद्वैतधियोऽस्मद्बुद्धय एवंविधविचारसोपानपरम्परामारोहन्त्यो नाना विषयेषु तत्प्रामाण्यविषयाः क्रमेण परिनितिष्ठन्तीत्युच्यमानत्वात् ॥१११॥

ननु यदि नाम प्रत्यक्षवित्त्या तया घटपटभेदोल्लेखिन्या स्वात्मना सह घट-पटयोर्भेदो न गोचरीक्रियते, तावता कथं तस्याः स्वविषयेण सहाऽद्वैते श्रुतिः प्रामाण्यमासादयितु-

---

उसकी सहायता से अजेय—घट-पट के भी अभेद का बोधन करती हुई—बांधने के अयोग्य कहीं भी न रुकने वाली—अद्वैत श्रुति, सब पदार्थों के अद्वैत की प्रमा करावेगी ॥१०८॥

प्रश्न—'घटः पटाद् भिन्नः' इत्याकारक घट-पट के भेद की प्रमा ही अनुपपन्न होकर अद्वैत-श्रुति का सर्वत्र बाध क्यों नहीं करती है ?

उत्तर—अद्वैत-श्रुति से भेद-प्रत्यक्ष में सन्देह होता है, अतः प्रमात्व की सिद्धि ही नहीं होगी, किन्तु भेद-प्रत्यक्ष [1]द्वि-चन्द्रादि-ज्ञान के सदृश भ्रम में ही पर्यवसित होगा ॥१०९॥

प्रश्न—श्रुति से अभेद बोधित होता है, एवं प्रत्यक्ष से भेद बोधित होता है, और दोनों प्रमाण माननीय हैं। अतः भेद और अभेद दोनों रहें।

उत्तर—"एकमेवाद्वितीयम्" यह श्रुति 'एक' शब्द कह कर जो 'एवकार' का उपादान करती है, अतः श्रुति का अत्यन्त अभेद में तात्पर्य है। अतः भेदाभेद भी असङ्गत ही है ॥११०॥

प्रश्न—आपाततः प्रत्यक्ष-विरोध होने से श्रुति द्वारा जायमान बुद्धि प्रथम अपने से ही प्रत्यक्ष बुद्धि और उसके विषयों के अभेद का बोध कराती है, पश्चात् स्व (बुद्धि) से अर्थों के ऐक्य की अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्तिकी सहायता से, विषयों के भी परस्पर अभेद का बोध कराती है - यह कथन युक्ति विरुद्ध है, क्योंकि शब्द, बुद्धि तथा कर्म्म के विरम्य (क्रम से व्यापार नहीं होते हैं; किन्तु एक बार ही व्यापार होते हैं।

उत्तर—श्रुति से सर्वविषयक अद्वैत-बुद्धि झटिति (एक ही काल में) हो जाती है, परन्तु नाना विषयों में उस श्रुतिज बोध के प्रामाण्य को विषय करने वाली, एवं विध प्रश्न में उक्त क्रम से जात विचार रूप सोपान की परम्परा पर आरोहण करने वाली, हमलोगों की बुद्धि क्रम से परिनिष्ठित (सुस्थिर) होती है ॥१११॥

शंका—यद्यपि "घट-पटौ भिन्नौ" यह प्रत्यक्ष—घट-पट के भेद रूप स्वविषय के साथ—स्व के भेद को विषय नहीं करता है। तब भी उस प्रत्यक्ष के स्व-विषय के साथ अद्वैत

---

1 जैसे नेत्र कनीनिका (आँख की पुतली) के सामने तृण रख कर देखने से "द्वौ चन्द्रौ" ऐसा भ्रम रूप ज्ञान होता है। "वितस्तिपरिमितः सूर्य्यः" ऐसा भ्रम होता है। इसी तरह भेद प्रत्यक्ष भी भ्रम ही है—प्रमा नहीं है।

मीष्टे, बुद्ध्यन्तरेण तया सार्द्धं घटपटयोरपि भेदमुल्लिखता तत्राद्वैतश्रुतेर्बाधादेव ॥११२॥ मैवम् । तर्हि तस्या अपि विषयमापाततः परित्यज्य ययैवाऽपरया बुद्ध्या घटपटभेद-बुद्धेर्घटाच्च पटाच्च भेदो विषयीक्रियते, तस्याः स्वविषयेण सहाद्वैते श्रुतिः प्रामाण्य-मवलम्ब्य लब्धपदा घटपटतद्भेदबुद्धिभिः सह द्वितीयाया बुद्धेरभेदे पर्य्यवस्यन्ती सर्वेषा-मेव तेषामभेदे विश्राम्यति । एवं च सति यत्रैव गत्वा बाधबुद्धिपरम्पराविच्छेदो विषयान्तरसंचारोच्छेदभयाद्वा अनवस्थाभयाच्चाभ्युपेयस्तस्यामेव बुद्धौ पदमारोप्याद्वैत-श्रुतिः सर्वं तद्विषय-विषयिप्रवाहमद्वैते स्थापयन्ती न केनापि प्रमाणेन क्वचिदपि विषये बाधितुं शक्या । तस्मात्—

सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा ।
विनिवृत्ताऽद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते ॥८॥११३॥

न च यत्र तस्य प्रतिपत्तुर्बुद्धिधाराविश्रान्तिस्तत्र पुरुषान्तरबुद्धिर्भेदे प्रमाणं स्यात् । तथापि पुरुषान्तरेण भिन्नतया सा प्रतीयते इत्यत्र प्रमाणं त्वया वाच्यम् । नहि

में श्रुति प्रमाण कैसे होगी ? क्योंकि "घट-पट-भेद-ग्राहि प्रत्यक्षं घटपटौ न भवति"—यह अन्य बुद्धि—घटपटभेद के साथ उस प्रत्यक्ष के भी भेद को—ग्रहण करती है । अतः श्रुति का बाध होगा ॥११२॥

खण्डन—प्रथम "घट-पटौ भिन्नौ" इस बुद्धि का घट-पट-भेद रूप स्व-विषय के साथ अद्वैत बोध को त्याग कर, "घट-पट-भेद-ग्राहि-प्रत्यक्षं घटपटौ न भवति"—इस बुद्धि का ही स्व-विषय घट-पट-भेद-ग्राहिप्रत्यक्ष तथा घट-पट-भेद के साथ अभेद में श्रुति प्रामाण्य को अवलम्बन (पा) कर, पश्चात् सर्व वस्तुओं के अद्वैत में पर्यवसित होगी ।

शंका—उस द्वितीय बुद्धि का भी स्व-विषय के साथ भेद का बोध तृतीय बुद्धि करेगी; अतः वहाँ भी अद्वैत-श्रुति का अवकाश नहीं है ।

खण्डन—विषयान्तर के सञ्चार (ज्ञान) के उच्छेद (बन्दहोने) के भय से और अनवस्था (दोष) के भय से जहाँ जाकर, आप अद्वैत बुद्धि की बाध-बुद्धि-धारा की समाप्ति मानेंगे, उसी बुद्धि में श्रुति अवकाश पाकर, सम्पूर्ण उस बुद्धि के विषय ज्ञान-प्रवाह को अद्वैत में स्थापन करती हुई, किसी प्रमाण से किसी भी विषय में बाधित नहीं हो सकती ।

अतः दूर दौड़ने से श्रान्त—अतएव विनिवृत्त—बाध-परम्परा, पृष्ठ-धावी (पीछे दौड़ने वाले) शत्रु के सदृश अद्वैतश्रुति से जीती जाती है ।

दूर दौड़ने से थकी, बाध बुद्धि की धार ।
लौटी अद्वय-बोधने, घेर दबाई मार ॥८॥११३॥

भेद-समर्थन—विषयान्तर के सञ्चार (ज्ञान) का उच्छेद न हो, इसलिये उस पुरुष की बुद्धि-धारा तो समाप्त हो जाती है । परन्तु अन्य पुरुष की बुद्धि से उस चरमबुद्धि (अन्तिम भेद-बुद्धि) के भेद का भी ग्रहण होता है ।

भेद-खण्डन—अन्य पुरुष की बुद्धि से उस चरम बुद्धि के भेद का ज्ञान होता है—इसमें यदि प्रमाण न दें तो आपका इष्ट भेद सिद्ध ही नहीं हुआ; और यदि कोई बुद्धि प्रमाण दें, तो उसी बुद्धि में अवकाश पाकर, अद्वैत—श्रुति भेद-बुद्धि को बाधेगी । और यदि आप प्रमाणों (भेद-ज्ञानों) की धारा मानें तो अनवस्था हो जायगी ।

तदपि पुरुषान्तरेणैव, न च संभाव्यमानम्, श्रौतेन निश्चयेन तन्निवर्तनात्; तथाप्यनवस्थानादिति ॥११४॥ अथ ब्रूषे यदा कियद्दूरं बुद्धिपरम्परया सा बाधिता भवत्यद्वैतश्रुतिस्तदा तन्न्यायाद्या याऽपि बुद्धिः शेषं गत्वा नाऽनुव्यवसीयते तत्राऽपि तद्बाधोऽवगम्यते, यत्र सा बाध्यते तत्तुल्यन्यायत्वादन्तिमबुद्धेरपि–इति । मैवम् । किं कियतीषु बुद्धिषु व्याप्यव्यापकौ कावप्यवलम्ब्य व्याप्तिग्रहरूपयैव धिया शेषबुद्धौ बाधं व्युत्पादयसीत्थमद्वैतश्रुतेः ? किंवा बुद्ध्यन्तरदृष्टव्याप्तिसनाथया पक्षधर्महेतुमुल्लिखन्त्या बुद्ध्याऽन्तिमबुद्धिविषयया ? ॥११५॥ नाद्यः, व्याप्तिबुद्धिर्यदि विषयविशेषेऽपि स्वातन्त्र्येण बाधात्मिकोपेयते, तदा सैव विशेषबुद्धिरपि स्यादिति गतमनुमानकथया । अथानुमितिमभ्युपैषि, तदा सा नात्मानमपि धर्मीकृत्य प्रवर्तते इति तत्रैव दत्तपदा सर्वामद्वैतश्रुतिः परम्परामालम्बते इत्युक्तमावर्तते ॥११६॥ अथ "सर्वा विवादाध्यासिता बुद्धयः स्वविषयेभ्यो भिन्नाः, बुद्धित्वात्, घटपटबुद्धिवदिति"—सामान्याकारेणात्मानमपि धर्मीकृत्या-

---

समर्थन—पुरुषान्तर की बुद्धि से भेद का ज्ञान होगा, इसमें भी प्रमाण अन्य पुरुष देगा।

खण्डन—अद्वैत-श्रुति पुरुषान्तर से प्रदर्शित प्रमाण बुद्धि में ही अवकाश पाकर सर्वत्र भेद का बाध करेगी, अथवा अनवस्था का प्रसंग हो जायगा।

समर्थन—"पुरुषान्तर-बुद्धिः भेदे प्रमाणम्भविष्यति" इस सम्भावना से अद्वैत-बुद्धि का बाध होगा।

खण्डन—"यदि वह्निविरहिण्यपि धूमः स्यात् तदा न स्यात्, अकारणः सन्नित्यो वा स्यात्"—इस तर्क से "यदि वह्निविरहिण्यपि धूमः स्यात्"—इस व्यभिचार की सम्भावना (शङ्का) की जैसी निवृत्ति होती है, ऐसे ही श्रुतिजन्य बुद्धि (ज्ञान) से उक्त सम्भावना का भी बाध होगा। किञ्च—सम्भावित बुद्धि में जो प्रमाण-सम्भावना है, उसी से उसके विषय के साथ अभेद के बोध में अवकाश पाकर, अद्वैत-श्रुति सब वस्तुओं के अभेद का ग्रहण करायेगी। और यदि उसके भेद में कुछ प्रमाण कहें, तो अनवस्था हो जायगी ॥११४॥

प्रश्न—जब कुछ दूर तक प्रत्यक्ष बुद्धि की परम्परा से वह (अद्वैत श्रुति) बाधित होती है, तब उसी दृष्टान्त से जो बुद्धि ज्ञात नहीं होती है, उसमें भी बाध का ज्ञान होगा। क्योंकि अन्तिम बुद्धि भी उसके तुल्य ही है। अर्थात्—'जो जो बुद्धि है, वह स्व-विषय (अपने विषय) से भिन्न है, जैसे घट से पट भिन्न है यह बुद्धि'—इस रीति से, ज्ञान-धारा की तीन चार कक्षाओं में व्याप्ति का निश्चय होगा। पश्चात् उसी के बल से अन्तिम बुद्धि में भी स्व-विषय के साथ भेद की सिद्धि होगी, फिर अद्वैत श्रुति का अवकाश कहाँ ह ?

उत्तर—क्या जो जो बुद्धि है, वह स्व-विषय से भिन्न है, यह व्याप्तिग्रह ही अन्तिम बुद्धि के (स्व-विषय के साथ) भेद-ग्रह में प्रमाण है? अथवा व्याप्ति से युक्त—पक्षधर्मता विशिष्ट—हेतु का ज्ञान ॥११५॥

यदि व्याप्ति का ज्ञान कहा जाय तो पृथक् अनुमान को प्रमाण मानना व्यर्थ है। क्योंकि सर्वत्र व्याप्ति-ग्रह से ही विशेष (अनुमेय) का ज्ञान हो जायगा। यदि च अनुमिति कही जाय, तो उसी अनुमिति का स्व-विषय के साथ अद्वैत के बोध में श्रुति अवकाश पाकर सर्वत्र अद्वैत का बोध करावेगी ॥११६॥

प्रश्न—'सब बुद्धि अपने विषय से भिन्न हैं, बुद्धि होने से, घट-पट विषयक बुद्धि के

त्मनोपि स्वविषयाद्भेदं साधयिष्यत्यनुमा—इति मन्यसे । मैवम्, एवमपि विषयिणो विषयस्याऽभेदं बोधयन्ती श्रुतिरनुमानमप्यनवकाशयति । विषयिविषययोर्मिथो भेदेपि साध्ये अस्तु हेत्वनुयोगः ॥११७॥ परबुद्धिस्तद्विषयांश्च प्रति निराबाधा सती श्रुतिरेकस्या बुद्धेर्विषयादपरामपरस्याश्च विषयात् परामभेदबोधाय धावन्ती सर्वाद्वैते एव पर्य्यवस्यतीति। न च शक्यमनुमातुं—सर्वस्या बुद्धेर्विषया सर्वा बुद्धिर्भिन्नेति, माभूदन्यबुद्धिविषयादात्मनोपि बुद्धिर्भिन्नेति । नचात्मव्यतिरिक्तादित्युक्ते निस्तारः स्यात्, अद्वैतवादिनः सर्वभेदमिच्छतः क्वचिदपि तदसिद्ध्या विशेषणाऽप्रसिद्धेरिति ।।११८।। एतेन 'सर्वं भिन्नम्'—इति वाक्येन विना बाधं स्वतः प्रमाणेन सत्प्रतिशब्दा सेयमद्वैतश्रुतिरित्यप्यनवकाशं प्रत्यवस्थानं मन्तव्यम्, यस्मात् कस्मादपि भेदे मिथ्यातः सत्य-भेदोप-

---

तुल्य'—इस (स्व को भी धर्म्मी दल में प्रवेश कर प्रवृत्त) अनुमिति से, स्व (बुद्धि) में भी स्व-विषय के भेद की सिद्धि होगी ।

उत्तर—इस अनुमिति से भी बुद्धि में विषय का भेद सिद्ध हुआ । बुद्धि का भेद विषय में सिद्ध नहीं हुआ । ऐसा होने से बुद्धि और विषय के अभेद-बोध में बाधक के न होने से श्रुति अवकाश पाकर सर्वाऽद्वैत का बोध करायेगी।

प्रश्न—"बुद्धि विषयौ परस्परं भिन्नौ" ऐसी अनुमिति क्यों न हो ?

उत्तर—इस में यदि बुद्धित्व को हेतु कहें, तो विषय-भाग में असिद्धि है । और यदि विषयत्व को हेतु कहें, तो बुद्धि-अंश में असिद्धि (पक्ष में हेतु का अभाव) है । उभय-साधारण प्रमेयत्व हेतु व्यभिचरित है । ॥११७॥ बुद्धि-विषयान्यतरत्व आदि कोई उभयसाधारण हेतु मान भी लें; तथापि पर बुद्धि और उस बुद्धि के विषय के प्रति बाध से रहित होकर श्रुति (एक बुद्धि के विषय से अन्य बुद्धि का और अन्य बुद्धि से एक बुद्धि के विषय का) अभेद का बोध कराती हुई क्रम से सर्वाऽद्वैत का बोध करावेगी ।

प्रश्न—'सब बुद्धि, सब बुद्धियों के विषय से भिन्न हैं'—यह अनुमिति भेद में प्रमाण क्यों नहीं ?

उत्तर—अन्त्य बुद्धि का विषय उपान्त्य बुद्धि भी स्व (अपने) से भिन्न हो जायगी । क्योंकि वह बुद्धि है, और अन्त्य बुद्धि का विषयभी है ।

प्रश्न—सब बुद्धियों के आत्म-भिन्न विषयों से सब बुद्धि भिन्न हैं—ऐसे निवेश में दोष नहीं है ।

उत्तर—यह आपका अनुमान स्वार्थ है ? या परार्थ ? यदि स्वार्थ कहें, तो स्व (भेदवादी) के प्रति भेद की सिद्धि होने से सिद्ध-साधन होगा । और यदि परार्थ कहें, तो पर (अभेदवादी) के प्रति आत्म-व्यतिरिक्त के अभाव-होने से विशेषण असिद्ध होगा ॥११८॥

प्रश्न—बाधक के बिना स्वतः प्रमाण 'सब भिन्न हैं'—इस वाक्य से अद्वैत का बाध क्यों न हो ?

उत्तर—यदि यत्किञ्चित् से भिन्न बोध इस वाक्यसे अभिप्रेत हो, तो मिथ्या से सत्य में भेद के सिद्ध होने से सिद्ध साधन है । और यदि 'सर्व' से भिन्न इष्ट हो तो अपने आत्मा से भी आत्मा भिन्न सिद्ध हो जायगा । तथा यदि आत्म-भिन्न जो 'सर्व' उस से भिन्न

गमेन सिद्धसाधनात्, सर्वस्मादिति स्वतोप्यापत्तेः; स्वव्यतिरिक्तादिति चाद्वैतवादिन्यव्यवच्छेदकम् ॥११६॥ तदेवम्--

हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पक्षतयाऽऽस्थिते ।
किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः ॥६॥

अत एव च---

आद्यधीवेद्यभेदीयाऽप्यन्यथानुपपन्नता ।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम् ॥१०॥१२०॥

नच संस्कारारूढदृढान्वयव्यतिरेकान्वयव्यतिरेकान्वयप्रतिपत्त्युत्पत्तिप्रतिबन्धः शक्यशङ्कः । यतः—

कहें तो वचन परार्थ है, और पर "अद्वैतवादी" के प्रति आत्म-व्यतिरिक्त के अप्रसिद्ध होने से विशेषण की असिद्धि है ॥११६॥ किञ्च—"सर्वस्मात् सर्वं भिन्नं" इस पूर्व उक्त अनुमिति के प्रतिज्ञा वाक्य में 'सर्व' को आप पक्ष मानते हैं। अतः पक्ष से भिन्न हेतु साध्य तथा दृष्टान्त का अभाव हो जायगा; और प्रमाण-सिद्ध ही पक्ष होता है, अतः सर्व वस्तुओं को ज्ञात मानना होगा, वह सर्वज्ञता के बिना दुर्लभ है, यदि पक्ष में कुछ अंश छोड़ दें, तो उसी स्थल में अवकाश पाकर श्रुति सर्वत्र अद्वैत का स्थापन करेगी।

सर्व पक्ष यदि होत तब, हेतु निदर्शन नास;
सब को हो सर्वज्ञता, छोड़े श्रुति-अवकास ॥ ६ ॥

प्रश्न—"घटपटौ भिन्नौ" इस बुद्धि का विषय भेद—"सर्वमभिन्नम्" इत्याकारक श्रुतिज बोध के बाध के बिना—अनुपपन्न है। अतः भेद की अन्यथाऽनुपपत्ति से श्रुतिज बोध का बाध होगा।

उत्तर—अन्यथाऽनुपपत्ति भी ज्ञात ही उपपादक होती है। तथा च अन्यथाऽनुपपत्ति का ज्ञान और (अन्यथाऽनुपपत्ति ज्ञान का विषय) अन्यथाऽनुपपत्ति इन दोनों के अभेद के बाध के बिना भी घट-पट-भेद उपपन्न है। अतः उन दोनों के अभेद को नहीं बाधेगा। तब उन दोनों के अभेद में श्रुति अवकाश पाकर क्रम से सर्वाऽभेद का बोध करावेगी।

अनुपपत्ति जो भेद की, ज्ञान-भेद बिनु मित्र!
वह भी चाहत ज्ञान निज, बाधक सहि श्रुति मित्र ॥१०॥१२०॥

प्रश्न— सब मनुष्यों के भूयः (बार बार) ज्ञान से आरूढ़ (स्थिर) संस्कार का विषय अतएव दृढान्वय (दृढ़पद = बाधितुमशक्य) जो भेद, उसका जो अन्वय व्यतिरेक अर्थात् "घटात् भिन्नः पटः अथवा नीलात् अभिन्नः पटः" इत्याकारक ज्ञान, उससे जो अन्वय (अभेद) की प्रतिपत्ति, (अयोग्यता का ज्ञान) उससे श्रुतिज अद्वैत-बोध की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध क्यों नहीं?

उत्तर—"अङ्गुल्यग्रे करिशतं विहरति" "मम कर्णकुहरं प्रविश्य सिंहः क्रीडति" इत्यादि वाक्य से अत्यन्त असत् अर्थ का भी बोध अनुभव सिद्ध है। अतः योग्यता का ज्ञान न तो शाब्दबोध में कारण ही है। और न अयोग्यता ज्ञान प्रतिबन्धक ही है। किन्तु बाध के होने से पश्चात् स्वतः प्रामाण्य का निश्चय होता है। "एकमेवाऽऽद्वितीयम्"—इस श्रौतस्थल में प्रत्यक्षादि बोध का पूर्व निरास कर चुके हैं। अतः स्वतः प्रामाण्य सिद्ध हुआ। असंसर्गाग्रह

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलाम् ॥११॥
असंसर्गाग्रहस्यापि मन्ता शंसत्यबाधिते ।
अत्यन्ताऽसदसंसर्गाग्रहं संसर्गलग्नकम् ॥१२॥१२१॥
अनौचित्यापितर्केण दुर्बाधैवाऽऽद्वयश्रुतिः ।
अनारोपितमूलत्वाद्बलवत्त्वादतादृशा ॥१३॥
प्रवृत्तेनाप्यनौचित्य-मूलं येन न लूयते ।
तत्राऽनौचित्यसाम्राज्यं वैपरीत्यात्तु नात्र तत् ॥१४॥१२२॥

ननु यद्यदेवोदाह्रियते त्वया—नेत इतोऽस्य भेदो गृहीत इति ततोऽस्याद्वैताम्नायैर-भेदबोधने तद्द्वारा सर्वाऽभेदे पर्य्यवसातव्यम्—इति, ततस्ततस्तस्य भेदस्तदैव गृह्यते मया, तस्मादुदाह्रियमाणतायामनुदाह्रियमाणतायां च कस्यचिदेतत् प्रत्यवस्थानमस्थाने¹

के मानने वाले मीमांसक भी अबाध स्थल में संसर्ग के ज्ञान को ही मानते हैं। अतः प्रकृत में प्रत्यक्षादि-बाध का निरास हो चुका है। अतः संसर्ग का ग्रह सर्व-सम्मत है।

असत् अर्थ का बोध भी, शब्द से होता भ्रात!
पीछे बाध-अभाव से, होत प्रमात्व का नात ॥११॥
बाधस्थल में जो कहे, असम्बन्ध-अज्ञान;
वे अबाध स्थल विषे, करें सम्बन्धहि मान ॥१२॥१२१॥

प्रश्न—सब लोक में प्रसिद्ध भेद का बाध अनुचित है। अनौचिती रूप तर्क से श्रुति का बाध क्यों न हो?

उत्तर—तर्क आरोप स्वरूप होता है, अतः अनारोपित रूप होने से बलवती श्रुति का तर्क से बाध नहीं हो सकता है।

प्रश्न—ऐसा मानने से अनौचिती रूप तर्क का अवकाश कहाँ होगा?

उत्तर—जहाँ स्वार्थसिद्धि में प्रवृत्त भी बाध्य प्रमाण, अनौचित्य के मूल आपाद्य-आपादक-व्याप्ति का खण्डन न कर सकें, उस स्थल में अनौचित्य का साम्राज्य है। यहाँ प्रकृत में अद्वैतश्रुति से भेद के बाध-होने से, तथा व्याप्ति के खण्डन-होने से अनौचित्य का साम्राज्य नहीं है।

अनौचिती जो तर्क है, वह आरोप सरूप,
अनारोप श्रुति बोध के, सन्मुख बैठे चूप ॥१३॥
जहाँ अनौचित तर्क के, मूलमान बलवान,
वहाँ तू उसका खोल हिय, बहुरि करो सन्मान ॥१४॥१२२॥

प्रश्न—घटपट का "घटपटौ भिन्नौ" इस बुद्धि से, तथा अन्तिम बुद्धि का स्व-विषय से, भेद किसी प्रमाण से गृहीत नहीं है, अतः घट-पट से "घटपटौ भिन्नौ" इस बुद्धि के अभेद के बोधन द्वारा सर्वाऽभेद-बोध में श्रुति का पर्य्यवसान है—इस प्रकार जिस वस्तु का

१—अस्थाने = अयुक्तमित्यर्थः । अत्र इतिमैवमित्यपपाठः । अस्थाने इत्यनेन पुनरुक्तेः । यत इति शेषः ।

इति ॥१२३॥ मैवम्। अन्तिमबुद्धेरद्वैतश्रुतिजबुद्ध्यादितो भेदो न त्वया प्रमित—इति मयोच्यमाने यस्तदीयस्ततो भेदः प्रमातव्यः स न तावत् प्रत्यक्षेण, तत्कालमन्तिमबुद्धे-रनुपस्थितेः। यदि च केनचिद्धेतुना वा कयाचिदनुपपत्त्या वा तथा स्यात्, तदानी-मद्वैतवादिनं प्रति हेतोः साध्याविशिष्टतया अनुपपत्तेश्च, येन विना सा तदविशिष्ट-तया, ततः कथमाभासात् प्रमोदयः स्यात्। न च वाच्यं स्वयं मया स भेदो ज्ञायते इति नास्ति पाक्षिकोऽपि मां प्रत्यसिद्ध्यादिरिति। यतोऽस्य त्वद्वचनस्य वैयर्थ्या-पत्तिः, वचनस्य परार्थत्वात्। मौनमवलम्ब्यावतिष्ठमानश्च भवानप्रतिभातो न मुच्यते। न च स्वयं मया प्रमितो भेदः परं प्रति वचसा केवलं बोध्यते इति वाच्यम्। त्वद्वचसि परस्याप्रत्ययात्। विजिगीषुं परं प्रति विजिगीष्वन्तरवचनं हि तत्रार्थे तज्जिज्ञासोत्पा-दनद्वारेण तस्य स्वतस्तदर्थप्रमित्युत्पादनपर्य्यवसायितयोपयुक्तम्। न चाद्वैतवादिनं

कथन आप करेंगे, उससे उसका भेद उसी काल में गृहीत होगा। इस कारण से आप यदि किसी वस्तु का कथन न करें, तो स्थल के अभाव से श्रुति का अवकाश नहीं है, और यदि किसी वस्तु का कथन करें, तो उसी काल में भेद के ग्रह होने से श्रुति का बाध होगा ॥१२३॥

उत्तर—अन्तिम बुद्धि का अद्वैत-बुद्धि से जो भेद उसका ज्ञान आप को ज्ञात नहीं है, यह कहने पर उक्त भेद का ज्ञान आपको कैसे होगा? प्रत्यक्ष से तो ग्रह हो नहीं सकता है, क्योंकि उस काल में अन्तिम बुद्धि के न होने से सन्निकर्ष नहीं है।

प्रश्न—'अन्त्य बुद्धि श्रुतिज बुद्धि से भिन्न है, भिन्न सामग्री-जन्य होने से, अथवा भिन्न शब्द-जन्य होने से, अथवा जन्म-नाश आदि विरुद्ध धर्मों के होने से, जो २ भिन्न सामग्री से जन्य है वह भिन्न है, जैसे घटादि'—इस अनुमान से भेद सिद्ध होगा।

उत्तर—अद्वैतवादी के मत में भेद के न होने से, भिन्न सामग्री जन्यत्व आदि हेतु साध्य के सम (असिद्ध) हैं। अतः आभास हेतु से भेद की प्रमा का उदय नहीं हो सकता है।

प्रश्न—'अन्त्य बुद्धि और श्रुतिज बुद्धि में परस्पर भेद के बिना, आपामर प्रसिद्ध द्वैत (भेद) के ज्ञान की अनुपपत्ति है, अतः द्वैत (भेद) के ज्ञान से अन्त्य बुद्धि और श्रुतिज बुद्धि में परस्पर भेद की कल्पना क्यों न हो?

उत्तर—अद्वैत-मत में भेद के न होने से उपपादक द्वैत-ज्ञान असिद्ध है, अतः उस के द्वारा अन्त्य बुद्धि से श्रुतिज बुद्धि के भेद की कल्पना कैसे होगी। किञ्च—अद्वैत मत में उपपाद्य-उपपाद के भेद भी परमार्थ में नहीं है। और अपारमार्थिक द्वैत (भेद) शुक्ति-रजत के तुल्य उपपन्न है, अनुपपन्न ही नहीं है, फिर उससे अन्त्य बुद्धि का श्रुतिज बुद्धि के साथ भेद की कल्पना कैसे हो।

प्रश्न—यह अनुमान परार्थ नहीं है, किन्तु स्वार्थ है, और हम द्वैत-वादी हैं, अतः हमारे प्रति असिद्ध नहीं।

उत्तर—यदि आपका अनुमान स्वार्थ है, तो पञ्चावयव का प्रयोग व्यर्थ है, क्योंकि शब्द का प्रयोग परार्थ होता है।

प्रश्न—अस्तु हम पञ्चावयव रूप शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे।

उत्तर—कथा में यदि आप मौन का अवलम्बन करेंगे, तो अप्रतिभा नामक निग्रह स्थान से नहीं छूटेंगे।

प्रति तथा कर्त्तुं शक्यते, तं प्रत्यन्यतरासिद्धेरुक्तत्वात् । न च वाच्यं मम वचनात्संदेहेनापि श्रुत्या तत्र संदिग्धबाधितभावया नाभेदप्रतिपादनं ते घटते इति, यस्मादद्वैतं मन्यमानेन भेदाऽसिद्ध्या सर्वत्र साध्याऽविशेषादिदोषप्रतिसंधायिना संशयस्याप्यनवकाशीकरणमेव स्यात् ॥१२४॥ तस्मात्—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् ।
आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु ॥१५॥ ॥१२५॥

अपि च, प्रतीयते तावदिदं सामान्यतो यन्नाम किञ्चित्परश्चेतसा चिन्तयन्नस्तीति, किञ्चिद्वा विवक्षुरित्यादि; तत्र परस्य बुद्धिविषयो विवक्षाविषयो वा विशेषतो विनिगमनं विना नैव प्रतीयते । ततोऽन्तिमबुद्ध्यादिभेदो न भवता शक्यप्रमः, परेण तच्चिन्तनादेरपि संभवात् । स्वस्मात्स्वस्य भेदस्याभावात् । ततस्तत्र लब्धपदा कथमद्वैतश्रुतिर्विश्वाभेदे पर्य्यवस्यन्ती त्वया शक्यबाधा स्यात् । तस्मात्—

प्रश्न—हम भेद का स्वयं अनुमान कर पर के प्रति केवल वचन से बोध कराते हैं ।

उत्तर—तुम्हारे वचन में पर को विश्वास नहीं होगा ।

प्रश्न—जैसे वाद में एक विजिगीषु के प्रति अन्य विजिगीषु का वचन, आप्तशब्दत्व रूप से प्रमिति का कारण नहीं है, परन्तु उस अर्थ में प्रमाण की जिज्ञासा के उत्पादन द्वारा स्वतः जायमान (उस पुरुष के) ज्ञान का कारण है, वैसे ही हमारे शब्द भी आपके ज्ञान में कारण होंगे ।

उत्तर—अद्वैत मत में भेद के न होने से, भेद-घटित हेतु के असिद्ध होने से, तथा द्वैतज्ञानरूप उपपादक के न होने से, अनुमान या अर्थापत्ति में अद्वैतवादी की जिज्ञासा का उत्पादन भी आप के वचन नहीं कर सकते ।

प्रश्न—"सर्वं भिन्नम्" इस मेरे वचन से आप को भेद विषयक संदेह अवश्य होगा । अतः संदिग्ध या बाधित विषयक श्रुति से अभेदविषयक बोध आप को नहीं होना चाहिये ।

उत्तर—जो अद्वैत को मानते हैं, उनके मत में भेद की असिद्धि होने से भेद का उपस्थापक हेतु (भेद-घटित होने से) साध्य के समान है, अतः भेद की उपस्थिति के न होने से भेदविषयक सन्देह का भी अवकाश नहीं है ॥ १२४ ॥ इसलिये एक (अद्वैत) ब्रह्मरूप अस्त्र को अर्थात् अभेद रूप युक्ति को ग्रहण कर संग्राम (शास्त्रार्थ) रूप क्रीडा में अन्य भेदवादियों की गणना न करने वाले, धीर वीर अद्वैतवादी का भङ्ग (पराजय) कदापि नहीं हो सकता है ।

ब्रह्मज्ञान ब्रह्मास्त्र को, कर में कर विद्वान;
दुसरे को नहिं देखते, किससे हो अपमान ॥१५॥१२५॥

किञ्च—जहाँ पर "यह पुरुष चित्त में कुछ चिन्तन करता है, या कुछ कहना चाहता है" ऐसी सामान्य से प्रतीत होती है । वहाँ पर की चिन्ता का विषय या विवक्षा का विषय (विशेष रूप से प्रमाण के विना) ज्ञात नहीं होता है । उस सामान्य रूप से ज्ञात वस्तु से, अन्तिम बुद्धि के भेद की प्रमा (यथार्थ ज्ञान) आप को अशक्य है—अर्थात् नहीं हो सकती है । क्योंकि संभव है कि पर पुरुष अन्त्य बुद्धि का ही चिन्तन करता हो, और अन्त्य बुद्धि का स्व से भेद नहीं हो सकता । उस सामान्यतः चिन्तित से अन्तिम बुद्धि के अभेद-बोधन में आप अद्वैत-श्रुति के पद (प्राप्ति) का रोध (बाध) नहीं कर सकते । अतः उस स्थल में अवकाश पाकर श्रुति सर्वाऽऽद्वैत में पर्य्यवसित होगी ।

कथं सामान्यतो ज्ञाते नैव ज्ञाते विशेषतः ।
पदरोधस्त्वया कर्तुं शक्यः स्याद‌द्वयश्रुतेः ॥१६॥ ॥१२६॥

ननु भेदमनङ्गीकुर्वतो भवतः कथं तत्तत्पदपदार्थवैचित्री-व्यवहारो न व्याहन्यते ? कथं व्याहन्यते, प्रतिवक्ष्यते हि तत् । किंच योयं त्वया व्याघात आपादनीयः सोपि कस्माच्चिदापादकात्, नचाऽऽपाद्यापादकमभिद्यमानमापत्त्यै प्रभवेदिति । तस्मात्—

नानात्वमवलम्ब्यापि वदत्यद्वैतवादिनि ।
असिद्धभेदाद्‌व्याघातः पतेदापादकात् कुतः ॥१७॥ ॥१२७॥

(अथ भेदखण्डनानुवादः)

इदमपि च विचारमर्हति—यदद्वैतश्रुतीनां बाधकमुपन्यस्यते प्रत्यक्षादि घटपट-प्रभृतिभेदग्राहि, तदपि कीदृश्यर्थे पर्य्यवस्यति ? तथाहि प्रत्यक्षेण योऽसौ भेदो गृह्यते, स किं स्वरूपभेदः ? किम् अन्योन्याभावः ? किं वैधर्म्यम् ? किमन्यदेव वा ? ॥१२८॥ यदि तावत् स्वरूपभेदः, [1]स नाम घटपटयोर्हि स्वरूपं यत् परस्परस्माद्भेदः, तत्परस्परमनन्तर्भाव्य न सम्भवति । भेदो हि भवन् कस्मादपि भवति । अन्यथा स्वरूपं भेद इति पारिभाषिकं नाम स्यात्, यदा च घटाद्भेदः पटस्येत्येतावानेवार्थः पटादेः स्वरूपं प्रत्यक्षेण

जो सामान्य से ज्ञात अह, नहि विशेष से ज्ञात;
उनमें अद्वय-श्रुतिन का, रोध होत कस तात ॥१६॥१२६॥

प्रश्न—पदार्थ की वैचित्री (भेद) का व्यवहार भी भेद के अङ्गीकार के बिना नहीं हो सकता है, अतः आप पद-पदार्थ के भेद को अवश्य मानेंगे, तब तो अभेदवादी आप को भेद-अभेद दोनों विरुद्ध धर्मों का स्वीकार रूप व्याघात हुआ ।

उत्तर—पद-पदार्थ की वैचित्री का व्यवहार अपारमार्थिक भेद से भी उपपन्न है । अतः पारमार्थिक अभेद के साथ व्याघात नहीं होगा । किञ्च—व्याघात का भी खण्डन आगे करेंगे, तथा व्याघात आपाद्य है, अतः भेद रूप आपाद कैसे होगा ? अभेदवादी के मत में आपाद्य-आपादक में अभेद है । अभेद में आत्माश्रय दोष के होने से उपपाद्य-उपपादक-भाव होता नहीं है । और भेद है नहीं फिर व्याघात कैसे होगा ? ।

परमारथ अद्वैत में, कैसे होवे तात । आपादक-आपाद्य में, भेद बिना व्याघात ॥१७॥१२७॥

(अथ भेद-खण्डनानुवाद)

यहां पर यह भी विचारना चाहिए, कि जिस घट पट आदि के भेदग्राही प्रत्यक्ष आदिको अद्वैत श्रुति का बाधक कहते हैं, वे प्रत्यक्षादि कैसे भेदको विषय करते हैं । क्या स्वरूप भेद को ? या अन्योन्याभाव को? या वैधर्म्य को ? या इनसे अन्य ही (पृथक्त्व) को ? विषय करते हैं ॥१२८॥

प्रथम विकल्प-खण्डन—इनमें स्वरूप भेदको प्रत्यक्षादि विषय नहीं करते हैं । क्योंकि घट और पट का स्वरूप जो परस्परसे भेद हैं, वह भेद परस्पर के अन्तर्भाव के बिना हो नहीं सकता

---

१ "स नाम" यह पाठ अधिक ज्ञात होता है । और विद्यासागरी में "स न" ऐसा पाठ है ।

गृह्यते, तदा घटोपि पटात्मन्येव प्रविष्ट इति पटघटयोरैक्यात्म्यमेवभेदग्राहिणा प्रत्यक्षेणाऽवगाहितमिति विपरीतमापद्यते ॥१२९॥ ननु यथेयं प्रतीतिरभेदोल्लेखितया व्याख्यायते, तथा भेदोल्लेखित्वेऽपि दीयतामस्यां दृष्टिः, अभेदे हि 'घट' इत्येव 'पट' इत्येव वा बुद्धिः स्यात्, नतु 'घटाद्भिन्नः पट' इति चेत् ॥१३०॥ स्यादप्येष पर्य्यनुयोगो यद्यविद्याविद्यमानभावं भेदं पारमार्थिकमभेदमिच्छन्तोऽपि प्रत्यादिशामः । तस्मात्—

अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखनक्षमा ।
तथा चाद्ये प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसात् ॥१८॥१३१॥

अथ भेदः इत्येतावन्मात्रं पटस्य स्वरूपं, घटादिति च तद्व घटेन प्रतियोगिनाऽन्येनैव निरूप्यते, तदपि नोपपद्यते । निष्प्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणाऽगोचरत्वात् । नित्यं प्रतियोगिघटिते एव तस्मिन् प्रमाणप्रसरात् । का चेयं वाचोयुक्तिर्यदन्याऽसाकाङ्क्षं पटस्य स्वरूपमन्येन[1] प्रतियोगिना निरूप्यमाणं ततो भेदो भवतीति । न हि यत् स्वरूपेणैव नीलं

है, किसी से किसी में भेद होता है। यदि प्रतियोगी से अनिरूपित (केवल स्वरूप) ही को भेद कहें तो भेद की केवल परिभाषा (संकेत) हुई, शब्दार्थ नहीं हुआ। और यदि घट-प्रतियोगिक-भेद पटका स्वरूप है, और वह प्रत्यक्ष का विषय है, तो घट भी पट के स्वरूप ही में प्रविष्ट हुआ, इस रीति से घट और पट के ऐक्य ही को भेद-ग्राही प्रत्यक्ष विषय करेगा, इसलिए विपरीत ही हुआ ॥१२९॥

समर्थन—आपने इस प्रतीति का जैसे अभेद-विषयकत्व-रूप से कथन किया है, वैसे ही इस प्रतीति के भेद के उल्लेख में भी दृष्टि दीजिये, अभेद के उल्लेख में "घटः" "पटः" ऐसा ही आकार होता। "घटात् भिन्नः पटः" ऐसा आकार न होता ॥१३०॥

खण्डन—हम परमार्थ में ही भेद को नहीं मानते, व्यवहार में तो भेद को भी मानते ही हैं, अतः व्यावहारिक भेद से इस प्रतीतिका निर्वाह हो जायगा।

प्रश्न—भेद परमार्थ में नहीं है, किन्तु अभेद ही परमार्थ में है, इसमें क्या प्रमाण ?

उत्तर– अभेद (स्वरूप) के उल्लेख (अवगाहन) के बिना किये घट-पट के भेद का उल्लेख नहीं होता है, और भेद के उल्लेख के बिना भी अभेद (स्वरूप) का उल्लेख होता है। अतः उपजीव्य होने से अभेद में उक्त प्रतीति प्रमा है, और भेद में उक्त प्रतीति प्रमा नहीं है।

बिनु अभेद के भान के, होत न भेद क भान।
अत अभेद के भान में, होत प्रतीति प्रमान ॥१८॥
निज उपजीव्य अभेद की, मति बाधन से भीत,
भेद-प्रतीति प्रमान कस, होय सकेगो मीत ! १८ ॥ (क) ॥१३१॥

समर्थन—केवल भेद ही पट का स्वरूप है। और वह भेद स्वरूप में अप्रविष्ट घट से निरूपित होता है।

खण्डन—प्रतियोगी से रहित भेद की प्रतीति कहीं भी नहीं होती है, किन्तु नियमतः प्रतियोगी से विशिष्ट ही भेद की प्रतीति होती है, अतः घट भी भेद के स्वरूप में ही अन्तर्भूत

---

१ अन्येन इससे पीछे तत् का शेष है।

तत्पीतेन निरूप्यमाणं नीलं भवति ॥१३२॥ यदपि चोक्तं प्रतियोगिना घटेन निरूप्यमाणं पटस्य स्वरूपं भेद इति, तत्रापि पटं प्रति प्रतियोगित्वं घटस्य किं स्वरूपम्? किं वा धर्मः कश्चित्? यदि प्रथमः, तदा पटं प्रति प्रतियोगित्वमित्येतावानेवार्थो घटस्य स्वरूपं भवत् आत्मन्येव पटमपि प्रक्षिपतीति कथं नाद्वैतमेव पर्य्यवस्यति। तत्रापि यदि प्रतियोगित्वमात्रं घटस्यात्मा 'पटं प्रति' इति च पटापेक्षित्वमन्यदेव, तदप्यनुपपन्नम्। अकिञ्चिदपेक्षस्य प्रतियोगित्वस्य प्रमाणाऽविषयत्वात्। पटं प्रतीत्यत्रापि च स्वरूपतदन्यविकल्पे दोष एव ॥१३३॥ नापि द्वितीयः। योऽसौ धर्मः पटं प्रति प्रतियोगित्वं, तस्यात्मनि पटोपि प्रविशतीति तेन सह पटस्याद्वैतं स्यात्। यदा च पटो घटस्य धर्मतामापन्नस्तदा घटोपि पटस्य धर्मतामनेनैव न्यायेन गच्छेत्। न हि पटप्रतियोगित्वस्य घटेन प्रतियोगिना निरूप्यमाणत्वे घटस्याऽन्यागतिरस्तीति परस्परमाश्रितत्वमाश्रयत्वं च स्यात्। न च कस्यचित् प्रमाणस्य विषयो घटारूढः पटस्तत्पटारूढश्च स एव

है। और यह कौनसी युक्ति है कि जो स्वभावतः अन्य से निराकाङ्क्ष पट का स्वरूप है, वह अन्य (प्रतियोगी) से निरूपित होकर घट का भेद हो जाय। स्वभाव से जो नील है वह पीत से निरूपित हो कर उस का भेद है—यह नहीं है ॥१३२॥ और जो आप कहते हैं कि प्रतियोगी (घट) से निरूपित पट का स्वरूप भेद है, वहाँ पर पट के स्वरूप रूपी भेद का जो प्रतियोगित्व है वह घट का स्वरूप है? या धर्म्म? यदि घट का स्वरूप है तो पट–निष्ठ–भेदीय– प्रतियोगित्व घट का स्वरूप हुआ, अतः पट भी घट का स्वरूप हुआ। अतः अद्वैत में ही भेद की प्रतीति का पर्यवसान क्यों न माना जाय?

समर्थन—केवल प्रतियोगित्व घट का स्वरूप है। वह प्रतियोगित्व, स्वरूप में अप्रविष्ट जो पट का स्वरूप रूपी भेद है उससे निरूपित होता है।

खण्डन—यह ठीक नहीं है, क्योंकि केवल प्रतियोगित्व की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु नियम से भेद निरुपित ही प्रतियोगित्व की प्रतीति होती है। अतः भेद-विशिष्ट प्रतियोगित्व के घट-स्वरूप होने से पट भी घट का स्वरूप हुआ। प्रतियोगित्व के घटरूप होने से प्रतियोगित्व में वर्त्तमान पटनिरूपितत्व भी घट में ही है, वह पटनिरूपित्व भी घट का स्वरूप है? या धर्म्म? ऐसा विकल्प करने पर उक्त और वक्ष्यमाण रीति से दोष ही है ॥१३३॥

पट के स्वरूप-रूप भेद से निरूपित प्रतियोगित्व घट का धर्म्म है—यह द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि पट का स्वरूप जो भेद, उसके प्रतियोगित्व के स्वरूप में पट के प्रवेश होने से प्रतियोगित्व के साथ पट का अभेद हो जायगा। तब जैसे प्रतियोगित्व घट का धर्म्म है, वैसे ही पट भी घट का धर्म्म हो जायगा, क्योंकि दोनों का अभेद है। जब पट उक्त रीति से घट का धर्म्म हुआ, तब घट भी पट का धर्म्म उसी रीति से हुआ। क्योंकि 'पटात् घटो भिन्नः' इत्याकारक-प्रतीति-सिद्ध प्रतियोगित्व का घट से निरूपण करने पर घट की अन्य गति नहीं है। अतः घट, पट का आश्रय और धर्म्म हुआ; तथा पट भी घट का धर्म्म और आश्रय हुआ; और घट पर आरूढ़ पट, और उसी पट पर आरूढ़ वही घट, किसी

---

२ नीलं के स्थान में ततो भेदः ऐसा पाठ ठीक ज्ञात होता है।

घट इति। किञ्च धर्मस्य तस्य धर्मिणा सममसंबन्धेऽतिप्रसङ्गः, सम्बन्धानन्त्येऽनवस्था, प्रथमतोऽन्ततो गत्वा वा स्वभावसम्बन्धाभ्युपगमे सम्बन्ध्यन्तरस्यापि तत्स्वभावप्रवेशाद्भेदे एव पर्य्यवसानं स्यादिति, एवमन्यस्मिन्नपि धर्मविकल्पे इति। तस्मात् स्वरूपभेदे प्रमाणं भवत् प्रत्यक्षमद्वैते एव प्रमाणं भवति ॥ १३४ ॥ ननु घटादिकमेव यदाऽन्यानपेक्षं वीक्ष्यते, तदा घटादिकमित्येव प्रतीयते, यदा पुनः पटादिना निरूप्यते, तदा ततो भेद इति प्रतीयते। मैवम्। घटादिकमित्येवं भूतप्रतीतेस्तावद्भेदप्रतीतिर्विलक्षणा, सा च न घटादिमात्रेण स्वविषयेणाऽन्यथाकारा भवितुमर्हति। न च प टादिकमधिकं तदा प्रकाशते इति विशेषः स्यात्, घटपटविषयप्रतीतितोऽपि वैलक्षण्यात्। न हि घटः पटश्चेति घटात् पटो भिन्न इति प्रतीत्योरेकार्थकत्वं कश्चित् प्रत्येति, तत् कस्य हेतोः? पञ्चम्या प्रथमया च वैकल्पिकं निर्देशमसहमानयैव प्रतीतिकलहनिरासात्। न हि घटः पटश्चेति प्रत्येतव्ये कश्चित् घटात् पटो भिन्न इति प्रत्येति। तस्माद्घ घटस्य न स्वरूपनिरूपणे.पट-प्रतीतित्यपेक्षा ॥१३५॥ न च यत्प्रतीतिर्यत्प्रतीतेः कारणं स्यात्, तत्र तस्याः कारणभूतायाः प्रतीतेर्योऽर्थः तस्मात् 'अयम्'इति कृत्वा कार्यभूतायाः प्रतीतेरर्थः प्रतीयते। माभून्निर्विकल्पकार्थादेवं सविकल्पकार्थस्य प्रतीतिः, मा च सादृश्यादेरेवं

प्रमाण का विषय नहीं होता है। और उस धर्म्म का धर्म्मी के साथ असम्बन्ध मानें तो सब धर्मों को सर्वत्र रहना चाहिये; क्योंकि सम्बन्ध आदि कोई नियामक नहीं है। यदि सम्बन्ध मानें तो सम्बन्ध का सम्बन्ध, पुनः उस सम्बन्ध का अन्य सम्बन्ध, इस रीति से अनवस्था दोष हो जायगा। आरंभ में या अन्त में यदि स्वरूप सम्बन्ध मानें तो एक सम्बन्धी के स्वरूप सम्बन्ध में अन्य सम्बन्धी के प्रवेश होने से दोनों का ऐक्य हो जायगा। इसी रीति से घटत्वादि का भी घट से अभेद हो जायगा, अतः आप स्वरूप रूपी भेद में जो प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं, वह प्रत्यक्ष अद्वैत ही में प्रमाण हुआ ॥१३४॥

समर्थन—जब केवल घट (अन्य से अनिरूपित) प्रतीति का विषय होता है; तब "घटः" इत्याकारक प्रतीति होती है। तथा जब पटादिरूप प्रतियोगी से निरूपित घट विषय होता है, तब "पटात् भिन्नो घटः" यह प्रतीति होती है ॥

खण्डन—"घटः" इस प्रतीति से "पटाद्भिन्नः घटः" यह प्रतीति विलक्षण है, और यह प्रतीति केवल घट विषयक होने से विलक्षण नहीं हो सकती है।

समर्थन—"पटात् भिन्नः घटः" इस प्रतीति में पट भी भासता है—यह विशेष है?

खण्डन—घट-पट को विषय करने वाली प्रतीति से भी "पटात् भिन्नः घटः" इस प्रतीति की विलक्षणता है। कोई भी विद्वान् "घटः पटश्च" "घटात् पटो भिन्नः" इन दो प्रतीतियों का विषय एक नहीं मानता है। क्योंकि प्रथमा और पञ्चमी का अर्थ अधिक भासता है। 'घटः पटश्च' ऐसे ज्ञान के लिये "घटात् पटो भिन्नः" ऐसे वाक्य का प्रयोग कोई भी नहीं करता है। अतः घट के स्वरूप के निरूपण में पट की प्रतीति की अपेक्षा नहीं है ॥१३५॥

समर्थन—घट के स्वरूप के भान में कदाचित् प्रतियोगी पट की प्रतीति की अपेक्षा है। अतः ज्ञान-निष्ठ हेतुत्व का विषय में आरोप कर "पटात् भिन्नः घटः" यह प्रयोग होता है। जैसे धूम-ज्ञान-निष्ठ हेतुत्व का धूम में आरोप कर "वह्निमान्, धूमात्" यह प्रयोग होता है।

स्मर्यमाणादेः स्यात्। तस्मात् पटो घटाद्भिन्न इत्याद्याकारेण घटादेर्भेद एव भेदावधिभूतपटादिसंघटितः स्फुटं सर्वलोकसाक्षिकः प्रतीयमानो नैकप्रतीतेरन्यप्रतीत्यपेक्षामात्रेण समर्थयितुं शक्योऽतिप्रसङ्गादिति ॥१३६॥ अत एवान्योन्याभावं भेदमवगाहमानं प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधकमित्यपि निरस्तम्। अन्योन्याभावोपि यस्माद्भेद एष्टव्यस्तमात्मन्येवान्तर्भावयेदुक्तयुक्तिभिः। किञ्च घटपटयोस्तद्वदन्ययोश्च तादात्म्यमन्योन्याभावस्य प्रतियोगि मन्तव्यं, तद्यदि सर्वथा नेष्यते, तदा तद्विशिष्टस्तदुपलक्षितो वाऽन्योन्याभावोऽपि न प्रमाणेन प्रत्येतुं शक्यः, न हि शशविषाणविशिष्टस्तदुपलक्षितो वा कश्चित् प्रामाणिको भवितुमर्हति। तत् कस्य हेतोः? तस्मिँस्तद्विशिष्टरूपेऽर्थे तादृशि चोपलक्षणव्यवच्छिद्यमानात्मनि प्रमाणं निविशमानं विशेषणमपि तदीयं तदुपलक्षणमपि वा नानुल्लिखद्भवितुं प्रभवति, तस्मिँश्चात्यन्तमसत्येवावलम्बने न तत्प्रामाण्यं शक्यसमर्थनम् ॥ १३७॥ न च वाच्यं पटप्रतियोगिको घटमाश्रितोऽसावभावोऽभ्युपगम्यमानो नात्यन्तासत्प्रतियोगिकतादोषमावहतीति। तथा सति संसर्गाभावादन्योन्याभावस्य को विशेषः स्यात्? नहि यथा घटाभावः पटसंसर्गीति घटसंसर्गाभावं पटे समर्थयसे, तथा घटाभावः पटात्मक इति तत्तादात्म्याभावं पटस्य स्वीकरिष्यसि।

खण्डन—निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान का; तथा सादृश्य-ज्ञान स्मरण का हेतु है। अतः आरोप से "गोत्वात् गौः" "सादृश्यात् स्मरणम्" यह प्रयोग हो जायगा। अतः "पटः घटात् भिन्नः" इस आकार से पट-निष्ठ, सर्व लोक-साक्षिक, स्फुट प्रतीयमान, घट के भेद का समर्थन अन्य प्रतीति के एक प्रतीति का कारण होने से नहीं हो सकता है ॥१३६॥

समर्थन—भेद-प्रतीति अन्योन्याभाव को विषय करती है।

खण्डन—अन्योन्याभाव भी जिसका होगा, उसको अपने स्वरूप में ही उक्त रीति से अन्तर्भूत करेगा। किञ्च—घट-पट के तादात्म्य को अन्योन्याभाव का प्रतियोगी मानेंगे, यह घट-पट का तादात्म्य सर्वथा असत् है, अतः उससे उपलक्षित या विशिष्ट अन्योन्याभाव भी असत् होने से प्रमाण का विषय नहीं हो सकता है, शशविषाण से विशिष्ट वा उपलक्षित कोई वस्तु प्रमाण का विषय नहीं होता है। क्योंकि शश-विषाण-विशिष्ट वस्तु में या शश-विषाण-रूप उपलक्षण से व्यवच्छिद्यमान वस्तु में प्रवृत्त प्रमाण, विशेषण या उपलक्षण को विना विषय किये हो ही नहीं सकता। और उस असत् विशेषण या उपलक्षण रूप विषय में ज्ञान के प्रामाण्य का समर्थन अशक्य है ॥१३७॥

समर्थन—अन्योन्याभाव का घट-पट-तादात्म्य प्रतियोगी नहीं है, किन्तु घट-निष्ठ अन्योन्याभाव का पट प्रतियोगी है, तथा पट-निष्ठ अन्योन्याभाव का घट प्रतियोगी है, इसलिये असत्-प्रतियोगिकत्व दोष नहीं है।

खण्डन—ऐसा मानने पर संसर्गाभाव से अन्योन्याभाव का विशेष क्या होगा? अर्थात् अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव में स्वभावकृत तो कोई विशेष है नहीं; प्रतियोगी तथा अनुयोगी से कृत ही विशेष है, सो आपके मत में रहा नहीं। जैसे घट-प्रतियोगिक पट-संसर्गी घट-संसर्गाभाव है, वैसे ही घट-प्रतियोगिक पटात्मक घटान्योन्याभाव है—यह भेद दोनों अभावों में नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पटात्मक अन्योन्याभाव को मानने में

तस्मात्तादात्म्यं संसर्ग च प्रतियोगिकोटावन्तर्भाव्याऽन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्वैलक्षण्यमभ्युपेयम्, तथा सति चात्यन्तासत्प्रतियोगिता दुर्वारा ॥१३८॥ न च वाच्यं घटे पटत्वं नास्ति पटे च घटत्वं नास्तीत्येतावन्मात्रपर्यवसितैवान्योन्याभावस्य व्यवस्था मन्तव्येति, यतस्तथा सति घटत्वे पटत्वे च न कश्चित्तादृशो धर्मोऽभ्युपगम्यते योऽन्योन्यस्मिन्निषेद्धुं योग्य इति तयोस्तदात्म्यापत्तौ सत्यां घटे पटत्वं पटे घटत्वं च निषेधत् प्रमाणं घटत्वपटत्वशून्यत्वं द्वयपयावेदयतीति वैधर्म्यस्य स्वरूपभेदस्य चासंभवेन किं 'प्रतियोगिनं किं चालम्बनं विधाय पटघटान्योन्याभावः प्रमाणपथमवतरेदिति ॥१३९॥

अतएव न वैधर्म्यमपि भेदमावेदयत् प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधकमुपपद्यते। वैधर्म्येऽपिहि घटत्वपटत्वादौ वैधर्म्यमन्यदस्तीत्यभ्युपगमे वैधर्म्ये वैधर्म्यविश्रान्त्यनवस्थयोरेकम् अननुभवश्च कथं प्रत्युत्तरणीयः। वैधर्म्ये च वैधर्म्याऽस्वीकारे वैधर्म्ययोरैक्यापत्त्या कथमाऽऽत्माश्रयभेदत्वेन तयोः पर्यवसानं स्यात् ॥१४०॥ किं च ये ते वैधर्म्ये भेदौ ते किं

आपको अपसिद्धान्त हो जायगा, आप अभाव को भाव-रूप नहीं मानते हैं, अतः तादात्म्य और संसर्ग को प्रतियोगि दल में अन्तर्भाव कर ही अन्योन्याभाव तथा संसर्गाभाव में परस्पर विशेष को स्वीकार कर सकते हैं, ऐसा होने पर अन्योन्याभाव का असत्-प्रतियोगित्व दुर्वार ही है ॥१३८॥

समर्थन—घट में पटत्व का अभाव, तथा पट में घटत्व का अभाव ही घट-पट का अन्योन्याभाव है।

खण्डन—ऐसा होने पर घटत्व तथा पटत्व में ऐसा कोई धर्म्म नहीं है, जिसका अभाव पटत्व-घटत्व में माना जाय; अतः उन दोनों में तादात्म्य होने पर घट में पटत्व तथा पट में घटत्व के अभाव को विषय करने वाला प्रमाण घटत्व तथा पटत्व से शून्य दोनों को सिद्ध करेगा। इस लिये घट तथा पट में वैधर्म्य तथा स्वरूप भेद के न होने से किसको प्रतियोगी या आलम्बन मान कर अन्योन्याभाव प्रमाण का विषय होगा ॥१३९॥

समर्थन—घट-निष्ठ जो अभाव है, उसका प्रतियोगी पटत्व रूप धर्म पट का जो वैधर्म्य है, तथा पट-निष्ठ जो अभाव उसका-प्रतियोगी घटत्व रूप धर्म्म घट का जो वैधर्म्य है, वही भेद है, उसी को आलम्बन कर भेद-प्रत्यक्ष, श्रुति का बाधक है?

खण्डन—वैधर्म्य में वैधर्म्य रहता है, या नहीं? यदि नहीं रहता है तो वैधर्म्य की विश्रान्ति ही दोष हुआ। और जिस वैधर्म्य में वैधर्म्यान्तर नहीं मानेंगे उन दोनों का ऐक्य हो जायगा। यदि वैधर्म्यों की अनादि अनन्तधारा मानेंगे तो अनवस्था दोष होगा। यदि बीजाङ्कुर के तुल्य अनवस्था को इष्ट मानें तो वैधर्म्य में वैधर्म्य, उसमें अन्य वैधर्म्य,-इस रीति से अविश्रान्त वैधर्म्य की धारा के अनुभवाऽविषय होने से अननुभव दोष हो जायगा। यदि कहें कि वैधर्म्य में वैधर्म्य नहीं रहता है तो उन दोनों के ऐक्य होने से वे दोनो अपने अधिकरण का भेद कैसे कहलावेंगे ॥१४०॥ और जो वैधर्म्य भेद है, वह क्या घटादि से भिन्न धर्मी पटादि में रहता है? या अभिन्न धर्मी में रहता है? परस्पर-विरुद्ध इन दोनों से पृथग्भूत

---

१ "कं प्रतियोगिनं" किं प्रतियोगि चेति साधुः पाठः।

घटादितो भिन्ने धर्मिणि निविशेते ? किमभिन्ने ? परस्परविरुद्धयोरनयोः पृथग्भूतस्य प्रकारस्यासंभवात् ॥१४१॥ आद्ये येन भेदेन भिन्नत्वं वैधर्म्याश्रययोर्मन्तव्यं तत्रापि पर्यनुयोग इत्यनवस्थायां पर्यवसानं स्यात् । सन्त्वनन्ता एव भेदा इति चेन्न, क्रमेण तेषामाश्रयसम्बन्धे, सावधिसत्त्वे वस्तुनि तदन्वयाऽसंगतिरेव । अथ जायमानं वस्तु युगपदेव ते भेदाः परिरभन्ते, तदा किंभेदविशेषिते किंभेदव्यवस्थितिरिति किं विनिगमकम् ? विशेषाभावादन्योन्यकलहं तेषां कः समाधातुमीष्टे ? चरमचरमस्वीकार्येण च भेदेन प्रथमप्रथमस्वीकृतभेदोपयोगसिद्धेः । अग्रे धावन् पश्चाल्लुप्यमानो विस्मरणशीलश्रुतवत् स भेदप्रवाहः किमालम्बेत । एवमेवंविधे विषयेऽन्यत्रापि ॥१४२॥

प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत् ।
अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्या त्रिदोषता ॥१६॥१४३॥

यदि च क्वचिद्ध गत्वा स्वरूपमेवान्योन्यं व्यावर्तमानं भेद इष्यते, तदा ययोः स्वरूपं यथैष्टव्यं तयोः निःस्वरूपतापत्तिः । अथ न स्वरूपमात्रं मिथो व्यावर्तते किं नाम स्वरूप-

---

(भेदाऽभेद, या भेदाभेद से रहित) अन्य प्रकार असम्भव है । क्योंकि परस्पर विरोध में प्रकारान्तर नहीं होता है ॥१४१॥ यदि भिन्न में भेद मानें तो जिस भेद से भिन्न मानें वह भेद भी भिन्न धर्मी में मानेंगे, इस रीति से भेद की परम्परा मानने से अनवस्था होगी ।

प्रश्न—अनन्त भेद धर्मी में रहते हैं, क्या दोष है ?

उत्तर—यदि क्रम से उन भेदों का आश्रय में सम्बन्ध मानें, तो सान्त वस्तु (कार्य्य) में उन दोनों का सम्बन्ध नहीं होगा, अगर कहें कि जायमान वस्तु को एक काल में ही वे भेद प्राप्त होते हैं, तो किस भेद से विशिष्ट में कौन सा भेद रहता है, इस में क्या विनिगमक है, अमुकभेद-विशिष्ट में अमुकभेद रहता है, इस में कोई विशेष प्रमाण तो है नहीं, फिर इन भेदों के आश्रय में सम्बन्ध की व्यवस्था कौन करेगा । तथा चरम-चरम स्वीकार्य्य भेद से प्रथम २ स्वीकृत भेद के उपयोग की सिद्धि होने से आगे दौड़ता, पीछे से नष्ट होता हुआ वह भेद का प्रवाह श्रुत (पठित)को विस्मरण करने वाले छात्र के तुल्य किसको अवलम्बन करेगा ॥१४२॥ इसी रीति से गोत्व-विशिष्ट में गोत्व रहता है ? या गोत्व-रहित में,-इत्यादि विकल्प कर गोत्वादि धर्म का भी निरास करना चाहिये । अग्रिम २ भेद से ही पूर्व २ भेद के उपयोग = प्रयोजन (भेद-व्यवहार) के सिद्ध होने से पूर्व २ भेद का विलोप (वैयर्थ्य), "तथा किस भेद से विशिष्ट में कौनसा भेद रहता है" इसमें अविनिगम, एक में बहुत भेद हैं—इसमें प्रमाण का अभाव, ये तीन दोष अनवस्था के स्वीकर्त्ता को अप्रतिकार्य्य हो जायंगे ।

कौन भेद किस भेद से, युत में विनिगम नाहिं;
एक वस्तु में भेद बहु, या में अनुभव नाहिं ॥१६॥
पूर्व भेद की व्यर्थता, उतर भेद से होत;
अनवस्था में दोष ये, तीन सबहि जग होत ॥ (क) १६ ॥१४३॥

समर्थन—परस्पर व्यावृत्त स्वरूप-रूप भेद से भिन्न में वैधर्म्य रूप भेद रहता है, अतः अनवस्था दोष नहीं है ।

खण्डन—जिन दो घट-पटों के स्वरूप परस्पर व्यावृत्त होंगे, वे दोनों स्वरूप से रहित हो जायेंगे ।

विशेषः—इत्युच्यते, तर्हि स्वरूपविशेषमात्रव्यावृत्त्या स्वरूपमात्रं तयोः स्यादित्येकत्वापत्तिः । अथवा वक्तव्योऽसौ स्वरूपमात्रादन्यो विशेषार्थः ॥१४४॥ अथ न स्वरूपं नाम किञ्चिद्‌ अनुगतमिष्यते मया विशेषरूपासु व्यक्तिष्वेव स्वरूपशब्दो नानाऽर्थः सन्निविशते इत्यभिधत्से, तर्हि गतमनेनैव न्यायेन गोत्वादिसिद्धिप्रत्याशया, नच प्रतिव्यक्ति स्वरूपपदसमयग्रहोपपत्तिः ॥१४५॥ यदि च स्वरूपं भेदः स्यात्, तदा धर्मिणि दृष्टे स्वरूपं दृष्टमिति क्वचिन्न संदेहः स्यादिति ॥१४६॥ यदि चाभिन्ने भेदो निविशेत, तदा याप्येका व्यक्तिः प्रतीयते घटादिः, सापि तेनैव भेदेनानेका स्यादित्येकाभावे नानेकमपि व्यवतिष्ठेत ॥१४७॥ एतेन न भेदावच्छिन्ने नचाऽभेदावच्छिन्ने भेदो विनिविशते, किंतूदासीने इत्यपि निरस्तम् ॥१४८॥ अत एव च भेदो नाम स्वरूपान्योन्याभाववैधर्म्यानात्मको धर्मान्तरं पृथक्त्वापरनामकमित्यपि परास्तम् । सोऽपि हि स्वाश्रय-

---

समर्थन—स्वरूप मात्र (सामान्य स्वरूप) परस्पर व्यावृत्त नहीं होता है, किन्तु स्वरूपविशेष व्यावृत होता है ।

खण्डन—यदि स्वरूप विशेष व्यावृत्त होता है, तो उन दोनों में स्वरूप सामान्य होने से ऐक्य हो जायगा । और पट का स्वरूप पट ही है, जो सब पट में रहता है । और घट का स्वरूप घट ही है, जो सब घटों में रहता है । उन दो स्वरूपों से अन्य किसी विशेष स्वरूप का उनमें अनुभव नहीं होता है । जो परस्पर से व्यावृत्त (अलग) होता हो ॥१४४॥

समर्थन—हम सब घटादि वस्तु में अनुगत (एक रूप से विद्यमान) एक सामान्य रूप (जिसका नाम स्वरूपत्व है) को नहीं मानते हैं, किन्तु प्रतिव्यक्ति में व्यावृत्त जो विशेष रूप, उससे युक्त व्यक्तिओं में ही स्वरूप शब्द की शक्तिका सन्निवेश है । अर्थात् स्वरूप शब्द का स्वरूपत्व रूप एक अर्थ नहीं है, किन्तु नाना व्यक्ति ही अर्थ है ।

खण्डन—इसी प्रकार से गो शब्द का भी नाना गो व्यक्ति में प्रयोग होगा । अतः गोत्वादि जाति की सिद्धि की आशा जाती रहेगी । और स्वरूप तथा गो आदि व्यक्तिओं के आनन्त्य होने से उन व्यक्तियों में स्वरूप तथा गो आदि पद का समय (शक्ति) का ज्ञान भी न होगा ॥१४५॥

यदि स्वरूप ही भेद है तो धर्मी के प्रत्यक्ष होने पर भेद का भी प्रत्यक्ष हुआ, अतः स्वरूप-विशेष-विषयक (स्थाणुः पुरुषो वा) इत्याकारक सन्देह कहीं भी नहीं होगा, और "इदं रजतम्" यह अभेद-भ्रम भी नहीं होगा ॥१४६॥ यदि कहें कि अभिन्न में भेद रहता है, तो जो घटादि व्यक्ति एक प्रतीत (ज्ञात) होती है, वह व्यक्ति भी उसी भेद से भिन्न (अनेक) प्रतीत हो जायगी, अतः एक के न होने से तथा प्रतियोगी के अलीक होने से अनेक भी व्यवस्थित नहीं होगा ॥१४७॥

यदि कहें कि भेद की वृत्तिता (अवस्थिति) में (भेद अथवा अभेद) अवच्छेदक नहीं है, किन्तु भेद या अभेद से अवच्छिन्नत्व में उदासीन होकर केवल धर्मी में भेद रहता है । तब स्व का स्व में भेद का प्रसङ्ग (आपत्ति) हो जायगा, क्योंकि स्व भी भेद-अभेद के अवच्छिन्नत्व में उदासीन है, और धर्मी है ॥१४८॥

समर्थन—स्वरूप, अन्योन्याभाव, तथा वैधर्म्य से भिन्न पृथक्त्व नामक नैयायिकाभिमत गुण भेद-प्रतीति का विषय होता है ।

भिन्ने विनिविशेताऽभिन्नेवेत्यादियथोक्तदोपलङ्घनाऽजङ्गाल एव स्यात् ॥१४६॥ स्वाश्रयेण च स्वभिन्नभेदभयाद्यदि स एव भेदो निविशते; तदात्माश्रयः, अन्यश्चेत् तस्मिन्नेवं तस्मिन्नप्यन्य इत्यनवस्था, क्वचिदपि गत्वा भेदभेदाश्रययो भेदस्याऽस्वीकारे च तदैक्यद्वारिका मूलपर्य्यन्तमेकता धावेत् ॥१५०॥

तदद्वैतश्रुतेस्तावद्बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः ।
नानुमानादि तं कर्त्तुं तवापि क्षमते मते ॥२०॥
अद्वैतागमनासीरे साधु सा धुन्वती परान्
सेवामेवार्जयत्यर्था-पत्तिपत्तिपरम्परा ॥२१॥ ॥१५१॥

नन्वद्वैतश्रुतयो वर्ण-पद-विभक्ति-तदर्थादिभेदानुपजीव्यार्थं प्रतिपादयन्त्यः स्वोपजीव्याभिभदबुद्धिभिर्न कथं वाध्यन्ताम् ? उपजीवकस्योपजीव्याद्दुर्बलत्वात् ॥१५२॥ मैवम् । न वयं भेदस्य सर्वथैवाऽसत्त्वम् अभ्युपगच्छामः, किन्नाम पारमार्थिकमसत्त्वम् । अविद्याविद्यमानत्वं तु तदीयमिष्यते एव, तदेव च कार्य्यकारणभावोपयोगि ॥१५३॥

खण्डन—वह पृथक्त्व भी (पृथक्त्व रूप भेद से भिन्न धर्मी में या अभिन्न धर्मी में रहता है, इत्यादि विकल्प में पूर्वोक्त दोषों के लङ्घन में) अजङ्गाल (असमर्थ) ही है ॥१४६॥ यदि भेद के आश्रय के साथ भेद का भेद न मानें तो स्वाश्रय से भेद का अभेद हो जायगा; और यदि भेद मानें तो यदि उसी भेद का स्व में निवेश हो तो आत्माश्रय हो जायगा। यदि अन्य भेद मानें तो अनवस्था; यदि कहीं जाकर अन्त में भेद का भेदाश्रय के साथ भेद न मानें तो उसके ऐक्य-द्वारा मूल पर्यन्त ऐक्य हो जायगा। तस्मात् भेद-प्रत्यक्ष के विषय के अभाव होने से अद्वैत श्रुति का बाध प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता है, और अनुमानादि तो आगम की अपेक्षा से दुर्बल हैं, अतः वे तुम्हारे मत में भी अद्वैत-श्रुति के बाधक नहीं हो सकते हैं। तथा अद्वैतागम रूप सेना में पुरः (आगे) विद्यमान अर्थापत्ति रूप पदाति (पैदल सिपाही) तो पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिपक्ष-युक्ति रूप शत्रुओं को नाश करता हुआ अद्वैत के अनुकूल ही है ॥१५०॥

इस विधि से प्रत्यक्ष से, श्रुतिज बोध नहिं आँच ।
अनुमानहि से आँच तो, तुम भि न मानो साँच ॥२०॥
अद्वैतागम सैन्य के, आगे देक छलांग;
अर्थापति पदाति ने, भेदवाद दी आग ॥२१॥१५१॥

प्रश्न—नानात्व (भेद) के विना नानापद श्रौत बुद्धि के कारण हैं—यह कार्य्यकारणभाव नहीं हो सकता है, तथा कारण के विना श्रौत-बुद्धि भी नहीं हो सकती है। इसलिये बाध्य-बाधक-भावकी चिन्ता व्यर्थ है। क्योंकि श्रुति का पद-पदार्थ का नानात्व (भेद) उपजीव्य (कारण) है. और श्रुतिज बुद्धि उपजीवक (कार्य्य) है। और उपजीवक से उपजीव्य का बाध नहीं हो सकता है। क्योंकि उपजीव्य से उपजीवक दुर्बल होता है ॥१५२॥

उत्तर—श्रौत बुद्धि का व्यावहारिक नानात्व उपजीव्य (कारण) है। अतः व्यावहारिक नानात्व (भेद) का बाध न हो, पारमार्थिक नानात्व तो उपजीव्य है नहीं, अतः पारमार्थिक नानात्व का बाध अद्वैत-श्रौत-बुद्धि से हो सकता है, और व्यावहारिक नानात्व (भेद) को हम भी मानते ही हैं ॥१५३॥

एतेन एकमेवेत्येवकारव्यवच्छेद्येन, अद्वितीयमिति द्वितीयेन, ननानेति नानात्वेन, किञ्च-नेत्यनेन बहुना विना नोपपद्यमानेन, व्याघातः इत्यपि प्रत्यादिष्टम्। श्रुतिभिश्चाद्वैतार्थाभिः पारमार्थिकमद्वैतं प्रतिपाद्यते। न च पारमार्थिकमतिः अपारमार्थिकधिया शक्यबाधा, माभूत् शुक्तिरजतधिया परमार्थशुक्तिमतिबाधः। यत्र त्वग्निरनुष्ण इति बुद्धेरुष्णज्ञानोपजीवनात् उष्णबोधेनानुष्णबुद्धिबाधस्तत्रद्वयोरप्यविद्याविद्यमानत्वाद्बाधोयुक्तः ॥१५४॥ ननु तत्रापि तद्वदनुष्णतापि पारमार्थिक्येव साध्यताम् अबाधनाय। मैवम्। अनुष्णताया जलादिदृष्टान्तसजातीयायाः शीताद्यव्यावृत्तस्वरूपायाः प्रसाधनेनाविद्याविद्यमानत्वे एव विश्रामात्। तत्रैवंविधरूपतानङ्गीकारे चाद्वैतस्यैव नामान्तरकरणापत्तेः, ततस्तस्यां ज्ञेयज्ञानादिभेदावश्याभ्युपेयतया जगद्बाधयुक्तिकवलप्रवेशासम्भवात्। अद्वैते च द्वैताश्रयस्य बाधस्य वास्तवस्यानवकाशाद्व अपारमार्थिकत्वसंभावनापि दूरत एवापसरतीति

प्रश्न—"एकमेव" यहाँ 'एव' विशेषण विजातीय भेद के विना अनुपपन्न है, तथा 'अद्वितीय' विशेषण द्वितीय के विना अनुपपन्न है, 'न नाना' यह निषेध नानात्व के विना अनुपपन्न है। 'किञ्चन' (कुछ है) यह कथन बहुत्व के विना अनुपपन्न है, अतः अर्थापत्ति से सिद्ध विजातीय भेदादि से अद्वैत-श्रुति का व्याघात (बाध) क्यों नहीं होता है ?

उत्तर—'एवकार' आदि विशेषण की उपपत्ति व्यावहारिक भेद आदि से भी हो सकती है। और श्रुति से पारमार्थिक अद्वैत का बोध होता है। अतः विषय-भेद के होने से व्यावहारिक भेदादि से पारमार्थिक अद्वैत का व्याघात नहीं होता है। अन्यथा शुक्ति-रजत-बुद्धि से परमार्थ-शुक्ति-बुद्धि का भी बाध हो जायगा। जहाँ "वह्नि अनुष्ण है" इस—प्रतियोगी रूप से उष्ण-ज्ञान के उपजीवन से दुर्बल—अनुमिति का "वह्नि उष्ण है" इस स्पार्शन प्रत्यक्ष से बाध होता है, वहाँ दोनों ज्ञानों के व्यावहारिक होने से उष्णत्व के प्रत्यक्ष से अनुष्णत्वाऽनुमिति का बाध उचित ही है ॥१५४॥

प्रश्न—जैसे श्रुति-विषय परमार्थ सत् है, वैसे ही 'वह्नि अनुष्ण है' इस अनुमिति का विषय भी परमार्थ सत् क्यों न माना जाय ?

उत्तर—जल आदि में दृष्ट शीतादि से अव्यावृत्त रूप वाला अनुष्णत्व व्यावहारिक ही है। अतः प्रत्यक्ष से उसका बाध उचित ही है।

यदि जलादि में अदृष्ट (शीतादि से विलक्षण) अनुष्णत्व का आप साधन करते हैं तो अद्वैत का ही नामान्तर से साधन हुआ, अतः हमारा ही इष्ट सिद्ध हुआ। यदि जलादि दृष्टान्त में दृष्ट स्पर्श का सजातीय अनुष्णत्व ही का अनुमान करते हैं तो वह दृश्य है। अतः ज्ञेय-ज्ञान का भेद उस में अवश्य स्वीकर्त्तव्य होने से जगत् बाधक "दृक्दृश्य-सम्बन्ध-खण्डन आदि" युक्तियों के कवल में अनुष्णत्व का भी अवश्य प्रवेश होगा।

प्रश्न—अद्वैत (ब्रह्म) भी श्रौत बोध का विषय है ही, अतः अद्वैत में भी मान-मेय-व्यवहार होने से अद्वैत का भी जगद्-बाधक युक्तियों के कवल में प्रवेश क्यों न हो ?

उत्तर—अद्वैत स्व-प्रकाश है, उस में मान-मेय-भाव नहीं है, अतः अद्वैत-श्रौत-बोध का विषय नहीं है, किन्तु श्रौत बोध का स्वरूप ही है। यद्यपि ब्रह्माद्वैत संस्कृत मन की वृत्ति का विषय होता है, परन्तु मन ही कल्पित है, अतः वृत्ति भी कल्पित ही है, अतः वास्तविक मान-मेय-भाव अद्वैत में नहीं है ॥१५५॥

८

॥१५५॥ ननु किमद्वैतपरमार्थताभ्युपगमेन समाहितं भवति ? यत उपजीव्यबाधादद्वैते प्रमां श्रुतिर्जनयितुं न शक्नोतीति ब्रूमः ॥१५६॥ मैवम् । अद्वैतं हि पारमार्थिकमिदं पारमार्थिकेन भेदेन बाध्येत, नत्वविद्याविद्यमानेन, तस्माद् अविद्याव्यवस्थितं भेदं तद्बोधं चोपजीवन्त्या न पारमार्थाद्वैतबुद्धेरुपजीव्यबाधः । यदि श्रुतिजन्या भवन्त्यप्यद्वैतबुद्धिः अविद्याविद्यमाना, तथापि तद्विषयस्तावत् परमार्थसदेवाद्वैतम् । विरोधेन च तस्याः बाध्यता, सच नास्तीति ॥१५७॥ तस्मात्—

पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः । बाधनादुपजीव्येन विभेति न मनागपि ॥२३॥

श्रुतिरपि तदाह "द्वितीयाद्वै भयं भवतीति" ॥१५८॥ तच्चाद्वैतं 'ब्रह्मैवेदं सर्वमिति' श्रुत्यर्थेन सहैक्यमापन्नं ब्रह्मैव स्यात्, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति' च श्रुत्या ज्ञानानन्दात्मतया

प्रश्न—अद्वैत पारमार्थिक है, इस स्वीकार से क्या सिद्ध हुआ ? अर्थात् शोक की निवृत्ति या निरङ्कुश तृप्ति ही सिद्ध होती है । वह तृप्ति तो श्रौत बोध से ही होती है । और श्रौत बोध प्रमाता आदि के भेद रूप उपजीव्य के विरोध से बाधित है, अतः उत्पन्न ही नहीं होगा ॥१५६॥

उत्तर—अद्वैत पारमार्थिक है । अतः वह अद्वैत पारमार्थिक भेद का विरोधी है, अविद्या-कल्पित-भेद का विरोधी नहीं है, अतः अविद्या-कल्पित भेद अथवा भेद के बोध का उपजीवन करने वाली श्रुति से उपजीव्य का बाध नहीं है ।

प्रश्न—अद्वैत की बुद्धि भी अविद्या का ही कार्य है । अतः शुक्ति-रजत के तुल्य भेद के प्रत्यक्ष से उसका बाध क्यों न हो ?

उत्तर—अद्वैत की बुद्धि के स्वरूप का बाध अभिप्रेत है ? या विषय का बाध ? यदि स्वरूप का बाध अभिप्रेत कहें तो स्वरूप का बाध हम भी मानते ही हैं, और विषय का बाध "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—इस श्रुति के विरोध होने से असङ्गत है । विषय के विरोध से (न होने से) बुद्धि बाध्य होती है, प्रकृत में अद्वैत रूप विषय बाधित नहीं है, अतः अविद्यमान (स्वरूप से बाधित) भी अद्वैत-बुद्धि विषय से अबाधित ही है ॥१५७॥ तस्मात् पारमार्थिक अद्वैत रूप शरण का अवलम्बन कर श्रुति उपजीव्य के बाध से किंचित् भी नहीं डरती है । क्योंकि परमार्थ में भेद-घटित बाध्य-बाधक भाव है नहीं ।

परमारथ अद्वैत का, शरण पाय श्रुति मान ।
भेद-बुद्धि उपजीव्य से, तनिक न डरती मान ॥२३॥

और बृहदारण्यक (१।४।२) की श्रुति कहती है कि द्वितीय से भय होता है ॥१५८॥

प्रश्न—"एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति से अद्वैत, "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इस श्रुति से ब्रह्म, "विज्ञानमानन्दम्ब्रह्म" इस श्रुति से विज्ञान, तथा आनन्द, ज्ञात होता है, अतः परस्पर के विरोध से कुछ भी सिद्ध नहीं होगा, और यदि श्रुति के प्रामाण्य से सब की सिद्धि हो तो अद्वैत की हानि होगी ?

उत्तर—"एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति से बोधित अद्वैत "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इस श्रुति के साथ एक वाक्यता से ब्रह्म-रूप है । तथा "विज्ञानमानन्दम्ब्रह्म" इस श्रुति के एक-वाक्यता से विज्ञान आनन्द रूप व्यवस्थित होता है ।

प्रश्न—श्रुति से जन्य विज्ञान का विषय होने से अद्वैत विज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि स्व, स्व का विषय नहीं होता है ।

व्यवतिष्ठते। तेन यदिदमद्वैतज्ञानं श्रुत्या जनितं तद्विज्ञानाद्वैतात्मन्येव निविशते ॥१५६॥ ननु कथं तस्य श्रुत्या जन्यत्वमुपपद्यते? सत्यम्, एवं स्यात्, यदि तस्य पारमार्थिकी श्रुत्या जन्यतापि स्यात्, अविद्याव्यवस्थिता तु तज्जन्यता न पारमार्थिकेनाजन्यत्वेन विरुद्ध्यते ॥१६०॥ अत एव श्रुत्येदमेकं साध्यते। यत्तु, तत्र यद्येकता भेदाभावो, यदि चैकत्वसंख्या, यदि वा ज्ञानात्मकत्वं, यदिवाऽन्यएवैकत्वनामा कश्चिदभेदापरपर्यायो धर्मस्तद्वत्वं बोध्यते, तच्चाद्वैतव्याघातकत्वान्न सेद्धुं शक्नोति, तदा तदपि निष्पीडनम् असहमानं तज्ज्ञानं श्रुतिजन्यत्वेन सहैव निवर्त्तताम्। यत्तु तादृशस्याद्वैतस्य धर्मस्य धर्मितया प्रमितं तन्मात्रमबाधादधिगतं परमार्थतो व्यवतिष्ठताम्। न हि परमार्थ-शुक्ती रजततया प्रतीयते यदा, तदा बाधात्तत्र रजतत्वे व्यावर्त्तमाने धर्मिव्यक्तिरपि तदपराधान्निवर्तते ॥१६१॥ सेयमद्वैतबुद्धिर्न्न तर्कशतमवतार्य्य प्राज्ञैरपनेया, यद्व आह श्रुतिः—'नैषातर्केण मतिरापनेयेति'। तस्मात्—

उत्तर—वृत्ति रूप ज्ञान से भेद इष्ट ही है, और वृत्ति–प्रतिबिम्बित आभास का विषय अद्वैत नहीं होता है, किन्तु आभास स्वयं अद्वैत रूप हो जाता है, अन्यथा = यदि ऐसा न मानें तो "विज्ञानमानन्दब्रह्म" इत्यादि श्रुति का कोप (विरोध) हो जायगा ॥१५६॥

प्रश्न—अद्वैत (ब्रह्म) नित्य है, और "श्रौत-बोध" जन्य है, अतः श्रौतबोध (विज्ञान) अद्वैत रूप नहीं है, अन्यथा विज्ञान श्रुतिजन्य नहीं होगा, क्योंकि जन्यत्व अजन्यत्वरूप दो विरुद्ध धर्मों का एकत्र समावेश अनुचित है?

उत्तर—श्रौतबोध (विज्ञान) जन्य नहीं है, किन्तु नित्य है, अतः अद्वैत रूप है, तथापि वृत्ति रूप उपाधि के जन्य होने से विज्ञान में जन्यत्व का व्यवहार होता है। जैसे आकाश के नित्य होने पर भी घट-पट-आदि उपाधि के अनित्य होने से घटाद्यवच्छिन्नाकाश में अनित्यत्व का व्यवहार होता है ॥१६०॥

प्रश्न—"एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुति से जन्य बोध में ब्रह्म में विशेषण रूप से एकत्व भी भासता है, अतः ब्रह्म में एकत्व की भी सिद्धि हुई, तब अद्वैत सिद्ध कैसे हुआ?

उत्तर—श्रुति से एकत्वादि धर्म से शून्य केवल धर्मी रूप अद्वैत ही सिद्ध होता है। और उस धर्मी में भेदाभावरूप या एकत्व संख्यारूप या ज्ञान रूप या अभेद-रूप एकत्व या जो अन्य धर्म्म श्रुति से बोधित होते हैं, वे भी अद्वैत के व्याघातक हैं, अतः सिद्ध नहीं हो सकते हैं। अतः एकत्वादि भी व्याघात को न सहकर जन्यत्व के साथ ही निवृत्त हों। जो उस अद्वैत (एकत्व) धर्म्म का धर्मी रूप से बोधित होता है, वही अबाध से अधिगत (ज्ञात) परमार्थ से व्यवस्थित हो। जहाँ परमार्थ शुक्ति रजतत्व रूपसे ज्ञात होती है, वहाँ रजतत्वकी निवृत्ति होने पर धर्म (रजतत्व) में आरोप रूप अपराध होने से परमार्थ शुक्ति भी निवृत्त नहीं होती है ॥१६१॥ तस्मात् प्राज्ञवर्ग! आप इस अद्वैत-बुद्धि का (अनेक कुतर्कों का अवलम्बन कर) अपनयन (खण्डन) न करें। क्योंकि कठ (२।३।) श्रुति में लिखा है, कि श्रुति से जायमान अद्वैत-बुद्धि, तर्क से आपनेय (दूरी कर्त्तव्य) नहीं है। इस लिये बुद्धिमानों! इस अद्वैत बुद्धि का कुतर्क से बाधन की इच्छा तब करना जब हस्त में प्राप्त चिन्तामणि को समुद्र में गेरने की इच्छा हो।

धीधनाः ! बाधनायाऽस्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ ।
त्येतुं चिन्तामणिं पाणि-लब्धमब्धौ यदीच्छथ ॥२४॥१६२॥

सेयमद्वैतदृष्टिर्दृष्टार्थापि, यदाहुः—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' । तस्मात्—

ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना ।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ॥ २५ ॥ १६३ ॥

तस्मात्—

आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम्
अद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम् ।
तत् स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा,
निष्पीडितादहह ! निर्वहते विचारात् ॥२६॥१६४॥

तदिदमेताभिरात्ममतसिद्धसद्युक्तिलक्षणोपपन्नाभिर्युक्तिभिरुपनीयमानमद्वैतमविद्या-विलास-लालसोऽपि श्रद्दधातु तावद्भवान्, तदनु चानयैवोपनिषदर्थश्रद्धयाऽध्यात्मं जिज्ञासमानः परमार्थतत्त्वं क्रमाद् वृत्तिव्यावृत्तचेताः स्वप्रकाशसाक्षिकं माक्षिकरसातिशायि स्वात्मनैव साक्षात्करिष्यति । यथा च परिहृतचापलमात्मतत्त्वामृतसरसि निमज्य रज्यति निरायासमेव मानसं तथाऽहमकथयं नैषधचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्गे इत्येषा दिक् ॥१६५॥

धीधन ! तब अद्वैत के, बोध चहहु तूँ बाध ।
जब चिन्तामणि रत्न को, गेरन वारिध साध ॥२४॥१६२॥

इस अद्वैत बुद्धि का अदृष्ट (मोक्ष) रूप फल तो है ही, परन्तु जीवन्मुक्ति में अनुभवनीय आनन्द, शोक-निवृत्ति, अभय, संतोषादि, दृष्ट प्रयोजन भी हैं। भगवद्गीता में भी (२-४) कहा है, कि स्वल्प भी (आपात से उत्पन्न) अद्वैत-बोध महान् भय शोकादि दुःख से त्राण (रक्षा) करता है। यह अद्वैत बुद्धि दुष्प्राप्य एवं बहु विघ्न से युक्त तथा अति सूक्ष्म है, अतः श्री ६ परमेश्वर की कृपा से महाभयों से त्राण करने वाली यह अद्वैत-वासना दो वा तीन मनुष्यों के ही हृदय में प्रादुर्भूत होती है।

ईश कृपा से होत है, तीन दोय हिय मांहि ।
अद्वय की शुभ वासना, जिस में भय कुछ नांहि ॥२५॥१६३॥

अति-सूक्ष्म होने से अद्वैत-बोधक श्रुतियों द्वारा परोक्ष रूप से आकलित (ज्ञात) अद्वय रूप अर्थ शुद्ध विचार से स्वप्रकाश आनन्द रूप होकर अपरोक्ष रूप से अपने आप अहह ! (आनन्दानुभव) प्रादुर्भूत होता है।

जो आपात से होत है, श्रुति से अद्वय-बोध ।
वह विचार से होत है, सच्चित आत्म वे रोध ॥२६॥१६४॥

युक्ति परार्थानुमान रूप है। अतः स्वबुद्धि में सिद्ध युक्तियों के लक्षण से युक्त, इन मेरी पूर्वोक्त युक्तियों से उपनीयमान (ज्ञान विषय) इस अद्वैत में अविद्याविलास (भेद-

(अथ प्रयोजनप्रतिपादक-ग्रन्थः)

अभीष्टसिद्धावपि खण्डनाना—
मखण्डिराज्ञामिव नैवमाज्ञा ।
तत्तानि कस्मान्न यथाभिलापम् ,
सैद्धान्तिकेष्वप्युद्बध्वनि योजयध्वम् ॥२७॥१६६॥

तदेतादृशीषु सर्वास्वपि दर्शनस्थितिषु काममस्माकीनाः खण्डनयुक्तयः प्रगल्भन्ते, यासामीश्वरपरवशां [1]विश्वव्यवस्थामनास्थाय निरसनमशक्यं तासामेवावतारणार्थमयं [2]प्रावादुकप्रवादोपन्यासः । तथाहि—यदि शून्यवादानिर्वचनीयपक्षयोराश्रयणम्, तदा तावदमूषां निराबाधैव सार्वपथीनता । यदि तु प्रमाणादिसत्ताभ्युपगन्तृमतावल-

---

वाद) में लालसा वाले भी आप प्रथम श्रद्धा करें । तत्पश्चात् इस ही उपनिषद् अर्थ (ब्रह्म) को श्रद्धा से तथा आत्मविषयक जिज्ञासा से युक्त, तथा शनैः शनैः विषय से व्यावृत्त चित्त युक्त, मधु से भी मिष्ट स्व-प्रकाश अद्वैतरूप परमार्थका आप स्वयं साक्षात्कार करेंगे । जिन साधनों से चपलता को छोड़कर आपका चित्त बिना परिश्रम आत्मतत्त्वरूप अमृत सरोवर में निमग्न होकर परमानन्द को पावेगा । उन भक्ति, अभ्यास, वैराग्य आदि साधनों को 'नैषधचरित' के परमपुरुषसर्ग में कहा है । अद्वैतसिद्धि को यह दिग् (इशारा) है ॥१६५॥

(अथ प्रयोजन-प्रतिपादक-ग्रन्थानुवाद)

प्रश्न—इस प्रकार से द्वैत की निवृत्ति (खण्डन) द्वारा अद्वैत की सिद्धिमात्र में खण्डन युक्तियों का उपकार है । इसलिये यह मुमुक्षुमात्रका (ग्राह्य) हुआ । विजिगीषु का ग्राह्य नहीं हुआ, और यदि ऐसा ही मान लें तब "लोकेषु दिग्विजय-कौतुकमातनुध्वम्" इस प्रतिज्ञा से विरोध हो जायगा ।

उत्तर—यथार्थ में हमने अद्वैत की सिद्धि के लिये ही खण्डन युक्तियों का कथन किया है, परन्तु आप लोगों के अभीष्ट की सिद्धि में (शब्द-नित्यत्वाऽनित्यत्वादि के व्यवस्थापन में) भी खण्डन युक्तियों की (राजाओं के तुल्य) आज्ञा का खण्डन (निवारण) नहीं किया है, अतः आप लोग अपने अपने अभिलाषा के अनुसार तत् तत् सिद्धान्तों की सिद्धि में या खण्डन में उन खण्डन युक्तियों का योजन करें ।

यद्यपि खण्डन-युक्ति का, अद्वय-सिद्धि-नियोग ।
तदपि निज सिद्धान्त में, सब कर सकते योग ॥२७॥१६६॥

खण्डन युक्तियों का तत् तत् सिद्धान्तों की सिद्धि में खण्डन (निवारण) नहीं है, अतः सब सिद्धान्त मानने वाले दर्शनों के (पर सिद्धान्तों के खण्डन द्वारा) स्थापन में हमारी खण्डन युक्ति यथेष्ट समर्थ है । जिन खण्डन युक्तियों का ईश्वर (राजा) के परवश (अधीन) विश्व-व्यवस्थापक आज्ञा के बिना निवारण अशक्य है । उन्हीं खण्डन युक्तियों के अवतरण के अर्थ इस उद्धत ग्रन्थ का उपन्यास (निर्माण) है । देखिये, यदि आप शून्यवाद या अनिर्वचनीयवाद का आश्रयण करें, तब तो इन खण्डन युक्तियों का सर्वत्र उपकार निर्बाध

---

१ विश्वं व्यवस्थाप्यते = नियम्यतेऽनया = दण्डधारयेति = राजाधीन-दण्डेनेत्यर्थः ।
२ प्रावादुकः = उद्धतः अयं खण्डनग्रन्थः, तस्य उपन्यासः निर्माणम् ।

स्वनं, तदापि लक्षणखण्डनयुक्तीनां लक्षणविशेषखण्डने लक्ष्यखण्डनयुक्तीनां च तद्विषयप्रमाणादिविशेषखण्डने प्रत्येकं तात्पर्यम् ॥१६७॥ न च सौत्रादिलक्षणखण्डने अपसिद्धान्तापत्तिः, तादृश्याः सूत्रादिव्याख्यायाः खण्ड्यमानत्वात् । नच वाच्यं लक्षणविशेषवस्तुव्यवस्थापकप्रमाणविशेषसूत्रादिव्याख्याविशेषखण्डनपरत्वेन लक्षणान्तरं प्रमाणान्तरं व्याख्यान्तरं च वाच्यं प्रसज्येत भवतोपीति; वितण्डाकथामालम्ब्य खण्डनानां वक्तव्यत्वात्, तत्र च व्यावृत्य स्वपक्षनिर्वाहं प्रति पर्य्यनुयोगानवकाशात् ॥१६८॥ एवं च सति वादिदर्शनमाश्रित्यापि खण्डनप्रयोगो निर्बाध एव, एकदेशिवत् प्रत्यवस्थातुं शक्यत्वात् । वैयाकरणानामिव च शब्दसिद्धिप्रश्नस्य परकीयतत्त्वज्ञाननिरूपणार्थं समानपक्षस्थित्यापि पर्यनुयोगसांव्यवहारिकतायाः संभवात् ॥१६९॥ वस्तुस्थितिं

ही है, क्योंकि इन मतों में स्वमत का स्थापन तो करना है नहीं, केवल परमत का खण्डन ही करना है। और परमत के खण्डन में खण्डनयुक्ति सार्वपथीन (बेरोक) हैं। यदि प्रमाण के अभ्युपगम करने वाले (नैयायिक-मीमांसक आदि) के मत का आश्रयण है, तो लक्षण-विशेष के खण्डन की युक्तियों का लक्षण विशेष के खण्डन में उपकार है, और लक्ष्य विशेष की खण्डन-युक्तियों का प्रमाण विशेष के खण्डन में तात्पर्य है। जैसे भेद के अनिर्वचनीयत्व से बाधितविषयक होने से अनुपलब्धि प्रमाण खण्डित होता है ॥ १६७ ॥

प्रश्न—गौतमादि सूत्रों में उक्त लक्षणों के खण्डन करने से अपसिद्धान्त हो जायगा?

उत्तर—सूत्र के व्याख्याविशेष के खण्डन होने पर भी सूत्र की अन्य व्याख्या की सम्भावना से अपसिद्धान्त नहीं होगा।

प्रश्न—लक्षण-विशेष तथा वस्तु के साधक प्रमाण-विशेष तथा सूत्र के व्याख्या-विशेष के खण्डन पर अन्य लक्षण अन्य प्रमाण, अन्य सूत्र की व्याख्या आप को भी कहनी पड़ेगी?

उत्तर—वितण्डा रूप कथा का आश्रयण कर खण्डन युक्तियों का उपन्यास है, और वितण्डा में परमत के खण्डन को त्याग कर स्वमत के स्थापन में पर्य्यनुयोग (आग्रह) होता नहीं है ॥१६८॥ जब स्वमत के स्थापन में नियोग नहीं है, तब वादी के दर्शन मीमांसा आदि का आश्रयण कर भी खण्डन की युक्तियोंका प्रयोग हो सकता है। क्योंकि मीमांसक सामान्य मतका एक देशी (मीमांसक विशेष प्रभाकर) के तुल्य एक दर्शन का आश्रयण कर भी परस्पर के प्रति खण्डनका प्रयोग हो सकता है। अथवा सम्पूर्ण वैयाकरण, गोशब्दादि की सिद्धिको तुल्य रूप मानकर भी जैसे पर के तत्त्व-ज्ञान के परीक्षार्थ अन्योन्य प्रश्न करते हैं, वैसे ही समान पक्ष में भी प्रश्न तथा खण्डन युक्तियों का प्रयोग हो सकता है ॥१६९॥ वस्तु (तत्त्व) की स्थिति (निश्चय) करने वाले परीक्षकों को तो अवश्य ही इन खण्डन युक्तियों का आश्रयण करना चाहिये। क्योंकि यावत् खण्डन-युक्तियों से परमत का खण्डन न हो, तावत् तत्त्व का निश्चय हो ही नहीं सकता, इस लिये वाद में भी खण्डन युक्तियों का प्रयोग हो सकता है ॥१७०॥

1 प्रश्न—गौतम सूत्रस्थ प्रत्यक्षलक्षण के खण्डन से मीमांसक को अपसिद्धान्त नहीं हो सकता है। क्योंकि वे उनको प्रमाण नहीं मानते हैं। अन्यथा न्यायाभिमत शब्दाऽनित्यत्व को न मानने से भी मीमांसक को अपसिद्धान्त होना चाहिये।

उत्तर—इस शङ्का-समाधान का यहाँ पर उल्लेख लेखक-प्रमाद से हुआ है। वस्तुतः ग्रन्थकार के अनुसार इसका लेख "समानपक्षस्थित्यापि......सम्भवात्" के आगे होना चाहिये।

कुर्वाणेन च विचारकेणावश्यमेता युक्तय उद्धरणीयाः, अन्यथा वस्तुस्थितेरशक्यत्वादिति वादेपि प्रयोगः संभवत्येव खण्डनयुक्तीनाम् ॥१७०॥ जल्पस्त्वेका कथा न संभवत्येवाऽसामयिकी, वितण्डाद्वयशरीरत्वात् । अन्यथा जल्पद्वयेनापि किमित्येका कथा न कल्प्यते, अवोचाम च जल्पविचारप्रस्तावे विस्तरेणैतदिति ॥१७१॥ जल्पकथयापि चाभिधाने स्वपक्षे व्यावर्त्य सदोषस्यापि प्रमाणतयाऽभिधानं कृत्वा तद्दोषोद्भावनकारी कामपि खण्डनयुक्तिमवताय्यं बाधनीय इति जल्पेपि नात्यन्तमनवकाशाः खण्डनयुक्तयः ॥१७२॥

(इति खण्डन-भूमिका)

प्रश्न— जल्प में स्वपक्ष का स्थापन अवश्य करना होता है, और खण्डन युक्ति खण्डन मात्र में प्रगल्भ हैं, स्थापन में मूक हैं, इसलिये जल्प में इन खण्डन युक्तियों का उपकार कैसे होगा ?

उत्तर—जल्प तो एक कथा ही नहीं है, क्योंकि जल्प के शरीर में दो वितण्डा प्रविष्ट हैं, अर्थात् एक ने स्वपक्ष का स्थापन किया, और अन्य ने उसके पक्ष को दूषित किया, यह एक वितण्डा हुई। तथा अन्य ने स्वपक्ष का स्थापन किया, और प्रथम ने उसके पक्षका खण्डन किया, यह दूसरी वितण्डा हुई । इस रीति से दो वितण्डा मिल कर एक जल्प होता है, जल्प कथान्तर नहीं है । किञ्च—जल्प, सर्व शास्त्रों के समय (सिद्धान्त) से सिद्ध भी नहीं है, केवल नैयायिकों के ही समय (संकेत) से कल्पित है । अन्यथा (दो वितण्डा को यदि एक जल्प माना जाय तो) दो जल्प मिलकर एक अन्य कथा भी क्यों न कहलाये ? अर्थात् स्वपक्ष द्वय का स्थापन और परपक्षद्वय का खण्डन रूप एक कथान्तर भी जल्प के तुल्य हो सकता है, फिर वह एक कथा क्यों न मानी जाय ?

प्रश्न—यदि जल्प वितण्डा द्वय शरीर होने से अन्य कथा नहीं है, तब वाद भी वितण्डा द्वय शरीर होने से अन्य कथा नहीं कहायेगा, किन्तु केवल वितण्डा ही एक कथा कहलायेगी ?

उत्तर—वाद में फल भेद है, अर्थात् वाद का तत्त्व निर्णय फल है, और जल्प-वितण्डा दोनों का विजय रूप एक फल है, अतः वह अन्य कथा है, जल्प में फल भेद भी नहीं है, अतः जल्प का वितण्डा में अन्तर्भाव है, वह अन्य कथा नहीं है—इत्यादि 'ईश्वराभिसन्धि' में हमने कहा है ॥१७१॥

प्रश्न—श्री ६ राम, रावण के युद्ध के तुल्य स्वपक्ष का रक्षण तथा पर पक्ष का खण्डन रूप जल्प कथा भी अनुभव से सिद्ध ही है, क्योंकि शास्त्रार्थ भी वाग्युद्ध ही है, अतः उसका वितण्डा में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है । और जल्प में खण्डन युक्तियों का उपकार नहीं है, अतः सर्वत्र खण्डन युक्तियों का उपकार सिद्ध नहीं हुआ ।

उत्तर—जल्प कथा के पुरस्कार से अभिधान में भी स-दोष प्रमाण का भी निर्दुष्टवत् अभिधान कर किसी खण्डन युक्ति का अवतारण कर स्वपक्ष में दोष के उद्भावनकारी वादी के पक्ष का बाध हो सकता है । इस रीति से जल्प में भी खण्डन युक्तियों का अत्यन्त अनवकाश नहीं है ॥१७२॥

* इति खण्डन-भूमिकानुवादः समाप्तः *

(अथ खण्डन–युक्तयः)

कीदृश्यः पुनस्ताः ? उच्यन्ते, तथाहि—लक्षणाधीना तावल्लक्ष्यव्यवस्थितिः, लक्षणानि च अनुपपन्नानि, ज्ञाताधिकरणादिलक्षणनिरूपणद्वारेण चक्रकाद्यापत्तेः ॥१॥ तेषु तावत् 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'—इत्यप्ययुक्तम्, तत्त्वशब्दार्थस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। तस्य भावो हि तत्त्वमुच्यते, प्रकृतं च तच्छब्दार्थः, नचात्र प्रकृतं किंचिदस्ति यत् तच्छब्देन परामृश्यते ॥२॥ अथ अनुभूत्या स्वसंबन्धिविषय आक्षेपाद् बुद्धिस्थः कार्यते, स तच्छब्देन परामृश्यते, वक्तृ-श्रोतृ-बुद्धिस्थतायामेव प्रकरणपदार्थविश्रामात्; तेन यस्यार्थस्य

(*अथ खण्डनयुक्त्यनुवादः*)

निर्वचनकर्ता— वे खण्डन-युक्तियाँ कैसी हैं ?

खण्डनकर्ता—वे युक्तियाँ कही जाती हैं—

श्रवण कीजिये—लक्ष्य की व्यवस्थिति (निश्चय) लक्षण के अधीन होती है। और ज्ञान, अधिकरण आदि के लक्षण के निरूपणद्वारा चक्रक आदि दोषों के होने से लक्षण-मात्र अनुपपन्न हैं। अर्थात् ज्ञात ही लक्षण लक्ष्य के व्यवहार तथा इतर से व्यावृत्ति रूप प्रयोजन को सिद्ध कर सकते हैं; अज्ञात नहीं। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है–कि ज्ञान क्या वस्तु है ? इस प्रश्न में ज्ञानत्व-युक्त ज्ञान है; ऐसा उत्तर होने पर, ज्ञानत्व ही क्या है ? इस प्रश्न में सुखादि में अवृत्ति, और आत्मा के विशेष गुण में वृत्ति जाति-विशेष ज्ञानत्व है, तथा जाति ही क्या है ? इस प्रश्न में अनुगत-प्रत्यय (एकाकारकज्ञान) का हेतु जाति है,—यह उत्तर है। यहाँ ज्ञान की सिद्धि होने पर जाति की सिद्धि और जाति की सिद्धि होने पर ज्ञानत्व की सिद्धि और ज्ञानत्व की सिद्धि होने पर ज्ञान की सिद्धि—इस रीति से चक्रक, तथा ज्ञान की सिद्धि होने पर ज्ञानत्व की सिद्धि तथा ज्ञानत्व की सिद्धि होने पर ज्ञान की सिद्धि इस रीति से अन्योन्याश्रय, तथा ज्ञान की सिद्धि होने पर ज्ञान की सिद्धि इस रीति से आत्माश्रय हो जायगा। किञ्च—लक्षण, लक्ष्यरूपी अधिकरण में ही ज्ञात होने पर व्यवहार का साधक है। यहां पर यह प्रश्न हो सकता है, कि अधिकरण क्या है ? इस प्रश्न का "इह" इत्याकारक-ज्ञान का विषय अधिकरण है। इस उत्तर के अनन्तर ज्ञान क्या है ? इस प्रश्न में ज्ञानत्व युक्त (ज्ञान) है। इस उत्तर के अनन्तर ज्ञानत्व क्या है ? इस प्रश्न में सुखादि में अवृत्ति तथा आत्म-वृत्ति-विशेषगुण-वृत्ति जाति-विशेष ज्ञानत्व है। इस उत्तर के अनन्तर आत्मा क्या है ? इस प्रश्न में ज्ञान का अधिकरण आत्मा है, इस रीति से एक लक्षण में दूसरे लक्षण की अपेक्षा होने से चक्रक आदि हो जायंगे ॥१॥

उन लक्षणों में प्रथम "तत्त्वानुभूतिः प्रमा" यह लक्षण तत्त्व-शब्द के अर्थ के निर्वचन (कथन) न होने से अयुक्त है। क्योंकि तत् के भाव को तत्त्व कहते हैं, और प्रकृत, तत्-शब्द का अर्थ है। और "तत्वानुभूतिःप्रमा" यह लक्षण न्यायाऽऽचार्य्य शिवादित्यमिश्रकृत लक्षण-मालाग्रन्थ का प्रथम लक्षण है। अतः यहां प्रकृत कोई है नहीं जो तत्-शब्द से परामृष्ट (कथित) हो ॥२॥

निर्वचनकर्ता—अनुभव (ज्ञान) नियम से सविषयक होता है, अतः अनुभव से विषय का आक्षेप होगा। और वह विषय तत्-शब्द से परामृष्ट (ज्ञात) होगा। वक्ता तथा श्रोता की बुद्धि का विषय ही प्रकरण पदका वाच्य है। अतः जिस अर्थ का जो भाव है, वही उसका तत्त्व है।

योभावः तत् तस्य तत्त्वमुच्यते इति,—न, अरजतादेरपि रजताद्यात्मनाऽनुभूतिविषयतासंभवादसत्याऽनुभूत्यव्यवच्छेदात् भवितुरतत्त्वशब्दार्थत्वप्रसङ्गेन धर्म्यंशे विशिष्टे च प्रमाया अप्रमात्वापातात् ॥३॥

अथोच्यते अन्वयवार्थचिन्तया दूषणाभिधानमिदं त्यज्यताम्, यतोऽयं तत्त्वशब्दः स्वरूपमात्रवचन इति, एतदप्ययुक्तम् । स्वरूपत्वस्य जातेरुपाधेर्वा स्वात्मनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेः स्वरूपशब्दार्थस्यैकस्यासम्भवेन प्रतिविषयव्यावृत्त्या लक्षणस्याव्यापकत्वापातात् ॥ ४ ॥

कथञ्च तत्त्वेति विपर्य्यासादेर्निरासः, तथा हि शुक्तौ यो रजतमिति प्रत्ययः सोपि स्वरूपबुद्धिर्भवत्येव, न हि धर्मी वा रजतत्वं वा न स्वरूपं, नापि तयोः प्रतिभासमानः सम्बन्धो न स्वरूपमिति युक्तम्; समवायो हि तयोः सम्बन्धः प्रतिभाति, सच स्वरूपमेव ॥ ५ ॥

सत्यम्, समवायः स्वरूपं स एव तु शुक्तिव्यक्तौ रजतत्वस्य नास्तीति चेत् । मैवम् । तत्र नास्तित्वेऽपि स्वरूपताया अव्यावृत्तेः, न हि गृहे देवदत्तो नास्तीति स्वरूपं न स्यात् ॥६॥

खण्डनकर्ता—शुक्ति में 'इदं रजतम्' इत्याकारक भ्रम भी रजतत्व रूप तत्त्व विषयक है, अतः वहाँ प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, तथा धर्म्मी तत्त्व नहीं है, अतः धर्मी-अंश में तथा विशिष्ट अंश में, प्रमा में भी प्रमा-लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ॥३॥

निर्वचनकर्ता—'तत्त्व' शब्द स्वरूप में रूढ़ है, अतः अवयवार्थ के अनुरोध से दोष देना अनुचित है, और रूढ़ि मानने पर धर्म्म, धर्म्मी, सम्बन्ध, सभी के स्वरूप-रूप होने से धर्म्मी तथा विशिष्टांश में अव्याप्ति नहीं है।

खण्डनकर्ता—स्वरूपत्व में स्वरूपत्व रहता है कि नहीं? यदि रहता है तो स्व में स्व के वृत्तित्व होने से आत्माश्रय दोष है। और यदि नहीं रहता है तो स्वरूपत्व—स्वरूपत्व से रहित होने से—स्वरूप न हुआ। क्योंकि स्वरूपत्व-विशिष्ट को ही स्वरूप कहते हैं। अतः स्वरूपत्व-प्रमा में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ॥४॥ किञ्च—

तत्त्व-विशेषण से 'इदं रजतम्' इस भ्रम में प्रमा-लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण कैसे होगा। देखिये, शुक्ति में जो रजतत्वबुद्धि है, वह भी स्वरूप की बुद्धि ही है, क्योंकि धर्म्मी तथा रजतत्व भी स्वरूप ही हैं; और उन दोनों का प्रतिभासमान सम्बन्ध (समवाय) भी स्वरूप ही है ॥ ५ ॥

निर्वचनकर्ता—रजतत्व-समवाय स्वरूप है सही, परन्तु रजत में, शुक्ति में नहीं; क्योंकि शुक्ति में रजतत्व का सम्बन्ध अविद्यमान है।

खण्डनकर्ता—शुक्ति में अविद्यमान होने पर भी रजतत्व का समवाय स्वरूप ही है। क्योंकि घर में अविद्यमान भी देवदत्त स्वरूप ही है। अर्थात् स्वरूपत्व में विद्यमानत्व हेतु (साधक) नहीं है। यदि विद्यमानत्व को साधक मानें तो गेह में अविद्यमान देवदत्त, स्वरूप नहीं कहावेगा ॥ ६ ॥

न स्वरूपमात्रं तत्त्वमुच्यते, किन्तु यद्देशकालसम्बन्धि यत्स्वरूपं प्रतीतं तस्य तद्देशकालसम्बन्धि स्वरूपं तत्त्वमुच्यत इति चेत्। मैवम्। देशकालसम्बन्धांशे प्रमाया अप्रमात्वापातात्। तयोः स्वरूपमेव तत्त्वशब्दार्थ इति चेन्न। तत्त्वपदस्यानेकार्थत्वे लक्षणाऽव्यापकत्वापत्तेः ॥ ७ ॥

अथैवं ब्रूपे, यद्यथाभूतं प्रतीयते तत्तथा परमार्थतो व्यवस्थितं तत्त्वमुच्यते। नैतदपि युक्तं, यद्यथाभूतं प्रतीयते तद्यदि प्रतीतिसमयमपहाय कालान्तरे तथाभूतं स्यात्तदाप्येवं तत्त्वं स्यादेवेति भाविपाकजरागः कुम्भः श्यामदशायामपि रक्तपित्तिना रक्ततयोपलभ्यमानस्तत्त्वं स्यादिति तद्बुद्धेः प्रमात्वापातः। यदा तदेति विशेषणप्रक्षेपेण च कालविशिष्टताप्रतीतेरप्रमात्वापातो न हि कालवैशिष्ट्येऽपि कालान्तरसम्बन्धः सम्भवी ॥८॥

निर्वचनकर्ता—केवल स्वरूप तत्त्व नहीं है; किन्तु जिस देश तथा काल से सम्बद्ध जो प्रतीत होता हो उस देश तथा काल से सम्बद्ध वह स्वरूप, तत्त्व है।

खण्डनकर्ता—देश तथा काल में देश तथा काल का सम्बन्ध नहीं रहता है, अतः देश तथा काल के स्वरूप के तत्त्व न होने से देश तथा काल की प्रमा में प्रमा-लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ॥

निर्वचनकर्ता—अन्यत्र देश तथा काल से सम्बद्ध स्वरूप ही तत्त्व है, तथापि देश तथा काल स्थल में केवल स्वरूप ही तत्त्व है।

खण्डनकर्ता—देश-स्वरूप, काल-स्वरूप, तथा देश-काल-सम्बद्ध-स्वरूप को प्रत्येक अथवा समुदित (सम्मिलित) रूप से तत्त्व-पद के वाच्य होने से लक्षण का अनुगम नहीं होगा, तथा प्रत्येक को वाच्य मानने पर समुदाय में और समुदाय को वाच्य मानने पर प्रत्येक में अव्याप्ति हो जायगी ॥ ७ ॥

निर्वचनकर्ता—जो स्वरूप जैसा (यद्धर्म-विशिष्ट) प्रतीत होता हो यदि उस धर्म से विशिष्ट हो, तब वह स्वरूप, तत्त्व कहा जाता है।

खण्डनकर्ता—प्रमाण से तद्धर्म के वैशिष्ट्य का ज्ञान होगा; और प्रमाण प्रमिति के कारण को कहते हैं, तब प्रमा की सिद्धि होने पर प्रमाण की सिद्धि, और प्रमाण की सिद्धि होने पर तद्धर्म्म के निश्चय-द्वारा प्रमा की सिद्धि—इस रीति से चक्रक आदि दोष हो जायेंगे।

किञ्च—जो स्वरूप यद्धर्म्म-विशिष्ट प्रतीत होता हो, यदि वह प्रतीति के काल से अन्य काल में भी तद्धर्म्म-विशिष्ट हो, तब भी वह तत्त्व ही है, अतः जो घट पाक-जन्य रक्त-रूप से युक्त होने वाला है, वह (अपक्व श्याम घट) रक्त-पित्त रोग से ग्रस्त मनुष्य से रक्तत्वेन ज्ञात भी तत्त्व हो जायगा, अतः श्यामता दशा में "रक्तो घटः" यह बुद्धि भी प्रमा हो जायगी ॥

निर्वचनकर्ता—जो यद्धर्म-विशिष्ट जिस काल में प्रतीत हो, वह उस काल में तद्धर्म्म-विशिष्ट यदि हो, तब तत्त्व है। अतः भावी रक्तता-स्थल में अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डनकर्ता—लक्षण में 'यदा' 'तदा' निवेश के करने पर काल-अंश में तथा काल के सम्बन्धांश में काल के सम्बन्ध के न होने से अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि काल-संम्बन्ध में कालसम्बन्ध नहीं है ॥ ८ ॥

अन्योपाध्यवच्छिन्नः सोऽन्योपाध्यवच्छिन्नेन सम्भन्त्स्यत इति चेत्, तर्हि दण्ड्यपि देवदत्तः कुण्डलिनं स्वमारोच्यत्येव । उपाधिभेदेऽप्युपधेयस्यैकत्वान्निवृत्तेर्नैवमिति चेत्, तुल्यम् ॥ ९ ॥

एतेन कारणं तत्त्वमित्यपि निरस्तम् । सर्वस्य तथात्वे प्रमित्यभावेनात्माश्रयेण च प्रतिक्षणविशिष्टविश्वावश्यकारणत्वोपगमदुरपवादार्थक्रियाकारित्वस्वरूपसत्त्वलक्षणाङ्गीकारिजैनचरणशरणप्रवेशविडम्बनापादिदोषग्रासेन चेति ॥१०॥

निर्वचनकर्ता—यद्यपि काल एक है, तथापि काल की उपाधि (सूर्य-क्रिया) के भेद होने से एक उपाधि से युक्त काल का अन्य उपाधि से युक्त काल के साथ सम्बन्ध होगा। जैसे संवत्सरावच्छिन्न काल का पक्षावच्छिन्न काल से, और पक्षावच्छिन्न काल का दिवसावच्छिन्न काल से सम्बन्ध होता है।

खण्डनकर्ता—एक उपाधि से विशिष्ट काल, अन्य उपाधि से विशिष्ट स्वात्मा (काल) से सम्बद्ध नहीं हो सकता है, वस्तु होने से; जैसे देवदत्त अपने से विशिष्ट नहीं होता है, अन्यथा दण्डी देवदत्त, कुण्डली-रूप स्व से आधाराधेय-भाव से सम्बद्ध हो जायगा।

निर्वचनकर्ता—दण्ड-कुण्डल आदि उपाधि के भेद होने पर भी देवदत्त के एक होने से सम्बद्ध नहीं होता है ॥

खण्डनकर्ता—यह बात काल-स्थल में भी तुल्य है। अर्थात् सूर्य-क्रियारूप उपाधि के भेद होने पर भी काल एक ही है ॥ ९ ॥

निर्वचनकर्ता—कारण को तत्त्व कहते हैं।

खण्डनकर्ता—स्व में स्व के वृत्तित्व के न होने से नियत-प्राक्क्षण-वृत्तित्व- रूप काल में कारणत्व नहीं है। अतः काल की प्रमा में अव्याप्ति हो जायगी।

निर्वचनकर्ता—अन्यत्र यद्यपि नियत-पूर्व-काल-वृत्तित्व ही कारणत्व है। तथापि काल में नियतपूर्वत्व ही कारणत्व है। अतः काल की प्रमा में अव्याप्ति नहीं।

खण्डनकर्ता—अन्त्य-कार्य तथा पारिमाण्डल्यादि के अकारण होने से, वस्तु-मात्र कारण हैं, इसमें प्रमाण के न होने से अन्त्य-कार्यादि-विषयक-प्रमा में अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च—कारणत्व से युक्त को कारण कहते हैं। और यदि कारणत्व में उसी कारणत्व को मानें तो आत्माश्रय; और यदि अन्य कारणत्व को मानें तो उस दूसरे कारणत्व में प्रथम कारणत्व को मानें तो अन्योन्याश्रय, और यदि तृतीय कारणत्व को मानें तो तृतीय में चतुर्थ, चतुर्थ में पञ्चम, एवं उत्तरोत्तर कारणत्व को मानने से अनवस्था है; और यदि किसी कारणत्व में कारणत्व को न मानें तो वह कारण न हुआ, अतः तत्कारणत्व-विषयक प्रमा में अव्याप्ति हो जायगी।

निर्वचनकर्ता—सभी भाव प्रतिक्षण परिणामी हैं, अतः पूर्व-क्षण-विशिष्ट-भाव उत्तर-क्षण-विशिष्ट-भाव का कारण है। अतः सब वस्तु के कारण होने से कहीं भी अव्याप्ति नहीं।

खण्डनकर्ता—क्षणिक विश्वमात्र को अवश्य कारण मानने पर कारणत्व ही सत्त्व (भाव) का लक्षण (स्वरूप) है, ऐसा माननेवाले बौद्ध-मत के स्वीकार करने से आप (नैयायिक) को अपसिद्धान्त हो जायगा ॥१०॥

किञ्च—अनुभूतित्व ही क्या वस्तु है? ज्ञानत्व की व्याप्य-जाति है? अथवा स्मृति से भिन्न ज्ञानत्व है? अथवा स्मृतित्वाभाववत् ज्ञानत्व है?

किंचेदमनुभूतित्वं नाम ? ज्ञानत्वावान्तरजातिभेदो वा ?–(१) स्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानत्वं वा ?–(२) स्मृतिलक्षणरहितज्ञानत्वं वा ?–(३) तदविदूरप्राक्कालोत्पत्तिनियतासाधारणकारणकबुद्धित्वं वा ?–(४) ॥११॥

न तावदाद्यः । तथाहि अनुभूतित्वं नाम जातिरेकाऽभ्युपगम्येति कुतः ?, अनुभवामीति प्रत्ययानुगमवशादिति चेन्न । माघमासीयनिशावसाने सितासितसरित्सम्भेदस्नायिनः सत्यपि शब्दबलाद् भाविस्वकीयस्वर्गसुखसम्प्रत्यये सुखमनुभवामीतिप्रतीत्यनुदयात्, प्रत्युत शीतसम्भूतवेदनासम्वेदनादेव; परस्त्रियश्च सम्भुञ्जानस्याऽऽस्तिककामुकस्य शब्दाधीने सत्यपि भाविनरकगमनानुभवनीययातनाधिगमे दुःखमनुभवामीति

यद्वा स्व से अव्यवहित जो पूर्व क्षण, उस क्षण में जो उत्पत्ति; उससे नियत (व्यापक) है असाधारणकारण जिसका, ऐसा बुद्धित्व है ? ॥११॥

इनमें प्रथम पक्ष-'ज्ञानत्व-व्याप्य-जाति-अनुभूतित्व है'—युक्त नहीं है, क्योंकि अनुभूतित्व-जाति में कोई प्रमाण नहीं है।

निर्वचनकर्ता—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्द, इन चार ज्ञानों में "अनुभवामि" इत्याकारक अनुगत प्रतीति होती है, वही अनुभूतित्व जाति में प्रमाण है।

खण्डनकर्ता—माघ-मास के प्रातःकाल में सिता (गङ्गा) असिता (यमुना) इन दो नदियों के सङ्गम में स्नानकर्ता पुरुष को "सिताऽसिते सरिते यत्रसङ्गते, तत्राऽऽप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति" इत्यादि श्रुति-शब्दों से भावि-स्वर्ग-सुख विषयक-शाब्द ज्ञान के होने पर भी उस ज्ञान में "स्वर्गसुखमनुभवामि" ऐसी प्रतीति नहीं होती है। प्रत्युत शीत-स्पर्श के त्वाच-प्रत्यक्ष से जन्य दुःख के अनुभव का "दुःखमनुभवामि" यह अनुव्यवसाय ही होता है। एवं परस्त्री के उपभोग काल में आस्तिक कामुक को "न परस्त्रियङ्गच्छेत्" इस आप्त-वाक्य से भावि दुःख के शाब्द-ज्ञान होने पर भी उस ज्ञान की "दुःखमनुभवामि" ऐसी प्रतीति नहीं होती है, किन्तु अमन्द (पूर्ण) सुख का अनुभव करता हूँ—ऐसी ही प्रतीति होती है। अतः प्रत्यक्षादि में अनुगत अनुभवत्व जाति में कुछ प्रमाण नहीं है।

निर्वचनकर्ता—"सिताऽसिते सरिते यत्र" इत्यादि श्रुतिवाक्य से सितासिता-स्नान में सुख-साधनता का ही शाब्द बोध होता है। साधनता में सुख विशेषण रूप से भासता है, अतः जैसे "पर्वतमनुभवामि" ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता है, एवं प्रकृतमें 'सुखमनुभवामि'–ऐसा अनुव्यवसाय भी नहीं होता है। किन्तु "सुखसाधनतामनुभवामि" ऐसा ही अनुव्यवसाय होता है। अतः प्रकृत स्थल में 'अनुभवामि' ऐसे ज्ञान के न होने पर भी अन्यत्र सब शाब्द-स्थल में "अनुभवामि" ऐसे ज्ञान के होने से अनुभूतित्व जाति में कोई बाधक नहीं है।

खण्डनकर्ता—उक्त श्रुति-वाक्य से 'यत्र यत्र सिताऽसिता-सम्भेद-स्नानं, तत्र तत्र भावि-सुखम्' ऐसी व्याप्ति के ज्ञान होने पर 'अहं स्वर्गी भविष्यामि, सिताऽसिता-सम्भेद-स्नायित्वात्, इन्द्रादिवत्–इत्यादि अनुमिति' के होने पर भी अनुभवामि ऐसी प्रतीति नहीं होती है। किन्तु स्नान-काल में "शीतदुःखमनुभवामि" ऐसा ही प्रत्यय होता है। "भावि-सुखं शाब्दयामि,

१ प्रत्यक्ष—अनुमिति—उपमिति—शाब्दबोध के असाधारण कारण सन्निकर्ष-व्याप्तिज्ञानादि, अपने कार्य से पूर्वक्षण में उत्पन्न होते हैं। और स्मृति का असाधारण कारण संस्कार अपने कार्य स्मृति के पूर्वक्षण में उत्पन्न नहीं होता है।

मतेरनुत्पत्तेः, प्रत्युतामन्दमानन्दं सम्विदन् साम्प्रतमस्मीति प्रत्ययात् । यदि तु शब्दोपदर्शितव्याप्तिजमनुमानमनुभव एव स्यात्, तर्हि सुखं दुःखं वाऽनुभवामीति तयोः प्रत्ययः स्यात् ॥१२॥

अथ मन्यसे साक्षात्कारमनुभवार्थमनुरुध्य तयोर्नैवमधिगमव्यवहारौ शब्दजानुमानापेक्षौ तु विमर्शकस्य स्यातामेव ताविति, तर्हि साक्षात्कारिणि ज्ञानेऽनुभवप्रत्ययव्यवहारौ साक्षात्त्वनिबन्धनाविति तत्रानुभवत्वजातिकल्पनायां न प्रयोजनप्रमाणे इत्यनुभूत्यर्थभेदाल्लक्षणाऽननुगमो दोषः ॥१३॥

अथ स्मृतिव्यावृत्तेन रूपेण यः प्रत्यक्षादिष्वनुभव इत्यनुगतावगमः स साक्षात्कारित्वादनुपपन्नः, ततश्च साक्षात्कार्य्यसाक्षात्कारिविशेषसाधारणमनुभूतित्वमन्यदेष्टव्यमित्युच्यते, तदपि न युक्तं, पदार्थान्तरव्यावृत्तेन रूपेण यस्तदितरेष्वनुगतप्रत्ययस्तद्व्यवहारो वा तत्र तदेव रूपं निमित्तं न तु जातिः काचित्तदनुरोधात्कल्प्यते, तथा सत्यनक्षपदार्थेभ्यो घटादिभ्यो व्यावृत्तेन रूपेण विभीतकादिषु साम्यावगमादक्षत्वादिजातिः कल्प्या प्रसज्येत ॥१४॥

अथवा अनुमिनोमि" ऐसा अनुव्यवसाय तो अवश्य होता है । यदि शाब्द-बोध अथवा अनुमिति भी अनुभव है तो "अनुभवामि" इत्याकारक-प्रत्यय अवश्य होना चाहिये, और होता नहीं है । अतः अनुमान करना चाहिये कि शाब्द तथा अनुमिति अनुभूति नहीं हैं ॥ १२ ॥

निर्वचनकर्ता—साक्षात्व-जाति को उक्तस्थल में अनुभव-शब्द का अर्थ मानते हैं । अतः शाब्द अथवा अनुमिति में अनुभवत्व-व्यवहार नहीं होता है । यदि विचार किया जाय तो प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति. शाब्द, ज्ञान में अनुभवत्व जाति के होने से शाब्द तथा अनुमिति में भी अनुभवत्व-व्यवहार होता ही है ॥

खण्डनकर्ता—यदि साक्षात्व को ज्ञान में अनुभव-शब्द के प्रयोग का कारण मानें तो प्रत्यक्ष में अनुभवत्व-जाति की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि अनुभवत्व-व्यवहार तो प्रत्यक्षत्व से ही सिद्ध हुआ, फिर प्रत्यक्ष में अनुभवत्व जाति रहती है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है । किञ्च—ऐसा मानने पर अनुभूति-शब्द के दो अर्थों के होने से अननुगम हो जायगा । तथा प्रत्येक को अर्थ मानने पर समुदाय में अथवा समुदाय को अर्थ मानने पर प्रत्येक में अव्याप्ति हो जायगी ॥ १३ ॥

निर्वचनकर्ता—प्रत्यक्षादि-चतुष्टय में "स्मृति-भिन्नं ज्ञानम्" इत्याकारक अनुगतप्रतीति साक्षात्व-जाति से नहीं हो सकती है, अतः उसके अनुरोध से प्रत्यक्षादि चतुष्टय में अनुभवत्वजाति मानी जाती है ।

खण्डनकर्ता—प्रत्यक्षादि-चतुष्टय में जो अनुगत "स्मृति-भिन्नम्" यह प्रतीति होती है, उसमें स्मृति-भिन्न-ज्ञानत्व ही निमित्त है, उसके अनुरोध से अनुभूतित्व-जाति की कल्पना उचित नहीं है । अन्यथा पासा एवं विभीतक तथा इन्द्रिय आदि में "अनक्ष पदार्थ-भिन्नम्" इत्याकारक अनुगत प्रतीति भी होती है, अतः उसके अनुरोध से अक्षत्व-जाति भी माननी पड़ेगी ॥ १४ ॥ किञ्च—स्मृतित्व, अनुभूतित्व को छोड़ कर स्मृति में है; और अनुभूतित्व, स्मृतित्वको त्याग कर प्रत्यक्षादि चार में है; और दोनों प्रत्यभिज्ञा में हैं, अतः सङ्कर-दोष के होने से भी अनुभूतित्व-जाति नहीं हो सकती है ।

इतोपि नानुभूतित्वं नाम स्मृतिव्यावृत्ता जातिः, तथा हि घटः स एवायमिति तावत्प्रत्यभिज्ञा जायते, सा किं स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम् ?—(१) एकमेव वा विज्ञानमंशे स्मृतिरंशे चानुभवः ?–(२) उत स्मृतिरेव ?–(३) आहोस्वित् अनुभव एव ?–(४) ॥१५॥

आद्ये य एष प्रत्यभिज्ञायां प्रागवस्थाविशिष्टादिदन्ताविशिष्टस्याभेदः प्रकाशते, स स्मृतावन्तर्भावयितुमशक्यः, अननुभूतचरत्वेन संस्कारानुपनेयत्वात् । अत एव न तृतीयोऽपि । नाप्यनुभवेऽन्तर्भावयितुमसौ शक्यः, प्रत्यभिज्ञानकालेऽनुभवेन प्रागवस्थाया असम्वेदनात्; सम्वेदने वाऽनुभव एवेति शेषपक्षेऽन्तर्भावः स्यात्, स चाग्रे दूषयिष्यते । अत एव न द्वितीयः । प्रागवस्थाविशिष्टाभिन्नत्वांशेऽनुभवस्वीकारश्चेत् प्रागवस्थावैशिष्ट्य-मप्यनुभवविषय एव निविष्टमिति चरमपक्षप्रवेशः ॥१६॥

अथ प्रागवस्थाविशिष्टादभिन्न इत्ययमर्थोऽप्यनेकांशस्तत्र प्रागवस्थाविशिष्ट इत्यत्रांशे स्मृतित्वमभिन्न इत्यत्रांशे चानुभवत्वमित्युच्यते । एवं तर्हि प्रागवस्थाविशिष्टः स इदन्ताविशिष्टोऽभिन्नश्चायमिति स्मृत्यनुभूतिभ्यामावेदितम्भवति, प्रागवस्थाविशिष्टा-

---

समर्थनकर्ता—प्रत्यभिज्ञा में अनुभूतित्व तथा स्मृतित्व दोनों हैं, इसमें प्रमाण के न होने से सङ्कर नहीं हैं, किन्तु अनुभूतित्व जाति ही है ।

खण्डनकर्ता—श्रवण कीजिये, "स एव अयं घटः" यह जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह क्या स्मृति, अनुभव, ज्ञान-द्वय है ? अथवा एक ही ज्ञान, एक अंश में स्मृति तथा एक अंश में अनुभव है ? अथवा स्मृति ही है ? अथवा अनुभव ही है ? ॥ १५ ॥

यदि प्रत्यभिज्ञा को स्मृति, अनुभव, उभय-रूप मानें तो प्रत्यभिज्ञा में प्रागवस्था-विशिष्ट से इदन्ता-विशिष्ट का जो अभेद भासता है, उसका अन्तर्भाव कहाँ होगा ? उसका स्मृति में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है । क्योंकि वह पूर्वकाल में अनुभूत नहीं है, अतः उस अंश का संस्कार नहीं है । अतएव "प्रत्यभिज्ञा स्मृति है" यह तृतीय पक्ष भी असङ्गत है । और अनुभव में भी अभेद के भान का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है । क्योंकि प्रत्यभिज्ञा काल में चक्षुः-सन्निकर्ष के न होने से प्रागवस्था अनुभव का विषय नहीं होती है । यदि प्रागवस्था को अनुभव का विषय मानें तो "प्रत्यभिज्ञा अनुभव ही है" इस चतुर्थ पक्ष में प्रवेश हो जायगा । और उस पक्ष का खण्डन आगे करेंगे । अतएव "प्रत्यभिज्ञा अंश में अनुभूति तथा अंश में स्मृति है"—यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है । क्योंकि प्रागवस्था-विशिष्ट के साथ इदन्ता विशिष्ट के अभेद को यदि अनुभव का विषय मानें तो, विशेषण में प्रविष्ट प्रागवस्था का वैशिष्ट्य भी अनुभव का ही विषय हो जायगा, अतः चरम (अन्तिम) पक्ष में अन्तर्भाव हो जायगा ॥ १६ ॥

निर्वचनकर्ता—"प्रागवस्था-विशिष्ट से अभिन्न यह है"—यह भी दो अंशों से युक्त है । उसमें "प्रागवस्था-विशिष्ट" यह अंश स्मृति है । और "अभेद, एवं इदन्ता-वैशिष्ट्य" ये दो अंश अनुभव हैं ।

खण्डनकर्ता—यदि ऐसा है तो "प्रागवस्था से विशिष्ट वह" इतना अर्थ स्मृति-अंश का विषय है । तथा "इदन्ता-विशिष्ट से अभिन्न" यह इतना अर्थ अनुभव-अंश का विषय है ।

श्रयतया त्वभेदः केनापि न प्रकाशित इति य एव प्रागवस्थाविशिष्टः स एवायमिति प्रत्यभिज्ञायाः शरीरं न स्यात् ॥१७॥

अथानुभवेन योऽसावनुभूयमानधर्म्याश्रयतयाऽभेदो बोधितः, स कोट्यन्तरमनालम्ब्य न पर्य्यवस्यतीति केनचित् खलु कस्यचिदभेदो भवति, ततः स्मृत्यंशोपनीतमेव सन्निधानात्कोट्यन्तरं प्रागवस्थाविशिष्टरूपमालम्बत इत्यभेदस्य प्रागवस्थाविशिष्टाश्रयतासिद्धिरिति ॥१८॥

तदेतत्तुच्छतरम्। कोट्यन्तरमालम्बत इति किं कोट्यन्तराश्रितो भवति ? उतकोट्यन्तराश्रिततया ज्ञायत इति ? नाद्यः, अभेदस्येदानीं प्रागवस्थाविशिष्टधर्म्याश्रयेणोत्पत्तौ पूर्वं प्रागवस्थाविशिष्टेदन्ताविशिष्टयोर्भेदः स्यात्। द्वितीये तु यदेव कोट्यन्तराश्रिततया इदन्तावच्छिन्नधर्म्यभेदस्य ज्ञानं तत्स्मृतौ नान्तर्भावयितुं शक्यं नाऽप्यनुभवांश इत्युक्त एव दोषः ॥१९॥

किञ्च यदा प्रत्यभिज्ञानं स इत्यंशे स्मृतिरयमित्यंशे चानुभव इत्येकं ज्ञानमभ्युपेयते, तदा धर्मिणमादायापि स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वारः। तथाहि–संस्कारेण तत्तामात्रं वापनीयेत ? तत्ताविशिष्टो वा धर्मी ? आद्ये स इति प्रत्यभिज्ञायाः शरीरं न स्यात्, तत्तायाः केवलायाः संस्कारेणोपनीतत्वात्। नापि द्वितीयः, तथासत्ययमित्यनुभवांशेऽ-

---

प्रागवस्था से विशिष्ट के साथ अभेद किसी अंश का विषय नहीं है। अतः जो प्रागवस्था से विशिष्ट है, वही इदन्ता-विशिष्ट है, यह प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप नहीं होगा ॥ १७ ॥

निर्वचनकर्ता—अनुभव-अंश का विषय जो अभेद है, वह अन्य कोटि (प्रतियोगी) के अवलम्बन के बिना अनुभव का विषय हो नहीं सकता। क्योंकि किसी से किसी का अभेद होता है। तब तो स्मृति-अंश का विषय प्रागवस्था-विशिष्ट ही को सन्निधान होने से प्रतियोगी-रूप से आलम्बन करेगा। इस रीति से अभेद प्रागवस्था-विशिष्ट प्रतियोगिक सिद्ध हुआ ॥ १८ ॥

खण्डनकर्ता—"कोट्यन्तर को आलम्बन करता है"—इस पंक्ति का क्या अर्थ है ? वह अभेद इदानीं (इस समय में) प्रागवस्था-विशिष्ट को प्रतियोगी-रूप से आश्रयण करता है—यह अर्थ है ? अथवा इदानीं प्रागवस्था-विशिष्ट उसके प्रतियोगित्व-रूप से ज्ञात होता है—यह अर्थ है ? यदि प्रथम पक्ष को मानें तो, अभेद यदि इदानीं प्रागवस्था-विशिष्ट-प्रतियोगितया उत्पन्न होता है, तो इससे पूर्व प्रागवस्था-विशिष्ट से इदन्ता-विशिष्ट का भेद सिद्ध होगा, और यदि द्वितीय पक्ष को मानें तो जो प्रागवस्था-विशिष्ट के साथ इदन्ता-विशिष्ट के अभेद का ज्ञान होता है, वह स्मृति में अथवा अनुभव में पूर्वोक्त प्रकार से अन्तर्भूत नहीं हो सकता है। अतः उक्त-दोष होगा ॥ १९ ॥

किञ्च—जब प्रत्यभिज्ञा "स"–इस अंश में स्मृति, तथा "अयम्"–इस अंश में अनुभव मानी जाती है, तब धर्मी का ग्रहण करके भी स्मृतित्व और अनुभवत्व का संकर होगा। देखिये, संस्कार से केवल तत्ता उपनीत होती है ? अथवा तत्ता-विशिष्ट धर्मी ? यदि तत्ता-मात्र उपनीत होता है, तो "स"–यह प्रत्यभिज्ञा का आकार नहीं होना चाहिये। क्योंकि केवल तत्ता ही संस्कार से उपनीत होती है। यदि तत्ता–विशिष्ट धर्मी संस्कार से उपनीत होता है, तो "अयम्"

पि धर्मिप्रकाशो वक्तव्य एव, अन्यथा इदन्तामात्रप्रकाशेऽयमिति तच्छरीरं न स्यात्; एवञ्च संस्कारस्य चेन्द्रियस्य च धर्मिप्रतीतिहेतोरुभयस्योपनिपाते किं विशेष्यांशे भिन्नाभ्यां ज्ञानाभ्यामुत्पत्तव्यम् ? उत कारणद्वयसम्भेदादभेदभाजा ज्ञानेन ? प्रथमे प्रत्यभिज्ञानस्यैकज्ञानव्यक्तिताभ्युपगमव्याघातः, भेदपक्षोक्तदूषणापातश्च। द्वितीये धर्म्यंशे प्रत्यभिज्ञायाः स्मृतित्वमप्यनुभवत्वमपीत्यनुभूतिस्मरणसङ्कर इति विषयव्यवस्थयाऽपि नियमो भग्नः ॥२०॥

अथोच्यते—मा भूद्विषयोपाधिभेदाद्व्यवस्थानम्, उपाध्यन्तरात्तु भविष्यति, तद्यथा संस्कारजत्वमादाय स्मृतित्वव्यवस्थितिः, इन्द्रियसन्निकर्षजत्वमादाय चानुभवत्वव्यवस्थानमिति विरोधपरिहारोऽस्तु। न, प्रमात्वसामान्यानङ्गीकारे प्रमारूपतायाः विषयव्यवस्थित्यैवोपगमेनोपाध्यन्तरोपन्यासेऽपि स्मृतित्वानुभूतित्वयोरेकस्मिन्नेव धर्मिण्यर्थे निवेशात्प्रमात्वाप्रमात्वयोरेकविषयतैव ॥२१॥

इस अनुभव-अंश में भी धर्म्मी का भान मानना ही पड़ेगा। अन्यथा इदन्ता-मात्र के प्रकाश होने पर "अयम्" यह प्रत्यभिज्ञा का आकार नहीं होगा। यदि धर्म्मी की प्रतीति का हेतु संस्कार तथा इन्द्रिय-सन्निकर्ष दोनों हैं, तब क्या विशेष्यांश में स्मृति, अनुभव, दो ज्ञान उत्पन्न होंगे ? अथ वा संस्कार तथा इन्द्रिय-सन्निकर्ष दोनों से एक ही ज्ञान उत्पन्न होगा ? प्रथम पक्ष में प्रत्यभिज्ञा एक ज्ञान है, इस कथन से व्याघात (विरोध) हो जायगा। तथा तत्ता-विशिष्ट के साथ इदन्ता-विशिष्ट का अभेद किस ज्ञान का विषय हो, इसमें प्रमाण के न होने से अभेद किसी का विषय नहीं होगा। तथा यदि द्वितीय-पक्ष मानें तो प्रत्यभिज्ञा में धर्म्मी-अंश में स्मृतित्व और अनुभवत्व दोनों हैं, अतः स्मृति और अनुभव में संकर के (अभेद) होने से तत्ता-इदन्ता-रूप विषय की व्यवस्था (भेद) से भी स्मृतित्व-अनुभवत्व के असङ्कर का नियम (व्यवस्था) भग्न ही है ॥ अर्थात् एक अधिकरण में समावेश-होने से संकर नहीं होता है, किन्तु एक अवच्छेद से समावेश के होने से सङ्कर होता है—यह भी आप नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उक्त-प्रकार से धर्म्मी रूप-एक ही अवच्छेद से समावेश है। अतः अनुभूतित्व-जाति नहीं है ॥२०॥

निर्वचनकर्ता—प्रत्यभिज्ञा में स्मृतित्व तथा अनुभवत्व की व्यवस्था विषय के भेदरूप हेतु से न हो, अन्य-उपाधि (निमित्त) से होगी। अर्थात् संस्कारजत्व—अवच्छेद से स्मृतित्व की तथा इन्द्रिय-सन्निकर्षजत्व-अवच्छेद से अनुभवत्व की व्यवस्था होगी। इस रीति से स्मृतित्व तथा अनुभवत्व का सङ्कर नहीं होगा, अर्थात् एक अवच्छेद से एक अधिकरण में स्थिति के होने से सङ्कर होता है। यहाँ यद्यपि दोनों एक ही अधिकरण में हैं, परन्तु अवच्छेदक भेद से हैं, अतः संकर नहीं होगा।

खण्डनकर्ता—आप प्रत्यक्षत्व के साथ सङ्कर होने से प्रमात्व को जाति रूप नहीं मानते हैं। किन्तु तत्त्वानुभूतित्वादि-रूप ही मानते हैं। अतः यदि संस्कारजत्व, इन्द्रियजत्व आदि उपाधि को स्मृतित्व और अनुभवत्व का अवच्छेदक मानें तो प्रत्यभिज्ञा में एक ही धर्म्मी-अंश में स्मृतित्व-अनुभूतित्व दोनों के सन्निवेश-होने से प्रमात्व-अप्रमात्व का भी प्रत्यभिज्ञा में एक ही धर्म्मी-अंश में सन्निवेश हो जायगा। क्योंकि अनुभव प्रमा है। तथा स्मृति अप्रमा है ॥ २१ ॥

किञ्च ज्ञानविकल्पानामध्यात्मं भावाभावसम्वेदनात् स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्द्वयोरपि प्रत्यभिज्ञायां स्वतः प्रतिभानेन विषयनिरूपणाव्यवस्थित्यनङ्गीकारे स्मृतित्वादेरिदन्तायामपि स्मृत्यवगमप्रसङ्गात् । यदि च संस्कारजत्वमेव स्मृतित्वं, तदा तस्यैव विरोधेऽभिधीयमाने स एव विरोधसामञ्जस्यायोपाधिरुपन्यस्यत इति नान्यस्य चेतसि निविशते । अथान्यत्स्मृतित्वन्नाम, तदाऽप्यनुपपत्तिः, तथा हि—संस्कारजत्वं संस्कारादनन्तरं नियमेन भावः, नियतत्वञ्च नानाव्यक्तिगतमेकं रूपं सङ्ग्राहकमक्रोडीकृत्यासम्भवत्तीति स्मृतित्वेनैव संस्कारजत्वं वक्तव्यम्, तथा च संस्कारजत्वव्यवस्थितौ स्मृतित्वमुपाधिः; स्मृतित्वव्यवस्थितौ च संस्कारजत्वमित्यन्योन्याश्रयः, तस्मात् स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वार एव ॥२२॥

अपि च स्मृत्यनुभवयोर्ये कारणसामग्र्यौ ते प्रत्यभिज्ञायां मन्तव्ये न वा, न चेत् कथमंशतोऽपि स्मृतित्वमनुभवत्वञ्च प्रत्यभिज्ञानस्य, एवमेव तथात्वेऽतिप्रसङ्गात् स्मृत्यनुभूत्योः स एव सङ्करः । प्रथमे तु पृथगेव कार्य्योत्पत्तिप्रसङ्गः, प्रत्येकं स्वस्वकार्ये समर्थत्वात्, सामग्रीभेदस्य कार्य्यभेदहेतुत्वेनावधारितत्वात् ॥२३॥

अथ यत्र ते पृथक् जायेते तत्र पृथगेव कार्य्यम्, प्रत्यभिज्ञायान्तु तयोर्युगपज्जातत्त्वेन सम्भूय जननात्करम्बितकार्य्योत्पत्तिः । यद्यपि घटपटादिसामग्र्योर्नैवं दृश्यते, तथापि

किञ्च—ज्ञान-भेदों के भाव (अनुभूतित्वादि-धर्म्म) और उनके अभाव, दोनों को ही मानस-प्रत्यक्ष के विषय होने से यदि स्मृतित्वादि की व्यवस्था को विषय के अधीन न मानें, तो इदन्ता-अंश में भी स्मृतित्व का और तत्ता-अंश में भी अनुभवत्व का भान हो जायगा, किञ्च—प्रत्यभिज्ञा के संस्कारजत्व-अंश में स्मृतित्व, तथा इन्द्रियजत्व-अंश में अनुभवत्व, दोनों धर्म्म रहते हैं, यह कथन उचित भी नहीं है। क्यों कि संस्कारजत्व ही स्मृतित्व है, अतः "संस्कारजत्व-अंश में स्मृतित्व है"—इस वाक्य का स्मृतित्व-अंश में स्मृतित्व है—यही अर्थ हुआ। वह आत्माश्रय के होने से अनुचित है।

निर्वचनकर्ता—स्मृतित्व जाति है ? अथवा तत्तोल्लेखि ज्ञानत्व है ? अतः आत्माश्रय नहीं।

खण्डनकर्ता—संस्कारजत्व, संस्कार के अव्यवहित उत्तर काल में वृत्तित्व ही है। वह कार्य्यतावच्छेदक-धर्म्म के स्वीकार के विना अनेक व्यक्ति में रह नहीं सकता है। अतः स्मृतित्व ही को कार्य्यत्व का अवच्छेदक मानना पड़ेगा। तब तो स्मृतित्वावच्छेद से संस्कारजत्व और संस्कारजत्वावच्छेद से स्मृतित्व को मानने में अन्योन्याश्रय हो जायगा ॥ २२ ॥

अपिच—स्मृति और अनुभव के जो कारण-समूह हैं, वह (कारण-समूह) प्रत्यभिज्ञा में है अथवा नहीं ? यदि नहीं है तो अंश में भी प्रत्यभिज्ञा स्मृति तथा अनुभव कैसे होगी। यदि संस्कारजत्व के विना ही स्मृतित्व को मानें तो स्मृति में अनुभूतित्व और अनुभूति में स्मृतित्व के प्रसंग के होने से प्रत्यभिज्ञा में सम्पूर्ण-अंश में स्मृतित्व तथा अनुभवत्व हो जायँगे। और यदि दोनों की सामग्री है तो अलग अलग कार्य होंगे। क्योंकि अपने अपने कार्य्य में ही सामग्री समर्थ है। अन्यथा सामग्री-भेद से कार्य्य-भेद का अवधारण (निश्चय) नहीं होगा ॥२३॥

समर्थनकर्ता—जिस स्थल में पृथक्-पृथक् सामग्री रहती है, वहाँ पृथक्-पृथक् कार्य्य होते हैं। और प्रत्यभिज्ञा में दोनों सामग्री मिल-कर कार्य्य का जनन करती हैं। अतः चित्र-

तद्विलक्षणस्वभावत्वादनयोरीदृशत्वमुपपद्यते; न हि एकस्य यादृक् पदार्थस्य स्वभावस्तादृगन्यस्यापि सर्व्वस्य भवति, जगद्वैचित्र्यभङ्गप्रसङ्गादिति ॥२४॥

नैतदस्ति यत्र हि मिलितत्वं तयोस्तत्र किं परस्परसहकारित्वमनयोरेष्टव्यं न वा ? न चेत्, परस्परमेलकलक्षणो विशेषोऽनुपयोगी, कार्य्यजननं प्रति मिथः सहकारिभावविरहेणाप्रयोजकत्वात्, ततश्चाविशेषात् पृथगेव कार्य्यं प्रसज्येत। अथ परस्परसहकारित्वं तयोरिष्यते, तदा अनुभवांशेऽपि संस्कारस्य व्यापारः स्मरणांशेऽप्यक्षस्येति नियामकत्वाभिमतयोस्तयोरुभयांशे साधारण्यात् स्मृत्यंशेप्यनुभूतिरनुभूत्यंशेऽपि स्मरणमिति वज्रलेपायितं प्रत्यभिज्ञायामनुभूतिस्मृतिसङ्करेणेति ॥२५॥

[1]नाऽप्यनुभव एवेति पक्षः, तथा सति तत्तावच्छिन्नस्याभेदाश्रयतायां न संस्कारो नेन्द्रियसन्निकर्षश्चेति तदविषयत्वापातः ॥ २६ ॥

नच संस्कारद्वारा प्रत्यासत्त्या सम्बद्धविशेषणतया तद्ग्रहः, क्वचित् सोऽयं न वेति तर्हि संशयो न स्यात्। दोषवशात्तत्र तत्प्रकाशो न सम्बद्धविशेषणत्वादितिचेन्न। विनाऽपि संस्कारं दोषवशात्तदापत्तेः। वस्तुप्रकाशिनि च दोषत्ववाचोयुक्त्यनिरुक्तेः। क्वापि

कार्य्य उत्पन्न होगा। यद्यपि घट-पटादि सामग्री मिल कर करम्बित (चित्र) कार्य्य उत्पन्न नहीं करती हैं, तथापि अनुभव तथा स्मृति की सामग्री में विलक्षण स्वभाव है, अतः वे मिलकर चित्र कार्य्य कर सकती हैं। क्योंकि एक वस्तु का जैसा स्वभाव है, वैसा ही अन्य पदार्थों का स्वभाव नहीं होता है। अन्यथा जगत् की विचित्रता नहीं होगी ॥२४॥

खण्डनकर्ता—जहाँ स्मृति तथा अनुभव दोनों की सामग्री मिलती हैं, वहाँ इन दोनों में परस्पर सहकारित्व है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं है तो चित्र कार्य्य की उत्पत्ति में सामग्री-सम्मेलन रूप विशेष, अनुपयोगी है। क्योंकि परस्पर सहकार के न होने से सम्मेलन अप्रयोजक है। तब तो अप्रयोजक-होने से अलग अलग कार्य्य की आपत्ति होगी। और यदि परस्पर दोनों सामग्री में सहकार इष्ट है, तब तो प्रत्यभिज्ञा के अनुभवांश में संस्कार का और स्मरणांश में इन्द्रिय का व्यापार है, अतः दोनों सामग्री-रूप-नियामक के उभयांश-साधारण-होने से स्मृति-अंश में अनुभवत्व तथा अनुभव-अंश में स्मृतित्व है, अतः प्रत्यभिज्ञा में स्मृतित्व और अनुभवत्व दोनों का सङ्कर वज्र-लेप सा स्थिर हो गया ॥ २५ ॥

(अथ प्रत्यभिज्ञा—अनुभवत्व—खण्डन)

"प्रत्यभिज्ञा अनुभव है"—यह चरम पक्ष भी उचित नहीं है। क्यों कि प्रत्यभिज्ञा को अनुभव मानने पर तत्ता-अवच्छिन्न के अभेद में न संस्कार ही है; न इन्द्रिय का सन्निकर्ष ही है; अतः अभेद प्रत्यभिज्ञा का विषय नहीं होगा ॥ २६ ॥

समर्थनकर्त्ता—चक्षु से ही संयुक्त-संयुक्त-समवेत-विशेषण-विशेषणता-रूप सन्निकर्ष-द्वारा इदन्ता से उपरक्त अभेद भी भासेगा। देखिये, इन्द्रिय-संयुक्त मन है, तथा मन से संयुक्त आत्मा है, और आत्मा में समवेत (रहने वाला) संस्कार है, और संस्कार में विशेषण घट है, तथा घट में विशेषण तत्ता-विशिष्ट अभेद है, इस प्रकार से उक्त सन्निकर्ष से अभेद को अनुभव के विषय-होने में कोई क्षति नहीं है।

1 नैय्यायिकमतनिरासः।

तस्यावस्तुप्रकाशित्वाद्दोषश्चेत्, कथमत्तादेरपि तन्न स्यात् । विशिष्टत्वेन तथात्वस्य प्रकृतेप्यपरिहारात्, न हि विनैव कुतोऽपिविशेषादस्यावस्तुप्रकाशिता । सत्यप्यर्थे दोषादवस्तुन एव प्रकाशे संशयात्प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यादेरसम्भवापत्तेः ॥ २७ ॥

वस्तुविषयत्वेपि दोषादनिश्चयतेति चेन्न । वस्तुतस्तस्यासङ्कीर्णत्वात्तस्य प्रकाशे तदेव संशयैककोटौ प्रकाशितमिति कुत्र तदनिश्चयता । निश्चयार्थस्य च संशयकोटावस्व-

---

खण्डनकर्ता—उक्त सन्निकर्ष को यदि प्रत्यक्ष रूप निश्चय का कारण माना जाय तो कहीं भी "सोऽयन्न वा" यह प्रत्यभिज्ञा रूप सन्देह नहीं होगा। क्योंकि सन्निकर्ष से सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा रूप निश्चय ही होगा।

(अथ दोष-लक्षण-खण्डनानुवाद)

समर्थनकर्ता—प्रकृतस्थल में यद्यपि उक्त सन्निकर्ष है; तथापि दोष के होने से सन्देह रूप (ज्ञान) प्रकाश ही होता है।

खण्डनकर्ता—जहाँ संस्कार (भावना) तथा उक्त सन्निकर्ष नहीं है, वहाँ भी दोष से प्रत्यभिज्ञा रूप सन्देह होना चाहिये।

समर्थनकर्ता—जहाँ दोष तथा संस्कार और सन्निकर्ष तीनों हैं, वहां तो उक्त प्रत्यभिज्ञारूप सन्देह होता है। और जहाँ दोष नहीं है. सन्निकर्ष और संस्कार ही हैं, वहाँ निश्चय-रूप प्रत्यभिज्ञा ही होती है।

खण्डनकर्ता—वस्तु के अप्रकाशक को दोष कहते हैं। और सन्देह-स्थल में वस्तु का प्रकाश होता है। फिर दोष-लक्षण का समन्वय वहाँ कैसे हो सकता है।

समर्थनकर्ता—कहीं-कहीं ("इदं रजतम्" इस भ्रम में अथवा सन्देह की ही अन्य कोटि में) अवस्तु के प्रकाशक होने से, दोष-लक्षण का समन्वय होगा।

खण्डनकर्ता—कहीं-कहीं अवस्तु के प्रकाशक होने से यदि दोषत्व हो तो "इदं रजतम्" इस भ्रम स्थल में इन्द्रिय भी अवस्तु के प्रकाशक होने से दोष हो जायगा।

समर्थनकर्ता—शुक्ति में "इदं रजतम्" इस भ्रम में दोष-विशिष्ट इन्द्रिय कारण है। अतः "नागृहीत-विशेषणा बुद्धिः विशेष्यमुपसंक्रामति" इस न्याय से विशेषण ही दोष है अक्ष (इन्द्रिय)दोषनहीं हैं।

खण्डनकर्ता—इसी रीति से अक्ष-(चक्षुरादि) विशिष्ट दोष को सन्देह वा भ्रम का कारण मान कर "नागृहीतविशेषणा" – इस न्याय से अक्ष ही दोष क्यों न हो। क्योंकि दोष भी किसी विशेष (इन्द्रियादि) के विना अवस्तु का प्रकाश नहीं करता है।

समर्थनकर्ता—सन्देह अथवा भ्रम-स्थल में वस्तु है, परन्तु दोष के होने से वस्तु भासता नहीं है, अवस्तु ही भासता है।

खण्डनकर्ता—यदि सन्देह में वस्तु नहीं भासता है, तो वस्तु के सन्देह से बुद्धिमान् की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये ॥२७॥

समर्थनकर्ता—प्रवृत्ति के अनुरोध से वस्तु अवश्य सन्देह का विषय होता है, परन्तु जो सन्देह में अनिश्चयाकारत्व है, उसमें दोष ही कारण है।

खण्डनकर्ता—धर्मी संकीर्ण (स्थाणु-पुरुष उभयाकार) नहीं है, किन्तु एक रूप ही है यदि वही सन्देह में भासता है, तो सन्देह अनिश्चय रूप कहाँ है, जिसका कारण दोष है।

ण्डने संशये तद्भावाधिकग्राहित्वेऽपि निश्चयत्वस्याप्रत्यूहत्वादेवाभावनिश्चयः कोट्यन्तरं केवलमधिकं स्यात् ॥ २८ ॥

जातिः संशयत्वम्, तत्प्रयोजकश्च दोषःइति चेन्न। 'इदं तद्वा न वा'-इति संशयकोट्यर्थनिर्देशसमन्वयेन वा-शब्दप्रतीतिव्यवहारयोरभावापत्तेः। प्रतीत्या सह वाकारार्थसम्बन्धे 'प्रत्येमि न वेति' तदापत्तेः। वा-कारार्थस्य प्रतीतिगतत्वेऽपि निश्चयत्ववत्, स्थाणुमानय पुरुषं वेति स्थाणुपुरुषगतपाक्षिकव्यवहारानापत्तेः। तस्माद्वाकारार्थस्य ज्ञानधर्मत्वे साक्षात्कारित्वादिवद्विषयानन्वयापत्तिरेवेति ॥ २९ ॥

न च प्रत्यासत्तौ सत्यामपि प्रत्यासत्त्यपुरस्कारान्मनसा न ग्रहणं तत्र दोषवशादित्यस्तु। दोषे सत्यपि वस्तुनः संस्कारेण, संस्कारस्य चाऽऽत्मना, तस्य च वा-

---

समर्थनकर्ता—यदि पुरुष रूप धर्म्मी में केवल पुरुषत्व का ही उल्लेख (भान) होता, तो अवश्य सन्देह को निश्चय कहते, परंतु यहाँ तो स्थाणुत्व अथवा पुरुषत्वाभाव का भी उल्लेख होता है, अतः निश्चयरूप नहीं, किन्तु अनिश्चय रूप ही है, और उसका कारण दोष है।

खण्डनकर्ता—निश्चय के विषय पुरुषत्व-विशिष्ट पुरुषका बाधक प्रतीति से खण्डन तो हुआ नहीं है, अतः उस अंश में सन्देह भी निश्चय-रूप ही है। जो सन्देह में अभाव-कोटि अधिक भासती है, उस अंश में भी विपर्य्य-रूप निश्चय ही है। किसी अंश में अनिश्चय रूप नहीं है, फिर दोष किसका कारण है ॥२८॥

समर्थनकर्ता—विरुद्ध-उभय-कोटिक सन्देह निश्चय होने पर भी एक-कोटिक निश्चय से विलक्षण है, यह तो आप अवश्य मानेंगे; हम उसी वैलक्षण्य को सन्देहत्व-जाति कहते हैं। और उसका प्रयोजक दोष है।

खण्डनकर्ता—"स्थाणुः पुरुषो वा" इस स्थल में सन्देह-कोटि के वाचक स्थाणु और पुरुष शब्द के सामानाधिकरण्य रूप से 'वा' शब्द की प्रतीति (श्रावण प्रत्यक्ष) अथवा व्यवहार देखा जाता है, अतः 'वा' शब्द के अर्थ अव्यवस्थितत्व का अन्वय भी उन्हीं दो कोटियों में होता है, और इसी विषय की अव्यवस्था कृत निश्चय से सन्देह में वैलक्षण्य है, सन्देहत्व-जाति कृत नहीं।

समर्थनकर्ता—प्रतीति-गत अव्यवस्थिति, वा-शब्द का अर्थ है; विषय-गत अव्यवस्थिति अर्थ नहीं है, और प्रतीति-गत अव्यवस्थिति को सन्देहत्व-जाति कहते हैं।

खण्डनकर्ता—यदि प्रतीति-गत अव्यवस्थिति वा-शब्द का अर्थ होता तो "प्रत्येमि नवा"—यह आकार होता, "स्थाणुर्नवा"— यह आकार नहीं होता। किञ्च—'वा' का अर्थ अव्यवस्थितत्व को यदि प्रतीति का धर्म मानोगे, तो साक्षात्व और प्रमात्व के तुल्य विषय के साथ 'वा'—शब्दार्थ का अन्वय नहीं होगा ॥ २९ ॥

समर्थनकर्ता—उक्त प्रत्यासत्ति है सही, परन्तु दोष से उसकी तिरस्कृति के होने से निश्चय रूप प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है, किन्तु "इदं तद् वा न वा" इत्याकारक सन्देह-रूप प्रत्यभिज्ञा ही होती है।

खण्डनकर्ता—सन्देह-रूप प्रत्यभिज्ञा भी दोषके होने पर, वस्तु से संस्कार, संस्कार से आत्मा, आत्मा से मन, मन से चक्षु को प्रत्यासत्ति होने पर ही होती है; फिर प्रत्यासत्ति का अपुरस्कार क्या हुआ। यदि प्रत्यासत्ति की अपेक्षा न कर सन्देह रूप प्रत्यभिज्ञा होती

ह्येन्द्रियेण, प्रत्यासत्त्यपेक्षण एव तदर्थप्रकाशादिनियमोपपत्तेः कः पुनः प्रत्यासत्त्यपुरस्कारस्त्वन्मते स्यात् । यदि तु संस्कारप्रत्यासत्तिमनपेक्ष्य तथा सन्दिह्यते, तदा अननुभूय प्रस्मृत्य वा तथा सन्दिह्येत ॥ ३० ॥

वस्तुतस्तु मनसा संस्काराग्राहिणा, चक्षुरादिना चात्माऽग्राहिणा, तादृशप्रत्यासत्त्या ग्रहणानुपपत्तेः, नियमेन तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकप्रतियोगिकेतरस्य ग्रहणे स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणतायाः प्रत्यासत्तित्वनियमात् । अन्यथाऽऽप्यपरमाणवादौ पृथिवीत्वादेरन्यत्र ग्राह्यतया निरस्तस्वरूपायोग्यत्वस्याभावो दृगादिभिर्गृह्येत । नहीन्द्रियविहार-

---

है—ऐसा माना जाय तो, तत्ता-विशिष्ट के पूर्व-काल में अनुभव के न होने पर भी तथा इदानीं तत्ता-विशिष्ट के स्मरण के होने पर भी सन्देह-रूप प्रत्यभिज्ञा होती है—यह भी मानना चाहिये । क्योंकि जब निर्युक्तिक मानना है, तो ऐसा भी क्यों न माना जाय ? ॥ ३० ॥

(इति दोषखण्डन)

(अथ तत्तांश में संनिकर्षखण्डन;)

वस्तुतः संस्कार को अग्रहण करने वाले मन-से तथा आत्मा को अग्रहण करने वाले चक्षु से उक्त प्रत्यासत्ति-द्वारा तत्ता-विशिष्ट से इदन्ता-विशिष्ट के अभेद का ग्रहण हो नहीं सकता है । क्योंकि जलीय परमाणु में ग्रहण के स्वरूप-योग्य पृथिवीत्व का अभाव, चक्षु से गृहीत न हो, इसलिये उस उस इन्द्रिय से सम्बद्ध विशेषणता-रूप प्रत्यासत्ति उस उस इन्द्रिय से जन्य ज्ञान के विषय-पदार्थ से घटित ही होती है, अग्राह्य-पदार्थ से घटित नहीं होती है, ऐसा नियम है ।

समर्थनकर्ता—पृथिवीत्वाभाव के साथ संवद्ध-विशेषणता भी नहीं है, क्योंकि जलीय परमाणु के साथ चक्षुः सन्निकर्ष नहीं है । अतः जल परमाणु में पृथिवीत्वाभाव का ग्रहण नहीं होता है, अतः सम्बद्ध विशेषणता ग्राह्य-पदार्थ-घटित ही होती है, इस नियम को मानना उचित नहीं है ।

खण्डनकर्ता—इन्द्रिय-प्रचार-स्थल में सर्वत्र ही चतुर्विध परमाणु व्याप्त हैं अतः जलीय परमाणु के साथ चक्षुः-सन्निकर्ष नहीं है, यह कथन उचित नहीं है ।

समर्थनकर्ता—यह नियम नहीं है कि उस उस इन्द्रिय की सम्बद्ध-विशेषणता स्वग्राह्य-पदार्थ से घटित ही होती है । क्योंकि घ्राण तथा रसना इन्द्रिय से गन्धाभाव तथा रसाभाव का घ्राण अथ वा रसना से अग्राह्य पुष्प एवं गुड़ से घटित घ्राण-संयुक्त-पुष्प-विशेषणता अथ वा रसना-संयुक्त-गुड़-विशेषणता से भी ग्रहण होता है ।

खण्डनकर्ता—उन २ 'गन्धादि' के ग्राहक इन्द्रियों से अग्राह्य हैं आश्रय जिनके ऐसे पदार्थ (गन्धादि) प्रतियोगी हैं जिन अभावों के उनसे इतर पदार्थों का जहां ग्रहण होता है, उस स्थल के लिये यह नियम है । गन्धाद्यभाव के ग्रहण के लिये यह नियम नहीं है । शब्दाभाव के प्रत्यक्ष को मानने वाले नैयायिक के मत में श्रोत्रेन्द्रिय-विशेषणता सप्तम सन्निकर्ष है, सम्बद्ध-विशेषणता नहीं है, अर्थात् स्वग्राहक इन्द्रियों से अग्राह्य हैं आश्रय जिन के एवम्भूत पदार्थ हैं प्रतियोगी जिन अभावों के उनसे इतर स्थल में यह विशेषण न भी दें, तथापि शब्दाभाव प्रत्यक्ष में व्यभिचार नहीं होगा । क्योंकि स्वग्राह्य-

देशेषु निष्परमाणुकत्वनियमो युक्ताभ्युपगमः । शब्दाभावप्रत्यक्षत्ववादिनये श्रोत्रेन्द्रिय-विशेषणता सप्तमः सन्निकर्षो न तु तत्र सम्बद्धविशेषणतेत्यतोऽपि न व्यभिचारः ॥३१॥

न चात्मसंयुक्तमनः प्रति पूर्व्वानुभूतार्थाऽऽत्मप्रत्यासत्तिरेव संस्कार इति तदतीन्द्रियत्वं न दोषाय, प्रत्यासत्तेरतीन्द्रियाया इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्योपगमादिति स्वीकृते निस्तारः । तथा सति स इत्यंशे चक्षुरादेः प्रत्यासत्त्यभावात्प्रत्यभिज्ञाया अचाक्षुषत्त्वापातात् । अयमित्यंशो दृगादिना, तदंशस्तु मनसा गृह्यताम्, तदेतदभेदस्तु केनेत्युक्तमप्यावर्तत इति ॥ ३२ ॥

एतेन संस्कारः सहकारिमात्रमिन्द्रियस्यातिप्रसङ्गनिवारकः, प्रत्यभिज्ञायां तदर्थ इन्द्रियेणासन्निकृष्ट एवोल्लिख्यते विभ्रमार्थवत्, सन्निकृष्टग्राहिता चेन्द्रियस्य सन्निकर्षसहकार्य्यवश्यम्भावमात्रं, तच्चेदमंशसन्निकर्षादेव स्यात्, नतु सर्वग्राह्यसन्निकर्षसहकारितेत्यपि निरस्तम् । सोयं न वेति संशयाभावापातेनैवेति । तदग्राह्यमित्यादिस्मृतिरपि चैवमनुभव

पदार्थ से घटित हो विशेषणता प्रत्यासत्ति है, यह नियम सम्बद्ध विशेषणता रूप षष्ठ सन्निकर्ष के लिये है। सप्तम शुद्ध विशेषणता (जो शब्दाभाव के प्रत्यक्ष में है) के लिये नहीं है ॥ ३१ ॥

समर्थनकर्ता—"स एवाऽहम्" इस प्रत्यभिज्ञा में संस्कार ही आत्म-संयुक्त मन की पूर्व अनुभूत आत्मा में प्रत्यासत्ति है। तथा "स एवाऽयम्" इस प्रत्यभिज्ञा में भी संस्कार ही पूर्व अनुभूत घटकी प्रत्यासत्ति है, संस्कार रूप प्रत्यासत्ति का अतीन्द्रियत्व दोष नहीं है। क्योंकि घट-प्रत्यक्ष-स्थल में भी चक्षुःसंयोग रूप प्रत्यासत्ति अतीन्द्रिय है अतः प्रत्यासत्ति अतीन्द्रिय भी मानी जाती है।

खण्डनकर्ता—ऐसा होने पर "स" इस अंश में प्रत्यभिज्ञा चाक्षुष नहीं सिद्ध होगी।

समर्थनकर्ता—प्रत्यभिज्ञा "स" इस अंश में मानस, तथा "अयम्" इस अंश में चाक्षुष ही है—ऐसा ही मानो, क्या हानि है ?

खण्डनकर्ता—तत्ता-विशिष्ट से इदन्ता-विशिष्ट के अभेद में न संस्कार ही है, न सन्निकर्ष ही है। अतः अभेदांऽश का न चाक्षुष प्रत्यक्ष होगा, न मानस प्रत्यक्ष होगा—यह पूर्वोक्त दोष हो जायगा ॥३२॥

समर्थनकर्ता—प्रत्यक्ष में यावत् विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष कारण नहीं है, किन्तु कहीं २ यत् किञ्चित् विषय के साथ सन्निकर्ष भी कारण है, प्रकृत में 'इदम्' अंश के साथ चक्षुः-सन्निकर्ष है, अतः तत्तांश, अभेद, इदमंश, सब प्रत्यक्ष में भासते हैं, असन्निकृष्ट अंश के भान में संस्कार सहकारी है, अतः संस्कार के अविषय असन्निकृष्ट का भान नहीं होता है।

खण्डनकर्ता—अभेद-अंश में न सन्निकर्ष है, न अतिप्रसङ्ग-कारक संस्कार ही है, अतः अभेद का भान प्रत्यभिज्ञा में नहीं होगा। किञ्च—सर्वत्र निश्चय-रूप प्रत्यभिज्ञा की सामग्री के होने से निश्चय रूप प्रत्यभिज्ञा ही होगी "सोऽयमथवा"—यह सन्देह रूप प्रत्यभिज्ञा कहीं भी नहीं होगी। क्योंकि सन्देह का प्रयोजक दोष उक्त युक्ति से खण्डित है।

किञ्च—संस्कार के प्रत्यासत्तित्व-पक्ष में अथवा सहकारित्व पक्ष में "तद् अग्राह्यम्" यह स्मृति भी प्रत्यक्ष हो जायगी, क्योंकि "मनःसंयुक्तात्मसंमवेत-संस्कार विषयत्व—रूप

एव स्यात् । मनस आत्मसंयोगसहकृतादात्मार्थसन्निकर्षात् संस्काराज्जायमानायास्तस्या इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादेव, मनसाऽऽत्मसंयोगादात्मसमवायेन प्रत्यक्षीक्रियमाणैर्ज्ञानादिभिः स्मर्य्यमाणस्यार्थस्याऽविशेषादिति ॥ ३३ ॥

एतेन तत्तावच्छिन्नप्रतियोगिकान्योन्याभावविरहः स्वरूपाभेदो वाऽयं भातीत्यपि निरस्तम् । अन्योन्याभावव्यतिरेकोऽन्योन्यमेव तत्तेदन्तोपाध्यवच्छिन्नयोः स्यात्, न च तन्मिलितमेकेन सुग्रहम् । एवं स्वरूपाभेदेऽपि तयोर्धर्म्मैक्यं तदनवगाहिना दुरवगममेव ॥ ३४ ॥

संस्कारोपनीते च विषये यदि ज्ञानमनुभवः स्यात्, स्मृतिरपि कुतो नानुभूतिः । अथ न संस्काराधीनत्वमात्रेण स्मृतित्वम्, किन्त्वनुभवकारणासम्पृक्तसंस्कारजत्वेन, ततश्चाधिकार्थाक्षसन्निकर्षापेक्षं प्रत्यभिज्ञानमनुभव एव भवति न तु स्मृतिरिति चेन्न । संस्कारासम्पृक्तानुभवकारणजत्वेनानुभवत्वम्भवति, प्रत्यभिज्ञानन्तु संस्कारसहितानुभवकारणजं स्मृतिरेवेति वैपरीत्यं किन्न स्यात् । अन्यत्र न स्मृतिरनुभवकारणसम्पृक्त-

---

प्रत्यासत्ति को मन के साथ स्मर्यमाण पदार्थ के होने से पूर्व उक्त स्मृति भी आप की रीतिसे इन्द्रियजन्य ही है । "जानामि"—इस अनुव्यवसाय में मनोयुक्तात्म-समवाय-सन्निकर्ष से प्रत्यक्षीकृत ज्ञान से स्मृति-विषय तत्ता-विशिष्ट में कोई विशेष नहीं है । और स्मृति-विषय प्रत्यक्ष है नहीं, अतः जानते हैं कि संस्कार–घटित प्रत्यासत्ति नहीं होती है ॥ ३३ ॥

समर्थनकर्ता—तत्ताविशिष्ट का जो भेद, (अन्योन्याभाव) उस भेदका—अभाव रूप अभेद है, अथवा स्वरूप-रूप है, दोनों पक्ष में अभेद इदन्ताविशिष्ट धर्मी का स्वरूप ही है, अतः इदन्ता-विशिष्ट के ग्राहक-सामग्री से ही उसके ग्रहण होने से प्रत्यभिज्ञा अनुभव ही है ।

खण्डनकर्ता—अन्योन्याभाव का अभाव अन्योन्य रूप है, और तत्ता और इदन्ता इन दोनों उपाधि से युक्त धर्मी ही प्रकृत में अन्योन्य पदार्थ है, वह अन्योन्य केवल संस्कार अथवा इन्द्रिय से गृहीत नहीं हो सकता है, इसी तरह से 'तत्' 'इदं' दोनों के स्वरूप-रूप अभेद भी अन्योन्य रूप ही हैं, अतः अन्योन्य को अविषय करनेवाले इन्द्रिय से वह अग्राह्य ही है ॥३४॥

किञ्च—संस्कार से जन्य ज्ञान (प्रत्यभिज्ञा) यदि अनुभव है, तो स्मृति भी अनुभव क्यों न हो ।

समर्थनकर्ता—ज्ञान संस्कार—जन्य होने से स्मृति नहीं होता है, किन्तु अनुभव कारण से शून्य संस्कार से जन्य होने से स्मृति होता है, अतः इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की अपेक्षा से युक्त प्रत्यभिज्ञा अनुभव ही है, स्मृति नहीं है ।

खण्डनकर्ता—ज्ञान संस्कार से रहित अनुभव के कारण से जन्य होने से अनुभव होता है, और प्रत्यभिज्ञा संस्कार से सहित अनुभव सामग्री से जन्य है, अतः स्मृति ही है, ऐसा विपरीत ही क्यों न माने ?

समर्थनकर्ता—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा से अन्यत्र अनुभव—कारण से युक्त संस्कार से जन्य नहीं देखी जाती है; और प्रत्यभिज्ञा अनुभव कारण से युक्त संस्कार से जन्य है, अतः स्मृति नहीं है ।

संस्कारजन्मेति तु नान्यत्रानुभवोऽपि संस्कारसम्पृक्तार्थेन्द्रियसंयोगजन्मेति साम्यादेवाबाधकम् ॥ ३५ ॥

तदेवं विनिगमनायां प्रमाणाभावात् स्वयं कल्पितव्यवस्थानवैपरीत्येनाऽपि कल्पनासम्भवात्प्रत्यभिज्ञानमुभयकारणसम्प्लवात् स्मृतिश्चानुभवश्चेति मन्तव्यम्, तथाच स्मृतिव्यावृत्तमनुभवत्वं जातिरस्तीति दुष्प्रत्याशानिरवकाशा। नच विषयांशे स्मृतित्वाऽनुभवत्त्वयोर्व्यवस्था कर्त्तुं शक्यते, तन्निरासस्य निवेदितत्वात्। ततश्च तदेव ज्ञानं तस्मिन्नेवांशे स्मृतिश्चानुभूतिश्चेत्यापतितेऽपि यदि न विरोधबुद्धिर्भवत्तस्तदा तदधीने तत्रैवार्थे प्रमात्वाप्रमात्वापाते साऽस्तु ॥ ३६ ॥

एतेन विरोधापत्त्याऽनुभवत्वस्वीकारे बाधकेन स्मृतिव्यतिरिक्तमनुभवत्त्वं नामानुगतं साक्षात्कारिज्ञानानुमित्यादिसाधारणमनुभववलादेव व्यवस्थापनीयमिति प्रतीतिकलहोऽपि निरस्तः। ननु चानुभव एव शरणमिह, प्रत्यभिज्ञाने ह्यनुभवत्वमेवानुभूयते, न तु स्मृतित्वं, तेन संकारजत्वेऽपीन्द्रियार्थसन्निकर्षाधिकापेक्षयाऽनुभवत्वमेवेति विनिग-

---

खण्डनकर्ता—अनुभव भी प्रत्यभिज्ञा से अन्यत्र संस्कार से युक्त अनुभव-सामग्री से जन्य नहीं देखा जाता है, और प्रत्यभिज्ञा संस्कार-युक्त अनुभव सामग्री से जन्य है, अतः अनुभव नहीं है, यह प्रतिवन्दी उत्तर हम भी दे सकते हैं ॥ ३५ ॥

तस्मात् प्रत्यभिज्ञा संस्कारज होने से स्मृति है ? अथवा इन्द्रियज होने से अनुभव है ? वहां एक पक्षमें कोई प्रमाण तो है नहीं, अतः प्रत्यभिज्ञा स्मृति भी है, और अनुभव भी है।

समर्थनकर्ता—केवल संस्कार से जो जन्य हो वह स्मरण है, और प्रत्यभिज्ञा केवल संस्कार से जन्य नहीं है, अतः स्मृति नहीं है।

खण्डनकर्ता—ज्ञान संस्कार से रहित अनुभव-सामग्री से जन्य होने से अनुभव होता है और प्रत्यभिज्ञा संस्कार-सहित अनुभव-सामग्री से जन्य है, अतः अनुभव नहीं है,—यह हम भी कह सकते हैं, ऐसा होने पर स्मृति में न रहने वाली अनुभवत्व-जाति है—यह आशा जाती रही। प्रत्यभिज्ञा तत्ता-अंश में स्मृति और इदन्ता-अंश में अनुभव है, इस व्यवस्था का खण्डन पूर्व हो चुका है। अतः प्रत्यभिज्ञा उसी अंश में स्मृति और उसी अंश में अनुभव है, ऐसा होने पर स्मृतित्व-अनुभवत्व विरुद्ध दो धर्मों का एकत्र सन्निवेश हुआ। ऐसा होने पर भी यदि आप को विरोध-बुद्धि न हो तो प्रत्यभिज्ञा के अनुभव होने से उसमें प्रमात्व, और स्मृति होने से अप्रमात्व इन दो विरुद्ध धर्मों के सन्निवेश में भी विरोध-बुद्धि को छोड़िये ॥ ३६ ॥

समर्थनकर्ता—स्मृति में न रहने वाली प्रत्यक्षादि-चतुष्टय में वृत्ति अनुभवत्व-जाति की सिद्धि "अनुभवामि" इस अनुगत-प्रतीति से होगी।

खण्डनकर्ता—प्रत्यभिज्ञा में विरुद्ध स्मृतित्व और अनुभवत्व दोनों का समावेश है, अतः सङ्कर के होने से अनुभवत्व जाति नहीं है।

समर्थनकर्ता—प्रत्यभिज्ञा में "अनुभवामि"—इत्याकारक प्रतीति होती है, अतः अनुभवत्व में प्रमाण के होने से संस्कारजन्य होने पर भी प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व ही है, स्मृतित्व नहीं है।

मनायामपीदमेव प्रमाणम्, अन्यथा प्रत्यभिज्ञानेऽनुभवप्रत्ययो न स्यादिति प्रतीतिकलहेन प्रत्ययस्थेयमिति । न, इदन्तातत्तावभासयोरनुभवस्मरणभागयोः सत्त्वेनानुभवस्यैकपक्षेऽसाधारणीकृत्य प्रमाणयितुमिहाशक्यत्वात् । एतेन स्मृत्यनुभवसङ्करप्रसङ्गेनानुभूतिपदव्यवच्छेद्यं परिप्लुतं मन्तव्यम् ॥ ३७ ॥

नच वाच्यं प्रत्यभिज्ञानं व्यवच्छेद्यं माभूत्, स्मृत्यन्तरन्तु भविष्यतीति । तस्याऽप्यनुभूतित्वेन भवताऽवश्यं स्वीकर्तव्यत्वात् । तथा हि–घटस्तत्रासीदित्यादिस्मृतौ पूर्वकालविशिष्टो घटः स्फुरति, न चासौ पूर्वमनुभूता भूतता, या संस्कारेणोपनीयेत, प्रत्युत पूर्वं वर्त्तमानताया एवानुभूत्या ग्रहणम्, तस्मादिदानीं पूर्वताधीसामग्रीसम्भेदात् सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञानवद्विशिष्टावगमोऽप्यसौ स्मृत्यनुभवात्मक एवाभ्युपगन्तव्यः॥३८॥

एतेनानुभवसामग्रीसहितः संस्कारोऽनुभवकारणमिति पक्षे पूर्वं शङ्कित इदमपि दूषणं द्रष्टव्यम् । तथा सति स्मृत्युच्छेदापत्तेः । नच तदस्ति स्मरणं यत्र सा न प्रकाशते ततश्च व्यवच्छेद्यानुपपत्तिः ॥३९॥

[1]यदपि कैश्चिदुच्यते दोषवशात्प्रमुष्टतत्तांशस्मरणम्भवतीति, तदपि नोपपन्नं तदीयस्मरणत्वे प्रमाणाभावात् । नचानुभवसामग्र्यभावात्पारिशेष्येण स्मृतित्वं, इन्द्रिया-

खण्डनकर्ता—जैसे इदन्ता-अंश में 'अनुभवामि'—इत्याकारक प्रतीति होती है, वैसे ही तत्ता-अंश में "स्मरामि"—इत्याकारक भी प्रतीति होती है, अतः प्रत्यभिज्ञा में "अनुभवामि" यही प्रतीति होती है--ऐसा नहीं कह सकते हैं। जब प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व भी है, तो 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' इस लक्षण में अनुभूति विशेषण का व्यावर्तनीय प्रत्यभिज्ञा है—यह कथन खण्डित जानना चाहिये ॥ ३७ ॥

समर्थनकर्ता—उक्त लक्षण में अनुभूति पद का व्यवच्छेद्य प्रत्यभिज्ञा नहीं है, किन्तु शुद्ध स्मृति व्यवच्छेद्य है।

खण्डनकर्ता—आप शुद्ध स्मृति को भी अनुभव अवश्य मानेंगे। देखिये, "घटस्तत्राऽऽसीत्" इस स्मृति में पूर्वकाल से युक्त घट भासता है, और वह भूतता (तत्ता) पूर्वकाल में अनुभूत नहीं है, अतः संस्कार से उपनीत नहीं हो सकती है, किन्तु पूर्वकाल में वर्त्तमानता ही अनुभूत है, तस्मात् इस काल में भूतता की प्रत्यक्ष-सामग्री के मिश्रण होने से "सोयम्" इस प्रत्यभिज्ञा के तुल्य "घटस्तत्राऽऽसीत्" यह भी ज्ञान स्मृति और अनुभव उभय रूप ही मानना चाहिये ॥ ३८ ॥

अनुभव सामग्री से युक्त संस्कार अनुभव का कारण है, इस पूर्व कथन में यह भी दोष जानना चाहिये। क्योंकि ऐसा मानने पर स्मृति का उच्छेद हो जायगा, ऐसा स्मरण नहीं है, जिसमें भूतता (तत्ता) नहीं भासती हो। जब स्मृतिमात्र भूतता-अंश में मानस अनुभव है, तो "तत्त्वानुभूतिः प्रमा" इस लक्षण में अनुभूति पद के व्यवच्छेद्य का उच्छेद जानना चाहिये ॥ ३९ ॥

१ यद्यपि 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' यह लक्षण अन्यथा ख्यातिवादी नैयायिक का है। अतः मीमांसाभिमत अख्यातिवाद के अनुसार उसका पद-कृत्य अयुक्त है। तथापि प्रसङ्ग से अख्याति-वाद के खण्डन के लिये यह कथन है।

र्थसन्निकर्षव्यावृत्त्या ऽनुभवसामग्र्यभावात्पारिशेष्येणानुमित्यादेरपि स्मृतित्वापत्तेः। सर्वानुभवसामग्र्यसम्भवादिति चेत्। कथं पुनस्तत्तांशशून्यरजतादिज्ञानहेतुसामग्री नानुभवहेतुसामग्रीत्यवधारितमायुष्मता। पञ्चप्रमाणीकारणसामग्र्यसम्भवादिति चेन्न। चतुष्प्रमाणीजनकसामग्र्यसम्भवात्पञ्चमी प्रमा किन्न पारिशेष्यात् स्मरणं त्वया व्यवास्थापि। कुत्र च प्रतिपन्नं पञ्चप्रमाणीकारणसामग्र्यभावे जायमानं ज्ञानं स्मृति र्भवतीति, घटस्तत्रासीदित्यादिज्ञानानामनुभवत्वोपन्यासस्य कृतत्वात् ॥४०॥

अथ मन्यसे प्रत्यक्षादिकारणसामग्र्यनुपपत्त्या रजतमात्रस्य च पूर्वमनुभूतत्वेन तद्विषयसंस्कारसम्भवात्संस्कारस्यैव हेतुताऽङ्गीक्रियते न त्वन्यत्कारणत्वेन कल्प्यते; इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यसम्भवे जायमानस्य तु अनुमानादेरननुभूतविषयत्वेन तस्मान्नोत्पत्ति-

---

(अथ अख्यातिवादखण्डन)

समर्थन—"इदं रजतम्" इस स्थल में दो ज्ञान हैं, "इदम्" यह अंश तो प्रत्यक्ष है, और "रजतम्" यह अंश स्मरण है, यद्यपि दोनों ज्ञानों में परस्पर भेद है, परन्तु दोष से भेद का अग्रह है, तथा यद्यपि अन्यत्र तत्ता से युक्त का ही स्मरण होता है, परन्तु प्रकृत में सादृश्य आदि दोष से तत्ता-अंश का प्रमोष (त्याग) है—यहां "रजतम्" यह शुद्धस्मृति उक्त लक्षण में अनुभूति पद की व्यवच्छेद्या है।

खण्डन—यहां "रजतम्" यह अंश स्मृति है—इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

समर्थन—अनुभव की सामग्री नहीं है, अतः परिशेष से स्मृति है।

खण्डन—यदि ऐसा है तो इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष की व्यावृत्ति होने से अनुमिति आदि के भी परिशेष होने से स्मृति हो जायगी।

समर्थन—सम्पूर्ण अनुभव की सामग्री के अभाव होने से "रजतम्" यह ज्ञान स्मृति है, और अनुमिति में इन्द्रिय तथा अर्थ-सन्निकर्षरूप प्रत्यक्ष-सामग्री के न होने पर भी परामर्श आदि अनुभव की सामग्री विद्यमान है, अतः स्मृति नहीं है।

खण्डन—तत्तांश से रहित रजत के ज्ञान का हेतु (सामग्री) अनुभव सामग्री नहीं है, यह निश्चय आपने कैसे किया ?

समर्थन—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, इन पांच प्रमाणों की सामग्रियों के न होने से "रजतम्" इस स्मृति-स्थल में अनुभव सामग्री नहीं है यह निश्चय किया है।

खण्डन—आप चार प्रमाणों की सामग्री के अभाव से पञ्चमी प्रमा (अर्थापत्ति) को भी स्मृति क्यों न मानें ? और आपने किस उदाहरण में यह निश्चय किया है, कि पांचो प्रमाणों की सामग्री के अभावस्थल में जायमान ज्ञान स्मृति होती है ? क्योंकि "घटस्तत्रासीत्" यह ज्ञान भी तत्तांश में स्मरण नहीं है, किन्तु अनुभव है—यह कह चुका हूँ ॥४०॥

समर्थन—प्रत्यक्षादि-सामग्री के अभावस्थल में रजत मात्र को पहिले से अनुभूत होने से रजत-विषयक संस्कार है, अतः "रजतम्" इस ज्ञान में संस्कार को ही कारण मानते हैं, अन्य किसी को कारण नहीं मानते हैं। और इन्द्रिय अर्थ के सन्निकर्ष आदि के अभाव में जायमान अनुमिति आदि का विषय अनुभूत नहीं है, अतः वे संस्कार के अभाव के होने से उससे उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। अतः उनके कारण लिङ्गादि माने जाते हैं, तस्माद्

सम्भव इति तत्कारणं लिङ्गादिकमङ्गीक्रियते ततः प्रमाणान्तरासहकृतसंस्कारजत्वं तद्व्यङ्ग्यो वा जातिविशेष एव स्मृतित्वमिति ॥४१॥

मैवम्। तत्र कारणत्वं किमिति नाक्षस्यैव, येन संस्कारजत्वं व्यवस्थाप्यते। तेनार्थेन सह तदाऽक्षस्य सन्निकर्षाभावादसन्निकृष्टस्य च तस्य ज्ञानजनकत्वेऽतिप्रसङ्गात् नेन्द्रियजत्वं तस्येति चेन्न। संस्कारस्यापि केवलस्य तज्जननेऽतिप्रसङ्गतादवस्थ्यात्। सहचरितधर्मदर्शनादिना सहकारिणा युक्तस्य संस्कारस्य तज्जनने नास्त्यतिप्रसङ्ग इति चेन्न। तेनैव सहकारिणा सहितस्येन्द्रियस्यापि तज्जननेऽतिप्रसङ्गाभावात्। अननुभूतेऽपि तर्हि प्रसङ्ग इति चेन्न। तत्रापि तद्धर्मतानधिगततद्धर्मवत्यधिगते तस्य संस्कार-

---

अन्य प्रमाणों से असहकृत संस्कार से जायमान ज्ञानत्व, अथवा संस्कार से व्यंग्य जातिविशेष को स्मृतित्व कहते हैं ॥४१॥

खण्डन—"रजतम्" इस ज्ञान को संस्कार से जायमान क्यों माना जाय? इन्द्रिय से जायमान ही क्यों न माना जाय।

समर्थन—उस काल में रजत के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष के न होने से "रजतम्" यह ज्ञान इन्द्रिय से जायमान नहीं है। क्योंकि यदि ज्ञान संन्निकर्ष के विना भी इन्द्रिय से जायमान मानाजाय तो अतिप्रसङ्ग हो जायगा।

खण्डन—यदि केवल संस्कार को भी कारण मानें तो सादृश्य-दर्शनादि के अभावकाल में केवल संस्कार से भी स्मृति का प्रसङ्ग (आपत्ति) आपके मत में भी हो जायगा।

समर्थन—सहचरित = सदृशधर्म (चाकचिक्य आदि) सहकारी हैं, उनसे युक्त संस्कार रजत-स्मृति का कारण है। इसमें अतिप्रसङ्ग दोष नहीं है।

खण्डन—सहचरित (चाकचिक्य आदि) सहकारी दोष से युक्त ही इन्द्रिय हमारे मत में भी रजतभ्रम का कारण है। अतः कोई अतिप्रसङ्ग नहीं होगा।

प्रश्न—इन्द्रिय दूर एवं व्यवहित के ग्रहण में संस्कार की अपेक्षा करते हैं या नहीं? यदि करते हैं तो संस्कारज होने से रजत का ज्ञान स्मृति ही है, यदि नहीं तो संस्कार द्वारा पूर्व अनुभव की अपेक्षा तो है नहीं, फिर अननुभूत में भी "रजतम्" यह भ्रम क्यों न हो?

खण्डन—आपके मत में भी केवल रजत विषयक-संस्कार से ही स्मृति होती है, अथवा रजत-विषयक-संस्कार और सादृश्य-विषयक-संस्कार दोनों संस्कारों से? यदि दोनों संस्कारों की अपेक्षा है, तो उभय-विषयक स्मृति होनी चाहिये। और यदि प्रथम पक्ष है, तो जहाँ सादृश्य आदि धर्म का पूर्व अनुभव नहीं है केवल धर्मी मात्र का पूर्वकाल में ज्ञान है, वहाँ भी रजत-विषयक-संस्कार से रजत की स्मृति क्यों न हो यह दोष समान है। तथा जहाँ साधारण धर्म (चाकचिक्यादि) से युक्त रजत का पूर्व अनुभव हो चुका है, और इदानीं चाकचिक्यादि रूप से रजत के सादृश्य का प्रत्यक्ष है, वहाँ संस्कार से रजत का स्मरण होता है, यही समाधान आपके पक्ष में भी है, अतः यह समाधान हमारे मत में भी तुल्य ही है। अर्थात् हम भी कह सकते हैं कि "रजत-प्रतियोगिक-सादृश्य के ज्ञान से युक्त चक्षुरादि" भ्रम के कारण हैं, अतः उक्त स्थल में दोष नहीं है।

समर्थन-कर्ता—जहां रजत-संस्कार अथवा सादृश्य-संस्कार नष्ट हो गया है, वहां रजत-भ्रम क्यों न हो।

वतः स्मृत्यापत्त्या समाधिसाम्यात् । लुप्ततत्साहचर्य्यदर्शनजसंकारस्याऽपि तथासति सहचरितरजताद्यक्षजप्रतीतिप्रसङ्ग इति चेन्न । तत्रापि मते तादृशस्य रजतादिसंस्कारवतो रजतादिस्मृतिप्रसङ्गसाम्यात् ।

तस्माद्यतस्ते कालव्यवधानादितः संस्कारलोपः तदनुपनिपातस्यापि हेतुलोपगमेऽनतिप्रसङ्गात् ।

तदेवं—

तत्सदृक्प्रत्यभिज्ञानं यत्ते संस्कारबोधकम् ।
सहकारि तदेवास्तामक्षस्यातिप्रसक्तिनुत् ॥२८॥

तत्सदृशप्रत्यभिज्ञानन्तु स्मर्त्तव्यस्मरणपूर्वकमित्येतदपि सममेव ॥४२॥

तथाऽप्यन्यत्रार्थसन्निकर्षमन्तरेणेन्द्रियस्य ज्ञानकरणत्वं नोपलब्धचरमिति चेन्न । विशिष्टरूपेण भ्रमविषये मया तदुपगमात् सहकारिभूतदोषशक्तेर्वा प्रत्यासत्तित्वेनेष्टत्वात् ।

खण्डन-कर्त्ता—आपके मत में भी सादृश्य-संस्कार का उपयोग रजत-स्मृति में तो है नहीं, फिर जहां सादृश्य-संस्कार नष्ट हो गया है, केवल रजत संस्कार है, वहां भी रजत की स्मृति क्यों न हो—यह शंका तुल्य है, यदि आप कहें कि सादृश्य संस्कार तो रजत स्मृति में कारण नहीं है, परन्तु संस्कार का विलोपक जो काल-व्यवधान, चिन्ता, रोगादि-हेतु हैं, उनके अभाव सहकारी हैं, और सादृश्य के संस्कार के नाश-स्थल में काल-व्यवधानादि का अभाव रूप सहकारी नहीं हैं, अतः स्मृति नहीं होती है, तो हम भी कहेंगे, कि रजत-संस्कार रजत-भ्रमका कारण तो नहीं है, परन्तु जहां रजत-संस्कार नष्ट हो गया है, वहाँ रजत-भ्रम नहीं होता है, क्योंकि काल-व्यवधानादि के अभाव भी रजत-भ्रम का सहकारी है, और प्रकृत में इनके अभाव हैं, तस्मात् आपके मत में जो सादृश्य-दर्शनादि संस्कार के उद्बोधक हैं, हमारे मत में वे ही इन्द्रिय के सहकारी हैं, अतः कोई अतिप्रसङ्ग नहीं है ।

जिस सादृश्य-ज्ञान को उद्बोधक संस्कार;
मानो तुम इन्द्रियन का, वह करता सहकार ॥ २८ ॥

समर्थन—आपके मत में रजत-भ्रम में इन्द्रिय का सादृश्य-ज्ञान सहकारी है, वह सादृश्य-ज्ञान रजत-रूप-प्रतियोगी के स्मरण के विना हो नहीं सकता है । अतः आवश्यक होने से रजत की स्मृति को ही भ्रम मानना चाहिये, रजत-विषयक-अन्य अनुभव को भ्रम मानना उचित नहीं है ।

खण्डन—आपके मत में भी संस्कार के उद्बोधक जो सादृश्य-ज्ञान उससे प्रतियोगित्व-रूप से अपेक्षित रजत-स्मृति तो भ्रम है नहीं, किन्तु संस्कार के उद्बोधन के अनन्तर जायमान रजत-स्मृति ही भ्रम है, अतः प्रश्न हो सकता है कि प्रथम जात होने से सादृश्य-ज्ञान से अपेक्षित रजत-स्मृति ही भ्रम क्यों न कहावे ? ॥ ४२ ॥

समर्थन—तथापि इन्द्रिय-जन्य-स्थल में सन्निकर्ष के विना ज्ञान के कारण नहीं देखे गये हैं । अर्थात् अक्षज-प्रत्यक्ष-ज्ञान में सर्वत्र सन्निकर्ष से अन्वय व्यतिरेक देखे जाते हैं, फिर प्रकृत में "रजतम्" यह भ्रम सन्निकर्ष के बिना कैसे होगा ?

खण्डन—प्रमा में सन्निकर्ष के साथ अन्वय व्यतिरेक होने से उसकी अपेक्षा आवश्यक है, और भ्रमस्थल में सन्निकर्ष की अपेक्षा आवश्यक नहीं है, यह हम विशेष रूपसे

किञ्च संस्कारस्याऽपि प्रमाणान्तरासहकृतस्य नान्यत्र ज्ञानजनकत्वं दृष्टमिति तदपि कथं कल्प्यते। प्रत्यभिज्ञान एव संस्कारस्य सदृशदर्शनादिसहकारित्वं कल्पितं नत्विन्द्रियस्येति चेन्न। प्रत्यभिज्ञाने संस्कारेन्द्रिययोर्द्वयोरपि कारणत्वात् सदृशदर्शनादिसहकृतत्वदर्शनाविशेषात् ॥४३॥

अत्र सदृशदर्शनसहकारित्वे संस्कारसहकारित्वस्यापि प्रसङ्गः प्रत्यभिज्ञानवदिति चेन्न। तथा सति तद्वदेव तत्तोल्लेखापत्तेः। सदृशदर्शनादिसहकृतत्वेन च तत्तांशप्रसञ्जने संस्कारजत्वस्योपाधित्वम्। नच सदृशदर्शनसहकारितैव तत्ताप्रयोजिकाऽत्र त्यज्यतां न संस्कार इति युक्तम्। सदृशदर्शनं परित्यज्य संस्कारे सत्यप्यतथावोधात् ॥४४॥

तथापि सदर्थे प्राप्यकारित्वमिन्द्रियस्य दृष्टं न हातुं शक्यमिति चेन्न। उक्तमत्र यथेन्द्रियस्य प्राप्तिसहकृतस्य ज्ञापकत्वं दृष्टं तथैव संस्कारस्यापि प्रमाणान्तरसहकृतस्य

कह सकते हैं। अथवा जैसे आप प्रत्यभिज्ञा में संस्कार को सन्निकर्ष मानते हैं, वैसे ही हम भी भ्रम-स्थल में दोष को ही सन्निकर्ष मानेंगे, हानि क्या है। किञ्च—संस्कार भी अन्य प्रमाणों से रहित अन्य स्थल में ज्ञानका जनक नहीं देखा गया है, अतः केवल संस्कार यहां रजत-स्मृति का जनक है—यह कल्पना कैसे हो सकती है?

समर्थन—प्रत्यभिज्ञा ही में संस्कार, इन्द्रियादि (प्रत्यक्षादि—प्रमाणों) से रहित सादृश्यदर्शन के सहकार से ज्ञान का जनक देखा गया है।

खण्डन—प्रत्यभिज्ञा में संस्कार और इन्द्रिय दोनों कारण हैं। सादृश्य-दर्शन दोनों का ही सहकारी है। भेद यह है कि तत्तांश के ज्ञान में संस्कार और इदन्ता के ज्ञान में इन्द्रिय कारण हैं, और संस्कार तो 'स्व' के उद्बोधन में और इन्द्रिय अभेद बोध में सादृश्य-दर्शन के सहकार की अपेक्षा करता है ॥ ४३ ॥

समर्थन—यदि इन्द्रिय "रजतम्" इस भ्रम-ज्ञान में सादृश्य-दर्शन रूप सहकारी की अपेक्षा करता है तो उससे उद्बुद्ध संस्कार की भी अपेक्षा अवश्य करेगा, जैसे प्रत्यभिज्ञा में इन्द्रियाँ संस्कार की अपेक्षा करती हैं।

खण्डन—यदि प्रत्यभिज्ञा के तुल्य "रजतम्" इस भ्रम में भी संस्कार की अपेक्षा मानें तो प्रत्यभिज्ञा के तुल्य "रजतम्" इस स्मृति में भी तत्ता का उल्लेख हो जायगा।

शंका—सदृश-दर्शन-रूप सहकारी के बल से "रजतम्" इस भ्रम में तत्ता का उल्लेख क्यों नहीं?

खण्डन—सदृश-दर्शन-निष्ठ तत्ता के उल्लेख की—कारणता में संस्कार निमित्त है यहाँ संस्कार नहीं है, अतः तत्ता का उल्लेख नहीं होता है।

शंका—सदृश-दर्शन ही तत्ता-भाग के भान का प्रयोजक है, अतः उसीके सहकार को "रजतम्" इस भान में छोड़ो, संस्कार के सहकार को क्यों छोड़ते हो।

खण्डन—संस्कार के होने पर भी सदृश-दर्शन के अभाव में "रजतम्" यह भ्रम नहीं होता है। अतः सदृश-दर्शन को ही चक्षुरादि का सहकारी मानते हैं, संस्कार को नहीं, अन्यथा तत्ता का भान हो जायगा ॥ ४४ ॥

समर्थन—तथापि सत्—अर्थ की प्रमा में सर्वत्र इन्द्रियाँ सम्बद्ध को ही ग्रहण करते देखी गयी हैं, अतः उसको छोड़ना उचित नहीं है।

ज्ञापकत्वमुपलब्धमिति तदपि हातुं न युक्तमिति, संस्कारस्यापि चेन्द्रियप्रत्यासत्तित्वस्वीकारेण तद्विरहासिद्धेः ॥४५॥

तत्तांशमोपकल्पनश्च स्वतन्त्रसंस्कारजत्वपक्ष एव यावदधिकम्। कुतश्चायं तत्तांशमोप इति विचारमधिकरोति, पूर्वं वर्तमानादिकालविशेषविशिष्टस्य रजतादेरेकस्मिन्ननुभवे प्रकाशिततया तज्जन्येन संस्कारेणापि तथैवोपनेतुमुचितत्वात् प्रत्यभिज्ञायां तथैव फलदर्शनात्। दोषवशात्तत्तांशमोष इतिचेन्न। विषयसम्बन्धस्य स्वभावत्वेन संस्कारे तदलोपात्। दोषात्स्मृतौ तथेति चेत् कः पुनरसौ दोषः। यस्माद्भ्रान्त्युत्पत्तिः परेषामिति चेत्तर्हि तद्रजताविशिष्टमिदं रजतमित्यत्र, सैव रजतव्यक्तिरियमित्यत्र वा, पुनस्त-

खण्डन—इस विषय में हम कह चुके हैं; कि जैसे इन्द्रिय, सन्निकर्ष से विशिष्ट ही ज्ञान के जनक देखे गये हैं, ऐसे ही संस्कार भी अन्य प्रमाण से युक्त ही ज्ञान का जनक देखा गया है, अतः अन्य प्रमाण की सहकार भी संस्कार में त्यागने योग्य नहीं है। किञ्च-संस्कार ही प्रत्यासत्ति है अतः असन्निकृष्ट रजत नहीं। है। अर्थात् "रजतम्" यह ज्ञान मानस भ्रम है, और मन के साथ रजत का संस्कार ही सम्बन्ध है ॥४५॥

तथा जो "रजतम्" इस ज्ञान को अक्षज (इन्द्रियोत्पन्न) मानते हैं, उनके मत में तत्ता-अंश के भान का प्रसङ्ग ही नहीं है। परन्तु जो स्मृति मानते हैं, उनके मत में तत्ता-अंश के मोष की (त्याग की) कल्पना में अधिक गौरव है, तथा यह भी विचारणीय है, कि तत्ता-अंश का मोष (त्याग) होगा कैसे ? पूर्व-काल में वर्तमान काल से विशिष्ट ही रजतादि अनुभव का विषय हुआ है, अतः उससे जन्य संस्कार भी वर्तमानता-विशिष्ट रजत को ही उपनीत (उपस्थित) करेगा, अर्थात् अनुभव में जो वर्तमान काल विशेषण-रूप से भासता है, वह वर्तमान-काल ही स्मरण में तत्ता-रूप से भासता है, अतः जब अनुभव में विशेषण से विशिष्ट भासता है, तब स्मरण में विशेषण से रहित भासता है, यह कैसे हो सकता है। प्रत्यभिज्ञा में स्मरण-अंश में अनुभव के अनुकूल विशिष्ट का भान ही देखा भी गया है।

समर्थन—दोष के बल से "रजतम्" इस स्मरण में तत्तांश का मोष (त्याग) होगा ?

खण्डन—तत्तारूप-विषय के साथ संस्कार का स्वभाव ही सम्बन्ध है, और दोष से संस्कार का लोप हो नहीं सकता है, अन्यथा "रजतम्" यह स्मरण ही कैसे होगा, अतः दोष अकिञ्चित्कर है।

समर्थन—दोष संस्कार का नाश नहीं करता है, किन्तु तत्ता-अंश में स्मृति रूप कार्य का प्रतिबन्धक होता है।

खण्डन—दोष क्या वस्तु है, अर्थात् पूर्व-उक्त युक्तियों से खण्डित होने से दोष कोई वस्तु ही नहीं है।

समर्थन—पर (अन्यथाख्याति वादी) को जिस पित्त आदि के बल से भ्रम होता है, वह पित्तादि दोष हैं।

खण्डन—यदि दोष से तत्तांश का मोष (त्याग) होता है, तो जिस स्थल में शुक्ति में उस रजत से अविशिष्ट (सदृश) यह रजत है—ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है उस भ्रम में तथा "वही रजत व्यक्ति यह है" इस प्रत्यभिज्ञा-भ्रम में तथा वही रजत फिर उपस्थित हुआ इस प्रत्यभिज्ञा-रूप भ्रम में भी जहां सामान्यतः तद्-शब्द से रजत का परामर्श है, वहां तत्तांश का मोष

देव रजतमुपस्थितमितीह वा, सामान्यत एव रजतस्य तदाऽपि परामृष्टस्य भ्रान्तौ तत्तांशमोपः स्यात् दोषस्य विद्यमानत्वात्। अन्यथा इदं रजतमित्यंशेऽपि तस्मिन् ज्ञाने तत्तांशमोपो न स्यादित्यास्तामियं प्रसक्तानुप्रसक्तिः।४६॥

नच प्रत्यभिज्ञा नाम स्मरणानुभवाभ्यामन्य एव प्रकार इति वाच्यम्। अननुभवत्वेनाप्रमात्वापातात्। नचैवमस्त्वित्यपि वाच्यम्। अक्षणिकत्ववादिना स्थिरसिद्धौ प्रमाणत्वेनोपन्यस्तत्वात्। ईदृशप्रसिद्धलक्ष्यत्यागेन च लक्षणोपपादनेऽनियमः प्रसज्येतेति।

तस्माज्जातिवाचिनोऽनुभवपदस्य स्मृतितो व्यवच्छेदार्थमुपादानमिति सर्व्वथानुपपन्नमिति।४७॥

नापि स्मृत्यन्यत्वमनुभवार्थः, नापि स्मृतिलक्षणरहितत्वम्, उक्तक्रमेण स्मृत्यनुभूतिसङ्करस्य दर्शितत्वेन व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः।

इतोऽपि न स्मृत्यन्यत्वमनुभवार्थः तथाहि—स्मृत्यन्यत्वं यत्किञ्चित्स्मरणान्यत्वं वा?—१ सर्वस्मृतिव्यक्त्यन्यता वा?—२ स्मृतित्वरहित्वं वा?—३ अभिप्रेतम्। ४८॥

होना चाहिए, क्योंकि दोष यहां भी है, अन्यथा यदि यहाँ दोष को न मानें तो इसी प्रत्यभिज्ञा रूप भ्रम के "इदं रजतम्" इस अंश में तत्तांश का मोष कैसे होगा—यह प्रमा-लक्षण के खण्डन में प्रसक्त जो प्रत्यभिज्ञा का खण्डन उसमें अनुप्रसक्त तत्तांश मोष का खण्डन रहे॥४६॥

समर्थन—प्रत्यभिज्ञा स्मृति तथा अनुभव से विलक्षण प्रकार हैं, अतः प्रमा-लक्षण में अनुभूति पद का व्यवच्छेद्य हो सकता है।

खण्डन—प्रत्यभिज्ञा को अनुभव न मानें तो अप्रमा हो जायगी।

शंका—प्रत्यभिज्ञा, अप्रमा ही रहे हानि क्या है?

खण्डन—यदि प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण न मानें तो अक्षणिक-(स्थिर-पदार्थ) वादी नैयायिकों ने जो स्थिर-सिद्धि में "तदेवेदम्" इस प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण दिया है, उसका व्याघात हो जायगा? किञ्चित् प्रत्यभिज्ञा प्रमा-लक्षण का प्रसिद्ध लक्ष्य है, अतः आपसे कल्पित 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' इस लक्षण को अव्याप्ति के भय से यह कहना कि प्रत्यभिज्ञा प्रमा का लक्ष्य नहीं है—यह अनुचित है, क्योंकि ऐसा करने से व्यवस्था हो नहीं सकेगी, जब युक्ति से स्मृतिमात्र अनुभव सिद्ध हो चुका है, तब यह कहना कि 'तत्वानुभूतिः' प्रमा इस लक्षण में स्मृति के व्यवच्छेद के अर्थ जातिवाची अनुभूति पद का निवेश है, सर्वथा अनुपपन्न है॥४७॥

॥ इति अनुभवत्वजातिखण्डनम् ॥

॥ अथ स्मृति-भिन्न-परत्व खण्डनम् ॥

स्मृति से अन्य ज्ञान अथवा स्मृति का जो लक्षण (संस्कारजत्व) उससे रहित ज्ञान भी अनुभव-पद का अर्थ नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार से स्मृति और अनुभव के साङ्कर्य होने से अर्थात् ज्ञान मात्र के अनुभव होने से अनुभव पद का व्यवच्छेद्य नहीं है। इस दोष से भी स्मृति से अन्य अनुभव पद का अर्थ नहीं है। देखिये—स्मृति से अन्य इस वाक्य का एक दो स्मृति से अन्य अर्थ मानते हैं? अथवा सब स्मृति से अन्य अर्थ मानते हैं? अथवा स्मृतित्व—रहितत्व अर्थ मानते हैं?॥४८॥

प्रथमे तु स्मृत्यन्तरव्यतिरेकात् स्मृत्यन्तरमप्यनुभूतिः स्यात् । न हि यतो व्यतिरिक्ता स्मरणव्यक्त्यन्तरादेका स्मृतिव्यक्तिस्तत् स्मरणमेव न भवति येन तदन्यत्वं न स्मृत्यन्यत्वं स्यात् । ४६ ॥

नापि द्वितीयः मदीयादिस्मृतिव्यक्तिभ्यो हि भवता कथङ्कारं व्यतिरिक्तत्वमवधारणीयं प्रमायाः, तासां सर्व्वासां भवता प्रत्येतुमशक्यत्वात् । तथा हि–न तावत्परकीयज्ञाने परस्यास्मादृशोऽध्यक्षसम्भवः, नाप्यनुमानार्थापत्ती, लिङ्गानुपपद्यमानयोः सर्व्वत्रार्व्वाग्दृशा प्रत्येतुमशक्यत्वात् । नापि शब्दः सर्वत्र तस्यासम्भवात्, उपमानाद्यसम्भवोऽपि स्फुट एव । ततः कथं सर्व्वाभ्यः स्मृतिव्यक्तिभ्यो व्यतिरेको निरूप्यः प्रमाया इत्यनववोधादसिद्धिर्लक्षणस्य । नच वाच्यं स्मृतित्वेन सर्वाः स्मृतिव्यक्तयः सर्व्वकालसर्वपुरुषसम्बन्धिन्यः स्वात्मीयां स्मृतिव्यक्तिं प्रत्यक्षयता प्रत्यक्षादेवावगम्यन्ते सामान्यलक्षणयेन्द्रियप्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाल इव व्याप्यव्यापकव्यक्तय इति, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो र्दोषग्रस्तत्वात् । तथा सति ह्येकं प्रमेयं प्रत्यक्षयतः प्रमेयत्व-

---

यदि एक दो स्मृति से अन्य अर्थ है तो एक स्मृति से द्वितीयस्मृति को अन्य होने से द्वितीय स्मृति भी अनुभूति हो जायगी, क्योंकि जिस स्मृति से व्यतिरिक्त (अन्य) द्वितीय स्मृति है वह स्मृति ही नहीं है । यह बात नहीं है, जिस से उस अन्यत्व स्मृति से अन्यत्व ही नहीं है ॥४६॥

सर्व स्मृतियों से अन्यत्व स्मृति से अन्यत्व है, यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि मेरी स्मृति से अन्यत्व प्रमा में है, इसका निश्चय आप कैसे करेंगे । हम लोगों के सदृश अर्थात् योगबल से रहित अन्य मनुष्यों को अन्य पुरुष के ज्ञान का प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता है । तथा अनुमान अथवा अर्थापत्ति से भी बाह्यदर्शी को सर्वत्र हेतु वा अनुपपद्यमान ज्ञान के न होने से सर्व अन्य स्मृतियों से भेद प्रमा में गृहीत नहीं हो सकता है, सर्वत्र शब्द के न होने से शब्द का भी संभव नहीं है । उपमान आदि से भी अन्य स्मृतियों से अन्यत्व प्रमा में निश्चित नहीं हो सकता क्योंकि उपमान से संज्ञा-संज्ञि-भावमात्र का निश्चय होता है । और यहां पर संज्ञा-संज्ञि-भाव है नहीं इस अवस्था में सम्पूर्ण स्मृतियों से भेद प्रमा में कैसे जाना जाय । इस रीति से ज्ञान के न होने से लक्षण असिद्ध ही है ।

समर्थन—स्वीय स्मृति के मानस प्रत्यक्षकाल में सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से सब काल पुरुष संबन्धि सर्व स्मृतियों का ज्ञान हो सकता है, जैसे व्याप्ति ग्रहकाल में सामान्य लक्षणा के बल से सकल व्याप्य व्यापक व्यक्ति का ज्ञान होता है ।

खण्डन—दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक दोनों स्थलों में सम्पूर्ण व्यक्तियों का ज्ञान सामान्य-लक्षणा से हो नहीं सकता है, क्योंकि सामान्य लक्षणा में दोष होने से प्रत्यासत्ति ही नहीं है । अन्यथा (यदि सामान्यलक्षणा को प्रत्यासत्ति मानें तो) एक प्रमेय के प्रत्यक्षकाल में प्रमेयत्व से सकल प्रमेय का प्रत्यक्ष होजायगा ।

समर्थन—प्रमेयत्व से सकल प्रमेय का प्रत्यक्ष होता ही है, ऐसे हो क्यों न मान लिया जाय ।

सामान्यप्रत्यासत्त्या विश्वमेव प्रत्यक्षं स्यात्। एवमभ्युपगच्छतश्च श्रद्दधीमहि ते सार्वज्ञ्य-मिदं, यदि जानासि किमस्मच्चेतसि विपरिवर्तत इति। ५०॥

नापि तृतीयः—स्मृतित्वरहितत्वं हि स्मृतित्वाभाववत्त्वं वा स्यात्?—१ स्मृतित्व-प्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं वा?—२ तज्ज्ञानं वा?—३। ५१॥

न तावदाद्यः तथा हि—स्मृतित्वान्योन्याभावोऽपि स्मृतित्वाभावो भवत्येव तद्व-त्त्वञ्च स्मृतिष्वप्यस्ति। (न हि स्मृतित्वमेव स्मृतिः) ततश्च स्मृतेरपि प्रमात्वापातः। तदन्यच्छेदाद्विशेषणवैयर्थ्यञ्च, विना विशेष्यमिच्छादावतिप्रसङ्गात्। ५२॥

स्मृतित्वस्य संसर्गाभावस्तत्र विवक्षित इति चेन्न। तथा हि—स्मृतित्वस्य संसर्गा-भाव इति किमुच्यते, किं स्मृतित्वविशिष्टस्य संसर्गस्याऽभावः, उत संसर्गविशिष्टस्य स्मृतित्वस्य, अथान्यदेव वा किञ्चिदनया वाचोयुक्त्या विवक्षितम्। आद्ये स्मृतित्व-संसर्गान्योन्याभावः स्मृतावस्तीति स एव प्रसङ्गः, न हि स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतिः। अत-

---

खण्डन—ऐसा मानने पर सब मनुष्य सर्वज्ञ हो जायँगे। यदि आप कहें कि सब मनुष्य सर्वज्ञ हो ही जाते हैं, तो आप के वाक्य को तभी मान सकते हैं, अगर आप जान लेते कि हमारे चित्त में क्या है॥५०॥

यदि कहो कि स्मृतित्व रहितत्व ही स्मृति से अन्यत्व है, तो यह तीसरा पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि स्मृतित्व-रहितत्व क्या वस्तु है, क्या स्मृतित्व का अभाव है? १ या स्मृतित्वप्रतियोगिक अधिकरणस्वरूप है? २ (अर्थात् स्मृतित्व है प्रतियोगी जिसका ऐसा जो अधिकरण उसका स्वरूप है) या स्मृतित्वप्रतियोगिक अधिकरण ज्ञान है। ३। ५१।

इन पक्षों में स्मृतित्व का अभाव स्मृतित्वरहितत्व है, यह प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि स्मृतित्व का अन्योन्याभाव भी स्मृतित्वाभाव ही है और स्मृतित्व का अन्योन्याभाव स्मृति में भी है इस से स्मृति भी अनुभूति हो जायगी, अतः अनुभूति पद से स्मृति के व्यवच्छेद न होने से अनुभूति पद का निवेश व्यर्थ हो जायगा और यदि अनुभूति का निवेश न करें तो इच्छादि में अतिव्याप्ति हो जायगी॥५२॥

समर्थन—यहां स्मृतित्वाभाव से स्मृतित्व के संसर्गाभाव का ग्रहण है।

खण्डन—यह तुम नहीं कह सकते; क्योंकि स्मृतित्व का संसर्गाभाव क्या स्मृतित्व-विशिष्टसंसर्गाभाव है, या संसर्गविशिष्ट स्मृतित्वाभाव है, या इस वाक्य-रचना से और ही कुछ लेते हो। यदि स्मृतित्व का संसर्गाभाव अभिप्रत है, तो स्मृतित्व-संसर्ग का अन्योन्याभाव भी स्मृति में है, अतः स्मृति में प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि स्मृतित्वसंसर्ग स्मृति नहीं है। इसीसे द्वितीयपक्ष भी युक्त नहीं है; क्योंकि संसर्गविशिष्ट स्मृतित्वव्यक्ति भी स्मृति नहीं है। अतः संसर्गविशिष्ट स्मृतित्व के साथ स्मृतिव्यक्ति के अन्योन्याभाव का ग्रहण कर स्मृति व्यक्ति में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—स्मृतित्व संसर्ग का संसर्गाभाव ही स्मृतित्व रहितत्व है, और स्मृतित्व संसर्ग का संसर्गाभाव स्मृतिव्यक्ति में नहीं है, क्योंकि स्मृति में स्मृतित्व-संसर्ग ही है। अतः स्मृति में अनुभूति लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—स्मृतित्व-संसर्ग का संसर्गाभाव इस शब्द से भी यदि संसर्ग का अभाव ही

एव न द्वितीयोऽपि, न हि संसर्गविशिष्टं यत्स्मृतित्वं तदेव स्मृतिव्यक्तिः, ततश्च संसर्गविशिष्टस्मृतित्वेन सह स्मृतिव्यक्तेरन्योन्याभावमादायोक्तदोषानिवृत्तिः। एवं तत्र तत्रापि संसर्गविशेषणप्रक्षेपे दोषानिवृत्तिरेव। अनवस्थायां वा पर्य्यवसानं विशेषणप्रक्षेपपरम्परायाः ॥५३॥

नच वाच्यं स्मृतित्वसंसर्गस्य न संसर्गान्तरेण सम्बन्धित्वं किन्तु स्वभावत एव, तत् कुतः परम्परागवेषणं कार्य्यमिति। स्मृतित्वसंसर्गस्यान्योन्याभावमादाय कृतस्य प्रसङ्गस्य परिहर्त्तुं तदानीं सुतरामशक्यत्वात् संसार्गान्तरविशेषणवचनस्याधिकार्थापर्य्यवसायित्वात् ॥५४॥

किञ्च तदुभयस्वरूपातिरेकं तत्संसर्गस्यामन्यमानेन स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतिस्वधर्मिस्वरूपं चेत्येतयोः संसर्गात्मत्वे व्यवस्थाप्यमानेऽनुभूतौ कथं तादृशस्य संसर्गस्य निषेधः। किमनुभूतेः स्वरूपं नास्ति, उत स्मृतित्वसंसर्गस्य, ततः कस्य निषेधः। अर्थान्तरभूतस्य च संसर्गस्य निषेधे स्मृतावपि प्रसङ्गस्तदवस्थः, स्मृतौ तस्यार्थान्तरभूतस्य भवताऽनभ्युपगमात्, स्वरूपमेव तयोः सम्बन्ध इति तत्र भवतोऽभ्युपगमः ॥५५॥

अभिप्रेत है, तो फिर भी स्मृतित्व-संसर्ग के अन्योन्याभाव का ग्रहण कर स्मृति में अतिव्याप्ति ही है। एवं अपर २ संसर्ग के निवेश में अनवस्था हो जायगी या अन्त के संसर्ग के अन्योन्याभाव को ले कर अतिव्याप्ति हो जायगी ॥५३॥

समर्थन—स्मृतित्व का संसर्ग (समवाय) अन्यसंसर्ग से संबद्ध नहीं है; किन्तु स्वभाव-स्वरूप-सम्बन्ध से ही संबद्ध है, अतः संसर्ग परम्परा के गवेषण के न होने से अनवस्था दोष नहीं है।

खण्डन—यदि स्मृतित्व संसर्ग का स्वभाव (स्वरूप) ही संबन्ध है तो स्मृतित्व संसर्ग के संसर्गाभाव शब्द का अर्थ संसर्ग का स्वरूपाभाव ही हुआ अर्थात् संसर्गाभाव से अधिक नहीं हुआ। अतः संसर्ग के अन्योन्याभाव को लेकर जो अतिव्याप्ति दी गयी है वह वैसी ही रही ॥५४॥

किंच स्मृतित्व संसर्ग (समवाय) के तथा स्मृति के संसर्ग को उभय स्वरूप से अतिरिक्त न माननेवाले आप स्मृतित्व-संसर्ग तथा स्मृति इन दोनों को ही संसर्गात्मक मानेंगे तो फिर अनुभूति में उस संसर्ग का निषेध कैसे होगा। क्या अनुभूति का स्वरूप नहीं है या स्मृतित्व संसर्ग का स्वरूप नहीं है। जब दोनों के स्वरूप है तब किसका निषेध होगा।

समर्थन—स्मृतित्व संसर्ग के स्वरूपसम्बन्ध का निषेध अनुभूति में नहीं है; किन्तु स्वरूप से अन्य सम्बन्ध का निषेध अनुभूति में है।

खण्डन—यदि स्वरूप से अन्यसम्बन्ध का निषेध है, तो स्मृतित्वसंसर्ग के स्वरूप से अन्य संसर्ग स्मृति में नहीं है क्योंकि आप स्मृतित्व संसर्ग के स्वरूप-रूप सम्बन्ध को ही स्मृति में मानते हैं, स्वरूप से अन्य सम्बन्ध को नहीं मानते हैं, अतः स्वरूप से अन्य सम्बन्ध का अभाव स्मृति में भी हो सकता है, अतः अनुभूति-लक्षण की स्मृति में अतिव्याप्ति हो जायगी ॥५५॥

अथोच्यते—अनुभूतिस्मृतित्वसंसर्गयोः स्वरूपसम्भवेपि न परस्परसम्बद्धबुद्धिजनकत्वं तयोः, तादृक्त्वञ्च यत्र तयोस्तत्र सम्बन्धात्मकत्वं स्वरूपयोरुच्यत इति, मैवम् । विशेषोपसङ्ग्राहकासिद्धौ तस्याऽप्यनुपपत्तेः, उपसङ्ग्राहकान्तरोक्तौ तत्सम्बन्धेऽपि प्रसङ्गेनापरापरोपसङ्ग्राहकगवेषणायामनवस्थापातात् । ५६ ॥

तावताऽपि चानुभूतिस्वरूपे कस्य निषेधो वर्णितः स्यात् । स्मृतित्वसंसर्गानुभूती सम्बद्धे इत्येवंरूपबुद्धिजनकत्वस्येति चेन्न । भ्रान्त्यात्मिकाया ईदृशबुद्धेर्जनकत्वस्य धारयितुमशक्यत्वात् । यथार्थाया इति चेत्, ईदृशबुद्धेर्यथार्थाया यदि सत्त्वमभ्युपैपि तदाऽनुभूतौ स्मृतित्वप्रसङ्गः, अथ नाभ्युपैपि किंप्रति तस्या जनकत्वाभावो निरूप्यः ।

समर्थन—केवल स्वरूपसम्बन्ध नहीं है, किन्तु परस्परसंसृष्टत्व-बुद्धि जनकस्वरूप ही संसर्ग है और वह परस्परसंसृष्टत्वबुद्धिजनकत्व, स्मृतित्वसंसर्ग तथा स्मृति इन दोनों के स्वरूप में है। अतः इन दोनों का स्वरूपसंसर्ग है और अनुभूति तथा स्मृतित्व संसर्ग इन दोनों के स्वरूप में नहीं है ।

खण्डन—स्मृतियों में स्मृतित्वसंसर्ग तथा स्मृति इन दोनों का परस्परसंसर्गबुद्धि जनकत्व है यह कथन जनकता के किसी अवच्छेदक को माने बिना हो नहीं सकता । यदि कहें कि स्मृतित्व ही जनकतावच्छेदक है तो अद्यावधि स्मृतित्व सिद्ध नहीं हुआ है। किंच यदि स्मृतित्व अथवा अन्य किसी धर्म को जनकतावच्छेदक मान भी लें, तो स्मृतित्व का सम्बन्ध स्मृति में ही है अन्यत्र नहीं है। इसमें भी किसी नियामक को अवश्य मानना होगा। एवं नियामक के सम्बन्ध में भी नियामकान्तर के मानने में अनवस्था दोष हो जायगा ५६ ।

किंच परस्परसम्बन्ध बुद्धि-जनक स्वरूप ही संसर्ग है इस कथन के होने पर भी अनुभूति में किस वस्तु का निषेध होगा। अनुभूति तथा स्मृतित्व संसर्ग के स्वरूप का निषेध तो हो नहीं सकता है, क्योंकि वह सत् है और स्वरूपरूप संसर्ग का निषेध भी नहीं हो सकता है; क्योंकि अनुभूति तथा स्मृतित्व संसर्ग का स्वरूप परस्परसम्बन्धबुद्धि जनकत्व के न होने से संसर्ग ही नहीं है ।

समर्थन—"स्मृतित्व-संसर्ग तथा अनुभूति यह दोनों परस्पर संबद्ध है" इत्याकारक बुद्धि के जनकत्व का निषेध अनुभूति में होगा।

खण्डन—भ्रमरूप निरुक्त बुद्धि के जनकत्व का निषेध नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुभूति में उसकी सत्ता है। प्रथम तो प्रमारूप निरुक्तबुद्धि, विषय के न होने से होती ही नहीं है। अतः बुद्धि के असत् होने से उसका जनकत्व भी असत् है, फिर शशशृंग के तुल्य उक्त असत् जनकत्व का निषेध हो नहीं सकता। मान भी लें कि प्रमारूप उक्त बुद्धि होती है, तो उक्त प्रमा के कारण (प्रमाण) से ही अनुभूति में स्मृतित्व का प्रसङ्ग हो जायगा।

समर्थन—अत्यन्त असत् उक्त यथार्थबुद्धि के जनकत्व का निषेध ही अनुभूति में क्यों न माना जाय, क्योंकि "शशशृंगन्नास्ति" यहाँ अलीकप्रतियोगिक अभाव के तुल्य संभावनामात्र से अलीककार्यनिरूपित जनकत्व का भी निषेध हो सकता है।

खण्डन—स्मृति में अनुभूतिलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि स्मृति में जितनी स्मृतित्व संसर्गबुद्धि होती है, उन बुद्धियों से अधिक असत् बुद्धि के जनकत्व का [संभावना मात्र से] निषेध स्मृति में भी हो सकता है ।

अथात्यन्तासतीमेव तादृशबुद्धिं प्रति जनकत्वाभावावधारणमनुभूतेरभ्युपैपि तदा स्मृतावपि प्रसङ्गः, यावत्यस्तद्बुद्धयस्तत्र जायन्ते तदधिकां तादृशबुद्धिमत्यन्तासतीं प्रत्यजनकत्वस्य स्मृतावपि सम्भवात्। सर्वामेव तादृशबुद्धिं प्रत्यजनकत्वमनुभूतेः, नतु एवं स्मृतेरितिचेन्न। सर्वतद्व्यक्तिप्रमित्यसम्भवात्। ५७॥

किञ्च सर्वामिति कोऽर्थः? किमसतीं सर्वाम्, उत सतीम्, अथ सतीमसतीञ्चेत्युभयीमपि प्रत्यजनकत्वम्। आद्ये द्वितीये च स्मृतावपि तदजनकत्वमस्त्येव, न हि स्मृतित्वसंसर्गस्मृती सम्बद्धे–इति यावत्यः स्मृतिव्यक्तिषु बुद्धयो भवन्ति ताः प्रति प्रत्येकं स्मृतिव्यक्तिषु जनकत्वमिति। काञ्चित् सतीं प्रति च तदजनकत्वं प्रागेव दूषितम्। तृतीये नानुभूतावपि तदजनकत्वं सत्यासत्यतादृशबुद्धेर्भावेनाभावेन वा सतीमसतीं प्रत्यजनकत्वस्यासम्भवादिति। ५८॥

स्यादेतत्, स्मृतित्वस्यान्योन्याभावमादाय याऽतिप्रसक्तिर्दर्शिता सा नोपपद्यते, भेदाभेदवादिमते स्मृतित्वभेदाभेदस्य स्मृत्या सहाभ्युपगमात्। ययोर्भेदाभेदस्तयो-

---

समर्थन—संपूर्ण स्मृतित्वसंसर्गबुद्धि के जनकत्व का अभाव लक्षण में अभिप्रेत है और स्मृति में वह नहीं है। अनुभूति में है, अतः कोई दोष नहीं है।

खण्डन—सामान्यलक्षणा के खण्डित होने से संपूर्ण स्मृतित्व संसर्गबुद्धि का ज्ञान हो नहीं सकता है ॥५७॥

किंच सम्पूर्ण इस शब्द से असती (अयथार्थ) संपूर्ण, सती (यथार्थ) संपूर्ण वा असती सती उभयरूप संपूर्ण अभिप्रेत है। पक्षत्रय में भी स्मृति में उक्त बुद्धि के जनकत्व का अभाव होने से स्मृति में अनुभूति लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि जितनी स्मृतित्व संसर्ग बुद्धि होती है; उन सब के जनकत्व का अभाव एक एक स्मृति में विद्यमान ही है।

समर्थन—हमें सब स्मृतित्व संसर्ग बुद्धि के जनकत्व का वारण प्रत्येक में अभिप्रेत नहीं; किन्तु प्रत्येक स्मृतित्वसंसर्ग बुद्धि के जनकत्व का निषेध प्रत्येक में अभिप्रेत है वह स्मृति में नहीं है।

खण्डन—प्रथमपक्ष में असत् (अयथार्थ) उक्तबुद्धि के जनकत्व का अनुभूति में वारण न होने से अनुभूति में अव्याप्ति हो जायगी। द्वितीय पक्ष में सती प्रमा के करणरूप (प्रमाण) होने से अनुभूति में स्मृतित्व प्रसंग हो जायगा। तृतीयपक्ष में भी प्रत्येक निवेश करने पर उक्त दोनों दोष हो जायगें। कारण कि अयथार्थ उक्तबुद्धि का जनकत्व अनुभूति में है; अतः उसका निषेध उनमें हो नहीं सकता है और यथार्थ उक्तबुद्धि के होने से तज्जनकत्व के होने से, तदभाव के अलीक होने से असम्भव हो जायगा ॥५८॥

समर्थन—स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का ग्रहण कर स्मृति में जो अतिव्याप्ति—अनुभूतिलक्षण की दी गयी है, वह उपपन्न होती, परन्तु वह हो नहीं सकती, क्योंकि धर्म का धर्मी में भेदाभेद है। स्मृतित्व का भेदाभेद स्मृति में है और जिसमें जिसका भेदाभेद हो उसका उसमें अन्योन्यभाव नहीं रहता।

खण्डन - स्मृतित्व का भेदाभेद स्मृतिमें है, अनुभूतिमें नहीं है यह बात आपने कैसे जानी।

स्तत्रान्योन्याभावानभ्युपगमात् । मैवम् । कथं ह्यवधार्य्यं स्मृतित्वस्य भेदाभेदः स्मृत्या, नानुभूत्येति । अनुभूत्या सह तद्विशिष्टप्रमाया अभावादिति चेन्न । किं सत्याः किमसत्या इत्याद्युक्तविकल्पदोषात् । प्रागभावप्रतियोगिन्या इति चेन्न । अनुभूतौ तादृश्याः स्वीकारेणानुभूतेस्तथात्वापातात् । स्मृतिस्मृतित्वयोरन्योन्याभावाभावश्चान्योन्यात्माऽनुभूतावपि तुल्यः, न हि स्मृतित्वान्योन्याभावोऽनुभूतिरित्युक्तमावर्त्तते । ५९ ॥

समर्थन—"स्मृतित्वविशिष्टा अनुभूतिः" इत्याकारक प्रमा नहीं होती है इससे जानते हैं कि स्मृतित्व का भेदाभेद अनुभूति में नहीं है।

खण्डन—क्या सती (विद्यमान) स्मृतित्ववैशिष्ट्य प्रमा के अभाव से अथवा अविद्यमान स्मृतित्व वैशिष्ट्य प्रमा के अभाव से, अनुभूति में स्मृतित्व के अभाव को आप सिद्ध करते हैं। यदि कहें कि सती प्रमा के अभाव से तो सती प्रमा के कारणरूप प्रमाण से ही अनुभूति में स्मृतित्व सिद्ध हुआ। और यदि कहें कि उक्ताऽऽकारक प्रमा असती है तो प्रतियोगी के असत् होने से उसका अभाव भी असत् है, अतः बाधक के अभाव होने से ही अनुभूति में स्मृतित्व सिद्ध हुआ।

समर्थन—अनुभूति में स्मृतित्ववैशिष्ट्य-प्रमा प्रागभाव की प्रतियोगिनी नहीं होती है और स्मृतिमें स्मृतित्ववैशिष्ट्य-प्रमा प्रागभाव की प्रतियोगिनी होती है। अतः उक्त अभाव से अनुभूति में स्मृतित्व के अभाव का निश्चय होता है।

खण्डन—यदि उक्तवाक्य का "प्रागभावप्रतियोगी जो स्मृतित्व प्रमा उसका अभाव" यह अर्थ है, तो उक्त प्रमा में प्रागभाव की प्रतियोगिता सिद्ध हुई और जो प्रागभावका प्रतियोगी होता है वह कदाचित् अवश्य उत्पन्न होता है इस नियम के अनुसार उक्त प्रमा के सत्व होने से उस प्रमा के कारणरूप प्रमाण से ही अनुभूति में स्मृतित्व सिद्ध हुआ। और यदि उक्तवाक्य का "अनुभूति में स्मृतित्वप्रमा प्रागभाव का प्रतियोगी नहीं है" यह अर्थ करें तो उक्त प्रमा में प्रागभाव के प्रतियोगित्व का निषेध हुआ, उक्त प्रमाका निषेध तो हुआ नहीं; किन्तु अनादि उक्त प्रमा ही सिद्ध हुई। अतः उक्त प्रमा के कारणरूप प्रमाण से ही अनुभूति में स्मृतित्व सिद्ध हुआ। किंच जैसे स्मृति में स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का अभाव (अन्योन्याभाव) है और वह अन्योन्यरूप है, वैसे ही अनुभूति में भी स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का अभाव (अन्योन्याभाव) है और वह अन्योन्यरूप है अर्थात् अनुभूति स्मृतित्व उभयरूप है। फिर स्मृतित्व का भेदाभेद स्मृति के तुल्य अनुभूति में क्यों न माना जाय।

समर्थन—स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का अत्यन्ताभाव स्मृतिमें ही है, अनुभूति में नहीं है, क्योंकि धर्म का धर्मी में अभेद होने से अन्योन्याभाव नहीं है और अन्योन्याभाव का अत्यन्ताभाव भेदाभेद का प्रयोजक है, अतः स्मृतित्व का भेदाभेद अनुभूति में नहीं है।

खण्डन—जैसे स्मृतित्वात्यन्ताभाव को अन्योन्याभाव मानकर प्रथम स्मृति में अतिव्याप्ति हम दे आये हैं, वैसे ही अब भी स्मृतित्व के अन्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव को अन्योन्याभाव मानकर अनुभूति में स्मृतित्व का आपादन (ग्रहण) कर सकते हैं; क्योंकि अद्य पर्यन्त अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में परस्पर भेद की सिद्धि नहीं हुई है ॥५९॥

अथ माभूद्भेदाभेदमादाय परिहारः, तथापीदं तन्न भवति, इह तन्नास्तीति प्रतीतिसाक्षिक एवान्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेद इति चेन्न। प्रतियोगिरूपोपाध्यवैचित्र्यात्, अभावे जात्यादिभेदानभ्युपगमाच्च तयोर्भेदबुद्धिरेव प्रामाण्यमनश्नुवाना कूटसाक्षिणीति तदनादरणात् ।६०॥

न च स्वप्रतियोगिसमानकालसमानाधिकरणोऽभावोऽन्योन्याभावः, तदन्योन्या-

अथ संसर्गान्योन्याभाव भेद खण्डनानुवादः

समर्थन—यद्यपि उक्त युक्तियों से स्मृतित्व का भेदाभेद अनुभूति में भी हो सकता है। अतः जिसका जिसमें भेदाभेद है उसका उसमें अन्योन्याभाव नहीं रहता है यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि यदि यह कहें तो अनुभूति में भी स्मृतित्व के भेदाभेद होने से अन्योन्याभाव का प्रतिपादन नहीं कर सकेंगे। तब भी स्मृतित्व का अन्योन्याभाव भी स्मृतित्वाभाव है, और उक्त अन्योन्याभाव स्मृति में है, अतः प्रमालक्षण की स्मृति में अतिव्याप्ति है यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि प्रमालक्षण में संसर्गाभाव का निवेश है और संसर्गाभाव शब्द "संसर्गस्य अभावः" इस अर्थ में यौगिक नहीं है। किन्तु "इदम् इह नास्ति" इत्याकारक प्रतीति के विषय अभाव विशेष में रूढ़ है, इसी तरह से अन्योन्याभाव यह भी "अन्योन्यस्य अभावः" इस अर्थ में यौगिक नहीं है, किन्तु "इदम् इदम् न भवति" इस प्रतीति से सिद्ध अभाव विशेष में रूढ़ है और लक्षण में संसर्गाभाव का ही निवेश है, अतः स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का ग्रहण कर स्मृति में दोष नहीं है।

खण्डन—प्रतियोगियों के भेद से अथवा जाति उपाधिरूप धर्म्म के भेद से दोनों अभावों का भेद हो सकता है। वह यहाँ नहीं है, अतः विषयभेद के न होने से उक्त बुद्धि मिथ्या होने से आदरणीय नहीं है, अतः उक्त बुद्धि से घटित लक्षण भी असङ्गत ही है॥६०॥

समर्थन—स्वप्रतियोगी से समानकाल तथा समान अधिकरणवाला अभाव अन्योन्याभाव है और अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव अत्यन्ताभाव है, इस रीति से दोनों अभावों के स्वरूप में भेद होने से भेद-बुद्धि अप्रमा नहीं है।

खण्डन—इस लक्षण के घटक अभाव पद का यदि भावभिन्नत्व अर्थ करें तो अन्योन्याभाव के लक्षण में अन्योन्याभाव के प्रवेश होने से आत्माश्रय हो जायगा। और यदि अभावपद का भावत्वात्यन्ताभाववत्त्व अर्थ करें तो अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव को संसर्गाभाव कहते हैं, और संसर्गाभाव विशेष ही अत्यन्ताभाव है, अतः अत्यन्ताभाव से अन्योन्याभाव का और अन्योन्याभाव से अत्यन्ताभाव के निरूपण होने से अन्योन्याश्रय तथा अन्योन्याभाव का निरूपण अत्यन्ताभाव से, और अत्यन्ताभाव का निरूपण संसर्गाभाव से, और संसर्गाभाव का निरूपण अत्यन्ताभाव से होता है, अतः चक्रक दोष हो जायगा। किञ्च इन दोषों के होने से लक्षण नहीं होगा और लक्षण के न होने से तदधीन लक्ष्यभूत अन्योन्याभाव का तथा अत्यन्ताभाव का ज्ञान भी नहीं होगा। किञ्च आप अन्योन्याभाव के अन्योन्याभाव को मानते हैं या नहीं ? यदि नहीं मानते हैं, तो अन्योन्याभाव के भेद के कहीं भी न होने से वह सर्वात्मक हो जायगा। और यदि मानते हैं, तो उस अन्योन्याभाव का भी

भाववाँश्च तदभावः संसर्गाभावः, यथासम्भवमात्माश्रयाद्यननुभव-स्वभेदाऽननुगम-तत्तदवगमानभ्युपगमानामनुत्तरणीयत्वप्रसङ्गात् ।६१॥

ननु संसर्गप्रतियोगिको निषेधः संसर्गाभावः, तादात्म्यप्रतियोगिकश्च तादात्म्याभाव इत्युक्त एव न मिश्रता तयोः, यो हि संसर्गतादात्म्यस्य निषेधः स संसर्गनिषेध एव न भवति तादात्म्यप्रतियोगिकत्वादिति, मैवम्। द्रव्यगुणकर्मणां समवायिकारणेषु हि तेषां प्रध्वंसा नैवं संसर्गाभावाः स्युः। संसर्गप्रतियोगित्वे तु संसर्गस्य समवायरूपतया समवायानित्यत्वप्रसङ्गात्। किञ्च तर्हि संसर्गान्योन्याभावौ द्वावपि न घटादिप्रतियोगिकाविति घटादेः कालादिवन्निरवधित्वापातः। संसर्गतादात्म्ययोश्चाविशेषितयोर्निषेधे सामान्यत एव तयोरुच्छेदः स्यात्। एवं यद्यदेव प्रतियोगि वाच्यं तत्तत्स्वरूपत एव न स्यात्, तस्यापि संसर्गं प्रति धावने च तदुक्तं, संसर्गानवस्था, शेषोच्छेदात्पूर्वपूर्वोच्छेदो वा स्यात् ।६२॥

न प्रतियोग्यनुयोगिनोस्तथात्वं विरोधः, किन्तु सहभावाभावोऽतस्तन्मात्रं न स्यात्, नतु तन्मात्रमेव न स्यादिति चेन्न। अनुयोगिनि प्रतियोग्यापत्तेः। तथा प्रमाभावात्

अन्य अन्योन्याभाव एवं उत्तरोत्तर अन्योन्याभाव की धारा को मानने से भेद का अननुगम तथा अननुभव का अनुसरण करना पड़ेगा ॥६१॥

समर्थन—जिस अभाव का प्रतियोगी संसर्ग हो वह अभाव संसर्गाभाव है, तथा जिस अभाव का प्रतियोगी तादात्म्य हो, वह अभाव अन्योन्याभाव है, ऐसा लक्षण करने पर इन दोनों अभावों का ऐक्य नहीं होगा; क्योंकि जो संसर्ग के तादात्म्य का अभाव है, वह तादात्म्य-प्रतियोगिक होने से संसर्गाभाव ही नहीं है। अतः स्मृतित्व-संसर्गाभाव शब्द से अन्योन्याभाव का ग्रहण न होने से प्रमालक्षण की स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—ऐसा लक्षण होनेपर द्रव्यगुण कर्म के ध्वंसाभाव में संसर्गाभाव के लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि ध्वंसाभाव का संसर्ग प्रतियोगी नहीं होता है और यदि संसर्ग को ध्वंस का प्रतियोगी मान लें तो द्रव्यादि के समवायीकारण में संसर्ग समवाय है, उसके निषेध होने से वह अनित्य हो जायगा, तथा नैयायिक समवाय को अनित्य मानते नहीं हैं। किञ्च यदि संसर्ग तथा तादात्म्य को संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव का प्रतियोगी मानें तो वे दोनों अभाव घटादि-प्रतियोगिक नहीं हुए, अतः घटादि के किसी काल या देश में निषेध न होने से काल के तुल्य घटादि भी निरवधि अर्थात् नित्य तथा व्यापक हो जायँगे। किञ्च अविशेषित संसर्ग तथा तादात्म्य का निषेध करने पर अर्थात् प्रतियोगी कोटि में घटादि का निवेश न करने पर सामान्य रूप से ही संसर्ग तथा तादात्म्य का उच्छेद हो जायगा। इस रीति से जो जो वस्तु अविशेषित (केवल) प्रतियोगी होंगी, वे वे वस्तु स्वरूप से ही उच्छिन्न हो जायँगी।

समर्थन—संसर्ग या तादात्म्य के भी संसर्ग का ही निषेध होता है, अतः स्वरूप से उन दोनों का उच्छेद नहीं होगा।

खण्डन—संसर्ग के भी यदि संसर्ग का ही निषेध करें तो अनवस्था दोष हो जायगा और यदि स्वरूप में निषेध करें तो संसर्ग के संसर्ग का स्वरूप से ही उच्छेद हो जायगा, तथा उत्तरसंसर्ग के उच्छेद होने से पूर्व २ को भी उच्छेद होने से फिर भी संसर्ग तथा

कथं तदास्तामिति चेन्न। तथाप्रमाभावमूलकस्य विरोधस्य सहानवस्थानस्य नियमनभङ्गात् प्रतियोग्यनुयोगिभावादन्यः कस्तयोर्विरोधः स्यात्। तथा न प्रमीयमाणत्वमेव स इति चेन्न, अतिप्रसङ्गात्। नियमेनेति चेन्न। व्यक्त्योरविरोधापत्तेः।६३॥

तथा न प्रमातुमनौपाधिकी योग्यतेति चेत्, सैव मेयगता योग्यताऽनुयोगिप्रतियोगित्वादन्या का समर्थिता स्यात्। स्वरूपमेवेति चेन्न। मिथः सम्भेदाभ्युपगन्त्राऽपि तयोः स्वरूपोपगमात्। तथाभूतं स्वरूपमिति चेन्न। तस्यैव निर्वाच्यतापत्तेः।६४॥

तादात्म्यमात्र का उच्छेद हो जायगा; क्योंकि संसर्ग के उच्छेद होने पर संसर्गी की स्थिति नहीं हो सकती है॥ ६३॥

समर्थन—अविशेषित संसर्ग तथा तादात्म्य के अभाव के होने पर स्वरूप से उन दोनों का उच्छेद होता यदि प्रतियोगी के साथ अभाव का परस्पर निषेध्यनिषेधभाव, अर्थात् प्रतियोगी के निषेधरूप अभाव और अभाव के निषेध रूप प्रतियोगी ऐसा ही विरोध होता, परन्तु ऐसा नहीं है, किन्तु सहअवस्थान का अभाव ही विरोध है, अतः प्रतियोगी अभाव इन दोनों का सहअवस्थान नहीं होगा, प्रतियोगी का स्वरूप से उच्छेद नहीं होगा।

खण्डन—यदि सहअवस्थान का अभाव ही विरोध है, तो प्रतियोगी में अभाव का वैशिष्ट्य जैसे होता है, वैसे अभाव में अभाव का वैशिष्ट्य नहीं है, क्योंकि स्व में स्व नहीं रहता है, अतः अभाव में प्रतियोगी का वैशिष्ट्य भी हो जायगा।

समर्थन—अभाव में प्रतियोगी के वैशिष्ट्य की प्रमा नहीं होती है, अतः अभावप्रतियोगी के वैशिष्ट्य का आपादन नहीं हो सकता।

खण्डन—तब प्रतियोगी तथा अभाव इन दोनों के सहअवस्थान की प्रमा तथा आधाराधेयभाव की प्रमा नहीं होती है, उनमें सहअवस्थान की प्रमा का विरह तो सहअवस्थानरूप विरोध से उपपादित हो सकता है; परन्तु आधाराधेयभाव प्रमा के विरह के उपपादन के अर्थ एक अन्य नियम का भी स्वीकार करना पड़ेगा। अतः सहअवस्थान ही विरोध है, यह नियम भग्न हो जायगा, और वह नियम प्रतियोगी अनुयोगी भाव से अर्थात् परस्पर निषेध्यनिषेध भाव से अन्य नहीं हो सकता है।

समर्थन—प्रतियोगी तथा अभाव से सहभाव से तथा आधाराधेयभाव से अप्रतीयमानत्व ही विरोध है, परस्पर निषेधरूपत्व विरोध नहीं है।

खण्डन—कदाचित् पट और महारजन इन दोनों को भी सहभाव वा आधाराधेयभाव से अप्रतीयमान होने से इन दोनों का भी विरोध हो जायगा।

समर्थन—जिस जाति से विशिष्ट पदार्थों की प्रतीति नियम से आधाराधेयभाव वा सहभाव से न हो उन दोनों का विरोध होता है और नियम से पट तथा महारजन की प्रतीति नहीं है, किन्तु कदाचित् अधाराधेयभाव से भी प्रतीति होती है, अतः विरोध नहीं है।

खण्डन—जिन वस्तुओं (नित्यत्व अनित्यत्व आदि) में जाति नहीं है उनका विरोध नहीं होगा। तथा नियम को यदि देशगर्भ माने तो विरोध-देश व्यक्तियों में और यदि कालगर्भ मानें तो कालों (अतीत अनागत) में विरोध नही होगा॥ ६४॥

समर्थन—सहभाव से वा आधाराधेयभाव से जो प्रतीति है उसमें अयोग्यता विरोध है, भाव अभाव की तो सहभाव से तथा आधाराधेयभाव से प्रतीति में अयोग्यता है, और

कथं गोत्वाश्वत्वाभ्यां भावाभावयोरेवंविधविरोधे विशेषः स्यात्, सत्याञ्च तयोः साहित्यप्रमायां प्रकारभेदेन व्यवस्थापना किमिति कार्या, प्रमयैवाप्रमानुपगमादिति ॥६५॥

अथ घटादिविशेषितयोस्तयोर्निषेधौ तौ, सविशेषणौ च विधिनिषेधौ न कथञ्चिद्विशेषणमनुपसङ्क्रम्य स्यातामिति ब्रूषे, तदपि न, तर्हि विशिष्टस्य निषेधो विशेषणस्यापि भवतीति संसर्गान्योन्यनिषेधोऽपि संसर्गनिषेधः स्यादेवेति पुनः स प्रसङ्गो वज्रलेपायते । अन्योन्याप्रतियोगिकः संसर्गप्रतिषेधस्तथा विवक्षितः एवमन्योन्यनिषेधोपि संसर्गाप्रतियोगित्वेन निर्वाच्य इति चेन्न; एवं ह्यन्योन्यसंसर्गाभावः संसर्गान्योन्याभावश्चापरा कोटिः स्यात् । किञ्चैवंसति संसर्गाभावोऽन्योन्याभावो यो न

पट, महारजन की तथाप्रतीति में अयोग्यता नहीं है, क्योंकि पट की महारजन में कदाचित् आधाराधेयभाव से भी प्रतीति होती है ।

खण्डन—वह अयोग्यता वा योग्यता ज्ञान अथवा ज्ञानगत तो होगी नहीं, किन्तु प्रमेयगत ही हो सकती है और प्रमेय में परस्पर निषेध्य-निषेधात्मकत्व से अन्य कोई योग्यता नहीं है ।

समर्थन—प्रतियोगी अभाव इन दोनों के स्वरूप ही विरोध हैं ।

खण्डन—जो पदार्थमात्र को सत् असत् उभयरूप मानते हैं, उनके मत में भाव अभाव दोनों के स्वरूप होने पर भी एकत्र समावेश होने से विरोध नहीं है, अतः व्यभिचार होने से स्वरूप विरोध नहीं है ।

समर्थन—जैसे २ अभाव तथा भाव का परस्पर सहअवस्थान वा आधाराधेयभाव नहीं होता इसमें उन दोनों का स्वरूप विरोध है ।

खण्डन—किंरूप भाव अभाव का मिथः सम्भेद नहीं होता है इसका निर्वचन नहीं हो सकता है ॥६४॥

किञ्च यदि सहअवस्थानही वा सहअप्रतीयमानत्व ही विरोध है तो गोत्व अश्वत्व के विरोध से भाव अभाव के विरोध में भेद ही क्या रहेगा । परस्पर विरुद्ध संयोग तदभाव के एकत्र समावेश के अर्थ मूल शाखा आदि को अवच्छेदक तार्किक मानते हैं । यदि सहअवस्थानही आदि विरोध है तो संयोगतदभाव के सहअवस्थान आदि होने से विरोध ही नहीं है, फिर विरोध के परिहार के अर्थ अवच्छेदक क्यों माना जाय ॥६५॥

समर्थन—घटादिविशेषितसंसर्ग का निषेध, संसर्गाभाव है, तथा घटादिविशेषिततादात्म्य का निषेध, तादात्म्यभाव है, और विशिष्ट का निषेध, विशेषण के निषेध के बिना हो नहीं सकता है । अतः विशिष्ट का निषेध ही विशेषण का भी निषेध है, तथा घटादिविशिष्टसंसर्ग तथा तादात्म्य के निषेध से विशिष्ट संसर्ग या तादात्म्य का ही उच्छेद होगा, सामान्य से संसर्ग वा तादात्म्य का उच्छेद नहीं होगा ।

खण्डन—यदि विशिष्ट का निषेध विशेषण का भी निषेध है, तो संसर्ग के अन्योन्य का निषेध (अन्योन्याभाव) संसर्ग का भी है, अतः स्मृतित्वसंसर्ग के अन्योन्याभाव का ग्रहण कर प्रमालक्षण की स्मृति में जो अतिव्याप्ति दी है, वह अतिव्याप्ति वज्रलेप के तुल्य अपरिहार्य्य हो जायगी; क्योंकि स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभाव भी, स्मृतित्वसंसर्गाभाव है ।

समर्थन—अन्योन्य है प्रतियोगी जिसका उससे भिन्न जो संसर्ग का निषेध वह संसर्गाभाव है तथा संसर्ग है प्रतियोगी जिसका उससे भिन्न जो अन्योन्य का निषेध वह

भवति स संसर्गाभावतया विवक्षित इत्युक्तं स्यात्, तथा च संसर्गविशेषणं व्यर्थमिति संसर्गाभावमर्थमधिकमाकाङ्क्षता त्वयाऽन्वर्थः संसर्गाभावशब्दोऽपि हारितः स्यात्। (यतोऽन्योन्याभावो यो न भवत्यभावः स संसर्गाभाव इत्युक्तम्।) ॥६६॥

किंचाऽनयाऽपि वाचाऽन्योन्याभावनिषेधोऽभिधीयमानोऽन्योन्याभावेऽपि प्रसज्यते, न ह्यन्योन्याभावोऽन्योन्याभावो भवतीति शक्यं प्रमातुं, सामानाधिकरण्यं हि प्रकारभेदे सति भवति, यथा नीलमुत्पलमित्यादि। ततस्तदभावादेव न तथेत्यतिप्रसङ्गः। अन्यश्चान्योन्याभावेष्वेव तिष्ठन्नेव कः प्रमेयो यद्वति तथा कथ्येत अभावमात्रे त्वतिप्रसङ्गात् व्यक्तिविशेषे च शेषेष्वन्योन्याभावेषु संसर्गाभावत्त्वापत्तेः ॥६७॥

अन्योन्याभाव है, अतः स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावसंसर्गाभाव ही नहीं है फिर उक्त अन्योन्याभाव को ग्रहण कर प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति कैसे होगी।

खण्डन—ऐसा होने पर "अन्योन्यं नास्ति" इत्याकारकप्रतीतिसिद्ध अभाव अन्योन्यप्रतियोगिक होने से संसर्गाभाव नहीं कहाजावेगा, तथा "संसर्गो न" इस प्रतीति से सिद्ध अभाव, संसर्गप्रतियोगिक होने से अन्योन्याभाव नहीं हो सकेगा, किन्तु उक्त अभावद्वय स्वीकृत अभावों में अन्तर्भाव के न होने से अन्यकोटि ही होंगे। किञ्च ऐसा होने पर अन्योन्यप्रतियोगिक से भिन्न जो संसर्गाभाव है यही उक्त वाक्यका अर्थ हुआ। तब तो संसर्ग विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि अन्योन्यप्रतियोगिक से भिन्न जो अभाव वह संसर्गाभाव है, ऐसा कहने पर भी कोई दोष नहीं है। यदि संसर्ग का निवेश न रहे तो संसर्गाभाव शब्द के अन्वर्थ का त्याग हो जायगा; क्योंकि संसर्गाभाव शब्द का "संसर्ग का अभाव" यह अर्थ न रहा; किन्तु अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव अर्थ रहा ॥६६॥

किञ्च इस वचन की रचना से कथित अन्योन्याभाव का निषेध अन्योन्याभाव में भी प्रसक्त हो जायगा, क्योंकि शब्दों के सामानाधिकरण्य से कृत विशेष्यविशेषणभाव अथवा उद्देश्यविधेयभाव धर्मभेद में होता है जैसे "नीलमुत्पलम्" इस स्थल में। अतः "अन्योन्याभावः, अन्योन्याभावः" यह प्रतीति तो होती नहीं है और जब अन्योन्याभाव का विधान अन्योन्याभाव में न हुआ, तब अन्योन्याभाव का निषेध अन्योन्याभाव में अर्थात् सिद्ध हुआ।

समर्थन—अन्योन्याभावमात्र में वृत्ति किसी धर्म को उद्देश्यता के अवच्छेदक (नियामक) मान कर अन्योन्याभावत्व के विधान के तात्पर्य से "अन्योन्याभावः अन्योन्याभावः," यह प्रयोग हो सकता है।

खण्डन—अन्योन्याभावत्व से अन्य केवल अन्योन्याभाव में ही स्थित धर्म्म में कोई प्रमाण नहीं और यदि प्रथम अन्योन्याभावपद की लक्षणा से अभावत्व के बोध के तात्पर्य्य से प्रयोग करें तो "अन्योन्याभावः" "अन्योन्याभावः" इस वाक्य का 'अभावः' अन्योन्याभावः इस अर्थ में तात्पर्य्य होने से संसर्गाऽभाव भी अन्योन्याभाव हो जायगा और यदि घटान्योन्याभाव के तात्पर्य्य से प्रयोग हो, तो उक्त वाक्य का घटान्योन्याभाव अन्योन्याभाव है—यह अर्थ हुआ। अतः पटान्योन्याभाव अन्योन्याभाव नहीं हो सकेगा; किन्तु वह संसर्गाभाव हो जायगा ॥६७॥

जिन २ लक्षणों में किसीसे अन्यत्व का निवेश हो, उन २ सब लक्षणों में यह दोष जानना चाहिये। देखिये—

एतच्च सर्वत्र तदन्यत्वेन व्यवच्छिद्यमाने द्रष्टव्यम् । तथा हि—

नातत्तन्मन्यसे तावन्न तत्तदपि मंस्यसे ।
सामानाधिकरण्यं हि रूपभेदमपेक्षते ॥
रूपान्तरेण निर्दिश्य तच्चेत्तदभिधीयते ।
ताद्रूप्येण तथाऽपि स्यात् सैव सव्यभिचारिता ॥९८॥

अपिच अन्योन्याभावस्य संसर्गाभावोऽप्येवं व्यवच्छिन्नः स्यात्, तस्याऽप्यन्योन्यप्रतियोगिकत्वात् । अथान्योन्याभावस्य संसर्गाभावो नामाधिको नोपेयत एवं यमादाय तथा स्यादिति चेन्न, एवं तर्ह्यन्योन्याभावस्यान्योन्याभावोऽपि नाधिकोऽभ्युपगन्तव्यः स्यादित्यन्योन्याप्रतियोगित्वेन व्यवच्छेदोऽपि संसर्गाभावस्य त्वदभिमतस्य कथं स्यात्, व्यवच्छेदस्य निषेधार्थत्वात् । अथ माभूदधिकोऽसौ, स्वरूपमेव तु तथेष्यत इति तदादायैव व्यवहार एष निर्दोष इति चेत्, तर्ह्यन्योन्याभावसंसर्गव्यतिरेकेऽपि तुल्यमेतत् ॥९९॥

अपि च अन्योन्यप्रतियोगिको न भवत्यभावो यः संसर्गाभाव इति वदता त्वयान्योन्यप्रतियोगिकेऽभावे निषिध्यमानेऽन्योन्यात्मकोऽसावभावोऽभ्युपगतः स्यात्, द्वयोर्निषेधयोः सुन्दोपसुन्दतयाऽन्योन्यस्यैव स्थैर्यापत्तेः, तथा च सत्यन्योन्यस्मिन्निविशेषणे जगदेव प्रविष्टमिति संसर्गाभावत्वेन विवक्षितस्य जगदात्मतायां सिद्ध्यन्त्याम-

---

जैसे उससे भिन्न वह यह प्रयोग नहिं होत, ऐसे वह वह यह नहीं कभी प्रयोग भी होत ॥
अन्य धर्म्म में लक्षणावश से यदि प्रयोग, अतिव्याप्ति अव्याप्ति तब दोष न होत है योग ॥९८॥

किञ्च यदि संसर्गाभाव के लक्षण में "अन्योन्याप्रतियोगित्वे सति" यह निवेश करें तो "अन्योन्याऽभावो नास्ति" इस प्रतीति से सिद्ध संसर्गाऽभाव में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह भी अन्योन्यप्रतियोगिक है ।

समर्थन—अनवस्था तथा अननुभव-दोष से अभाव के अभाव को नहीं मानते है, जिस में अव्याप्ति दोष हो ।

खण्डन—यदि अभाव के अभाव को नहीं मानेंगे तो अन्योन्याभाव के अन्योन्याभाव को भी नहीं मानेंगे, फिर अन्योन्याऽप्रतियोगित्व विशेषण देने से संसर्गाभाव में अन्योन्याऽभाव से व्यवच्छेद भी कैसे होगा; क्योंकि व्यवच्छेद = निषेध (अन्योन्याऽभाव) ही है ।

समर्थन—अन्योन्याभाव का अन्योन्याभाव, अतिरिक्त नहीं है, किन्तु व्यवच्छेद जो अन्योन्याऽभाव तद्रूपही व्यवच्छेद = अन्योन्याभाव है, अतः अन्योन्याप्रतियोगिकत्व विशेषण से अन्योन्याभाव का स्वरूपरूप अन्योन्याभाव होगा ।

खण्डन—तब तो "अन्योन्याऽभावो नास्ति" इस प्रतीति से सिद्ध अभाव के भी अतिरिक्त न होने पर स्वरूपरूप आप अवश्य मानेंगे, अतः स्वरूपरूप उक्त-अभाव में संसर्गाभाव के लक्षण की अव्याप्ति वैसी ही रही ॥ ९९ ॥

किञ्च जो अभाव अन्योन्यप्रतियोगिक न हो वह संसर्गाभाव है—ऐसा लक्षण करने वाले अन्योन्य-प्रतियोगिक अभाव के निषेध होने पर संसर्गाभाव अन्योन्यात्मक है—इस बात को अवश्य मानेंगे, क्योंकि दोनों अभावों को परस्पर सुन्द उपसुन्द के तुल्य निषेधरूप

न्योन्याभावात्मताऽपि स्यादिति व्यर्थो विशेषणप्रयासो हासायेति, सविशेषणेऽप्यविशेषणवत्प्रसङ्ग इति महत् कौतुकम् ॥ ७० ॥

ननु घटाभावो न भवति स्तम्भ इत्युक्ते किं स्तम्भो घटात्मा विहितो भवति, तत् कस्य हेतोः ? तदा हि तथा स्यात् यदि घटस्तदभावश्चेत्येव जगत्स्यात्, यदा तु स्तम्भादिरप्यपरा कोटिरस्ति, तदा कथं तथा स्यादित्युक्तप्रसङ्गानवकाश इति ।

मैवम् । यथा घटतदभावाभ्यामन्या वस्त्रादिकमप्यस्ति कोटिस्तथाऽन्योन्यतदभावाभ्यां नान्या कोटिः सम्भवति, निर्विशेषणान्योन्यमध्ये जगत एव प्रवेशात् तदात्मनोऽपि निषिध्यमानत्वे तन्निषेधात्मके तदात्मनि जगत्प्रवेशात्, न हि घटः पटात्मेत्यनेन घटस्वरूपादन्यस्तदात्मा विहितः स्यात्, यदि तु तादात्म्यं नामाभेदाख्यो धर्मः कश्चिदिष्यते स घटपटाद्यधिकरणतया निषिध्यते तदा संसर्गाभाव एव स स्यात् । तस्मान्निर्विशेषणतादात्म्यान्तर्भूतं जगदिति कोऽन्यन्तराभाव इति ॥ ७१ ॥

होने से अन्योन्य की ही स्थिति होगी। ऐसा होने पर विशेषणरहित अन्योन्य में जगन्मात्र प्रविष्ट हुआ। अतः जिसको आप संसर्गाभाव कहते हैं, उसको जगद्रूप सिद्ध होने पर वह अन्योन्याभावरूप भी सिद्ध हुआ, अतः अन्योऽन्याभाव से व्यवच्छेद के लिये लक्षण में अन्योन्याप्रतियोगित्व विशेषण—प्रयास के व्यर्थ होने से—हास्य के लिये होगा। अति आश्चर्य तो यह है कि विशेषण देने पर भी विशेषण रहित के तुल्य दोष होता है ॥ ७० ॥

शंका—स्तम्भ घटाभाव नहीं है—यह कहने पर क्या स्तम्भ घटरूप सिद्ध होता है, कदापि नहीं; तब ऐसा होता, यदि घट तथा घटाभाव इतना ही जगत् होता, जब स्तम्भ आदि और कोटि (वस्तु) हैं तब ऐसा कैसे हो सकता है। इसी रीति से अन्योन्याभाव के निषेध होने पर अन्योन्यरूप जगत् कैसे हो सकता है।

उत्तर—जैसे घट घटाभाव से अन्य स्तम्भादि हैं, वैसे ही अन्योन्य अन्योन्याभाव से अन्य कोई वस्तु नहीं है, अतः संसर्गाभाव को विशेषणरहित अन्योन्य में अन्तर्भूत होने से उक्त दोष वैसे ही है।

समर्थन—अन्योन्याभावशब्द तादात्म्यप्रतियोगिकअभाव की संज्ञा है, "अन्योन्यस्य अभावः" इस अर्थ में यौगिक नहीं है, अन्योन्याभाव के निषेधका अन्योन्य में पर्य्यवसान न होने से पूर्वोक्त दोष नहीं होगा।

खण्डन—यदि तादात्म्य के निषेध को अन्योन्याभाव कहें, तो तदात्म के निषेध के निषेध को तदात्मरूप में ही पर्य्यवसित होने से तदात्मक संसर्गाभाव में जगत् का ही प्रवेश हुआ, क्योंकि "घटः पटात्मा—यह कहने पर घटरूप से अन्य पटात्मा प्रतीत नहीं होता है, किन्तु घटरूप ही पटात्मा प्रतीत होता है।

समर्थन—अन्योन्याभाव का तादात्म्य प्रतियोगी है, अतः अन्योन्याभाव का निषेध तादात्म्यरूप होगा और तादात्म्य जगत् का धर्म्म है, जगद्रूप नहीं है।

खण्डन—यदि तादात्म्य का घट पट में निषेध करें तो अन्योन्याभाव का संसर्गाभाव में प्रवेश होने से उसका उच्छेद हो जायगा। तस्मात् निर्विशेषण अन्योन्य अथवा तादात्म्य में जगत् का प्रवेश होने से संसर्गाभाव अन्योन्याभावात्मक हो जायगा ॥ ७१ ॥

अपि च एवं तर्हि घटे निषिध्यमाने घटाभावो विधीयते, घटाभावे च निषिध्यमाने घट इत्यपि न स्यात्, तृतीयस्य विद्यमानत्वात्, भवन् वा घटाभावः स्तम्भो न भवतीत्यत्रापि घटाभावत्वाविशेषाद्विशेषान्तरानिर्वचनाच्च घटः स्तम्भात्मेत्येवोक्तं स्यादिति त्वत्प्रसङ्गस्त्वयि निपतेत्। संसर्गान्योन्याभाववैचित्र्यमादाय हि स परिहार्य्यः, स एव च नाद्यापि व्यवतिष्ठते ॥७२॥

अतएव प्रतीतिवलादन्यदेव वैधर्म्यमनयोरुपेयमित्यपि निरस्तम्। प्रतिषेधप्रतिषेध्यविरोधे हि प्रकारविशेषव्यवस्थानिरुक्त्यशक्तेरविशेषेणैकनिषेधेऽन्यविधिध्रौव्यं भवदन्योन्याभावनिषेधेऽप्यन्योन्यविधये स्यात् ॥७३॥

मम चानिर्वचनीयतैव प्रतीतिव्यवहारव्यवस्थापर्य्यनुयोगवाणवारणाय वज्रवार-

---

किञ्च यदि अन्योन्य अथवा तादात्म्य के अभाव के अन्योन्याभाव को अन्योन्यरूप न मानें, तो घट के अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव भी घटरूप नहीं होगा; क्योंकि घट घटाभाव से अन्य तृतीय कोटि यहां भी नहीं है, यदि तृतीय कोटि के रहते भी अभाव के अभाव को प्रतियोगीरूप मानें तो "घटाभावात्मा स्तम्भो न भवति" यहां घटान्योन्याभाव का अन्योन्याभाव भी स्तम्भात्मा हो जायगा; क्योंकि अन्योन्याभाव भी अभाव ही है और आपने अद्यावधि संसर्गाऽभाव से अन्योन्याऽभाव के भेद को सिद्ध किया नहीं है। जिससे अत्यन्ताभावस्थल में अभावाभावप्रतियोगीरूप होता है, और अन्योन्याऽभावस्थल में नहीं ऐसे नियम को मान कर भी अतिप्रसङ्ग का निवारण कर सकेंगे ॥ ७२ ॥

समर्थन—किसी अभाव का अभाव तो प्रतियोगीरूप प्रतीत होता है, और किसी अभाव का अभाव प्रतियोगी से अन्य ही प्रतीत होता है, अतः प्रतीति ही इन दोनों अभावों के भेद में प्रमाण है।

खण्डन—जब तक अर्थ का भेद लक्षण से सिद्ध न हो, तब तक इन दोनों अभावों की भेदावगाही प्रतीति ही प्रमात्व को न पाकर भ्रमरूप है, अतः इन दोनों अभावों की भेदावगाही प्रतीति भी प्रमा नहीं हो सकती है।

समर्थन—जहां प्रतियोगी और अभाव इन दोनों में परस्पर विरोध हो, वहां अभाव का निषेध प्रतियोगी की विधि के लिये होता है। अर्थात् अभावाभाव प्रतियोगीरूप होता है। अन्योन्याभावस्थल में अभाव और प्रतियोगी इनके एक अधिकरण में रहने से विरोध नहीं है, अतः इस स्थल में अभावाभाव प्रतियोगीरूप नहीं है।

खण्डन—अत्यन्ताभावस्थल में अभावाभाव प्रतियोगीरूप होता है, अन्योन्याभावस्थल में नहीं—यह व्यवस्था भी इन अभावों के निर्वचन के विना हो नहीं सकती है और अविशेष रूप से अभावस्थल में उक्त नियम मानने पर अन्योन्याभाव का अभाव अन्योन्यरूप हो जायगा ॥ ७३ ॥

प्रश्न—इन दोनों अभावों का भेद करना तो लक्षणद्वारा आपका भी कर्त्तव्य है, अन्यथा आप भी प्रतीति और व्यवहार के वैचित्र्य की व्यवस्था कैसे करेंगे।

खण्डन—मेरे मत में इस प्रश्नरूप वाण के निवारण के लिये अनिर्वचनीयता ही युद्ध-कवच है। अर्थात् जगत् प्रतीतिसिद्ध होने से अत्यन्त असत् नहीं है, और निर्वचन के न

बाणायमाना विजयते। मम त्वेवं दर्शनं प्रतीतिसिद्धत्वादत्यन्तासद्विलक्षणम्भवदपि जगत्तथा सत्तोपगमेऽपि बाध्यमानत्वादनिर्वचनीयमिति ॥७४॥

अतएव प्रतीयमानत्वाद्वैचित्र्यमनयोर्घुष्यमाणमतिदूरनिरस्तम्। उक्तप्रतियोग्यादिवैचित्र्यानुपपत्तितः प्रतीयमानस्यैव बाध्यताया एव कथनात्।

तस्मात्—

अन्योन्याभावसंसर्गाभावभेदव्यवस्थितौ।
सत्यां स्यात्तद्व्यवस्थेति स्वाश्रयं कश्चिदित्सतु ॥ २१ ॥ ७५ ॥

अभाव एव यत्रेति सावधारणं वक्तव्यमित्ति चेन्न, एवकारेण किमधिकमभिधीयते। भावो निषिध्यत इति चेन्न, तस्याभावपदेनैव लब्धत्वात्, भावनिषेधोऽभाव इत्यनर्थान्तरमिदम्। भावसामानाधिकरण्यनिषेध एवकारार्थ इति चेन्न, उक्तेनैव

होने से बाधित प्रतीति का विषय है, अतः सत भी नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय है, अतः मुझ से निर्वचन का प्रश्न हो नहीं सकता है ॥ ७४ ॥

इसीसे (प्रतीति के बाधित होने से ही)—प्रतीति के वैलक्षण्य से इन दोनों अभावों में वैलक्षण्य है—यह कथन खण्डित हुआ। उक्त रीति से प्रतियोगी, अधिकरण और लक्षण इन तीनों के भेद न होने से इन दोनों अभावों के परस्पर भेद नहीं है, अतः विषय के बाध से प्रतीति बाधित है। तस्मात् अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव के भेद की सिद्धि होने पर अन्योन्याभावभिन्नत्व से घटित संसर्गाभाव का लक्षण हो, और लक्षण होने पर अभावों में भेद सिद्ध हो—इस रीति से संसर्गाभाव के लक्षण में संसर्गाभाव के प्रवेश होने से आत्माश्रय हो जायगा। अथवा विषय के वैलक्षण्य से प्रतीति का वैलक्षण्य होता है और प्रतीति के वैलक्षण्य से विषय का वैलक्षण्य होता है, अतः अन्योन्याश्रय हो जायगा ॥ ७५ ॥

निर्वचन—जिस ज्ञान में स्मृतित्व का अभाव ही हो, वह ज्ञान अनुभूति है—ऐसा लक्षण करने पर स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं है।

अथ एवकारार्थ-निरुक्तिखण्डनम्

प्रश्न—एव शब्द का क्या अर्थ है,

उत्तर—"एव" शब्द से भाव का निषेध होता है, अर्थात् जिस ज्ञान में स्मृतित्व का अभाव हो भाव न हो—यह "एव" शब्द का अर्थ है।

खण्डन—अभाव शब्द का अर्थ भी "न भावः" इस योग के आश्रयण से भाव न हो—यही हुआ, अतः पुनरुक्ति दोष हो जायगा।

समर्थन—"एव" शब्द का भावानधिकरणत्व अर्थ है, अतः पुनरुक्ति नहीं है।

खण्डन—जहां अभाव हो इस कथन से ही भावसामानाधिकरण्य का भी निषेध हो जायगा, क्योंकि भाव के निषेध होने पर भावाधिकरणत्व का निषेध भी फलित होता है, अतः शब्दपुनरुक्ति न होने पर भी अर्थपुनरुक्ति अवश्य है।

किञ्च स्मृतित्व-सामानाधिकरण्य का अन्योन्याभाव स्मृति में भी है, क्योंकि स्मृतित्वसामानाधिकरण्य स्मृति नहीं है, अतः जहाँ स्मृतित्वाभाव ही हो, स्मृतित्वसामानाधि-

गतार्थत्वात् । अन्योन्याभावस्य च तस्य स्मृतावपि सम्भवात्, न हि भावसामानाधिकरण्यं स्मृतिः स्मृतौ च भावमभावं चैकत्र मन्यमानेन तस्याप्येष्टव्यत्वात्, तयोः परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वात्, न हि रूपरसयोरेकत्राभावेन तत्सामानाधिकरण्याभावः स्यात् ॥ ७६ ॥

समाविष्टयोर्भावाभावयोः परस्परप्रतिक्षेपात्मकतैव न सिद्धेति चेत्तर्हि तथाविधयोर्भावतदभावपदसङ्केतनं न रूपरसयोरिति रुचिस्ते प्रमाणम् । रूपरसयोः परस्पर प्रतिक्षेपानात्मकत्वात्तदभावे तयोः सामानाधिकरण्याभाव आस्ताम्, अत्र तु नैवमितिचेन्न, तथात्वस्याऽसामानाधिकरण्यप्रयोजकत्वे तद्व्यतिरेकः सामानाधिकरण्यप्रयोजकः स्यादिति रूपरसादीनामसामानाधिकरण्यापत्तिः भावाभावयोरसामानाधिकरण्यानुपपत्तिश्च ॥७७॥

करण्य न हो—ऐसा कहने पर भी अनुभूतिलक्षण की स्मृति में अतिव्याप्ति वैसी ही है। जब आप एक स्मृति में स्मृतित्व और स्मृतित्व का अन्योन्याभाव दोनों को मानते हैं तब स्मृतित्वसामानाधिकरण्य और स्मृतित्वसामानाधिकरण्य का अन्योन्याभाव इन दोनों को अवश्य मानेंगे, क्योंकि स्मृतित्वसामानाधिकरण्य का तादात्म्य और तादात्म्य का अन्योन्याभाव दोनों परस्पर प्रतिक्षेप (निषेध) रूप हैं, अर्थात् जब स्मृति में स्मृतित्वसामानाधिकरण्यतादात्म्य नहीं है तब उसका अन्योन्याभाव अवश्य ही है।

शंका—जब स्मृतित्वसामानाधिकरण्य है तब उसके अभाव की स्थिति दुर्घटसी प्रतीत होती है।

खण्डन—पृथिवी और जल में रूप तथा रस का सामानाधिकरण्य है; किन्तु तेज में रस के अभाव होने से सामानाधिकरण्य का अभाव जैसे दुर्घट नहीं है, वैसे ही स्मृति में स्मृतित्वसामानाधिकरण्य तथा उसके अभाव की स्थिति भी दुर्घट नहीं है ॥ ७६ ॥

प्रश्न—जब स्मृतित्व और अन्योन्याभाव तथा सामानाधिकरण्य और उसका अन्योन्याभाव एक अधिकरण में रहते हैं, तब फिर परस्पर प्रतिक्षेपात्मक (निषेधरूप) कैसे है।

खण्डन—यदि स्मृतित्व और उसका अन्योन्याभाव प्रतिक्षेप (निषेध) रूप नहीं है, तो भाव अभाव पद का इनमें ही संकेत है, रूप रस में नहीं है, इसमें आपकी रुचि ही प्रमाण रही और कुछ प्रमाण नहीं रहा।

समर्थन—रूप और रस परस्परप्रतिक्षेप (निषेध) रूप नहीं है, अतः पृथिवी में सामानाधिकरण्य होने पर भी तेज में इसके अभाव होने से इन दोनों में असामानाधिकरण्य भी होता है। और भाव अभाव प्रतिक्षेपात्मक हैं, अतः यदि इनमें सामानाधिकरण्य मानें तो असामानाधिकरण्य नहीं हो सकेगा।

खण्डन—यदि प्रतिक्षेपानात्मकत्व को असामानाधिकरण्य का प्रयोजक मानें तो प्रतिक्षेपात्मकत्व को सामानाधिकरण्य का प्रयोजक अवश्य मानना पड़ेगा और यदि मानलें तो रूप, रस, में सामानाधिकरण्य नहीं होगा; क्योंकि ये दोनों प्रतिक्षेपात्मा नहीं है, और भाव अभाव इन दोनों में असामानाधिकरण्य नहीं होगा; क्योंकि ये दोनों प्रतिक्षेपात्मक हैं ॥७७॥

समर्थन—जिस ज्ञान में स्मृतित्व का असामानाधिकरण्य ही हो वह ज्ञान अनुभूति है, स्मृति में सामानाधिकरण्य भी है, अतः अतिव्याप्ति नहीं।

असामानाधिकरण्यमेव यत्रेति विवक्षितमिति चेन्न, एवकारार्थदौःस्थ्यतादवस्थ्यात्। एतेन विलक्षण एवायमभावो भावसहासनाऽनुपवेशी य एवकारसमभिव्याहारेणोच्यत इति निरस्तम्। तस्यापि वैलक्षण्यं प्रतियोग्याश्रयनिषेधतासाम्येऽपि सामानाधिकरण्यविरहादुन्नेयं, तच्च तुल्यमभावान्तरेण। सामानाधिकरण्याभावप्रत्ययेनेति चेन्न, प्रत्ययविशेषकस्यार्थस्य स्मृतावपि भावात्। अन्योन्याभावव्यतिरिक्तः स्मृतित्वाभाव इत्युक्तौ च स्मृतिर्व्यतिरिक्तपक्षोक्त एव दोषः, तदाऽऽस्तां विस्तरः॥ ७८॥

खण्डन—असामानाधिकरण्य ही हो; यहाँ एवकारार्थक 'ही' शब्द से यदि-सामानाधिकरण्य का निषेध इष्ट हो, तो असामानाधिकरण्य शब्द से ही उसके लाभ होने से "ही" शब्द का अर्थ पुनरुक्त हो जायगा।

समर्थन—भाव के साथ एक अधिकरण में न रहनेवाला तथा अन्योन्याभाव से विलक्षण ही यह अत्यन्ताभाव है, जो एवार्थ "ही" शब्द की सन्निधि में प्रतीत होता है, अर्थात् "जहाँ स्मृति का अभाव ही हो" इस वाक्य का यह अर्थ है कि जहाँ स्मृतित्व का अत्यन्ताभाव हो, अतः अन्योन्याभाव का ग्रहण कर स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—प्रतियोगी या अधिकरण से कृत अथवा स्वरूप से कृत अत्यन्ताभाव का अन्योन्याभाव के साथ वैलक्षण्य तो है नहीं, केवल प्रतियोगी के साथ असामानाधिकरण्य से अत्यन्ताभाव में वैलक्षण्य का अनुमान करेंगे, वह हो नहीं सकता है, क्योंकि अन्योन्याभाव में भी उक्तरीति से असामानाधिकरण्य दिखाया जा चुका है अर्थात् "भावसामानाधिकरण्यं न अन्योन्याभावः" इस प्रतीति से सिद्ध अन्योन्याभावरूप असामानाधिकरण्य अन्योन्याभाव में भी है अतः असामानाधिकरण्य से अभावों में वैलक्षण्य का ज्ञान नहीं हो सकता है।

समर्थन—अत्यन्ताभाव में प्रतियोगी के साथ असामानाधिकरण्य की प्रतीति होती है, अतः उक्तप्रतीति से वैलक्षण्य की अनुमिति क्यों नहीं।

खण्डन—उक्तप्रतीति में वैलक्षण्य, असामानाधिकरणरूप विषय के वैलक्षण्य से ही है और असामानाधिकरण्य अन्योन्याभाव में भी है; अतः प्रतीति से भी अभावों में भेद न होने से अन्योन्याभाव का ग्रहण कर स्मृति में अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है।

इति एवकारार्थ-निरुक्तिखण्डनम्।

समर्थन—"जिस ज्ञान में अन्योन्याभाव से भिन्न स्मृतित्वाभाव रहता हो, वह ज्ञान अनुभूति है", ऐसा लक्षण करने पर अन्योन्याभाव का ग्रहण कर स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—जबतक दोनों अभावों के भेद की सिद्धि न हो, तबतक ऐसा लक्षण करने से कुछ लाभ नहीं है। किञ्च यदि "यत्किञ्चित् अन्योन्याभाव से भेद" का निवेश करें, तो एक अन्योन्याभाव से भिन्न अन्य अन्योन्याभाव है, अतः अन्योन्याभाव का ग्रहण कर अतिव्याप्ति हो जायगी और यदि सब अन्योन्याभाव से भेद का निवेश करें, तो अन्योन्याभाव का ग्रहण कर दोष तो नहीं होगा, परन्तु हमलोगों को सब अन्योन्याभाव के ज्ञान न होने से लक्षण की असिद्धि हो जायगी, क्योंकि सामान्यलक्षणा खण्डित है, अन्य कोई प्रमाण

नापि स्मृतित्वप्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं तद्धीर्वेति पक्षः, अन्योन्याभावेऽपि भवतामभावव्यवस्थायास्तादृशत्वेनोक्तप्रसङ्गस्य समानत्वात् ॥७६॥

अथान्यदेव किञ्चित्संसर्गाभावनिर्वचनं क्रियते तथा हि—स्मृतित्वस्य यत्र संसर्गितया निषेधस्तत्र तदभावस्य संसर्गाभावत्वम्, यत्र तु तदात्मत्वेन तत्र तदभावस्य न संसर्गाभावता, किन्त्वन्योन्याभावत्वमेव, स च इह न विवक्षितः, पूर्व एव तु संसर्गाभावो विवक्षित इति। नैतद्विचारसहम्। संसर्गितया निषेध इति येयं तृतीया सा लक्षणे वा? सहयोगे वा? कारकभेदे वा करणादौ?। नाद्यः संसर्गितया लक्षितस्यैवान्योन्याभावमादाय प्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः। तत्सहितस्यैवान्योन्यनिषेधस्य प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्। तृतीयस्तु न सम्भवति अत्यन्तनिषेधस्यानुत्पत्तिधर्मकत्वात्। तस्य च प्रकृतोदाहरणत्वात् ॥८०॥

सब अन्योन्याभावों की प्रमिति में है नहीं, तस्मात् विस्तार से कोई इष्टसिद्धि नहीं है, अतः विस्तार रहे ॥७८॥

समर्थन—स्मृतित्व के अभाव का ज्ञान जिस अधिकरण में होता हो उस अधिकरण का स्वरूप अथवा ज्ञान, स्मृतित्वाभाव है और वह अनुभूति में ही है, स्मृतिमें नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—स्मृतित्व के अन्योन्याभाव को भी आप स्मृतित्व का अभेदज्ञान जिस आश्रय में हो उस आश्रय का स्वरूप या ज्ञान-स्वरूप ही मानेंगे, अतः इन पक्षों में भी स्मृति में अतिव्याप्ति वैसी ही है ॥ ७६ ॥

समर्थन—और ही संसर्गाभाव की निरुक्ति की जायगी, सुनिये—जहाँ स्मृतित्व का संसर्गितया निषेध हो, वहाँ स्मृतित्व का संसर्गाभाव है, तथा जहाँ स्मृतित्व का तादात्म्येन निषेध हो, वहाँ स्मृतित्व का संसर्गाभाव नहीं है, किन्तु तादात्म्याभाव (अन्योन्याभाव) है। उक्त लक्षण में अन्योन्याभाव विवक्षित नहीं है, अपितु संसर्गाभाव ही विवक्षित है, अतः स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—"संसर्गितया निषेध" यहाँ तृतीया विभक्ति का क्या अर्थ है, लक्षण अथवा सहयोग अथवा करण अथवा प्रकार। इनमें प्रथम या द्वितीय पक्ष उचित नहीं हैं, क्योंकि संसर्गिता से उपलक्षित स्मृतित्व के अथवा संसर्गिता के साहित्य से युक्त स्मृतित्व के अन्योन्याभाव को ग्रहण कर पूर्ववत् अतिव्याप्ति हो जायगी। तृतीयकल्प भी युक्त नहीं है; क्यों कि अत्यन्ताभाव के नित्य होने से संसर्गित्व उसका करण (कारक) नहीं हो सकता है ॥८०॥

चतुर्थ पक्ष भी उचित नहीं है; क्योंकि यदि संसर्गित्व ही प्रकार है, तो संसर्गित्वरूप प्रकार से युक्त स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का ग्रहण कर स्मृति में ही अतिव्याप्ति है और यदि संसर्गित्व से अन्य कोई प्रकार हो तो उसका निर्वचन (लक्षण) कीजिए।

समर्थन—प्रकार शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है, अतः निर्वचन की आवश्यकता नहीं; किन्तु प्रकार ही प्रकार है।

खण्डन—आप उनके (जो पुरुष प्रकाररूपलक्ष्य को नहीं जानते हैं) लक्षण न कर इतर से व्यावृत्त लक्ष्य के रूप दिखा नहीं सकेंगे, अन्यथा (यदि लक्षण न कर भी लक्ष्य को इतर से व्यावृत्तित्व रूप से दिखा सकें, तो) प्रष्टा के बोध के लिये सर्वत्र लक्षण करना व्यर्थ

प्रकारवाचिनीयं तृतीयेति चेन्न, प्रकारशब्दार्थस्याधिकस्य निर्वक्तव्यत्वापातात्। प्रकारः प्रकार एवेति चेन्न, अविदितलक्ष्यस्य लक्षणमनभिधायेतरव्यवच्छेदेन तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्, अन्यथा सर्वत्र प्रष्टारं प्रति लक्षणानभिधानापातात्। को घट इत्यादिपृष्टे घट एव घट इत्याद्येवोत्तरं सङ्गच्छेत। प्रकार एवेति पक्षो नोपपन्नः सदोषत्वादिति वक्ता 'को दोष' इत्यनुयुक्तो दोष एव दोष इत्यभिधायैव च निर्वृत्तो भवेदिति। स्मृतित्ववत् स्मृतेर्लक्षणान्तरेण रहितत्वमनुभूतित्वमिति मत्युक्तं वेदितव्यम् ॥८१॥

गृहीतस्य हि ज्ञानं स्मृतिरिति च स्मृतिलक्षणे धारावाहिकज्ञानेऽतिप्रसक्तिः। सापेक्षज्ञानं स्मृतिः, सापेक्षता च स्वविषयनियमे समानविषयज्ञानापेक्षतेति चेन्न, प्रत्यभिज्ञाया भागस्य स्मृतित्वापत्तेः। एवमस्त्विति चेन्न, तर्हि प्रत्यभिज्ञायां स्मृत्यनुभवभागयोर्भिन्नविषयत्वव्यवस्थितौ तदभेदः केन गृह्येतेति। संस्कारमात्रजं ज्ञानं स्मृति-

---

हो जायगा। किञ्च यदि कोई प्रश्न करे कि घट क्या है, तो इस प्रश्न में भी "घट एव घटः" यह उत्तर ही पूर्ण अथवा सङ्गत होना चाहिये। किञ्च, प्रकारपक्ष युक्त नहीं है, सदोष होने से, यह कहनेवाला क्या दोष है, यह प्रश्न होने पर दोष ही दोष है, यह कह कर ही निवृत्त (विजय लाभ कर हष्ट) हो जायगा। जैसे "स्मृतित्वरहितत्वे सति ज्ञानत्वमनुभूतित्वम्" इस लक्षण में स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का ग्रहण कर स्मृति में अतिव्याप्ति है, वैसे ही "स्मृतिलक्षणरतिहत्वे सति ज्ञानत्वमनुभूतित्वम्" लक्षण भी स्मृति लक्षण के अन्योन्याभाव को ग्रहण कर स्मृति में ही अतिव्याप्ति होने से खण्डित जानना चाहिये ॥ ८१ ॥

अथ स्मृतिलक्षण-खण्डन

किञ्च स्मृति के लक्षण न होने से भी "स्मृतिलक्षणरहितत्वे सति ज्ञानत्वम् अनुभूतित्वम्" यह लक्षण अयुक्त है।

निर्वचन-कर्ता—गृहीत (ज्ञात) का ज्ञान स्मृति है।

खण्डन—ऐसा लक्षण करने पर धारावाही ज्ञान में पूर्व २ ज्ञान से गृहीत विषय को उत्तर २ ज्ञान के विषय होने से उत्तरज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायगी।

निर्वचन—स्वविषय के नियम में समानविषयक ज्ञान की अपेक्षा करनेवाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं।

खण्डन—ऐसा लक्षण करने पर "तद् एव इदम्" इस प्रत्यभिज्ञा में तत्तांश में अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा भी तत्तांश में समानविषयक अनुभव की अपेक्षा करती है। यदि प्रत्यभिज्ञा को तत्तांश में स्मृति मान लें तो प्रत्यभिज्ञा तत्तांश में स्मृति 'इदम्' अंश में अनुभव और अभेद अंश में क्या होगी इस तरह पूर्व दोष की आवृत्ति हो जायगी।

निर्वचन—केवल संस्कार से ही जन्य जो ज्ञान उसे स्मृति कहते हैं।

खण्डन—सम्पूर्ण कार्य, सामग्री से उत्पन्न होते हैं। कोई भी कार्य्य एक कारण से उत्पन्न नहीं होता है, अतः स्मृति को भी केवल संस्कार से अजन्य होने से लक्षण में असंभव दोष हो जायगा; क्योंकि स्मृति में भी आत्म-मनो-योग आदि अनेक कारण होते हैं।

रित्यपि न, सामग्रीतः सर्वसम्भवेन लक्षणस्यासम्भवात् । असाधारणतद्धेतुकधीत्व-मिति चेन्न, आत्मप्रत्यभिज्ञानेऽव्याप्तेः, आत्ममनोयोगस्य साधारण्यात् । कार्य्यैक्यान-वधारणे च कारणत्वानवधारणात् । तदैक्ये च तदेव लक्षणं स्यात् । येन ज्ञानेनार्थो ज्ञाततात्मकः क्रियते तदनुभवः येन तु ज्ञानमेव तथा तत्स्मरणमिति चेन्न, ज्ञातो ज्ञास्यते चेत्यनुमानादावव्याप्तेः ॥८२॥

ततश्च विषयतः स्मृतिविवेचनमन्ततो वाक्येनाप्यनुभाव्यत्वात् कार्य्यकारणाभ्यां चानुगतरूपस्य प्रागसिद्धेर्जातितश्च सङ्करप्रसङ्गादशक्यमिति ।

निर्वचन—संस्कार है असाधरण कारण जिसका वह ज्ञान स्मृति है ।

खण्डन—"सोऽहम्" इस आत्मविषयक प्रत्यभिज्ञा का भी संस्कार ही असाधारण कारण है, अतः प्रत्यभिज्ञा में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । आत्म-मनः-संयोग, ज्ञानमात्र के कारण होने से प्रत्यभिज्ञा का असाधारणकारण नहीं है । यदि आप कहें कि संस्कार भी स्मृति के कारण होने से प्रत्यभिज्ञा का असाधारणकारण नहीं है, तो हम भी कह सकेंगे कि संस्कार, प्रत्यभिज्ञा का कारण होने से स्मृति का भी असाधारणकारण नहीं है, अतः लक्षण में असम्भव दोष हो जायगा । किञ्च "स्मृतिं प्रति संस्कारः कारणम्" इस कार्यकारण-भाव के विना उक्त लक्षण हो नहीं सकता है, और उक्त कार्य्यकारणभाव, कार्य्यता के अवच्छेदक स्मृतित्वजाति की सिद्धि के विना हो नहीं सकता है और प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व के साथ सांकर्य्य होने से स्मृतित्वजाति अद्यावधि सिद्ध नहीं हुई है । यदि कथञ्चित् सिद्ध भी हो जाय तो लाघव या उपस्थिति होने से स्मृतित्व ही लक्षण रहे, संस्कारासाधारण-कारणकत्वरूपलक्षण में कुछ प्रमाण नहीं है ।

निर्वचन—जिस ज्ञान से अर्थ (विषय) ज्ञाततारूप धर्म्म से युक्त किया जाय वह ज्ञान अनुभूति है और जिसमें ज्ञाततायुक्त ही ज्ञाततायुक्त किया जाय वह स्मृति है ।

खण्डन—ज्ञात (अतीत विषय की अनुमिति) ज्ञास्यमान (अनागत विषय की अनुमिति) स्थल में ज्ञातता की उत्पत्ति नहीं हो सकती है; क्योंकि वहां विषयरूपअधिकरण उस काल में नहीं है, अतः लक्षण के भूत भविष्यत् स्थल में न होने से वहां अव्याप्ति दोष हो जायगा । किञ्च वर्तमान विषयस्थल में भी ज्ञात को ही अनुमिति भी विषय करती है । अतः ज्ञातताविशिष्ट के ज्ञातताविशिष्ट होने से अनुमिति में स्मृतिलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । तस्मात् "ज्ञातो घटः" इस अनुव्यवसायस्थल में ज्ञानसम्बन्ध भासता है । ज्ञातता-रूपअपूर्वधर्म नहीं भासता है; अन्यथा यदि ज्ञानस्थल में ज्ञातता की उत्पत्ति मानें तो तुल्ययुक्ति से इच्छा, कृति में इष्टता, कृतता को भी मानना पड़ेगा; पर वैसा मानते नहीं हैं ॥८२॥

तथा यद्यपि "गृहीतविषयकं ज्ञानं स्मृतिः" यह वाक्य, लक्षण को प्रतिपादन करता है, तथापि लक्षणघटकतया गृहीत अर्थ को भी प्रतिपादन करता ही है, अतः उस अंश में गृहीतविषयक होने से लक्षणवाक्यजन्य-बोध में स्मृतिलक्षण की अतिव्याप्ति होने से विषयकृत तथा अनुगतस्मृतित्वादिरूप के सिद्ध होने से कार्य्यकारणभावकृत और साङ्कर्य्य होने से जातिकृतस्मृति का विवेचन (निर्वचन) शक्य नहीं है ।

नापि चतुर्थः, यतः कार्य्यगतवैलक्षण्यानवगमे क्व कारणता क्वासाधारण्यं वा ज्ञेयमिति ।।८३।।

न केवलं प्रत्येकं पदार्थस्य तद्व्यवच्छेदकत्वस्य चानुपपत्तिर्मिलितेऽप्यस्मिन् लक्षणे दूषणमुच्यते, तथा हि-तत्त्वानुभूतिः प्रमेत्यनेन काकतालीयमपि यथार्थज्ञानं व्याप्यते। तद्यथा-पाणौ पञ्च वराटकान् पिधाय कश्चित् पृच्छति "कति वराटका" इति, पृष्टश्चाजाकृपाणीयन्यायेन ब्रवीति 'पञ्चेति', ततश्च पञ्चेति ज्ञानमस्ति वक्तुः श्रोतुश्च; दृश्यन्ते तावदेवम्विधान्युदाहरणानि । तच्च ज्ञानं न तत्त्वपदेन व्यवच्छेत्तुं शक्यम् । वस्तुतस्तस्य पञ्चसङ्ख्यावच्छिन्नत्वेनातथाभूतत्वाभावात् । नाप्यनुभवशब्दव्यच्छेद्यमननुभूतचरत्वेन स्मरणलक्षणोपेक्षणात् । नच वक्तुः संशय एव निश्चायकाभावादेकतरकोटिव्यवहारस्तु कृष्यादिप्रवृत्तिवदितियुक्तं, यत्राप्याहाररूपैककोटिनिश्चयास्थानादन्यथा संशयस्य

इति स्मृतिलक्षणखण्डन ।

"जिन ज्ञानों के असाधारणकारण, कार्य्य से अव्यवहित प्राक्क्षण में उत्पन्न होते हों वे ज्ञान अनुभूति हैं" यह चतुर्थ विकल्प भी युक्त नहीं है; क्योंकि जब तक कार्य्यगत किसी धर्म का ज्ञान न हो तब तक किसके प्रति कारणत्व का या असाधारणत्व का ग्रहण होगा और इनके ग्रहण के बिना यह लक्षण नहीं हो सकता है ॥ ८३ ॥

समुदायलक्षण का खण्डन—किञ्च केवल एक २ (तत्व पदार्थ तथा अनुभूति पदार्थ) की ही अनुपपत्ति तथा व्यवच्छेदकत्व का अभाव नहीं है; किन्तु समुदायलक्षण में भी दूषण कहे जाते हैं। श्रवण कीजिये—"तत्वानुभूतिः प्रमा" इस लक्षण से काकतालीय (अतर्कित) भी यथार्थज्ञान व्याप्त होते हैं। जैसे कोई मनुष्य हाथ में पांच कौड़ी छिपाकर प्रश्न करता है कि कितनी कौड़ी हैं। पृष्टमनुष्य काकतालीयन्याय ही से अकस्मात् उत्तर देता है, कि "पांच" इस स्थल में वक्ता श्रोता दोनों को पञ्चवराटक का ज्ञान होता है। ऐसे अनेक उदाहरण देखने में आते हैं। उन ज्ञानों की तत्वपद से व्यावृत्ति नहीं हो सकती है; क्योंकि वस्तुतः पञ्चत्वसंख्या से युक्त होने से वराटक भी तत्व ही है" और न अनुभूतिपद से व्यावृत्ति हो सकती है; क्योंकि पञ्चवराटक के पूर्वकाल में अनुभूत न होने से उसका ज्ञान स्मरण नहीं है।

प्रश्न—यहां वक्ता को सन्देहरूपज्ञान ही होता है, क्योंकि निश्चय की सामग्री नहीं है। तथा सन्देहरूपज्ञान होने पर भी एक कोटि का व्यवहार कृषि में प्रवृत्तमनुष्य के तुल्य हो सकता है। अर्थात् जैसे "फलम्भविष्यति न वा" ऐसा सन्देह होने पर भी अवश्य फल होगा एक कोटि का ही व्यवहार होता है तथा वराटकस्थल में सन्देह होने पर भी एक कोटि का ही व्यवहार होता है, अतः अनुभूति पद से उक्तज्ञान का व्यवच्छेद क्यों नहीं ?

उत्तर—कृषिस्थल में सहकारिवृष्टि आदि होने पर अवश्य फल होगा इत्याकारक ज्ञान होता है, ऐसा उत्प्रेक्षारूप निश्चयही है, सन्देह नहीं है; अन्यथा (यदि सन्देह भी निश्चय के तुल्य व्यवहार का जनक हो तो) उभयकोटिक सन्देह भी निश्चय ही हो जायगा। अथवा यदि एक कोटिक उत्प्रेक्षा को निश्चय मानें, तो उभयकोटिक सन्देह भी निश्चय हो जायगा।

कोटिद्वयनिश्चयसमुच्चयतापत्तेः । न च प्रमैव तदित्युररीकरणीयं, मध्येऽध्यक्षादिदुरन्तर्भावत्वात् ८४

अव्यभिचारिकरणजन्यत्वे सतीति विशेषणीयमिति चेन्न; तत्त्वपदवैयर्थ्यापातात्। काकतालीयसंवादमपि ज्ञानं न व्यभिचारिसाधारणकारणसामग्रीजन्यमास्थातुमीशिपे व्यभिचारिणोऽपि कारणाविशेषाद्यथार्थत्वप्रसङ्गात् । नह्यहेतुकमेवास्य यथार्थत्त्वम्, नियामकाभावेनातिप्रसङ्गापातात् । अवश्यमस्याव्यभिचारित्वे अव्यभिचारि नियतमेव कारणं वक्तव्यम् । किन्तदिति चेत्, स्वात्मनैवात्र प्रश्ने दीयतामुत्तरम्भवता, येन नियतेषु प्रमाराशिषु चेदं ज्ञानमन्तर्भाव्यं, प्रमासामान्यलक्षणेन वा व्यवच्छेतव्यम् ॥८५॥

प्रश्न—"पञ्च वराटकाः" यह ज्ञान प्रमाही है, ऐसा ही स्वीकार क्यों न करें ॥

उत्तर—यदि प्रमा मानेंगे तो प्रत्यक्ष आदि में अन्तर्भाव करना पड़ेगा, वह हो नहीं सकता है ॥ ८४ ॥

प्रश्न—"तत्वानुभूतिः प्रमा" इस लक्षण में "अव्यभिचारिकरणजन्यत्वे सति" इस निवेश के करने से 'पञ्च वराटकाः" यह ज्ञान प्रमा नहीं कहावेगा, ऐसा ही क्यों न कहें ।

उत्तर—उक्त निवेश के करने पर तत्वविशेषण व्यर्थ होजायगा। किञ्च काकतालीयज्ञान भी व्यभिचारिकरण से जन्य नहीं है; क्योंकि यथार्थज्ञान यदि व्यभिचारिकरण से जन्य हो तो शुक्तिरजतज्ञान भी यथार्थ कहा जायगा ।

प्रश्न—"पञ्च वराटकाः" यह ज्ञान अहेतुक ही क्यों न माना जाय ।

उत्तर—ज्ञान, भाव कार्य्य है, अतः अहेतुक नहीं हो सकता है । तथा ज्ञान के यथार्थत्व को भी निर्हेतुक नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यदि यथार्थत्व को निर्हेतुक मानें, तो भ्रम में भी यथार्थत्व हो जायगा । अथवा प्रमा भी अयथार्थ हो जायगी "पञ्च वराटकाः" यह ज्ञान यदि अव्यभिचारी है, तो उसका कारण भी अवश्य ही अव्यभिचारी होना चाहिये ।

प्रश्न—वह कारण क्या है, अर्थात् उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है अतः वह नहीं है ।

उत्तर—जब उसका कार्य यथार्थज्ञान है, तो कारण का अनुमान करना चाहिये । अनुपलब्धि से अभाव का निश्चय करना उचित नहीं है; क्योंकि अयोग्य में अनुपलब्धि से अभाव का निश्चय नहीं हो सकता है । अथवा आपही इस प्रश्न का उत्तर दीजिये, जिससे प्रत्यक्षादि स्वीकृत प्रमासमूह में इसका अन्तर्भाव हो, अथवा प्रमा के "तत्वानुभूतिः प्रमा" इस सामान्यलक्षण से व्यावृत्ति हो ॥ ८५ ॥

इसी रीति से धूलिपटल में धूमभ्रम के बाद वह्नि—ज्ञान दैव के वश से हेतुसाध्य युक्त अधिकरण में अथवा साध्ययुक्त ही अधिकरण में होता है, यद्यपि वह हेत्वाभास अंश में प्रमा नहीं है, न हेत्वाभास से विशिष्ट साध्य अंश में ही प्रमा है, तथापि हेतुविशिष्ट साध्य को विषय करनेवाली उस बुद्धि का अन्य हेतु से विशिष्टसाध्य अंश में अथवा केवल वन्हिरूपसाध्य अंश में प्रामाण्य का स्वीकार सब करते हैं, अतः वहाँ प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति है ।

समर्थन—"आभास-करण से जन्य ज्ञान का विषय वह्नि, परमार्थ वह्नि से अन्य है, आभास-करण के जन्य होने से, प्रत्यक्ष भ्रान्ति के विषय के तुल्य" इस अनुमान से उक्त ज्ञान के अतत्वविषयक होने से, प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है ।

एवं लिङ्गाभासादिभ्योऽपि जातं लिङ्गिज्ञानं दैवगत्या स्थितलिङ्गलिङ्गिनि लिङ्गिमत्येव वा यत्स्यात्तद्यद्यपि लिङ्गाभासे न प्रमा, न वा तद्वति लिङ्गिस्वरूपे, तथाऽपि विशिष्टं तथाविधं गोचरयन्त्यास्तस्या बुद्धेर्लिङ्गान्तरवति केवले वा लिङ्गिनि वह्न्यादावप्यंशे विषये प्रामाण्यस्वीकारेणोक्तदोषापरिहारादिति। आभासकरणजत्वात्तद्विषयस्य वस्तुभूताल्लिङ्ग्यादेरन्यत्वमेवेति चेन्न, विशेषस्यान्यत्वेऽपि तज्जातीयमात्रवत्तावभासांशे दोषापरिहारात्। सामान्यसम्बन्धकोटिनिविष्टत्वाद्ध विशेषस्य, तस्य च तत्रानवस्थितस्यैव स्फुरणान्नैष दोष इति चेन्न, विशेषाप्रतिभासे सामान्यतस्तन्मात्रवत्ताप्रतिभासस्याप्यभ्युपेयत्वात् देवदत्तयज्ञदत्तसम्बन्धितासंशयेऽपि पुरुषसम्बन्धितानिश्चयवत्सम्बन्धिविशेषस्य निर्लुठितविशेषरूपतया च प्रवेशे व्याप्त्यादेरननुगमप्रसङ्गात्। सामान्यानुमानाभासे च संवादिनि विशेषान्यतावत्ताकल्पनानवकाशात् ॥८६॥

खण्डन—यदि वह्नि अंश में वह्नि का ज्ञान अन्य विषयक हो तो वास्तविक धूम से जो वह्नि का ज्ञान होता है वह भी अन्य विषयक क्यों न हो, यदि किसी प्रकार से अन्य-विषयक मान भी लें, तब भी व्यक्ति अंश में अन्य विषयक होने पर भी जाति अंश में तत्व विषयक होने से उस अंश में अतिव्याप्ति (वैसी) ही रहेगी।

प्रश्न—यदि धूलिपटल में ज्ञात धूम से जायमान अनुमिति में परमार्थ वह्नि नहीं भासता है, तो सामान्य भी असत् ही भासता है; क्योंकि सामान्य का जो सम्बन्ध, उसकी एक कोटि में विशेष है और वह विशेष असत् ही उक्त ज्ञान में भासता है, फिर सामान्य सत् कैसे भासेगा।

उत्तर—विशेषरूप से व्यक्ति के भान न होने पर भी सामान्यरूप से व्यक्ति के भान का स्वीकार है। वह व्यक्ति सत् भासती है अथवा असत्—यह आग्रह नहीं है, यह भी निश्चय (नियम) नहीं है, कि व्यक्ति असत् भासे, तो सामान्य भी असत् ही भासे। केवल यह नियम है, कि निर्विशेष सामान्य नहीं भासता है। जैसे माला में देवदत्त-निर्मितत्व यज्ञदत्त-निर्मितत्व के विशेषरूप से अज्ञात होने पर भी पुरुष-निर्मितत्व का ज्ञान होता है और यदि सामान्यमात्र प्रकारक ज्ञान नहीं हो, केवल विशेष विषयक ही ज्ञान हो, तो व्याप्ति का अनुगम (ज्ञान) नहीं होगा। किञ्च जहाँ गौ के गले में वस्त्रपट में सास्नाभ्रम के बाद "अयं गौः सास्नावत्त्वात्" ऐसी गोत्त्वाऽनुमिति होती है, वहाँ गोत्व जाति को एक होने से अन्य ही गोत्व भासता है यह कथन हो नहीं सकता है ॥ ८६ ॥

प्रश्न—यहाँ भी अन्य ही सामान्य (गोत्व) वा उसका समवाय भासता है ऐसा क्यों न मानें।

उत्तर—गोत्व और समवाय अन्य हैं नहीं, अतः यदि उसका भान मानें, तो अन्यथाख्याति के त्याग तथा असत्ख्याति के स्वीकार से अपसिद्धान्त हो जायगा।

प्रश्न—"अयं गौः" इस अनुमिति स्थल में गोनिष्ठ रूपादि में गोत्व का तादात्म्य भासता है ऐसा क्यों न मानें—

उत्तर—यदि ऐसा मान भी लें, तब भी उक्त अनुमिति तादात्म्यांश-मात्र में भ्रम होगी। धर्म्मी 'गौ' और जाति 'गोत्व' अंश में प्रमा ही है, अतः उक्त अंश में अतिव्याप्ति होजायगी। किञ्च उक्त स्थल में जब गौमें गोत्व के संसर्ग (समवायरूपसम्बन्ध) का आरोप (भ्रम)

सामान्यसमवाययोरप्यन्ययोरेव प्रतिभासे अन्यथाख्यातिं विहायाऽसत्–ख्याति-प्रवेशाऽऽपातात्। तत्रत्यधर्मान्तरस्य जात्या तादाम्यारोपस्तत्रेति चेन्न, तथाऽपि धर्मिणि जातौ च प्रमात्त्वतादवस्थ्यात् संसर्गारोपनिमित्ताच्च तादात्म्यारोपानुपपत्तेः। परार्थानुमानाभासे हि प्रतिपादितपदार्थसंसर्गारोपकारणसम्भवात्तथापि तत्र तादात्म्यारोपकल्पने च तथाभ्रमनियमस्य निष्प्रमाणकत्त्वात् ॥८७॥

कस्यचित्तत्र जातसम्वादजातिसंसर्गभ्रमस्य मितौ का गतिः? का वा गतिः सिद्धसाधने? तत्राऽप्यन्यत्वकल्पनायां सिद्धत्त्वव्याघातात्। तत्त्वे च हेत्वाभासस्यापि यथार्थग्राहितयोक्तनिमित्तस्य व्यभिचारेणाप्यन्यत्राभासेऽन्यप्रतिभासकल्पनाया निर्निमित्तत्वात्, सिद्धसाधनमितेरेव वा व्यवच्छेदात् ॥८८॥

का कारण है, तो तादात्म्य का आरोप होगा कैसे? कथञ्चित् स्वार्थानुमान स्थल में 'तादात्म्यारोप की सामग्री है, ऐसा मान भी लें, परन्तु परार्थानुमिति स्थल में "अयं गौः" इस प्रतिज्ञावाक्य से जब धर्मी तथा धर्म्म की उपस्थितिरूप संसर्गारोप की सामग्री है, तब वहाँ तादात्म्य का आरोप हो भी नहीं सकता है। यदि उक्त परार्थानुमिति स्थल में भी तादात्म्य का आरोप करें, तो कहीं तादात्म्य का आरोप होता है, और कहीं संसर्ग का आरोप होता है, यह नियम कारण से रहित हो जायगा ॥ ८७ ॥

किञ्च किसी मनुष्य को संसर्गारोप में "गवि गोत्वसंसर्गमनुमिनोमि" इस अनुव्यवसाय से जहाँ सम्वाद यथार्थत्व का निश्चय हुआ है, वहाँ क्या गति होगी। अर्थात् वहाँ तादात्म्यारोप है,—यह नहीं कह सकते हैं, किञ्च सिद्धसाधनस्थल में यथार्थ ही अनुमिति होती है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें कि सिद्ध साधन स्थल में अन्य ही साध्य भासता है, अतः उक्त स्थल में ज्ञान के अयथार्थ होने से अतिव्याप्ति नहीं, तो असिद्ध का साधन हो सकता है, और सिद्ध साधनस्थल है, इस कथन में व्याघात हो जायगा। यदि उक्तस्थल में ज्ञान के यथार्थ होने से उसको प्रमालक्षण का लक्ष्य ही मान लें, तो सिद्धसाधन के तुल्य अन्य हेत्वाभास से भी प्रमारूप ज्ञान ही उत्पन्न होंगे। फिर धूलीपटल में धूम भ्रमानन्तर जात अनुमिति में जो आप अन्य अग्नि का भान मानते हैं, वह निमित्त रहित हो जायगा। यदि कथञ्चित् धूलीपटल में धूमभ्रमस्थल में अन्य वह्नि का भान मान भी लें, तब भी सिद्धसाधन स्थल में ज्ञान के यथार्थ होने से अतिव्याप्ति अवश्य हो जायगी ॥ ८८ ॥

अथ अन्यलक्षणखण्डनम्

खण्डन—यथार्थ अनुभव प्रमा है प्रमा का यह लक्षण भी दोषरहित नहीं है। कारण कि "अर्थमनतिक्रम्य वर्तते" इति यथार्थम्—इस व्युत्पत्ति से यथार्थ शब्द का यदि 'अर्थविषयकत्व, अर्थ करें तो अर्थ और तत्त्व शब्द के पर्याय होने से तत्वविषयकत्व के पूर्वोक्त खण्डन से ही यह भी खण्डित है। "अर्थस्य सादृश्य यथार्थम्" इस व्युत्पत्ति से अर्थसदृश अर्थ करें तो प्रमेयत्वरूप से शुक्ति वा रजतत्व के सदृश "इदं रजतम्" यह भ्रम भी है अतः भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी।

यथार्थानुभवः प्रमेत्यप्यलक्षणम् । यथार्थत्वं हि तत्त्वविषयत्वं वा अर्थसदृशत्वं वा स्यात् । नाद्यः, पूर्वं निरस्तत्वात् । नापि द्वितीयः व्यभिचारिणोऽपि प्रमेयत्वादिनाऽर्थसादृश्येन प्रमात्वापातात् । ननु ज्ञानविषयीकृतेन रूपेण सादृश्यमिदं विवक्षितम् । नच प्रमेयत्वादिरूपस्य व्यभिचारिण्यपि प्रकाशनसम्भवेन तथाऽप्यतिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । प्रमेयत्वाद्यंशे प्रकाशमाने विषयीभूतधर्मान्तरापेक्षया व्यभिचारिणोऽपि प्रमात्वाभ्युपगमादिति । नैतद्युक्तम् । प्रकाशमानेन रूपादिसमवायित्वेन रूपेण ज्ञानस्यार्थसादृश्यानभ्युपगमेऽपि तत्र तदीयप्रमात्वाङ्गीकारादिति ।

प्रकाशमानेन रूपेण विशेषणभावादर्थसादृश्यमनुभवस्य विवक्षितं, अर्थस्य हि यथा समवायाद्रूपं विशेषणीभवति तथा विषयभावात् ज्ञानस्यापि तद्विशेषणं भवत्येवेति चेन्न, एवं हि पुरोवर्त्तित्वादिना रूपेण तथाभावसम्भवात् । पुरोवर्त्तिनीं शुक्तिं रजततयाऽवगाहमानं ज्ञानं प्रमा स्यात् ॥८९॥

समर्थन—ज्ञान के विषय धर्म से सादृश्य विवक्षित है और "इदं रजतम्" इस भ्रम का विषय प्रमेयत्व से सादृश्य होने पर भी भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं होगी। ऐसा निवेश होने पर "इदं रजतम् प्रमेयम्" इस भ्रम में ज्ञान के विषय प्रमेयत्व धर्म से सादृश्य का ग्रहण कर अतिव्याप्ति नहीं है, कारण कि प्रमेयत्व अंश में वह ज्ञान प्रमा ही है और रजतांश में प्रमेयत्व से सादृश्य के ग्रहण न होने से अतिव्याप्ति भी नहीं है।

खण्डन—"रूपसमवायी घटः" इस ज्ञान में रूप समवायरूप से घट के सादृश्य ज्ञान के न होने पर भी इस ज्ञान को प्रमा मानते हैं, अतः लक्षण की उक्त ज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—ज्ञान के विषय धर्म से—विशेषणत्व सम्बन्ध से अर्थ का—सादृश्य, ज्ञान में विवक्षित है और घटरूप अर्थ में समवाय संबन्ध में रूप जैसे विशेषण है, वैसे ही ज्ञान में भी विषयता सम्बन्ध से विशेषण है अतः अव्याप्ति नहीं है ?

खण्डन—ऐसा करने में "इदं रजतम्" इस ज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि पुरोवर्तित्व (इदन्त्व) समवाय या स्वरूप सम्बन्ध से जैसे इदम् अंश (शुक्ति में) विशेषण है वैसे ही ज्ञान में भी विषयता सम्बन्ध से विशेषण है।

समर्थन—"इदं रजतम्" यह ज्ञान प्रमा भी है; अतः वहाँ लक्षण का जाना भूषण ही है दूषण नहीं ॥८९॥

खण्डन—यदि "इदं रजतम्" यह भ्रम भी लक्ष्य ही है तो यथार्थ विशेषण व्यर्थ है "अनुभवः प्रमा" यह कहने पर भी कोई दोष नहीं है। कारण कि अन्यथाख्यातिवादी के मत में सम्पूर्ण व्यभिचारी अनुभव (भ्रम) को अन्ततः धर्मी अंश में प्रमा होने से अनुभवमात्र प्रमा ही है। यदि अंश से भी व्यभिचारीज्ञान में लक्षण न जाय इसलिये यथार्थत्व विशेषण दिया है तो यह भी युक्त नहीं, कारण कि उक्त विशेषण देने पर भी पुरोवर्तित्वरूप से अर्थ के साम्य होने से भ्रम में अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है।

समर्थन—अर्थ के यावत् विशेषण हों तावत् सम्पूर्ण विशेषण विषयता सम्बन्ध से जिस ज्ञान में हों वह ज्ञान प्रमा है। भ्रम में विषयता संबन्ध से ज्ञान का विशेषण—रजतत्व

नच वाध्यमिष्यत एव सा प्रमाऽपीति न व्यभिचारचोदनेयं युक्तिमतीति, यथार्थताविशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अनुभूतिः प्रमेत्युक्त एव हि तावन्नास्त्यतिप्रसङ्गः सर्व्वस्य व्यभिचार्य्यनुभवस्यान्ततोऽन्यथाख्यातिवादिनये धर्मिण्यपि प्रमात्वसम्भवेन प्रमायामेवानुभवत्वस्य स्थैर्य्यात् । यदि त्वंशतोऽपि व्यभिचारिण्यां मा लक्षणं गमदिति चेतसि निधाय यथार्थत्वं विशेषणं प्रयुक्तं तदा न युक्तमुक्तदोषात् ।

अथोच्यते प्रकाशमानेन रूपेण सर्वेण विशेषणभावाद्यस्यानुभवस्यार्थसादृश्यं सा प्रमा । नच तावता धर्मिणो धर्म्यविशेषणतया दोषः, तस्यापि तद्विषयान्तरव्यवच्छेदकत्वादिति । तर्हि व्यभिचारिज्ञानं धर्मिण्यपि प्रमा न स्यात्, सर्वात्मना सादृश्याभावात् । अव्यभिचारिणं चांशमननुरुद्ध्य तदीयाप्रमितिकोटिनिक्षेपसाहसिक्याद्‌बिभ्यता किमव्यभिचार्य्यंशानुरोधेन व्यभिचार्य्यंशस्यापि प्रमाकोटिनिवेशनमेव नाध्यवसीयते भवता, शक्यन्ते ह्यनुभूतिज्ञानत्वादयस्तादृशाभिप्रायाविरोधिनो लक्षणीकर्तुम् ॥९०॥

यदि च वाध्यार्थांशा धीरवाध्यार्थांशेऽप्यप्रमैव तदा सौधाग्रकुम्भादिवद्‌ दूरत्वाचुहिनद्युतिविद्युदादिपरभागाग्रहणादवयविनश्च तात्त्वपरिमाणाग्रहणादल्पपरिमाणमुल्लिखन्त्यत्यन्तं प्रमात्वेन लोकप्रसिद्धमप्रमा स्यात् । क्व च लभ्यं देशकालालोकादिव्यक्तिसहितजलादिज्ञानस्य समस्ततावदर्थप्रवृत्तिसामर्थ्योदाहरणं ? येन तत्प्रामाण्यं मन्यसे ।

शुक्तिरूपअर्थ का विशेषण नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं। विशेष्यरूपअर्थ भी ज्ञान का विशेषण है और वह "स्व" का विशेषण नहीं है यह नहीं कह सकते, कारण कि विशेष्य भी स्वगतधर्म का विशेषण (इतर से व्यावर्तक) होता है, अतः अव्याप्ति नहीं।

खण्डन—ऐसा निवेश होने पर व्यभिचारी ज्ञान (भ्रम) धर्मी अंश में भी प्रमा नहीं होगा, कारण कि सर्वांश में अर्थ सदृश नहीं है। अव्यभिचारी अंश का अनुरोध, न कर व्यभिचारी अंश के अनुरोध से यदि सर्वांश में [भ्रम ज्ञान को] अयथार्थ कहने के साहस से आपको भय न हो तो व्यभिचारी अंश का अनुरोध न कर अव्यभिचारी अंश के अनुरोध से सर्वांश में [भ्रम को] प्रमा ही मानने का अध्यवसाय आप क्यों न करें। इस अभिप्राय से प्रमा का ज्ञानत्व, अनुभूतित्व आदि लक्षण हो सकते हैं । ९० ।

किञ्च यदि अंश में वाधितबुद्धि, अवाधित अंश में भी अप्रमा (भ्रम) ही हो तो चन्द्र सूर्य आदि के दूर होने से पृष्ठभाग से तथा वस्तुभूतपरिमाण से ग्रहण तो होता नहीं; किन्तु अल्पपरिमाण से ही सौध के अग्र में स्थित कुम्भ के तुल्य ग्रहण होता है; अतः लोक में धर्मी अंश में प्रमात्व से प्रसिद्ध यह ज्ञान भी अप्रमा हो जायगा। किञ्च ज्ञान का विषय देश काल आलोक आदि व्यक्ति से युक्त जलादि यावद्‌ वस्तु हैं, वे सब अर्थ के विशेषण हैं ऐसा कहीं भी नहीं मिलेगा—कारण कि ज्ञान का संपूर्ण विषय अर्थ का विशेषण है। यह तब होता जब ज्ञान का विषय सब प्रकार से अवाधित होता और वह प्रवृत्तिसंवाद से गम्य है और सब प्रकार में प्रवृत्तिसंवाद कहीं होता नहीं। अतः लक्षण में असंभव दोष हो जायगा। प्रमा लक्षण के प्रसिद्ध उदाहरण चन्द्रादिज्ञान के होते भी एक अंश में वाधित होने से अवाधित अंश में भी ज्ञान को यदि आप अप्रमा मानते हैं तो कोई पुरुष यह संदेह करे कि यज्जातीय एक स्थल में वाधित हो तज्जातीय सर्वत्र वाधित

यदि च बाध्यार्थांशे बाधादबाध्येऽप्यंशे तद्बोधमिथ्यात्वं समर्थयसे, तदा यदर्थजातीयं बाध्यं तदर्थजातीयमबाध्यमपि मिथ्येति मन्यमाने किमुत्तरं ते स्यात्? अन्यत्र लोकप्रसिद्धप्रमोदाहरणत्यागात्।

अथोच्यते—प्रकाशमानेन रूपेण विशेषणतया यदर्थसाम्यमनुभवस्य तत्र प्रमात्व मिति विषयविशेषनियमेनैव प्रमात्वं लक्षणीयमित्येतदर्थमेव यथार्थविशेषणोपादानमिति। मैवम्। विशेष्यांशेऽप्यनुभूतिरेवं प्रमा न स्यादिति। व्यवच्छेदकत्वं विशेषणत्वमभिमतं धर्म्यपि च स्वसम्बन्धाद्धर्मं विशिनष्टीति नोक्तदोष इत्युक्तमेवेति चेन्न; विशिष्टे प्रमात्वाभावापत्तेः ॥६१॥

अपि च एवं तर्हि रजतत्वादिकमपि व्यवच्छिनत्त्येव शुक्तिकां, या रजततया प्रकाशिता शुक्तिव्यक्तिः सेयमिति। ननु साक्षाद्विशेषणत्वं विवक्षितं, रजतत्वं तु ज्ञानद्वारा शुक्तिविशेषणमिति नातिप्रसङ्गः। मैवं। तर्हि 'दीर्घदण्डः पुरुष' इत्यादौ ह्रस्वदण्डादिभ्यो वैलक्षण्ये विशेष्यस्यानुभूयमानेऽनुभूतेर्न प्रमात्वं स्यात्, दीर्घत्वादेर्द-

---

क्यों न हो, अर्थात् रजतत्व शुक्ति-रजत के ज्ञानस्थल में बाधित है तो सत्य रजत के ज्ञानस्थल में भी बाधित—क्यों न माना जाय, तो इससे अन्य क्या उत्तर आप देंगे कि प्रसिद्ध उदाहरण को त्यागना पड़ेगा।

समर्थन—जिस ज्ञान का जो विषय अर्थ का विशेषण हो वह ज्ञान उस विषय में प्रमा है। ज्ञान का विषय रजतत्व शुक्ति में विशेषण नहीं है, अतः उस अंश में "इदं रजतम्" यह ज्ञान अप्रमा है और ज्ञान का विषय इदन्त्व शुक्ति में विशेषण है; अतः उस अंश में प्रमा है इस रीति से विषय विशेष से नियत प्रमा का लक्षण होगा इसीलिये लक्षण में यथार्थत्व निवेश है।

खण्डन—ऐसा लक्षण होने पर ज्ञान का विषय विशेष्य अर्थ मे विशेषण नहीं है, अतः विशेष्यांश में ज्ञान अप्रमा हो जायगा।

समर्थन—विशेषण इतर व्यावर्तक को कहते हैं और विशेष्य भी "स्व" में स्थित धर्मी (विशेषणों) का विशेषण है; कारण कि यदि धर्मी को धर्म का विशेषण न मानें तो धर्म्य अंश में ज्ञानमात्र निर्विकल्पक हो जायँगे।

खण्डन—विशिष्ट किसी अर्थ में विशेषण नहीं है, अतः विशिष्ट अंश में ज्ञान अप्रमा हो जायगा ॥ ६१ ॥

किञ्च रजतत्व भी "रजतत्वेन शुक्तिं जानामि" इस ज्ञान में शुक्ति का विशेषण होता ही है, अतः "इदं रजतम्" यह ज्ञान रजतत्व अंश में भी प्रमा होने से सर्वांश में प्रमा हो जायगा।

समर्थन—जिस ज्ञान का जो विषय अर्थ का साक्षात् विशेषण हो इत्यादि लक्षण करने पर उक्त ज्ञान में जो रजतत्व शुक्ति है वह में साक्षात् विशेषण नहीं है, किन्तु ज्ञान द्वारा है; अतः अतिव्यप्ति नहीं है।

खण्डन—"दीर्घदण्डः पुरुषः" इस ज्ञान के विशेष्य, पुरुष में ह्रस्वदण्डी से वैलक्षण्य जहाँ अनुभूयमान है, वहाँ दीर्घत्व अंश में प्रमात्व नहीं होगा, कारण कि दीर्घत्व दण्डद्वारा पुरुष का विशेषण है, साक्षात् नहीं है।

एडादिद्वारा विशेषणत्वादिति । ज्ञानरूपद्वारानपेक्षतया विशेषणत्वमिष्टमिति चेन्न, 'साक्षात्कृत' इत्याद्यवगमानामप्रमात्वापातात् । तज्ज्ञानप्रकाशितरूपेण विशेषणत्वमिष्टमिति तु दूरन्तुच्छं, रूपादेः समवायेन ज्ञानाविशेषकत्वात् । अर्थविशेषणत्वेऽयं नियमो यत्तज्ज्ञानप्रकाशितेन रूपेणेति न तु ज्ञानेऽपि इति चेन्न, तज्ज्ञानव्यक्तेरन्यत्रासम्भवेनासाधारण्यादव्यापकत्वादित्यलम् ॥६२॥

सम्यक्परिच्छेदः प्रमेत्यपि न युक्तम् । न खलु सम्यक्त्वं तत्त्वविषयता याथार्थ्यं वा सम्भवत्युक्तदोषात् ।

ननु सामस्त्यं सम्यक्त्वमिष्टं, अभिधीयते हि लोके न मया सम्यक् दृष्टं सामान्याकारेण तूपलब्धमिति, तदिह समीचोऽर्थस्य परिच्छेदः सम्यक्परिच्छेदः सम्यगर्थविषयत्वाद्वा सम्यक्शब्दः—परिच्छेदसमानाधिकरण एवायमिति ।

समर्थन—जिस ज्ञान का जो विषय ज्ञानरूप द्वार की अनपेक्षा कर अर्थ का विशेषण हो इत्यादि निवेश में अतिप्रसंग नहीं है ।

खण्डन—"साक्षात्कृतो घटः" इस ज्ञान में साक्षात्त्व, ज्ञान द्वारा घट में विशेषण है अतः यह ज्ञान भी अप्रमा हो जायगा ।

समर्थन—जिस ज्ञान का जो विषय तद्ज्ञान विषयसम्बन्ध से विशेषण हो इत्यादि कहने पर कोई दोष नहीं है. कारण कि "इदं रजतम्" इस ज्ञान के विषय रजतत्व समवाय सम्बन्ध से शुक्ति में विशेषण नहीं है ।

खण्डन—"रूपवान् घटः" इस ज्ञान में समवाय सम्बन्ध से रूप, ज्ञान में विशेषण नहीं है, अतः अव्याप्ति हो जायगी । यदि कहें कि ज्ञान विषय-संबन्ध से विशेषण हो यह नियम अर्थ में है. ज्ञान में तो विशेषण, विषयता सम्बन्ध से ही अभिप्रेत है, तथापि यह लक्षण निर्दोष नहीं है, कारण कि जिस ज्ञान का जो विषय तद्ज्ञान विषय संबन्ध से अर्थ का विशेषण हो वह ज्ञान उस अंश में प्रमा है, यह परिस्कृत लक्षण भी यत् तत् शब्द से घटित है, अतः यत् शब्द को यदि एक ज्ञानव्यक्तिपरक मानें, तो जिस घटज्ञानव्यक्ति का यत् शब्द से ग्रहण करेंगे वह घटज्ञानव्यक्ति पट में न होने से पट से व्यावृत्त है, विषयता संबन्ध से केवल घट में ही है, अतः पट ज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी और यदि यत् शब्द से ज्ञानसामान्य का ग्रहण करें तो "रजतत्वेन शुक्तिं जानामि" इस ज्ञान में रजतत्व विशेषण होता है; अतः "इदं रजतम्" यह ज्ञान भी प्रमा हो जायगा । किञ्च यत् शब्द का निवेश भी व्यर्थ हो जायगा, कारण कि "इदं रजतम्" इस ज्ञान में अतिव्याप्ति के वारण के अर्थ यत् शब्द का निवेश है, वह अतिव्याप्ति यत् शब्द के निवेश करने पर भी तदवस्थ ही है ॥ ६२ ॥

अथ उदयनलक्षणखण्डन

खण्डन—"सम्यक् परिच्छेद प्रमा है" यह लक्षण भी अयुक्त है, कारण कि तत्वविषयत्व या याथार्थ्यरूपसम्यक्त्व [उक्त दोषों से खण्डित होने से] हो नहीं सकता ।

समर्थन—इस लक्षण में सामस्त्यरूपसम्यक्त्व अभिप्रेत है, लोक में भी मैंने सम्यक् नहीं देखा, अर्थात् समस्त रूप से नहीं देखा, सामान्य आकार से देखा ऐसा कहा जाता है, तस्मात् समीचीन अर्थ का परिच्छेद (अनुभव) अथवा सम्यक् अर्थ को विषय करने से सम्यक् जो परिच्छेद वह सम्यक् परिच्छेद है ।

मैवम् । सामस्त्यमर्थस्य किं सर्वावयवसहितत्वमथवा सर्वधर्मसहितत्वम् । नाद्यः अनवयवपदार्थपरिच्छेदस्येव सावयवपदार्थपरिच्छेदस्यापि मध्यभागाद्यविषयस्याप्रमात्वापातात् । नापि द्वितीयः असर्व्ववित्परिच्छित्तीनां सर्वासामप्रमात्वापत्तेः ।

अथ मन्यसे सम्यक् शब्दः सविशेषार्थः, यदपि लोकेऽभिधीयते न मया सम्यक् दृष्टं तस्यापि न मया विशेषतो दृष्टमित्यर्थः, तस्माद्विशेषसहितधर्मिपरिच्छित्तिः प्रमेत्युक्तम्भवति । विभ्रमादयो हि विशेषमपश्यतो जायन्त इति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणमिदं, विशेषाणाञ्च सर्व्वेषां विशेषान्तरानभ्युपगमेऽपि स्वरूपमेव केषाञ्चिद्विशेष इति ॥९३॥

नैतद्युक्तं, विशेषपदेन विशेषमात्राभिधाने रजतत्वादिना विशेषेण सहैव शुक्तिव्यक्त्यादेर्भ्रमेणावगाहनात् तस्यापि प्रमात्वं स्यात् । प्रत्यर्थं व्यावृत्ताकाराणाञ्च विशेषाणामुपादानेऽननुगमप्रसङ्गात् सामान्यतश्चातिप्रसङ्गात् उभयथाप्यसङ्गततापत्तेः । विशेषस्य च भवतु स्वरूपमेव विशेषस्तथाऽप्यभेदादेव विशेषसहितत्वं नास्तीत्यव्याप्तेरपरिहारात् ।

यत्तु कश्चिदवोचत् विशेषशब्देन तेऽभिधीयन्ते यद्दर्शने भ्रमसंशयावकाशो यद्दर्शने च बाधव्यवस्था तदनभ्युपगमे तत्त्वातत्त्वविभागो न स्यात् भवितव्यञ्च तेनान्यथा व्याघातादिति ॥९४॥

खण्डन—अर्थ में सामस्त्य क्या सर्वावयवसहितत्व है ? वा सर्वधर्मसहितत्व है ? यदि सर्वावयवसहितत्व कहें तो निरवयव आकाशादि पदार्थों का परिच्छेद तथा सावयव पदार्थों का भी जो परिच्छेद, मध्यभाग (अंश) को विषय नहीं करते, उनमें अव्याप्ति हो जायगी । यदि सर्वधर्मसहितत्व कहें तो सर्वधर्म विषय जो परिच्छेद नहीं होते उनमें अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—यहाँ सम्यक् शब्द का विशेष अर्थ है । लोक में जो कहा जाता है कि मैंने सम्यक् नहीं देखा उसका—भी मैंने विशेषरूप से नहीं देखा यही अर्थ है, तस्मात् विशेष से सहित धर्मी का परिच्छेद प्रमा है यह लक्षण हुआ । विभ्रम वा सन्देह, विशेष धर्म के अज्ञान की दशा में होते हैं, अतः उनमें अव्याप्ति के वारण के अर्थ सम्यक्त्व निवेश हैं । यद्यपि विशेष धर्म में अनवस्था के भय से अन्य विशेष धर्म नहीं है, तथापि उनका स्वरूप ही विशेष धर्म है; अतः विशेष धर्म की प्रमा में अव्याप्ति नहीं ॥ ९३ ॥

खण्डन—सामान्यरूप से यदि विशेष का लक्षण में प्रवेश करें तो रजतत्वरूप विशेष का ही शुक्ति में अवगाहन "इदं रजतम्" यह भ्रम भी करता है, अतः "इदं रजतम्" इस भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी और यदि विशेषरूप से विशेष का निवेश करें, अर्थात् जहाँ जो विशेष हो वहाँ उस विशेष का अवगाहन करनेवाला ज्ञान प्रमा है—ऐसा कहें तो यत् तत् के अर्थविशेष के प्रतिव्यक्ति व्यावृत्त होने से जिस विशेष का यत् शब्द से उपादान करेंगे उस विशेष के अवगाही प्रमा से अन्य ज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी । यदि विशेषभेद से लक्षण का भेद मानें तो अनेक लक्षण होने से लक्षणों का अननुगम दोष हो जायगा । किञ्च "यद्यपि विशेष का स्वरूप ही विशेष है, तथापि अभेद होने से ही विशेष सहित विशेष नहीं हैं, अतः विशेष की प्रमा में अव्याप्ति हो जायगी ।

तदयुक्तम् । न तावदेवम्विधो विशेषोऽभिधातुं शक्यो यदवगमस्य न भ्रमत्वादिसम्भवः स्वप्नदृशः सर्वविशेषोपलम्भात् । नच व्याघातदण्डभयमात्रादसावुपपादयितुमशक्योऽप्यभ्युपगन्तव्य इति युक्तम् । तदुपदर्शनाशक्यत्वेन व्याघातपरिहार एव कश्चिदन्यो निर्वक्तुमशक्योऽस्तीत्येव तदा किं न व्यवस्थाप्यते ? न हि परिदृश्यमानपदार्थगोचरं तदस्ति किञ्चिदनुभूयमानं यत्स्वप्ने वा वाक्याभासे वा प्रतिपत्तुमशक्यमिति प्रतिपत्त्यारूढतया येयमप्रतीयमानकल्पना ततो वरमनुपलभ्यमानस्य व्याघातपरिहारस्यैव कल्पना भद्रा । बहुशश्च व्याघातोद्भावनविभीषिकामुन्मूलयिष्यामः ।

ननु न ब्रूमो विशेषेण सहोपलम्भो विशेषसहितोपलम्भ इति, किन्नाम ? विशेषेण सहितस्य पदार्थस्योपलम्भस्तथा च न शुक्तौ रजतत्वं विशेषोऽस्ति तत्कथं रजतभ्रमेऽपि तत्प्रसङ्ग इति ।

मैवम् । उक्तदोषेणैव निरस्तत्वात् । यदि हि विशेषस्य सामान्यतोऽभिधानं तदा पुरोवर्त्तित्वादेः सत्त्वान्न प्रसङ्गनिवारणम् । विशेषेण तदभिधाने त्वननुगम इति ।

बाधाबाधव्यवस्थाहेतुरस्ति विशेष इति पक्षं यस्तु जडतरो न जहाति स आप्तानाप्तवाक्याभ्यां नदीतीरे पञ्च फलानि सन्तीत्येवंरूपाभ्यां प्रतिपाद्यमानेऽर्थे स्थितं किं विशेषमेकत्र पश्यसि यमपरत्र न पश्यसीति पृष्ट्वा प्रतिबोधनीयः । तथाप्यनुपजातप्रबोधस्तु जडतमः कश्चिद्यदि स्यात् स एवं प्रबोध्यः । ये ते विशेषान्तरप्रवाहस्वीकारेऽनन्तविशेषापत्तिभयात् त्वया स्वत एव विशेषरूपा इति स्वीकृताः तेषां स्वरूपं तावत् परस्परव्यावृत्तमतोऽनुगतैकरूपाभावादव्यापकत्वं स्यादिति । ९५ ।

बाधव्यवस्थाहेतुत्वादेवानुगतिरिति चेन्न; काचित्कबाधव्यवस्थाहेतोर्भ्रमेऽपि

समर्थन—जिसके न जानने से भ्रम वा सन्देह होता है, तथा जिसके दर्शन से, बाध अबाध की व्यवस्था होती है, वह विशेष है। विशेष के न मानने पर तत्त्व अतत्त्व का विभाग नहीं होगा और तत्त्व अतत्त्व का विभाग होना चाहिये, अन्यथा व्याघात हो जायगा अर्थात् तत्त्व अतत्त्व का विभाग न होने पर संपूर्ण ज्ञान प्रमा ही है वा अप्रमा ही है वा किञ्चित् ज्ञान प्रमा है और किञ्चित् ज्ञान अप्रमा है। यदि प्रथम पक्ष मानें तो वादी का ज्ञान भी प्रमा ही है, अतः वादी के खण्डन में प्रवृत्ति व्याहत वा व्यर्थ होगी और यदि सब ज्ञान (अप्रमा) ही मानें तो तुह्मारा भी ज्ञान अप्रमा हुआ, अतः उसका समर्थन व्याहत वा व्यर्थ है और यदि किञ्चित् ज्ञान प्रमा है और किञ्चित् अप्रमा है इस तृतीय पक्ष को मानें तो प्रमा अप्रमा का विभाग नहीं होगा इस पूर्वोक्त कथन से मुख में जिह्वा नहीं है—इस कथन के तुल्य व्याहत होगा ॥ ९५ ॥

खण्डन—ऐसा कोई विशेष नहीं है जिस विशेष का ज्ञान भ्रम न कहा जाय, कारण कि स्वप्न में सब विशेष भासते हैं और स्वप्नज्ञान को सब मतवाले भ्रम मानते हैं। व्याघातरूपदण्ड के केवल भय से जिस का समर्थन न हो सके ऐसे विशेष का मानना उचित नहीं है, कारण कि जब विशेष का उपपादन ही नहीं हो सकता है, तब विशेष को स्वीकार

प्रकाशात् तत्र तस्येति चेन्न; व्याहत्तेः। बाधस्य च तद्विपरीतार्थप्रमात्वेन तदर्थाननुगमात् प्रमायाश्चाप्यव्यवस्थापनादिति।

शङ्कान्तराणि चात्रातः पराणि याथार्थ्यविशेषणदूषणदूषितान्येवोपनिपतन्तीति द्विरभिधानभयान्नोक्तानि। ६६।

किञ्च तर्कज्ञानमाहार्य्यौ च संशयविपर्ययौ परिदृश्यमान एव विशेषे भवन्ति तैरतिप्रसङ्गः स्यात्। नचाहार्य्यौ तौ नाभ्युपगन्तव्याविति युक्तम्। विप्रलम्भकस्य वाक्यप्रयोगमूलतयाऽऽहार्य्यभ्रमस्य ज्ञाततत्त्वस्य च गुरोः शिष्यप्रबोधार्थं विचारं प्रवर्त्तयतश्चाहार्य्यसंशयानां भवत एव शास्त्रेऽनुमतत्त्वात्।

न कर, जिसका निर्वचन नहीं हो सकता हो ऐसा व्याघात का ही कोई अन्य परिहार है, ऐसी कल्पना क्यों न की जाय।

समर्थन—विशेष का प्रतिपादन भी अशक्य है और व्याघात का अन्य परिहार भी अनिर्वचनीय है, अतः एकदेशी प्रमाण के अभाव से हम विशेष को ही क्यों न मानें।

खण्डन—इस व्याघात को उद्भावनरूप-विभीषिका का बहुत प्रकार से उन्मूलन हम करेंगे।

समर्थन—विशेष धर्म के साथ उपालम्भ को विशेषसहित उपालम्भ नहीं कहते, किन्तु विशेष के सहित पदार्थ के उपालम्भ को विशेषसहित उपालम्भ कहते हैं और शुक्ति में रजतत्वरूप विशेष नहीं है, अतः रजतभ्रम में अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—यदि सामान्यरूप से विशेष का उपादान करें तो पुरोवर्तित्व (इदन्त्व) सहित शुक्ति का अवगाहन करने से "इदं रजतम्" यह ज्ञान भी प्रमा हो जायगा और यदि विशेष रूप से कहें अर्थात्-जिस धर्म से विशिष्ट धर्मी का जो ज्ञान अवगाहन करता हो, उस धर्मविशिष्ट धर्मी अंश में वह ज्ञान प्रमा है,—तो यत् तत से घटित होने से लक्षण का, अनुगम नहीं होगा। बाध तथा अबाध की व्यवस्था का हेतु विशेष है इस पक्ष को जो जड़तर मनुष्य नहीं त्यागना चाहता हो वह मनुष्य आप्त अनाप्त पुरुष के "नदी-तीर में पञ्चफल हैं" इस वाक्य से प्रतिपादित अर्थ में एकस्थल में (आप्त प्रतिपादनस्थल में) किस विशेष को देखते हो यह कह कर प्रतिबोधनीय है तथापि अजातबोध जड़तर यदि कोई हो इस रीतिसे प्रतिबोधनीय है कि विशेष में विशेष, उसमें भी अन्य विशेष को स्वीकार आप नहीं करते हैं; क्योंकि अनन्त विशेष के स्वीकार में गौरव या अनवस्था दोष हो जायगा; किन्तु परस्परव्यावृत्त, विशेषान्तरशून्य अनन्त विशेष को ही मानते हैं, अतः उपसंग्राहकरूप के न होने से लक्षण में जिस विशेष का निवेश करेंगे तद्विषयक प्रमा में ही समन्वय होगा अन्यविशेषविषयक प्रमा में अव्याप्ति हो जायगी॥ ६६॥

समर्थन—बाध की व्यवस्था के हेतुत्वरूप से सब विशेषों का उपसंग्रह कर लक्षण करेंगे, अर्थात् बाध की व्यवस्था का हेतु जो विशेष तद्विशिष्ट पदार्थके अनुभव को प्रमा कहते हैं, पुनः लक्षण का अननुगमन नहीं होगा, न अव्याप्ति ही होगी।

खण्डन—सार्वत्रिक बाध की व्यवस्था का हेतुत्व तो कहीं भी संभव नहीं है और यदि क्वचिद् बाध व्यवस्था के हेतुत्व को विशेष कहें, तो रजत में "इदं रजतम्" इस ज्ञान में रजतत्व को भी बाध की व्यवस्था के हेतु होने से शुक्ति में भी "इदं रजतम्" यह ज्ञान प्रमा हो

परिच्छेदशब्दश्चानुभूतिपर्य्यायोऽनुभूतिदूषणं नातिक्रामतीत्यलम् ॥ ६७ ॥

नाप्यव्यभिचार्य्यनुभवः प्रमेति युक्तम् । अव्यभिचारिपदस्य यदि तत्वविषयार्थत्वं तदा दूषणान्युक्तान्येवानुवर्त्तन्ते ।

अथैवमुच्यते अव्यभिचारित्वमर्थाविनाभूतत्वं, तदा प्रष्टव्यं कोऽस्यार्थः ? किं यदैवार्थस्तदैव ज्ञानम् ? उत यत्रार्थस्तत्रैव देशे ज्ञानम् ? अथ यादृगर्थस्तादृगेवज्ञानं यत्तत्प्रमितिरिति ? ।

जायगा। यदि कहें कि जिस स्थल में जो बाध व्यवस्थापक हो, उस स्थल में वह विशेष है, तो लक्षण के यत् तत् से घटित होने से जिस विशेष का यत् शब्द से ग्रहण करेंगे उससे अन्यत्र लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च विपरीत प्रमामात्र तो बाधक है नहीं, कारण कि "पर्वतो वह्निमान्" इस ज्ञान का "ह्रदो वन्ह्यभाववान्" यह ज्ञान भी बाधक हो जायगा,—किन्तु जिस धर्मी में जो बाध्य हो उस धर्म्मी में उस धर्म के अभाव का अवगाही ज्ञान बाधक होता है। तब तो लक्षण के यत्त्व तत्त्व घटित होने से यदि यद् शब्द से रजतत्व का ग्रहण करें तो सर्पभ्रम में बाधलक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च सविशेष ज्ञान को प्रमा कहते हैं और बाध व्यवस्था के हेतु को विशेष कहते हैं तथा तद्विपरीत प्रमा को बाध कहते हैं, इस रीति से बाध के लक्षण में प्रमा की और प्रमा के लक्षण में विशेष द्वारा बाध की अपेक्षा होने से चक्रक दोष हो जायगा।

जिस विशेष 'धर्म' से सहित धर्म्मी हो, उस विशेष से सहित धर्म्मी का अनुभव प्रमा है, अथवा साक्षात् विशेष से सहित धर्मी का जो अनुभव वह प्रमा है, अथवा भासमान यावत् विशेषों से सहित धर्म्मी का अनुभव प्रमा हैं इत्यादि शङ्का का खण्डन "यथार्थानुभवः प्रमा" इस लक्षण के याथार्थ्य विशेषण के दूषण-प्रस्ताव में हो चुका है, अतः पुनरुक्ति के भय से यहाँ फिर नहीं कहते हैं ॥ ६६ ॥

किञ्च "यदि वह्निर्न स्यात्तदा धूमोऽपि न स्यात्" यह तर्क "पर्वतो वह्निमान्" ऐसा विशेष ज्ञान होने पर ही होता है तथा आहार्य्य भ्रम और संशय भी विशेष ज्ञान होने पर ही होते हैं, अतः इनमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। "आहार्य भ्रम तथा सन्देह नहीं होता है" यह नहीं कह सकते, कारण कि वञ्चक पुरुष को आहार्य भ्रम है अन्यथा वह असत्यार्थक वाक्य कैसे कहता यह आप भी मानते हैं तथा शिष्य के प्रबोधन के लिए शास्त्रार्थारम्भ करने वाले तत्वज्ञ गुरु के आहार्य सन्देह का स्वीकार आपके ही शास्त्र में है। परिच्छेद शब्द का अनुभूति अर्थ है, अतः वह अनुभूति के दूषणों का अतिक्रम नहीं कर सकता है ॥ ६७ ॥

लक्षणान्तर परीक्षा

खण्डन—"अव्यभिचारी अनुभव प्रमा है" यह लक्षण भी युक्त नहीं है, कारण कि यदि अव्यभिचारी पद का तत्व विषयकत्व आदि अर्थ करें, तो उक्त दूषणों की ही आवृत्ति होगी।

समर्थन—अव्यभिचारी पद का अर्थ है, ज्ञान में विषय का अविनाभाव।

नाद्यः, अतीतानागतानुमित्याद्यव्यापनात् । न द्वितीयः, ज्ञानासमानदेशार्थप्रमितीनामव्यापनात् । ज्ञानसमानदेशमर्थमन्यत्रारोपयतोऽप्यनुभवस्य प्रमात्वापत्तेः । नापि तृतीयः, ज्ञानार्थभेदवादे सर्वाकारेण तत्साम्यानुपपत्तेः । अभेदवादे तु भ्रमस्याऽपि तथाभ्युपगन्तव्यत्वप्रसङ्गेन विशेषणवैयर्थ्यापातात् । तैस्तैश्च विशेषैः सादृश्यस्य विवक्षितत्वे यथार्थताप्रस्तावोक्तान्येव दूषणान्यावर्त्तन्त इति ॥९८॥

अविसम्वाद्यनुभवः प्रमेत्यपि न युक्तम् । अविसंवादित्वं हि ज्ञानान्तरेण तथैवोल्लिख्यमानार्थत्वंवा ? ज्ञानान्तरेण विपरीततया प्रतीयमानार्थत्वं वा ? अप्रतीयमानव्याप्याविषयत्वं वा ? अन्यदेव वा किञ्चित् ? ।

न प्रथमं धारावाहिनो भ्रमस्य प्रमात्वप्रसङ्गात् । नच प्रमाभूतं ज्ञानन्तरं विवक्षितमिति वाच्यम् । प्रमाया एव लक्ष्यमाणत्वात् ।

खण्डन—अविनाभाव शब्द का क्या अर्थ है, क्या समुद्रवृद्धि-चन्द्रोदय के तुल्य जिस काल में अर्थ हो उसी काल में ज्ञान हो, यह अर्थ है वा धूम वह्निके तुल्य जिस देश में अर्थ होउस देश में ज्ञान हो यह अर्थ है-वा जैसा अर्थ हो वैसा ही ज्ञान हो यह अर्थ है। यदि प्रथम अर्थ मानें तो अतीत अनागत की अनुमिति में अव्याप्ति हो जायगी और यदि द्वितीय अर्थ मानें तो ज्ञान का देश समवाय सम्बन्ध से आत्मा है और वह घट पटादि अर्थ का देश नहीं है, अतः घटपटादि प्रमा में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। तथा ज्ञान के देश में स्थित आत्मत्व का जो अन्यत्र (शरीर में) भ्रम होता है, उस भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि तृतीय अर्थ मानें तो ज्ञान तथा अर्थ के भेदमत में ज्ञान तथा अर्थ का सर्वथा सादृश्य न होने से असम्भव हो जायगा और ज्ञान तथा अर्थ के अभेदवाद में भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायगी। व्यवच्छेद्य न होने से विशेषण भी व्यर्थ हो जायगा। जो धर्म अर्थ में हो वही ज्ञान में भासता हो" ऐसा—अर्थ का साम्य, अनुभव में मानें तो याथार्थ्य प्रकरण में उक्त दोष हो जायगा ॥ ९८ ॥

"अविसंवादो अनुभव प्रमा है" यह लक्षण भी युक्त नहीं है, कारण कि अविसंवादी शब्द का कुछ अर्थ नहीं हो सकता है। देखिए—क्या जिस ज्ञान का विषय (उत्तर) ज्ञान से उल्लिख्यमान हो, वह अनुभव अविसंवादी है, अथवा जिस अनुभव के विषय का अभाव उत्तर ज्ञान का विषय न हो, वह अनुभव अविसंवादी है। अथवा जिस अनुभव के विषय का व्याप्य प्रतीयमान हो, वह अनुभव अविसंवादी है अथवा और ही कुछ अविसंवादित्व है। इनमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है, कारण कि धारावाही भ्रममें पूर्व पूर्व भ्रम का विषय, उत्तर उत्तर ज्ञान का विषय होता है, अतः धारावाही भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें कि प्रमा से जिस अनुभव का विषय उल्लिख्यमान हो वह अविसंवादी है, तो यह उचित नहीं, कारण कि प्रमा की अद्यपर्यन्त निरुक्ति नहीं हुई है। अतः प्रमा से प्रमा की निरुक्ति होने से आत्माश्रय तथा प्रमा से अविसंवादित्व की निरुक्ति तथा अविसंवादित्व से प्रमा की निरुक्ति होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा। द्वितीय कल्प भी उचित नहीं है कारण कि जिस भ्रम का बाध नहीं हुआ है उस भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी। किञ्च स्वस्थ दशामें उत्पन्न "शुक्लः शंखः" इस ज्ञान का भी पित्त रोग से दूषित दशा में उत्पन्न हुआ "पीतः शंखः" इस ज्ञान से बाध होने से "शुक्लः शंखः" यह ज्ञान भी

नापि द्वितीयः, अजातबाधभ्रमव्यापनात् स्वस्थदशोत्पन्नस्य शुक्लशङ्खज्ञानादेर्दुष्टेन्द्रियदशोत्पन्नतत्पीतिमज्ञानाद्युल्लिखितविषयवैपरीत्यस्याप्रमात्वमसङ्गाच्च । प्रमित्यानुल्लिखितार्थवैपरीत्यभावविवक्षायां तु प्रमाया एव लक्ष्यमाणत्वादित्युक्तमनुपज्जति ।

अदुष्टकरणकज्ञानेनाबाधितत्वं विवक्षितमिति चेत्तदेव तर्हि प्रमालक्षणमस्तु । किञ्च दुष्टत्वनिरूपणमन्तरेणादुष्टत्वस्य दुर्निरूपत्वात् । ननु किमेतावता दुष्टत्वं विपरीतज्ञानप्रयोजकस्तद्धेतुगतो विशेष इति सुवचमेवेति । न विपरीतपदव्यवच्छेद्याप्रमितौ तदुपादानवैयर्थ्यात् । तदनुपादाने च ज्ञानजनकत्वमात्रं दुष्टत्वमित्यदुष्टकारणजं ज्ञानं नास्त्येवेति स्यात् विपरीतपदव्यवच्छेद्या प्रमैवेति चेन्न, तस्या एव लक्ष्यमाणत्वात् तदीयस्वरूपस्येतरव्यावृत्तस्याद्याप्यप्रतीतेः कुतो व्यवच्छेदः प्रत्येतव्य इति व्यवच्छिन्नतज्ज्ञानमन्तरेण व्यवच्छिन्नतज्ज्ञानमशक्यमित्यात्माश्रयान्योन्याश्रयौ अनवस्था वा ।

प्रमा न होगा । यदि कहें कि जिस अनुभव के विषय का अभाव प्रमा से उल्लिख्यमान न हो, वह अविसंवादी है, तो प्रमासे प्रमा की निरुक्ति होने से आत्माश्रय और प्रमासे अविसंवादित्व की तथा अविसंवादित्व से प्रमा की निरुक्ति होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा ।

समर्थन—"अदुष्ट इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान से जो ज्ञान बाधित न हो, वह अविसंवादी है" ऐसा कहने से न तो "शुक्लः शंखः" इस प्रमा में अव्याप्ति है और न आत्माश्रय ही है ।

खण्डन—तब लाघव होने से अदुष्ट इन्द्रियजन्य अनुभव ही प्रमा का लक्षण रहे । किञ्च यावत् दुष्टत्व की निरुक्ति न हो तावत् अदुष्टत्व का निरूपण भी अशक्य है ॥

समर्थन—विपरीत ज्ञान का प्रयोजक तथा हेतुगत विशेष को दोष कहते हैं ।

खण्डन—विपरीतपद के निवेश से व्यवच्छेद किसको होगा । यदि व्यवच्छेद्य की प्रतीति न हो तो विपरीतपद का निवेश व्यर्थ है, और यदि च विपरीतपद का निवेश न करें तो ज्ञानजनकमात्र दुष्ट हुआ, अतः अदुष्ट इन्द्रिय-जन्य कोई ज्ञान नहीं हुआ ।

समर्थन—विपरीतपद का व्यवच्छेद्य प्रमा ही है, अतः निवेश व्यर्थ नहीं है ।

खण्डन—प्रमा का ही लक्षण करते हैं, अतः इदानींपर्यन्त प्रमा का स्वरूप इतरव्यावृत्तरूप से निर्धारित नहीं हुआ है, फिर उसका व्यवच्छेद कैसे होगा । इससे इतर से व्यावृत्त प्रमा की प्रतीति के विना लक्षणद्वारा इतरव्यावृत्त प्रमा की प्रतीति अशक्य होने से, आत्माश्रय अथवा इतरव्यावृत्त प्रमा के अधीन दुष्टत्व का ज्ञान और दुष्टत्व के ज्ञान के अधीन अदुष्ट इन्द्रियजज्ञान से अबाधितरूप अविसंवादित्व के ज्ञान द्वारा प्रमा का ज्ञान इस रीति से अन्योन्याश्रय यद्वा प्रमाज्ञान के अधीन दुष्टत्व का ज्ञान और दुष्टत्वज्ञान के अधीन अदुष्ट इन्द्रियजन्य-ज्ञान से अबाधितत्वरूप अविसंवादित्व का ज्ञान और उक्त अविसंवादित्व के ज्ञान के अधीन प्रमा का ज्ञान इस रीति से चक्रक हो जायगा । यदि विपरीतपद के व्यवच्छेद्य प्रमा की और ही कुछ निरुक्ति करें, तो आत्माश्रय आदि तो न होगा, परन्तु उस प्रमा की निरुक्ति में भी अन्य प्रमा की अपेक्षा है, एवं अपर २ प्रमा की अपेक्षा में अनवस्था दोष हो जायगी । एवम्—जिस ज्ञान आदि पदार्थ के अनेक अनुभव स्मरण आदि, विशेष हैं और एक विशेष अन्य विशेष से अन्यत्वरूप से लक्षित होता है अर्थात् अनुभव स्मरणान्यत्व से तथा स्मरण अनुभवान्यत्व से लक्षित होता है वहाँ सर्वत्र आत्माश्रय आदि दोष होते हैं । देखिये—अनुभव से अन्य जो ज्ञान वह स्मरण है और स्मरण से अन्य जो ज्ञान वह

एकोऽनेकविशेषेऽर्थे विशेषो यत्र लक्ष्यते। तद्विशेषान्तरान्यत्वाद्दोषस्तत्रैव धावति।३२।९९।

नापि तृतीयः, व्याप्यशब्देन व्याप्यमात्रं ? तद्विशेषोवा ? कश्चिदभिप्रेतः स्यात्। आद्ये सधूमाग्निविषयस्य स्वप्नज्ञानस्यानाप्तवाक्यजबोधस्य वा नाप्रमात्वं स्यात्। नापि द्वितीयः, स ह्यर्थक्रिया वा, ? सामग्री वा, ? उभयत्रापि पूर्व्वदोषानिवृत्तेः। एकदा च सर्व्वत्रप्रमाणासम्भवेन क्रमाश्रयणे तत्तदर्थक्रियातत्तत्सामग्रीपरम्परावगमनियमाभ्युपगमे एकस्मिन्नेव विषये पुरुषायुषः पर्य्यवसानप्रसङ्गात्। विच्छेदाभ्युपगमे त्वन्तिमावगमस्याप्रामाण्यादा प्रथमप्रमात्वापत्तेः। वास्तवतदर्थक्रियात्वस्य च दुर्निरूपत्वेन व्यवहारानर्हत्वात्। तथाप्रतीतिमात्रस्याप्रमासाधारण्यात् ॥१००॥

नन्वेवं चतुर्थः पक्षोऽस्तु तथा हि—अर्थक्रियाकारिविषयत्वं वाऽविसंवादित्वमिति, यथाह "प्रमाणमविसम्वादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिश्चाविसम्वाद इति। न। सामान्यतो विवक्षायां भ्रान्तावपि प्रसङ्गात्। प्रतीयमानरूपेणार्थक्रियाकारित्वमर्थस्य विवक्षितमिति चेन्न; दुरवधारणत्वात्। तदर्थक्रियादर्शनात्तदवधारणमिति चेन्न; विनाप्यर्थक्रियां तद्दर्शनसम्भवात्। अर्थक्रियाप्रमितिरभिधित्सितेति तु दूषितमेव प्रमायाएवनिरूप्यमाणत्वात् ॥१॥

अनुभव है। अतः स्मरण का स्मरणान्यज्ञानान्यज्ञानत्व निष्कृष्ट लक्षण हुआ। इस लक्षण में स्मरण पद का प्रक्षेप होने से आत्माश्रय है तथा स्मृति के लक्षण में अनुभव की अनुभव के लक्षण में स्मृति की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय है ॥९९॥

जिस ज्ञान के विषय का व्याप्य प्रतीयमान हो वह ज्ञान अविसंवादी हैं यह तृतीयपक्ष भी उचित नहीं है, कारण कि व्याप्य शब्द से यदि व्याप्यमात्र का ग्रहण करें तो सधूम वह्नि का स्वप्नज्ञान तथा अनाप्तवाक्य से जात ज्ञान भी प्रमा हो जायगा। यदि च व्याप्य शब्द से व्याप्य विशेष (अर्थक्रिया वा सामग्री) का ग्रहण करें तो भी धूम सहित वह्नि का स्वप्न में वा अनाप्तवाक्य से जात ज्ञान में ही अतिव्याप्ति हो जायगी। किञ्च युगपद् अनेक ज्ञान नहीं होते हैं अतः व्यापक के प्रतीतिकाल में तो व्याप्य की प्रतीति होगी नहीं, किन्तु क्रम से ही होगी अर्थात् व्यापक की प्रतीति के उत्तरकाल में ही व्याप्य की प्रतीति होगी। ऐसा मानने पर पूर्व ज्ञान में प्रमात्व, उत्तरक्षण में उत्पन्न अर्थक्रिया की प्रतीति वा सामग्री की प्रतीति से गृहीत होगा और उस अर्थक्रिया की प्रतीति में प्रमात्व भी उससे उत्तरक्षण में उत्पन्न अर्थक्रिया की प्रतीति से ही गृहीत होगा, अतः पूर्व २ प्रतीति के प्रमात्व में अपर अपर प्रतीति की अपेक्षा होने से अनवस्था प्रसङ्ग होगा।

यदि अर्थक्रिया की प्रतीति की धारा का कहीं विच्छेद मानें तो अन्तिम अर्थक्रिया की प्रतीति के अप्रमात्व होने से मूल-पर्य्यन्त अप्रमात्व हो जायगा। किञ्च यदि अर्थक्रिया वास्तविक लें तो प्रमितित्व से इतर वास्तविकत्व हो नहीं सकता और प्रमिति की निरुक्ति अद्यपर्यन्त हुई नहीं है और यदि अर्थक्रिया की प्रतीतिमात्र का ग्रहण करें, तो भ्रमस्थल में भी अर्थक्रिया की प्रतीति होने से अतिव्याप्ति हो जायगी ॥१००॥

समर्थन—अर्थक्रियाकारित्व अविसंवाद है यह चतुर्थपक्ष ही मानो धर्मकीर्ति (बौद्ध आचार्य) ने भी कहा है कि अविसंवादी ज्ञान प्रमा है और अर्थक्रियाकारित्व ही अविसंवाद है ॥

अभिप्रायविसंवादात् प्रमायां सर्वमुच्यत इति चेन्न, तदा अभिप्रायाविसम्वादस्य स्वप्नादिप्रत्ययेऽपि सम्भवात्। कालान्तराविसम्वादस्य च दुरवधारणत्वात्।

एतेन प्राप्त्यादियोग्यताऽविसंवादार्थ इत्यपि निरस्तम्। दुराबाध इव चायं धर्मकीर्त्तेः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति ॥२॥

अबाधितानुभूतिः प्रमेत्यपिनिरस्तम्। तदानीं बाधाविरहस्यातिप्रसङ्गकत्वात्। कालान्तरेऽपि च बाधाविरहस्य दुर्निरूपत्वात्। स्वतो बाधाविरहस्याऽतिप्रसङ्गकत्वात्। सर्व्वजनबाधाविरहस्य च दुरवधारणत्वादिति।

खण्डन– यदि अर्थक्रियाकारित्व, सामान्यरूप से अभिप्रेत हो तो शुक्तिरूप से अर्थक्रियाकारित्व भ्रम में भी है, अतः भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी। और यदि प्रतीयमान धर्म्म से अर्थक्रियाकारित्व अभिप्रेत है, तो यद्यपि भ्रम में प्रतीयमान रजतत्वरूप से अर्थक्रियाकारित्व न होनेसे अतिव्याप्ति तो नहीं है, तथापि दृष्ट अङ्गुलीयकरूप अर्थक्रिया का कर्तृत्व रजतमें रजतत्व रूपसे है, वा मुद्रादिरूप से है, यह अवधारण नहीं हो सकता है, अतः रजत में जहाँ "इदं रजतम्" यह ज्ञान हुआ है वहाँ भी अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—अङ्गुलीयकरूप अर्थक्रिया के दर्शन से रजतत्व का अवधारण करेंगे—

खण्डन—जैसे रजतत्व के बिना भी रजतत्व का भ्रम होता है, वैसे ही अर्थक्रियाकारित्व के बिना भी अर्थक्रिया का भ्रम हो सकता है। अतः अर्थक्रिया के दर्शन से रजतत्व का अनुमान नहीं हो सकता। यदि कहें कि अर्थक्रिया की प्रमिति से रजतत्व का अवधारण करेंगे, तो यह नहीं कह सकते, कारण कि प्रमिति अद्यपर्यन्त निर्धारित नहीं हुई है ॥१॥

समर्थन—अभिप्राय (इच्छा वा प्रवृत्ति) के अविसंवाद से सम्पूर्णज्ञान प्रमा कहे जाते हैं।

खण्डन—ज्ञान काल में अविसंवाद अभिप्रेत है वा सब काल में। यदि कहें कि ज्ञानकाल में, तो भ्रमस्थल में भी ज्ञानकाल में अविसंवाद होने से भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें कि सब काल में अविसंवाद अभिप्रेत है, तो "इस ज्ञान में कदापि सम्वाद नहीं होगा" यह बात दुर्ज्ञेय है। प्रत्युत सम्भव है कि स्वप्नकाल में सर्वविध ज्ञान में विसंवाद हो, अतः लक्षण में असम्भव दोष हो जायगा।

समर्थन—प्राप्तियोग्यता अविसंवाद है और उससे युक्त अनुभव प्रमा है।

खण्डन—ज्ञान काल में प्राप्ति की योग्यता भ्रम में भी है और सर्व काल में प्राप्ति की योग्यता का अवधारण प्रमा में भी नहीं हो सकता, अतः प्राप्ति की योग्यता का मानना भी असङ्गत है-यह धर्मकीर्ति का प्रमालक्षण का खण्डन अशक्य सा है। अतः इससे सावधान रहना चाहिये ॥ २ ॥

लक्षणान्तर-खण्डन

खण्डन–"अबाधित अनुभूति. प्रमा है" यह लक्षण भी उचित नहीं है, कारण कि ज्ञान काल में बाध का अभाव भ्रम में भी है, और सब काल में अबाध प्रमा में भी नहीं है, कारण कि सम्भव है कि स्वप्न में प्रमा का भी बाध हो। किञ्च स्व (द्रष्टा) का अबाध अभिप्रेत है वा सब मनुष्यों का। यदि द्रष्टा को अबाध कहें तो सम्भव है कि कहीं भ्रान्त मनुष्य का

तर्कसंशयाविपर्य्ययस्मृतिव्यतिरिक्ता प्रतीतिः प्रमेत्यपि न, स्मृतिव्यतिरिक्तत्व-खण्डनन्यायेन निरस्तत्वादिति ।

जातिसङ्करमिच्छतश्च प्रमात्वलक्षणजात्यभिसम्बन्धात् प्रमेत्यपि दुर्लक्षणम् ॥३॥

अस्याज्ञातस्य तद्व्यवहारजनकत्वे प्रमायामप्रमाभ्रमसंशयौ न स्याताम् । दोषा-भावसहकृतस्य तथात्वे चाजायमानभ्रमसंशयप्रमादिव्यवहारे ज्ञानमात्रावगमोदाहरणेऽपि तदापत्तेः ।

ज्ञातेनानेन लक्षणेन व्यवहारे च कथमिदमेव ज्ञातव्यमिति वक्तव्यं, न तावत्प्रत्य-क्षेण मानसेन, तथा सति क्वचिज्ज्ञातायां प्रमायामप्रमाविपर्य्ययसंशयानवकाशादि स्यात् । धर्मिवत् मनसैव निर्णीतत्वात् ॥४॥

बाध न हो, अतः उस भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी और यदि सब मनुष्यों का अबाध अभिप्रेत है तो वह दुर्ज्ञेय है ।

निर्वचन—तर्क-संशय-विपर्यय-स्मृति-व्यतिरिक्त-ज्ञान प्रमा है !

खण्डन—स्मृति-व्यतिरिक्तत्व के खण्डन की रीति से इस लक्षण का भी खण्डन करना चाहिए ।

समर्थन—"प्रमात्वजातिविशिष्ट प्रमा है"

खण्डन—यह लक्षण भी उचित नहीं है, कारण कि साक्षात्त्व को परिहार कर प्रमात्व अनुमिति में है और साक्षात्त्व प्रमात्व को त्याग कर भ्रम में है और दोनों का समावेश प्रत्यक्ष-प्रमा में है, अतः सङ्कर दोष होने से प्रमात्व जाति ही नहीं है ॥ ३ ॥

किञ्च प्रमात्वजातिरूप लक्षण "इयम् प्रमा" इस व्यवहार का अज्ञात प्रयोजक है या ज्ञात । यदि अज्ञात कहें तो प्रमा में प्रमात्व का भ्रम वा सन्देह कहीं भी नहीं होना चाहिये अर्थात् जब ज्ञात लक्षण को "इयम् प्रमा" इस व्यवहार का प्रयोजक मानते हैं तब तो कह सकते हैं कि प्रमात्वरूप लक्षण का ज्ञान नहीं है, अतः "इयम् प्रमा" यह व्यवहार नहीं होता है; किन्तु प्रमात्व का भ्रम वा सन्देह ही होता है और जब अज्ञात (स्वरूप सत्) ही लक्षण, व्यवहार का कारण है तब तो सदा प्रमा में "इयम् प्रमा" यही व्यवहार होना चाहिये ।

समर्थन—दोषाऽभाव से सहित, स्वरूप सत् प्रमात्वरूप लक्षण "इयं प्रमा" इस व्यवहार का कारण है, अतः जहाँ दोष है वहाँ "इयं प्रमा" यह व्यवहार नहीं होता; किन्तु भ्रम वा सन्देह ही होता है ?

खण्डन—जो ज्ञान वस्तुतः प्रमा है, परन्तु प्रमात्व से ज्ञात नहीं है और जिसमें भ्रम वा सन्देह भी नहीं है, केवल ज्ञानत्व से अवगत है उसमें "इयम् प्रमा" यह व्यवहार होना चाहिये, कारण कि दोषाभाव से सहित, स्वरूप सत् प्रमात्व वहाँ विद्यमान है और यदि ज्ञातलक्षण, व्यवहार का प्रयोजक है, तो लक्षण का ज्ञान कैसे हुआ यह पूछना चाहिए । मानस प्रत्यक्ष से लक्षणका ज्ञान होता है, यह तो कह नहीं सकते, कारण कि कहीं २ प्रमा होने पर प्रमात्व का सन्देह वा भ्रम होता है वह [धर्मी प्रमा के ज्ञान के तुल्य प्रमात्व का भी मानस प्रत्यक्ष हो जाने से] नहीं होगा ॥ ४ ॥

चिह्नान्तरसापेक्षेणैव मनसा सम्वेदनचिह्नेनैव वा तेनैव लक्षणीभूय ज्ञापनमित्यपि प्रत्याशामात्रम् । तच्चिह्नेनैव प्रमात्वजातिकल्पनाप्रतिक्षेपापत्तेः । तेषां नानात्वे च कानि तानीति वक्तव्यं स्यात् । तच्चिह्नानां यथोपन्यासं सर्वेषामेव दूषितत्वात् । प्रामाण्यपरतस्त्वव्युदस्तिप्रस्तावे च विस्तरेण दूषयिष्यामः ॥५॥

एतेन शक्तिविशेषः प्रमात्वं, तद्योगः प्रमालक्षणमित्यपास्तम्, दुरवधारणत्वात् । यच्च किञ्चित्प्रमाया लक्षणमुच्यते तदज्ञातं ज्ञातमात्रं वा यदि तत्त्वव्यवहारकं तदा अत्यापत्तिः प्रमितश्चेत्प्रमानवधारणे तद्वद्दुरवधारणता ॥६॥

समर्थन—अन्य चिह्न से युक्त मन से प्रमात्व का ज्ञान होता है अथवा चिह्न ही लिङ्गरूप से प्रमात्वरूप लक्षण की अनुमिति का हेतु है, अतः चिह्नरूप सहकारी के अज्ञान में अप्रमात्व का भ्रम हो सकता है।

खण्डन—यदि ऐसा है तो उस चिह्न से ही "इयं प्रमा" यह व्यवहार हो जायगा, फिर प्रमाण के अभाव से प्रमात्व जाति की सिद्धि ही न होगी।

समर्थन—प्रमा के चिह्न अनेक हैं; अतः उन चिह्नों से "इयं प्रमा" इस अनुगत बुद्धि का समर्थन नहीं हो सकता, अतः अनुगत बुद्धि के समर्थन के लिए प्रमात्व जाति मानी जाती है।

खण्डन—उन तत्वानुभूतित्व आदि चिह्नों का खण्डन यथास्थान कर आये हैं, अतः उक्त चिह्नों के सहकार से प्रमात्व का मानस प्रत्यक्ष होता है—यह कथन असङ्गत है। किञ्च "प्रमात्व स्वतो ग्राह्य है या परतः" इस के खण्डन के प्रस्ताव में चिह्न से सहकृत मानस प्रमात्व का प्रत्यक्ष होता है इस का खण्डन विस्तार से करेंगे ॥ ५ ॥

समर्थन—प्रमा में अर्थावबोध की जो शक्ति है वह शक्ति ही प्रमात्व है और प्रमात्वयोग प्रमा का लक्षण है।

खण्डन—यदि इस लक्षण को अज्ञात व्यवहार का कारण मानें, तो प्रमात्व का भ्रम वा सन्देह न होना चाहिये। यदि ज्ञात व्यवहार का कारण मानें, तो जिस चिह्न से ज्ञात होता है, वह चिह्न ही लक्षण रहे, शक्ति का स्वीकार व्यर्थ है, इत्यादि पूर्वोक्त दोष से शक्ति पक्ष भी असङ्गत है। कोई भी प्रमा का लक्षण आप करें अज्ञात वा केवल ज्ञात यदि प्रमात्व के व्यवहार का कारण मानें तो भ्रमस्थल में भी प्रमात्व का व्यवहार होना चाहिए, कारण कि यदि अज्ञात प्रयोजक है; तो अज्ञात दशा में सत्य असत्य दोनों एक से हैं उनमें भेद तो है नहीं फिर जहाँ असत् है वहाँ भी व्यवहार होना चाहिये, तथा प्रमात्व का भ्रम वा सन्देह अप्रमा में भी हो सकता है। यदि कहें कि "इदं लक्षणं प्रमितम्" ईदृश ज्ञान का विषय लक्षण व्यवहार का जनक है तो अद्यावधि प्रमा की निरुक्ति नहीं हुई है, अतः इस कार्यकारण भावके नियम में प्रमिति विशेषण [असिद्ध होने से] नहीं दे सकते ॥ ६ ॥

यदि कहें कि लक्षण में प्रमितत्व का अवधारण न हो, परन्तु जो लक्षण स्वरूप से प्रमित है उससे व्यवहार होता है और जो प्रमित नहीं है वह व्यवहार का प्रयोजक नहीं है, तो कोई प्रश्न करें कि यह लक्षण प्रमित नहीं है, तो आप क्या उत्तर देंगे, कारण कि "इदं प्रमितम्" इस ज्ञान से अद्यपर्यन्त प्रमात्व की अनिरुक्ति होने से प्रमितत्व की सिद्धि आप नहीं कर सकते। किञ्च जैसे लक्षण प्रमितत्व से अनवगत स्वरूप सत् लक्ष्य के व्यवहार का कारण है, वैसे ही प्रमा भी स्वरूप सत् ही घटादि व्यवहार का प्रयोजक होगी, फिर प्रमात्व

माऽवधारि; वस्तुतस्तु तथेति चेन्न; वस्तुतो न तथैव किन्त्वेति वादिन्यनुत्तरापत्तेः प्रमात्वनिरूपणवैयर्थ्यापाताच्च। वस्तुतस्तु प्रमयैव घटादितत्त्वव्यवहारोऽपि तन्नास्त्वित्यास्तां विस्तरः ॥७॥

एवं प्रमितेरनिरुक्त्या प्रमाकरणं प्रमाणमित्यप्ययुक्तम्; करणार्थानिरुक्तेश्च ॥८॥

ननु कारकान्तरेऽचरितार्थस्य हेतुत्वं करणत्वं, कर्त्तुर्हि करणं निष्पादयतः कारकान्तरे चरितार्थत्वं, स्वरूपतोऽनिष्पादनेऽपि व्यापारवत्तया निष्पादनात्। तादृशस्य च तस्य करणत्वात्। एवं कर्मापि करणनिष्पादने चरितार्थं, करणव्यापारोहि कर्मविषयो भवति कर्माभावे विषयाभावात् करणव्यापार एव न निष्पद्यत इति तन्निर्वाहे तस्यापि चरितार्थत्वमिति। एवमधिकरणस्यापि करणव्यापारनिर्वाहकत्वम्। सम्प्रदानापादानयोश्चासार्व्वत्रिकत्वम्। करणन्तु सार्व्वत्रिकमेवेति कारकान्तरेऽचरितार्थः सार्वत्रिको हेतुः करणमिति ॥ ९ ॥

से प्रमा के अवगम के लिए प्रमा के लक्षण का निरूपण व्यर्थ हो जायगा। किञ्च लक्षण व्यतिरेकी हेतु है और हेतु व्याप्तिपक्षधर्मता से प्रमितत्वरूप से अवगत ही अनुमिति का जनक है, अतः प्रमितत्व से अनवगत लक्षण व्यवहार का प्रयोजक है यह कथन असङ्गत है इत्यादि दूषण हैं अतः विस्तार रहे एतावत् खण्डन ही पर्याप्त है ॥ ७ ॥

॥ अथ प्रमाणलक्षण खण्डन ॥

पूर्वोक्त रीति से प्रमा की निरुक्ति (लक्षण) न होने के कारण प्रमितिकरण प्रमाण है, यह प्रमाण का लक्षण भी अयुक्त हुआ, कारण कि विशेषण की निरुक्ति के बिना विशिष्ट की निरुक्ति नहीं हो सकती है। किञ्च करण शब्द के अर्थ की निरुक्ति भी नहीं हो सकती है ॥ ८ ॥

समर्थन—कारकान्तर में अचरितार्थ (अनुपयुक्त) होकर जो हेतु, क्रिया का जनक हो, वह करण है। कर्ता, करण का निष्पादन करता है, अतः कारकान्तर में चरितार्थ है। यद्यपि कर्ता करण का स्वरूप से निष्पादन नहीं करता है, तथापि व्यापारवत्त्वरूप से निष्पादन करता ही है। कारण कि व्यापारयुक्त को ही करण कहते हैं और विशेषण का निष्पादक विशिष्ट का भी निष्पादक होता है। इस रीति से कर्म्म भी करण के निष्पादन में चरितार्थ है। कारण कि करण का व्यापार कर्म में होता है, कर्म के अभाव में आश्रय के अभाव से करण का व्यापार नहीं हो सकता है अतः करण के निष्पादन में कर्म्म भी चरितार्थ है। इसी रीति से अधिकरण भी करण के व्यापार का जनक है। कारण कि करण का व्यापार किसी देश वा कालरूप अधिकरण में ही होता है। सम्प्रदान प्रायः दानरूप क्रिया का ही जनक होता है और अपादान, विभागरूपक्रिया का ही जनक होता है, अतः वे दोनों सार्वत्रिक नहीं हैं। और करण क्रियामात्र के जनक होने से सार्वत्रिक है। अतः कारकान्तर में अचरितार्थ सार्वत्रिक हेतु करण है, यह करण की निरुक्ति दोषरहित हो सकती है ॥९॥

मैवम् । अस्तु तावदविचारितरमणीयमिदं व्याख्यानम् । अन्तरशब्दो यदि विशेष मात्रवचनस्तदा न व्यवच्छेदकः न हि विशेषमपास्य कारकमात्रं केनचिज्जन्यते यद्व्यवच्छिद्येत । नापि चान्तरशब्दोन्यवचनः तथासति कस्मादन्यदिति विशेषानिर्देशो करणादिति समभिव्याहाराल्लभ्येत "यथान्य आत्मा शरीरमन्यद्" इत्यादौ तथा सति करणव्यतिरिक्तकारकाभिप्रायेण नयुक्तः स्यात् । तच्च न । करणस्यैवाद्यापि निरूप्यमाणत्वादतिव्याप्तेश्च ॥१०॥

नापि कर्तृकर्मणोः स्वरूपोपादानपरोऽयमन्तरशब्दः ताभ्यामेवातिव्याप्त्यापत्तेः । नापिकर्तृकर्मणी अपेक्ष्यान्यदन्तरशब्दार्थः नैयर्थ्यापातात् । कारकेऽचरितार्थत्वमेवोच्यताम् ॥११॥

खण्डन—यह करण शब्दार्थ का व्याख्यान अविचारित रमणीय है । अर्थात् विचार कर के देखा जाय तो कुछ भी नहीं है । कारण कि अन्तर शब्द का "अनयोर्महदन्तरम्" के तुल्य यदि विशेष अर्थ करें, तो व्यवच्छेद्य न होने से अन्तर शब्द का निवेश व्यर्थ है । यदि कोई कारक विशेष को छोड़ कर कारक सामान्य का जनक होता, तो कह सकते कि अन्तर शब्द को त्याग कर कारक में अचरितार्थ इत्यादि लक्षण करेंगे तो कारकसामान्य के जनक का निषेध हो जायगा, वह न हो, अतः अन्तर शब्द का निवेश है । जब विशेष को त्याग कर सामान्य कारक का कोई जनक ही नहीं है, तो अन्तर शब्द का निवेश व्यर्थ है । यदि अन्तर शब्द का अन्य अर्थ करें, तो किस से अन्य इस अपेक्षा में समभिव्याहार से करण से अन्य ऐसा अर्थ होगा, जैसे "अन्य आत्मा शरीरमन्यत्" इस स्थल में शरीर से अन्य आत्मा और आत्मा से अन्य शरीर ऐसा अर्थ समभिव्याहार से लब्ध होता है, तब कारकान्तर शब्द का करण से अन्य कारक अर्थ हुआ, वह हो नहीं सकता है । कारण कि करण का ही अद्यावधि निरूपण हो रहा है, अतः करण शब्द का अर्थ अज्ञात है, तथा करण के लक्षण में कारण के प्रवेश होने से आत्माश्रय भी है । किञ्च करण से अन्य कारक में अचरितार्थ कर्ता भी है, अतः कर्ता में अतिव्याप्ति हो जायगी ॥ ११० ॥

समर्थन—कारकान्तर शब्द, कर्तृकर्मपरक है, अतः कर्ता कर्म में अचरितार्थ सार्वत्रिक हेतु करण है यह निष्कृष्ट लक्षण हुआ ।

खण्डन—कर्ता में कर्ता अचरितार्थ है, तथा कर्म में कर्म अचरितार्थ है, अतः कर्ता कर्म में ही अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—कर्ता कर्म से अन्य अन्तर शब्द का अर्थ है । कर्ता कर्म से अन्य कारक अचरितार्थ सार्वत्रिक हेतु में करण है यह लक्षण सम्पन्न हुआ ।

खण्डन—कारक में अचरितार्थ इत्यादि कहने से ही कर्ता कर्म में अतिव्याप्ति के वारण होने से अन्तर शब्द का निवेश व्यर्थ हो जायगा । किञ्च कर्तृकर्म से अन्य कारक (वह्निरूपकरण) में हस्तरूपकरण वक्ष्यमाण प्रकार से चरितार्थ है, अतः हस्तरूप करण में अव्याप्ति हो जायगी ॥११॥

समर्थन—अन्तर शब्द का कुछ अधिक अर्थ नहीं है, अतः अन्तर शब्द का निवेश आप न करें, अर्थात् कारक में अचरितार्थ सार्वत्रिकहेतु करण है, इतनाही लक्षण करें, क्या हानि है ?

नाप्यनधिकार्थ एवायमिति न प्रयोक्तव्योऽन्तरशब्दः, तथा सति करणजनकं हस्तादि न करणं स्यात्। व्यापारवद्धि कारणं करणमुच्यते, अस्ति च स्थालीसंयोगादिव्यापारवतोऽग्न्यादेस्तथात्वम्। अस्ति च हस्तादेस्तज्जनकत्वम्। नच हस्ताद्यकरणमेवाभ्युपेयं, व्यापारवतः कारणत्वेन तत् कारकत्वस्यावश्याभ्युपेयत्वात्। कर्त्रादिषु दुरन्तर्भावत्वात्। सप्तमकारकस्वीकारापत्तेः ॥१२॥

नच व्यवधानात्तत्राहेतुत्वमेव तेषां, किं नाम हेतुहेतुत्वमिति। कर्त्तुरप्येवम्प्रसङ्गात्। पुंव्यापाराद्देहस्पन्दादिस्तेन कुठारक्रियादिस्ततश्छिदेति परम्पराव्यवधानात्। सर्व्वेयं कर्तृव्यापारपरम्परा न तस्य हेतुता हन्तीति चेत्, तुल्यम्। तस्मात् करणत्वेनावश्याभ्युपगन्तव्यहस्ताद्यव्यापकत्वादलक्षणमिदम्।

एतेनाऽपि कारकान्तरशब्दः कर्तृकर्मव्यतिरिक्तवचन इति पक्षो व्युदास्यः ॥१३॥

खण्डन—ऐसा लक्षण होने पर वह्निरूप करण के व्यापार का जनक हस्तादि में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। देखिये—व्यापारवान् कारण को कारक कहते हैं, अतः स्थालीसंयोग आदि व्यापारयुक्त तथा पाकरूपक्रिया का हेतु वह्निरूप करण भी कारक है और हस्त [स्थालीसंयोगादिरूपवह्नि व्यापार का] जनक है। हस्त आदि करण ही नहीं है यह नहीं कह सकते, कारण कि व्यापार से युक्त तथा पाकक्रिया का जनक होने से हस्त कारक तो अवश्य है और उसका कर्ता आदि में अन्तर्भाव हो नहीं सकता और हस्त को करण आप मानते नहीं, अतः सप्तम कारक मानना पड़ेगा ॥१२॥

समर्थन—स्थालीसंयोग आदि वह्नि के व्यापार में काष्ठ व्यापार से व्यवधान होने से हस्त हेतु चरितार्थ ही नहीं है, किन्तु हेतु जो काष्ठादि उसके व्यापार का हेतु है, अतः वह्नि व्यापार में हस्त को अचरितार्थ होने से हस्त में अव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—यदि व्यवधान होने से हेतुत्व का अभाव मानें तो छिदादि क्रिया में कर्ता भी हेतु नहीं होगा, कारण कि पुरुष (आत्मा) के यत्नरूप व्यापार से शरीर में उद्यमन निपतनादि व्यापार होता है, उससे कुठार में काष्ठसंयोगादि व्यापार होता है, उससे छेदन होता है, अतः पुरुष व्यापार में भी छिदादि का व्यवधान है। यदि कहें कि पुरुष में कर्तृत्वग्रह होने पर उसकी सिद्धि के लिये ही शरीरादि के व्यापार होते हैं, अतः सम्पूर्ण व्यापार कर्ता ही के हैं। अतः उन व्यापारों से अन्यथासिद्ध कर्ता नहीं होता तो हम भी कहेंगे कि हस्त में करणत्वग्रह होने पर उसकी सिद्धि के लिये ही काष्ठादि व्यापार होते हैं, अतः उन व्यापारों से हस्त अन्यथासिद्ध नहीं हो सकता, तस्मात् हस्त को करण तो अवश्य मानेंगे और हस्त में करणलक्षण जाता नहीं, अतः अव्याप्ति दोष हो जायगा हस्त में अव्याप्ति दोष होने से भी कारकान्तर शब्द कर्तृकर्मभिन्न कारकपरक है यह पक्ष खण्डित जानना चाहिए ॥१३॥

लक्षणान्तर-खण्डन

"कर्ता के व्यापार का विषय करण है" यह लक्षण भी अयुक्त है, कारण कि शरीर की चलनरूप क्रिया के लिए यत्नवाले कर्ता के यत्नरूप व्यापार के विषय चलनरूपक्रिया

कर्तृव्यापारविषयः करणमित्यपि न । शरीरचालनाय प्रयतमानस्य निष्पाद्या शरीरक्रिया, क्रियाविशिष्टं वा शरीरं प्रयत्नलक्षणकर्तृव्यापारविषयीभवतीति तस्यां क्रियायां करणं स्यात् । नचैतत् शक्याङ्गीकारं, भविष्यतः स्वं प्रति च कारकत्वानुपपत्तेः । नच साक्षात्कर्तृव्यापारविषय इति विशेषोपादानेऽप्यस्य परिहारः, साक्षाद्व्यापार्य्यमनःप्रभृतिक्रियायां प्रसक्ततादवस्थ्यात्, अव्यापकत्वाच्च ॥१४॥

अथ तत्क्रियाहेतुस्तत्क्रियाकर्तृव्यापारस्य विषयस्तत्क्रियाकरणमिति मन्यसे । मैवम् । अनीश्वरवादे अङ्कुरादीनामकरणकत्वप्रसङ्गात् । सुषुप्त्यनन्तरभाविन्याः प्रमायाः परिगणितकरणोपाधिभेदपरिसङ्ख्यातेषु प्रमाराशिषु बहिर्भावप्रसङ्गात् । अचेतनस्यापि

वा क्रियाविशिष्टशरीर होता है, अतः शरीर की चलनरूपक्रिया में चलनरूपक्रिया वा क्रियाविशिष्टशरीर करण हो जायगा। अर्थात् जैसे वृक्षच्छेदन के लिये प्रयतमान कर्ता के व्यापार के विषय होने से क्रियाविशिष्टकुठार वा उद्यमन निपतनादि क्रिया, छेदनरूप क्रिया का करण है, वैसे ही शरीरचलन के लिये प्रयतमान पुरुष के व्यापार के विषय होने से क्रियाविशिष्टशरीर वा शरीरक्रिया करण हो जायगी। भेद यह है कि प्रकृत में अन्य कोई क्रिया नहीं है, अतः शरीरक्रिया में ही शरीर वा तत्क्रिया करण हो जायगी और शरीर वा तत्क्रिया के करणत्व का अङ्गीकार आप नहीं कर सकते हैं, कारण कि नियतपूर्ववर्त्ती को करण होने से भावी करण नहीं होता है और न स्व स्वके प्रति करण होता है।

समर्थन—कर्ता के व्यापार का साक्षात् विषय करण है, शरीर मनोव्यापार (सङ्कल्प) द्वारा कर्तृव्यापार का विषय है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—ऐसा लक्षण करने पर भी संङ्कल्पविशिष्ट मन वा सङ्कल्प को करणत्व हो जायगा। कारण कि वह कर्तृव्यापार का साक्षात् विषय है। किञ्च कुठारादि कर्तृव्यापार का शरीरव्यापार द्वारा ही विषय होता है, अतः साक्षात् निवेश करने पर कुठारादि में अव्याप्ति हो जायगी ॥१४॥

समर्थन—तत्क्रिया का हेतु होकर तत्क्रिया के कर्तृव्यापार का विषय जो हो वह तत्क्रिया में करण है ऐसा करणलक्षण होने पर शरीरक्रिया शरीरक्रिया में हेतु नहीं है अतः शरीरक्रिया में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—अनीश्वरवाद में अङ्कुर का करण कर्तृव्यापार का विषय नहीं है अतः अंकुर के करण में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें कि अङ्कुर करणरहित ही है तो "कार्यं करणपूर्वकम्" इस व्याप्ति के अभाव से रूपादिविषयक ज्ञानरूप कार्य से चक्षुरादि करण की अनुमिति न होने से अनीश्वरवादी का अपसिद्धान्त हो जायगा। सुषुप्ति के अनन्तरक्षण में उत्पन्न प्रमा का करण भी कर्तृव्यापारके अविषय होनेसे करण न होगा। यदि कहें कि वह प्रमा अकरणक ही है तो परिगणित करणरूप निमित्त से उत्पन्न पञ्च वा षट् प्रमाराशि में उस प्रमा का अन्तर्भाव न होने से एक सप्तम प्रमा माननी पड़ेगी और यदि ज्ञानरहित जीव वा शरीर को ही सुषुप्त्यनन्तर जात प्रमा का कर्त्ता मानें तो अङ्कुर का भी जीव ही कर्ता हो जायगा, फिर अंकुर अकर्तृक है यह कथन तुम्हारा असङ्गत हो जायगा, कारण कि उपादान-गोचरापरोक्ष-ज्ञानादिमान ही कर्ता होता है और अंकुर का उपादान-गोचर-

कर्तृत्वे चातिप्रसङ्गात्। सेश्वरवादेऽत्वीश्वरव्यापारविषयः सर्वं कारणमिति नाकरणं कारणं स्यात्। ओमित्यभिधाने चाऽकारणमात्रं व्यवच्छेद्यमिति कारणं करणमित्येवोच्यतां वृथा विशेषणपूरणप्रयासः ॥१५॥

अथ मन्यसे न धर्म्यन्तरव्यवच्छेदाय विशेषणानि किन्त्वेकस्यापि धर्मिणो रूपभेदेन करणपदाभिधेयतोपदर्शनायेति। एवं तर्ह्येतद्रूपालिङ्गितस्य करणत्वाल्लक्षणोक्तिप्रवृत्तेन-त्वया लक्ष्यमात्रमुक्तं भवेत्। नच लक्ष्यपदप्रवृत्तिनिमित्तमेव लक्षणार्थः, गन्धवत्वादेः पृथिव्याद्यलक्षणत्वापतेः। अपि चैवं वस्तुमात्रं करणमित्यभिधायैव किन्न करणपदप्रवृत्तिनिमित्तमुपादर्शि। स्यादेवं यदि सर्वत्र वस्तुनि करणव्यवहारः स्यादिति चेत् तर्हि त्वदुक्तलक्षणमपि भवेद्यदि सर्वत्र कारणे करणव्यवहारः स्यादित्यपि पश्य, नहि कर्त्तरि कर्मणि वा कस्यचित्करणव्यवहारः ॥ १६ ॥

कर्त्तरि तावदस्ति लोके "प्रमाणमिह देवदत्त" इति, शास्त्रेपि "मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्याद्" इतीति चेन्न; किमयं माणवकेऽग्निव्यवहार

अपरोक्षज्ञान जीव को नहीं है, अतः अंकुर का जीव कर्ता नहीं है इस बात को [अचेतन को कर्ता माननेवाले] आप कह नहीं सकते और सेश्वरवाद में ईश्वररूप कर्त्ता के व्यापार के विषय सब कारक होते हैं। अतः सम्पूर्ण कारक करण हो जायँगे। यदि कहो कि कारणमात्र करण ही है, तो "कारणं करणम्" यही लक्षण हुआ, व्यर्थ विशेषण पूरण प्रयास क्यों करते हो ॥१५॥

समर्थन—कर्ता कर्म आदि अन्य कारकों की व्यावृत्ति के लिये विशेषण नहीं है, किन्तु एक ही कारक को रूप (प्रवृत्तिनिमित्त) भेद से करणपद के वाच्यत्व प्रदर्शन के लिये विशेषण है।

खण्डन—तत्क्रिया का हेतु तथा तत्क्रिया के कर्तृव्यापार का विषय, तत्क्रिया का करण है इस कथन द्वारा लक्षण की निरुक्ति में प्रवृत्त आपने प्रवृत्तिनिमित्त कहा है, अतः प्रश्न का उत्तर न दे कर अप्रस्तुत के अभिधान से अर्थान्तर का प्रसङ्ग हुआ, यदि कहें कि लक्षण तथा प्रवृत्तिनिमित्त एक ही है, अतः प्रवृत्तिनिमित्त के अभिधान में अर्थान्तर नहीं है , तो गन्धवत्व पृथिवी का लक्षण नहीं हो सकेगा, कारण कि प्रवृत्तिनिमित्त को ही आप लक्षण मानते हैं और गन्धवत्स्वरूप उपाधि की अपेक्षा से लाघव होने से पृथिवीत्व जाति ही प्रवृत्तिनिमित्त होती है गन्धवत्व नहीं, अतः गन्धवत्व लक्षण नहीं होगा। अपिच वस्तुमात्र करण है यह कह कर ही आपने करणपद के प्रवृत्तिनिमित्त का प्रदर्शन क्यों न किया ? यदि आप कहें कि ऐसा होता यदि वस्तुमात्र में करण व्यवहार होता, तो हम भी कहसकते हैं कि आपका लक्षण भी होता। यदि कारणमात्र में करण व्यवहार होता, इसको आप देखें कि कर्ता वा कर्म में किसीका करण व्यवहार नहीं होता है ॥ १६ ॥

समर्थन—लोक में "प्रमाणमिह देवदत्तः" इस स्थल में कर्ता में करण व्यवहार देखा जाता है, तथा शास्त्र में भी "मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्त-प्रामाण्यात्" इस स्थलमें कर्ता में करण व्यवहार देखा जाता है।

खण्डन—क्या यह व्यवहार "अग्निर्माणवकः" के तुल्य गौण है वा मुख्य है ऐसा सन्देह होने पर यदि तुम्हारे कल्पित निमित्त से इस व्यवहार को मुख्य मानें तो उसी तुम्हारे

इव गौणो मुख्य एव वेति संशये यदि त्वत्परिकल्पितान्निमित्तान्मुख्यः स्यात्ततः कर्मण्यपि स्यात्तत एव निमित्तादिति बाधकदर्शनेन पारिशेष्यात् गौणतयैव तद्व्यवस्थापनाया युक्तत्वात् ॥१७॥

अस्त्येव कर्मण्यपि तेन रूपेणेति चेन्न तावदयं शक्योपदर्शनोदाहरणः शास्त्रलोकयोः । क्व दृश्यते घटं पश्यतीत्यर्थे घटेन पश्यतीति । यदितु त्वच्चेतसि केवलं स्यात् तत्र च नादरं विधातुमुत्सहामहे । प्रमेयमात्रं करणमिति वदतो वामबुद्धेर्मनसि विपरिवर्तमानं प्रमेयमात्र एव करणव्यवहारास्तित्वमेवमनुरोद्धव्यं स्यादिति । घटेन पश्यतीत्याद्यनभिधानवशान्न प्रयोगो न हि सर्वं लाक्षणिकं प्रयुज्यत इति चेत् न; मास्तु, तदभावे कोऽन्योऽस्ति तेषु करणव्यवहार इति वक्तव्यः, स स्यात् न चासौ शक्यदर्शन इति ॥१८॥

क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धि करणमित्यपि न । तथा हि—अयोगव्यवच्छेदो योग एव पर्य्यवस्येदिति सम्बन्धेन सम्बन्धीत्युक्तं स्यादिति पौनरुक्त्यम् । यदा सम्बन्धीत्यनेन कालविशेषनियतसम्बन्धिताऽभिधीयते ततोऽन्यस्मिन्नपि काले

कल्पित निमित्त से कर्म में भी करण व्यवहार होना चाहिये और कर्म में करण व्यवहार का बाध (अभाव) देखा जाता है अतः परिशेष से—गौणताही से—कर्म या कर्ता में करणव्यवहार होता है यही व्यवस्था युक्त है ॥ १७ ॥

कर्म में भी कर्तृव्यापारविषयत्वरूप से करणत्व व्यवहार होता ही है। यह आप नहीं कह सकते, कारण कि लोक वा वेद में कहीं भी "घटं पश्यति" इसके स्थान पर "घटेन-पश्यति" ऐसा व्यवहार नहीं देखा गया है। यदि केवल तुह्मारे चित्त में "घटम्पश्यति" के स्थान में "घटेन पश्यति" ऐसा व्यवहार हो तो उसका आदर करने में हमारा उत्साह नहीं होता है। कारण कि यदि तुह्मारे वचन में आदर करें तो प्रमेयमात्र करण है यह कहनेवाले वामबुद्धि आपके बचन का आदर कर प्रमेयमात्र को करण मानना पड़ेगा।

समर्थन—अभिधान न होने से "घटेन पश्यति" यह प्रयोग नहीं होता है। कारण कि यह निश्चय नहीं है कि लक्षण से युक्त वा सिद्ध सब का प्रयोग हो।

खण्डन——कर्म में करण शब्द वा विभक्ति का प्रयोग न होने पर उसमें करणत्वप्रयुक्त कौन सा व्यवहार होता है यह कहना चाहिये और आप उसको कह नहीं सकते ॥ १८ ॥

समर्थन—जो कुठारादि प्रधान क्रिया (छिदादिरूप फल से) अयोगव्यवच्छेद (सम्बन्धाभावका अभाव) से संबद्ध हो, वह करण है। कुठार के व्यापार होने पर छेदन अवश्य होता है, अतः कुठार में छेदन के अयोग का व्यवच्छेद है, और कर्ता के व्यापार होने पर भी सम्भव है कि कदाचित् छेदन न हो, अतः कर्ता में छेदन का सम्बन्ध तो है, परन्तु छिदा के अयोग का व्यवच्छेद नहीं है, अतः न कुठार में अव्याप्ति है, और न कर्ता में अतिव्याप्ति है।

खण्डन—अभाव का अभाव प्रतियोगीरूप होता है, अतः अयोग के व्यवच्छेद को योगरूप होने से उक्त लक्षणवाक्य का सम्बन्धयुक्त सम्बन्धी अर्थ हुआ, अतः पुनरुक्ति दोष होने से उक्त लक्षण असङ्गत है।

सम्बन्धिताऽयोगव्यवच्छेदपदेन विवक्षितेति चेन्न; सम्बन्धीत्यनेन न कालविशेषनियता सम्बन्धिताऽभिहिता येन कालान्तरेऽलब्धसम्बन्धिताऽभिधानाय पदान्तरमुपादीयेत। अथोच्यते-सम्बन्धीत्यस्य सामान्यतोऽभिधायिनः कालविशेषनियतं सम्बन्धमादायापि पर्य्यवसाने सार्थकत्वं भवत्येवेति कालान्तरेऽसम्बन्धितया व्यवतिष्ठमानं कर्त्राद्यपि करणं प्रसज्येत, तद्व्यवच्छेदाय कालान्तरे सम्बन्धिता पदान्तरेणाभिधीयत इति। मैवम्। तर्हि तेनापि क्वचिदेव कालान्तरे सम्बन्धिताऽभिधीयेत तदापि तस्य सार्थकता सम्बन्धिपदन्यायेन सामान्याभिधायिनो भवेदिति ततोऽपि कालान्तरेऽसम्बन्धव्यवच्छेदाय विशेषणान्तरमपि निवेशनीयं स्यात् ॥ १९ ॥

अथ यदा कदाचिदपि योऽयोगस्तस्य सर्वस्य व्यवच्छेदो विवक्षित इति, तर्हि सम्बन्धिपद एवैषा विवक्षाऽस्तु कृतमधिकमुपादाय तद्विवक्षया। निषेधव्यवच्छेदेन सार्वत्रिकत्वलाभ इति चेन्न; निषेधव्यवच्छेदस्य विध्यनतिरेकार्थत्वेनाविशेषात्।

समर्थन—सम्बन्ध शब्द, काल विशेष से नियत सम्बन्ध का वाचक है, अतः काल विशेष से अन्यकाल में सम्बन्धित्व-प्रतिपादन के लिए "अयोगव्यवच्छेद" का लक्षण में निवेश है।

खण्डन—सम्बन्धी पद से, काल विशेष से नियत सम्बन्ध का अभिधान नहीं होता है, किन्तु सामान्य से सम्बन्ध का अभिधान होता है, अतः सम्बन्धी कहने पर अन्य काल में अयोग प्राप्त नहीं है, फिर उसके व्यवच्छेद के लिए अयोगव्यवच्छेद पद का उपादान व्यर्थ है।

समर्थन—यद्यपि सम्बन्धी पद, सामान्य से सम्बन्ध मात्र का अभिधान करता है, तथापि काल विशेष से नियत सम्बन्ध में भी सम्बन्धी पद का पर्य्यवसान हो सकता है। अतः कदाचित् प्रधान छिदादि क्रिया से असम्बद्ध कर्ता में करणत्व के व्यवच्छेद के लिए अयोगव्यवच्छेद पद का लक्षण में निवेश है।

खण्डन—जैसे सामान्य से सम्बन्ध का वाची सम्बन्धीपद काल विशेष से नियत सम्बन्ध में पर्य्यवसित होता है, वैसे ही अभावाभाव के प्रतियोगीरूप होने से, सामान्य सम्बन्ध के वाची अयोगव्यवच्छेद शब्द का भी यदि काल विशेष से नियत सम्बन्ध में ही पर्य्यवसान मानें तो, फिर भी कर्ता में अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः उस अतिव्याप्ति के वारण के लिए अन्यविशेषण का निवेश करना होगा। एवं उत्तरोत्तर विशेषण निवेश से अनवस्था हो जायगी ॥१९॥

समर्थन—अन्यकाल में भी जो अयोग, उसका व्यवच्छेद अयोगव्यवच्छेद शब्द का अर्थ है, अतः क्रिया से सार्वकालिक कुठार-सम्बन्ध के लाभ के लिए अयोगव्यवच्छेद पद सार्थक है।

खण्डन—सम्बन्धीपद से ही अन्यकाल में अयोग का व्यवच्छेद विवक्षित क्यों न मानें? इसके लिये अयोगव्यवच्छेद शब्द का निवेश क्यों करें?

समर्थन—अयोगव्यवच्छेदरूप विशेषण से अयोग का निषेध होने से सार्वकालिकत्व का लाभ होता है।

तद्धर्मिकं सम्बन्धस्यासम्बन्धासामानाधिकरण्यमयोगव्यवच्छेदेनेत्यनेनोच्यत इति चेन्न; तस्यापि सत्त्वकाले तत्रासत्त्वोपगमात् । सर्व्वदेति चेन्न; यद्येवं तत् किं करणासत्त्वकालेऽपि योग एव करणेन क्रियायाः ।१२०।

यावत्सत्त्वमिति चेत्तर्हि सम्बन्धीति व्यर्थं, यावत् सत्त्वमयोगव्यवच्छेदेन यद्विशिष्टमुपलक्षितं वा तत्करणमित्येवास्तु, सम्बन्धीत्येव वा तथा विवक्ष्यतामित्युक्तमेव ।

अयमेवार्थः कयाऽपि कुसृष्ट्या सम्बन्धिपदसार्थकतामुपपाद्य यदि विवक्षितस्तदाप्युच्यते कृत्तिकोदयक्रियायां रोहिण्यासत्तिरप्येवं करणं स्यात्, अनन्तरभाविनश्चतुर्दशस्य नक्षत्रस्योदयं प्रति पूर्व्वभाविचतुर्दशसङ्ख्यनक्षत्रास्तमयस्य च करणत्वं स्यात् । नचैवमेव युक्तं यौगपद्येन कारणत्वानुपपत्त्या कारकत्वस्य दुर्निरस्तत्वेन करणत्वस्य सम्भावनानारोहात् ।

खण्डन—जब अभावाभाव को प्रतियोगीरूप होनेसे अयोगव्यवच्छेद, योगरूप ही है, तब अयोग्यव्यवच्छेद शब्द से सार्वकालिक सम्बन्ध का लाभ कैसे होगा ?

समर्थन—जिस कुठारादि में प्रधानक्रिया छिदादि का सम्बन्ध प्रधानक्रिया के सम्बन्धाभाव से समानाधिकरण न हो, वह करण है यह अर्थ अयोगव्यवच्छेदशब्द से विवक्षित है। कर्ता में छिदा का सम्बन्ध "स्व" के असम्बन्ध से समानाधिकरण है, अतः कर्ता में अतिव्याप्ति नहीं होती ।

खण्डन—कर्ता में भी छिदा के सम्बन्ध काल में छिदा का असम्बन्ध नहीं है, अतः उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है ।

समर्थन—जिस धर्मी में छिदा के सम्बन्ध के अभाव का सदा असत्त्व हो वह करण है। कर्ता में छिदा के सम्बन्ध काल में छिदा के सम्बन्ध के अभाव के असत्त्व होने पर भी सदा असत्त्व नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है ।

खण्डन—यदि ऐसा है तो क्या करण के असत्व कालमें भी क्रिया के साथ करण का सम्बन्ध विवक्षित है ? अर्थात् करण में भी सर्वदा सम्बन्ध नहीं है, अतः लक्षण असम्भवी हो जायगा ॥१२०॥

समर्थन—यावत् कुठारादि करण का सत्त्व हो, तावत् कुठारादि में छिदा का सत्त्व विवक्षित है ।

खण्डन—ऐसा होने पर सम्बन्धी पद व्यर्थ है। अर्थात् यावत् "स्व" का सत्त्व हो, तावत् जो धर्मी, क्रिया के अयोगव्यवच्छेद से विशिष्ट वा उपलक्षित हो वह करण है, अथवा यावत्सत्त्व प्रधानछिदादिक्रिया का सम्बन्धी जो हो वह करण है ऐसा ही लक्षण रहे "अयोगव्यवच्छेदेन" यह विशेषण व्यर्थ है ।

यदि कहो कि सम्बन्धी पद से सम्बन्ध सामान्य विवक्षित है और अयोगव्यवच्छेद पद से यावत् कारक सत्त्व विवक्षित है, अतः न पुनरुक्ति है, न विशेषण ही व्यर्थ है तो यह कल्पना उद्भट होने से (अक्षरार्थ न होनेसे) कुत्सित है। किञ्च ऐसा निवेश करने पर भी कृत्तिका नक्षत्र की उदयरूपक्रिया में रोहिणी का सामीप्य भी करण हो जायगा। किञ्च उत्तरभावी चतुर्दश नक्षत्र के उदय के प्रति पूर्वभावी चतुर्दश नक्षत्र का अस्तंगमन करण हो जायगा।

समर्थन–कृत्तिका नक्षत्र के उदय में रोहिणी का सामीप्य करण क्यों नहीं माना जाय ?

नच तत्र सम्बन्ध एव नास्ति, व्याप्तेः स्वभावसम्बन्धात्मिकाया दुरपह्नवत्वात् । अथ कार्य्यकारणभावः सम्बन्धो विवक्षितः । न, सामग्र्याः करणत्वापत्तेः । ओमिति चेत्; तत्किमोमित्यभिधायैव निर्वृत्तो भवान् ? आकलितं किलास्माभिः सामग्र्यपि करणमित्यत्र न श्रद्दधतः प्रणवपूर्व्विकां श्रुतिमेव काञ्चित्पठित्वा श्रद्धापयिष्यति भवानस्मानिति ॥२१॥

न सामग्री कारणं; किन्तु तदेकदेशो नानाभूतः प्रत्येकं तथा, सामग्री तु यदनन्तरं कार्य्यं भवत्येवेत्येतावन्मात्ररूपेति चेन्न; एतादृशस्य सामग्रीलक्षणस्य करणेपि सत्त्वात् करणस्यापि सामग्रीत्वापातात्, क्रियाया विभागादौ विभागस्य च संयोगनाशादिं प्रति तथात्वापत्तेः ।

खण्डन—एक काल में होने से पूर्वकाल में वृत्तित्वरूप कारणत्व ही नहीं है, अतः करणत्व की सम्भावना भी नहीं है ।

समर्थन—कृत्तिकोदय का रोहिणी के सामीप्य में सम्बन्ध नहीं है, अतः क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेद से युक्त सम्बन्धरूप करण के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है ।

खण्डन—कृत्तिकोदय का रोहिण्यासत्ति (सामीप्य में , स्वभाव (स्वरूप) सम्बन्धरूप व्याप्ति ही सम्बन्ध है उसका अपह्नव नहीं हो सकता ।

समर्थन—क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेद से युक्त कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध जिसमें हो वह करण है । कृत्तिकोदय का कार्यकारणभाव रोहिणी के सामीप्य में नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है ।

खण्डन—प्रधान छिदादि क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेद से युक्त सम्बन्धी सामग्री भी है, अतः सामग्री में करणत्व का प्रसङ्ग हो जायगा । यदि आप सामग्री के करणत्व का ओम् शब्द का उच्चारण कर स्वीकार करावें तो उचित है कि केवल ओम् शब्द का उच्चारण कर विरत न हों; किन्तु किसी पवित्र श्रुति का भी उच्चारण करावें, प्रणव के उच्चारण से हमने जाना था कि युक्ति के न होने से सामग्री के कारणत्व में अश्रद्धालु हमारे में आप प्रणवपूर्वक किसी पवित्र मन्त्र का उच्चारण कर श्रद्धा का उत्पादन करेंगे ॥२१॥

समर्थन—सामग्री का एक देश समवायी असमवायी आदि भेद से अनेकविध प्रत्येक कुठारादि कारण है । जिसके अनन्तर उत्तरकाल में कार्य अवश्य हो वह सामग्री है, अतः क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेद से युक्त कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध के सामग्री में न होने से अतिव्याप्ति नहीं है ।

खण्डन—यह सामग्री का लक्षण करण में भी है, अतः करण में सामग्री के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । किञ्च क्रिया विभाग की और विभाग संयोग के नाश की सामग्री होजायँगे । किञ्च जो नियतपूर्ववर्त्तित्वरूप कारणत्व सामग्री के एक देश में है वह सामग्री में भी है ही, अतः सामग्री कारण नहीं है यह कथन उचित नहीं है ।

समर्थन—सामग्री में अन्तर्भूत प्राक्काल भी है और प्राक्काल में प्राक्सत्त्वरूप कारणत्व नहीं है, अतः प्राक्कालघटित सामग्री में प्राक्सत्त्वरूप कारणत्व नहीं है ।

खण्डन—प्राक्काल में, पूर्वक्षणवृत्तित्व के असत्त्व होने से प्राक्काल कारण ही नहीं है, अतः कारणसमूहरूप सामग्री में प्राक्काल का प्रवेश नहीं है ॥२२॥

यच्च प्रतिसामग्र्येकदेशं नियतप्राग्भावादि कारणलक्षणमिष्यते तत्सामग्र्यामपीति कथं तदकारणता ? प्राक्कालमन्तर्भाव्य सामग्री तादृश्याश्च तस्याः प्राक्सत्त्वमेव नास्तीति चेन्न; तत एव प्राक्कालस्याकारणत्वात्कारणसामग्र्यां तदनिवेशात् ॥२२॥

अपि चैवं विवक्षितमपि करणं न स्यात्। न हि यावत्सत्त्वं व्यापारवतोपि तस्य क्रियाजनकत्वं; क्रियाकाले क्षणमपि तदनुवृत्तिनिषेधे प्रमाणस्य दुरुपन्यासतया संशयेनापि लक्षणासिद्धेः। प्रत्युत चिरस्थिरकरसंयोगे स्पृश्ये स्पर्शप्रमाकरणस्पर्शनेन्द्रियसंयोगस्थैर्य्यस्य मन्तुमुचितत्वात्।

यावत्सत्त्वं च करणमिति भाषायां सर्व्वस्मिन् तत्सत्वकाले करणत्वमित्यर्थः, नच कारणत्वस्य नियतपूर्वकालसम्बन्धात्मकस्य क्वचित्काले सत्त्वं, कालं प्रतिकालान्तराभावादिति ॥२३॥

अपि च यावत् सत्त्व (अवस्थिति) क्रिया का अयोगव्यवच्छेद से जो सम्बन्धी हो वह करण है ऐसा लक्षण होने पर विवक्षित कुठारादि भी [उद्यमन निपतन विशिष्ट कुठार का वा कुठार की उद्यमन निपतन क्रिया का यावत्काल में प्रधानक्रिया छिदादि के साथ जनकत्वरूप सम्बन्ध न होने से] करण नहीं कहावेंगे। कारण कि कुठारादि के क्रियाकाल में क्षणभर भी प्रधानक्रिया छिदा के असम्बन्ध का निषेध है इसमें प्रमाण का अभाव है, अतः असम्भव के सन्देह से भी लक्षण असङ्गत है। प्रत्युत देखा जाता है कि स्पृश्यद्रव्य में चिर स्थिर करसयोग होने पर त्वगिन्द्रिय और स्पृश्य द्रव्य का संयोगरूप व्यापार तो है; परन्तु चित्त के अन्यत्र व्यासक्त होने से त्वाचप्रमा नहीं होती है, अतः स्पर्शप्रमा के साथ त्वगिन्द्रिय का अयोगव्यवच्छेदयुक्त सम्बन्ध न होने से त्वगिन्द्रिय में करणलक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च यावत्सत्वक्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेद से जनकतारूप से जो सम्बन्धी हो वह करण है, इस वाक्य का सब करण सम्बन्धी काल में विद्यमान कारण करण है यह अर्थ हुआ वह अयुक्त है। कारण कि काल काल में नहीं रहता है अतः काल से घटित प्राक्काल सत्वरूप कारणत्व से विशिष्ट कारण भी काल में नहीं रहेगा ॥२३॥

समर्थन—अयोगव्यवच्छेद से युक्त जो क्रिया का सम्बन्धी हो इस वाक्य का जिसके होने पर अवश्य क्रिया होती हो यह फलित अर्थ है ॥

खण्डन—जिसके होने पर अवश्य क्रिया होती हो इस वाक्य का "जिसके अनन्तरक्षण में क्रिया अवश्य उत्पन्न होती हो" यह अर्थ है ? वा "जिसके रहते क्रिया अवश्य उत्पन्न होती हो" यह अर्थ है ? वा "जिसके अनन्तर क्रिया अवश्य रहती हो" यह अर्थ है ? वा "जिसके रहते क्रिया अवश्य रहती हो" यह अर्थ है ? इन चार कल्पों में प्रथम 'कल्पयुक्त नहीं है कारण कि सामग्री के अनन्तर भी अवश्य कार्य उत्पन्न होता है अतः सामग्री करण हो जायगी। किञ्च हस्त व्यापार के अनन्तर कदाचित् पाकादिक्रिया नहीं ही होती है अतः हस्तादि में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। सुख दुःख अवश्य वेद्य है अर्थात् सुखादि क्षणभर भी अज्ञात नहीं रहते हैं, किन्तु उत्पत्तिके अनन्तर अवश्य इनकी प्रमिति होती है, अतः सुखादि भी स्वप्रमिति के करण हो जायँगे। प्रमेय भी करण है ऐसा स्वीकार नहीं कर सकते। कारण कि कर्म में करण व्यवहार देखा नहीं जाता है। द्वितीय

अथ क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धीत्यस्यायमर्थो यस्मिन् सति भवत्येव क्रियेति। कोऽस्यार्थः, किं यस्मादनन्तरं क्रियोत्पद्यत एव? उत यस्मिन् वर्त्तमाने क्रियोत्पद्यत एव? उत यस्मादनन्तरं क्रिया तिष्ठत्येव?। उत यस्मिन् वर्तमाने क्रिया तिष्ठत्येव? नाद्यः; सामग्र्याः करणत्वप्रसङ्गात्, हस्तादीनामकरणत्वप्रसङ्गाच्च, सुखदुःखादेः प्रमेयस्यापि प्रमाकरणत्वप्रसङ्गाच्च। नच प्रमेयमपि प्रमायाः करणं स्यादेवेति वाच्यम्; तत्र तथा व्यवहारस्य कस्यचिदप्यसिद्धेः। नापि द्वितीयः, स्पृश्येन सह स्थिरसंयोगस्य स्पर्शनेन्द्रियस्याव्यापनात् तत्सत्त्वेऽपि व्यासक्तौ तेन प्रमानुत्पादनात्। नापि तृतीयः, सामग्र्यादेः करणत्वप्रसङ्गात्, उत्पत्तेः, स्थिरे करणत्वप्रसङ्गाच्च। नापि चतुर्थः; सहस्थायिनां करणत्वप्रसङ्गात् ॥२४॥

अथ क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धित्वं करणत्वमित्यस्यायमर्थः व्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वमिति। मैवम्। हस्ताद्यव्यापनात्।

कश्चायं तद्व्यापारो नाम? किं तज्जन्यं कारणम्? उत तदाश्रयं कारणम्?। नाद्यः, लिङ्गपरामर्शे तदसम्भवात्।

पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि व्यासङ्ग दशा में त्वगादि इन्द्रिय और स्पृश्यादि विषयोंके संनिकर्ष होने पर भी प्रमिति न होने से त्वगादि इन्द्रियों में अव्याप्ति हो जायगी।

तृतीय कल्प भी प्रायः प्रथम कल्पमें उक्त दूषण से ही दूषित है। किञ्च जो कार्यों को स्थिर मानते हैं अर्थात् क्षणिक नहीं मानते हैं, उनके मत में भी घटादि से स्वसत्तारूप क्रिया के अनन्तर होने से घटादि स्वसत्त्वरूप क्रिया में करण हो जायँगे।

चतुर्थ कल्प भी अयुक्त है कारण कि एकसाथ रहनेवाले रूपादि के रहते ही रसादि रहते हैं, अतः सहस्थायी रूपादि भी रसादि के करण हो जायँगे ॥२४॥

समर्थन—क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेदयुक्त सम्बन्धी करण है इसका यह फलित अर्थ है कि जिस व्यापार के होने पर फल का अव्यभिचार हो वह करण है।

खण्डन—हस्त के व्यापार के होने पर कदाचित् फल का व्यभिचार होनेसे हस्त में अव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च करण का व्यापार क्या वस्तु है! क्या करण से जन्य कारण व्यापार है? या करण के आश्रित कारण व्यापार है? इनमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है कारण कि लिङ्गपरामर्श करण से जन्य न होने से व्यापार न कहावेगा।

समर्थन—पक्ष (पर्वतादि) में प्रथम जो धूम का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है वह व्याप्ति की स्मृति द्वारा द्वितीय लिङ्गपरामर्श का जनन करता है, अतएव वह करण है। ऐसा होने पर वस्तुतः व्याप्य धूम का स्वरूप से प्रमा वह्निव्याप्य धूम के परामर्शरूप व्यापार होने से अनुमान इष्ट है ॥२५॥

खण्डन—दैववश जहाँ पूर्वगृहीत व्याप्ति की स्मृति हुई हो, वहाँ पर द्वितीय लिङ्गपरामर्श उस स्मृति से जन्य ही होता है। प्रथम पक्ष में धूम का जो प्रत्यक्ष हुआ है उससे जन्य नहीं है, अतः प्रथम लिङ्ग के ज्ञान का द्वितीय लिङ्गपरामर्श व्यापार नहीं कहाजायगा।

पक्षे प्रथमधूमादिदर्शनस्य व्याप्तिस्मृतिद्वारा द्वितीयलिङ्गपरामर्शव्यापारं जनयतः करणत्वमेष्टव्यम्, एवञ्च परमार्थतो व्याप्यस्य स्वरूपेण प्रमितिर् द्वितीयव्याप्ततत्परामर्शव्यापारिकाऽनुमानमिष्यत इति चेन्न ॥२५॥

अन्यतो जाताग्निधूमादिव्याप्तिस्मृतौ सत्यां पक्षगतप्रथमधूमादिदर्शनस्य तद्व्यापारकत्वासिद्धेः । तत्राप्युभयकर्मजसंयोगवत्तदपि कारणमिति चेन्न; अभावादिसापेक्षविशिष्ट-प्रतिपत्तिवत् प्रागुपजातवह्निव्याप्तधूमस्मृतेः प्रथममपि योऽसौ वह्निव्याप्तः सोऽयं धूम इति परामर्शोपपत्तेः । नित्यसापेक्षेऽर्थेऽस्तु तथा, नान्यत्र प्रथमं तथेतिचेन्न; प्राक्तत्कारणोपपत्तौ नान्यत्रैवमिति नियमे प्रमाणस्याभावात् । तस्य व्यापाराभावान्नानुमित्युत्पादकत्वमेवेति चेत्, स्यादप्येवं यदि व्यापारवतः करणत्वमित्येव सिद्धं स्यात् । तत्र धूमादिनिर्विकल्पकस्य तद्व्यापारस्य करणत्वमिति चेन्न ॥२६॥

नित्यसङ्घटितार्थवह्निनापि निर्विकल्पकं सविकल्पकोत्पत्तेरविरोधेन त्वदुक्तप्रक्रियानियमे प्रमाणाभावात् । नित्यसङ्घटितेपि निर्विकल्पकं मंस्यस इति चेन्न; कारणान्तरादेव तदुपपत्तौ तत्र निर्विकल्पककल्पनायां प्रमाणाभावात्, प्रत्युत तत्सङ्घटनस्य स्वभावानतिरेकोपगमात् ।

समर्थन—उभयकर्मज संयोग के तुल्य वह परामर्श भी दैववश जात व्याप्ति की स्मृति और प्रथम धूमदर्शन इन दोनों से जन्य है।

खण्डन—जैसे प्रतियोगी की स्मृति से प्रतियोगीविशिष्ट अभाव की प्रमा होती है, वैसे ही दैववश जात व्याप्ति की स्मृति से भी प्रथम धूमदर्शन के बिना ही जो धूम वह्निव्याप्त हैं तद् धूमवान् यह पर्वत है—ऐसा परामर्श हो सकता है।

समर्थन—अभावप्रमा के तुल्य धूमत्वविशिष्ट में व्याप्ति के वैशिष्ट्य का भान प्रथम धूम ज्ञान के बिना नहीं हो सकेगा, कारण कि अभाव, प्रतियोगी में नित्य साकाङ्क्ष है, अतः प्रतियोगी में निरपेक्ष केवल अभाव की प्रमा नहीं होसकती है किन्तु प्रथम ही विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही अभाव की प्रमा होती है और प्रकृत में नित्यसाकाङ्क्ष न होने से वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान प्रथम धूम दर्शन के बिना नहीं हो सकेगा॥

खण्डन—जब व्याप्तिस्मृति तथा धूम चक्षु संयोग आदि कारण विद्यमान हैं, तब नित्य सापेक्ष न होने से प्रथमतः धूमदर्शन के बिना विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान नहीं हो सकता है—यह कथन निर्युक्तिक है।

समर्थन—लिङ्गपरामर्श में कोई व्यापार नहीं है, अतः वह कारण नहीं है।

खण्डन—यह कथन युक्त होता यदि सव्यापार ही कारण होता है—यह नियम होता, परन्तु यह नियम नहीं है, कारण कि व्यापाररहित व्यापार भी कारण होता है।

समर्थन—प्रथम धूम का निर्विकल्पक ज्ञान होता है, अनन्तर विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही धूम का परामर्श होता है, अतः धूम का निर्विकल्पक ज्ञान ही परामर्श के द्वारा अनुमिति का करण है॥ २६॥

तथापि यत्किञ्चित्तज्जनकं तदेव तत्रानुमितिकरणमास्तामिति चेन्न; तथेन्द्रियादेरनुमितिकरणत्वापत्तेरित्यलमतिप्रसरेणेति ॥२७॥

शब्दश्रोत्रसन्निकर्षस्य च श्रोत्राव्यापारत्वप्रसङ्गात्, अन्यथा श्रोत्रस्य शब्दप्रतिपत्तावकरणत्वप्रसङ्गात्। सन्निकर्षो हि इन्द्रियव्यापार उच्यत इति व्यापारान्तरञ्च तस्य क्षणिकमसिद्धं स्थिरे चोक्त एव दोषः। शब्द एव तद्व्यापारः किन्न स्यादितिचेन्न; तस्य कर्मत्वेन करणकोटिवहिर्भावात्।

कचित्तयोरेकत्वेऽपि का क्षतिरिति चेन्न; शब्दबुद्धौ कार्य्यायामुपधायकत्वेन प्रविष्टस्य शब्दस्य करणव्यापारतया कारणकोटावपि प्रवेशनेऽशतो नियम्यनियामकत्वविरोधापत्तेः। घटादिबुद्धौ चक्षुरादेश्चक्षुर्घटादिसंसर्गव्यापारकत्वेऽपि सममिदमिति चेत् किन्न स्यात्। तथा च—

खण्डन—प्रतियोगी में नित्य सापेक्ष अभाव की प्रमा के तुल्य निर्विकल्पक के विना भी पूर्वोक्त रीति से व्याप्तिविशिष्ट धूम का परामर्श हो सकता है; अतः निर्विकल्पक ज्ञान के विना सविकल्पक ज्ञान नहीं हो सकता—आपकी इस कल्पित प्रक्रिया में कुछ प्रमाण नहीं है।

समर्थन—अभाव की प्रमा भी निर्विकल्पकज्ञानपूर्वक ही होती है—ऐसा मानेंगे।

खण्डन—जब अभाव की प्रमा प्रतियोगी की स्मृति से युक्त इन्द्रिय सन्निकर्ष से ही हो सकती है, तब अभाव की प्रमा में निर्विकल्पक ज्ञान को कारण मानने में कुछ प्रमाण नहीं है, प्रत्युत अभाव आदि नित्यसाकाङ्क्ष पदार्थ का यह स्वभाव है कि निर्विकल्पक ज्ञान के विना भी विशिष्टज्ञान (सविकल्प ज्ञान) के विषय होते हैं।

समर्थन—व्याप्ति की स्मृति ही, परामर्शरूप व्यापार के जनक होने से अनुमिति का करण क्यों न मानी जाय?

खण्डन—ऐसा होने पर इन्द्रियही अनुमिति का करण क्यों न मानी जाय? जैसे "वह्निव्याप्यो धूमः" इत्याकारक व्याप्तिस्मृति "योयं वह्निव्याप्यो धूमस्तद्वान् अयं पर्वतः" इस परामर्श की जनिका है, वैसे ही इन्द्रिय भी उक्त परामर्श की जनिका है, अतः व्याप्तिस्मृति के तुल्य इन्द्रिय की भी उक्तस्मृति व्यापार हो सकती है। यदि इन्द्रिय को अनुमिति का करण मान लें, तब इन्द्रियजन्य होने से अनुमिति प्रत्यक्ष हो जायगी। ततः प्रत्यक्षत्व तथा अनुमितित्व का साङ्कर्य्य हो जायगा। बस इतना ही बहुत है, विस्तार से कुछ फल साध्य नहीं है॥ २७॥

किञ्च यदि करण का व्यापार करण से जन्य कहा जाय तो शब्द के साक्षात्कार में श्रोत्र का शब्दसमवाय [अजन्य होने से] व्यापार नहीं होगा और यदि समवाय को उक्तस्थल में व्यापार न मानें तो श्रोत्र करण न हो सकेगा, कारण कि व्यापारवत् कारण को ही करण कहते हैं और श्रोत्र का शब्द से सन्निकर्ष ही व्यापार हो सकता है। जो क्षणिक जन्य हो ऐसा अन्य व्यापार शब्दप्रत्यक्ष में असिद्ध है और स्थिर (समवाय) व्यापार [उक्तलक्षण के समन्वय न होने से] हो नहीं सकता।

समर्थन—श्रोत्र इन्द्रिय आकाश रूप है और शब्द आकाश का गुण है, अतः श्रोत्र से जन्य तथा शब्द प्रत्यक्ष का जनक होने से शब्द को ही शब्द प्रत्यक्ष में व्यापार क्यो न मानें?

खण्डन—शब्द [प्रत्यक्ष प्रमा का] कर्म्म है, अतः उक्त प्रमा का करण नहीं हो सकता।

बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात् किं दृढेऽन्यदपि बाध्यताम्।
क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम्॥ ३३॥
तथा हि मिथिलानाथो मुमुक्षुर्निर्ममः पुरा।
आहेदं मिथिलादाहे न मे किञ्चन दह्यते॥ ३४॥ इति॥ २८॥

नापि द्वितीयः; लिङ्गपरामर्शस्यानुमितावकरणत्वप्रसङ्गात्। निर्विकल्पकस्यापि तस्योपगमे सविकल्पकानाश्रयत्वात्, अतद्धेत्वाश्रयस्य तद्धेतुव्यापारत्वे चात्यापत्तेः।

किञ्च फलाव्यभिचारित्वं किन्तस्मिन्नेव काले फलस्य सत्त्वनियमः? उत तदनन्तरं फलसत्त्वनियमः? नाद्यः; कारणस्य पूर्वभाविताया अवश्यं वक्तव्यत्वात्। न द्वितीयः, आनन्तर्य्यं यद्यव्यवहितानन्तर्य्यं विवक्षितं तदा यत्किञ्चिद्व्यापारवतः करणत्वपत्ते हस्तादेरकरणत्वापत्तेः। आफलव्यापारवतस्तथात्वे कर्त्रादिष्वतिव्याप्तिः। अथ व्यवहितस्याप्यानन्तर्य्यं विवक्षितं तदापि यत्किञ्चिद्व्यापाराभिप्रायेऽन्तरायसम्भवात् हस्ताद्यव्याप्तिः, आफलव्यापाराभिप्राये च व्यवधानासम्भवात् कारकमात्रं करणमित्युक्तं स्यात्।

समर्थन—यद्यपि सर्वत्र कर्म्म से अन्य ही करण होता है, तथापि शब्दप्रत्यक्ष में कर्म्म को ही करण मानें तो क्या हानि है?

खण्डन—यदि शब्द को व्यापार मानें तो विषयतासम्बन्ध से शब्दविशिष्ट प्रत्यक्ष में शब्दरूप व्यापारविशिष्ट श्रोत्र के करण होने से विशिष्टवृत्ति धर्म्म, विशेषण में भी अवश्य रहता है, अतः शब्द का कार्य-कारण दोनों दलों में प्रवेश होने से शब्द कार्य्य कारण दोनों हो जायगा और यह आत्माश्रय होने से अनुचित है।

समर्थन—ऐसा मानें तो विषयतासम्बन्ध से घटविशिष्ट प्रमा में घटसंयुक्त चक्षु के कारण होने से विशेषणरूप से घट का कार्य्य-कारण दोनों दलों में प्रवेश होने से कार्य्यत्व, कारणत्व प्रसङ्ग हो जायगा।

खण्डन—ऐसा क्यों नहीं? यदि बाधक (दूषण) दृढ़ (अखण्डनीय) है तो अन्यत्र भी इसी प्रकार से दोष हो जायगा, इस साम्य दिखाने से क्या होगा? उसको भी उक्तदोष से ही खण्डित जानिये। पदार्थ मात्र को अनिर्वचनीय माननेवाले मुमुक्षु पुरुषों का किसमें ममत्व है। स्मरण कीजिये—मुमुक्षु निर्मम मिथिलानाथ ने मिथिला के दाह काल में भी कहा था कि मिथिला के जलने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता है॥ २८॥

करण में स्थित कारण व्यापार है—यह द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है। कारण कि लिङ्गपरामर्श में कोई व्यापार नहीं है, अतः लिङ्गपरामर्श करण नहीं कहा जायगा। तथा धूम का निर्विकल्पक ज्ञान भी करण नहीं होगा, कारण कि सविकल्पक लिङ्गपरामर्श उसमें नहीं रहता है; किन्तु आत्मा में रहता है। यदि अन्य कारण में स्थित को भी करण का व्यापार मानें, तो सहकारीमात्र करण के व्यापार हो जायँगे।

किञ्च व्यापारवान् कारण का फल के साथ अव्यभिचार, क्या वस्तु है? क्या व्यापारवान् कारण के काल में फल (प्रधान क्रिया) का अवश्य होना है? अथवा व्यापारवान् कारण के अनन्तर काल में फल का अवश्य होना है? इनमें प्रथम पक्ष अयुक्त है। कारण कि जिस काल में कारण हो उस काल में—कारण जन्य होने से—कार्य्य नहीं रह सकता है।

व्यापारवतश्च फलाव्यभिचार इति, किन्तद्व्यापारस्य फलाव्यभिचारित्वं? व्यापारविशिष्टस्य वा? नाद्यः; हस्ताद्यकरणत्वापातात्। अत एव न द्वितीयः, यागादेः स्वर्गाद्यकरणत्वापातात्। अपूर्ववाक्यार्थत्ववादिनाऽपि चरमयागस्य फलकरणत्वाभ्युपगमादिति ॥२९॥

अथोच्यते यद्वानेव करोति तत्करणं, यद्वानेव प्रमिमीते तत्प्रमाणम्। मैवम्। आत्मधर्मप्रध्वंसादीनामकरणानां प्रमाणत्वप्रसङ्गात्।

येन क्रियाकारणेन युक्त एव प्रमिमीत इति चेन्न; सुखादिप्रमितौ करणव्यापारस्याऽपि करणत्वप्रसङ्गात्। ओमिति चेन्न; अव्यापारतयाऽकारकत्वेन तद्विशेषकरणभावानुपपत्तेः व्यापारवताऽपीति चेन्न; एवं हि व्यापारवत एव करणत्वं न-

---

जन्य जनक में पूर्वाऽपरभाव का नियम है। द्वितीय पक्ष में यदि अव्यवहित अनन्तर (उत्तर) कहो तो "यत् किञ्चित् व्यापारवान् करण है" इस पक्ष का आश्रयण करो तो हस्त का यत् किञ्चित् व्यापार के अव्यवहित उत्तर फल न होने से हस्त में अव्याप्ति हो जायगी। यदि "फलोत्पत्तिपर्यन्त व्यापारवान् करण है" इस पक्ष का ग्रहण करो, तो हस्त में अव्याप्ति तो न होगी, कारण कि काष्ठ अग्नि आदि के व्यापार भी हस्त से प्रयोज्य होने से हस्त के ही व्यापार हैं और उन व्यापारसमूहों के अव्यवहित अनन्तर फल, नियम से होते ही हैं; परन्तु कर्ता आदि का व्यापार भी फलपर्यन्त होता है और उनके अव्यवहित उत्तरक्षण में नियम से फल होता है, अतः कर्त्तादि में अतिव्याप्ति हो जायगी। द्वितीय पक्ष में यदि व्यवहित उत्तर कहो तो "यत् किञ्चित् व्यापारवत् करण है" इस मत में जहां अन्तराय (विघ्न) होने से हस्त व्यापार के अनन्तर फल न हुआ, वहां हस्त में अव्याप्ति हो जायगी और "फलपर्यन्त व्यापारवान् करण है" इस मत में तो फल का अव्यवधान होने से व्यवहित उत्तर यह कथन ही युक्त नहीं है। किञ्च कारकमात्र में फलपर्यन्त व्यापार होने से कारकमात्र में अतिव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च "व्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वं" इस लक्षण वाक्य का—जिस कारण में स्थित व्यापार के अनन्तर फल हो—यह अर्थ है? वा—जिस व्यापारवत् कारण के अनन्तर फल हो—यह अर्थ है? प्रथम अर्थ में हस्त व्यापार के उत्तर कदाचित् अन्तराय (विघ्न) होने पर फल न होने से हस्त में अव्याप्ति हो जायगी और द्वितीय अर्थ में भी व्यापारवत् हस्त के अनन्तर कदाचित् अन्तराय वश फल न होने से हस्त में ही अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च क्रियाकलापरूप याग के क्षणिक होने से अपूर्व विशिष्ट याग के अनन्तर स्वर्गरूप फल के न होने से याग में भी अव्याप्ति हो जायगी। जो आचार्य्य, भावना या इष्टसाधनत्व को लिङ् का अर्थ नहीं मानते हैं, किन्तु अपूर्व को लिङ् का अर्थ मानते हैं, वे भी "दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत" इस स्थल में पूर्व पूर्व अपूर्व विशिष्ट चरम याग को परमापूर्व का कारण मानते ही हैं ॥२९॥

समर्थन—जिससे युक्त कर्त्ता, कार्य करता है, वह करण है तथा जिससे युक्त प्रमाता प्रमिति को करता है, वह प्रमाण है।

खण्डन—अतीत अनन्त सुखादि के अनन्तध्वंस से विशिष्ट ही प्रमाता प्रमिति को करता है, अतः आत्मा के धर्म, सुखादि के ध्वंस में प्रमा का करणत्व हो जायगा।

समर्थन—जिस प्रमिति के कारण से युक्त होकर प्रमाता प्रमिति को करे वह प्रमाण है।

स्यात्, न हि व्यापारवतस्तस्य व्यापारान्तरवत्ताऽस्ति। अथ व्यापारवतो व्यापारांशमपहाय करणत्वं, तत्र चास्त्येवेदं लक्षणम् यस्य करणत्वमस्ति तस्य व्यापारवत्त्वमप्यस्तीति व्यापारवत् करणमुच्यत इति न, पटमुद्यम्य निपात्य च प्रक्षालयतः स कर्मैव हि करणं स्यात् ॥३०॥

किंच किं तस्य करणत्वमिति? लक्ष्योभूतस्यावश्यवक्तव्यत्वात्, यद्युक्तलक्षणवत्त्वमेव तत् स्यात् तदाऽऽत्माश्रयापातः स्यात्। स्वरूपमिति चेन्न; स्वरूपस्य प्रतिकरणं भिन्नतया एकपरित्यागेनापरत्र लक्षणं गतमित्यतिव्यापकं स्यात्, न हि चक्षुषः स्वरूपं श्रोत्रस्येति।

खण्डन—सुखादि प्रमिति के कारण आत्ममनस्संयोगरूप व्यापार से युक्त ही प्रमाता सुखादिप्रमिति करता है, अतः सुखादिप्रमिति में आत्ममनस्संयोग भी करण हो जायगा। उक्त प्रमिति में आत्ममनःसंयोग करण है ही। ऐसी इष्टापत्ति नहीं कर सकते, कारण कि व्यापार के न होने से आत्ममनःसंयोग कारक ही नहीं है, तो कारकविशेष करण कैसे हो सकेगा।

समर्थन—जिस क्रिया के व्यापारवान् कारण से युक्त प्रमाता प्रमितिको करता है वह करण है, आत्ममनःसंयोग व्यापार रहित है, अतः अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डन—ऐसा होने पर व्यापारवान् कुठारादि भी करण नहीं कहे जा सकेंगे। कारण कि व्यापारविशिष्ट कुठार में जिस व्यापार से विशिष्ट कुठार है, वह व्यापार तो [अंशतः आत्माश्रय दोष होने से] रह नहीं सकता है और अन्य कोई व्यापार है नहीं।

समर्थन—व्यापार से उपलक्षित कुठार करण है और उस कुठार में उपलक्षणीभूत व्यापार रहता है, अतः उक्तलक्षण का समन्वय हो गया।

खण्डन—पटको उठा कर निपातन करता हुआ रजक जहां वस्त्र-प्रक्षालन करता है, वहां पटरूप कर्म्म भी करण हो जायगा, कारण कि उद्यमन निपातनरूप व्यापार से युक्त तथा प्रक्षालनरूप क्रिया का कारण जो पट उससे युक्त हो कर्त्ता प्रक्षालन करता है ॥३०॥

किञ्च जिस करण का आप लक्षण करते हैं, वह लक्ष्यभूत करण क्या वस्तु है? यह अवश्य कहना चाहिये, अन्यथा लक्षणरूप धर्म्म किस धर्म्मी में रहेगा। यदि उक्तलक्षण विशिष्ट को ही लक्ष्य कहें तो विशिष्टवृत्ति धर्म्म, विशेषण में भी रहता है, अतः लक्ष्यवृत्ति लक्षण को लक्ष्य में विशेषणरूप "स्व" में वृत्तित्व होने से आत्माश्रय हो जायगा। यदि स्वरूप को लक्ष्य कहें तो प्रतिव्यक्ति स्वरूप के व्यावृत्त होने से यदि श्रोत्र के स्वरूप को लक्ष्य मानें तो चक्षु में अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च जिससे युक्त हो प्रमाता प्रमिति करे इत्यादि साधारण लक्षण करने पर चक्षुरादि में अव्याप्ति हो जायगी। कारण कि चक्षु के सहकार के बिना भी लिङ्गपरामर्श आदि से अनुमिति आदि प्रमिति होती है, अतः चक्षु से युक्त ही प्रमाता प्रमिति करता है—यह नियम न रहा।

समर्थन—यद्यपि चक्षुःसहकार के बिना भी अनुमिति होती है, तथापि प्रत्यक्ष तो चक्षुःसहकार के बिना नहीं होता है, अतः व्यभिचार नहीं है।

खण्डन—यदि आप प्रत्यक्ष प्रमाण का यह लक्षण करते होते तथा लक्षण में प्रत्यक्ष प्रमा का निवेश होता, तो ऐसा कहना उचित होता, परन्तु प्रमाणमात्र का यह लक्षण

किंचैवमिन्द्रियादेःप्रमाणत्वं न स्यात्, अतद्वतोऽप्यनुमात्रादेः प्रमातृत्वात्। नासौ प्रत्यक्षमिति चेन्न ; नेदमपि हि प्रत्यक्षमात्रस्य लक्षणं भवता क्रियते। ननु यद्यपीन्द्रियादेर्विशेषतो व्यावृत्तिस्तदपि तज्जातीयकरणमात्रतया तज्जातीयमात्रस्याव्यावृत्तिरेव, नह्यनुमित्यादावप्यकरणजातीयवान् प्रमिमीते इति न, करणतया साधारणभावस्याद्याऽपि निर्वक्तुमशक्यत्वात् ॥३१॥

अथ यां प्रमां यद्वानेव जनयति तस्यां तत्करणमिति। मैवम्। कौपीनाच्छादनादेरपि करणत्वप्रसङ्गात्। यज्जातिकामिति चेत्। मैवम्। परोक्षत्वजातिकां प्रमां लिङ्गवानेव शब्दवानेव वा जनयतीति नियमाभावात् तस्याकरणत्वप्रसङ्गात्। साक्षात्कारित्वानुमितित्वादयो जातिभेदा विवक्षिता इति चेन्न ; प्रत्येकमुपादानेऽशाव्याप्तेः। सम्भूयोपादाने सर्व्वाव्याप्तेः। अनियमेनोपादाने च लक्षणाननुगमापातादिति ॥३२॥

करते हैं तथा प्रमितिसामान्य का लक्षण में निवेश है, अतः चक्षुरादि के विना भी अनुमिति आदि के होने से चक्षुरादि में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—"जिस जातीय से युक्त ही प्रमाता प्रमिति को करता हो वह प्रमाण है" ऐसा निवेश करने पर अव्याप्ति नहीं होगी। कारण कि चक्षुरादि की अनुमिति में व्यावृति होने पर भी चक्षुर्जातीय परामर्श की अव्यावृत्ति होने से अव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन– चाक्षुर्जातीयत्व परामर्श में करणत्व से अन्य कुछ हो नहीं सकता है और करणत्व का निर्वचन अद्यावधि हुआ नहीं है, अतः जातीयत्व घटित लक्षण असङ्गत है ॥३१॥

समर्थन—जिस प्रमा को जिससे युक्त प्रमाता करें उस प्रमा में वह करण है।

खण्डन—यत्किञ्चित् प्रत्यक्षादि प्रमाव्यक्ति को कौपीन आच्छादन से युक्त भी प्रमाता करता है, अतः कौपीन आच्छादन में करणत्व की अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग हो जायगा।

समर्थन—यज्जातीय प्रमा को यद्युक्त ही करता हो उस जातीयप्रमा में वह करण है, ऐसा लक्षण करने पर प्रत्यक्ष जातीय प्रमा कौपीनादि से रहित भी करता है, अतः कौपीनादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—परोक्ष जातीय शाब्दरूप प्रमा को लिङ्गपरामर्श से रहित भी प्रमाता करता है, अतः लिङ्गपरामर्श में, अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—इस लक्षण में परोक्षत्व का निवेश नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षत्व अनुमितित्व उपमितित्व शाब्दत्वरूप जाति का निवेश है, अतः लिङ्गपरामर्श में अव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—यदि प्रत्यक्षत्वादि में एक का निवेश कर—प्रत्यक्षजातीय प्रमा को जिससे युक्त होकर करता हो वह प्रमाण है—ऐसा लक्षण करें तो परामर्श में अव्याप्ति हो जायगी, और यदि सम्पूर्ण का निवेश कर—प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति शाब्द प्रमा को जिससे युक्त होकर करता हो वह प्रत्यक्ष प्रमा है—ऐसा लक्षण करें, तो सम्पूर्ण प्रमा को चक्षुरादि किसीसे युक्त प्रमाता नहीं करता है, अतः सर्वत्र असम्भव हो जायगा। यदि प्रत्यक्ष प्रमा को जिससे युक्त ही प्रमाता करता हो वा अनुमिति प्रमा को जिससे युक्त होकर प्रमाता करता हो अथवा उपमितीत्यादिस्थल में विशेषरूप से उपादान करे वह सब प्रमाण है—ऐसा निवेश करें तो अनेक लक्षण होने से अननुगम हो जायगा ॥ ३२ ॥

यदभावात् कर्तृकर्मणी क्रियां न जनयतः तत्करणम् तेन यदभावात् प्रमातृप्रमेये प्रमां न जनयतः तत्प्रमाणमिति लक्षणमित्यपि न युक्तम्। किं प्रमातृप्रमेये सती यत्र न जनयतः ? उताऽसती अपि ? आद्ये; अतीतानागतानुमानादिकरणाव्याप्तिः। नापि द्वितीयः, प्रमातृप्रमेययोरपि प्रसङ्गात्। यथा हि तत्र चक्षुराद्यभावात् प्रमा न जायते तथा प्रमातृ-प्रमेययोरप्यभावात्, अन्यथा तयोः कारणत्वमेव न स्यात्। एतेन सामान्यतोऽभि-धानं प्रत्युक्तम्। अस्मदादिकर्तृसापेक्षेश्वरकर्तृके च अस्मदादिज्ञाने अस्मदादिकर्तृकरण-तापत्तेः। एवञ्च सति प्रकारभेदेनापि प्रमाणप्रमात्रादिव्यवस्थासमर्थना कृता न स्यात्, येनैव रूपेण कर्तृत्वादिना तस्य प्रमायामन्वयस्तेनैव तद्व्यतिरेकस्य प्रमानुत्पत्तौ प्रयोज-कत्वादिति ॥३३॥

समर्थन—जिसके अभाव से कर्त्ता और कर्म्म, क्रिया को उत्पन्न न कर सकें, वह करण है, तथा जिसके अभाव से प्रमाता और प्रमेय प्रमिति को उत्पन्न न कर सकें वह प्रमाण है।

खण्डन—क्या प्रमाता और प्रमेय स्वयं विद्यमान होकर जिसके अभाव से इत्यादि अभिप्रेत है ? वा प्रमाता प्रमेय स्वयं न रह कर भी जिसके अभाव से इत्यादि अभिप्रेत है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, कारण कि अतीत अनागत विषय के अनुमितिस्थल में सत्प्रमेय प्रमि-ति का जनक नहीं होता है, अतः वहां अव्याप्ति हो जायगी। द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, कारण कि कर्त्ता प्रमाता प्रमेय कर्म्म [स्व के अभाव में भी] प्रमा को नहीं कर सकते, अतः प्रमाता प्रमेय में अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण कि जैसे चक्षुरादि के अभाव में प्रमा नहीं होती है, वैसे ही प्रमाता और प्रमेय के अभाव में भी प्रमा नहीं होती है। अन्यथा वे कारण नहीं कहे जायँगे। कारण कि कर्त्ता कर्तृत्व रूप से क्रिया का कारण जैसे है, वैसे ही कर्तृत्वरूप से कर्त्ता का अभाव, क्रिया के अभाव का प्रयोजक है।

समर्थन—सत्त्व असत्त्व का निवेश न कर सामान्य से प्रमाता प्रमेय जिसके अभाव से प्रमा को न कर सकें वह करण है—यह लक्षण है।

खण्डन—इस सामान्यलक्षण में भी कर्त्ता कर्म "स्व" के बिना भी प्रमा को नहीं करते हैं, अतः कर्त्ता कर्म्म में ही अतिव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च हमलोग अपने चाक्षुषादि ज्ञान में स्वयं करण हो जायँगे, कारण कि ईश्वर हमलोगा के द्वारा ही ज्ञान को उत्पन्न करता है, हमलोगों के बिना नहीं।

किञ्च जिसके बिना क्रिया न हो, वह जैसे करण का लक्षण हो सकता है, वैसे ही कर्त्ता, कर्म्म का भी लक्षण हो सकता है, अतः यदि करण का उक्त लक्षण करें, तो प्रवृत्ति-निमित्त के भेद से कारकों का परस्पर भेद न हो सकेगा ॥ ३३ ॥

समर्थन—चरम व्यापार जिसमें हो वह करण है।

खण्डन—लिङ्गपरामर्श में व्यापार न होने से वह करण न कहा जायगा।

समर्थन—सविकल्पक लिङ्गपरामर्शरूप व्यापार होने से निर्विकल्पक लिङ्गपरामर्श ही करण है।

खण्डन—जिन नित्यसाकाङ्क्ष अभाव समवाय आदि का निर्विकल्पक ज्ञान होता ही नहीं है, वे पदार्थ, जहां लिङ्ग हैं, वहां करण का अभाव हो जायगा।

चरमव्यापारवत्त्वं करणत्वमित्यपि न, व्यापाराभावात्, लिङ्गपरामर्शस्याकरणत्वापातात्। नच सविकल्पकव्यापारवतो निर्विकल्पकस्य तत्र प्रामाण्यं, केवलविकल्पनीयलिङ्गविषये तदनुपपत्तेः। संस्कारादिपर्य्यन्तानुसरणे चानुमितेस्तज्जन्यत्वे प्रमाणाभावात्, कार्य्यहेतोश्च कारकाव्यापारत्वात्, अपि चाज्ञातकरणत्वापातात्। नच लिङ्गमेव परामर्शव्यापारवत्तया करणमिति युक्तम्; अनुमितानुमानादौ परामर्शस्यालिङ्गजत्वेन तद्व्यापारत्वानुपपत्तेः। आप्तोक्त्यादिभिस्तत्रासीद्धूम इति प्रतीत्य तदा तत्र वह्निरप्यासीदिति यदनुमानं तत्रासत्त्वात् धूमस्य परामर्शव्यापारवत्तया करणताया दूरनिरस्तत्वात्॥३४॥

किञ्च यत्किञ्चिदपेक्षया चरमव्यापारत्वस्य सर्व्वकारकसाधारण्यात् सर्वकारकापेक्षया चरमव्यापारत्वस्य स्वापेक्षया चरमत्वानुपपत्या सर्वत्रासिद्धेः। कर्त्रपेक्षयेति चेन्न; कर्तृधर्मिमात्रापेक्षया विवक्षितत्वे कर्त्तरि प्रसङ्गतादवस्थ्यात्। व्यापारवत्कर्त्रपेक्षाभिप्राये च कर्त्तरि स एव प्रसङ्गः। एकव्यापारवत्कर्त्रपेक्षयाऽपरापरकर्तृव्यापारस्य

समर्थन—स्वजन्य सँस्कार वा "स्व" का ध्वंस ही लिङ्गपरामर्श का व्यापार क्यों न माना जाय?

खण्डन—केवल स्वजन्यत्व व्यापार का लक्षण नहीं है; किन्तु स्वजन्य होकर जो स्वजन्य का जनक हो वह व्यापार है—ऐसा व्यापार का लक्षण है और संस्कार वा ध्वंस के अनुमितिकारणत्व में कुछ प्रमाण नहीं है, अतः संस्कार वा ध्वंस व्यापार नहीं हैं।

किञ्च यदि ध्वंस वा संस्कार को उनका व्यापार मानें, तो अतीन्द्रिय होने से ध्वंसादिविशिष्ट परामर्शरूप करण भी अतीन्द्रिय हुआ, अतः अनुमिति अज्ञातकरणक हो जायगी।

समर्थन—लिङ्ग (धूम आदि) परामर्शरूप व्यापार होने से करण है।

खण्डन—"महत्वं, क्वचित् प्राप्तकाष्ठाकम् धर्मत्वात्" इस प्रकार से अनुमित परममहत्व से जहाँ "आकाशः सर्वगतः परममहत्वात्" इस रीति से आकाश में सर्वगतत्व की अनुमिति करते हैं, वहां परममहत्व, स्व विषयक परामर्श के अजनक होने से करण न होगा। कारण कि पारिमाण्डल्य, परममहत्व आदि स्वविषयक ज्ञान के भी कारण नहीं होते हैं, तथा प्रत्यक्ष से अन्य ज्ञान में विषय भी कारण नहीं होते हैं। किञ्च आप्त की उक्ति से "वहाँ धूम था" यह प्रतीति जहाँ हुई वहाँ वह्नि भी था ही इत्याकारक जो अनुमिति हुई उसमें अविद्यमान होने से धूम परामर्शरूप व्यापारवत्वरूप से करण न हो सकेगा॥३४॥

किञ्च, व्यापार में चरमत्व यदि किञ्चित्व्यापार की अपेक्षा से विवक्षित हो, तो सब कारक के व्यापार में यत्किञ्चित् की अपेक्षा से चरमत्व होने से कारकमात्र में अतिव्याप्ति हो जायगी और यदि सब कारक के व्यापार की अपेक्षा से चरमत्व की विवक्षा करें तो स्व की अपेक्षा से स्व में चरमत्व न होने से सर्वत्र अव्याप्ति हो जायगी। यदि वा कर्ता की अपेक्षा से चरमत्व की विवक्षा करें तो धर्म्मीमात्र की अपेक्षा से विवक्षित हो, वा व्यापारवत् धर्म्मी की अपेक्षा विवक्षित हो, उभयथा कर्त्ता में अतिप्रसङ्ग हो जायगा। कारण कि कर्त्ता की अपेक्षा से वा यत्किंचित् व्यापारवत् कर्त्ता की अपेक्षा से कर्तृव्यापार चरम (उत्तर) है ही। यदि यावद्व्यापारवत् कर्त्ता की अपेक्षा से चरमत्व की विवक्षा

चरमभावित्वात्। यावद्व्यापारवत्कर्त्रपेक्षापत्ते तु विवक्षितमपि कारणं न स्यात्। आफलसिद्धेः कर्तृव्यापाराविरामात्, व्यापारस्य विच्छेदे तद्धेतुलक्षणक्षीणतापत्तेः।३५।

यद्व्यापारानन्तरं कारकान्तरं न व्याप्रियते, तत् चरमव्यापारमिष्टमिति चेन्न; सेश्वरपक्षे कर्तृव्यापाराविरमात् तदानन्तर्य्यासिद्धेस्तत्करणत्वापातात्। अनीश्वरपक्षे चाक्षसंयोगादिभिरेव सव्यापारे कर्मण्यपि प्रसङ्गात्। छेद्यादेर्हि करणसंयोगादिव्यापारश्चरम एवेति कुतस्तद्व्यवच्छेदः, हस्ताद्यव्याप्तेश्चेति ॥

अनन्तरफलं करणमित्यपि न। अविशेषितानन्तर्यस्य सर्व्वकारणसाधारण्यात्। अव्यवहितानन्तर्यस्य व्यापार्य्यपेक्षस्य यागाद्यव्यापनात्। व्यापारापेक्षस्य च हस्ताद्यव्यापनात्। व्यापारपरम्परापेक्षस्य सर्व्वकारकव्यापनात् ॥ ३६ ॥

करें, तो कुठारादि भी करण न होसकेंगे, कारण कि फल के सिद्धिपर्यन्त कर्त्ता के व्यापार का विराम नहीं होता है। यदि कहें कि करण के व्यापार को उत्पादन कर कर्तृव्यापार निवृत्त हो जाता है, तो करणव्यापार में चरितार्थ कर्त्ता प्रधानक्रिया में [घट में कुलाल पिता के तुल्य] कारण ही न हो सकेगा ॥ ३५ ॥

समर्थन—जिस व्यापार के अनन्तर अन्य कारक का व्यापार न होता हो वह चरमव्यापार है।

खण्डन—ईश्वरवादी के मत में फलसिद्धिपर्यन्त ईश्वररूप कर्त्ता के व्यापार का विराम न होने से और ईश्वर के व्यापार के अनन्तर अन्यव्यापार न होने से ईश्वर का व्यापार चरम व्यापार है, अतः ईश्वर को करणत्व हो जायगा। अनीश्वरवाद में विषय तथा इन्द्रिय के सन्निकर्षरूप व्यापार जैसे इन्द्रिय में हैं, वैसे ही विषय में भी हैं, अतः कर्म्म भी करण हो जायगा। काष्ठ-कुठार-संयोग-रूप-व्यापार जैसे कुठार में है, वैसे ही काष्ठ में भी है, अतः काष्ठ का व्यवच्छेद कैसे होगा। किञ्च हस्तव्यापार के अनन्तर भी वह्न्यादि का व्यापार होता है, अतः हस्तव्यापार के चरम न होने से हस्त में अव्याप्ति हो जायगी ॥

समर्थन—जिस कुठारादि के व्यापार के अनन्तर (उत्तर) फल (छिदादि) होते हों, वह करण है।

खण्डन—यदि अव्यवहित-विशेषण से रहित अनन्तरमात्र की विवक्षा करें, तो कर्त्ता कर्म्म आदि के अनन्तर भी फल होने से ये भी करण हो जायँगे और यदि अव्यवहित अनन्तर की विवक्षा करें, या व्यापारी की अपेक्षा से आनन्तर्य्य की विवक्षा करें, तो क्रियाकलापरूप याग में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि उसके अव्यवहित उत्तरक्षण में फल नहीं होता; किन्तु कालव्यवधान से होता है; और यदि व्यापार की अपेक्षा से आनन्तर्य्य की विवक्षा करें, तो हस्त में अव्याप्ति हो जायगी। कारण कि शर के व्यापार से व्यवधान है। यदि कहें कि हस्तव्यापार से प्रयोज्य होने से शर का व्यापार भी हस्त का ही व्यापार है और उस व्यापारपरम्परा से अनन्तर फल होता है, अतः अव्याप्ति नहीं होगी, तो कर्तादि के व्यापार से प्रयोज्य होने के कारण और उस व्यापारपरम्परा के कर्तृव्यापार होने से कर्त्ता में अतिव्याप्ति हो जायगी ॥ ३६ ॥

किञ्च—जो जिससे जन्य हो, तथा प्रधान क्रिया का जनक हो, वह उसका व्यापार है—यदि ऐसा व्यापार का लक्षण करें, तो लिङ्गपरामर्श इन्द्रियजन्य है तथा अनुमितिरूप-

किञ्च तत्कार्यो यदि क्रियाहेतुस्तद्व्यापार इष्टस्तदेन्द्रियकार्यो लिङ्गपरामर्शोऽनुमितिक्रियाहेतुरितीन्द्रियकरणिकाऽनुमितिः प्राप्ता। अथ हेतोः सतः कार्यः क्रियाहेतुस्तद्व्यापारस्तथा सत्यनुमित्यहेतोरिन्द्रियस्य कुतः करणत्वं स्यादिति। मैवम्। किं तद्धेतुत्वं यन्नास्त्यनुमितौ इन्द्रियस्य। नियतपूर्वभावित्वमिति चेत्। अस्ति तावत् पूर्वभावित्वं नियतत्वमपि, यदि कारणतायां प्रयोजकमिच्छसि तदा भवतैव यतितव्यं केनचिद्रूपेणेन्द्रियादेर्नियतत्वं प्रति, अन्यथा लिङ्गेन्द्रियादेः परस्परव्यभिचारादकरणिकैव प्रमा स्यात्। मनःसंयोगादेरेव तथात्वे चाऽप्रमासाधारण्यम्। अपि चाक्षादेरकरणत्वापातः, यत्सामान्ये यत्सामान्यं प्रयोजकं तद्विशेषस्यैव तद्विशेषे प्रयोजकत्वनियमदर्शनात्। ततो येन केनापि रूपेणेन्द्रियस्य प्रमायां नियतत्वमुपपाद्यते तेनैव रूपेण प्रसङ्गोपपत्तिः। अथ प्रमात्वे तत् प्रयोजकं नत्वनुमितित्वादाविति चेन्न; निरुपाधित्वाविशेषेणोक्तार्थाना-

---

क्रिया का जनक है, अतः लिङ्गपरामर्श इन्द्रिय का व्यापार हो जायगा तथा इन्द्रियाँ अनुमिति के करण हो जायँगी।

समर्थन—उस क्रिया का हेतु होकर उससे जो जन्य हो तथा उस क्रिया का जो हेतु हो वह उस क्रिया का व्यापार है—ऐसा लक्षण करने पर इन्द्रिय अनुमितिरूप क्रिया का हेतु नहीं है, अतः लिङ्गपरामर्श, इन्द्रिय का व्यापार नहीं है न इन्द्रिय करण ही है।

खण्डन—हेतुत्व क्या वस्तु है ? जो अनुमिति का हेतुत्व इन्द्रिय में नहीं है।

समर्थन—नियम से पूर्ववृत्ति कारण है और इन्द्रिय अनुमिति में नियम से पूर्ववृत्ति नहीं है।

खण्डन—जहां "वह्नि-व्याप्यो धूमः तद्वाँश्च अयं पर्वतः" इत्याकारक प्रत्यक्ष-ज्ञानरूप-परामर्श होता है, वहां इन्द्रिय अनुमिति से पूर्ववर्त्ति तो जरूर है, रहा नियम से होना वह यदि कारणत्व का प्रयोजक हो तो आपको ही यत्न करना चाहिये कि किसी रूप से इन्द्रिय नियत पूर्ववर्त्ती हो। अर्थात्–प्रमां प्रति प्रमाणं कारणम्—ऐसा कार्य्यकारणभाव होने से प्रमाणत्वरूप से इन्द्रिय भी प्रमात्वरूप से अनुमिति के नियत पूर्ववर्त्ती ही है, अन्यथा (यदि सामान्यरूप से कार्य्यकारणभाव न मानें तो) परस्पर व्यभिचार होने से इन्द्रियादि करण न कहावेंगे अर्थात् प्रमा कारणरहित हो जायगी और आत्म-मनःसंयोग ही प्रमा का करण है; अतः प्रमा करण रहित नहीं है, ऐसा भी आप नहीं कह सकते हैं, कारण कि आत्म-मनःसंयोग, अप्रमा का भी कारण है।

किञ्च यदि "प्रमां प्रति प्रमाणं कारणम्" ऐसा सामान्यरूप से कार्य्यकारणभाव न मानें तो "प्रत्यक्षप्रमां प्रति इन्द्रियप्रमाणं कारणम्" ऐसा विशेष कार्य्यकारणभाव भी नहीं मान सकते, कारण कि जिस सामान्य की जिस सामान्य में कारणता होती है उस विशेष की ही उस विशेष में कारणता होती है—ऐसा नियम है तस्मात् जिस प्रमाणत्व रूप से इन्द्रिय के (प्रमा में) कारणत्व का उपपादन आप करेंगे, उसी प्रमाणत्वरूप से इन्द्रिय के करणत्व का अनुमिति के प्रति हम भी प्रसञ्जन करेंगे।

समर्थन—प्रमाणत्वरूप से इन्द्रिय प्रमा का प्रयोजक है, अनुमिति का प्रयोजक नहीं है।

खण्डन—यदि प्रमाणत्वरूप से इन्द्रिय का निरुपाधिक (नियत) सम्बन्ध प्रमा में है तो प्रमा विशेष (अनुमिति) में भी है, अतः आपने उक्त अर्थ से अधिक कुछ नहीं कहा

धिक्यात् । सामान्यप्रयोजकत्वेन विशेषत्यागानवकाशादिति । अन्यथा व्यक्तेरकारणकत्वानुपपत्तेः ॥ ३७ ॥

अथान्यत्रास्तु यद्वा तद्वा करणं प्रमाविवक्षितजातिविशेषव्यपदेशकं प्रमाणं, चतस्रः खल्विमाः प्रत्यक्षादिप्रमितयो भिन्नव्यपदेशभाजः । नच प्रमाता प्रमेयं वा तद्भेदहेतुः प्रमाणानि तु यथायथं चतसृष्वसाधारणानीति भिन्नबुद्धिव्यपदेशनिबन्धनानीति ॥ मैवम् । विवक्षितपदं तावल्लक्षणे भाण्डालेख्यमिव, पुरुषेच्छानामनियतविषयत्वात् । अर्थजत्वस्य च साक्षात्कारित्वं प्रतीन्द्रियजत्वाविशिष्टतयाऽर्थस्यापि करणत्वप्रसङ्गात् । आप्तोक्तौ तु कर्तुरपि शाब्दप्रमाजातिविशेषकत्वेनातिप्रसङ्गात्, ओमित्युत्तरे च पूर्व्वमेवोक्तमिति ॥

विवक्षितजातिभेदौपयिकत्वेन प्रमित्यसमवायिकारणविशेषकं प्रमाणमित्यप्यत एव प्रत्युक्तम् ॥ ३८ ॥

इति प्रमाकरणनिरुक्तिदूषणानि ।

है, कारण कि जब प्रमासामान्य की इन्द्रियाँ प्रयोजक हैं, तब प्रमाविशेष के प्रयोजकत्व का त्याग नहीं हो सकता है ॥३७॥

समर्थन—प्रमा से अन्यत्र (छिदादि में) करण का (कुछ) लक्षण हो या न हो यह प्रस्तुत नहीं है । प्रस्तुत प्रमास्थल में तो करण का—प्रमा में विवक्षित जो प्रत्यक्षत्व अनुमितित्वादि जाति उन जातियों के व्यवहार वा बुद्धि का जो हेतु वह प्रमाण (प्रमितिका करण) है—ऐसा लक्षण हो सकता है । देखिये—चार प्रकार की प्रत्यक्षादि प्रमा भिन्नव्यपदेश वा बुद्धि के विषय होती हैं । प्रमाता वा प्रमेय इस भेद के कारण नहीं हैं; किन्तु इन्द्रिय परामर्श आदि ही यथायोग्य चारों प्रमितियों में असाधारण हेतु हैं, अतः भिन्नबुद्धि वा भिन्न व्यपदेश के कारण हो सकते हैं ।

खण्डन—लक्षण में विवक्षित पद, भाण्ड (पात्र) के चित्र के तुल्य है, कारण कि पुरुष की इच्छा अनियत विषयक है अर्थात् प्रत्यक्षत्व परोक्षत्व दो ही जाति की कोई विवक्षा करे, तो परोक्षत्व व्यवहार का हेतु बहिरिन्द्रिय सन्निकर्षाभाव भी प्रमाण कहा जायगा, अथवा अनुमिति में उपमिति के अन्तर्भाव की कोई विवक्षा करे, तो उपमान प्रमाण न कहा जा सकेगा ।

किञ्च प्रत्यक्षप्रमात्व के व्यवहार के हेतु जैसे इन्द्रियाँ हैं, वैसे ही अर्थ भी है । तथा शाब्दत्व व्यवहार का हेतु जैसे शब्द है, वैसे ही आप्तवक्ता भी है, अतः अर्थरूप कर्म तथा आप्तरूप कर्त्ता भी प्रमाण हो जायँगे । कर्म्म कर्त्ता में करण व्यवहार कहीं होता नहीं है, अतः आप यह स्वीकार नहीं कर सकते ।

समर्थन—विवक्षित जो प्रत्यक्षत्वादि जातिभेद उनके उपायभूत होने से प्रमिति के असमवायी कारण आत्ममनःसंयोग के विशेषक (अप्रमास्थल से व्यावर्त्तक) जो इन्द्रियपरामर्शादि वे प्रमाण हैं ।

खण्डन—"विवक्षित" पद से घटित होने से यह लक्षण भी भाण्ड के चित्र के तुल्य ही है ।

किञ्च—प्रत्यक्षस्थल में अर्थ तथा शाब्दस्थल में आप्त भी असमवायीकारण के विशेषक होने से प्रमाण हो जायँगे ॥३८॥

इति प्रमाणसामान्यलक्षणखण्डन

एवं विशेषतोऽपि प्रमाणलक्षणानि प्रतिवक्तव्यानि । तथा हि प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीत्याहुः । किमर्थमिदमुच्यते किं सजातीयविजातीयव्यवच्छिन्नतत्प्रतीत्यर्थम् ? उत साक्षात्कारित्वप्रतीतये तच्चिह्नोपदर्शनमिदम् ? उत व्यवहारार्थम् ? उत प्रत्यक्षादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तावधारणार्थम् ? उत अन्यत्किञ्चिदर्थमेव।

तत्र नाद्यः, तथा हि-किं सजातीयेति प्रत्यक्षत्वेन साजात्यमपेक्षितं ? रूपान्तरेण वा ? नाद्यः, तस्माद्व्यवच्छेदावधेः सजातीयादव्यावृत्तत्वेन व्यवच्छेदकत्वानुपपत्त्या व्यावृत्तत्वस्वीकारेणाव्यापकत्वात् । नापि द्वितीयः, विजातीयपदोपादानवैयर्थ्यात, अस्ति हि प्रमेयत्वादिना सर्वसाजात्यम् ॥ ३९ ॥

अथ प्रमाणत्वादिना विशेषेण साजात्यं विवक्षित्वेदमुच्यते तर्हि लक्ष्यस्यापि प्रमाणत्वेन साजात्याद्व्यवच्छेद्यकोटिप्रविष्टतया सङ्ग्राह्याभावप्रसङ्गः । लक्ष्यस्य यत्प्रमाणत्वादिभिः सजातीयं तद्व्यवच्छेद्यम् । नच लक्ष्यस्य लक्ष्यं सजातीयं पृष्ठचर्थस्य भेदव्यवस्थितत्त्वादितिचेत्, एवं तर्हि लक्ष्यापेक्षयाभिन्नात् व्यवच्छेद इत्येवोच्यतां

अथ प्रत्यक्षनिरुक्तिखण्डन

इसी रीति से प्रमाणविशेष के लक्षण भी खण्डनीय हैं। देखिये—इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न तथा अर्थसे अव्यभिचारी ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा है—ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण न्यायसूत्रकार ने किया है। यह लक्षण किस लिये किया, क्या सजातीय (सदृश) विजातीय (असदृश) से व्यावृत्त (भेदयुक्त) लक्ष्य के स्वरूपज्ञान के लिये अथवा लक्ष्यभूत प्रत्यक्ष के ज्ञानार्थ (चिन्ह) हेतु प्रदर्शन के लिये ? वा व्यवहार के लिये वा प्रत्यक्षसाक्षात्कारी आदि शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त (शक्यतावच्छेदक) के प्रदर्शन के लिये वा अन्यही किसी प्रयोजन के लिये ? इनमें प्रथमपक्ष युक्त नहीं है। देखिये—सजातीयत्व (सादृश्य) प्रत्यक्षत्वरूप से इष्ट है वा रूपान्तर से, यदि प्रत्यक्षत्वरूप से साजात्य लें तो उस व्यवच्छेद के अवधिभूत सजातीय प्रत्यक्ष से व्यवच्छेद (भेद) न हो तो लक्षण व्यवच्छेदक ही न हुआ और यदि सजातीय से व्यवच्छेद हो, तो जिस सजातीय से व्यवच्छेद होगा उसमें लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी और यदि अन्यरूप से साजात्य लें तो विजातीय पद व्यर्थ होगा, कारण कि प्रमेयत्वरूपसे प्रत्यक्ष के सब सजातीय ही हैं।

समर्थन—प्रमाणत्व आदि धर्म से साजात्य की विवक्षा से विजातीय पद का उपादान है।

खण्डन—प्रत्यक्ष भी प्रमाणत्वरूप से सजातीय है, अतः लक्ष्य की भी व्यावृत्ति होने से संग्राह्य (लक्ष्य) का अभाव हो जायगा ॥३९॥

समर्थन—लक्ष्य से जो प्रमाणत्वरूप से सजातीय हो वह व्यवच्छेद्य है और लक्ष्य लक्ष्य का सजातीय नहीं है कारण कि सादृश्य भेद में होता है, अतः स्व में स्व का सादृश्य नहीं होता है।

खण्डन—यदि ऐसा है तो लक्ष्य से जो भिन्न हो उससे व्यवच्छेद के लिये लक्षण है, इतना ही कहो, प्रकृत में अनुपयोगी प्रमाणत्व आदि से साजात्य की विवक्षा व्यर्थ है।

किञ्च यदि लक्ष्य से अन्यत्व, पर में अवगत है, तो पर से अन्यत्व भी लक्ष्य में अवगत ही है, अतः लक्षण के प्रयोजन (व्यावृत्ति) की—लक्षण करने से पहिले ही—सिद्धि होने से लक्षण करना व्यर्थ है।

कृतं प्रमाणत्वादिना साजात्येन प्रकृतानुपयोगिना वर्णितेन । यदा च लक्ष्यादन्यत्वं परेषामनवगतं तदा परस्मादन्यत्वमपि लक्ष्यस्यार्थादवगम्यत इति सिद्धमग्रत एव लक्षण-प्रयोजनमिति वैयर्थ्यमेव स्याल्लक्षणाख्यानस्येति ॥

अस्तु वा विवक्षावैचित्रीवशात् कथमपीदृशमभिधानं तथापि न तावदनेन लक्षणे-नानवगतेनैव व्यवच्छिन्नप्रतीतिसम्भवोऽतिप्रसङ्गात् । नापि ज्ञातेन दुरवधारणत्वात् । तथा हि—न तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पत्तिः प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षविशेषणत्वात् । नापि कार्य्येण लिङ्गेन तदनुपपत्त्या वा तदवगमः ताभ्यां सामान्यतः कारणमात्राक्षेपेण कारणगतानुगतरूपासिद्धावेकरूपलक्षणासिद्धेः ॥४० ।

कार्य्यस्यैकजात्यादेकजातीयकारणसिद्धिरिति चेत्, तर्हि कार्य्यगतैकजात्यस्य पूर्व्वमवश्यं प्रत्येतव्यत्वाङ्गीकारे तत एव सजातीयविजातीयव्यवच्छेदप्रतिपत्तिरस्तु कृतमनया पारम्पर्य्यकुसृष्ट्या ।

समर्थन—जैसे घट से पट में अन्यत्व के अज्ञानकाल में भी पट से अन्यत्वरूप से घट का प्रत्यक्षज्ञान होता है, वैसे ही लक्ष्य से अन्यत्वरूप से अज्ञात अलक्ष्य से अन्यत्वरूप से लक्ष्य का ज्ञान लक्षणरूप व्यतिरेकी हेतु से हो सकता है, अतः लक्षण व्यर्थ नहीं है।

खण्डन—इस रीति से विवक्षा के वैचित्र्य अर्थात् लक्ष्य से भिन्न लक्ष्य की व्यावृत्ति वा सजातीय विजातीय लक्ष्य से लक्ष्य की व्यावृत्ति के लिये लक्षण का सार्थकत्व कथञ्चित् यदि आप करें तो वह भी युक्त नहीं है, कारण कि अज्ञात लक्षण से इतर-व्यावृत्तरूप से लक्ष्यका ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि अज्ञात लक्षण से इतर-व्यावृत्तत्वरूप से लक्ष्य की प्रतीति हो तो सर्वदा व्यावृत्तत्वरूप से लक्ष्य की प्रतीति होनी चाहिये, वह होती नहीं है। तथा ज्ञात लक्षण से भी इतर से व्यावृत्तत्वरूप से लक्ष्य की प्रतीति नहीं हो सकती है, कारण कि लक्षण का ज्ञान [इन्द्रिय रूप अतीन्द्रिय पदार्थ से घटित होने से चक्षुरादि इन्द्रिय से] हो नहीं सकता है, तथा कार्य्यरूप लिङ्ग से वा कार्य्य की अनुपपत्ति से भी लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता है, कारण कि कार्य्य से कारणमात्र की अनुमिति वा आक्षेप करें तो भी कारणगत अनुगतरूप की असिद्धि से एकरूप लक्षण की असिद्धि होगी ॥४०॥

समर्थन—प्रत्यक्षरूप कार्य्य एक जातीय है, अतः उससे एक जातीय इन्द्रिय अर्थ के सन्निकर्षरूप कारण का आक्षेप होने से वही लक्षण है।

खण्डन—यदि ऐसा है तो कार्य्यगत ऐकजात्य साक्षात्कारित्व का प्रथम ज्ञान अवश्य मानेंगे। फिर उसीसे सजातीय विजातीय व्यावृत्त लक्ष्य की प्रतीति हो जायगी, अतः यह परम्परा कुसृष्टि (साक्षात्कारित्व के ज्ञान से इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजत्व का ज्ञान और उससे सजातीय विजातीय की व्यावृत्ति) की कल्पना व्यर्थ है।

समर्थन—इससे भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजत्व का खण्डन अव्याप्ति आदि दोष न होने से न हुआ।

खण्डन—कार्य्यगत ऐकरूप्य साक्षात्कारित्व [इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजत्व का] अनु-मापक होने से पूर्वज्ञेय तथा अवश्य स्वीकरणीय है और कारणगत ऐकरूप्य अनुमेय होने से पश्चात् ज्ञेय है। तथा कार्य्यगत वैरूप्य से ही व्यावृत्तिरूप स्वकार्य्य की सिद्धि

नन्वेतावतापि न प्रकृतलक्षणखण्डनं भवत्यव्याप्तेरतिव्याप्तेर्वाऽनुद्भावनात्। मैवम्। प्रथमभावितयाऽवश्यानुष्ठेयतया च लघोरुपायात्साध्यसिद्धौ सम्भवन्त्यां चरमभावितयाऽवश्यानुष्ठेयत्वाभावेन च गुरूपाये प्रवर्त्तमानस्य तवैवेदं दोषोद्भावनं प्रदीपेप्रदीपान्तरं प्रज्वाल्यतमोनिरासाय यतमानस्येव पुंसः। न हि तस्य दीपान्तरस्य कश्चिद्दोषः; किन्तु तथाकारी पुरुष एव पर्य्यनुयोज्यः। सर्वसाधनसाधारणोऽयं वा दोपो यत्सम्भवदेवंविध लघूपायत्वं नाम, स्वरूपासिद्धिरिव सर्वप्रमाणानाम्। तस्मान्मा नाम भूदतिव्याप्त्यादिदोषः सामान्यदोषादेवेदं लक्षणं दुष्टमिति ॥४१॥

एतेन द्वितीयोऽपि निरस्तः। साक्षात्कारित्वावगममन्तरेण तदवगमानुपपत्तेः। तदवगमाच्चास्य प्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गः। अस्तु वाऽन्यदपि किञ्चिदिन्द्रियजत्वे लिङ्गं तथापि तदेव साक्षात्कारित्वाविनाभूततया प्रत्यक्षलक्षणमुपन्यस्यतां सन्निहितप्रतिपत्तिफलत्वात्। नच तदवश्यं व्यापकं वक्तव्यं लिङ्गस्य तद्व्याप्यत्वेनैवोपपत्तेरिति चेन्न; यत्र लिङ्गमव्यापकत्वान्नास्ति तत्रेन्द्रियजत्वस्य प्रमाणाभावात् प्रत्येतुमशक्यत्वेन कथं ततः

होने से अवश्य-स्वीकर्तव्य भी नहीं है, अतः लघु उपाय से कार्य्य की सिद्धि जब हो रही है तब गुरु उपाय में आपकी प्रवृत्ति—समीप में एक प्रदीप के प्रज्वलित होते भी तमोनाश के अर्थ दूरस्थ अन्य प्रदीप के प्रज्वालन में यत्न करनेवाले पुरुष के उद्योग के तुल्य—गौरव दोष से युक्त है। यहां अन्य प्रदीप का कुछ दोष नहीं, किन्तु एक प्रदीप के होते भी अन्य प्रदीप के अर्थ उद्योगकारी पुरुष का ही दोष है, जैसे स्वरूपासिद्धि सर्वप्रमाण साधारण दोष है वैसे ही लघु उपाय होते भी गुरु उपाय का अवलम्बनरूप दोष सर्वसाधन साधारण है। तस्मात् अतिव्याप्ति आदि दोष न होने पर भी गौरवरूप दोष से ही यह लक्षण दुष्ट है॥४१॥

"साक्षात्व का अनुमितिरूप ज्ञान के हेतु-प्रदर्शन के लिये लक्षण है" यह द्वितीय कल्प भी अयुक्त है, कारण कि ज्ञातहेतु ही अनुमिति का हेतु होता है और हेतु का प्रत्यक्षरूपज्ञान पूर्वोक्त रीति से हो नहीं सकता और यदि साक्षात्कारित्व से लक्षणरूप हेतु की अनुमिति करें, तो उक्त लक्षणरूप हेतुज्ञान से साक्षात्कारित्व की अनुमिति और साक्षात्व के ज्ञान से उक्त हेतु का ज्ञान होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा।

समर्थन—साक्षात्व से उक्त लक्षणरूप हेतु की अनुमिति नहीं होती है; किन्तु अपरोक्ष व्यवहार हेतु ज्ञानत्वरूपहेतु से होती है, अतः अन्योन्याश्रय नहीं है।

खण्डन—तब साक्षात्कारित्व के व्याप्य अपरोक्षव्यवहार हेतु ज्ञानत्व ही लक्षण रहे, कारण कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजत्वरूप हेतुज्ञान के लिये प्रथमज्ञेय है।

समर्थन—लक्षण लक्ष्य का अवश्य व्यापक होता है, अतः प्रत्यक्ष का व्यापक होने से इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजत्व ही लक्षण है और अपरोक्ष-व्यवहार-हेतु-ज्ञानत्व-लक्ष्य का व्यापक नहीं है; कारण कि "ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति" इस स्थान में तृण का त्वाच प्रत्यक्ष होने पर भी अपरोक्ष व्यवहार नहीं होता है; किन्तु व्याप्य है और हेतु व्याप्य ही होता है; अतः अपरोक्ष-व्यवहार हेतुत्व उक्त लक्षण का अनुमापक हेतु ही है, प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं है।

खण्डन—जहां उपेक्ष्य तृणादि-ज्ञान में अपरोक्ष व्यवहारहेतुत्वरूप हेतु के न होने से इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजत्व का अवगम नहीं होता है, वहां उक्त हेतु से साक्षात्कारित्वरूप

साक्षात्कारित्वावगमः । यदा च कचित्प्रत्यक्षजातीय एव प्रमाणाभावादिन्द्रियजत्वमनव-धारणीयतया साक्षात्कारित्वव्यापकत्वेनानवगतमपि लक्षणं, तदा किमपराद्धं लिङ्गान्त-रेणाव्यापकेन ॥४२॥

अथ यत्र तदिन्द्रियजत्वे लिङ्गं नास्ति तत्र लिङ्गान्तरात्तत्प्रत्येतव्यम् । तथापि तदेवास्तां साक्षात्कारित्वे लिङ्गं कृतमिन्द्रियजत्वानुमानपूर्व्वकतदनुमानकल्पनया । अथ तथा लिङ्गद्वयं तत् प्रत्येकमव्यापकतया न लक्षणं, इन्द्रियजत्वन्तु तथात्वात् लक्षणमिति चेन्न, साक्षात्कारित्वानुमानस्य लक्षणप्रयोजनस्योभाभ्यामेव सिद्धेः कृतं व्यापकेन तेन॥

नापि तृतीयः, स ह्येवंरूपो यदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजनितं तत्प्रत्यक्षमिति व्यवहर्त्तव्य-मिति । अयमप्यर्थोऽनुपपन्नो लक्षणस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् । साक्षात्कारित्वात्तदवगमे साक्षात्कारित्वमेवास्तु व्यवहारनियमनिदानमव्यवहितप्रतिपत्तिकत्वादित्यावेदितम् ॥

लक्षय का अवगम कैसे होगा। किञ्च जब उपेक्ष्य तृणादि के त्वाच प्रत्यक्ष में ज्ञापक हेतु के न होने से साक्षात्कारित्व के व्यापकत्व से अनवगत भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजत्व लक्षण है, तब अव्यापक अपरोक्षव्यवहार हेतुत्व का क्या अपराध है कि वह लक्षण न हो, कारण कि अज्ञान दशा में व्यापकत्व भी अकिञ्चित्कर है ॥ ४२ ॥

समर्थन—जिस स्थल में अपरोक्षव्यवहार हेतुत्व नहीं है, वहाँ अन्यलिंग (सविशेषार्थ-प्रधानत्व) से इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व की अनुमिति होगी।

खण्डन—तब सविशेषार्थ प्रधानत्व ही साक्षात्कारित्व का साक्षात् हेतु रहे, इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजत्व की अनुमिति द्वारा साक्षात्व की अनुमिति व्यर्थ है।

समर्थन—अपरोक्षव्यवहारहेतुत्व तथा सविशेषार्थप्रधानत्व प्रत्येक में अव्यापक हैं अर्थात् अपरोक्षव्यवहारहेतुत्व उपेक्ष्य तृणत्वाच में तथा सविशेषार्थ प्रधानत्व प्रमेयत्व इत्याकारक प्रत्यक्ष में अव्यापक हैं, अतः लक्षण नहीं हो सकते हैं, किन्तु इन्द्रियजत्व ही व्यापक होने से लक्षण है।

खण्डन—लक्षण का प्रयोजन साक्षात्कारित्व का ज्ञान होना है वह ज्ञान दोनों से हो गया, फिर व्यापक इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वरूप लक्षण व्यर्थ है। साक्षात्कारिप्रमिति प्रत्यक्षत्व-रूप से व्यवहर्तव्य है। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होने से, यह तृतीयकल्प भी अयुक्त है, कारण कि उक्त लक्षण का ज्ञान ही नहीं हो सकता है। यदि साक्षात्कारित्वरूप कार्य्यगत ऐक्य रूपसे उक्त लक्षण की अनुमिति करें तो अच्छा है कि साक्षात्कारित्व से उक्त लक्षणद्वारा व्यवहारानुमिति की अपेक्षा लाघव होनेसे साक्षात् ही साक्षात्कारित्व से प्रत्यक्षत्व व्यवहार की अनुमिति करें।

प्रत्यक्षसाक्षात्कारी आदि शब्दों का इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजत्व प्रवृत्तिनिमित्त (शक्य-तावच्छेदक) है, इस बातके निश्चय के लिये लक्षण है—यह चतुर्थ कल्प भी अयुक्त है, कारण कि उक्त लक्षण का ज्ञान साक्षात्कारित्व से होगा, अतः उपस्थित होने से तथा अनेक-विशेषणयुक्त गुरु उक्तलक्षण की अपेक्षा लघु होनेसे साक्षात्व को ही प्रवृत्तिनिमित्त मानना उचित है

अतएव न चतुर्थः कल्पनागौरवदोषश्चाधिकः। नापि पञ्चमः; तादृशस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् ॥४३॥

एतेन भासमानाकारेन्द्रियसंयोगजं प्रत्यक्षमित्यपि निरस्तम्। किञ्च प्रमाणविशेषलक्षणमिदं प्रमाणलक्षणोपसंगृहीतस्य कियतः सङ्ग्राहकं ? कियतश्च प्रतिक्षेपकं वक्तव्यं ? प्रमाणलक्षणेन च व्यभिचारिणो निवृत्तिः प्रदर्श्यते। तथा च सति यथाश्रुतमिदमलक्षणं, व्यभिचार्य्यपि हि भासमानस्य सत्तादेराकारस्येन्द्रियसंयोगादुत्पद्यते। अथ विशेषाभिप्रायेणेदं लक्षणं वाच्यं तथाऽप्यसङ्गतिः। तथा हि–किं कियन्मात्रभासमानेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वं विवक्षितम् ? उत यावद्भासमानेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वम् ?। आद्ये, व्यभिचार्य्यव्यवच्छेदः निर्विकल्पकासङ्ग्रहश्च ॥४४॥

नापि द्वितीयः, विकल्पासहत्वात्। तथा हि—किं भासमानताविशिष्टस्येन्द्रियसम्प्रयोगः ? उत भासमानतोपलक्षितस्य ? नाद्यः, पूर्वं भासमानत्वाभावात् कारणस्य च पूर्व्वभावित्वात्। द्वितीये, लटोऽविवक्षितार्थत्वं विवक्षितार्थत्वं वा ? नाद्यः, तथाहि' यावद्भा-

पञ्चम कल्प भी युक्त नहीं, कारण कि उसे दिखा नहीं सकते॥४३॥

प्रत्यक्ष लक्षणान्तर-खण्डन

भासमान जो आकार उससे इन्द्रिय का जो सम्प्रयोग (सन्निकर्ष) उससे जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है, यह लक्षण भी पूर्वोक्त रीति से ही अयुक्त है। किञ्च प्रमाणविशेष (प्रत्यक्ष) का यह लक्षण प्रमाण लक्षण से उपसंगृहीत कुछ एक लक्ष्य का संग्राहक है तथा कुछ एक का व्यवच्छेदक है और प्रमाणलक्षण व्यभिचारी शुक्ति-रजत ज्ञान में नहीं रहता है, और भासमान आकार तथा इन्द्रिय के सम्प्रयोगजन्यत्वरूप यथाश्रुत यह लक्षण उक्त व्यभिचारी ज्ञान में भी है, अतः यह अलक्षण है, कारण कि व्यभिचारी ज्ञान भी भासमान इदन्त्वरूप आकार से इन्द्रिय के सन्निकर्ष से ही उत्पन्न होता है।

यदि विशेष आकार शुक्तित्वादि के अभिप्राय से यह लक्षण है और इदंत्वसामान्य आकार है तो भी असङ्गत ही है। देखिये—क्या कियन्मात्र भासमान आकार और इन्द्रिय का सम्प्रयोग विवक्षित है ? वा यावत् भासमान आकार तथा इन्द्रिय का सम्प्रयोग विवक्षित है ? प्रथमपक्ष अयुक्त है—कारण कि व्यभिचारी भी कियन्मात्र भासमान आकार तथा इन्द्रिय के सम्प्रयोग से होता है निर्विकल्पक ज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि निर्विकल्पक ज्ञान में वस्तुमात्र भासता है और वह निर्भाग है, अतः निर्विकल्पक ज्ञान भासमान सकल आकार तथा इन्द्रिय के सम्प्रयोग से ही होता है ॥४४॥

भासमान यावत् आकार इन्द्रिय सम्प्रयोग से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि विकल्प का असह है। देखिये—क्या भासमानता विशिष्ट में इन्द्रिय का सम्प्रयोग विवक्षित है ? वा भासमानता से उपलक्षित में ? प्रथम पक्षयुक्त नहीं है, कारण कि इन्द्रिय सम्प्रयोग से पहले भासमानता का अभाव है और भासमानता के कारण इन्द्रिय सम्प्रयोग की स्थिति भासमानता से पूर्व होनी चाहिये। भासमानता से उपलक्षित

समानाकारेन्द्रियसंयोगजमपि भवति घटोऽयमिति विज्ञानम् नच तदात्मनि प्रत्यक्षम्, आत्मनस्तदीयाविषयत्वात्, प्रामाण्यस्य च विषयनियतत्वात्। यत्र प्रामाण्यं तत्रैव विषये तद्विशेषस्य प्रत्यक्षत्वस्य वक्तव्यत्वात्। अन्यथा पटास्तित्वे घटोऽयमिति प्रत्यक्षं प्रमाणयतः किमुत्तरम्? ॥४५॥

नन्विदमुत्तरं घटविज्ञानं पटे न प्रत्यक्षं, न हि तदिन्द्रियसन्निकर्षेणोत्पन्नमिति। तत् किमात्मेन्द्रियसन्निकर्षजं घटज्ञानमात्मनि प्रत्यक्षमेव? । कथमेवं स्यात् आत्मेन्द्रियसन्निकर्षाद्घटज्ञानस्योत्पादेऽप्यात्मनोऽनवभासमानत्वादिति चेन्न। भासमानेत्यत्र लटोऽविवक्षितार्थत्वपक्षमाश्रित्येदं भवतोच्यत इति स्मर्तव्यम्। अस्ति ह्यात्मनो भासमानत्वं कदाचित् केनचिदन्यथाऽप्रमेयत्वप्रसङ्गात्।

उक्तलक्षणकं स्वविषये प्रत्यक्षं न त्वन्यत्राऽपीति चेन्न, स्वशब्देन यदि ज्ञानमात्रं विवक्षितं तदा स दोषस्तदवस्थः अथ ज्ञानव्यक्तिरपेक्षिता तदा लक्ष्यस्वरूपस्यासाधारणतया तत्परित्यागेन लक्षणस्यान्यत्र गतत्वादतिव्याप्तिः, व्यक्त्यन्तरस्य लक्षणाश्रयस्य एकव्यक्त्यभिहितलक्ष्यीभूतासाधारणरूपत्वाभावात् ॥४६॥

में इन्द्रिय का सम्प्रयोग हो इस द्वितीय कल्प में भी लट् का अर्थ अविवक्षित है या विवक्षित। प्रथम पक्ष युक्त नहीं, कारण कि यावत् भासमान आकार तथा इन्द्रिय के सम्प्रयोग से जायमान "घटोऽयम्" यह ज्ञान आत्मा में भी प्रत्यक्ष हो जायगा और आत्मा में "घटोऽयम्" यह प्रत्यक्ष नहीं होता है, कारण कि आत्मा उस ज्ञान का विषय नहीं है और प्रामाण्य विषय से नियत है अर्थात् जिस विषय में जो प्रमाण है उसी विषय में वह प्रमाणविशेष प्रत्यक्ष कहा जाता है। यदि इस बात को न मानें तो पट के अस्तित्व में "घटोऽयम्" इस प्रत्यक्ष ज्ञान को कोई प्रमाण दे तो क्या उत्तर होगा ॥४५॥

समर्थन—घटज्ञान, पट तथा इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं है, अतः पट में वह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।

खण्डन—क्या आत्मा और मनोरूप इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जायमान घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष है?

समर्थन—घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है, कारण कि आत्मा तथा इन्द्रिय (मन) के सन्निकर्ष से घटज्ञान यद्यपि उत्पन्न है, तथापि आत्मा भासमान नहीं है।

खण्डन—"भासमान" इस विशेषण में लट् का अर्थ अविवक्षित है इस कल्प का आश्रयण कर आप उत्तर कह रहे हैं इसका स्मरण कीजिये। कदाचित् किसी कारण आत्मा का भी भान होता ही है, अन्यथा आत्मा अप्रमेय हो जायगी।

समर्थन—भासमान आकार और इन्द्रिय के सम्प्रयोग से जन्य ज्ञान स्वविषय में प्रत्यक्ष है—ऐसा लक्षण करने पर घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष न होगा।

खण्डन—यदि स्व शब्द को ज्ञानसामान्यपरक मानें तो, आत्मा भी यत्किञ्चित् ज्ञान का विषय होती ही है, अतः घटज्ञान आत्मा में प्रमाण हो जायगा और यदि ज्ञानव्यक्तिपरक मानें तो जो ज्ञानव्यक्ति स्व शब्द से गृहीत होगी, वह ज्ञान व्यक्ति ही लक्ष्य हुई, अन्यव्यक्ति लक्ष्य नहीं हुई, कारण कि लक्ष्य के असाधारणरूप तद्व्यक्तित्व उस व्यक्ति में नहीं है और लक्षण अन्यव्यक्ति साधारण है, अतः अतिव्याप्ति हो जायगी ॥४६॥

व्यक्त्यन्तरमपि लक्ष्यमेव अलक्ष्ये च लक्षणस्य गमनादतिव्याप्तिरिति चेन्न; यदेकत्रासाधारणस्वरूपं लक्ष्यत्वेन निरुच्यते भवता न तदन्यस्य स्वरूपमतः कथं तदपि लक्ष्यमित्यपिशब्देनानेकं साधारणीकृत्य समुच्चेतुं शक्यम्, यदपि साधारणं रूपं तद्व्यक्त्यन्तरव्यवच्छेदकस्वविषयपदं विशेषणं प्रक्षिपता भवतैवासाधारणीकृतं स्वशब्दस्य ज्ञानमात्रार्थत्वे दोषस्योक्तत्वात् स्वत्वस्य चानुगतस्वरूपस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्, अन्यथाऽन्यव्यक्तिविषयस्यान्यत्र तथात्वापत्तेः।

नापि द्वीतीयः पक्षः, विकल्पासहत्वात्। किं सम्प्रयोगापेक्षया वर्त्तमानत्वमथ यत्किञ्चदपेक्षया। प्रथमे विशेषणत्वपक्षान्न विशेष इत्युक्तदोषापत्तिः। द्वितीये तु लटोऽविवक्षितार्थत्वमेव स्यात् व्यवच्छेद्ययोर्भासितभासिष्यमाणयोरपि तदा तदा भासमानत्वस्वीकारात्॥ ४७॥

समर्थन—अन्य व्यक्ति भी लक्ष्य ही है और अलक्ष्य में लक्षण का गमन अतिव्याप्ति है।

खण्डन—आप स्वविषयक प्रत्यक्ष को लक्ष्य कहते हैं, वह रूप अन्यत्र नहीं है। अतः कैसे "वह भी लक्ष्य है" इस प्रकार भी शब्द से उस व्यक्ति का समुच्चय कर सकते हैं। जो प्रत्यक्षत्व अन्य व्यक्ति साधारण था, उस प्रत्यक्षत्व को भी स्वविषय में यह विशेषण देकर आपने ही असाधारण कर दिया है। स्व शब्द यदि ज्ञानमात्रपरक मानें तो—घटज्ञान आत्मा में भी प्रत्यक्ष हो जायगा—यह दोष हम कह आये हैं। किञ्च सम्पूर्ण ज्ञान में अनुगत स्वत्व का निर्वचन भी नहीं हो सकता है कि उस स्वत्वरूप से संग्रह कर स्व शब्द को ज्ञानमात्र का वाच्य मानें। यदि कथञ्चित् स्वत्व का निर्वचन भी करें तो ज्ञानमात्र के स्व शब्द वाच्य होने से अन्य विषयक ज्ञान अन्य में अर्थात्—घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष हो जायगा। भासमान इस पद में लट् का अर्थ विवक्षित है, यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि विकल्प को नहीं सह सकता है। देखिये—क्या सम्प्रयोग की अपेक्षा से वर्तमानत्व विवक्षित है, अथवा जिस किसीकी अपेक्षा से। इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है। कारण कि सम्प्रयोग काल में [कारण के कार्य्य से पूर्ववर्ती होने से] भासमानता हो ही नहीं सकती है, अतः इस पक्ष में भी विशेषणपक्ष-कथित दोष हो जायगा—यदि यत्किञ्चित् की अपेक्षा से वर्त्तमानता का ग्रहण करें तो अर्थतः वर्तमानत्व अविवक्षित ही हुआ, कारण कि भासिष्यमाण (भासित होने वाला) और भासित भी यदा कदाचित् वर्तमान भासन का विषय ही हैं, अतः उनका व्यवच्छेद नहीं होगा॥४७॥

समर्थन—"इन्द्रिय सम्प्रयोग के अनन्तर जायमान जो भासन तद्विषय आकार और इन्द्रिय के सम्प्रयोग से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है" ऐसा लक्षण करने पर घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष नहीं होगा, कारण कि चक्षुःसंयोग के अनन्तर आत्मा भासमान नहीं है।

खण्डन—आत्मा का भासन भी मनोरूप इन्द्रिय के संयोग के अनन्तर ही होता है, मनोरूप इन्द्रिय के संयोग के बिना आत्मा का ग्रहण भी नहीं होता है, अतः उक्तरूप से परिष्कार होने पर भी घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष हो जायगा।

समर्थन—जिस इन्द्रियसंयोग के अनन्तर भासन होता हो उस इन्द्रियसंयोग के अनन्तर जायमान जो भासन उसका विषय आकार तथा इन्द्रिय के सम्प्रयोग से

इन्द्रियसम्प्रयोगानन्तरं भासमानत्वमपेक्षितमतो विवक्षितार्थमिति चेन्न । आत्मनोऽपीन्द्रियसंयोगानन्तरं भासमानत्वमस्ति । न हि स यदा मनसा गृह्यते तदा नेन्द्रियसंयोगानन्तरम् । नेन्द्रियसंयोगमात्रं विवक्षितं, किं नाम यदनन्तरं भासमानतोत्पत्तिरिति चेन्न, तदनन्तरमपि भासनोत्पत्तेः । भासमानतान्तरं तत् नत्विदं भासनमिति चेत्, न । अव्याप्तिप्रसङ्गात् । एकभासनमात्रव्यवस्थितत्वात् लक्षणस्य ॥ ४८ ॥

अथ मन्यसे यद्भासनं यस्य विषयस्येन्द्रियसंयोगादुत्पन्नं तत्तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणमिति निरुक्तौ न दोष इति, मैवम् । यद्भासनं घटोऽयमिति यस्य विषयस्यात्मन इन्द्रियेण सह सन्निकर्षादुत्पन्नं तद्भासनं तस्मिन्नात्मनि प्रमाणं स्यात् । नात्मा तस्य विषयः, तत्कथमेवं स्यादिति चेत् । नहि भवता तदीयविषयस्येत्युक्तं, किन्तु सामान्यतो विषयस्येति तेनेदमभिहितम् । यदि तु तदीयताविशेषणमुपादत्ते भवान्, तदा यदि तच्छब्देन ज्ञानजातीयमात्रपरामर्शस्तदा स दोषस्तदवस्थः । यदि तु ज्ञानजातीयमात्रव्यक्तिविशेषपरामर्शस्तदाऽव्यापकत्त्वं, प्रतिज्ञानं तच्छब्दार्थस्य भेदात्, नहि यत्त्वं तत्त्वं वा किञ्चिदनुगतं रूपमस्ति ।

जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है—ऐसा परिष्कार करने पर घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष नहीं होगा, कारण कि चक्षुःसंयोग के अनन्तर आत्मज्ञान नहीं होता है।

खण्डन—यद्यपि चक्षुःसंयोग के अनन्तर आत्मज्ञान नहीं होता है, तथापि आत्मा का ज्ञान तो होता ही है, अतः आपके लक्षण के समन्वय होने से घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष हो जायगा।

समर्थन—आत्ममनःसंयोग के अनन्तर आत्मा का भासन होता है, घट का भासन तो नहीं होता है, अतः घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष नहीं होगा।

खण्डन—तब तो जिस इन्द्रियसम्प्रयोग के अनन्तर घट का भासन होता हो उस इन्द्रिय के सम्प्रयोग से जन्य (घट) ज्ञान प्रत्यक्ष है ऐसा लक्षण होने से घटज्ञान ही में लक्षण का समन्वय होगा, अन्यत्र पटादि-ज्ञान में सर्वत्र अव्याप्ति हो जायगी ॥ ४८ ॥

समर्थन—"जो ज्ञान जिस विषय और इन्द्रिय के संयोग के अनन्तर होता है, वह ज्ञान उस विषय में प्रत्यक्ष है" ऐसा लक्षण है, अतः घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष नहीं।

खण्डन—घटोऽयम्" यह भासन जिस विषय आत्मा और मन के संयोग के अनन्तर उत्पन्न होता है अतः वह "घटोऽयम्" भासन आत्मा में प्रत्यक्ष हो जायगा, अतः ऐसा परिष्कार भी असङ्गत है।

समर्थन—आत्मा "घटोऽयम्" इस ज्ञान का विषय नहीं है, अतः घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

खण्डन—आपने तद् ज्ञान का विषय—ऐसा निवेश न कर सामान्यरूप से विषय का निवेश किया है इससे यह दोष होता है। यदि तद् ज्ञान का विषय ऐसा निवेश करें यद्, तद् को ज्ञानमात्रपरक मानें, तो फिर भी घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष हो जायगा; कारण कि यद्ज्ञान से आत्मज्ञान का भी ग्रहण हो सकता है। यदि घटज्ञान व्यक्तिपरक हो, तो घटज्ञान में तो समन्वय हो जायगा, अन्यत्र सर्वत्र अव्याप्ति हो जायगी,

अत एवात्मविषयत्वानुयोगवत् त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनि पटज्ञानस्य घटादौ प्रत्यक्षतया प्रामाण्यानुयोगो द्रष्टव्यः चक्षुःसन्निकर्षाभावात्। अन्यथा तस्येष्टप्रसञ्जकत्वात्। तदर्थं यदिन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्नमिति विशेषणप्रक्षेपे यत्तच्छब्दार्थस्यासाधारण्याद्व्याप्त्यापत्तेः। यदि तु यत्तच्छब्दार्थावनुगतौ स्यतां पुनरप्यन्यत्र घटोऽयमितिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेन प्रमाणता प्रसज्येत ॥ ४६ ॥

अथान्यव्यतिरिक्त इति विशेषणं प्रक्षिपसि तदाऽन्यविषयस्य प्रत्यक्षता न स्यात्। तच्छब्देनानुगतार्थाभिधाने व्यवच्छेदकत्वाभावात्। घटज्ञानस्य च पटे प्रत्यक्षतया प्रामाण्यं प्रसज्येत।

एतेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारि प्रत्यक्षमित्यत्रापि दोषोऽयमुक्तो द्रष्टव्यः तादृशस्यापि ज्ञानस्य विषयान्तरे प्रत्यक्षत्वेन प्रामाण्यप्रसङ्गात्। यस्यार्थस्य सन्निकर्षात् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत्तत्र प्रत्यक्षतया प्रमाणमित्यभिधाने तु यच्छब्दतच्छब्दसाधारणासाधारणार्थाभिधानविकल्पोक्तदोषप्रसङ्गः।

अव्यभिचारिपदञ्च व्यर्थं, न हि शुक्तौ रजतज्ञानं रजतेन्द्रियसन्निकर्षादुत्पन्नम्। संस्कारलक्षणा प्रत्यासत्ती रजतत्वेऽप्यस्तीति चेन्न। पूर्व्वानुभूतरजततादात्म्यस्य संस्का-

---

कारण कि निखिल ज्ञान में वृत्ति यत्त्व तत्त्व कोई अनुगत धर्म्म नहीं हैं। जिसको प्रवृत्ति-निमित्त मान कर ज्ञानमात्र का यत् शब्द से ग्रहण हो। जो प्रभाकर आदि त्रिपुटी (ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय त्रय) का भान ज्ञान में मानते हैं, उनके मत में घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष इष्ट ही है, अतः घटज्ञान पट में प्रत्यक्ष हो जायगा यह दोष जानना चाहिये।

समर्थन—जिस वस्तु और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न जो ज्ञान हो वह ज्ञान उस वस्तु में प्रत्यक्ष है, अतः घटज्ञान पट में प्रत्यक्ष नहीं है।

खण्डन—यदि यद्शब्द को अनुगत तद्तद्ज्ञान—व्यक्तिपरक मानें तो अन्यज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी और यत्त्वतत्त्व को अनुगत मान भी लें, तब भी "घटोऽयम्" यह ज्ञान पट में प्रत्यक्ष हो जायगा ॥४६॥

समर्थन—जिस वस्तु तथा इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जो ज्ञान होता है वह ज्ञान उससे जो अन्य, उस अन्य से व्यतिरिक्त वस्तु में प्रत्यक्ष है, अतः घटज्ञान पट में प्रत्यक्ष नहीं है।

खण्डन—अन्य विषयक प्रत्यक्ष के लक्ष्य न होने से वह प्रत्यक्ष न कहा जायगा। अथवा लक्ष्यभूत अन्य विषयक प्रत्यक्ष में भी उक्त लक्षण के समन्वय होने से अतिव्याप्ति होगी। तद् शब्द को किसी अनुगमक रूप से सन्निकर्षजज्ञानपरक मान भी लें तो व्यवच्छेद के न होने से घटज्ञान पट में प्रमाण हो जायगा। कारण कि तद् शब्द से पटज्ञान का भी परामर्श कर सकते हैं। इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न अव्यभिचारिज्ञान प्रत्यक्ष है, इस लक्षण में भी घटज्ञान आत्मा में वा पट में प्रत्यक्ष हो जायगा—यह दोष जानना चाहिये। यदि जिस वस्तु के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न हो वह ज्ञान उस विषय में प्रत्यक्ष है—ऐसा लक्षण करें तो यद् तद् शब्द को एकज्ञानपरक मानें वा ज्ञानसामान्यपरक मानें उभयथा पूर्वोक्त दोष होगा। यदि यद्तद्घटित लक्षण करें तो रजत के सन्निकर्ष से शुक्ति में रजतभ्रम नहीं होता है, अतः रजत में प्रत्यक्ष नहीं होगा। फिर अव्यभिचारी विशेषण व्यर्थ हो जायगा।

राभावादुक्तदोपतादवस्थ्यात् । गुरुमतानुसारेण सुतरां विशेपणवैयर्थ्यात्तेन व्यभिचारानङ्गीकारात् । रजतत्ववैशिष्ट्ये पुरोवर्तिनस्तदभावात्, तस्मिन्नेव वांशेऽप्रामाण्यं न तु रजतत्वमात्रे तस्यान्यत्र सत्त्वात् ॥ ५० ॥

अथ साक्षात्कारित्वं प्रत्यक्षलक्षणमुच्यते तदा साक्षात्कारिभ्रमेऽपि प्रसङ्गः । अव्यभिचारित्वेन विशेपितं तल्लक्षणमिति वा भेदाग्रहव्यतिरिक्तविभ्रमाभावो वेति चेत् न । विकल्पासहत्वात् । किमवगतमिदं लक्षणं फलहेतुः अनवगतं वा, न तावच्चरमः, तदभिधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अभिधानस्य ज्ञानोत्पादोपयोगित्वात् तस्य चानवगतस्यैव फलसाधकत्वाभ्युपगमात् । आद्ये किमन्यस्मात्तदवगमः; उत त्वदीयाल्लक्षणवाक्यात्, यद्यन्यस्मात्कृतममुना लक्षणाभिधानप्रयासेन, अभिधानस्य ज्ञानोत्पदातिरिक्तप्रयोजनाभावात् तस्य चान्यत एव सिद्धेः ।

अन्त्ये किं त्वदभिधानमाप्तोपदेशतया साक्षात्कारित्वं बोधयति, उत लिङ्गादिभावेन ? न तावच्चरमः, त्वद्वचनस्य साक्षात्कारित्वाविनाभावादेर्दर्शयितुमशक्यत्वात् । नापि प्रथमः, वादिनं प्रति भवत आप्तत्वासिद्धेः । सिद्धौ हि प्रतिज्ञामात्रादेव साध्यसिद्धेर्हेत्वाद्यभिधानमनर्थकं सर्वत्र स्यात् ॥ ५१ ॥

संस्काररूप प्रत्यासत्ति रजत में भी है—यह आप नहीं कह सकते हैं, कारण कि पुरोवर्तीशुक्ति में जो रजतत्ववैशिष्ट्य (तादात्म्य) है उसमें संस्काररूप प्रत्यासत्ति भी नहीं है और तादात्म्य में ही वह ज्ञानभ्रम भी है, रजतत्व में भ्रम नही है, कारण कि रजतत्व अन्यत्र विद्यमान है ॥५०॥

समर्थन—साक्षात्कारित्व प्रत्यक्ष का लक्षण है ।

खण्डन—प्रत्यक्षभ्रम में प्रसङ्ग होने से यह लक्षण अयुक्त है ।

समर्थन—भ्रम में अतिव्याप्तिवारण के अर्थ, अव्यभिचारित्व का निवेश है, अतः अतिव्याप्ति नहीं, अथवा भेदाग्रह से भिन्न भ्रमज्ञान होता नहीं है अर्थात् ज्ञानमात्र प्रमा ही है, अतः व्यभिचारी विशेषण देने का कुछ काम नहीं है ।

खण्डन—यह लक्षण भी विकल्प को नहीं सह सकता है । देखिये—क्या अवगत (ज्ञात) लक्षण व्यावृत्ति वा व्यवहाररूप फल का कारण है या अनवगत ? अनवगत, व्यावृत्ति आदि फल का कारण नहीं है, कारण कि यदि अनवगतलक्षण फल का हेतु हो तो अभिधान केवल ज्ञान के लिये होता है और लक्षणज्ञान का प्रकृत में कुछ उपयोग नहीं है, कारण कि अज्ञात ही लक्षण व्यावृत्ति, आदि फल का हेतु है और यदि अवगतलक्षण को व्यावृत्ति आदि का हेतु मानें और लक्षण का अवगम अन्य से मानें तो लक्षण का अभिधान व्यर्थ है, कारण कि अभिधान ज्ञान के लिये होता है वह अन्य से सिद्ध है । यदि लक्षण वाक्य से अवगत होता है तो यह विकल्प होता है कि आपका लक्षणवाक्य आप्तवाक्यरूप से लक्षण का बोधक है वा हेतुरूप से । इनमें हेतुरूप से नहीं कह सकते, कारण कि साक्षात्कारित्व का अविनाभाव (व्याप्ति) वाक्य में नहीं है तथा आप्तवाक्यरूप से भी नहीं कह सकते, कारण कि आपका वाक्य, वादी के प्रति आप्तवाक्य नहीं है । यदि आपके वाक्य को आप्तवाक्य मानें भी तो प्रतिज्ञामात्र से साध्यसिद्धि होने से हेतु आदि का अभिधान व्यर्थ हो जायगा ॥ ५१ ॥

अथ मन्यसे यः साक्षात्कारित्वमन्यतो जानाति प्रत्यक्षव्यवहारनिदानतया च न जानाति, तं प्रति प्रत्यक्षव्यवहारनिदानत्वमस्य ज्ञाप्यते लक्षणवादिना, तच्चानुमानभावेनैव, नाप्तोपदेशतया। अतएव च लक्षणं केवलव्यतिरेक्यनुमानमाचक्ष्महे, तद्यथा—श्रावणादिप्रमितयः साक्षात्कारिप्रमितयो वा प्रत्यक्षत्वेन व्यवहर्त्तव्याः, साक्षात्कारिप्रमितित्वात् न यत्प्रत्यक्षतया व्यवह्रियते न तत्साक्षात्कारि यथाऽनुमितिः तथाचैता स्तस्मात्तथा—एतदनुमानप्रतिपादकश्च वाक्यं नाप्तवाक्यत्वेन प्रयुज्यते वादिना, किन्तु व्याप्त्यादेः प्रतिपन्नस्यैव स्मारकं, पूर्व्वाप्रतिपन्नस्य वा जिज्ञासोत्पादनद्वारेणेदानीमेव वादिनि प्रमाणोत्पादकमित्युक्तदोषानवकाश इति॥

न प्रत्यक्षतया व्यवहर्त्तव्या इति व्यवहारस्य किं विषयभेदो विशेषः उत शब्दभेदः।

आद्ये यद्यसौ विषयविशिष्टं व्यवहारं नाज्ञासीत्कथं साक्षात्कारिणि तस्य स्वकर्त्तव्यतां लक्षणवाक्यादप्यवगच्छेत्, नह्यविदिताग्निरनुमानादप्यग्निसम्बन्धं बोधयितुं शक्यः। अथाज्ञासीत् तदा ज्ञातज्ञापनवैयर्थ्याल्लक्षणरूपमनुमानं निष्प्रयोजनम्॥ ५२॥

समर्थन—जो पुरुष साक्षात्कारित्व को अन्य हेतु (प्रत्यक्ष आदि) से जानते हैं; किन्तु साक्षात्कारित्व में प्रत्यक्षत्व व्यवहार के कारणत्व को नहीं जानते हैं, उनके प्रति प्रत्यक्षत्व व्यवहार का कारणत्व लक्षण से बोधित होता है। वह बोधन भी आप्तवाक्यरूप से नहीं होता है, किन्तु परार्थ अनुमानरूप से होता है। इसीसे लक्षण को व्यतिरेकी अनुमान हम लोग कहते हैं। वह अनुमान–श्रावण आदि प्रमिति वा साक्षात्कारी प्रमिति, प्रत्यक्षत्व से व्यवहर्त्तव्य हैं, साक्षात्कारित्वयुक्त होने से, जो प्रत्यक्षत्व से व्यवहर्त्तव्य नहीं है, वह साक्षात्कारी नहीं है, जैसे अनुमिति। साक्षात्कारीरूपपक्ष साक्षात्कारित्वरूप हेतुसे युक्त है तस्मात् उक्त साध्य (प्रत्यक्षत्व से व्यवहर्तव्यत्व) से युक्त है—एतादृश पञ्चावयव वाक्यरूप है। इस पञ्चावयव वाक्य को वादी आप्तवाक्यरूप से प्रयोग नहीं करता है; किन्तु पूर्वज्ञात व्याप्ति के स्मरण के अर्थ अथवा पूर्व अज्ञात व्याप्ति के (जिज्ञासा के उत्पादन द्वारा) उस काल में ही ज्ञान के लिये प्रयोग करता है, अतः कोई दोष नहीं है।

खण्डन—प्रत्यक्षत्व से व्यवहर्तव्य है—क्या इस वाक्य का प्रत्यक्षत्वप्रकारक ज्ञान विषयत्व अर्थ है? या प्रत्यक्ष शब्द से अभिधेय है यह अर्थ है। प्रथम पक्ष में यदि यह पुरुष प्रत्यक्षत्वप्रकारक ज्ञानविषयत्व को प्रथम से नहीं जानता है तो लक्षण वाक्य से साक्षात्कारी में कैसे जानेगा, कारण कि जो अग्नि को नहीं जानता है वह धूम से पर्वत में अग्नि को नहीं जान सकता है। यदि प्रथम से प्रत्यक्षत्वप्रकारक ज्ञानविषयत्व को जानता है, तो ज्ञात के ज्ञापन होने से अनुमान व्यर्थ है॥ ५२॥

समर्थन—जो पुरुष सामान्यरूप से जानता है कि प्रत्यक्ष व्यवहार का कुछ विषय है, परन्तु विशेषरूप से नहीं जानता कि प्रत्यक्ष व्यवहार का अमुक विषय है उसके प्रति यह अनुमान प्रयोग है।

खण्डन—व्यवहारमात्र के विषय को सामान्यरूप से जानता है, अथवा व्यवहार विशेष (प्रत्यक्षत्व व्यवहार) के सामान्य से निमित्तवत्ता को जानता है। प्रथमपक्ष में व्यवहार-

अथ सामान्यतो जानाति अस्ति कश्चिद्विषयः प्रत्यक्षव्यवहारस्य, विशेषतस्तु न जानाति तं प्रतीदमुच्यते । न । किं सामान्यतो निमित्तवत्तां व्यवहारमात्रस्य जानाति उत व्यवहारविशेषस्य । आद्ये प्रकृतानुपयोगः व्यवहारविशेषस्य चिन्त्यमानत्वात् । द्वितीये किंकृतोऽसौ व्यवहारस्य विशेष इति विकल्पितपक्षानुप्रवेशमन्तरेण न निस्तारः ॥ ५३ ॥

"एतेन सर्व्वस्यैव लक्ष्यस्य स्वीकारः परासनीयः ।

तथाहि—

नात्थापत्त्या प्रमामात्रात्ते तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः ।
तद्धियस्तदुरीकारे स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥ ३५ ॥
अथान्यः स विशेषश्चेत् तद्धीत्वं कश्चिदिष्यते ।
दत्तः साकारवादाय विष्टरः स्पष्टमेव तत् ॥ ३६ ॥
अर्थादुत्थास्नवो धर्मा नानुमात्वादयो यथा ।
तद्धीत्वमपि तद्वत्स्यादित्यर्थोऽनर्थमाविशेत् ॥ ३७ ॥
सोऽपि वा धीविशेषः किं स्वीकार्य्यस्तद्धियं विना ।
एवञ्च सोऽपि सोपीति नान्तः सोपानधावने ॥ ३८ ॥
समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः ।
का तदस्तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥ ३९ ॥
उपपादयितुं तैस्तैर्मतैरशक्नीययोः ।
अनिर्वक्तव्यतावादपादसेवागतिस्तयोः ॥ ४० ॥ ५४ ॥

मात्र की निमित्तवत्ता सामान्य से जानता भी हो तो उसका प्रकृत में कोई उपयोग नहीं है, कारण कि इदानीं व्यवहारविशेष (प्रत्यक्षत्व व्यवहार) की चिन्ता है । द्वितीय पक्ष में अर्थात् यदि कहें कि प्रत्यक्ष व्यवहार के सामान्य से निमित्तवत्ता जानता है तो यह विकल्प होता है कि प्रत्यक्ष व्यवहार में जो विशेष है वह प्रत्यक्षज्ञानकृत वा प्रत्यक्षशब्दकृत है और ऐसा विकल्प होने पर दोनों पक्षों में मूलकथित दोष हो जायगा ॥५३॥

इस अग्रिम युक्ति से भी लक्षणमात्र खण्डित है, देखिये—लक्षण से जायमान अनुमितिरूप प्रमामात्र से लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती है, कारण कि प्रमामात्र सब अर्थ साधारण है, अतः एक प्रमा से सब अर्थ की सिद्धि हो जायगी तथा लक्ष्यविशिष्ट प्रमा से भी लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती है, कारण कि लक्ष्यविशिष्ट प्रमा में लक्ष्य भी विशेषण है, अतः अंशतः लक्ष्य से लक्ष्य की सिद्धि होने से आत्माश्रय हो जायगा ।

समर्थन—लक्ष्यविशिष्ट बुद्धित्व, बुद्धि का ही धर्म्मविशेष है, लक्ष्य का वैशिष्ट्य नहीं है, अतः लक्ष्यविशिष्ट प्रमा से लक्ष्य की सिद्धि में आत्माश्रय नहीं है ।

खण्डन—यदि तद्विषयवैशिष्ट्य को बुद्धि का धर्म्म मानेंगे तो बुद्धि साकार हो जायगी, निराकार न रहेगी, कारण कि यावत् साकार घटादि से बुद्धि का अभेद न मानें तावत् घटादि स्पर्श वैशिष्ट्य, बुद्धि का धर्म्म नहीं हो सकता है ।

नापि द्वितीयः। तथा हि अयमनुमानार्थः स्यात्—श्रावणादिप्रतिपत्तयः प्रत्यक्षशब्दाभिधेयाः साक्षात्कारित्वादित्यादिः—सोऽपि न, यद्यसाक्षात्कारिण्यनुमानादौ तच्छब्दाप्रयोगमात्रात्साक्षात्कारिणि तच्छब्दप्रयोगः क्रियते तर्हि शशविषाणजवगडदशादिशब्दप्रयोगोऽपि साक्षात्कारिणि कर्त्तव्य एवाविशेषात्। अथ जवगडदशादिशब्दाः सामान्यतोऽर्थवत्तया न प्रसिद्धाः, क्वचिदप्यप्रयोगात्, शशविषाणादिशब्दाश्चासद्विषया एवेति सिद्धाः, प्रत्यक्षादिशब्दास्तु सद्विषयवत्तया सामान्यतः सिद्धाः, प्रत्यक्षमस्तीत्यादिप्रयोगदर्शनादित्यस्ति विशेष इति चेत् मैवम्। एतेनापि विशेषेण चाक्षुषादिशब्दानामव्यवच्छेदात् तेषामपि साक्षात्कारिमात्रे प्रयोगप्रसङ्गः। साक्षात्कारित्वे सत्यपि श्रावणादौ चाक्षुषादिशब्दानामप्रयोगो न त्वेवं प्रत्यक्षादिशब्दानामिति विशेष इति चेत्। एवं तर्हि यत्र साक्षात्कारित्वं नास्ति तत्र प्रत्यक्षशब्दप्रयोगो नास्ति, यत्र साक्षात्कारित्वमस्ति तत्र सर्वत्राऽस्तीति यो जानीते तं प्रति लक्षणाभिधानमिति स्यात्, स च व्यवहारान्तरवदन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव वाच्यवाचकभावमवधारितवानिति व्यर्थं लक्षणम्।

एतेनानुमित्यादिव्यवच्छिन्नतया व्यवहर्त्तव्यमित्यप्युक्तानुमानसाध्यतयाऽभिधीयमानमपास्तं वेदितव्यम् ॥ ५५ ॥

समर्थन—ज्ञान का स्वभाव केवल प्रकाशरूप है अतः ज्ञान का तद्धीत्व स्वाभाविक धर्म्म नहीं है; किन्तु अर्थ के सम्बन्ध से औपाधिक है, जैसे स्फटिक का लौहित्य। अतः ज्ञानगत विशेषधर्म्मके उत्पादन के अर्थ बाह्य अर्थ के आवश्यक होने से बौद्धमत का प्रवेश नही होगा।

खण्डन—जैसे अनुमात्व आदि धर्म, अर्थजन्य नहीं हैं, किन्तु लिङ्गपरामर्श से जन्य हैं-ऐसे ही तदर्थबुद्धित्व भी अर्थजन्य नहीं है, किन्तु अन्यजन्य ही है। अतः बुद्धि धर्म्मके आधान के लिये बाह्य अर्थ का उपयोग नहीं है। किञ्च बुद्धिगत तद्बुद्धित्वरूप धर्म्म की सिद्धि भी अतिप्रसङ्ग होने से प्रमामात्र से हो नहीं सकती, किन्तु तद्बुद्धित्वविशिष्ट प्रमा से ही होगी, अतः अंशतः आत्माश्रय हो जायगा, तथा तद्बुद्धित्वबुद्धि का भी तद्बुद्धिबुद्धित्वरूप धर्म्म की सिद्धि तद्बुद्धि से ही होगी, अतः अनवस्था का प्रसङ्ग हो जायगा शंका—यदि बाह्य अर्थ या तद्बुद्धित्व की सिद्धि न हो तो सम्पूर्ण लोकशास्त्रमें वर्तमान "अयंघटः" इस बुद्धि वा "घटेन जलमाहरेयम्" इस व्यवहार की सिद्धि कैसे होगी।

उत्तर—जब बाह्यपदार्थ के माननेवाले मतवादी बाह्यअर्थ का उपपादन नहीं कर सकते, तब बाह्य पदार्थ सत् नहीं है और प्रतीति होने से असत् भी नहीं, किन्तु सत् असत् से विलक्षण अनिवर्चनीय हैं इससे अन्य गति नहीं है ॥५४॥

द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है कारण कि द्वितीय कल्प में यह अनुमान का स्वरूप होगा कि श्रावणआदि प्रमा प्रत्यक्ष शब्द के अभिधेय हैं, साक्षात्कारी होने से, जो प्रत्यक्ष शब्द का अभिधेय नहीं है, वह साक्षात्कारी नहीं है जैसे अनुमिति—यह युक्त नहीं है, कारण कि असाक्षात्कारी अनुमिति में प्रत्यक्ष शब्द के अप्रयोग होने से ही साक्षात्कारी में प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग हो तो शशविषाण जव गड़दश आदि शब्द का भी प्रयोग साक्षात्कारी में करना चाहिये।

पूर्वप्रतिपन्नमेव वाच्यवाचकभावं लक्षणाभिधानेन स्मार्य्यत इति चेन्न, अवगतसमयस्य प्रत्यक्षशब्दादेव तत्स्मरणसम्भवात् व्यर्थता लक्षणाभिधानस्य स्यात् । अवगतशब्दार्थसम्बन्धः शब्दादेव स्मरन् यदि लक्षणेन स्मार्य्यते, तदा लक्षणवाक्यगतपदकदम्बार्थस्मरणार्थमपि तल्लक्षणमभिधानीयमविशेषादेवं तल्लक्षणवाक्येऽपीत्यपर्य्यवसानं स्यात् ।

ननु प्रतिवादिनं प्रति लक्षणाभिधानं नार्थवत् तेन वाद्याप्तभावानङ्गीकारात्; किन्तु शिष्यार्थं लक्षणमुच्यते शास्त्रे, स हि शास्त्रस्य कर्त्तारमाप्तमेव मन्यते, तस्मात् शिष्यं प्रत्याप्तवचनतयैव लक्षणवाक्यमर्थं प्रतिपादयिष्यति गुरुणा गीयमानम्, यस्त्वया साक्षात्कारिशब्दार्थः प्रतीतः स एव प्रत्यक्षशब्दार्थ इति, मैवम् । यदि वादिनं प्रति न शास्त्रं, किन्तु शिष्यं प्रति, तदा प्रतिज्ञामात्रादेवाप्तवचनात् शिष्यस्यार्थनिश्चयोत्पत्तेः हेत्वाद्यभिधानमनर्थकमापन्नं शास्त्रे ।

समर्थन—जवगड़दश आदि शब्द सामान्यतः अर्थवत्‌रूप से सिद्ध नहीं हैं; कारण कि किसी अर्थ में इनका प्रयोग नहीं होता है । तथा शशविषाण शब्द असत्‌विषय है और प्रत्यक्षशब्द सद्विषयत्वरूप से सामान्यरूप से सिद्ध है, कारण कि "प्रत्यक्षमस्ति" यह प्रयोग देखने में आता है यह विशेष है। अर्थात् सद्विषय और अर्थवद् होकर अनुमिति आदि में अप्रयुक्त होने से प्रत्यक्षशब्द का साक्षात्कारी में प्रयोग होता है, ऐसे जवगड़दश आदि शब्द नहीं हैं, अतः इनका साक्षात्कारी में प्रयोग नहीं होता।

खण्डन—ऐसा विशेष होनेपर चाक्षुषादि शब्द का भी साक्षात्कारीमात्र में प्रयोग हो जायगा, कारण कि चाक्षुषादि शब्द अर्थवत् सद्विषय होकर भी अनुमिति आदि में अप्रयुक्त हैं ।

यदि कहें कि साक्षात्कारीरूप श्रावण आदि में चाक्षुष शब्द का प्रयोग नहीं होता है और प्रत्यक्षशब्द का प्रयोग होता है प्रत्यक्ष और चाक्षुषशब्द में यह भेद है अर्थात् प्रत्यक्षशब्द अर्थवत् सद्विषय तथा साक्षात्कारीमात्र में प्रयुक्त होकर अनुमिति आदि में नहीं प्रयुक्त होता है, अतः साक्षात्कारीमात्र का वाचक है तो जिस अर्थ में साक्षात्कारित्व नहीं है वहां प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग नहीं है और जहां साक्षात्कारित्व है, वहां सर्वत्र प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग है—यह जो जानता है उसके लिए लक्षण का अभिधान है और वह पुरुष घटपट आदि शब्द के तुल्य अन्वय व्यतिरेक से ही प्रत्यक्ष शब्द के भी वाच्यवाचकभाव का अवगम कर सकता है, अतः लक्षण का अभिधान व्यर्थ है ।

इसी प्रकार साक्षात्कारी प्रमितिअनुमित्यादि व्यवच्छिन्नत्व रूप से व्यवहर्तव्य हैं, साक्षात्कारित्वयुक्त होने से इत्यादि कथन का खण्डन जानना चाहिये, कारण कि अन्वय व्यतिरेक से ही उक्त अर्थ सिद्ध है ॥५५॥

समर्थन—पूर्वज्ञात वाच्यवाचकभाव का स्मरण, लक्षण के अभिधान से पुरुष को कराया जाता है ?

खण्डन—जिस पुरुष को समय (सङ्केत) का ज्ञान हो चुका है, वह प्रत्यक्ष शब्द के श्रवण से ही सङ्केत का स्मरण कर सकता है, अतः उस पुरुष के सङ्केतस्मरणार्थ लक्षण का अभिधान व्यर्थ है ।

अथ भवतु तत्प्रतिवादिनमपि प्रति शास्त्रे वाक्यं यत्र हेत्वाद्युपात्तं, लक्षणवाक्यन्तु शिष्यमेव प्रति प्रयोजकं प्रतिपन्नशास्त्रकाराप्तभावमिति मन्यसे। तदप्यनुपपन्नम्। शास्त्रान्तरसाध्यत्वादस्यार्थस्य। अस्ति समयग्राहकं शास्त्रं मुनिभिः प्रणीतं नामलिङ्गानुशासनव्याकरणादि। यदि च शास्त्रान्तरसाध्योऽप्यर्थो भवदीयशास्त्रस्य विषयस्तर्हि प्रकृतिप्रत्ययविभागेन साधनमपि शब्दानां कुतो न व्युत्पाद्यते लिङ्गं वा शब्दानां कुतो नाभिधीयते, तदज्ञानेऽपि पराजयो जायत एव ॥ ५६ ॥

अथ वाऽस्तु व्याकरणादिविषयं विहाय नामव्युत्पादनं कथमपि भवच्छास्त्रस्य विषयस्, तथापि न्यूनतरत्वमस्मिन् विषये भवदीयशास्त्रस्य। बहूनि नामानि विद्यन्ते कोषान्तरवर्त्तीनि कुतो न व्युत्पादितानि तानीति। अथास्मिन् शास्त्रे येषां शब्दानामुपयोगस्तेषामनेन व्युत्पादनं न सर्वेषामित्युच्यते। तथापि यथैकवाक्यगतस्य पदस्य

यदि शब्द के श्रवण से ही सङ्केत का स्मर्ता लक्षणवाक्य से भी सङ्केत को स्मरण करता है, तो लक्षणवाक्यगत जो पदकदम्ब, उनके अर्थ के स्मरण के लिये भी तत् तत् लक्षण का अभिधान करना चाहिये, कारण कि जिस पद के श्रवण से सङ्केत स्मृत है उसके स्मरण के लिये भी आपको लक्षण करना है, फिर विशेष क्या है कि उन पदार्थों का लक्षण न किया जाय। इस प्रकार उस पदार्थ के लक्षणवाक्यगत अनेक पदार्थों के भी लक्षण करना होगा, अतः लक्षण के निर्माण की समाप्ति नहीं होगी।

समर्थन—प्रतिवादी के लिये लक्षण का अभिधान नहीं है, कारण कि वह वादी को आप्त नहीं मानता है; किन्तु शिष्य के लिये शास्त्र में लक्षण कहा है, कारण कि वह शास्त्रकर्ता को आप्त मानता है।

इस कारण गुरु से गीत लक्षणवाक्य आप्तवचन रूप से ही—जो तुम साक्षात्कारी शब्द का अर्थ जानते हो, वही प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ है—इस प्रकार अर्थ प्रतिपादन करता है ?

खण्डन—यदि वादी के लिये शास्त्र नहीं है, किन्तु शिष्य के लिये है, तो प्रतिज्ञामात्र से ही आप्तवचनरूप से शिष्य अर्थ का निश्चय कर लेगा, अतः शास्त्र में हेतु आदि का अभिधान अनर्थक हो जायगा।

समर्थन—जिस वाक्य में हेतु आदि का अभिधान हो वह शास्त्रीय वाक्य प्रतिवादी के लिये ही रहे, परन्तु लक्षणवाक्य तो उस शिष्य के लिये ही है, जो शास्त्रकर्ता को आप्त जानता है।

खण्डन—आपके कथन के अनुसार लक्षणनिर्म्माण का प्रयोजन सङ्केतग्रह हुआ, यह युक्त नहीं है, कारण कि यह अर्थ शास्त्रान्तरसाध्य है। मुनिओं के प्रणीत नामलिङ्गनुशासन व्याकरण आदि बहुत से शास्त्र शक्तिग्राहक हैं। यदि अन्य शास्त्र से साध्य अर्थ भी आपके शास्त्र के विषय हैं; तो प्रकृतिप्रत्यय के विभाग से शब्दों का साधन आप क्यों नहीं करते हैं तथा शब्दों के लिङ्ग का व्युत्पादन क्यों नहीं करते, कारण कि उनके अज्ञान से भी पराजय होता ही है ॥५६॥

यदि कहें कि व्याकरण के विषय को त्यागकर नाम व्युत्पादन हमारे शास्त्र का विषय है, तो भी इस विषय में भी आपके शास्त्र की न्यूनता ही है, कारण कि बहुत से नाम कोशों में हैं, फिर उनका भी व्युत्पादन आपने क्यों नहीं किया। यदि कहें कि जिन शब्दों का प्रकृत-

लक्षणव्युत्पादनमेवं तल्लक्षणवाक्यगतपदस्यापीत्यपर्य्यवसानमापतितं शास्त्रस्य, तत्तल्लक्षणवाक्यप्रयोग एव तेषां तेषां पदानां शास्त्रे जातोपयोगत्वात्। अथ नानालक्षणप्रणेतॄणां वादिनां विप्रतिपत्तेः प्रत्यक्षादिशब्दार्थ एव व्युत्पाद्यते संशयनिरासाय नान्योऽसंशयत्वादिति मन्यसे, तथाप्यनुपपत्तिः। अस्ति हि वादीनामर्थे वाच्यताद्योत्यताविवादः, अस्ति च छिदुरादिपदानामर्थे कर्मकर्तृत्वाकर्मकर्तृत्वे विवादः, अस्ति च भावशब्दस्य स्वरूपसत्त्वसत्तासामान्याद्यर्थत्वे, अस्ति चाधिकरणशब्दार्थस्य पतनप्रतिबन्धकत्वसमवायित्वादौ। एवमन्यस्मिन्नपि बहौ पदार्थे जाग्रति विप्रतिपत्तयस्तल्लक्षणानि कस्मान्नोक्तानि तदास्तामेकत्र विस्तराभिनिवेशः॥ ५७॥

शास्त्र में उपयोग है, उनका ही निरूपण किया है, अन्य का नहीं, तो जैसे एकवाक्यगत पद का लक्षण (अर्थ व्युत्पादन) है, वैसेही उस लक्षणवाक्यगतपद का भी लक्षण करना होगा इस रीति से शास्त्र का पर्यवसान नहीं होगा, कारण कि उन २ लक्षणवाक्यों के प्रयोग में ही उन २ पदों का उपयोग है।

समर्थन—नानाप्रकार-लक्षणप्रणेता वादिओंकी प्रत्यक्षादि लक्षण में विप्रतिपत्ति होनेसे सन्देह के निरास के अर्थ प्रत्यक्षादि शब्द के अर्थ का ही निरूपण करते हैं अन्य का नहीं, कारण कि अन्यत्र सन्देह नहीं है ?

खण्डन—यदि सन्दिग्ध का ही निरूपण करना है तो च वा आदि निपात के अर्थ में वाच्यत्वद्योत्यत्व का विवाद है, तथा छिदुर आदि शब्द में कर्तृ प्रत्यय है, वा कर्मकर्तृ प्रत्यय है, यह विवाद हैं, एवम् भावशब्द स्वरूप सत् का वा सत्तासामान्य विशिष्ट का वाचक है यह विप्रतिपत्ति है, तथा अधिकरण शब्द द्रव्य समवायी का वाचक है या पतनप्रतिबन्धक वस्तु का वाचक है, यह विवाद है एवम् अन्य बहुत से पदार्थों में विप्रतिपत्ति है, फिर उन सबका निरूपण आप क्यों नहीं करते—तस्मात् एकत्र विस्तार का अभिनिवेश व्यर्थ है॥ ५७॥

किञ्च जिस साक्षात्कारित्व को प्रत्यक्ष का लक्षण कहते हैं वह साक्षात्कारित्व क्या है।

समर्थन—वर्त्तुलत्व पृथुबुध्नोदरत्व आदि विशेष से सहित जो घटादि अर्थ उसका ज्ञान साक्षात्कारी है।

खण्डन—विशेष के साहित्य को यदि उपलक्षण मानें, अर्थात् विशेष जिसमें स्वरूप से रहता हो, विशेष भी ज्ञान में भासता हो यह नियम नहीं है, यदि ऐसा मानें, तो अनुमिति आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि अनुमिति के विषय वह्नि आदि में भी वस्तुरूपसे विशेष विद्यमान ही हैं। यदि विशेष के साहित्य को विशेषण मानें तो विशेषश्रृङ्खला (परम्परा) का कहीं विश्राम माननेपर जिस विशेष में अन्य विशेष नहीं है उस विशेष का ज्ञान, प्रत्यक्ष न होगा, अतः उस विशेष अंश में उस विशेष से विशिष्ट का ज्ञान भी प्रत्यक्ष न कहावेगा, एवम् मूलप्रत्यक्ष-पर्यन्त उस विशेष अंश में प्रत्यक्षता नहीं होगी। यदि विशेषश्रृङ्खला का विश्राम नहीं मानें तो अनवस्था दोष का प्रसङ्ग होगा। किञ्च सब विशेष स्वविशेष के साथ ही प्रत्यक्ष में भासेंगे और यावत् विशेषविशिष्ट साध्यसाधन में ही व्याप्तिग्रह होने से अनुमिति में भी यावत् विशेष का भान हो जायगा, अतः अनुमिति में प्रत्यक्षत्व हो जायगा॥५८॥

किञ्च तत्साक्षात्कारित्वम् ?। सविशेषार्थप्रकाशत्वमिति चेन्न। सविशेषत्वस्योपलक्षणत्वेऽनुमानादिव्याप्तिः। विशेषणत्वे च यदि विशेषशृङ्खलाया विश्रान्तिस्तदाशेषविशेषस्य बोधे प्रत्यक्षलक्षणक्षीणत्वेनाऽऽमूलमप्रत्यक्षतापातः। यद्यविश्रान्तिस्तदा तादृशस्यैव व्याप्तिग्रहादनुमायामपि तादृशीसिद्धिरिति साक्षात्कारित्वापत्तिः ॥५८॥

अथाननुगमात्तत्र न तदनुमा, तर्हि तदनुगतप्रतीत्याद्यनुपपत्तिः व्यक्तेरनुमानादसिद्ध्यापत्तिश्च। यथा हि व्यक्तिं विना सामान्यस्य, तथा तावत् तं विशेषं विना व्यक्तरेप्यनुपपत्त्यविशेषात्। यदि च प्रतीत्यपर्य्यवसानाभावात्पक्षधर्मतया नानन्तविशेषसिद्धिरिति मन्यसे तदा प्रतीतापर्य्यवसानात्तद्बुद्धिः साक्षात्प्रकाशः स्यात्।

अप्रतिपद्यमानान्तविशेषप्रकाशकल्पनाचैकाकिसाक्षात्त्वनामकविशेषकल्पनैवाल्पत्वात् श्रेयसितरा। साक्षात्त्वव्यवहारान्यथानुपपत्तेः कल्पनाबीजस्य तावताऽपि चरितार्थत्वादिति कृत्वा तत् कल्पनाऽपि नात एव, विस्तरश्चात्र वक्ष्यते ॥५९॥

समर्थन—विशेष अनन्त हैं, उनमें एक अनुगत रूप नहीं है, अतः अनुमिति में उनका भान नहीं होगा।

खण्डन—यदि विशेष का अनुमिति में भान नहीं होता है, तो व्यापक विशेष विषयक "अग्निमान् अयम्" इत्याकारक प्रतीति वा व्यवहार नहीं होना चाहिये।

किञ्च व्यक्ति की सिद्धि भी अनुमिति में नहीं होगी। यदि कहें कि व्यक्ति का भान, सामान्य के भान के विना अनुपपन्न है, अतः सामान्य विषयक अनुमिति में व्यक्ति भी भासती है, तो तावत् विशेष के विना व्यक्ति भी अनुपपन्न ही है; अतः व्यक्तिविषयक अनुमिति में तावत् विशेष के भान का प्रसङ्ग हो जायगा। यदि कहें कि विशेष के भान के बिना भी व्यक्ति का भान हो सकता है, अतः अनुपपत्ति के न होने से विशेष का भान अनुमिति में नहीं होता है, तब व्यक्ति भी विशेष के बिना अनुपपन्न है, अतः व्यक्ति की अनुपपत्ति से जो विशेष की कल्पना है, वह विशेषविषयक होने से प्रत्यक्ष हो जायगी। किञ्च साक्षात्त्व व्यवहार की उपपत्ति विषयनिष्ठ एक साक्षात्त्वधर्म्म की कल्पना से ही सिद्ध है, फिर अनन्त विशेष की कल्पना में कुछ प्रमाण भी नहीं है।

समर्थन—विशेष की सिद्धि अप्रस्तुत है, अतः उसकी असिद्धि से कोई हानि नहीं है, प्रस्तुत प्रत्यक्ष का लक्षण है उसकी उपपत्ति साक्षात्त्व की कल्पना से हो सकती है।

खण्डन—यदि प्रत्यक्षत्व व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति से अर्थगत साक्षात्त्व की कल्पना वा अनुमिति आप करें, तो वह कल्पना वा अनुमिति साक्षात्त्वविषयक होने से प्रत्यक्ष होजायगी। किञ्च अनिर्वचनीय साक्षात्त्व से ही साक्षात् व्यवहार की उपपत्ति है, अतः अर्थगत वस्तुभूत साक्षात्त्व में कुछ प्रमाण भी नहीं है। इस विषय को विस्तार से आगे कहेंगे ॥५९॥

किञ्च यदि स्व से जो इतर उससे व्यवच्छेद—भेद को विशेष कहें तो निर्विकल्पक ज्ञान में इतर व्यवच्छेद का भान नहीं होता है, अतः उसमें अव्याप्ति होजायगी। यदि इतर व्यावृत्तस्वरूप को विशेष कहें और निर्विकल्प में इतर व्यावृत्तस्वरूप के भान होने से अव्याप्ति का अभाव कहें, तो भी दूर से सामान्य रूप से प्रत्यक्ष में अर्थात् 'चयस्त्विपा-

विशेषश्च यदि व्यवच्छेदस्तदा निर्विकल्पकाव्याप्तिः । यदि च विश्वव्यावृत्त-स्वरूपप्रकाशात् सोऽपि तथा, तदा दूरे सामान्यप्रत्यक्षस्याप्रत्यक्षत्वापातः तत्र जगद्वैलक्षण्यप्रकाशे संशयाद्यनुपपत्तेः। यदि तत्रापि प्रतिपत्त्रादिव्यवच्छेदमात्रप्रकाशाद्विशेषप्रकाशत्वमेव तदाऽनुमित्यादिव्याप्तिः ।

अथ इन्द्रियकरणकानुभूतित्वम् , तन्न। साक्षात्कारिधीकरणस्यैवेन्द्रियत्वेनान्योन्याश्रयत्वापत्तिरिति केचित् । तन्न अज्ञातप्रमाकरणत्वस्य भावत्वविशेषितस्येन्द्रियत्वनिरुक्तेः सम्भवात् । विना कार्य्यगतविशेषसिद्धिं किं प्रति करणत्वमेव ज्ञेयमिति तु बाधः साधीयान् ॥६०॥

मित्यवधारितं पुरा' इत्यादि प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि सामान्य प्रत्यक्ष में स्व से इतर यावत् पदार्थ से व्यावृत्तत्व रूप से स्वरूप नहीं भासता है, अन्यथा सामान्य प्रत्यक्ष के उत्तर सन्देह विपर्य्यय कहीं नहीं होगा। यदि किञ्चित् प्रतिपत्ता (ज्ञाता) आदि से व्यावृत्तत्व रूप से स्वरूप की प्रतीति होती है, अतः सामान्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानें तो अनुमिति में भी प्रतिपत्तादि से व्यावृत्तत्व रूप से ही वह्न्यादि स्वरूप के भान होने से वह अनुमिति भी प्रत्यक्ष हो जायगी।

समर्थन—जिस ज्ञान का करण इन्द्रिय हो वह प्रत्यक्ष है इस लक्षण में "प्रत्यक्ष ज्ञान का जो करण वह इन्द्रिय है" ऐसा इन्द्रिय के लक्षण होने से अन्योन्याश्रय दोष देते हैं; परन्तु यह युक्त नहीं है, कारण कि अज्ञात रूप से जो प्रमा का करण हो वह इन्द्रिय है या अज्ञात रूप से भावरूप जो प्रमा का करण हो वह इन्द्रिय है ऐसा इन्द्रिय का लक्षण हो सकता है।

खण्डन—इस लक्षण में कार्य्यभूत प्रमा का भी निवेश है; अतः यावत् प्रमा का ज्ञान न हो तावत् उक्त लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता है और यदि प्रमा का ज्ञान (अन्य) किसी चिह्न से मानें तो वही चिह्न लक्षण रहे, यह लक्षण व्यर्थ है; कारण कि लक्ष्य का ज्ञान-रूप लक्षण का प्रयोजन अन्य से ही सिद्ध हो गया ॥ ६० ॥

समर्थन—अपरोक्ष व्यवहार का हेतु विलक्षण जो अर्थनिष्ठ ज्ञातता उसका जनक ज्ञान प्रत्यक्ष है।

खण्डन—जनकप्रमा में ऐकरूप्य (अवच्छेदक धर्म्म) का यावत् ज्ञान न हो तावत् जनकत्व के ज्ञान के न होने से जनकत्वघटित उक्त लक्षण का ज्ञान नहीं होगा। यदि कहें कि अनुमिति के विषयनिष्ठ ज्ञातता से विलक्षण ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से प्रमागत विलक्षण ऐक्य का आक्षेप होगा तो इन्द्रिय परामर्श आदि कारण के वैलक्षण्य से ज्ञातता के वैलक्षण्य की उपपत्ति होने से अन्यथा अनुपपत्ति ही नहीं है।

समर्थन—मेय (अर्थ) से जन्य जो ज्ञान वह प्रत्यक्ष है।

खण्डन—आत्मरूप मेय से सबज्ञान जन्य है अतः सबज्ञान प्रत्यक्ष हो जायेंगे।

समर्थन—स्वमेय से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है, आत्मा स्वमेय नहीं है, अतः अन्य ज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डन—यदि स्वशब्द को तत्तद् ज्ञानव्यक्तिपरक मानें तो जिस ज्ञान व्यक्ति का स्वशब्द सेउपादान करेंगे उस व्यक्ति से अन्यत्र अव्याप्ति हो जायगी और यदि स्वशब्द से ज्ञानमात्र का उपादान करें तो यत्किञ्चित् ज्ञान का विषय आत्मा भी है, अतः ज्ञानमात्र प्रत्यक्ष हो जायँगे।

एतेन ज्ञातता काचिद्विलक्षणा तज्जनकत्वं ज्ञानस्य साक्षात्त्वमिति निरस्तम्। ऐकरूप्यान्यवस्थितौ कारणत्वानवधारणात्। नच ज्ञाततावैलक्षण्यान्यथानुपपत्तेरेव तत्सिद्धिः कारणान्तरवैलक्षण्यादेव तदुपपत्तेः

नापि मेयजनितत्वमतिप्रसङ्गात्। स्वमेयजत्वे च स्वार्थव्याप्त्याऽननुगमात्, पूर्वदोषानिवृत्तेश्च।

अथ येन प्रमिते सति न प्रमित्सा पुनर्भवति तज्ज्ञानं साक्षात्कारीति तन्न। प्रत्यक्षावगतेऽपीष्टे तनयादौ प्रमित्सादर्शनात्। अथ यदनन्तरं न विजातीयप्रमित्सा तद्भावस्तथात्वम्, तन्न। तत्साजात्यानवगतौ तद्विजातीयानवगतेररिसम्पद्यनुमादिविषयार्थां प्रत्यक्षयितुमनिष्टेश्च। प्रत्यक्षावगतेऽपि दहने रक्ताशोकस्तवकसन्देहे धूमदर्शनेन वह्नेरनुमीयमानत्वादित्यप्येके ॥६१॥

अज्ञायमानासाधारणकारणकानुभवत्वं कारणविशेषणीकृतभावत्वं वा साक्षात्कारित्वमिति चेन्न। दीर्घादिप्रत्यक्षाव्यापनात् तत्रावधिप्रभृतेः प्रतीयमानस्यापेक्षणात्।

समर्थन—जिस ज्ञान से प्रमित अर्थ की पुनः प्रमित्सा (यथार्थ ज्ञान की इच्छा) न हो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

खण्डन—पुत्र आदि अतिप्रियवस्तु का एकवार अवलोकन होनेपर भी पुनः अवलोकन की इच्छा होती है, अतः पुत्र आदि के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—जिस ज्ञान से प्रमित वस्तु में विजातीय प्रमिति की इच्छा न हो, वह प्रत्यक्ष है, पुत्रदर्शन के बाद पुनः दर्शन की इच्छा होने पर भी विजातीय अनुमिति आदि की इच्छा नहीं होती है, अतः पुत्रावलोकन में अव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—यावत् प्रत्यक्षनिष्ठ समान जाति का ज्ञान न हो तावत् प्रत्यक्ष के विजातीयत्व से घटित उक्त लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता है और यदि उक्त लक्षण से साजात्य का ज्ञान मानें तो उक्त लक्षण से साजात्य ज्ञान तथा साजात्य के ज्ञान से उक्त लक्षण का ज्ञान इस रीति से अन्योन्याश्रय हो जायगा। यदि अन्य से साजात्य का अवगम हो तो प्रथम उपस्थित (ज्ञात) होने से वही लक्षण रहे यह लक्षण व्यर्थ है। किञ्च शत्रुधन की अनुमिति होने पर भी विजातीय प्रत्यक्ष ज्ञान की इच्छा नहीं होती, अतः उसकी अनुमिति में अतिव्याप्ति हो जायगी। किंच जहाँ प्रत्यक्ष से वह्नि का सामान्य से अवगम हो गया हो वहां भी वह्नि में रक्ताशोक के स्तवक (गुच्छ) के सन्देह होने पर धूम से अनुमिति होती है, अतः उस प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी॥ ६१ ॥

समर्थन—जिस अनुभव का असाधारण कारण अज्ञात हो, वह प्रत्यक्ष है अथवा (जो अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानते हैं, उनके मत में अभाव प्रमा में प्रत्यक्ष लक्षण की अव्याप्ति के वारण के अर्थ असाधारण कारण में भावत्व विशेषण देकर द्वितीय लक्षण का प्रणयन है) जिस अनुभव का भावरूप असाधारण कारण अज्ञात हो वह प्रत्यक्ष है।

खण्डन—"अयं दण्डो ह्रस्वः" "अयं दीर्घः" इस प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी; कारण कि इस प्रत्यक्ष में अवधिज्ञान की अपेक्षा है।

समर्थन—इस प्रत्यक्ष में ज्ञात अवधि कारण नहीं है, किन्तु अवधि का ज्ञान कारण है; क्योंकि अतीत अनागत अवधि से भी ह्रस्वादि का ज्ञान होता है।

नावधिस्तत्र ज्ञायमानस्तथा, अवधिज्ञानं तु स्यात् अतीतादावप्यवधौ तथाप्रत्ययादिति चेत्, तुल्यं लिङ्गे धूमादावपि, धूमदर्शनात्तत्राग्निरासीदिति पश्चादप्यनुमानात् । ज्ञानविशेषणतया तु ज्ञेयहेतुता तुल्यैवेति ।

असाधारणकारणगिरा करणमभिमतमिति चेन्न । अनुमितभाविलिङ्गकभाविलिङ्ग्यनुमितावसतो लिङ्गस्य करणत्वासम्भवेन ज्ञायमानकरणकत्वाभावात् ।

लिङ्गज्ञानं तावत्करणं, तच्च स्वप्रकाशवादिनो मम ज्ञायमानमेव तत्रेति चेन्न । तस्यापि ज्ञायमानतया करणकोटिप्रवेशे प्रमाणाभावात् उक्तप्रत्ययानां तथात्वाभावात् ॥६२॥

अन्यथासिद्धस्यापि ज्ञायमानत्वस्यावर्ज्जने चक्षुराद्यनुमित्यनन्तरं दैवोपजातघटादिप्रत्यक्षाव्यापनात् ।

खण्डन—अतीत अनागत धूमस्थल में वह्नि की अनुमिति होने से ज्ञात धूम भी अनुमिति का करण नहीं है; किन्तु धूम का ज्ञान ही अनुमिति का करण है, अतः अनुमिति के अज्ञातकरणक न होने से प्रत्यक्ष लक्षण की अनुमिति में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—धूमज्ञान का विशेषण धूम ज्ञात ही अनुमिति का करण होता है; अतः ज्ञातकरणक होने से अनुमिति में अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

खण्डन—अवधि ज्ञान का विशेषण अवधि भी ज्ञात ही कारण होता है, अतः ह्रस्वादि प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—असाधारण कारणशब्द, करणपरक है और अवधिज्ञान ह्रस्वादिप्रत्यक्ष में करण नहीं है; किन्तु इन्द्रिय करण हैं, और वे अज्ञात ही है; अतः ह्रस्वादि प्रत्यक्ष में अव्याप्ति नहीं है ।

खण्डन—जिस यज्ञशाला में होम सामग्री से भावी धूम की अनुमिति करके पश्चात् वह्नि की अनुमिति होती है, वहां पर उस काल में असत् धूम, हेतु हो नहीं सकता है, किन्तु धूमज्ञान ही करण है और वह अज्ञातही करण होताहै; अतः उस अनुमिति में अतिव्याप्ति होजायगी ।

समर्थन—लिङ्गज्ञान करण है और वह स्वप्रकाश होने से ज्ञात ही करण होता है, अतः अनुमिति में ज्ञातकरणक होने से अतिव्याप्ति नहीं है ।

खण्डन—लिङ्गज्ञान अनुमिति में ज्ञातरूप से करण है इसमें कुछ प्रमाण नहीं है । यदि कहें कि स्वप्रकाश होने से लिङ्गज्ञान ही स्व के ज्ञातरूप से करण होने में प्रमाण है तो यह युक्त नहीं है, कारण कि स्वप्रकाश होने से ईयत्मात्रही सिद्ध होगा कि अनुमिति के जननकाल में लिङ्गज्ञान, ज्ञात रहता है। ज्ञातरूप से करण है यह बात सिद्ध नहीं हो सकती है ॥६२॥

समर्थन—लिङ्गज्ञान ज्ञातरूप से करण न हो अनुमिति के जननकाल में ज्ञात तो होता ही है, इससेही ज्ञातकरणक होने से अनुमिति में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

खण्डन—जिस स्थल में रूप का प्रत्यक्ष करणजन्य है, कार्य्य होने से, घटादि के तुल्य—इस प्रकार से चक्षुरादि की अनुमिति होती है वहां दैववश से या रूप के प्रत्यक्षरूप प्रमाण के बल से घटादि प्रत्यक्ष भी कदाचित् होता ही है, अतः उस प्रत्यक्ष में [ज्ञात करणक होने से] अव्याप्ति हो जायगी । तस्मात् आप कहेंगे कि जिस ज्ञान का करण अन्यथासिद्ध ज्ञान का अविषय हो वह प्रत्यक्ष है, तब तो धूमज्ञान भी [ज्ञात रूप से करण न होने से अनन्यथासिद्ध ज्ञान का] अविषय है, अतः अनुमिति में अतिव्याप्ति होजायगी ।

नियमेनेति चेन्न। विधौ वैयर्थ्यात्। नियमेन निषेधस्य विशेषणे दैवादवगतेन्द्रियज्ञानानन्तरजप्रत्यक्षसम्भवादसिद्धिः। विधौ करणत्वप्रविष्ट एवायं नियमो निरुच्यत इति चेन्न। तथाऽपि वैयर्थ्यादेव। अन्यथाऽतिप्रसक्तेरवैयर्थ्यमिति चेन्न, तथाप्यतिप्रसक्तेरेव। नहि रसादिसाक्षात्कारे रूपादिर्हेतुः। अन्यथासिद्धेर्नेति चेन्न। तुल्यत्वादनुमानेऽपि॥६३॥

किंच यत्र निषेधस्तद्गतमैकरूप्यं निरूप्यमन्यथा किमादाय नियमो निरूप्येतेति कार्यगतैकरूप्यमनभिधाय न निस्तारः। विनाऽपि च नियमपदप्रवेशं कार्यगतैकरूप्यमनिरूप्याऽनिस्तार एव। ज्ञायमानं नात्र करणमिति हि यदि कार्यव्यक्तिमभिसन्धाय तदा तत्पूर्वं प्रतीतानां तत्राकारणत्वं दुरवधारणं ततस्तज्जातीये तज्जातीयव्यभिचारप्रतिसन्धानेऽवश्यं यतनीयमिति। अथाऽव्यवहितार्थप्रमात्वं तथा, तर्हि किमपेक्ष्याव्यवधानम्। किञ्च तदिति वाच्यम्। इन्द्रियमपेक्ष्य तत् असन्निकर्षश्च तदिति चेत्। तर्हीन्द्रियसन्निकृष्टप्रकाशत्वमिति कुटिलिकार्थः, स चानुपपन्नः स्वविलोचनगोलकानुमानव्याप्तेः।

समर्थन—लक्षण में नियम के निवेश होने से चक्षुरादि की अनुमिति के उत्तर जायमान घट के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—जिस ज्ञान का करण नियम से ज्ञात न हो वह प्रत्यक्ष है इस प्रकार नियम ज्ञान रूपविधि (भाव) का विशेषण है अथवा नियम से अज्ञात है जिस ज्ञान का करण वह प्रत्यक्ष है, इस प्रकार नियम, ज्ञात के अभावरूप निषेध का विशेषण है। यदि नियम को विधि का विशेषण कहें तो नियम का निवेश व्यर्थ है, क्योंकि नियतपूर्ववर्ती को ही करण कहते हैं, अतः करण के लक्षण में नियम के प्रवेश होने से पृथक् नियम निवेश व्यर्थ है।

समर्थन—यदि—जिसका करण ज्ञात न हो वह प्रत्यक्ष है—ऐसा ही लक्षण करें, नियम का पृथक् निवेश न करें तो ज्ञान के उपलक्षण होने से ज्ञान में करणत्व का निषेध नहीं होगा।

खण्डन—नियम का पृथक् निवेश न करिये उसका पृथक् निवेश व्यर्थ है, क्योंकि ज्ञान को विशेषण न रखने में कोई हानि नहीं है।

समर्थन—ज्ञान को विशेषण न मानें तो ज्ञान में करणत्व के निषेध न होने से इन्द्रिय की अनुमिति के बाद दैववश ज्ञात घट प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी; अतः ज्ञान के विशेषणत्वबोधन के अर्थ पृथक् नियम का निवेश अवश्य होना चाहिये।

खण्डन—रस साक्षात्कार में रूप करण है और वह ईश्वर के ज्ञानविषय होने से नियम से ज्ञात है। अतः रससाक्षात्कार में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—रससाक्षात्कार में रूप अन्यथासिद्ध है, करण नहीं है, अतः अव्याप्ति नहीं।

खण्डन—अनुमिति का परामर्श भी ज्ञात करण नहीं है अतः अतिव्याप्ति हो जायगी। यद्यपि परामर्श स्वप्रकाश होने से ज्ञान ही रहता है, तथापि ज्ञातत्वेन कारण न होने से परामर्श का ज्ञान अन्यथासिद्ध है, करण नहीं है।

नियम से जिसका करण अज्ञात हो वह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षुरादि की अनुमिति के बाद दैववश जात घट प्रत्यक्ष में व्यभिचार होने से अव्याप्ति हो जायगी॥६३॥

ज्ञानाजन्यज्ञानत्वं तदिति चेन्न । सविकल्पकविशेषाव्यापनात् । एतेन विषयान्तरज्ञानाजन्यत्वं तदिति प्रत्युक्तम् । सविकल्पकस्याधिकव्यवच्छेदरूपविषयत्वात् तदवधिज्ञानजन्यत्वात् ॥६४॥

स्वविषयानन्तर्गतार्थज्ञानाजन्यधीत्वं तत्, नच सप्रतियोगिकार्थप्रत्यक्षाव्याप्तिः प्रतियोगिनोऽपि विशिष्टार्थप्रविष्टस्य तत्ताया इव प्रत्यभिज्ञायां प्रत्यक्षविषयत्वोपगमात्,

---

किञ्च जिस प्रत्यक्षज्ञान के करण में ज्ञातत्व का निषेध आप करते हैं, उस ज्ञान में यावत् ऐकरूप्य का निरूपण (ज्ञान) न हो, तावत् किस धर्म को उद्देश्यता का अवच्छेदक मान कर निषेध करेंगे। अतः प्रत्यक्षगत ऐकरूप्य के निरूपण के विना उक्त लक्षण का निर्वाह नहीं हो सकता है। नियम का अनिवेश कर भी यावत् ऐकरूप्य का ज्ञान न हो, तावत्–जिस ज्ञान का करण अज्ञात हो वह प्रत्यक्ष है इस लक्षण का निर्वाह नहीं हो सकता है, कारण कि यदि जिस प्रत्यक्ष व्यक्ति का करण ज्ञात न हो वह प्रत्यक्ष है, इस प्रकार से व्यक्ति-घटित लक्षण करें तो इन्द्रिय की अनुमिति के उत्तर जात घटादि प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी। अतः यद्ज्ञानजातीय का करणजातीय ज्ञात न हो इस प्रकार से ही व्यभिचार (प्रत्यक्ष के करण में ज्ञानत्व का निषेध) का प्रतिसन्धान आप कहेंगे और वह प्रत्यक्षत्व ज्ञान के विना हो नहीं सकता है।

निर्वचन—अव्यवहित जो अर्थ उसकी प्रमा, प्रत्यक्ष है।

खण्डन—इस लक्षण में अव्यवधान क्या वस्तु है और किसकी अपेक्षा से अव्यवधान अभिप्रेत है, यदि इन्द्रिय की अपेक्षा से अव्यवधान का ग्रहण करें और सन्निकर्ष को अव्यवधान कहें तो इन्द्रियसन्निकृष्ट अर्थ का प्रकाश प्रत्यक्ष है यह कुटिलिका (वक्रोक्ति) का सरल अर्थ हुआ। वह स्वविलोचन के गोलक की अनुमिति में प्रतिव्याप्ति होने से अयुक्त है।

निर्वचन—ज्ञान से अजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है।

खण्डन—ज्ञान से यदि ज्ञानसामान्य का ग्रहण करें तो निर्विकल्पक ज्ञान से जन्य होने से सविकल्पक ज्ञानमात्र में अव्याप्ति हो जायगी। यदि ज्ञानपद से सविकल्पक ज्ञान का ग्रहण करें तो भी अभाव आदि का ज्ञान, सविकल्पक—प्रतियोगीज्ञान से जन्य होता है, अतः उसमें अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—स्वविषय से अन्य जो विषय उसके ज्ञान से अजन्य जो ज्ञान वह प्रत्यक्ष है।

खण्डन—सविकल्पक ज्ञान भी स्वविषय–अतद्व्यावृत्ति से अन्य जो वस्तुमात्र, तद्विषयक निर्विकल्पक ज्ञान से जन्य होता है, अतः सविकल्पक में अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च अतद्व्यावृत्ति तद्भिन्न भेद है और भेदज्ञान नियमतः प्रतियोगी ज्ञान से जन्य होता है, अतः अतद्व्यावृत्ति विषयक सविकल्पक ज्ञान के प्रतियोगी ज्ञान से जन्य होने से उसमें अव्याप्ति हो जायगी ॥६४॥

समर्थन—स्वविषय के अनन्तर्गत जो अर्थ, तद्विषयक ज्ञान से अजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है इस लक्षण के—प्रतियोगी ज्ञान से जन्य अभाव ज्ञान में—अव्याप्ति नहीं है, कारण कि जैसे प्रत्यभिज्ञा में तत्ता भासती है, वैसे ही अभावज्ञान में प्रतियोगी भी भासता है, अतः प्रतियोगी स्वविषय के अनन्तर्गत नहीं है, अथवा स्वविषय के अनन्तर्गत जो प्रतियोगी से भिन्न अर्थ उससे अजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है इस निवेश में कोई दोष नहीं है।

अप्रतियोगित्वेन विशेषणाद्वेति चेन्न । स्वपदेनैव द्वारीकृतत्वात्, कार्यव्यक्तावजन्यताया दुरवधारणत्वाच्च । तज्जातीये तज्जातीयव्यभिचारशङ्काग्रहे च कार्य्यैकजात्ये च पूर्ववत्पतनमिति ॥६५॥

स्वकालावच्छिन्नार्थबोधत्वं साक्षात्त्वमित्यपि न । स्वार्थाविवेचनात् । कथञ्चानुमानादिव्यवच्छेदः । तत्र व्याप्त्यादिप्रविष्टकालनियतार्थत्वं, यत्रापि चन्द्रोदयसमुद्रवृद्ध्यादौ स्वकालार्थत्वं तत्रापि व्याप्तिप्रविष्टतैव तादृशत्वस्य प्रयोजिकेति चेन्न । कथमप्यस्तु तथापि स्वकालावच्छिन्नार्थत्वस्य सम्भवात् । नच यज्जातीयमेवमेवेति विशेषः साजात्यस्य वैलक्षण्यस्याग्रतः सिद्धौ किमन्येन । न च तदपीति वक्ष्यते । व्याप्त्यादिकमन्तरेणेति चेन्न । तस्यैव समर्थत्वेन स्वकालकथावैयर्थ्यात् । यथाच न तदपि तथा वक्ष्यते ।

खण्डन—स्वपद को यदि ज्ञानसामान्यपरक मानें तो ज्ञान के विषय के अनन्तर्गत जो अर्थ तद्विषयक ज्ञान से अजन्य होने से अनुमित्यादि में अव्याप्ति होजायगी। अथवा ज्ञान के विषय के अनन्तर्गत जो अर्थ तद्विषयक ज्ञान की असिद्धि होने से असम्भव हो जायगा। यदि स्वपद को ज्ञानव्यक्तिपरक कहें तो जिस ज्ञानव्यक्ति का स्वपद से उपादान करेंगे उससे अन्य व्यक्ति में अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च अन्वयव्यतिरेक से कार्य्यकारणभाव गृहीत होता है और यदि कारणव्यक्ति का कार्य्यव्यक्ति में अन्वयव्यतिरेक से कार्य्यकारण-भाव का ग्रहण मानें तो इन्द्रियानुमितिरूप ज्ञान का स्व से उत्तर दैववश से जात घटप्रत्यक्ष व्यक्ति में अन्वय व्यतिरेक होने से उक्त प्रत्यक्ष में ज्ञान के अजन्यत्व का ग्रहण नहीं होने से अव्याप्ति हो जायगी। यदि ज्ञानजातीय के प्रत्यक्षजातीय में अन्वयव्यतिरेक के न होने से ज्ञान से अजन्यत्व का ग्रहण प्रत्यक्ष में मानें तो लक्षण के ज्ञान से पूर्व प्रत्यक्षत्व का ग्रह अवश्य मानेंगे। अन्यथा अजन्यत्वघटित उक्त लक्षण का ज्ञान ही नहीं होगा और प्रत्यक्षत्व का ग्रह यदि अन्य से सिद्ध है तो लक्षण का प्रणयन व्यर्थ है ॥६५॥

समर्थन—स्व (ज्ञान) का जो काल 'उससे अवच्छिन्न अर्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष है।

खण्डन—स्व शब्द से यदि ज्ञानसामान्य का ग्रहण करें तो यत्किञ्चित् ज्ञान के काल अवच्छिन्न अतीत अनागत अर्थ भी है, अतः तद्विषय की अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि एक प्रत्यक्ष व्यक्ति का स्व से उपादान करें तो अन्यव्यक्ति में अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च अनुमिति भी स्वकाल से अवच्छिन्न वस्तु का ही ग्रहण करती है, अतः उसमें अतिव्याप्ति होजायगी।

समर्थन—अनुमिति विषय में बोधकाल से अवच्छिन्नत्व "यदा धूमस् तदा वह्निः" इत्याकारक व्याप्तिग्रह के अधीन है। "अयं पूर्णचन्द्रोदयः स्वकालिकसमुद्रवृद्ध्यादिमान् चन्द्रोदयत्वात्—पूर्वचन्द्रोदयवत्" इस स्थल में भी (जहाँ स्वकाल साध्य में प्रविष्ट है) अनुमिति विषय में-यदा चन्द्रोदयस् तदा स्वकालिकसमुद्रवृद्धिः इत्याकारक व्याप्ति ही बोधकालावच्छिन्नत्व का प्रयोजक हैं।

खण्डन—बोधकाल के अवच्छिन्नत्व का कोई भी प्रयोजक हो इससे क्या हुआ, बोधकाल से अवच्छिन्न विषयक होने से अनुमिति में अतिव्याप्ति वैसी ही है।

यत्तु कश्चिदाह स्वप्रकाशनिषेधात् स्वकालावच्छिन्नार्थप्रकाशत्वासम्भव इति, तदयुक्तम् । वस्तुतो यः स्वकालस्तस्य विवक्षितत्वात् । वर्त्तमानप्रकाशस्तथेति निरुक्तिपर्य्यवसानात् । वर्त्तमानार्थस्य च सर्वनिर्वचनीयत्वात् । तथा चोक्तम्—

"सम्बद्धं वर्त्तमानञ्च गृह्यते चक्षुरादिना" ।

तस्मादस्मदुक्तमेव युक्तम् ॥६६॥

षोढासन्निकर्षेतराप्रयुक्तविषयनियमं ज्ञानं तथेति चेन्न । दोषवशजातसाक्षाद्बोधे तदसम्भवात् । प्रमासाक्षात्कारस्तावत्तथेति चेन्न । साक्षात्त्वेन प्रमेतरयोरविशिष्टतया साक्षात्त्वस्य साधारणस्यैव निर्व्वक्तव्यत्वात् । अनिष्टभ्रमबुद्धिमते षोढासन्निकर्षस्य प्रत्येकमिलितविकल्पानुपपत्तेः ।

समर्थन—यज्जातीय ज्ञान, स्वकाल से अवच्छिन्न जो अर्थ तद्विषयक ही हो वह प्रत्यक्ष है । अनुमितिजातीय ज्ञान स्वकाल से अनवच्छिन्न जो अतीत अनागत अर्थ तद्विषयक भी होता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी?

खण्डन—यावत् प्रत्यक्षत्व रूप साजात्य का ग्रह न हो, तावत् उक्त लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता है और यदि प्रत्यक्षत्व का ज्ञान नहीं हो सकता है और यदि प्रत्यक्षत्व ज्ञान अन्य चिन्हों से सिद्ध है तो लक्षण व्यर्थ है और प्रत्यक्षत्व की सिद्धि भी नहीं हो सकती हैं यह आगे कहेंगे ।

समर्थन—व्याप्ति आदि के विना ही जो ज्ञान स्वकाल से अवच्छिन्न जो अर्थ तद्विषयक हो वह प्रत्यक्ष है ।

खण्डन—यदि व्याप्ति का निवेश करना है तो व्याप्ति के विना जात जो ज्ञान वह प्रत्यक्ष है, इयत्मात्र ही लक्षण पूर्ण है । स्वकाल से अवच्छिन्न जो अर्थ तद्विषयकत्व का निवेश व्यर्थ है, और यह भी लक्षण निर्दोष नहीं है, यह कहेंगे । कोई कोई विद्वान् इस लक्षण में यह दोष देते हैं कि ज्ञान स्वप्रकाश नहीं है, अतः स्वज्ञान के कालरूप विशेषण से विशिष्ट अर्थ का ज्ञान न होने से यह लक्षण असम्भव से ग्रस्त है, परन्तु यह दोष युक्त नहीं, कारण कि स्वकाल उपलक्षण है, विशेषण नहीं है । अतः स्वप्रकाश न होने पर भी अन्य से ज्ञात स्वकाल से उपलक्षित अर्थ का ज्ञान हो सकता है, अतः असम्भव नहीं है । वर्त्तमानविषयक प्रत्यक्ष होता है यह सर्ववादी मानते हैं । भट्ट जी ने कहा है कि वर्त्तमान सम्बद्ध विषय को चक्षु ग्रहण करता है ॥६६॥

समर्थन—षट् प्रकार के सन्निकर्ष से जो इतर उससे अप्रयुक्त जिस ज्ञान के विषय का नियम हो वह प्रत्यक्ष है ।

खण्डन—"इदं रजतम्" इस ज्ञान में जो रजतत्व का समवाय भासता है उसका प्रयोजक दूरत्वरूप दोष है, अतः वहाँ अव्याप्ति हो जायगी; प्रमा-अप्रमा उभयरूप सामान्य से प्रत्यक्ष ज्ञान का यह लक्षण है, अतः प्रमा प्रत्यक्ष ही लक्ष्य है ऐसा आप नहीं कह सकते हैं । यदि अख्यातिवादी कहें कि मेरे मत में भ्रम होता नहीं है, अतः भ्रम में अव्याप्ति नहीं है तो भी एक एक सन्निकर्ष से इतर लें, अथवा षट् सन्निकर्ष से इतर लें, उभयथा संयोगादि षट् से इतर, संयुक्तसमवाय हैं, अतः संयुक्तसमवाय से अन्य प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी ।

साक्षाद्धीः स्वरूपधीः स्वेन रूपेण वस्तुनो भानमिति चेन्न। अनुमानादिव्याप-नात्। अनुमानादौ लिङ्गाद्यपेक्षत्वात्तदवच्छिन्नकालसम्बद्धबोधत्वं न लध्यक्ष इति चेन्न। व्यभिचारात्। यत्र लिङ्गादि भाव्यादिबोधकं तत्र तत्कालताव्यभिचारात्। एतेन यदि न लिङ्गकालावच्छिन्नव्यापकप्रतिभासोऽनुमा तदाकूटव्याप्यानुमितस्य व्यापकस्य दैवव-शात् सत्यव्याप्यव्यक्त्यन्तरवतः प्राप्तौ व्याप्तिकालावच्छिन्नव्यापकप्राप्त्या तावत्यंशे प्रमा-त्वं प्रमाविशेषान्तर्भावानिर्वाह्यमापद्येतेति निरस्तम्। भूतादिव्यापकानुमाने व्याप्यकाल-त्वासम्भवात्। तथापि चाग्न्यादिमदंशमात्रे प्रमात्वापातदुष्परिहरत्वस्योक्तत्वात् ॥६७॥

समर्थन—स्वरूप का ज्ञान अर्थात् जो धर्म्म जिसमें हो उस धर्म्म से विशिष्ट उस धर्म्मी का ज्ञान प्रत्यक्ष है।

खण्डन—अनुमति में भी जो धर्म्म जिसमें है उस धर्म्म से विशिष्ट ही धर्मीका उल्लेख होता है, अतः अनुमिति में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—लिङ्गादि काल से अनवच्छिन्न धर्मी की जो बुद्धि वह स्वरूप धी प्रत्यक्ष है और अनुमिति में लिङ्गकाल से अवच्छिन्न धर्मी भासता है, अतः अनुमिति में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—जिस स्थल में विशिष्ट मेघोदय से भावी वृष्टि की अनुमिति करते हैं, उस स्थल में लिङ्गकाल से अनवच्छिन्न ही धर्म्मी भासता है, अतः उस अनुमिति में अति-व्याप्ति वैसी ही है। अनुमिति में साध्य के विशेषणत्वरूप से लिङ्गकाल से अवच्छिन्नत्व अवश्य भासता है। अन्यथा पर्वत में धूलीपटल में धूमभ्रम के अनन्तर जात–पर्वतो वह्नि मान्–यह ज्ञान प्रमा हो जायगा। उक्त ज्ञान प्रमाही है ऐसी इष्टापत्ति आप नहीं कर सकते; कारण कि स्वीकृत प्रमा में अन्तर्भाव न होने से उक्त ज्ञान को पञ्चमी प्रमा मानना पड़ेगा वह अनिष्ट है, यह किसी आचार्य्य का कथन भी खण्डित जानना चाहिये—कारण कि भूत भावी साध्यस्थलमें व्यभिचार होनेसे लिङ्गकाल से अवच्छिन्नत्व साध्य के विशेषणरूप से नहीं भासता है। किञ्च लिङ्गकाल से अवच्छिन्नत्व का अनुमिति में भान मानें तब भी विशिष्ट अंश में उक्त ज्ञान प्रमा न होगा, परन्तु वह्नि अंशमें प्रमात्व हो ही जायगा ॥६७॥

समर्थन—अनुपहित वस्तु का जो ज्ञान वह प्रत्यक्ष है।

खण्डन—विशेषण से उपहित विशेष्य के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—कारण से उपहित जो न हो उसका ज्ञान प्रत्यक्ष है।

खण्डन—घट का कारण जो दण्ड उससे उपहित पुरुष का "दण्डी पुरुष" इत्याका-रक प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—स्वकारण से अनुपहित का जो ज्ञान वह प्रत्यक्ष है।

खण्डन—यह परिष्कार भी स्वपदरूपी सिंह की कुक्षि में निक्षिप्त है अर्थात् स्वपद के विवेश से ही खण्डित है, कारण कि स्वपद को यदि कारण व्यक्तिपरक मानें तो जिस धूम व्यक्ति को स्वशब्द से ग्रहण करेंगे, उससे अन्य धूम से उपहित वह्नि की अनुमिति में अति-व्याप्ति हो जायगी।

यदि स्वपद का कारणसामान्यपरक मानें तो अन्य के कारण दण्ड से उपहित पुरुषादि के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी।

अनुपहितप्रतीतिः साक्षाद्धीरिति चेन्न। विशिष्टप्रविष्टविशेष्यप्रत्यक्षाव्यापनात्। करणानुपहितत्वं विवक्षितमिति चेन्न। परकरणोपहिताव्यापनात्। स्वकरणोपहितत्वस्य च स्वपदकुक्षिनिक्षिप्तत्वात्।

व्याप्त्याद्युपहितत्वादीनां व्यतिरेकस्य यत्र समुच्चयः सा धीः साक्षाद्धीरिति चेन्न। व्याप्त्यादिप्रत्यक्षाव्यापनात्। असिद्धत्वाच्च। पर्व्वतोऽग्निमानित्येव प्रतिज्ञानात्। शब्देन च स्वाप्रतिपादनात्। शाब्दादिमितेश्च प्रत्यक्षत्वापादनात्॥ ६८॥

अव्यवहितधीत्वं साक्षाद्धीत्वमिति चेन्न। व्यवधानविकल्पानुपपत्तेः। यदि द्रव्यविशेषान्तरावस्थितिर्व्यवधिः, तदानीमप्रत्यक्षविभुधियां साक्षात्त्वापत्तिः। अथ ज्ञापकज्ञानपूर्वसत्ता व्यवधानं तदा परत्वाद्यप्रत्यक्षतापत्तिरिति। विशिष्टवैशिष्ट्यं व्यवधानमिति चेन्न। धूमविशिष्टे वह्निवैशिष्ट्यमिति स्वरूपस्थितौ तथात्वे कार्य्यकारणभावविरोधः प्रतीतौ धूमवैशिष्ट्यस्य धर्मिविशेषणत्वे हेतोरंशतः स्ववृत्तिः। साध्यविशेषणत्वे व्याप्तिग्राहिप्रत्यक्षेऽप्यव्यवधानाभावात् न साक्षात्त्वं स्यात्॥ ६९॥

समर्थन—व्याप्त्यादि के उपहितत्व का अभाव जिस ज्ञान में हो वह प्रत्यक्ष है।

खण्डन—वह्निव्याप्यो धूमः इस व्याप्ति के प्रत्यक्ष में धूम के विशेषणरूप से व्याप्ति भासती है, अतः उसमें अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च अनुमिति आदि में व्याप्ति आदिका भान नहीं होता है, कारण कि "पर्वतो वह्निमान्" इत्यकारक ही अनुमान में प्रतिज्ञावाक्य होता है—शब्दसे भी [शब्द से उपहित अर्थ का] बोध नहीं होता है—अतः अनुमिति में अतिव्याप्ति के निरासार्थ उक्त विशेषण व्यर्थ है और उक्त विशेषण न देने पर अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी॥ ६८॥

समर्थन—इन्द्रियों से अव्यवहित वस्तु की धी साक्षात्धी (प्रत्यक्ष) है।

खण्डन—व्यवधान क्या वस्तु है इस बात की अनुपपत्ति होने से यह लक्षण भी अयुक्त है—देखिये यदि ज्ञेय और इन्द्रियोंके मध्यमें द्रव्य विशेष की स्थिति को व्यवधान कहें तो विभु (आकाशादि) की अनुमितिरूप बुद्धि में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि ज्ञेय (आकाशादि) और इन्द्रिय इन दोनों के मध्य में कोई द्रव्य नहीं है। यदि ज्ञापक (स्वजनक) जो ज्ञान उसकी (स्व की उत्पत्ति से पूर्वसत्ता को व्यवधान कहें तो ह्रस्वत्वादि तथा परत्वादि का ज्ञान भी प्रतियोगि ज्ञान से जन्य है, अतः ह्रस्वत्वादि ज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी। यदि विशिष्टवैशिष्ट्य को व्यवधान कहें तो दण्डी पुरुष इस प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी। यदि हेतु धूम, आदि से विशिष्ट पर्वत में वह्नि आदि के वैशिष्ट्य को व्यवधान कहें तो यदि धूम विशिष्ट पर्वत में वह्नि का वैशिष्ट्य रहता है, ईदृश स्थिति में व्यवधान मानें तो कार्यकारण भाव में विरोध होगा। अर्थात् कारण होने से धूम से प्रथम ही वह्नि सिद्ध है, फिर धूम विशिष्ट में ही वह्नि वैशिष्ट्य रहता है, यह कैसे हो सकता है और यदि प्रतीति में धूमविशिष्ट में वह्निवैशिष्ट्य को व्यवधान कहें तो यदि धर्मी (पर्वत) में धूम वैशिष्ट्य को विशेषण मानें तो "धूमवान् पर्वतो वह्निमान धूमवत्त्वात्" ऐसा ज्ञान के आकार होने से अंशतः आत्माश्रय हो जायगा। कारण कि विशिष्टवृत्तिधर्म्म विशेषणवृत्ति भी होता है और यदि धूम वैशिष्ट्य के साध्य के विशेषणत्व को व्यवधान कहें तो "वह्निः धूमव्यापकः" इस व्याप्तिप्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी॥ ६९॥

अथ ज्ञानस्य जातिभेदः कश्चित्साक्षात्त्वं, तत्रानुभवत्वेन परापरभावानुपपत्तिः स्मृतेरपि साक्षात्कारित्वादिति केचित्। तन्न। स्मृतेस्तथात्वानभ्युपगमात्। स्वप्नस्य तावत् स्मृतित्वासिद्धेः सिद्धौ वा तत्र साक्षात्त्वारोपोपगमात्। भावनाबलजस्य च क्वचिदालोकादिधर्मिकप्रियाद्याश्रयधर्मारोपत्वं शुक्तिरजतभ्रमवत् निमीलितनयनादेश्च स्वप्नवदेव गतिरवगन्तव्येति।

इदन्तु स्यात् परमाण्वादिबुद्धावनुव्यवस्यमानायां परमाणुप्रतीत्यंशेऽपि साक्षात्त्वमनुभूयत इत्यत्र न नः सम्प्रतिपत्तिः। अन्यथा लिङ्गबुद्धिलक्षणया प्रत्यसत्त्या वह्निरपि मानसप्रत्यक्ष एव न लैङ्गिक इति परेण सुवचत्वात्। एवं प्रत्यभिज्ञायां पूर्वदेशकालस्थितिमस्य पश्यामीति कस्यानुभवो यद्बलाऽत्तथाभ्युपेयं तस्मात्प्रतीति कलहोऽयम्॥७०॥

निर्वचन—ज्ञान का जातिविशेष, साक्षात्व है तथा वह साक्षात्त्व-जाति ही प्रत्यक्ष का लक्षण है—इस लक्षण में कोई आचार्य्य यह दोष देते हैं कि साक्षात्त्व स्मृति में होने से अनुभवत्व से अल्पदेश वृत्ति नहीं है तथा अनुमिति में न होने से अधिकदेशवृत्ति भी नहीं हैं अर्थात् स्मृति में साक्षात्त्व है और अनुभवत्व नहीं है ,एवं अनुमिति में अनुभवत्व है और साक्षात्त्व नहीं है, प्रत्यक्ष ज्ञान में दोनों हैं, अतः सङ्करदोष होने से साक्षात्त्वजाति नहीं है, परन्तु यह दोष युक्त नहीं है, कारण कि स्मृति में साक्षात्त्व है इसमें कुछ प्रमाण नहीं है, जाग्रत् में अनुभूत पदार्थ हो सँस्कार के बल से स्वप्नदशा में प्रतीत होता है, अतः स्वप्न स्मृति है यह कथन युक्त नहीं हैं, कारण कि कदाचित् अननुभूतस्वशिरःच्छेद आदि भी स्वप्न में भासते हैं, अतः स्वप्न स्मृति नहीं है, यदि स्वप्न को स्मृति मानें भी तो भो स्वप्न बाह्य इन्द्रियों से अजन्य होने से प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु स्वप्न में प्रत्यक्षत्व का आरोप मात्र होता है कामी मनुष्य को [जो भावना के बल से कामिनी की] प्रतीति होती है वह भी प्रत्यक्षायमाण अर्थात् प्रत्यक्षरूप स्मृति नहीं हैं, किन्तु शुक्ति में रजत की प्रतीति के तुल्य आलोक में प्रिया के मुखादि का भ्रम मात्र है। निमीलितनेत्रवाले मनुष्य को जो कदाचित् कुछ वस्तु की प्रतीति हो जाती है, वह भी स्वप्न के तुल्य स्मृति ही है, अतः स्मृति में प्रत्यक्षत्व के न होने से साङ्कर्य्य नहीं है।

खण्डन—द्व्यणुकं, स्वपरिमाणात् अणुतरपरिमाणाऽरब्धम्, कार्य्यद्रव्यत्वात्, पटवत्, इस अनुमिति के बाद "जात परमाणुमनुमिनोमि" इस अनुव्यवसाय में अनुमित्यंश में प्रत्यक्षत्व के तथा परमाण्वंश में परोक्षत्व के होने से साङ्कर्य्य है, अतः प्रत्यक्षत्व जाति नही है। यदि कहें कि परमाणु की अनुमिति, आत्मा में है और आत्मा मनः संयुक्त है, अतः ज्ञानलक्षणप्रत्यासंति होने से परमाण्वंश में भी उक्त अनुव्यवसाय प्रत्यक्षही है तो यह युक्त नहीं है, कारण कि ऐसा मानने पर वह्निसम्बद्ध धूम का ज्ञान आत्मा में समवेत है और आत्मा, मनः संयुक्त है, अतः ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति ही होनेसे अनुमिति भी प्रत्यक्ष ही जायगी "किञ्च" सोऽयँदेवदत्तः इस प्रत्यभिज्ञान में तत्ता अंशमें स्मृतित्व तथा इदन्ता अंशमें प्रत्यक्षत्व होने से भो सांकर्य्य है, अतः प्रत्यक्षत्व जाति नहीं है। किस मनुष्य के इदन्ता अंशके तुल्य तत्ताविशिष्ट अंश में भी अर्थात् देवदत्त के पूर्वदेशकाल सम्बन्ध अंश में (पश्यामि) इत्याकारक अनुव्यवसाय अनुभव सिद्ध है, जिसके बल से उस अंश में भी प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष मानें तस्मात् तत्ता अंश में प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष है—यह वाद विवाद ग्रस्त है॥ ७०॥

यदि च साक्षात्त्वं जातिरध्यक्षमानिका तदा प्रतीतौ कस्याञ्चिदध्यक्षानध्यक्षविवादो न स्यात्। न हि घटादिप्रत्यक्षत्वे विवदन्ते। क्वचिदस्फुटत्वाद्विवाद इति चेत्। मैवम्। निरंशे वस्तुनि कः स्फुटत्वानवभासः। यद्येकार्थसमवायिभिर्भूयोभिः सहोपलम्भः, स ज्ञानत्वादिवत्साक्षात्त्वेऽपि तर्हीति ज्ञानादित्वे न विवादः साक्षात्त्वेत्विति विशेषो वाच्यः। दर्शनकृतो हि विवादो न मात्सर्य्येण वाङ्मात्रेण वा किन्तु तत्त्वाभिमानादेव।

प्रत्यक्षार्थधर्मिकायाश्चानुमायां साक्षात्त्वपरोक्षत्वसङ्करो दुर्वारः। परोक्षत्वं न जातिः, किन्तु साक्षात्त्वमेव तथा केवलन्तु साक्षात्त्वाभावः परोक्षत्वमिति चेन्न। अस्यार्थस्याऽविनिगन्तव्यत्वापत्तेः। सर्वज्ञमनुमन्यमानस्य च मते दृष्टलिङ्गादेरीश्वरस्य लिङ्गयादिबुद्धावपरोक्षत्वेनापि विरोधः॥ ७१॥

लिङ्गादिधीजन्यत्वमनुमितित्वादौ प्रयोजकमिति चेत्। साक्षात्त्वेऽपि तर्हीन्द्रियसन्निकर्षादिजत्वमिति साक्षादपि सा न स्यात्।

किञ्च प्रत्यक्षत्व को प्रत्यक्षरूप प्रमिति का विषय मानें तो किसी २ प्रतीति में जो विवाद होता है कि यह ज्ञान प्रत्यक्ष है वा नहीं वह न होना चाहिये अर्थात् वायुज्ञान कोकोई प्रत्यक्ष और कोई अनुमिति मानते हैं, तथा अभावज्ञानको कोई प्रत्यक्ष तथा कोई अनुपलब्धि रूप प्रमाण से जन्यप्रमित्यन्तर मानते हैं—यह मतभेद न होना चाहिये, कारण कि घटादि के प्रत्यक्ष में किसीको विवाद नहीं होता है कि घटज्ञान प्रत्यक्ष है वा अनुमिति।

समर्थन—वायुज्ञान में प्रत्यक्षत्व को स्फुट अवभासके न होने से मतभेद होता है।

खण्डन—प्रत्यक्षत्व जाति निरंश (अखण्ड) हैं, अतः इसका स्फुट अवभास क्या वस्तु है। यदि कहें कि ज्ञानरूप एक अर्थ में समवायी जो ज्ञानत्व, अनुभवत्व, अपरोक्षत्व आदि बहुत से धर्म्म हैं उनके साथ जो अवभास वह स्फुट अवभास है तो वह स्फुट अवभास ज्ञानत्व के तुल्य प्रत्यक्षत्व में भी हैं, फिर ज्ञानत्व आदि में तो विवाद होता नहीं है और प्रत्यक्षत्व में विवाद होता है इसमें कोई विशेष कारण कहना चाहिये। यह दर्शन कारोंका विवाद है अतः ईर्ष्या अथवा वाङ्मात्र से नहीं है; किन्तु तत्वज्ञानके अभिमान से है। किञ्च जहां धर्म्मी (पक्ष) प्रत्यक्ष हैं, उस अनुमिति में पक्षांशमें प्रत्यक्षत्व तथा साध्यांश में परोक्षत्व होने से भी साङ्कर्य्य है। परोक्षत्व जाति नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षत्व का अभावही परोक्षत्व हैं, अतः साङ्कर्य्य नहीं है, यह कथनभी युक्त नहीं, कारण कि परोक्षत्व हां जाति है और परोक्षत्व का अभाव ही प्रत्यक्षत्व है ऐसा न मानने में कुछ विनिगमक (प्रमाण) नहीं है। किञ्च जो आचार्य्य सर्वज्ञ ईश्वर को अनुमितिसिद्ध मानते हैं उनके मतमें ईश्वर का धूमज्ञानके अनन्तर जो वह्नि का ज्ञान होता है वह ईश्वरीय ज्ञान होने से प्रत्यक्ष तथा लिङ्ग ज्ञानके अनन्तर होने से

साङ्कर्य्य होने से प्रत्यक्षत्व जाति नहीं है॥ ७१॥

परोक्ष भी हैं, अतः उस ज्ञानमें

समर्थन—लिङ्गजत्व अनुमितित्व का प्रयोजक है और ईश्वरीय ज्ञान, नित्य होने से

अनुमिति नहीं है।

खण्डन—यदि ऐसा है तो इन्द्रिय सन्निकर्षजत्व प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। उसके न होने से ईश्वरीयज्ञान प्रत्यक्ष भी न कहावेगा और ईश्वरीय ज्ञान को सब आचार्य्य अपरोक्ष मानते हैं। अतः ईश्वरीय ज्ञान अपरोक्ष नहीं है ऐसी इष्टापत्ति आप नहीं कर सकते।

व्यञ्जकोपाधिनियता च जातिरिष्यते। नच तदत्र उक्तप्रकारबाधात्। नच व्यञ्जकनियमानभ्युपगतया न तदत्रोपगम्यमिति वाच्यम्। किं मया दृष्टं तथा किं वा केनचित्कथितमिति संशयानुपपत्तेः। प्राग्भूतायां स्मर्य्यमणायां तद्बुद्धौ त्वन्मते मनसा ज्ञानरूपया प्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षीक्रियमाणायां साक्षात्त्वाऽग्रहो विना व्यञ्जकाभावं कथं स्यात्।

अर्थधर्मश्च साक्षात्त्वमिति स्वप्रकाशवादे निरस्तम्।

तथाप्यबाधितसाक्षात्त्वबुद्धिव्यवहारबलादन्ततः पदार्थान्तरमपि साक्षात्त्वमननुमत्य न निस्तारोऽस्ति, भ्रान्तेरप्यभ्रान्तिपूर्वकत्वादिति चेन्न। तस्यापि साक्षाद्ग्रहे क्वचिदपि तद्विवादो न स्यादित्यादिदोषसाम्यात्, अनुमानादिवेद्यत्वे च लिङ्गाद्यनुपपत्तेः, क्व च व्याप्त्यादिग्रह इत्यादिदुरुत्तरपरम्परैव स्यात्। सप्तपदार्थनियमसाधनानि च न कथं परिपन्थीनि स्युरिति ॥ ७२ ॥

किञ्च व्यञ्जक जो धर्म्म उससे नियत ही जाति होती है, और प्रत्यक्षत्व का व्यञ्जक-उक्त इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानत्व आदि के खण्डित होने से कोई है नहीं, अतः प्रत्यक्षत्व जाति नहीं है।

समर्थन—व्यञ्जक उपाधि से नियत ही जाति होती है इस नियम को हम नहीं मानते हैं।

खण्डन—इस नियम को न मानें तो "क्या मैंने देखा था वा किसीसे सुना था" ऐसा कदाचित् सन्देह होता है "वह उत्पन्न नहीं होगा, कारण कि प्राक्काल में जात बुद्धि व्यक्ति को स्मृत होने पर अथवा तुम्हारे मत में ज्ञानरूप प्रत्यासत्ति से प्रत्यक्ष होने पर प्रत्यक्षत्व जाति का अनिश्चय हो नहीं सकता है और जो व्यञ्जक मानते हैं, उनके मतमें व्यक्ति के ग्रहण होने पर भी व्यञ्जक के अनिश्चय से जाति का कदाचित् अनिश्चय हो सकता है। ज्ञान का धर्म्म साक्षात्व नहीं है; किन्तु ज्ञेय का धर्म्म है तद्विषयक होने से ज्ञान में साक्षात्व व्यवहार होता है इस बातका खण्डन स्वप्रकाश (कर्म्म लक्षण के खण्डन) के प्रस्ताव में कह चुके हैं।

समर्थन—तब भी अबाधित साक्षात्त्व की बुद्धि वा व्यवहार के बल से [साङ्कर्य्य होने से जाति न होने पर भी] पदार्थान्तर साक्षात्त्व को विना मानें निर्वाह नहीं होगा कारण कि भ्रान्ति भी प्रमापूर्वक ही होती है।

खण्डन—उस पदार्थान्तर साक्षात्त्व को यदि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय मानें तो कहीं भी सन्देह न होना चाहिये—यह पूर्व उक्त दोष है। किञ्च साक्षात्त्व बुद्धि वा व्यवहार अनिर्वचनीय साक्षात्त्व से उपपन्न हैं, अतः कोई लिङ्ग वा अनुपपन्न भी नहीं है। जिससे साक्षात्त्व की सिद्धि हो। तथा यावत् किसी व्यक्ति में साक्षात्त्व का प्रत्यक्ष न हो तावत् व्याप्तिग्रह भी नहीं हो सकता। तथा साक्षात्त्व को पदार्थान्तर मानने में सात ही पदार्थ हैं अष्टम नहीं है यह आपका नियम भी बाधक है ॥ ७२ ॥

निर्वचन—लिङ्ग जन्यत्व का जो अभाव तथा शब्द जन्यत्व का जो अभाव तथा सादृश्य जन्यत्व का जो अभाव इन अभावत्रय से युक्त बुद्धि प्रत्यक्ष है।

लिङ्गादिजलाभावसमुदायवती धीः साक्षादिति चेन्न । परोक्षविषयसंशयादावतिव्याप्तेः । ईदृशी प्रमा तथेति चेन्न । प्रत्यक्षभ्रमाव्याप्तेः ॥

अनुमानादिव्यवच्छेद्यतत्तदसाधारणकारणाजनिता धीः साक्षादिति चेन्न । एवं हि प्रत्यक्षतत्तदपरव्यतिरिक्ता धीरनुमानादिरिति वैपरीत्यमेव कुतो न स्यादित्यविनिगम्यत्वं स्यात् । तेषु व्यवच्छेद्येष्वेकत्र्यादि परिहाय व्यवच्छेद्यहेत्वजनितत्वेनापि साक्षात्त्ववत्तत्र तत्रानुगतबुद्ध्याद्यन्तरापत्तेः । व्यवहारे सति निमित्तानुसरणं, न तु निमित्तानुसरणेन व्यवहार इति चेन्न । निमित्तस्यानत्यापत्तिद्वारस्यैव कल्प्यत्वात् । तत्तज्जनितत्वाभावो हि तेनैव रूपेणानुगतव्यवहारप्रत्ययावादध्यान्न त्वन्येनापि । तथात्वे यावत्परिदृष्टव्यक्तिविशेषान्यत्वेन व्यवहारोपपत्तौ गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गः । तस्मात्—

खण्डन—परमाणु जगत् के कारण हैं, वा प्रधान इस परोक्षविषयक सन्देह में तथा प्रधान ही जगत् का कारण है, इस भ्रम में तथा-सामे माता, इस स्मृति में अतिव्याप्ति हो जायगी । उक्त अभावत्रयविशिष्ट प्रमा प्रत्यक्ष है—यह नहीं कह सकते हैं, कारण कि प्रत्यक्षभ्रम में अव्याप्ति हो जायगी । प्रत्यक्षप्रमाही लक्ष्य है—यह कथन भी भ्रम प्रमा साधारण प्रत्यक्षमात्र के प्रस्तुत होने से अयुक्त है ।

समर्थन—अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोध, परोक्ष, सन्देह, भ्रम, स्मृति आदि जो व्यवच्छेद्य उन व्यवच्छेद्यों के जो असाधारण कारण उनसे अजन्य बुद्धि प्रत्यक्ष है ।

खण्डन—इसी रीति से प्रत्यक्षादि तत्तत् व्यवच्छेद्य के असाधारण कारण से अजन्यज्ञान अनुमिति आदि हैं ऐसा अनुमिति आदि का भी लक्षण कर सकते हैं, अतः अन्योन्याश्रय हो जायगा ।

किञ्च प्रत्यक्ष अनुमिति इन दोनों में वृत्ति प्रत्यक्षादि त्रय में वृत्ति अथवा चतुष्टय में वृत्ति भी तत् तत् व्यवच्छेद्य के असाधारण कारण से अजन्यत्वरूप एक लक्षण होने से प्रत्यक्षादि दो वा तीन में भी अनुगत बुद्धि वा व्यवहार हो जायगा ।

समर्थन—प्रत्यक्ष आदि दो वा तीन में अनुगत व्यवहार नहीं ही होता हैं, अतः अनुगत लक्षणरूप निमित्त का कल्पन नहीं होगा, कारण कि व्यवहार के अनुसार से ही निमित्त की कल्पना होती है ।

खण्डन—सत्य है, व्यवहार के अनुसार से ही लक्षणरूप निमित्त की कल्पना होती है, परन्तु निमित्त की कल्पना भी ऐसी ही होनी चाहिये, जिसमें कोई अतिप्रसङ्ग का द्वार न हो और पूर्वउक्त दोष होने से पूर्वउक्त लक्षणरूप निमित्त ऐसा नहीं है ।

किञ्च यदि अनुमित्यादि तत्तत् व्यवच्छेद्य के असाधारण कारण से जन्यत्वाभाव को प्रत्यक्ष कहें तो उक्त जन्यत्वाभावरूप से ही अनुगतव्यवहार वा अनुगतप्रतीति का निमित्त उक्त लक्षण होगा, प्रत्यक्षत्व रूप से व्यवहार वा प्रतीति का निमित्त नहीं होगा । यदि उक्त जन्यत्वाभावरूप से हीं प्रत्यक्ष व्यवहार वा प्रतीति की उपपत्ति मानें, तो परिदृष्ट अश्वादि व्यक्ति से अन्यत्व रूप से ही गवादि प्रतीति की भी उपपत्ति हो जायगी, फिर गोत्वादि का उच्छेद हो जायगा । तस्मात् इदं प्रत्यक्षं वा अयं गौः इत्यादि विधिमुख से जायमान प्रत्यक्ष है, अतः व्यतिरेक से अर्थात् उक्त जन्यत्वाभावरूप लक्षण से इनका

विधिजः प्रत्ययोऽन्योऽयं व्यतिरेकासमर्थनः ।
नैवं चेदपराद्धं ते किमन्यापोहवादिना ॥४१॥७३॥

शब्दानुमानोपमानजप्रमितिव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमितित्वं प्रत्यक्षलक्षणमभिधाय यः कोपि न त्रपते स प्रष्टव्यः, किं प्रत्येकमिदं लक्षणमुत मिलितम् । नाद्यः प्रत्येकं व्यभिचारात् । द्वितीये किं मिलितानां निषेधः, उत निषेधानां मिलितत्वम् । नाद्यः प्रत्येकमेव व्यभिचारात् । न हि प्रत्येकमनुमित्यादौ मिलिततद्रूपसम्भवः । नापि द्वितीयः मिलितास्वनुमित्यादिषु निषेधमेलकसम्भवेऽपि प्रत्यक्षत्वानभ्युपगमात् ।

न बह्वाश्रयाणामुक्तनिषेधानां लक्षणत्वमपि त्वेकाश्रयाणामिति चेन्न । समुदायिभेदेऽपि समुदायस्यानुमित्यादिवदेकतोपचारबीजाविशेषाभ्युपगम इति हि वक्ष्यते । असमुदायत्वे सतीत्यपि विवक्षितमिति चेन्न । समुदायत्वविशिष्ट एवांशतः स्वात्मनि

समर्थन नहीं हो सकता है, यदि ऐसा न मानें तो अन्य अपोहवादी बौद्धों का क्या अपराध है कि इनका कथन न माना जाय ॥७३॥

लक्षणान्तर खण्डन

शब्दज, अनुमानज उपमानज, प्रमिति से भिन्न जो प्रमिति वह प्रत्यक्ष है—ऐसा लक्षण कह कर जो लज्जित नहीं होते हैं, उनसे पूछना चाहिये कि क्या प्रत्येक लक्षण है, वा मिलित, इनमें प्रत्येक अर्थात् शब्दज प्रमिति व्यतिरिक्त प्रमितित्व आदि तो लक्षण नहीं हैं, कारण कि शब्दजप्रमितिव्यतिरिक्त प्रमितित्व अनुमिति में अतिव्याप्त हैं। एवं प्रत्येक निवेश में अन्यत्र भी लक्षण को अतिव्याप्त जानना चाहिये। यदि मिलित लक्षण कहें तो शब्दज तथा अनुमानज तथा उपमानज प्रमितिसमुदाय से व्यतिरिक्त प्रमितित्व लक्षण है वा शब्दज प्रमिति का जो भेद तथा अनुमानज प्रमिति का जो भेद तथा उपमानज प्रमितिका जो भेद एतत् भेदत्रयविशिष्ट प्रमिति लक्षण है। इनमें प्रथम पक्ष में समुदाय के भेद के प्रत्येक में होने से प्रत्येक में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि प्रत्येक अनुमिति आदि समुदायरूप नहीं है, और द्वितीय कल्प में अनुमित्यादि त्रय समुदाय में प्रत्येक अनुमिति आदि के भेदत्रय के होने से अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—शब्दादि प्रतीति के भेदत्रय से युक्त एक जो प्रतीति वह प्रत्यक्ष है, अनुमित्यादि त्रय समुदाय में एकत्व नहीं हैं, अतः अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डन—यद्यपि समुदाय के एकदेश अनुमित्यादि अनेक हैं, परन्तु समुदाय एक ही है, अर्थात् प्रत्येक अनुमिति आदि में गुणरूप एकत्व के न होने पर भी उपचार से जैसे एकत्व व्यवहार होता है, वैसे ही अनुमित्यादि समुदाय में भी उपचार से एकत्व व्यवहार होता है; कारण कि उपचार का बीज परोक्षत्वरूप एक धर्म्म अनुमित्यादित्रय में भी विद्यमान हैं।

समर्थन—उक्त लक्षण में समुदाय से भिन्नत्व का भी निवेश है, अतः अनुमित्यादित्रय के समुदाय में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

वृत्तिविरोधभयेनासमुदायत्वस्यैष्टव्यत्वेन तादृशि प्रसङ्गो दुर्वारः । ७४–ज्ञानस्यैवं विवक्षितमिति चेन्न । विशिष्टस्यापि ज्ञानस्य ज्ञानत्वादेव ।

एकेति च किमाश्रयव्यक्त्यभेदो विवक्षितः, उताभिन्नजातीयता, उतैकोपाधिकता, उतैकसङ्ख्यायोगिता, उत द्व्यादिसंख्यायोगिता उत द्व्यादिसङ्ख्यायोगाभावः । आद्ये तद्विशिष्टस्याव्यापकतादोषः व्यक्त्यात्मनोऽभेदस्य व्यावृत्तत्वात् धर्मिणा च लक्षणविशेषणेऽलक्ष्यधर्मत्वं धर्मस्य स्यात् स्वस्यैव स्वधर्मत्वानुपपत्तेः । आश्रयाभेदस्योपलक्षणत्वे प्रागुक्तदोषः ।

द्वितीये तदेवाभिन्नजातीयत्वं लक्षणमस्तु अवश्यन्तया प्राथम्येन प्रतीयमानत्वात् । न तृतीयः परोक्षप्रमितित्वस्यानुमित्यादिषु मिलितास्वपि भावात् । नापि चतुर्थः वैशेषिकपक्षे गुणतया तदभावात् भावे वाऽनुमित्यादित्रयवृत्तीनां त्रयाणामप्यभावानामेकत्वसङ्ख्यासामानाधिकरण्यसम्भवात्, मिलितानामप्येकसमुदायापेक्षया

खण्डन—यदि कहें कि समुदायत्व विशिष्ट में समुदायत्व रहता है, तो विशिष्टवृत्तिधर्म्म को विशेषणवृत्ति अवश्य होनेसे अंशतः आत्माश्रय हो जायगा, अतः समुदायत्वविशिष्ट भी असमुदाय ही है ॥ ७४ ॥

समर्थन– उक्त लक्षण में प्रमितित्व का भी निवेश है और समुदाय प्रमिति नहीं है।

खण्डन—समुदायत्वविशिष्ट अनुमित्यादि, प्रमिति है, अतः समुदाय भी प्रमिति ही है। किञ्च लक्षण में निविष्ट एक शब्द से लक्षणाश्रय लक्ष्यव्यक्ति का अभेद अभिप्रेत है वा एक जाति का आश्रयत्व, अथवा एक उपाधि का आश्रयत्व, वा एकत्व संख्या का योग, यद्वा द्वित्व आदि संख्या का योगाभाव अभिप्रेत है। प्रथम कल्प में धर्मी (लक्ष्य) को लक्षण के विशेषण होने से लक्षण लक्ष्य का धर्म्म न हो सकेगा, कारण कि जैसे स्व स्व का धर्म नहीं हो सकता, वैसेही स्व विशिष्ट भी स्व का धर्म नहीं हो सकता। यदि कहें कि लक्ष्य व्यक्ति का अभेद लक्षण में विशेषण नहीं है, किन्तु उपलक्षण है, अतः उक्त दोष नहीं, तब भी व्यक्तिरूप अभेद व्यावृत्त (अन्य व्यक्ति से पृथग्भूत) है, अतः जिस व्यक्ति को लक्षण में उपलक्षण करें, उससे अन्य व्यक्ति में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि व्यक्ति के अभेद को व्यावृत्त होने से व्यक्तिमात्र को उपलक्षण कर नहीं सकते। द्वितीय वा तृतीय कल्प में यदि वह जाति वा उपाधिप्रत्यक्षत्व वा अर्थजत्व ही हो तो वही जाति वा उपाधि लक्षण रहे प्रकृत लक्षण व्यर्थ है, कारण कि उक्त लक्षण में विशेषण होने से वह जाति वा उपाधि अवश्य ज्ञेय है, तथा उक्त जाति वा उपाधि को लक्षण मानने में लाघव भी है। यदि यत् किंचित् जाति वा उपाधि का ग्रहण हो तो परोक्षत्वरूप जाति वा उपाधि अनुमित्यादि त्रय में भी है, अतः अनुमित्यादिसमुदाय में अतिव्याप्ति हो जायगी। चतुर्थ कल्प में वैशेषिक के मत के अनुसार एकत्व संख्या प्रत्यक्ष में भी नहीं हैं, अतः असम्भव हो जायगा और अन्यमत के अनुसार अनुमित्यादित्रय में उक्त अभावत्रय भी हैं तथा समुदाय की अपेक्षा से एकत्व संख्या भी हैं, अतः अनुमित्यादि समुदाय में अतिव्याप्ति हो जायगी। पंचम कल्प में वैशेषिक के मत के अनुसार अनुमित्यादित्रय में भी द्वित्वादि संख्या के अभाव होने से अति-

तथात्वात्, । नापि पञ्चमः वैशेषिकमतानुसारेणानुमित्यादित्रयेऽपि तदभावस्य तुल्यत्वात् । अतदनुसारे प्रत्यक्षव्यक्तिष्वपि द्व्यादिसङ्ख्यायोगात् ॥७५॥

तथापि नैकस्यां प्रत्यक्षव्यक्तौ द्व्यादिपरिसमाप्तिः द्व्यादिसङ्ख्यापरिसमाप्त्यभावश्च तदभावशब्देन विवक्षित इति चेन्न । का हि परिसमाप्तिर्यैकस्यां व्यक्तौ नास्तीत्युच्यते । तत्रैव वृत्तिर्द्व्यादेः परिसमाप्तिः सैकस्यां व्यक्तौ नास्तीति चेन्न । एवमेकत्वस्यापि न क्वचित्परिसमाप्तिः स्यात् न हि तस्य तत्रैव वृत्तिरन्यस्यैकत्वाभावप्रसङ्गात् । अत एकत्वसङ्ख्यावत्यामेव व्यक्तौ द्व्यादिपरिसमाप्तिरित्यविशेष एव ।

एकव्यक्तिगतैकत्वसङ्ख्याव्यक्तिर्नान्यत्रेति चेन्न । सत्ताव्यक्तेरप्येवम्भावप्रसङ्गात् अननुगतत्वापत्तेश्च । सत्त्वैकैव जातिरूपा एकत्वन्तु प्रतिव्यक्ति भिन्नं गुणपदार्थ इति

व्याप्ति हो जायगी, तथा अन्य मतके अनुसार प्रत्यक्ष में भी द्व्यादि संख्या है, अतः असम्भव हो जायगा ॥ ७५ ॥

समर्थन—तब भी एक प्रत्यक्ष व्यक्ति में द्वित्व आदि सङ्ख्या की परिसमाप्ति (पर्य्याप्ति) नहीं है और द्व्यादि की परिसमाप्ति का अभाव लक्षण में निविष्ट है, अतः असम्भव नहीं होगा।

खण्डन—द्वित्वादि संख्या की परिसमाप्ति क्या है जो एक व्यक्ति में नहीं है ?

समर्थन—केवल उसीमें वृत्तित्व द्वित्व की परिसमाप्ति हैं वह द्वित्व की परिसमाप्ति एकही व्यक्ति में नहीं है, कारण कि द्वित्व दो व्यक्तियों में रहता है।

खण्डन—यदि तत्रैववृत्तित्व को पर्य्याप्ति कहें तो एकत्व की भी कहीं पर्य्याप्ति न होगी, कारण कि एकत्व अन्यत्र भी रहता है, अन्यथा अन्यत्र एकत्व का अभाव हो जायगा। अतः वृत्तित्वमात्रके ही पर्य्याप्तित्व होने से एक प्रत्यक्ष व्यक्ति में भी द्वित्व की पर्य्याप्ति ही हैं, अभाव नहीं हैं, अतः लक्षण का असम्भव हो जायगा।

समर्थन—एक व्यक्तिगत एकत्व व्यक्ति अन्यत्र हो रहता है, अतः तत्रैववृत्तित्वरूप पर्य्याप्ति एकत्व में हैं।

खण्डन—सत्ताव्यक्ति भी ऐसी ही हो जायगी अर्थात् एक व्यक्तिगत सत्ता अन्यत्र न रहेगी। यदि सत्ता को भी प्रतिव्यक्ति भिन्न मानें तो "इदं सत्" "इदं सत्" यह अनुगत प्रतीति नहीं होगी। किंच यदि प्रतिव्यक्तिव्यावृत्त एकत्व को मानें तो 'इदमेकम्' 'इदमेकम्' यह अनुगत प्रतीति न होगी। किञ्च यदि एकत्व को नाना मा तो सब एकत्व के लक्षण में प्रवेश तो हो नही सकता, किन्तु एकही एकत्व का निवेश कर सकते हैं; अतः जिस प्रत्यक्ष व्यक्तिगत एकत्व का निवेश करेंगे उससे अन्य व्यक्ति में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—सत्ता एक ही जातिरूप है तथा एकत्व प्रतिव्यक्ति भिन्नगुण पदार्थ है।

खण्डन—निश्चय, आप वैशेषिकों के वञ्चन में आ गये हैं। अन्यथा सत्ता और एकत्व दोनों की प्रतीति वा व्यवहार में भेद न देखते हुए भी आप युक्तिविरुद्ध असम्बद्ध एकत्व को गुण तथा सत्ता को जाति क्यों कहते।

समर्थन—यदि एकत्व जाति है, तो द्रव्यत्व के तुल्य, एकत्व का भी सत्ता के साथ पर अपरभाव होना चाहिए। वह हो नहीं सकता; कारण की सत्ता में सत्ता नहीं रहती है और एकत्व रहता है तथा एकत्व में सत्ता है, और एकत्व नहीं है; अतः सांकर्य्य होने से एकत्व जाति नहीं है ?

चेत्। नूनं वैशेषिकैर्व्विप्रलब्धोऽसि, कथमन्यथा सदेकप्रत्यययोरनुभवव्यवहारविशेषमपश्यन्नपि कानिचित्कानिचिदसम्बद्धान्यक्षराणि प्रलपसि। सत्वैकत्वयोः परापरत्वानुपपत्तेरेवं स्यादिति चेन्न। साम्यात्। जातिपरापरत्वध्रौव्यमेव च क्वाप्येकन्यूनवृत्तित्वे प्रमाणं स्यात्। क्व तथेति चेन्न। शैलेऽनलस्यानुमायां क्व हस्तवितस्त्यादौ तदंश इत्यनिश्चयवददोषत्वात् ॥७६॥

नन्वस्तु मा वासीदेकत्वमनुगतं किमनेनात्र निरूपितेन, द्वित्वादि यत्र न समाप्यते अभिहिताभावत्रयं चास्ति तत्प्रत्यक्षमिति। मैवम्। अनुमित्यादित्रयेऽपि न त्रित्वं परिसमाप्तम्। एवं सत्यन्यानि त्रीणि न स्युः। अन्या सा त्रित्वव्यक्तिर्याऽन्यत्रेति चेन्न। त्रित्वव्यक्तेः कस्याश्चिदनुमित्यादित्रये समाप्त्यभावात्।

काचिदपि त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न समाप्यत इति चेन्न। अव्यापकत्वात्। प्रत्यक्षत्वस्य च त्रित्वव्यक्तेश्चावश्यं सामानाधिकरण्यस्य वैशेषिकमतव्युत्थितेन भवताऽभ्युपगम्यत्वात्। अन्यथा प्रत्यक्षव्यक्तयस्तिस्रो न स्युस्, तदेव हि त्रिरभिधीयते यत्र त्रित्वं परिसमाप्यते ॥७७॥

खण्डन—यदि सांकर्य्य का परिहारमात्र ही कर्त्तव्य है, तो सत्ता को गुण और एकत्व को जाति मान कर लीजिये, क्या हानि है। किंच सत्ता एकत्व इन दोनों में एक पर तथा एक अपर है, एक व्यक्ति में वृत्ति, जातिद्वय होने से, जैसे द्रव्यत्व—यह अनुमिति ही एक के न्यूनवृत्तित्व में प्रमाण है। सत्ता अपर जाति है वा एकत्व इस विशेष का अनिश्चय अनुमिति में दोष नहीं है, कारण कि अनुमिति से सर्वत्र सामान्यरूप से ही निश्चय होता है, विशेषरूप निश्चय कहीं नहीं होता है। पर्वत में धूम से वह्नि की अनुमिति में भी हस्त-परिमित वा वितस्तिपरिमित वह्नि है ऐसा विशेष निश्चय कहाँ होता है ॥७६॥

समर्थन—एकत्व अनुगत हो वा न हो यहाँ इस निरूपण का क्या प्रयोजन है, द्वित्व आदि की परिसमाप्ति जहाँ न हो और उक्त अभावत्रय हों वह प्रत्यक्ष है।

खण्डन—अनुमिति आदि त्रय में भी त्रित्व की परिसमाप्ति नहीं है, कारण कि अन्यत्र भी त्रित्व है, यदि अनुमित्यादि त्रय में ही त्रित्व की परिसमाप्ति मानें तो अन्यत्र त्रित्व न रहेगा।

समर्थन—अन्यत्र जो त्रित्व व्यक्ति है, वह अन्य ही है, अर्थात् अनुमिति आदि में जो त्रित्व है उसकी परिसमाप्ति उसीमें है वह अन्यत्र नहीं है।

खण्डन—यत् किञ्चित् त्रित्व व्यक्ति की परिसमाप्ति का अभाव अनुमित्यादि त्रय में भी है?

समर्थन—किसी भी त्रित्वव्यक्ति की परिसमाप्ति जहाँ न हो वह प्रत्यक्ष है।

खण्डन—आप वैशेषिक (कणादमुनि के अनुयायी) नहीं हैं। अतः प्रत्यक्ष में त्रित्व संख्या को अवश्य मानेंगे, यदि न मानें तो "प्रत्यक्षव्यक्तयस्तिस्रः" ऐसा व्यवहार आप के मत में कैसे होगा, कारण कि वे ही तीन हैं, जिनमें त्रित्व संख्या हो, अतः प्रत्यक्ष में भी सब त्रित्व का अभाव नहीं है ॥ ७७ ॥

किञ्च तथापि स एवातिव्यापकतादोषः, त्रित्वेनावच्छिन्नास्वनुमित्यादिव्यक्तिषु त्वदभिहितमभावत्रयमस्तीति तत्र प्रत्यक्षलक्षणं गतमित्यतिव्याप्तिरुक्ता तद्व्यावर्त्तनाय भवताऽभिधीयते काचिदपि त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न समाप्यत इति। न चैवमुक्ते साऽतिव्याप्तिर्निवर्तते तत्राप्युक्तविशेषणस्य विद्यमानत्वात्। न हि त्रित्वावच्छिन्ने तस्मिन् त्रित्वव्यक्तिः काचिदपि समाप्यते, त्रित्वलक्षणैकोपाध्यवच्छिन्ने तस्मिन् त्रित्वव्यक्त्यन्तरं भवदप्याश्रयान्तरमादाय वर्त्तते न तु यत्रैव परिसमाप्यते। यत्र चोक्तमुपाधिभूतं त्रित्वं तेषु यदि त्रित्वसमाप्तिर्धर्मिषु दृश्येत तदा तद्दर्शनेन तत्र धर्मिमात्रे लक्षणव्यावृत्तिः सिद्ध्येत्। न तु त्रित्वविशिष्टे धर्मिणि तस्मादतिव्यापकत्वं तदवस्थमेव। अभावत्रयञ्च त्रित्वोपाध्यवच्छेदेन समुदिततामुपगतवति विशिष्टे धर्मिणि वर्त्तते नत्वविशिष्टे प्रत्येकमभावत्रयावस्थानस्य तेषु वक्तुमशक्यत्वात्।

अथ मन्यसे तादृशस्य विशिष्टस्य प्रमितित्वेनैव व्यवच्छेदः नह्यभावत्रयवत् त्रित्वं विशेषणमाश्रयकोटावन्तर्भाव्य तासु धर्मिव्यक्तिषु प्रमितित्वं वर्त्तते, किन्तु तेषां धर्मिणां स्वरूपमात्रे उक्ताभावत्रयं प्रमितित्वञ्चेत्येतद्यत्रास्ति तत्प्रत्यक्षमिति हि ब्रूम इति। न।

किञ्च ऐसा निवेश करने पर भी वही अतिव्याप्तिदोष है। देखिये-त्रित्व से युक्त अनुमिति आदि व्यक्ति में उक्त अभाव त्रय है, अतः वहाँ प्रत्यक्षलक्षण के होने से अतिव्याप्ति हुई। उसकी व्यावृत्ति के लिये आप निवेश करते हैं कि कोई भी त्रित्वव्यक्ति जहां परिसमाप्त न हो वह प्रत्यक्ष है। ऐसा निवेश करने पर भी उक्त अतिव्याप्ति का वारण नहीं होता है, कारण कि त्रित्वविशिष्ट उक्त विशेषण विद्यमान है। अनुमिति आदि में भी किसी भी त्रित्वव्यक्ति के न होने से त्रित्वलक्षण एक उपाधि से अवच्छिन्न (युक्त) अनुमित्यादि त्रय में अंशतः आत्माश्रय होने के भय से वह त्रित्व तो है नहीं, अन्य त्रित्व है, परन्तु वह भी घट पटादि अन्य आश्रय का आदानकर है। केवल उसमें नहीं है, जहाँ उपाधिभूत त्रित्व है, कारण त्रित्वविशिष्ट समुदाय एक है। केवल उन धर्मियों में त्रित्व देखा जाता है, अतः धर्मीमात्र में लक्षण की व्यावृत्ति नहीं हो सकती है। त्रित्वविशिष्टधर्म्मी में व्यावृत्ति नहीं हो सकती है, तस्मात् त्रित्वविशिष्ट में अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है। शब्दादि प्रमिति का अभावत्रय त्रित्वरूप उपाधिविशिष्ट धर्मी में है, केवल धर्मी में नहीं है। एक एक में दो अभावों के होने पर भी तीन अभाव नहीं है, कारण कि शब्दप्रमिति में शब्दप्रमितित्व का अभाव नहीं होता है।

समर्थन—अनुमिति आदि समुदाय में अतिव्याप्ति का व्यवच्छेद (वारण) प्रमितित्व के निवेश से ही होगा, कारण कि जैसे उक्त अभावत्रय, त्रित्व विशिष्ट धर्म्मी में हैं, वैसे प्रमितित्व, त्रित्वविशिष्टधर्म्मी में नहीं है, किन्तु धर्म्मीमात्र में है और उक्त अभावत्रय तथा प्रमितित्व दोनों जहां एक में रहें, वह प्रत्यक्ष है ऐसा हम कहते हैं।

खण्डन—आप भी किसी भिन्नधर्म से युक्त ही धर्म्मी में प्रमितित्व तथा उक्त अभावत्रय को मानेंगे, देखिये-यदि प्रमितित्व के क्वाचित्कत्व में नियामक न कहा जाय तो वस्तुमात्र ही प्रमिति हो जायगी, वा कुछ भी प्रमिति नहीं होगा। नियम में यदि अन्य की अपेक्षा न हो तो सर्वत्र सत्ता या असत्ता हो जायगी, कारण कि भावों का क्वाचित्कत्व नियामक से

भवताऽपि भिन्नभिन्नधर्मावच्छिन्नस्यैव धर्मिणः प्रमितित्वमभावत्रयवत्त्वञ्चावश्यमभ्युपगन्तव्यम् । तथा हि—यदि प्रमितित्वस्य क्वाचित्कत्वे नियामकं नोच्यते तदा सर्वा प्रमितिः स्यात् न वा काचिदपि ।

सर्व्वत्र सत्ताऽसत्ता वा नियमेऽन्यानपेक्षया ।
नियामकाद्धि भावानां क्वाचित्कत्वस्य सम्भवः ॥४२॥

तन्नियामकमाश्रये विशेषणीभूतं वा वक्तव्यं, उपलक्षणीभूतं वा । आद्ये यदेव प्रमितित्वस्याश्रयविशेषणं तदेव यत्राभावत्रयस्यापि तस्य तदा त्रित्वावच्छिन्नेऽनुमित्यादावभावत्रयस्य दर्शितत्वात्तत्र च प्रमितित्वेनापि त्रित्वावच्छिन्ने भवितव्यमिति प्रमितित्वान्न तद्व्यवच्छेदः । अथान्यावच्छिन्ने प्रमितित्वमन्यधर्मावच्छिन्ने चाभावत्रयसम्बन्धः, तदा नास्ति त्वत्पक्षेऽपि प्रमितित्वस्यैकधर्मविशिष्टाश्रयत्वलक्षणमेकाश्रयत्वं विशिष्टेऽपि धर्मिण्याश्रितो धर्म्याश्रित एवेति कृत्वा च प्रमितित्वस्याभावत्रयसमानाश्रयत्वेऽनुमित्यादित्रयेऽपि प्रसङ्गस्तदवस्थः ।

नापि द्वितीयः उपलक्षणीभूतेन केनचिद्धर्मेण योऽसावुपलक्षितो धर्मी स एव खलु त्रित्वविशिष्टोपि विशेषणवतोपि यावद्विशेष्यवस्तुनो विशेष्यवस्त्वात्मकत्वात् । यथा दण्ड्यपि पुरुषः पुरुष एव, एवञ्च सत्युपलक्षितादनन्यभूते त्रित्वविशिष्टेऽप्यनुमित्यादौ प्रमितित्वमाश्रितं नियामकेनोपलक्षणेनोपलक्ष्याभेदव्यवस्थितितया तस्याप्यवच्छिन्नत्वात् । तथाचातिव्याप्तिर्व्वज्रलेपायिता ॥७८॥

होता है, उस नियामक को आश्रय में विशेषण मानें वा उपलक्षण। प्रथम पक्ष में जो प्रमितित्व का नियामक आश्रय में विशेषण है, यदि वही—अभावत्रय का नियामक भी आश्रय में विशेषण है तो त्रित्वविशिष्ट अनुमित्यादि त्रय में उक्त अभावत्रय को दिखा आये हैं और प्रमितित्व-भी त्रित्वविशिष्ट अनुमित्यादि में है, कारण कि दोनों के नियामक एक ही हैं, अतः प्रमितित्व रूप विशेषण से अनुमित्यादि समुदाय में अतिव्याप्ति का वारण नहीं हो सकता है। यदि अन्यधर्म्म से अवच्छिन्न (नियमित) आश्रय में प्रमितित्व तथा अन्यधर्म से अवच्छिन्न आश्रय में अभावत्रय मानें तो तुह्मारे पक्ष में भी प्रमितित्व तथा अभावत्रय एक धर्म विशिष्ट प्रत्यक्ष में नहीं हैं, अतः असम्भव हो जायगा। यदि कहे कि यद्यपि अवच्छेदक भेद है, तथापि प्रत्यक्षरूप धर्म्मी में प्रमितित्व और अभावत्रय दोनों हैं, अतः असम्भव नहीं है, तो अनुमिति आदि त्रय में भी त्रित्वविशिष्ट में अभावत्रय तथा प्रत्येक में अर्थात् प्रत्यक्षत्व विशिष्ट में प्रमितित्व भी हैं, अतः अतिव्याप्ति वैसी ही है। नियामक आश्रय में उपलक्षण है यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि उपलक्षणीभूत जो धर्म्म उससे उपलक्षित जो धर्म्मी है, वह धर्म्मी ही त्रित्वरूप विशेषण से विशिष्ट भी है; कारण कि विशेषणवान् विशेष्य भी विशेष्यरूप ही है, जैसे दण्डी पुरुष भी पुरुष ही है। ऐसा होने पर उपलक्षित में प्रमितित्व के होने से उपलक्षित से अनन्यभूत त्रित्वविशिष्ट अनुमिति आदि त्रय में भी प्रमितित्व है; कारण कि उपलक्ष्य के अभेदरूप से व्यवस्थित होने से त्रित्वविशिष्ट भी नियामक उपलक्षण से अवच्छिन्न है। अतः प्रत्यक्षलक्षण की अनुमित्यादि त्रय में अव्याप्ति-वज्रलेप तुल्य हो गई ॥ ७८ ॥

तथाप्युपलक्षकेण त्रित्वविशिष्टतया नोपलक्षितोऽसौ धर्मी, किन्तु स्वरूपेणेति चेन्न। उक्तमत्र। यदेव तदुपलक्षितं तदेव विशिष्टमपि। तथापि त्रिशिष्टेन रूपेण तावन्नोपलक्षितमिति चेत् मोपलक्षि। अविशिष्टेनापि तन्नोपलक्षितमेव अन्यथा प्रकृतेपि वैयधिकरण्यापत्तेः।

तदास्तामुल्लसत्पल्लवदलनविलसितेनेति। तदेवं लक्षणान्तरेऽपि प्रतिपादितोऽयं दूषणसमूहः स्वयमूहनीयः।

एतदेव परामृश्य भट्टैरिदमुदाहृतम्।
लक्षणस्याऽभिधानन्तु केनांशेनोपयुज्यते ॥४३॥

अन्याभिप्रायोक्तमपि हि तत्सामान्यतोऽप्युपपद्यमानमेवेति ॥७६॥

समर्थन—यद्यपि उपलक्षित से अनन्यभूत त्रित्व विशिष्ट है; तथापि उपलक्षक से त्रित्वविशिष्ट रूप से उपलक्षित नहीं होता है, किन्तु केवल धर्म्मीमात्र उपलक्षित होता है।

खण्डन—जो उपलक्षित है वही त्रित्वविशिष्ट भी है। यदि कहें कि त्रित्व विशिष्ट रूप से उपलक्षित नहीं है तो न सही। अविशिष्टरूप से भी तो उपलक्षित नहीं है, अन्यथा यदि अविशिष्टत्व रूप से उपलक्षित में प्रमितित्व को मानें तो अविशिष्टत्व से उपलक्षित में प्रमितित्व के तथा प्रत्यक्षत्वादि विशिष्टरूप से उक्त अभावत्रय के होने से प्रत्यक्ष में भी भिन्न अवच्छेद से प्रमितित्व और अभाव त्रय है, अतः प्रत्यक्ष में असंभव होजायगा। तस्मात् शङ्कारूपपल्लव जिसमें उल्लसित हैं ऐसे वचन का आडम्बर व्यर्थ है, इसी प्रकार अन्य लक्षणों में भी इन दूषणसमूहों की स्वयं ऊहा करनी चाहिये।

इसी बात को विचार कर भट्ट जी ने कहा है कि लक्षण का अभिधान किसी अंश में उपयोगी नहीं है। यद्यपि भट्टजी ने धर्म्म में नोदना (विधि) ही प्रमाण है वा नोदना प्रमाण ही है, धर्म्म में प्रत्यक्षादि लक्षण अनुपयोगी हैं–इस प्रस्ताव में कहा है, तथापि लक्षण सामान्य में भी भट्टजी का कथन उपयोगी हो सकता है क्योंकि लक्षणमात्र उक्त प्रकार से खण्डित हैं ॥ ७६ ॥

इति प्रत्यक्षलक्षण खण्डनानुवाद।

अनुमानलक्षण खण्डनारम्भः

अनुमानमपि किमुच्यते। करणपक्षे लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति चेत् किं लिङ्गत्वम्। व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वमिति चेत्, न। संशयस्योपलक्षणत्वे तत्र दृष्टापि व्यापकं तत्परामर्शोऽतिप्रसङ्गात्। अतएव न तस्य वर्त्तमानस्यातत्कालेऽप्युपलक्षणत्वात्। विशेषणत्वे चानुमाय व्यापकं धर्मिनाशवदप्रवृत्त्यापत्तेः। पक्षधर्माद्धेतोः पक्षांशे विशेष्ये साध्यसिद्धिरीदृशश्च वैयधिकरण्यमिष्टमेवेत्यतो नैवमिति चेन्न। पक्षमादाय वैयधिकरण्ये नियतसामानाधिकरण्यलक्षणव्याप्तिलोपापत्तेः। तथापि विशेष्यमादाय साऽस्त्येवेति चेन्न। साध्यविशेषसिद्धिरपि यत्र व्याप्तिबलायातं सामान्यं तत्र सामान्यप्रतीत्यपर्य्यवसानबलादेवेति सामान्यविशेषसिद्धावनुपयोगिनी पक्षधर्मता त्वदिष्टा केवलं सिद्धसाधनपरिहारायानुमितिकारणत्वेनैष्टव्या सिद्धसाधनञ्च न स्वार्थानुमाने दोष इति नानुमितिमात्रहेतुनिवेशिनी सेति। मोक्षमार्गैर्हि—

अनुमानलक्षण खण्डन

खण्डनकर्ता—अनुमान भी क्या वस्तु है अर्थात् लक्षण न होने से अनुमान भी अनिर्वचनीय ही है। "अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानम्"—इस करणव्युत्पत्तिपक्ष में लिङ्ग के परामर्श (ज्ञान) को अनुमान कहते हैं।

खण्डन—इस लक्षण के घटक लिङ्ग की निरुक्ति होनी चाहिये, अतः पहिले यह कहिये कि लिङ्ग क्या वस्तु है ?

निर्वचन—पक्षवृत्ति धूमादि व्याप्तिविशिष्ट लिङ्ग है।

खण्डन—जिस धर्मी में साध्य का सन्देह हो वह पक्ष है—यहां सन्देह पक्ष में
उपलक्षण है वा विशेषण। यदि उपलक्षण मानें तो जहाँ पर्वत में वह्नि के प्रत्यक्ष होने पर
भी धूम का परामर्श होता है, वहां पर धूमपरामर्श अनुमान तथा धूम लिङ्ग कहा जावेगा।
वर्त्तमान जो सन्देह उससे उपलक्षित धर्मी में वृत्ति व्याप्तिविशिष्ट धूमादि लिङ्ग है और
प्रकृतस्थल में वर्त्तमान सन्देह नहीं है, अतः अतिप्रसङ्ग नहीं, यह कथन भी युक्त नहीं है,
कारण कि भूत, भविष्यत् भी [गुरुटीका कुरु-क्षेत्र इत्यादि स्थल में] गुरु, कुरु उपलक्षण
देखे जाते हैं। भावार्थ यह है कि वर्त्तमान, विशेषण ही होता है उपलक्षण नहीं, अतः
यदि सन्देह में वर्त्तमान विशेषण हो तो सन्देह धर्मी का विशेषण हुआ उपलक्षण न रहा
और यदि सन्देह को धर्मी का विशेषण मानें तो वह्नि के अनुमान होने पर वह्नि के अर्थ
प्रवृत्ति न होनी चाहिये, कारण कि धर्मी के नाश होने पर धर्म के अर्थ प्रवृत्ति नहीं होती
है और यहां वह्नि की अनुमिति होने पर सन्देह के नाश होने से सन्देहविशिष्ट धर्मी
का भी नाश ही है।

निर्वचन—सन्देहविशिष्ट पर्वत में विद्यमान धूम से केवल पर्वत में वह्नि की अनुमिति
होती है और साध्यसिद्धि से सन्देह के नाश होने पर भी पर्वत विद्यमान है, अतः धर्मी
के नाश के तुल्य अप्रवृत्ति नहीं होती है।

"आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रेधाऽऽत्मनि प्रमाणानां संप्लवः स्वार्थमिष्यत इति ॥४४॥

एतेन संशययोग्यताऽपि निरस्ता ॥८०॥

व्याप्यत्वमिति चेत् । किं वस्तुगत्या व्याप्यस्य स्वरूपेण परामर्शोऽनुमानं व्याप्यतया वा । नाद्यः अगृहीतव्याप्तिनाऽपि धूमादिपरामर्शस्यानुमानताप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः व्याप्त्युल्लेखिनः प्रमाणस्यानुमानत्वप्रसङ्गात् । तस्यापि व्याप्यत्वग्राहिताया अवश्यवक्तव्यत्वात् । अतएव द्वितीयतृतीयविशेषणे अपि निरस्ते । धारावाहिनि तथात्वापत्तेः । गृहीतव्याप्तिनाऽपि युगपदुभयग्रहणे द्वावेतौ व्याप्यव्यापकाविति

खण्डन—यदि सन्देहविशिष्टपर्वत में धूम है तथा केवल पर्वत में वह्नि है, तो नियत सामानाधिकरण्यरूप साध्य की व्याप्ति साधन में न रही।

निर्वचन—सन्देहविशिष्टपर्वत में यदि धूम है, तो केवल पर्वत में भी है कारण कि विशिष्ट में वृत्तिधर्म विशेष्य में भी रहता है, अतः पर्वत में साध्य तथा साधन दोनों हैं, अतः व्याप्ति का विलोप नहीं।

खण्डन—पर्वत में व्याप्तिविशिष्ट धूम के ज्ञान से ही सामान्य से वह्नि का पर्वत में ज्ञान होगा और विशेषज्ञान के विना सामान्य के अपर्यवसान से विशेषवह्नि का भी पर्वत में ज्ञान होगा, अतः पक्षधर्मत्व के निवेश का सामान्य वा विशेषरूप से साध्य की सिद्धि में उपयोग तो है नहीं, केवल सिद्धसाधनरूप दोष की निवृत्ति ही में उपयोग है और सिद्धसाधनस्वार्थानुमान में दोष नहीं है, कारण कि मुमुक्षुओं के आगम (श्रवण) अनुमान (मनन) ध्यान (निदिध्यासन रूप प्रत्यक्ष) के आत्मा में होने से प्रमाणत्रय के एक में सङ्कर तथा शब्दसिद्ध आत्मा में अनुमिति देखने में आती है, अतः अनुमिति मात्र के हेतु में पक्षधर्मता का निवेश नहीं हो सकता है।

निर्वचन—सन्देहयोग्य साध्य से विशिष्ट पर्वतादि पक्ष है तथा उक्त पक्ष में वृत्ति व्याप्तिविशिष्ट धूमादि लिङ्ग हैं।

खण्डन—व्यापक वह्नि आदि के प्रत्यक्ष होने पर भी हेतु धूमादि का ज्ञान परामर्श हो जायगा, कारण कि साध्य का निश्चय होने पर भी साध्य के सन्देह की योग्यता है ही। अन्यथा उक्त पक्ष में कालान्तर में भी अनुमिति न होगी ॥ ८० ॥

निर्वचन—व्याप्तिविशिष्ट लिङ्ग है और तत्परामर्श अनुमान है ईयत् मात्र ही रहे, पक्षधर्मत्व का लिङ्गलक्षण में निवेश न रहे हानि क्या है। (१)

खण्डन—क्या वस्तुतः जो हेतु व्याप्तिविशिष्ट है उस हेतु का स्वरूप से परामर्श अनुमान है अथवा व्याप्तिविशिष्टत्व रूप से हेतु का परामर्श अनुमान है। प्रथम पक्ष में जिस पुरुष को व्याप्तिग्रह नहीं हुआ हो उसका "पर्वतो धूमवान्" यह ज्ञान अनुमान हो जायगा। द्वितीय पक्ष में व्याप्ति को विषय करनेवाला "धूमाग्नी व्याप्तौ" यह ज्ञान अनुमान हो जायगा, कारण कि व्याप्ति के उल्लेखवाला उक्त ज्ञान का व्याप्यत्व भी विषय होता ही है

१ परार्थानुमान स्थल में सिद्धसाधन को दोष होने से वहां अतिव्याप्ति के वारणार्थ पक्षवृत्तित्व का निवेश आवश्यक है तथापि आपात से यह ग्रन्थ है

परामर्शस्यानुमानत्वप्रसङ्गात् । न च तदनुमानमेव, असन्दिग्धतया पक्षत्वाभावेन तद्धर्मस्य हेतोः सिद्धसाधनवदपक्षधर्मत्वात् ॥८१॥

स्वार्थानुमाने नाऽयं दोष इति चेन्न । प्रत्यक्षलक्षणोपपत्त्या साक्षात्त्वासाक्षात्त्वविरोधापत्तेः । अव्यापकविषयत्वे सतीति चेन्न । व्याप्यविषयत्वाभावप्रसङ्गात् । व्याप्यत्वं हि सप्रतियोगिकग्रहणं तथा चैतस्य व्याप्यमिदमिति गृह्यते तथा च सति व्यापकस्यापि विशेषणस्य ग्रहणमवश्यं वक्तव्यमन्यथा विशिष्टग्रहणस्य वक्तुमशक्यत्वात् । विशेषतो व्यापकाविषयत्वे सतीति चेन्न । अग्निधूमौ व्याप्तावित्याप्तोपदेशात्पूर्व्वं भूयोगृहीतवह्निधूमसाहचर्यस्य वन्हिधूमाग्रहणकाले विमर्शवशाद्वा जायमानव्याप्तिग्रहणस्य व्याप्यपरामर्शोऽनुमानं स्यात् । न परामर्शः प्रत्ययमात्रं येन प्रथमग्रहणे प्रसङ्गः स्यात् किन्नाम प्रत्यभिज्ञानमिति चेन्न । विचारादाप्तोपदेशाद्वा प्रतीत्य व्याप्तिं पुनराप्तोपदेशाद्विचाराद्वा यैव मया व्याप्तिर्गृहीता सैवेयमिति प्रत्यभिजानानस्य व्याप्तिज्ञानमनुमानं

द्वितीय लिङ्गपरामर्श "यत्र २ धूमस्तत्र २ वह्निः" अथवा तृतीय लिङ्गपरामार्श (धूमवांश्चायम्) अनुमान है—यह कथन भी उक्त दोष से ही युक्त नहीं है, किञ्च धारावाही ज्ञान के द्वितीय वा तृतीय "पर्वतो धूमवान्" यह ज्ञान अनुमान हो जायगा । किञ्च जहाँ व्याप्ति के प्रत्यक्ष के बाद "धूमवह्नी व्याप्यव्यापकौ" यह मानस ज्ञान हुआ, वहाँ वह ज्ञान अनुमान हो जायगा और यह ज्ञान अनुमान ही है ऐसी इष्टापत्ति नहीं कर सकते, कारण कि यहाँ साध्य के सन्देह न होने से पर्वत पक्ष नहीं है, अतः उस पर्वत में विद्यमान हेतु, सिद्धसाधनस्थल के तुल्य पक्षधर्म नहीं है ॥ ८१ ॥

समर्थन—स्वार्थ अनुमान में अपक्षधर्म्मत्व दोष नहीं है, अतः व्याप्तिप्रत्यक्ष के अनन्तर जात "धूमवह्नी व्याप्यव्यापकौ" यह धूमपरामर्श, अनुमान ही है ।

खण्डन—यदि उक्त परामर्श को अनुमान मान लें, तो इसके अनन्तर जात "पर्वतो वह्निमान्" यह ज्ञान अनुमान से जन्य होने से अनुमिति तथा चक्षु के अन्वय होने से प्रत्यक्ष है, अतः अनुमितित्व प्रत्यक्षत्व से सङ्करदोष हो जायगा ।

निर्वचन—व्यापकाऽविषयक जो व्याप्यपरामर्श वह अनुमान है ।

खण्डन—जो ज्ञान व्यापक को विषय नहीं करता हो वह व्याप्यविषयक हो नहीं सकता, कारण कि व्याप्य, व्यापक से निरूपित होता है अर्थात् "इसका यह व्याप्य है" ऐसा ही व्याप्य का ज्ञान होता है, अतः व्याप्ति में विशेषणरूप से व्यापक अवश्य भासता है । अन्यथा विशेषण के भान के बिना विशिष्ट का भान हो नहीं सकता है ॥

निर्वचन—जिस ज्ञान का विशेषरूप से व्यापक विषय न हो ऐसा जो व्याप्यपरामर्श वह अनुमान है ?

खण्डन—"धूमाग्नी व्याप्यव्यापकौ" इस आप्त के उपदेश से अथवा पूर्वकाल में जिस पुरुष को बार २ वह्नि-धूम का साहचर्य्य ज्ञान हुआ हो उस पुरुष के वह्निधूम के अप्रत्यक्ष काल में विचार (तर्क) से जात व्याप्य परामर्श अनुमान हो जायगा, कारण कि शाब्द वा मानस होने से उक्त ज्ञान में व्यापक विशेष रूप से नहीं भासता है ।

समर्थन—ज्ञानमात्र को परामर्श नहीं कहते हैं; किन्तु प्रत्यभिज्ञा को कहते हैं और उक्त शाब्द वा मानसज्ञान प्रत्यभिज्ञारूप नहीं है, अतः उक्त ज्ञान अनुमान नहीं होगा ।

स्यात्। विशेषतो व्याप्यविषयत्वे सतीति चेन्न। अव्यापकत्वप्रसङ्गात्। एकव्यक्तिविषयत्वस्य व्यक्त्यन्तरेऽसम्भवात्सामान्यतो व्यक्तिविषयत्वस्य चातिप्रसञ्जकत्वात्॥८२॥

किञ्च धूमवत्त्वादेर्यदाकदाचिदग्निमत्त्वं वा प्रतीयते तदानीं वाऽग्निमत्त्वं पर्व्वतादेः। नाद्यः तदानीमिवान्यदाऽप्यग्न्यर्थिप्रवृत्तेस्तत्र प्रसङ्गात्। न द्वितीयः तदानीमग्निमत्तया व्याप्तत्वानवगमात्। तदेति धूमकालोऽपेक्षित इति चेन्न। क्वचिद्देशेऽन्यदाऽपि धूमस्यावस्थानमस्तीति कालान्तरस्यापि धूमकालत्वात्। तद्धूमकालोऽपेक्षित इति चेन्न। तच्छब्दस्य व्यक्तिविशेषवचनत्वेऽप्रतीतव्याप्तिकत्वं यत्किञ्चिद्व्यक्तिवचनत्वे चोक्तदोषापत्तिः। हेतोः पक्षधर्मतयाप्यपर्व्वतादिधर्मः साध्यो माभूत्तदस्तु कालान्तरे किं न

खण्डन—विचार वा आप्तोपदेश से व्याप्तिज्ञान होने पर जायमान—विचार वा आप्तोपदेश से जो व्याप्ति गृहीत हुई थी, वही यह व्याप्ति है—इस व्याप्ति प्रत्यभिज्ञा में अनुमानत्व हो जायगा।

निर्वचन—जिसका विशेष रूप से व्यापक तो विषय हो नहीं, ऐसा विशेषरूप से व्याप्यविषयक परामर्श अनुमान है?

खण्डन—विशेष से व्याप्तिविषयक हो इस वाक्य का पर्वतादिनिष्ठ तत्तद्धूमादि विषयक हो यह अर्थ है, वा सामान्य से व्यक्तित्वाधिकरण-विषयक हो वह अर्थ विवक्षित है। प्रथम पक्ष में अरण्यादिगत धूमपरामर्श में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि लक्षण में पर्वतगतधूम व्याप्ति का निवेश होने से अरण्यगतधूम में उक्त लक्षण का असम्भव है। द्वितीय पक्ष में सामान्य से व्यक्तित्वाधिकरण प्रत्यभिज्ञान का भी विषय है, अतः पूर्व उक्त प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति हो जायगी॥८२॥

किञ्च—धूम से पर्वत में जिस किसी काल से सम्बद्ध वह्नि की प्रतीति होती है अथवा उसी काल से सम्बद्ध वह्नि की प्रतीति होती है—इन दोनों में प्रथम पक्ष युक्त नहीं, कारण कि जैसे उस काल में अग्नि के अर्थ मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है वैसे ही अन्यकाल में भी प्रवृत्ति हो जायगी। और द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं, कारण कि तात्कालिकत्वरूप से अग्नि की धूम में व्याप्ति नहीं है, किन्तु अग्नित्वरूप से ही अग्नि की धूम में व्याप्ति है।

निर्वचन—"यदा २ धूमस्तदा २ वह्निः" ईदृशव्याप्तिग्रह में काल भासता है, अतः धूमकालिक अग्नि की अनुमिति होती है।

खण्डन—किसी देश में दूसरे काल में भी धूम रहता है, अतः अन्यकाल को भी धूमकाल होने से अन्यकाल में भी अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति होनी चाहिये।

निर्वचन—तद्शब्द परामर्शविषय धूमपरक है, अतः अन्यकाल में अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति नहीं होती है।

खण्डन—यदि तद्शब्द को परामर्शविषय तत्तद्धूमव्यक्तिपरक मानें, तो तत्तद्धूमव्यक्तिविशेष में विशेषरूप से व्याप्तिग्रह है नहीं, फिर अनुमिति में उस काल का स्फुरण कैसे होगा। यदि तद्शब्द का जिस व्यक्ति में व्याप्तिग्रह हुआ है उस व्यक्तिपरक मानें तो सम्भव है कि अन्यकाल में विद्यमान धूम में भी व्याप्तिग्रह हुआ हो, अतः अन्यकाल में भी प्रवृत्ति हो जायगी।

स्यात्। तं कालमन्तर्भाव्य पक्षत्वे कथं पश्चान्निष्कम्पं प्रवर्त्तेत। धूमकालमन्तर्भाव्य चेदुक्तमावर्त्तते। तद्धूमकालश्चेदंशतः स्ववृत्तिः॥ ८३॥

कश्च व्याप्तिशब्दार्थ इति वक्तव्यम्। अविनाभावइति चेन्न। किमेकस्याव्यतिरेकेऽपरस्य भावोऽविनाभावपदार्थः, उत एकस्य व्यतिरेकेऽपरस्य व्यतिरेकः। यद्याद्यस्तदाऽव्यतिरेकोऽन्वयार्थ इत्येकस्यान्वयेऽपरस्यान्वय इत्युक्तं स्यात्। एवञ्च सति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरन्ययो व्याप्तिः स्यात्।

न काचित्कः सम्बन्धो व्याप्तिः सार्व्वत्रिकस्य तथात्वेन विवक्षितत्वादिति चेत्। किमिदं सार्व्वत्रिकत्वं सम्बन्धस्य। सर्वासु तज्जातीयव्यक्तिषु विद्यमानतेति चेत्। नेयं सर्वतज्जातीयव्यक्त्यपरिज्ञाने शक्यावधारणा। न च सर्व्वास्ता व्यक्तयो विशेषतो ज्ञातुं शक्यास्तत्तत्प्रमितिकरणासम्भवात्।

हेतु में पक्षधर्मता केवल से पक्ष में ही वह्नि की सिद्धि होती है अपक्ष में नहीं, यह तो हो सकता है; परन्तु अन्यकाल में अग्नि की सिद्धि क्यों नहीं।

निर्वचन—अनुमितिकाल से वा लिङ्गकाल से विशिष्ट संदिग्धसाध्य धर्म्मी पक्ष है, अतः लिङ्गकाल अनुमिति में भासता है।

खण्डन—यदि लिङ्गकालविशिष्ट को पक्ष मानेंगे, तो लिङ्गकाल के नाश होने पर धर्म्मी के नाश के तुल्य प्रवृत्ति नहीं होगी।

निर्वचन—लिङ्गकाल, पक्ष में विशेषणरूप से नहीं भासता है, किन्तु धूमकाल भासता है और धूमकाल धूम की अनुवृत्ति होने से प्रवृत्ति काल भी है, अतः हानि नहीं।

खण्डन—यदि धूमकाल को पक्ष में विशेषण मानें, तो अन्य काल भी धूमकाल है अतः अन्यकाल में भी प्रवृत्ति होनी चाहिये। यदि च तद्धूमकाल, पक्ष में विशेषण मानें, तो "तद्धूमकालविशिष्टपर्वतः धूमवान्" ऐसा पक्षधर्म्मता के ज्ञान के होने से अंशतः धूम में धूमवृत्तित्व हो जायगा॥ ८३॥

किञ्च यह भी कहना चाहिये कि व्याप्ति शब्द का क्या अर्थ है यदि अविनाभाव को व्याप्ति शब्द का अर्थ कहें, तो क्या एक के अव्यतिरेक में अपर का भाव अविनाभाव शब्द का अर्थ है अथवा एक के व्यतिरेक में अपर का व्यतिरेक, अविनाभाव शब्द का अर्थ है? यदि प्रथम पक्ष है तो अव्यतिरेक अन्वय है, अतः एक के अन्वय में अपर का अन्वय—यह अर्थ हुआ ऐसा माननेपर लोहलेख्यत्व (कुठारादिच्छेद्यत्व) रूप साध्य का पार्थिवत्व में व्याप्ति हो जायगी, कारण कि एक पार्थिवत्व का जिस काष्ठादि में अन्वय है वहाँ लोहलेख्यत्व का भी अन्वय है।

समर्थन—काचित्कसम्बन्ध (अन्वय) व्याप्ति नहीं है, किन्तु सार्वत्रिक सम्बन्ध व्याप्ति है और सार्वत्रिक पार्थिवत्व का लोहलेख्यत्व में अन्वय, वज्र (हीरा) में व्यभिचार होने से नहीं है।

खण्डन—सम्बन्ध में सार्वत्रिकत्व क्या वस्तु है। यदि तज्जातीय सर्वव्यक्तियों में विद्यमानता है तो यावत् सर्वव्यक्तियों का ज्ञान न हो तावत् सर्वव्यक्तियों में सम्बन्ध की विद्यमानता का ज्ञान हो नहीं सकता और सब व्यक्तियों का विशेषरूप से ज्ञान कारण के न होने से हो नहीं सकता।

इन्द्रियेण सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाले सर्वास्तज्जातीयव्यक्तयो गृह्यन्ते यदनभ्युपगमे पण्डकमुद्वाह्य मुग्धायाः पुत्रप्रार्थनमिवेति वाचस्पतिरुपालम्भमवादीदिति चेत्। मैवम्। सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या व्याप्तिं गृह्णतः सार्वज्ञ्यप्रसङ्गात् ॥ ८४ ॥

क्वचिदप्यज्ञानं ते न स्यादिति च सार्व्वज्ञ्यापादनमिति न प्रतिकृत्यापि। प्रमेयतया व्याप्तिग्रहणकाले सर्वतज्जातीयव्यक्तिग्रहणे प्रमेयत्त्वादिसर्व्वं तदा ज्ञायत एव न तु रूपान्तरेणेति चेन्न। यदि रूपान्तरेण तत् प्रमेयं तदा रूपान्तरवतोऽपि प्रमेयत्वाधारतया कथमग्रहणम्। अथ न प्रमेयं नास्त्येव रूपान्तरेण तत्। येन तु रूपेणास्ति तेन सर्व्वेण प्रमेयमिति यावद्विद्यमानाकारेण ज्ञातत्वप्रसङ्गः। तथात्वस्वीकारे च ज्ञायतां प्रमेयत्वदर्शिना भवता मामकी चित्तवृत्तिः ततः श्रद्धास्ये ॥ ८५ ॥

समर्थन—चक्षुरिन्द्रिय से सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) द्वारा व्याप्ति ग्रह काल में सबव्यक्तियों का ग्रहण (ज्ञान) होता है। जिस सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के अस्वीकार में व्याप्ति के ग्रह का स्वीकार, पण्डक से विवाह कर मुग्धा स्त्री की पुत्र प्रार्थना के तुल्य है, ऐसा उपालम्भ वाचस्पति मिश्र ने किया है।

खण्डन—यदि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से व्याप्तिग्रहण काल में सब व्यक्तियों का ग्रहण मानें, तो प्रमेयत्व के व्याप्तिग्रह काल में प्रमेयमात्र के ग्रह होने से मनुष्यमात्र को सर्वज्ञ हो जाना चाहिये ॥ ८४ ॥

प्रतिवन्दी सर्वज्ञत्व का प्रसङ्ग हो जायगा यह दोष का प्रसङ्ग भी सर्व ज्ञान के बिना हो नहीं सकता है, कारण कि जब आप सर्व को जानते ही नहीं है फिर मुझ मे सर्व ज्ञान का प्रसङ्ग (आरोप) करेंगे कैसे, अतः आपको भी सर्वज्ञत्व हो जायगा।

उत्तर—यह प्रतिकृत्या (प्रतिवन्दी) भी युक्त नहीं है। अनिष्टकारक देवता को कृत्या कहते हैं और उस देवता के निवारक देवता को प्रतिकृत्या कहते हैं। प्रकरण में लक्षण से प्रतिकृत्या शब्द प्रतिवन्दीपरक है, कारण कि मेरे चित्त में क्या है इस प्रश्न के उत्तर न देने से मेरे हृद्गत वस्तु को आप नहीं जानते यह बात सिद्ध होती है वह बात मेरे हृद्गत वस्तु के जानने पर नहीं हो सकती यह सर्वज्ञत्वापादन का आशय है।

समर्थन—सामान्यलक्षणा से प्रमेयत्वरूप से सर्व के ग्रहण होने पर भी रूपान्तर (तत्तद्रूप) से सर्व का ग्रहण नहीं होता है, अतः सर्वज्ञत्व प्रसङ्ग नहीं।

खण्डन—यदि तत्तद्रूप से तत् तत् वस्तु प्रमेय है, तो तत्तद्रूपविशिष्ट तत्तद्वस्तु को प्रमेयत्व रूप का आधार होने से प्रमेयत्व रूप से ग्रहण क्यों न हो, यदि अन्यरूप से वह प्रमेय नहीं है तो अन्यरूप से वह है नहीं, जिस रूप से वह है उस रूपसे वह प्रमेय है, अतः यावत् विद्यमान आकार से ग्रहण का प्रसंग हो जायगा। यदि आप मान लें कि यावत् विद्यमान आकार से सब वस्तु ज्ञेय है-तो प्रमेयत्व से सब वस्तु को देखनेवाले आप मेरे चित्त में वर्तमान वस्तु को जान लें, फिर आपके वचन में मैं श्रद्धा करूँगा ॥ ८५ ॥

समर्थन—जैसे अन्योन्याभाव, वैधर्म्य आदि रूपभेद, वस्तुओं में पृथक्त्वरूप है, वैसेही एकत्व, प्रमेयत्व आदि भी वस्तुओं का ऐक्यरूप ही है, तब प्रमेयत्व आदि भी

स्यादेतत् यथा भेदोऽन्योन्याभाववैधर्म्यादिः पृथक् तथैक्यमपि वस्तूनां, ततः प्रमेयत्वाद्यपि धर्मिणामेकत्वमेकमेव ततः प्रमेयत्वेन ज्ञायमानं तत् सर्वमपि तेनैक्येन प्रतीयमानैकव्यक्त्यात्मकमेव ज्ञायमानं भवतीति कथं तदेकत्ववेदिनः सार्व्वज्ञ्यम्। नच वाच्यं ननात्वमपि व्यक्तीनां प्रमेयमिति तदपि धर्मितया ग्राह्यमेवेति, यतस्तदपि प्रमेयत्वादिना गृह्यमाणमेकमेव गृहीतं भवतीति। तस्मात्—

"एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः

सर्व्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टा इति।,,

तत्त्वतस्ताद्रूप्येण एकीभूता इति। तदेतदपि नोपपन्नम्। नानैकमिति व्याहतप्रतीत्यापत्तेः॥

अथ रूपान्तरेण नानात्वं प्रमेयत्वादिना चैक्यमिति व्यवस्थित्या न व्याघातः स्यात्। तर्हि प्रमेयत्वाद्याधारस्य व्यक्तिभेदस्य कृत्स्नस्य ग्रहणात् सार्वज्ञापत्तिस्तादवस्थ्येवेति॥ ८६॥

धर्मियों के ऐक्यरूपही है, तस्मात् प्रमेयत्व रूप से ज्ञायमान वह सर्ववस्तु ऐक्यरूप से प्रतीयमान एक रूपात्मक ही ज्ञात होता है, अतः एकत्ववेदी के ऊपर सर्वज्ञत्व का प्रसङ्ग कैसे हो सकता है। यदि कहें कि व्यक्तियों का नानात्व भी प्रमेयत्व रूप से ज्ञात होता है अतः वस्तु नाना हैं तो यह युक्त नही है, कारण कि नानात्व भी प्रमेयत्व रूप से गृहीत एक ही होता है। यह कहा भी है कि जिस पुरुष ने एक भाव (वस्तु) को प्रमेयत्वादिरूप से देखा है उस पुरुष ने संपूर्ण भावों को प्रमेयत्वादि रूप से एकता को प्राप्त, ही देखा है।

खण्डन—यदि ऐसा मानें तो "नाना एक हैं" ऐसी व्याहत प्रतीति होने लगेगी। यदि कहें कि अन्यरूप से नाना है तथा प्रमेयत्व रूप से एक है, अतः व्याहत प्रतीति नहीं होगी तो प्रमेयत्व के आधार भिन्न २ सब व्यक्तियों के ग्रहण होने से सर्वज्ञत्व का आपादनरूप दोष पूर्ववत् ही रहा॥ ८६॥

किञ्च सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से सब व्यक्तियों के ज्ञान होने पर भी उन व्यक्तियों में व्याप्तिरूप सम्बन्ध में क्या प्रमाण है।

समर्थन—सब व्यक्तियों के तुल्य उनके व्याप्तिरूप सम्बन्ध (ज्ञान) में भी इन्द्रिय ही करण है और सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति ही सन्निकर्ष है। अतः सम्बन्ध में इन्द्रिय ही प्रमाण है।

खण्डन—यदि सम्बन्ध में इन्द्रिय को प्रमाण मानें, तो (यत्र २ पार्थिवत्वम् तत्र २ लोहलेख्यत्वम्) ऐसा व्याप्ति निश्चय होने पर भी जो कहीं वज्र में व्यभिचार देखा जाता है वह न होना चाहिये, कारण कि इन्द्रिय से व्याप्तिरूप सम्बन्ध प्रमित है।

समर्थन—वहां व्याप्तिरूप सम्बन्ध की प्रतीति भ्रमरूप है, कारण कि पीछे बाधित होती है।

खण्डन—वह्नि के धूम में व्याप्ति ग्रह का जो इन्द्रिय और सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति आदि कारण हैं, वे ही पार्थिवत्व के लोहलेख्यत्व में व्याप्ति ग्रह के भी कारण हैं, फिर जब कारण एक हैं तब पूर्वस्थल में अभ्रान्ति है उत्तरस्थल में भ्रान्ति है—यह विभाग हो नहीं सकता। पूर्वस्थल में दोष नहीं है उत्तरस्थल में दोष है यह विवेचन भी दुष्कर है।

किञ्च सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या तज्जातीयविशेषग्रहणे तासु सर्व्वासु व्यक्तिषु सम्बन्धास्तित्वे किं प्रमाणम्। सर्व्वव्यक्तिवत्तत्सम्बन्धग्रहेऽपि व्याप्तिग्राहकमिन्द्रियमेव प्रमाणमिति चेत्तर्हि क्वचिदेवमवधारितस्य यद्व्यभिचारो दृश्यते तन्न स्यात् इन्द्रियेण तत्सम्बन्धस्य प्रमितत्वात्। भ्रान्तिस्तत्र सम्बन्धप्रतीतिः पश्चाद्बाधादिति चेन्न। सामग्र्यभेदे काचिद्भ्रान्तिः काचिदभ्रान्तिरिति विभागानुपपत्तेः दोषादोषवैचित्र्यविवेचनस्य च दुष्करत्वात्।

कार्य्यभेदादेव सामग्रीभेदोऽप्युन्नेय इति चेत्। उन्नीयताम्। स एव तु कीदृगुन्नेय इति वाच्यम्। न तावत्सार्व्वत्रिकसम्बन्धभावाभावात्मकस्तदानीं भाविनां सम्बन्धानामसत्त्वेनाकारणत्वात्। सामान्यतश्च तज्जातीययोः सम्बन्धस्य प्रतीतेः पूर्व्वं सत्त्वं भ्रान्त्यभ्रान्तिसाधारणं, क्वचिदपि सम्बन्धाभावे भ्रान्तेरनुत्पादात्॥ ८७॥

किमेतावता अन्यएव तर्हि कार्य्यभेदात्कारणभेदः कल्पयिष्यत इति चेत्। स हि किमिन्द्रियसहकारिभूतः करणान्तरमेव वा कल्पनीय इति वाच्यम्। नाद्यः इन्द्रि-

---

समर्थन—कार्य्यभेद से अर्थात् पूर्वस्थल में प्रमाणरूप तथा उत्तरस्थल में भ्रमरूप व्याप्तिग्रह होता है इससे सामग्रीभेद को अनुमिति करनी चाहिये।

खण्डन—अनुमिति कीजिये, परन्तु यह कहिये कि वह सामग्रीभेद क्या है, वह्निधूम स्थल में सार्वत्रिक सम्बन्ध है और लोहलेख्यत्व पार्थिवत्वस्थल में सार्वत्रिक सम्बन्ध नहीं है। यह सामग्रीभेद तो आप नहीं कह सकते हैं, कारण कि व्याप्तिग्रहकाल में भावी सम्बन्ध है नहीं, अतः व्याप्तिग्रह के भावी सम्बन्ध कारण नहीं हो सकते हैं—यदि कहें कि सामान्यरूप से वह्नि धूमजातीय के सम्बन्ध व्याप्तिधूमग्रह से पूर्व विद्यमान है तो लोहलेख्यत्व और पार्थिवत्व का सम्बन्ध भी सामान्यरूप से काष्ठादि में व्याप्ति ग्रहकाल में विद्यमान ही है। यदि कहीं भी लोहलेख्यत्व पार्थिवत्व के सम्बन्ध का ग्रह न हो तो भ्रान्ति होगी कैसे ॥८७॥

समर्थन—कार्यभेद से कारणभेद की कल्पना करेंगे और वह सार्वत्रिक सम्बन्ध से अन्य ही है।

खण्डन—वह कारण क्या इन्द्रिय का सहकारी है? अथवा स्वतन्त्र (इन्द्रियनिरपेक्ष) अन्य ही कारण है। इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है; क्यों कि इन्द्रियाँ भावी भूत के सम्बन्ध (व्याप्ति) अंश में कारण नहीं हो सकती हैं और इन्द्रिय के व्यापार न होने पर भी वह्नि की व्याप्ति धूम में न हो तो भूयः सहदर्शन नहीं हो सकता है। इस विचारवाले मनुष्य को पूर्व प्रतीति परस्परसम्बद्ध धर्म्मिद्वय की व्याप्तिग्रह (ज्ञान) देखा जाता है यदि कहें कि चक्षुरादि के उपरामकाल में भी मनरूप इन्द्रिय है तो युक्त नहीं, कारण कि मन व्याप्तिग्रह में चाक्षुषादि ज्ञान के तुल्य कारण तो है, परन्तु परिकल्पनीयसहकारी से ही सर्वदोष की निवृत्ति होने से मन के करणत्व में प्रमाण नहीं है। जैसे चाक्षुषादि ज्ञान में चक्षु कारण है वैसे ही व्याप्तिग्रह में भी मन से अन्य ही कारण कल्पनीय है, और वह यदि व्याप्तिग्रह को प्रत्यक्ष मानें तो सप्तम इन्द्रिय हो जायगा, अन्यथा यदि मन को ही कारण मानें तो चाक्षुषादिज्ञान में भी चक्षु करण न होगा, कारण कि कह सकते हैं कि मन ही सुखानुभव के तुल्य चाक्षुष में भी करण है चक्षुसहकारी मात्र है।

यस्य भाविभूतसम्बन्धांशे प्रमाणत्वकल्पनायां प्रमाणाभावात् । प्रत्युत व्युपरतेन्द्रियव्यापारस्यापि विचारयतः पूर्वप्रतीतसम्बन्धधर्म्मिद्वयस्य व्याप्त्यवधारणदर्शनात् । तत्रापि मनोऽस्तीन्द्रियमिति चेत् अस्तु, तस्मिन् कार्य्ये मनसः करणत्वे तु प्रमाणाभावः । अवश्यपरिकल्पनीयेनान्येनैव सर्वानुपपत्त्युपशान्तेः । कारणत्वमात्रं तु चक्षुरादिजज्ञानवन्मनसस्तत्र स्यात् । चक्षुरादिवत्करणमन्यदेव तत्कल्पनीयमिति सप्तममिन्द्रियं प्रमाणान्तरं वा प्रसज्येत । अन्यथा चाक्षुषादिप्रतीतावपि चक्षुरादेः करणत्वं न स्यात् । शक्यते तत्रापि वक्तुं मन एव तत्र सुखादिप्रतीतिवत्करणं, चक्षुरादयस्तु सहकारिमात्रम् । नापि द्वितीयः, इन्द्रियान्तरप्रसङ्गात् प्रमाणान्तरप्रसङ्गाद्वा ॥८८॥

नापि विनाभाव एकस्य व्यतिरेकेणापरस्याव्यतिरेकस्तन्निषेधोऽविनाभाव इति द्वितीयः पक्षः । एवं हि लोहलेख्यत्वव्यतिरेकश्च पार्थिवत्वव्यतिरेकश्च क्वचिदस्तीति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरप्यविनाभावः प्रसज्येत । सार्व्वत्रिकं व्यतिरेकयौगपद्यं विवक्षितं न तु क्वाचित्कम्, अत एवोच्यते अविनाभावनियम इति चेन्न । सार्व्वत्रिकान्वयावधारणनिरासन्यायेन सार्व्वत्रिकव्यतिरेकावधारणस्याप्यशक्यत्वात् । शक्यत्वे चाऽन्वयावधारणमेवास्तु सार्वत्रिकं, कृतं व्यतिरेकावधारणकुटिलिकया ।

स्वतन्त्र कारण भी नहीं है, कारण कि यह सप्तम इन्द्रिय वा पञ्चम प्रमाण हो जायगा ॥८८॥

एक के व्यतिरेक में अपर का अव्यतिरेक विनाभाव है और उसका निषेध अविनाभाव है—यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि ऐसा होने पर लोहलेख्यत्व का व्यतिरेक (अभाव) और पार्थिवत्व का व्यतिरेक भी कहीं आकाश में है, अतः पार्थिवत्व लोहलेख्यत्व का भी अविनाभाव (व्याप्ति) हो जायगा ।

समर्थन—सार्वत्रिक व्यतिरेक का साहित्य विवक्षित है, क्वाचित्क साहित्य विवक्षित नहीं है । इसीसे अविनाभाव का नियम व्याप्ति है— ऐसा कहा है ।

खण्डन—सार्वत्रिक अन्वय के ज्ञान के तुल्य सार्वत्रिक व्यतिरेक का ज्ञान सामान्यलक्षणा के न होने से, शक्य नहीं है । किसी प्रकार अवधारण शक्य भी हो तो अन्वय का अवधारण ही व्याप्ति रहे, व्यतिरेक का अवधारण व्याप्ति है—यह कुटिलिका (वक्रोक्ति) व्यर्थ है ।

समर्थन—जिन साध्यसाधन के मध्य में साधन के—विपक्ष (साध्याभावाधिकरण) में—वृत्तित्व का बाधक वृत्तित्वाभाव का साधक हो उन दोनों का अन्वय, व्याप्ति है—ऐसा कोई आचार्य कहते हैं ?

खण्डन—यह भी युक्त नहीं है, कारण कि विपक्ष में वृत्तित्व का बाधक प्रमाण है वा तर्क ? यदि प्रमाण हो तो उनमें चक्षुरादि इन्द्रियां तो हो नहीं सकतीं, कारण कि इन्द्रियां, सम्बद्धमात्र को ग्रहण करती हैं, अतः इन्द्रिय से अतीत अनागत असन्निकृष्टविपक्ष का ज्ञान हो नहीं सकता, अन्यथा (यदि इन्द्रिय से हेतु में अतीत अनागत विपक्ष वृत्तित्वाभाव का ग्रहण मानें) कहीं भी व्यभिचार का सन्देह नहीं होना चाहिये ।

"ह्रदादिर् धूमाभाववान् वह्न्यभावात्" इत्याकारक अनुमिति भी विपक्ष का बाधक प्रमाण नहीं हो सकती है, कारण कि उक्तस्थल में धूमाभाव की जो वह्न्यभाव में व्याप्ति है

यत्र विपक्षे वृत्तौ बाधकमस्ति तयोरन्वयो व्याप्तिरिति केचित्। तन्न। यत्तु विपक्षे वृत्तौ बाधकं तत्प्रमाणं वा तर्को वा स्यात्। आद्ये न तावदिन्द्रियं तदसम्भवात्। अन्यथा व्यभिचाराव्यभिचारसंशयो न स्यात्। नाप्यनुमानम्। अनवस्थाप्रसङ्गात्। नाप्यर्थापत्तिः, अनुमानाव्यतिरेकात्। व्यतिरेके वा यदि लिङ्गिव्यतिरेकेण लिङ्गस्यानुपपत्तिस्तदा तत एव लिङ्गिसिद्धेः कृतमनुमानेन। अनेवम्भावे च तयोः किमायातम् ॥ ८६ ॥

अस्तु वा कथमपि तावदर्थापत्तिर्बाधिका, तथापि कीदृगभ्युपगम इति प्रष्टव्यम्। किं विपक्षवृत्तिबाधकसध्रीचीनो यत्र क्वचिदन्वयो व्याप्तिः, उत तत्सहितः सार्व्वत्रिकोऽन्वयः, उत किं नो विशेषगवेषणेन तत्सध्रीचीनः सामान्यतोऽन्वयो व्याप्तिः, उत सार्वत्रिकान्वयः स च विपक्षे बाधकादवगम्यते। नाद्यः विकल्पानुपपत्तेः, तथा हि किं विपक्षे वृत्तौ बाधकं सर्व्वव्यक्तिविषयमुत सामान्यविषयम्। आद्ये यत्राप्यनुमानं प्रवर्त्तनीयं तत्रावश्योपस्थाप्यया अन्यथाभावबाधकभूतयाऽर्थापत्त्यैव साध्यसिद्धेः शान्तमनुमानव्यसनेन ॥९०॥

उसके घटक विपक्ष का बाधक भी अनुमिति ही है, इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। अर्थापत्ति भी विपक्ष में बाधक प्रमाण नहीं है, कारण कि अनुमिति में ही अर्थापत्ति का अन्तर्भाव है। यदि अर्थापत्ति को अनुमिति से पृथक् भी मानें तो भी यदि अर्थापत्ति को साध्य के अभाव में हेतु की अनुपपत्तिरूप मानें तो उसीसे (अर्थापत्ति से) ही साध्य की सिद्धि होने से अनुमान व्यर्थ हो जायगा। यदि अन्यरूप अर्थात् कारण आदि के विना कार्य्य आदि की अनुपपत्ति रूप मानें तो प्रकृत (विपक्षबाधकस्थल) में धूमाभावरूप साध्य तथा वह्न्यभावरूप हेतु को उससे क्या लाभ हुआ अर्थात् अर्थापत्ति से विपक्ष में धूम के बाध की सिद्धि नहीं हुई ॥ ८६ ॥

किसी प्रकार से विपक्ष में हेतु का बाधक अर्थापत्तिरूप प्रमाण हो तब भी यह पूछना है कि व्याप्ति का स्वरूप कैसा हुआ। क्या विपक्षवृत्तित्व के बाधक से सहित जिस किसी अधिकरण में अन्वय, व्याप्ति है अथवा विपक्षवृत्तित्व के बाधक से सहित सार्वत्रिक अन्वय, व्याप्ति है। अथवा विशेष विवरण (विचार) से क्या लाभ है। विपक्ष-वृत्तित्व के बाधक से सहित सामान्य से अन्वय व्याप्ति है। अथवा सार्वत्रिक अन्वय व्याप्ति है, और उसका ज्ञान विपक्ष में बाधक प्रमाण से होता है। इनमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है, कारण कि विकल्प की उपपत्ति नहीं है। देखिये—क्या विपक्ष में हेतु के वृत्तित्व का बाधक; सर्वव्यक्तिविषयक होना चाहिये। अथवा सामान्यविषयक होना चाहिये। प्रथम कल्प में जिस पक्ष में साध्य की अनुमिति करनी है उस पक्ष में भी "अग्न्यभावे सति धूमाभावः" इस अन्यथाभाव के बाधक अर्थापत्ति से ही (अग्न्यभावे धूमभावोऽनुपपन्नः इति धूमभावेन वह्निभावः कल्प्यते) इस प्रकार साध्य की सिद्धि होने से अनुमान का व्यसन व्यर्थ है ॥ ६० ॥

द्वितीयकल्प में कहीं वज्रादि में व्यभिचार होने पर भी कहीं काष्ठादि में अव्यभिचार का आश्रयण कर बाधक अर्थापत्ति चरितार्थ (सफल) हो सकती है, कारण कि धूम का अधिकरणत्वमात्र अग्नि के अधिकरणत्वमात्र का व्यतिरेकी (विरोधी) है—ऐसा सामान्यतः

द्वितीये क्वचिद्व्यभिचारेऽपि क्वचिदव्यभिचारमाश्रित्य बाधकस्य चरितार्थत्त्वं धूमवत्तामात्रमग्निमत्तामात्रव्यतिरेकीत्येवंरूपो हि सामान्यतो विपक्षपक्षः, तत्र च बाधकं तयोरविरोधे पर्य्यवस्यति । अविरोधश्च क्वचित्साहित्याद्भवत्येवेति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरप्येवम्भूतव्याप्तत्वप्रसङ्गः ।

नापि द्वितीयः विशेषणवैयर्थ्यात् । सार्वत्रिकोऽन्वय इत्येवोच्यताम् । न च सोऽपि सङ्गत इत्युक्तम् । नाऽपि तृतीयः । बाधकस्य सामान्यविशेषविषयताविकल्पोक्तयुक्त्यैव निरस्तत्वात् ॥ ६१ ॥

नापि चतुर्थः । तथा हि यद्धूमवत् तदग्निमदित्यत्रेदमन्वयस्य सार्वत्रिकत्वं वाच्यं, यत्सर्वासां धूमव्यक्तीनामग्निसम्बन्धित्वं, तद्यदि व्याप्तिग्रहकाले गृहीतं तदा पक्षस्यापि धूमवद्व्यक्तेरग्निमत्त्वं प्राक् गृहीतं स्मर्य्यत एवेति गतमनुमानम् । सामान्याऽग्निमत्त्वं तस्यापि गृहीतमेव विशेषतस्त्वनुमीयत इति चेन्न । विशेषत इति किमग्निमत्त्वस्य विशेषो व्यक्तिरूपो विवक्षितः, उत कालदेशादिसम्बन्धस्तस्य । नाद्यः सर्वव्यक्तीनां व्याप्तौ प्रतीतत्वेन भवतैवाङ्गीकारात् । । नापि द्वितीयः, अग्निमद्रूपतया स्मृतस्य पक्षीभूतस्य धूमवद्विशेषस्य चक्षुरादिभिरेव पर्वतत्वादिदेशकालविशेषादिमत्तया परिच्छेदात् । यथा प्राक्प्रत्ययाहितसंस्कारसध्रीचीनैश्चक्षुरादिभिः परिच्छिद्यमानेदानीम्भावदेशविशेषाव-

---

विपक्ष है। वहां बाधक अर्थापत्ति "धूमवत्तामात्रमग्निमत्तामात्रविरोधीति अनुपपन्नमिति—" धूमवत्तामात्रं अग्निमत्तामात्राविरोधि" इस प्रकार उन दोनों के अविरोध में पर्य्यवसित होता है। अविरोध कहीं साहित्य से भी होता ही है अतः लोहलेख्यत्व की पार्थिवत्व में व्याप्ति हो जायगी ॥ द्वितीयपक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि सार्वत्रिक अन्वय व्याप्ति है-इयन्मात्र कहने से ही कोई दोष नहीं होने से—विपक्षवृत्तिबाधकसहितरूप-विशेषण व्यर्थ हो जायगा। सार्वत्रिक अन्वय भी ग्राहक प्रमाण न होने से व्याप्ति नहीं है यह हम कह चुके हैं।

तृतीयकल्प भी युक्त नहीं, कारण कि विपक्ष में बाधक, सर्वव्यक्तिविषयक हो वा यत्किञ्चित्विषयक हो इस रीति से विकल्प कर प्रथमपक्ष के तुल्य खण्डित है ॥ ६१ ॥

चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं, कारण कि "यत् धूमवत् तत् वह्निमत्" यहां अन्वय का सार्वत्रिकत्व यह है कि सर्वधूमवद् व्यक्तियों के अग्निसम्बन्धित्व, वह यदि व्याप्ति काल में गृहीत है तो धूमवत् पर्वतव्यक्ति का अग्निमत्व पहिले से ही गृहीत है, उसीका स्मरण होगा अतः अनुमान व्यर्थ है।

समर्थन—सामान्य से धूमवत्पर्वत का अग्निमत्व गृहीत है, विशेष रूप से अग्निमत्व की अनुमिति होती है।

खण्डन—अग्निमत्व का विशेष क्या है व्यक्तिरूप है वा काल देश सम्बन्धरूप है? इनमें प्रथमपक्ष युक्त नहीं, कारण कि व्याप्ति में सर्वव्यक्ति, सामान्यलक्षण से प्रतीत होती है यह आप भी मानते हैं। द्वितीयपक्ष भी युक्त नहीं, कारण कि "अग्निमत् है" इस रूप से स्मृत, पक्षभूत-धूमवत्-व्यक्ति की—चक्षुरादि से ही पर्वतादिदेश तथा वर्तमानादि काल-

स्थानादेः स एवायमिति प्रत्यभिज्ञायमानताऽङ्गीक्रियते। तथैवात्राऽप्यस्तु, कृतमनुमानेन ॥६२॥

नाप्युपमानं बाधकं विपक्षे शक्यं वक्तुं, तस्य नियतविषयत्वेनैतादृशे विषयेऽनुदयात्। नापि शब्दः, आप्तस्योपदेष्टुरभावे व्याप्त्यनवगमप्रसङ्गात्।

अभावस्तु कदाचित् स्यात्, सोऽपि निरूप्यमाणो न घटते। एवं स वाच्यो यदि वह्निव्यतिरेकेण धूमः स्यात्तदा तथोपलभ्येत, न चोपलभ्यतेऽतोऽनुपलम्भान्नास्ति तद्व्यतिरेकेणेति। तच्च न। तथा हि क्वचिद्व्यभिचारादर्शनाद्वाऽयमभावः प्रवर्तते, सर्वत्र व्यभिचारादर्शनाद्वा। नाद्यः पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्याप्तत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः सर्वत्र योग्यानुपलम्भो वाऽनुपलम्भमात्रं वा वाच्यम्। नाद्यः सर्वत्र योग्यानुपलम्भासम्भवात्। नापि द्वितीयः, पार्थिवत्त्वलोहलेख्यत्वयोरपि सम्भवात्। तत्र वज्र एव व्यभिचार इति चेन्न। तदीयादर्शनदशायां व्यभिचारानवगमात्। तद्दर्शनदशायां

सम्बन्धि रूप से—प्रतीति होगी। जैसे पूर्वकाल में जात ज्ञान से जन्य संस्कार से युक्त चक्षुरादि से एतत्देशकालयुक्त कार्षापण-आदि की "स एव अयम्" इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा होती है वैसे ही अनुमितिस्थल में भी है, अनुमान व्यर्थ है ॥ ६२ ॥

उपमान भी विपक्ष में बाधक नहीं है, कारण कि उपमान से केवल संज्ञासंज्ञीभाव का ही निश्चय होता है।

तथा शब्द भी विपक्षवृत्तित्व में बाधक नहीं है, कारण कि जहाँ आप्त उपदेष्टा का अभाव है, वहां पर व्याप्ति का ग्रह नहीं होगा।

विपक्ष में हेतु के वृत्तित्व का बाधक कथञ्चित् अभाव (अनुपलब्धि) हो सकता है, परन्तु विचारने से वह भी युक्तिसिद्ध नहीं होता। देखिये—अभाव का आकार ऐसा होता है कि यदि वह्नि के अभावाधिकरण में धूम होता धूम का उपलम्भ (प्रत्यक्ष) होता। उपलम्भ नहीं होता है, अतः वह्निव्यतिरेक में धूम नहीं है। वह हो नहीं सकता है कारण कि यदि कहीं साध्य व्यतिरेक हेतु के अदर्शन से यह अभाव प्रवृत्त होता हो तो कहीं आकाशादि में लोहलेख्यत्व के व्यतिरेक में पार्थिवत्व के अदर्शन से अभाव के प्रवृत्त होने से लोहलेख्यत्व का पार्थिवत्व में व्याप्तिग्रह हो जायगा। यदि सर्वत्र साध्य के व्यतिरेक में हेतु के अदर्शन से अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति मानें तो, सर्वत्र योग्यानुपलम्भ से वा अनुपलम्भमात्र से प्रवृत्त होता है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि अतीतअनागत विप्रकृष्टादि सर्वत्र योग्यता का अभाव है। द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि लोहलेख्यत्व के व्यतिरेक (अभाव) के अधिकरण आकाश में पार्थिवत्व के अदर्शन से लोहलेख्यत्व की पार्थिवत्व में व्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—वज्र में लोहलेख्यत्व के व्यतिरेक में पार्थिवत्व का दर्शन है ? अतः व्याप्ति नहीं।

खण्डन—वज्र अदर्शनदशा में पार्थिवत्व में व्यभिचार के अदर्शनकाल में व्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—वज्र की दर्शनदशा में व्यभिचार है, जिस स्थल में कदापि व्यभिचारदर्शन नहीं वहाँ व्याप्ति रहती है।

तावदस्ति व्यभिचारो, यत्र तु न कदाचिदपि व्यभिचारदर्शनं तत्र व्याप्तिरिति चेत् । अत्रापि व्यभिचारो न दृश्यत इत्यत्रापि नियामकादर्शनात् ॥६३॥

नापि विपक्षे बाधकस्तर्को वाच्यः, तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वाभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । तदनभ्युपगमे मूलशैथिल्येन तर्काभासत्वापातात् ।

अथ ब्रूषे न शक्यमिदं वक्तुं—तथाह्यग्निधूमव्यभिचारशङ्कायां बाधकस्तर्कोऽयमभिधीयते, यदि धूमोऽग्निं व्यभिचरेदकारणकः सन्नित्यः स्यात् न स्यादेव वा । स चायमनुत्तरस्तर्कः, तत्र शङ्कायां व्याघातापत्तेः । तदेव ह्याशङ्क्यते यस्मिन्नाशङ्क्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा नावतरन्तीति लोकमर्य्यादा । एवं सर्वत्रानुत्तरस्तर्को बाधकोऽभिधेय इति ॥६४॥

खण्डन—यदि ऐसा कहें तो कहीं भी व्याप्ति नहीं होगी कारण कि वह्नि का धूम में व्यभिचार नहीं देखा जायगा इसमें कुछ प्रमाण नहीं ॥६३॥

तर्क को भी विपक्ष में हेतु के वृत्तित्व का बाधक नहीं कह सकते हैं, कारण कि यदि व्याप्ति को तर्क का मूल मानें तो तर्क से व्याप्ति का ज्ञान और उस तर्क के मूल व्याप्ति का ज्ञान अन्य तर्क से एवं उस तर्क के मूल व्याप्ति का ज्ञान अन्य तर्क से एवं प्रकार से अथवा व्याप्ति के ज्ञान से तर्क की प्रवृत्ति और तर्क से व्याप्ति का ज्ञान इस क्रम से अनवस्था तथा अन्योन्याश्रय आदि हो जायेंगे। यदि व्याप्ति को तर्क का मूल न माने तो तर्क में मूल (प्रमाण) का अभाव हो जायगा।

समर्थन—तर्क से व्यभिचार का बाध नहीं होता है—यह आप नहीं कह सकते कारण कि धूम में अग्नि के व्यभिचार की शङ्का में यह तर्क कहेंगे कि यदि धूम अग्नि का व्यभिचारी होता तो अकारण हो कर नित्य होता वा नहीं होता यह तर्क अकाट्य है; उसमें यदि शङ्का हो तो व्याघात हो जायगा। वही शङ्का होती है जिस शङ्का में स्वक्रिया व्याघात आदि दोष अवतीर्ण न होते हों ऐसा होने पर सर्वत्र व्यभिचार की शङ्का में तर्क ही अकाट्य बाधक होंगे ॥ ६४ ॥

खण्डन—ऐसी शङ्का क्यों हो कि कार्य्यकारणभाव ही नहीं हो। ऐसी शङ्का हो सकती है कि शायद अग्नि से अन्यकारण से भी धूम होता हो तो वह धूम, वह्नि का व्यभिचारी हो सकता है।

समर्थन—यदि धूम, वह्नि के अन्यकारण से भी होता तो धूम एकजातीय (तुल्य) नहीं होता और तुल्य (एकजातीय) है अतः अन्य से जन्य नहीं है।

खण्डन—कहीं इन्द्रिय से जन्य तथा कहीं अनुमान से जन्य होने पर भी जैसे ज्ञान एक जातीय होता है, वैसे ही कहीं अन्य से जन्य होने पर भी धूम को एक जातीयत्व हो सकता है।

समर्थन—ज्ञानस्थल में इन्द्रियादि अवान्तर (विशेष साक्षात्कारित्व आदि) में प्रयोजक हैं, ज्ञानत्व में नहीं।

खण्डन—ज्ञानत्व आकस्मिक (प्रयोजक से रहित) न हो इस लिये ज्ञानत्व का अनुगत प्रयोजक अवश्य कहना होगा। वैसे ही वह्नि भी धूमविशेष में ही प्रयोजक है ऐसी शङ्का हो सकती है।

मैवम् । किमित्येवं शङ्कितव्यं यद्धेतुफलभाव एव न भविष्यति । एवन्तु शङ्कितव्यम् । अग्निं विहायान्यस्मादपि हेतोरयमुदेष्यतीति । न च वाच्यमेवं हि सति धूमस्यैकजातित्वं न स्यादिति । क्वचिदिन्द्रियजन्यत्वे क्वचिदनुमानादिजन्यत्वेऽपि ज्ञानैकजात्यवत्तदुपपत्तेः । तत्रेन्द्रियादीनामवान्तरसामान्ये साक्षात्कारित्वादौ प्रयोजकत्वं, न ज्ञानतायामिति चेन्न । ज्ञानत्वस्याऽऽकस्मिकत्वपरिहारार्थं तत्कारणस्यानुगतस्य भवताऽवश्यं वक्तव्यत्वात् । धूमेऽपि वह्नेर्विशेष एव प्रयोजकत्वस्य तद्वच्छङ्कितुं शक्यत्वात् । न दृश्यते तावदग्निप्रयोज्यो धूमे विशेष इति च न वाच्यम् । तददर्शनस्यापाततो हेत्वन्तरप्रयोज्यावान्तरजात्यदर्शनेनायोग्यतयाऽविकल्प्यत्वादप्युपपत्तेः । यदा तु हेत्वन्तरप्रयोज्यो धूमस्य विशेषो द्रक्ष्यते तदाऽसौ विकल्पिष्यत इति सम्भावनाया दुर्निवारत्वात् ॥६५॥

अस्त्यात्ममनोयोगोऽनुगतं कारणं ज्ञानोत्पत्ताविति चेन्न । यद्यात्ममनोयोगादुत्पद्यमानं ज्ञानं स्यादिच्छादयोऽपि ज्ञानं प्रसज्येरन् । यदि त्वदृष्टविशेषो वा शक्तिभेदो वा ज्ञानत्वजातिर्वा ज्ञानप्रागभावो वा तत्रानुगतं कारणमुच्यते, तदा तदितरत्रापि वह्निव्यभिचारे धूमस्यैकजात्यप्रयोजकतया शक्यत एव शङ्कितुम् ॥६६॥

समर्थन—अग्निकृत धूम में विशेष नहीं देखने में आता है ?

खण्डन—यह कथन भी युक्त नहीं है, कारण कि धूम में अग्निकृत विशेष का अदर्शन—आपात से अन्यहेतु से प्रयोज्य विशेष जाति के अदर्शन से उपपादित हो सकता है कारण कि जब वह्नि से अन्य हेतुजन्य, धूम का विशेष देखा जायगा, तब धूम के विशेष का ज्ञान होगा ऐसी सम्भावना का सम्भव है ॥ ६५ ॥

समर्थन—आत्ममनःसंयोगरूप अनुगत कारण, ज्ञानत्व का प्रयोजक है तथा वह्नि से अन्यकारणजन्यत्वरूप से सम्भावित जो धूम तत्साधारण धूमत्व का प्रयोजक अनुगत कोई कारण नहीं है।

खण्डन—यदि आत्ममनोयोग को ज्ञान का प्रयोजक मानें तो इच्छा आदि भी ज्ञान हो जायँगे। यदि अदृष्टविशेष को वा शक्तिविशेष को वा ज्ञानत्वजाति को वा ज्ञान के प्रागभाव को ज्ञान का अनुगत कारण मानें तो धूमस्थल में भी वह्नि के व्यभिचार में धूम के ऐकजात्य के प्रयोजक अदृष्टादि हैं—ऐसी शङ्का हो सकती है ॥ ६६ ॥

समर्थन—व्यभिचार देखने पर अदृष्ट को ऐकजात्य का प्रयोजक मानना युक्त है, धूमस्थल में व्यभिचार तो दीखता नहीं है, पुनः अदृष्टादि को ऐकजात्य का प्रयोजक मानना युक्त नहीं है ?

खण्डन—व्यभिचार होने पर ही ऐकजात्य का कल्पन युक्त है, परन्तु धूमस्थल में व्यभिचार न देखा जायगा इसमें प्रमाण नहीं है।

समर्थन—इस रीति से शङ्काकरनेवाले आप कहीं भी अनुमान नहीं कर सकेंगे और यावत् प्रतिवादी की आत्मा का अनुमान न हो तावत् कथा में प्रवृत्ति न होगी और यदि अनुमान करें तो स्वकर्तव्य अनुमान में ऐसी शङ्का होगी, अतः वही व्याघात आपके ऊपर भी हो जायगा।

दृष्टे व्यभिचारे युक्तमदृष्टादेरैकजात्यपरिकल्पनमिति चेत् । अस्तु दृष्टे तन्निश्चयः । अत्रापि व्यभिचारो न दृश्यत इत्यत्र नियामकाभावात् शङ्किष्यते । एवं शङ्कमानस्य भवतो न क्वचिदनुमानं स्यात् । प्रतिवाद्यात्माद्यनुमानादिव्यतिरेकेण कथायामेव प्रवृत्त्यनुपपत्त्या स्वयं स्वकर्त्तव्येष्वनुमानेष्वेतादृशशङ्काक्रमणात् स एव व्याघात इति चेन्न । धूमवद्व्यक्तेरपि वह्निकारणविशेषानुमानस्यैवं सति सदनुमानत्वप्रसङ्गात् । सामग्रीसाम्येन प्रमाप्रमावैचित्र्यानुपपत्तेः । साधारणधर्मदर्शनविशेषादर्शनादौ सत्यपि शङ्कायाश्चानुदये सामग्र्यां सत्यामपि कार्य्यानुदयात्परप्रतिपत्त्युत्पादनार्थं वचनादिरूपां प्रतिपत्तिसामग्रीमुत्पादयितुं यतमानस्य भवतोऽपि स्वक्रियाव्याघातस्तुल्यः ॥९७॥

खण्डन—आपका क्या अभिप्राय है, क्या जहां व्यभिचार की शङ्का हो वहां अनुमिति में दोष नहीं होता है यह अभिप्राय है अथवा सदोष भी अनुमान प्रमाण है—यह अभिप्राय है । इनमें प्रथमपक्ष का स्वीकार आप नहीं कर सकते । कारण कि, शङ्कितोपाधि को दोष आप मानते हैं । यदि द्वितीय मानें तो जैसे धूम से वह्नि की अनुमिति प्रमिति है वैसे ही वह्नि से वह्नि के कारण तृणादि की अनुमिति भी प्रमिति हो जायगी । जब सामग्री समान है अर्थात् पक्षधर्म्मता व्यभिचारशङ्का आदि दोनों स्थलों में एक से हैं, तो धूम से वह्नि की अनुमिति प्रमिति है और वह्नि से वह्नि के कारण विशेष की अनुमिति अप्रमिति है यह कथन भी नहीं बनता ।

समर्थन—व्याघात के भय से "यदि वह्निविरहिण्यपि धूमः स्यात्" यह शङ्का (सन्देह) ही नहीं हो सकती है ।

खण्डन—यदि साधारणधर्म्म दर्शन-विशेषादर्शन आदि शङ्का के कारण होने पर भी शङ्का न हो तो पर के ज्ञान के लिये वचनादि रूप (ज्ञान) सामग्री के उत्पादन में आपकी प्रवृत्ति भी व्याघात के भय से नहीं होनी चाहिये ॥ ९७ ॥

समर्थन—व्याघात ही विशेष है, अतः उस व्याघात विशेष के दर्शन होने से शङ्का की सामग्री ही मेरे मत में नहीं है, फिर व्याघात का साम्य कैसे होगा ।

खण्डन—वह व्याघात आहार्य्य (बाधकालिक इच्छाजन्य) अर्थात् भ्रमरूप व्याप्य के आरोपरूप कारण से जन्य हो तो इष्ट है नहीं, कारण कि यदि पार्थिवत्व, लोहलेख्यत्व का व्यभिचारी होता, तो प्रमेय ही नहीं होता-इस आभासजन्य व्याघात से पार्थिवत्व की लोहलेख्यत्व में भी व्याप्ति गृहीत हो जायगी । अनाहार्य्य प्रमाणरूप व्याप्य के आरोपरूप कारण से जन्य व्याघात विशेष है—उसका निरास तर्क के खण्डन के समय चतुर्थ परिच्छेद में करेंगे ।

किञ्च आप जिस व्याघातरूप विशेष के दर्शन को शङ्का का विरोधी कहते हैं वह व्याघातदर्शन किसी प्रमाण से होता है या तर्क से ? यदि प्रमाण से कहें तो शङ्का का अस्तित्व भी उसी प्रमाण से सिद्ध हुआ, कारण कि शङ्का होने पर ही व्याघात होगा । यदि बिना शङ्का व्याघात हो तो जैसे शङ्का करने पर मेरे पक्ष में आप व्याघात देते हैं वैसे ही बिना शङ्का आपके पक्ष में हम भी व्याघात दे सकेंगे ।

समर्थन—शङ्का में भी वह व्याघात ग्राहक प्रमाण रहे, इससे हानि क्या हुई । प्रथम शङ्का के अवलम्बन से जात व्याघातरूप विशेष के दर्शन से ही अन्य शङ्का के न होने से ही व्याप्तिग्रह हो जायगा ।

व्याघातस्यैव विशेषत्वात् तद्दर्शनेन शङ्कासामग्र्येव नास्ति मत्पक्षे कुतो व्याघातसाम्यमिति चेन्न। तद्धि न तावत् आहारादिकारणाज्जायमानमेष्टव्यं कूटविषयस्य तस्यातिप्रसञ्जकत्वात्। कूटभिन्नः प्रसञ्जकः प्रमितस्यैव स्यादिति चेन्न। तस्य तर्कावसरे निरस्यत्वात्। तस्माद्यदैतद्व्याघातरूपस्य विशेषस्य दर्शनं शङ्काप्रतिपक्षभूतमुच्यते, तत् किं प्रमाणात् कुतश्चिदुपजायमानं वक्तव्यं तर्काद्वा, यदि प्रथमः, शङ्कास्तित्वमपि तेनैव प्रमाणेनोपनेयं शङ्कायां सत्यां व्याघातात्। यदि च शङ्कां विनापि व्याघातः, तदा शङ्कमानाशङ्कमानयोर्व्याघातस्य साम्यं सिद्धमेव। भवतु शङ्कायामपि तत्प्रमाणं, किमेतावता प्रथमोपजातशङ्कामवलम्ब्य व्यवस्थितस्य व्याघातरूपस्य विशेषस्य दर्शनात् शङ्कान्तरं नोत्पद्यत इति चेन्न। व्याघातसत्ताकाले तदवलम्ब्यया शङ्कयैव शङ्क्यमानव्यभिचारता, तस्याः शङ्काया व्युपरमे च तदवलम्बिनो व्याघातरूपस्य विशेषस्याभावात् कः शङ्कान्तरोत्पत्तेर्वारयितेति वक्तव्यम् ॥९८॥

मा नामास्तु तदा व्याघातात्मा विशेषस्तदवगमस्तदाहितो वा संस्कारस्तावदस्ति, विशेषावगमतत्संस्कारौ च शङ्काविरोधिनौ, नतु स्वरूपेण क्वचिदपि विशेषस्यावस्थानं तथेत्ति चेन्न। अयावदाश्रयभाविनो विशेषस्य पूर्वस्थितस्य यद्दर्शनं तदाहितो वा संस्कारः तस्य कालान्तरेपि तत्प्रतिधर्मसंशयविरोधित्वेऽवयविपाकपक्षे कुम्भस्य परमाणुपाकपक्षे परम्परया तदारम्भकस्य परमाणोः पूर्वं श्यामतया ज्ञातस्य कालान्तरे सम्भावितपाकस्य पाकजन्यरूपविशेषवत्तायां संशयो न स्यात्। यदि च शङ्कायां व्याघातस्तदा शङ्काश्रयस्य विशेषरूपस्य व्याघातस्य दर्शनाच्छङ्कायां शङ्कान्तरं मा भूत्। यदि तु व्यभिचाराश्रयस्तदा व्यभिचारः स्यादेव, व्याघाताश्रयस्य व्यभिचारस्यापि प्रमित्यापत्तेः ॥९९॥

खण्डन—व्याघात के सत्ताकाल में उसके अवलम्बभूत शङ्का से ही व्यभिचार की शङ्का है और उस शङ्का के उपरम होने पर उसके अवलम्ब से जात व्याघात के अभाव होने से अन्य शङ्का की निवृत्ति कौन करेगा ॥ ९८ ॥

समर्थन—उस काल में व्याघातरूप विशेष न रहे हानि क्या है। व्याघात का ज्ञान वा ज्ञान से आहित-(कृत) संस्कार ही शङ्का का विरोधी है। स्वरूप से विशेष कहीं भी नहीं रहता है।

खण्डन—यदि यावत् आश्रय काल में न होनेवाले पूर्वस्थित विशेष के दर्शन को वा विशेषदर्शन से जन्य संस्कार को कालान्तर में जात उस विशेष के विरोधी धर्म्मविषयक संशय का विरोधी मानें तो पूर्वकाल में श्यामत्वरूप से ज्ञात अवयविपाकमत में कुम्भ में तथा परमाणुपाकमत में परम्परा से घटारम्भक परमाणु में अन्य काल में पाक से सम्भावित रक्तत्वरूप का सन्देह न होगा। यदि शङ्का में व्याघात है तो शङ्काश्रय व्याघातरूप विशेष के दर्शन से शङ्का में अन्यशङ्का न हो, परन्तु प्रथम शङ्का होने से व्याप्तिग्रह नहीं होगा और यदि व्यभिचार में व्याघात दें तो व्याघात को विषयकरनेवाली प्रमा के विषय होने से व्यभिचार अवश्य होगा ॥ ९९ ॥

अनादिसिद्धव्याप्तिकास्ते तर्का इति चेन्न, तद्बुद्धेः प्रमितत्वासिद्धेः । शरीरे स्वात्मप्रत्ययस्य तादृशस्याप्यप्रमात्वोपगमात् । अनादित्वासिद्धेश्चोभयत्राविशेषात् ।

नापि यद्यत्र व्यभिचारः शङ्क्येत, तदा व्याघातः स्यादित्येवंरूपात्तर्काद्व्याघातावगमः, व्याघातप्रतिपादकस्य तर्कस्य मूलशैथिल्ये तर्काभासत्वापातात् । तादृशस्यापि व्याघातोपनायकत्वे व्याघातापत्तेश्च साम्यम् । शक्यत एव तर्काभासाद्भवतोऽपि व्याघात उपनेतुम् ।

अथ तर्कस्य व्याप्तिर्मूलभूताऽभ्युपगम्यते । तत्रापि व्यभिचारशङ्कायां पुनरनवस्थैव । तत्रापि व्याघातापादने पुनरित्थमनवस्थैव ।

तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा ।
त्वद्गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि ॥४४॥
व्याघातो यदि शङ्काऽस्ति नचेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुतः ॥४५॥१००॥

अव्यभिचारश्चैकपरित्यागव्यवच्छेदेनापरान्वयः, समकालदृष्टे नष्टेऽदृष्टः शङ्क्यत इत्याहुः ।

समर्थन—अनादिसिद्ध व्याप्तिवाले वे तर्क हैं, जिनसे व्याप्तिग्रह होता है ।

खण्डन—अनादिसिद्ध होने से तर्क का मूल व्याप्ति, प्रमित नहीं हो सकती । अन्यथा अनादिसिद्ध होने से शरीर में आत्मबुद्धि भी प्रमित हो जायगी . कारण कि अनादिसिद्धत्व उभयत्र तुल्य है ।

समर्थन—यदि "अत्र (वह्निधूमस्थल में) व्यभिचारः स्यात्तदा व्याघातः स्यात्" इस तर्क से व्याघात का अवगम होगा ।

खण्डन—व्याघात के प्रतिपादक तर्क के मूल प्रमाण न होने से यह तर्क आभास है
और यदि तर्काभास से भी व्याघात का प्रतिपादन करें तो आपके प्रति भी "तर्कः आभास
उपपादकश्च" ऐसा विरुद्ध संघटनरूप व्याघात हम भी दे ही सकते हैं । यदि तर्क का मूल
व्याप्ति को मानें तो तर्क के मूल व्याप्ति में भी व्यभिचार की शङ्का होने पर अन्य तर्क का
आश्रयण करना होगा, एवं उस तर्क के मूल व्याप्ति में व्यभिचार की शङ्का होने पर अन्य
तर्क के आश्रयण से अनवस्था प्रसङ्ग होगा । यदि कहें कि अनवस्था होने पर कहीं भी अनु-
मान न होने से परप्रतिपत्त्यर्थ वचन में प्रवृत्तिरूप व्याघात होगा, अतः अनवस्था नहीं, तो
जिस तर्क से अनवस्था में व्याघात का आपादन आप करते हैं उस, तर्क के मूल व्याप्ति में
भी व्यभिचार की शङ्का होने से पुनः अनवस्था दोष होगा । तस्मात् इस विषय में हम भी
कुछ ही अक्षरों को बदल कर तुम्हारी ही गाथा को पढ़ सकते हैं कि—यदि व्याघात प्रामाणिक
है तो शङ्का अवश्य है । कारण कि शङ्का होने पर ही व्याघात होता है और यदि व्याघात
नहीं है तो प्रतिबन्धक के न होने से अवश्यमेव शङ्का है । शङ्का की अवधि (अवसान) व्या-
घात कैसे हो सकता है, तथा तर्क, शङ्का की अवधि कैसे होगा । कारण कि तर्क के मूल व्याप्ति
में भी शङ्का तदवस्थ ही है ॥ १०० ॥

स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिरित्यपरः। स प्रष्टव्यः कस्य स्वाभाविकः किं सम्बन्धिनोरुतान्यस्य। न चरमः वैपरीत्यापत्तेः।

आद्ये कः स्वाभाविकशब्दार्थ इति प्रष्टव्यं, किं सम्बन्धिस्वभावाश्रितः। अथ सम्बन्धिस्वभावजन्यः। अथ सम्बन्धित्वविवक्षितस्वभावानतिरिक्तः, अथ सम्बन्धिस्वभावव्याप्यः। अथवा सम्बन्धिस्वभावादन्येन न प्रयुक्तः। उतान्य एव कश्चिद्विवक्षितः।

आद्ये पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्याप्तत्वप्रसङ्गः। न द्वितीयः अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। अतएव न तृतीयः ॥१०१॥

समर्थन—व्यभिचार की शङ्का में अव्यभिचार भी एक कोटि है कारण कि शङ्का (सन्देह) उभयकोटिक होती है। अतः किसी अधिकरण में अव्यभिचार के निश्चय होने से अनुमिति हो जायगी?

खण्डन—एक (साध्य) के अभाव के अनधिकरण में हेतु का अन्वय (वृत्तित्व) रूप अव्यभिचार, समकाल में जात दृष्ट तथा नष्ट दो पदार्थों में है, वही शङ्का में अपर कोटि होगी। यदि कहें कि उसी स्थल में अनुमिति हो जायगी तो यह युक्त नहीं, कारण कि ऐसा स्थल कहीं दृष्ट नहीं है।

अन्य आचार्य्य कहते हैं कि स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है। उनसे पूछना चाहिये कि किसका स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है? सम्बन्धियों का अथवा अन्य का? यदि अन्य का कहें तो जैसे असम्बन्धियों का सम्बन्ध व्याप्ति है वैसे ही सम्बन्धियों का असम्बन्ध भी व्याप्ति हो जायगा। यदि सम्बन्धियों का स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है तो स्वाभाविक शब्द का अर्थ क्या है। जैसे वह्नि के स्वभाव (स्वरूप) के आश्रित औष्ण्य वह्नि का स्वाभाविक है वैसे ही सम्बन्धो के स्वभाव (स्वरूप) का आश्रित सम्बन्ध व्याप्ति है। वा जैसे वसन्त से जन्य होने से वृक्षप्रसूति वसन्त का स्वाभाविक है, वैसे ही सम्बन्धो स्वभाव (स्वरूप) जन्य सम्बन्ध व्याप्ति है। वा सम्बन्धित्वरूप से विवक्षित सम्बन्धी के स्वभाव से अनतिरिक्त अर्थात् स्वभावरूप सम्बन्ध ही व्याप्ति है। वा सम्बन्धी के स्वभाव से व्याप्य सम्बन्ध व्याप्ति है। वा सम्बन्धी के स्वभाव (स्वरूप) से अन्य से प्रयुक्त (जन्य) न हो ऐसा जो सम्बन्ध वह व्याप्ति है—अथवा और ही कुछ वस्तु व्याप्ति है। प्रथम पक्ष में पार्थिवत्व में लोहलेख्यत्व का सम्बन्ध व्याप्ति हो जायगा। द्वितीयपक्ष में जन्य होने से धूम का एकाश्रय में संयोगरूप सम्बन्ध वह्नि में व्याप्ति हो जायगा तथा अजन्य होने से रूपरस का एकाश्रय समवायरूप सम्बन्ध व्याप्ति न कहावेगा। तृतीय पक्ष में वह्नि का धूम में एकाश्रय संयोगरूप सम्बन्ध व्याप्ति न होगा, कारण कि संयोग सम्बन्धी का स्वरूप नहीं है, किन्तु अतिरिक्त है।

अन्य आचार्य्य कहते हैं कि उपाधिरहित सम्बन्ध व्याप्ति है। उनसे पूछना चाहिये कि वह उपाधि क्या वस्तु है, जिससे शून्य को व्याप्ति कहते हैं; तथा लोहलेख्यत्व का पार्थिवत्व में एकार्थ समवायरूप सम्बन्ध व्याप्ति हो जायगा, कारण कि समवाय सम्बन्धी का स्वरूप है। (१०१)

चतुर्थकल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि यावत् व्याप्ति को निरुक्ति न हो तावत् सम्बन्धी-स्वभाव-व्याप्य-सम्बन्धरूप निरुक्त व्याप्ति की निरुक्ति नहीं हो सकती है अर्थात् व्याप्ति के लक्षण में व्याप्ति के प्रवेश होने से आत्माश्रय दोष हो जायगा। किञ्च यदि सम्बन्ध का व्याप्य मानेंगे तो व्यापक जो सम्बन्धी वह अधिक देश वा काल में वृत्तित्व से सम्भावित है, अतः एक सम्बन्धो के दर्शन से अन्य सम्बन्धी की अनुमिति नहीं होगी।

नापि चतुर्थः, व्याप्त्यनिरुक्त्या व्याप्यत्वानिरुक्तेः। सम्बन्धस्य व्याप्यत्वे च सम्बन्धिनोर्व्यापकयोः सम्भावितसम्बन्धाधिकदेशकालतया एकसम्बन्धिदर्शनेऽपरानुमानाय नियामकत्वायोगात्। नापि पञ्चमः, न प्रयुक्त इति यदि न जनितस्तदा सम्बन्धस्याकृतकत्वपक्षेऽन्येनेति विशेषणवैयर्थ्यमकृतस्य सम्बन्धिस्वभावेनाऽप्यजनितत्वात्। सम्बन्धस्य कृतकत्वपक्षे स्वरूपासिद्धिरेव स्यात्। सामग्र्याः सर्वसम्भवादन्ततः कालदेशादृष्टादिभिरपि तज्जन्यत्वस्यावश्यवक्तव्यत्वात्। नापि षष्ठः पक्षः, तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। एवमेव विकल्प्यायं चरमविकल्पः सर्व्वत्रोपन्यस्य दूष्यो न्यूनत्वशङ्काभयादिति॥१०२॥

अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिरित्यपरः। स प्रष्टव्यः, कोऽयमुपाधिर्नाम यच्छून्यत्वमनौपाधिकत्वम्। उपाधिः साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः। अयञ्च—

"एकसाध्याविनाभावे मिथः सम्बन्धशून्ययोः।
साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्ययः"—

इत्यस्य व्यतिरेकमुखस्य यदत्ययः, स उपाधिरिति योज्यमानस्य पर्य्यवसितोऽर्थः। तद्धर्म्मभूता हि व्याप्तिर्जपाकुसुमरक्ततेव स्फटिके साधनाभिमते चकास्तीत्युपाधिरसावुच्यते। तदिदमाहुः—

"व्याप्तेश्च दृश्यमानायाः कश्चिद्धर्मः प्रयोजकः।
अस्मिन्सत्यमुना भाव्यमिति यत्सा निरूप्यते॥
अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा"॥

स चोपाधिर्निश्चित इवाशङ्कितश्च यत्रेदमुच्यते

"यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते।

पञ्चम पक्ष भी युक्त नहीं है। कारण कि यदि "अन्य से नहीं प्रयुक्त है" इसका अन्य से जनित नहीं है—यह अर्थ करें तो सम्बन्ध अकृतक (नित्य) है इस पक्ष में "अन्य से" यह विशेषण व्यर्थ है, कारण कि जो अकृतक है वह सम्बन्धी के स्वभाव से भी अजन्य है तथा सम्बन्ध कृतक है इस पक्ष में "सम्बन्धी के स्वभाव से नहीं प्रयुक्त हो" यह स्वरूप ही असिद्ध है, कारण कि कार्य्यमात्र सामग्री से जन्य होता है, अतः देशकाल अदृष्ट आदि से वह व्याप्तिरूप सम्बन्ध प्रयुक्त है यह अवश्य मानना होगा। षष्ठ पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि उसका निर्वचन नहीं हो सकता। इस रीति से विकल्प कर इस चरम विकल्प का सर्वत्र खण्डन करना चाहिये। अन्यथा न्यूनता हो जायगी, अर्थात् यदि वादी विकल्पित पक्षों से भिन्न पक्ष का आश्रयण करें तो विकल्प में न्यूनता हो जायगी और यदि उक्त से अन्यत्व रूप से भी विकल्प कर दें तो वादी से अवलम्बित पक्ष का उसमें अन्तर्भाव होने से न्यूनता नहीं होगी॥ २॥

समर्थन—जो साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक हो वह उपाधि है—यह लक्षण उदयनाचार्य्य के व्यतिरेक मुख से कथित लक्षण वाक्य का फलितार्थ है। आचार्य्य के लक्षण वाक्य का अक्षरार्थ तो यह है कि "साधन और उपाधित्व से अभिमत-इन दोनों

विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबल"मिति चेत् ॥३॥

साध्यव्यापके पक्षेतरत्वेऽपि प्रसङ्गात्। तद्व्यतिरिक्त इत्यपीति चेन्न। बाधोन्नीतस्य तस्याव्यापनात्। अन्यथा निरुपाधिसम्बन्धित्वे बाधासिद्धेः। यदाह बाधेन वोपाधिरुन्नीयतां, अन्येन वेति न कश्चिद्विशेषः। एतदर्थमपि विशेषणीयमिति चेन्न। तथापि साधनाव्यापकत्वे सतीति तद्व्याप्त्यनवधारणे न शक्यावधारणम्। एवं साध्यव्यापक इत्यपि ॥४॥

के मध्य में जिसका अभाव साध्याभाव का व्याप्य हो वह उपाधि है। वह्नि से धूम के अनुमितिस्थल में आर्द्रेन्धन को उपाधि संज्ञा है। स्फटिक में जपाकुसुम के रक्तत्व के भान के निमित्त जपाकुसुम को जैसे उपाधि कहते हैं, वैसे ही आर्द्रेन्धन संयोगनिष्ठ धूम की व्याप्ति का वह्नि में भान के निमित्त आर्द्रेन्धन संयोग को भी कहते हैं। यह कहा भी है कि अन्य (सोपाधिक) हेतु उपाधिनिष्ठ व्याप्ति का अवलम्बन करते हैं, वे सोपाधिक हेतु पक्ष में देखे भी जायं तो भी व्यापक को सिद्धि नहीं होती है। वे उपाधि निश्चित के तुल्य आशङ्कित भी होते हैं। यह भी कहा है कि जब तक विपक्ष में हेतु के शतांश से भी अर्थात् उपाधि की शंका से भी शङ्का हो तब तक हेतु में साध्यगमन की सामर्थ्य कैसे हो सकती है ॥ ३ ॥

खण्डन—साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक पक्षेतरत्व भी उपाधि हो जायगा। पक्षेतरत्व उपाधि ही है—यह आप नहीं कह सकते हैं, कारण कि पक्षेतरत्वरूप उपाधि का सर्वत्र सम्भव होने से अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा।

समर्थन—उपाधि के लक्षण में पक्षेतरत्व से भिन्न हो—ऐसा निवेश करने से पक्षेतरत्व उपाधि न कहावेगा।

खण्डन—ऐसा निवेश करने पर "वह्निः अनुष्णः कृतकत्वात्" इस अनुमान में वह्नीतरत्व उपाधि न कहावेगा। यहाँ बाध ही दोष है उपाधि दोष नहीं है—यह नहीं कह सकते हैं, कारण कि यदि व्यभिचार न हो तो हेतुमत् पक्ष में बाध ही अप्रमाणित सिद्ध होता है। यह भी कहा है कि बाध से अथवा व्यभिचार से उपाधि की अनुमिति होती है, इसमें कोई विशेष नहीं है।

समर्थन—उपाधिलक्षण में बाधोन्नीत पक्षेतरत्व से भिन्न जो पक्षेतरत्व उससे भिन्नत्व का निवेश होने से कोई दोष नहीं है।

खण्डन—तब भी जब तक साधन में उपाधि की व्याप्ति का ज्ञान न हो, तब तक साधन के अव्यापकत्व का ज्ञान न होने से अन्योन्याश्रयादिदोष हो जायेंगे—इसी प्रकार से साध्य में उपाधि की व्याप्ति की अज्ञानदशा में साध्य व्यापकत्व का ज्ञान भी नहीं हो सकता है ॥४॥

समर्थन—साध्य में जिसका व्यभिचार अदृष्ट हो वह साध्यव्यापक है?

खण्डन—यह कथन भी युक्त नहीं, कारण कि वस्तुतः जिससे साध्य व्यभिचारी है वह भी आपाततः अव्यभिचारिसाध्यस्वरूप से ज्ञात हो सकता है, अतः वह भी उपाधि हो जायगा। जैसे "क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात्" यहाँ रूपित्व उपाधि हो जायगा। यदि कहें कि अन्य काल में भी अदृष्ट व्यभिचार साध्य जिससे हो वह साध्यव्यापक है तो वह्नि से धूम के साधनस्थल में आर्द्रेन्धन संयोग भी उपाधि न होगा, कारण कि आर्द्रेन्धन

अथ मन्यसेऽदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वं साध्यव्यापकत्वम् । न, वस्तुगत्या व्यभिचारिसाध्यस्याप्यापाततोऽदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वसम्भवात् , तस्याप्युपाधित्वापत्तेः । न द्रक्ष्यत इति च निरूपयितुमशक्यम् । व्याप्तिग्रहकाले च साध्यत्वाभावेन तद्व्यभिचारः कथमवधार्य्यः । साध्यं व्यापकमपेक्षितमिति चेन्न । व्याप्त्यनवगमे व्यापकार्थानवगमात् । सम्भावितव्यापकभावो व्यापकोऽपेक्षित इति चेन्न । व्यापकस्यानिरुक्तौ किंरूपतया सम्भावनापि स्यात् । अथ साध्यव्यापक इत्येव भद्रं, तदानीं साध्यत्वाभावेऽपि साधयितुमर्हत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । न, कथं ह्यवगन्तव्यमिदमेव साधयितुमर्हमिदं नेति । व्यापकत्वादिति वक्तुमशक्यत्वात् ॥५॥

न च साधनाव्यापकत्वं सर्व्वत्र निश्चेतुं शक्यम्—स श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यत्र शाकाद्याहारपरिणतिपरम्पराया मैत्रतनयेऽभावस्य दुरधिगमत्वात् ।

संयोग में धूमरूप साध्य का व्यभिचार नहीं देखा जायगा इसमें कुछ प्रमाण नहीं है । किञ्च
व्याप्ति के ग्रहकाल में साध्यत्व (सिद्धिकर्म्मत्व) के अभाव होने से साध्य का व्यभिचार
कैसे जाना जायगा । साध्य के व्यापकत्व का ग्रहण है—यह भी कह नहीं सकते, कारण
कि जबतक व्याप्ति का ज्ञान न हो तबतक व्यापकत्व का ज्ञान अशक्य है । जिसके व्याप-
कत्व की सम्भावना हो वह व्यापक है यह कथन भी युक्त नहीं, कारण कि यावत् व्याप-
कत्व की निरुक्ति न हो तावत् किस रूप से सम्भावना होगी ।

समर्थन—साध्यव्यापक—यही युक्त है, कारण कि उस काल में साध्यत्व के अभाव
होने पर भी साधन का अर्ह है ही ।

खण्डन—यह कथन भी युक्त नहीं है, कारण कि व्याप्ति के अज्ञान काल में यह कैसे
जाना जायगा कि यह साधन का अर्ह है और यह साधन का अर्ह नहीं है ॥ ५ ॥
व्यापकत्व से साध्य का निश्चय नहीं हो सकता है, क्योंकि यावत् व्याप्ति का लक्षण
न हो तावत् यह व्याप्य है यह व्यापक है यह निश्चय कैसे होगा ।

साधनाव्यापकत्व का भी निश्चय सर्वत्र नहीं हो सकता है, कारण कि "स श्यामः
मैत्रतनयत्वात्" इसस्थल में शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परारूप उपाधि के अभाव का ज्ञान
मैत्रतनय में हो नहीं सकता है ।

समर्थन—जिस उपाधि के साध्यव्यापकत्व तथा साधनाऽव्यापकत्व में प्रमाण है वह
निश्चित उपाधि है और जिस उपाधि में उक्त उभयरूप में प्रमाण नहीं है, वह शङ्कित उपाधि
है (अर्थात् गौरमैत्रतनय में शाकाद्याहार
परिणतिपरम्परा नहीं है) इसमें कोई नियामक नहीं है अतः यह शङ्कित उपाधि ही है ।
और मैत्रतनयत्व का शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परा

खण्डन—"मैत्रतनयः शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परावान् मैत्रतनयत्वात्" इस प्रकार से
मैत्रतनयत्वरूप हेतु से ही मैत्रतनय में शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परारूप उपाधि की अनु-
मिति होने से साधनाव्यापकत्व की शङ्का का उच्छेद हो सकता है ।

समर्थन—मैत्रतनयत्व से शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परा के साधन में शाकाद्याहार
सामग्रीसत्त्व उपाधि है, अतः उक्त अनुमिति न होने से "स श्यामः मैत्रतनयत्वात्" इस
स्थल में शाकपाकजत्व शङ्कित उपाधि हो सकता है ।

यत्रोक्तलक्षणस्य निश्चायकं प्रमाणमस्ति तत्र निश्चितोपाधित्वमन्यत्र शङ्कितोपाधित्वम्। मैत्रतनयत्वव्याप्यशाकाद्याहारपरिणतिपरम्परया स्थातव्यमित्यत्र नियामकाभावादिति चेन्न। मैत्रतनयत्वेनैव हेतुना तस्यापि प्रसाधने तच्छङ्काया अपि छेत्तुमशक्यत्वात्। तत्रापि तत्तत्सामग्रीत्युपाधिपरम्पराभिधाने च तस्या अपि मैत्रतनयत्वेनैव प्रसाधनस्य कर्त्तुं शक्यत्वात्॥ ६॥

अनवस्थैवं स्यादिति चेत्। न, उपाध्युपन्यास एव कुतोऽनवस्था न स्यात्। साध्यसामग्र्या उपाधित्वे धूमानुमानसाधारण्यात्। एवं च साध्ये सामग्र्युपाधित्वव्यवच्छेदार्थमपि लक्षणं विशेषणीयम्। श्यामत्वादौ साध्ये शाकाद्याहारपरिणतिपारम्पर्यादेस्तस्मिन्साध्ये श्यामत्वादेरुपाधित्वसम्भवेन कथमुपाधिरपि साधयितुं शक्यत इति चेत्। मैवम्, प्रत्येकं द्वयोरपि मैत्रतनयत्वादिना साधने साधनाव्यापकत्वस्य शङ्कितुमशक्यत्वात्। अन्यथा सकर्तृकत्वे साध्येऽदृष्टजत्वं अदृष्टजत्वे च सकर्तृकत्वमुपाधिरि-

---

खण्डन—शाकाद्याहारसामग्री की भी मैत्रतनयत्व से ही अनुमिति होने से, शाकाद्याहार सामग्री को साधन के अव्यापक न होने से उपाधि नहीं है। यदि शाकाद्याहारसामग्री की अनुमिति में भी शाकाद्याहारसामग्री की सामग्री को उपाधि कहें तो मैत्रतनयत्व से शाकाद्याहारसामग्री की सामग्री के अनुमान होने से वह भी साधनाव्यापक न होने से उपाधि न कहावेगा, एवं तत्सामग्री के उपाधित्व के उपन्यास में भी मैत्रतनयत्व से तत्सामग्री के अनुमान से साधनाव्यापकत्व जानना चाहिये॥ ६॥

यदि कहें कि तत्सामग्री के साधनव्यापकत्व के अनुमान में साधन की अनवस्था है तो उपाधि के साधनव्यापकत्व के साधन में उपाधि एवं उस उपाधि के साधनव्यापकत्व के साधन में उपाधि—इस रीति से उपाधि के उपन्यास में भी अनवस्था हो जायगी।

किञ्च यदि साध्यसामग्री को भी उपाधि मानें तो "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" यहां भी वह्निसामग्री के उपाधि होने से अनुमितिमात्र के उच्छेद के भय से उपाधि के लक्षण में साध्यसामग्री भिन्न का निवेश हो सकता है, तब मैत्रतनयत्व से शाकपाकजत्व के अनुमान में शाकपाकसामग्री के उपाधि न होने से शाकपाकजत्व को साधन के व्यापक होने से वह उपाधि नहीं हो सकता है।

समर्थन—मैत्रतनयत्व से श्यामत्व के साधन में शाकपाकजत्व उपाधि है तथा शाकपाकजत्व के साधन में श्यामत्व उपाधि है, अतः उपाधि के अनुमान न होने से साधनाऽव्यापकत्व, उपाधि में युक्त ही है।

खण्डन—दोनों को एक काल में मैत्रतनयत्व से साधन होने से शाकपाकजत्व में साधन व्यापकत्व ही है, अतः साधनाऽव्यापकत्व की शङ्का नहीं है। ऐसे स्थल में यदि एक साध्य की सिद्धि में अन्य उपाधि दे सकें, तो क्षिति में कार्यत्व से सकर्तृकत्व के साधन में अदृष्टजत्व तथा अदृष्टजत्व-साधन में सकर्तृकत्व को उपाधि होने से दोनों की असिद्धि हो जायगी, एवं बुद्धिमत्पूर्वकत्व के साधन में प्रयत्नपूर्वकत्व तथा प्रयत्नपूर्वकत्व के साधन में बुद्धिमत्पूर्वकत्व के उपाधि होने से दोनों की असिद्धि हो जायगी, एवं वह्नित्वरूप से वह्नि की अनुमिति में इन्धनज तेज को तथा इन्धनज तेजस्त्वरूप से वह्नि के साधन में वह्नित्वरूप

त्युभयासिद्धिः स्यात्, एवं बुद्धिमत्पूर्वकत्त्वे प्रयत्नवत्पूर्वकत्त्वं प्रयत्नवत्पूर्वकत्त्वे बुद्धिमत्पूर्वकत्वमेवं वह्नित्त्वजात्याक्रान्तवत्त्वेऽपीन्धनत्वजात्याक्रान्तत्त्वं तस्मिन्वह्नित्त्वजात्याक्रान्तवत्वमुपाधिः स्यादित्यत्राऽपि विश्वमनुमानं व्याकुलं स्यात् ॥ ७ ॥

अत एव साध्यसाधनसम्बन्धं प्रति व्यापकत्त्वं साध्यव्यापकत्त्वमिष्टमित्यपि प्रत्युक्तम् ।

यत्राप्युपाधिर्निश्चीयते तत्राप्यतीन्द्रियोपाधिविषये तदभावस्य साधनाव्याप्तचर्थमनुमेयतायां सोपाधीक्रियमाणेन साधनेनैव सत्प्रतिपक्षस्य कर्त्तुं शक्यत्वात् । तथा सति तत्र शङ्कितोपाधित्वमेव निर्व्यूढं स्थास्यतीति चेत् एवं ब्रुवाणो नियतमजैपीः, परं मन्द, मन्दाक्षं न प्रतिपक्षम् । तथाहि—स्वीकृतनिश्चितोपाधिभावे शङ्कितोपाधित्वमापतदनु-

---

से वह्नि को उपाधि होने से किसी भी रूप से वह्नि का अनुमान न होने से सम्पूर्ण अनुमान उच्छिन्न हो जायँगे ॥ ७ ॥

साध्य तथा साधन के सम्बन्ध का व्यापक तथा साधन का अव्यापक उपाधि है—यह लक्षण भी युक्त नहीं है; कारण कि व्याप्ति, साध्य, साधन के निर्वचन के विना यह निरुक्ति हो नहीं सकती है और व्याप्ति के घटक उपाधि के निर्वचनकाल में इनका निर्वचन हैं नहीं।

किञ्च जहाँ उपाधि निश्चित है वहाँ भी अतीन्द्रिय (शाकपाकजत्व) उपाधि के विषय में साधनाव्यापकत्व की सम्पत्ति के अर्थ पक्ष (मैत्रतनय) में शाकपाकजत्वाभाव की गौरत्व से अनुमिति होती है, अतः गौरत्व से शाकपाकजत्वाभाव की अनुमिति में जिस हेतु को उपाधि से युक्त बनाते हैं, उसी हेतु से पक्ष में उपाधि का अनुमान कर सत्प्रतिपक्ष दे सकते हैं।

समर्थन—यदि सत्प्रतिपक्ष होने से साधनाऽव्यापकत्व की सिद्धि न हुई तो वहाँ शङ्कित उपाधि ही रहे, हानि क्या है ?

खण्डन—ऐसा कथन करने से तूने अवश्य विजयलाभ किया, परन्तु हे मन्द ! मन्दाक्ष (लज्जा) के ऊपर, शत्रु के ऊपर, नहीं। निश्चितरूप से स्वीकार कर पीछे वादी के खण्डन करने पर उपाधि में शङ्कितत्वरूप से कथन को निर्लज्ज से अन्य कौन पुरुष अनुकूल मानेगा। किञ्च कहीं भी निश्चय न हो तो उपाधि का सन्देह भी नहीं हो सकता, कारण कि सामान्यदर्शन से कोटिद्वय के स्मरण होने पर सन्देह होता है और अनुभूत का स्मरण होता है, अतः उपाधि के निश्चय के विना सन्देह कैसे होगा।

समर्थन—जहाँ वह्नि से धूम के साधनस्थल में साधन वह्नि के अधिकरण अयोगोलक में आर्द्रेन्धन संयोग के न होने से आर्द्रेन्धन संयोग में साध्य धूम का व्यापकत्व तथा साधन वह्नि का अव्यापकत्व प्रत्यक्ष है, वहाँ निश्चित उपाधि है।

खण्डन—यद्यपि अयोगोलक में आर्द्रेन्धन संयोग का ऐन्द्रियक (चाक्षुष) बाध है; तथापि आर्द्रेन्धन जातीय अतीन्द्रिय आर्द्रेन्धनसंयोग की अनुमिति जिस हेतु को आप सोपाधिक बनाते हैं, उस वह्नि हेतु से ही हो सकती है। जिसका एकस्थल में प्रत्यक्ष होता हो उसका अन्यस्थल में प्रत्यक्षबाध होने पर भी हेतु के बल से अतीन्द्रियत्व सिद्ध हो सकता है। जैसे पाक से जाठर अग्नि।

कूलं मन्यते कोऽन्यो जितलज्जात् । न च क्वचिन्निश्चितोपाध्यनभ्युपगमे तच्छङ्का शक्या । यत्र प्रत्यक्षेणोपाधिनिश्चयस्तदेव तद्दर्शनस्थानं भविष्यतीति चेन्न। ऐन्द्रियकबाधे तज्जातीयस्यातीन्द्रियस्याप्रयोजकीक्रियमाणेन हेतुनैव साधयितुं शक्यत्वात् । नच यदेकत्रैकजातीयमैन्द्रियकं तदन्यत्रैन्द्रियकबाधे हेतुबलादतीन्द्रियं न प्रसाध्येत पाकदर्शनात् जठरानलादि । साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापक इति च न शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परासाध्यं व्याप्नोतीत्यव्यापकतादोषः। न हि शाकादित्वं नाम किञ्चिदेकमस्ति, यत्साध्यं व्याप्नुयात् ॥ ८ ॥

किञ्च साध्य में व्यापक होकर जो साधन के अव्यापक हो वह उपाधि है इस उपाधि के लक्षण में शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परारूप उपाधि श्यामत्वरूप साध्य का व्यापक नहीं है, अतः लक्षण में अव्याप्ति दोष है। (और) शाकादि एक अनुगत भी नहीं है जो साध्य का व्यापक हो ॥ ८ ॥—किसी प्रकार शाकादि को अनुगत मान भी लें तो भी श्यामत्व का व्यापक नहीं हैं, कारण कि इन्द्रनीलशिला का श्यामत्व आहारजन्य नहीं है।

समर्थन—यहाँ यद्यपि साध्यत्व श्यामत्वरूप से है, तथापि साध्यत्व का पर्य्यवसान पुरुषश्यामत्व में ही है और पुरुषश्यामत्व का व्यापक शाकपाकजत्व है ही।

खण्डन—व्याप्ति में उपाधि होती है, अतः जिसकी जिसरूपसे जिसमें व्याप्ति हो, उपाधि में उसीरूप से साध्य के व्यापकत्व तथा साधन का अव्यापकत्व होना चाहिये। प्रकृत में श्यामत्वरूप से व्याप्ति है—अतः उसीरूप से साध्य का व्यापकत्व होना चाहिये, वह है नहीं। हेतु, मैत्रतनयत्वरूप पक्ष का धर्म्म है इसीसे पक्ष मैत्रतनयरूप पुरुष में साध्य की सिद्धि होने से साध्यत्व का, पुरुषश्यामत्व में पर्यवसान है, व्याप्ति के बल से नहीं है।

अन्यथा (यदि पुरुषश्यामत्वरूप से व्याप्ति मानें तो) "मैत्रतनयः पुरुषश्यामः मित्रातनयत्वात्" इत्यादि पञ्चावयव होने से साध्यदल में पुरुषीयत्व के निवेश का [व्यवच्छेद्य न होने से] वैयर्थ्य हो जायगा।

समर्थन—कज्जललेप से जात श्यामत्व की व्यावृत्ति के अर्थ पुरुषीयत्व का निवेश है।

खण्डन—यदि ऐसा हो तो संयुक्तपुरुषनिष्ठ श्यामत्व की परम्परासम्बन्ध से व्यावृत्ति के अर्थ भी विशेषण देना चाहिये।

समर्थन—साध्यसाधनसम्बन्ध का व्यभिचार जिसमें दृष्ट न हो वह साध्यव्यापक है, शाकपाकजत्व—श्यामत्व और मैत्रतनयत्व के सम्बन्ध का व्यापक है, अतः दोष नहीं।

खण्डन—ऐसा मानने पर "चक्षुः तैजसम् साक्षात्कृतिकरणत्वात्, इस सत् अनुमिति में उद्भूतरूपवत्व उपाधि हो जायगा, कारण कि तैजसत्व साक्षात्कृतिकरणत्व इन दोनों के सम्बन्ध का व्यापक उद्भूतरूपवत्व है।

किञ्च साध्यसाधनसम्बन्ध का व्यापक—इसमें सम्बन्ध द्वारा जो साधन का निवेश है, उससे केवल साध्यव्यापक का व्यवच्छेद होता है या नहीं, यदि होता है तो "अध्वरे पश्वालम्भः अधर्मसाधनं हिंसावत्" इस स्थल में निषिद्धत्व केवल अधर्म साधनत्वरूप साध्य का व्यापक होने से उपाधि न होगा और यदि केवल साध्यव्यापक का व्यवच्छेद नहीं होता है तो विशेषण व्यर्थ हो जायगा; कारण कि केवल प्रयोजन होने से विशेषण सफल नहीं होता है; किन्तु

अस्तु वा कथमपि, तथापि श्यामत्वं न व्याप्नोति, इन्द्रनीलशिलादिश्यामलस्या-हाराजन्यत्वात् । शरीरश्यामत्वं, साध्यं तच्च व्याप्नोत्येवेदमिति चेन्न । व्याप्तावुपाधेरभि-धेयत्वात् । नच पुरुषश्यामत्वेन व्याप्तिः । हेतुपक्षधर्मतयैव हि साध्यं पक्षधर्मः सिद्ध्यति न व्याप्त्या, अन्यथा पुरुषपदस्य व्यवच्छेदकस्याविशेषणत्वापातात् । परम्परासम्बन्धि-कज्जलादिलेपश्यामलव्यवच्छेदकत्वे च संयुक्तश्यामपुरुषसमवेतश्यामलस्य परम्परासम्ब-न्धिनः कथं व्यवच्छेदः स्यात् । नच साध्यसाधनसम्बन्धादृष्टव्यभिचारत्वं साध्यव्याप-कत्वं मा रूपसाक्षात्कृतिकरणादेस्तैजसादित्वे साध्ये भूदुद्भूतरूपवत्वादेरुपाधित्वम् । साधनेनापि च विशेषणतया निवेश्येन यदि केवलसाध्यव्यापकं व्यवच्छेद्यं, तदा तस्य व्यभिचारशङ्काधानक्षमस्याप्युपाधित्वं न स्यात् । अथ न किञ्चिद्व्यवच्छेद्यं तदा विशेष-णत्वासिद्धिरेव । न हि प्रयोजनमात्राद्विशेषणमर्थवद्भवति, किन्तु किञ्चिद्व्यवच्छेदादिति । अन्यथा शरीरजन्यत्वमिवाकर्तृकत्वे व्यक्तमसिद्धौ पर्य्यवस्येदिति ॥ ६ ॥

किञ्च आभासे व्यतिरेकिणि पक्षधर्म्महेतौ जीवच्छरीरं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरि-क्तानेकद्रव्यवत्, प्राणादिमत्वादित्यादौ कथमिदमुपाधिलक्षणं व्यवस्थाप्यं, न ह्याभासे

किसीका व्यवच्छेद होने से सफल होता है । अन्यथा जैसे "क्षित्यङ्कुरादिकम् कर्तृजन्यं शरीरा-
जन्यत्वात्" इस स्थल में शरीरविशेषण के व्यवच्छेदकत्व न होने से व्याप्यत्वासिद्धि होती है,
वैसे ही "मैत्रतनयत्वम्, श्यामत्वव्यभिचारि, मैत्रतनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वव्यापकशाकपाक-
जत्वव्यभिचारित्वात्" इस उपाधिव्यभिचार से साध्यव्यभिचार के अनुमितिस्थल में भी हेतुदल
में मैत्रतनयत्वरूप विशेषण के व्यवच्छेदकत्व न होने से व्याप्यत्वासिद्धि हो जायगी ॥ ६ ॥

किञ्च केवलव्यतिरेकीआभास में जहाँ पक्ष में हेतु है, अर्थात् "जीवच्छरीरं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत् प्राणादिमत्वात्" इस स्थल में इस लक्षण की व्यवस्था कैसे होगी । केवल व्यतिरेकीआभास में जो साध्य है वह उपाधि (भोगायतनत्व) से व्याप्त नहीं है, कारण कि ऐसा मानने पर, पर के अभिमत साध्य की कहीं सिद्धि हो जायगी ।

समर्थन—व्यतिरेकीआभास में व्यतिरेक व्याप्ति में ही उपाधि होती है, अतः उपाधि के व्याप्त होने से साध्य की कहीं सिद्धि नहीं हो सकती है ।

खण्डन—व्यतिरेकव्याप्ति भी "यत्र यत्र पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत्वं नास्ति, तत्र तत्र प्राणादिमत्वं नास्ति" यही है । उसमें जो पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत्वरूप साध्य का भाव व्याप्य है, उसका व्याप्य अभोगायतनत्वरूप उपाधि है—ऐसा अवश्य मानना होगा, अन्यथा यदि उपाधि को साध्याभाव का व्याप्य न मानें तो अभोगायतनत्वरूप उपाधि के अन्वय में साध्य का अन्वय हो जायगा, अतः फिर भी पराभिमत साध्य की कहीं सिद्धि हो जायगी । उपाधि (अभोगायतनत्व) में जो व्यतिरेकव्याप्ति (यत्र २ साध्याभावो नास्ति तत्र उपाधिर्नास्ति) है, उसके अवश्यम्भाव होने से उपाधि (अभोगायतनत्व) का जो व्यापक (अष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत्वाभाव) उसके व्यतिरेक (अभाव) अष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत्व को उपाधि (अभोगायतनत्व) के व्यतिरेक (अभाव) भोगायतनत्व का व्याप्य अवश्य मानना होगा, अतः पर के अभिमत साध्य की कहीं सिद्धि हो जायगी । असमव्याप्तिक व्याप्यव्यापकस्थल में अर्थात् (जीवच्छरीरं, अष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत

व्यतिरेक्यनुमानात्मनि यत्साध्यं तदुपाधिना व्याप्तमिष्यते तस्य पराभिमतस्य क्वचित् सिद्ध्यापत्तेः। व्यतिरेकयोर्व्याप्तावुपाधिश्चेत् तर्हि व्यतिरेके यद्व्याप्यं तस्य व्याप्य उपाधिरवश्यं मन्तव्योऽन्यथोपाधेरन्वये साध्यान्वयापत्तिरित्युपाधिव्यतिरेकव्याप्त्यवश्यम्भावस्याभ्युपगम्यतया उपाधेर्यद्व्यापकं तद्व्यतिरेक उपाधेर्व्यतिरेकस्य व्याप्यतया मन्तव्य इति परसाध्यापत्तिः। असमव्याप्तिकयोरन्वयव्याप्तिसाध्यसाधनभाववैपरीत्येन व्यतिरेकव्याप्तेरिति। नच दोषान्तरमेव तर्हि वाच्यमिति वाच्यम्। हेतोः पक्षधर्म्मत्वस्थितौ व्याप्तिक्षत्यर्थं त्वयोपाध्युपगमध्रौव्यात् ॥ १० ॥

भवतु वा या काचिद्व्याप्तिर्नाम तत्सत्त्व एवानुमितिभावात् तस्याश्चानुमितेश्च व्याप्तिरेष्टव्या, ततश्चाऽऽत्माश्रयः। तद्भेदे चाऽनुगमाविनिगमौ स्यातामिति।

व्याप्तिपक्षधर्म्मते अनुमितिं भावयत इति वदन्ति। कश्चायं पक्षो नाम यद्धर्म्मत्वं पक्षधर्म्मत्वम्। सिषाधयिषितधर्मा धर्मीति चेन्न। सिषाधयिषा हि प्रतिपिपादयिषा वा स्यात् प्रतिपित्सा वा। आद्ये स्वार्थानुमित्यनुदयप्रसङ्गः। द्वितीये चासुरभिगन्धानुमेयकुत्सितरसविषयस्वार्थानुमित्यनुदयप्रसङ्गः।

प्राणादिमत्वात् इत्यादि स्थल में) अन्वयव्याप्ति में जो साध्यसाधनभाव है, उसके विपरीत साध्यसाधनभाव व्यतिरेकव्याप्ति में होता है। व्यतिरेकी आभास में उपाधि दोष नहीं है, किन्तु अन्य ही दोष है, यह नहीं कह सकते हैं, कारण कि हेतु के पक्ष में होने पर व्याप्ति की क्षति के अर्थ उपाधि अवश्य माननी पड़ेगी। चाहे व्याप्ति कुछ भी हो, परन्तु व्याप्ति होने पर ही अनुमिति होती है, अतः अनुमिति के व्याप्तिजन्य होने से तथा जन्यत्व के व्याप्तिघटित होने से व्याप्ति की व्याप्ति, अनुमिति में अवश्य माननी होगी, तब तो यदि वही व्याप्ति मानें तो आत्माश्रय है और यदि भेद मानें तो उस व्याप्ति की भी अनुमिति में अन्य व्याप्ति होने से अनवस्था तथा अनेक व्याप्ति होने से अननुगम तथा अनेक व्याप्ति होने से कौनसी व्याप्ति अनुमिति का अङ्ग है इसमें विनिगमक का अभाव हो जायगा ॥ १० ॥

किञ्च आचार्य्यलोग कहते हैं कि व्याप्ति और पक्षधर्मता, अनुमिति के कारण हैं। उनमें पक्षधर्म्मता क्या वस्तु है? यदि पक्ष में आश्रितत्व (वृत्तित्व) को पक्षधर्म्मता कहें तो नैयायिक आदि के मत में प्रमेयत्व हेतु न कहावेगा, कारण कि नैयायिक विषयविषयिभावरूप प्रमेयत्व को ज्ञेय और ज्ञान के स्वरूप से अतिरिक्त नहीं मानते हैं और ज्ञेय, ज्ञान, पक्ष जो प्रमेय तदाश्रित नहीं हैं, किन्तु आत्मादि आश्रित हैं। किञ्च पक्ष ही क्या वस्तु है जिसका धर्म्म पक्षधर्म्मता है।

निर्वचन—जिस धर्मी में साध्यरूप धर्म्म की सिषाधयिषा हो वह पक्ष है।

खण्डन—सिषाधयिषा, कथन की इच्छा है या ज्ञान की इच्छा है। यदि प्रथमपक्ष मानें तो स्वार्थानुमिति का उदय नहीं होगा; कारण कि स्वार्थानुमिति में पञ्चावयवरूप प्रतिपादन की इच्छारूप पक्षता नहीं रहती है और अनुमितिमात्र में पक्षधर्म्मता कारण है। द्वितीयपक्ष में "सटित (सड़ा) मांसम्, कुत्सितरसवत्, असुरभिगन्धवत्वात्" यह स्वार्थानुमान नहीं कहावेगा, कारण कि यहां प्रतिपित्सारूप पक्षता नहीं है।

निर्वचन—जिस धर्मी में धर्म्म ज्ञात न हो वह पक्ष है।

न चानवधारितधर्मा धर्मी पक्षः । हेतुमत्तयाऽप्यनवधारणेऽनुमानोदयनिदानभावासम्भवात्, अवधारणे चानवधारितधर्मत्वानुपपत्तेः ॥ ११ ॥

नचाऽनवधारितहेतुविषयधर्मा धर्मी पक्षः, तथाहि केनानवधारितधर्मा, न तावदनुमानप्रयोक्ता, स्वयमज्ञाते परं प्रत्यप्रयोगात् । प्रतिवादिनेति चेन्न । प्रतिवादिविदिते ह्यर्थे वादितया परस्परविद्योत्कर्षापकर्षनिरूपणार्थमनुमानदर्शनात् ।

तथाऽनवधारणं यत्किञ्चिद्धेतुविषयधर्मगोचरं, वादिप्रयोक्तव्यहेतुविषयगोचरं वा । न तावदाद्यः, अग्निमत्त्वनिश्चयदशायामपि तत्तद्धेतुविषयबहुतरापरधर्मानवधारणात् धूमं प्रति पर्वतस्य पक्षत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः तथापि तत्र प्रसङ्गात् । तद्धेतूनामपि वादिप्रयोज्यत्वात् । असाधारणविवक्षायाश्चाननुगमात्, इतरेतराश्रयदोषाच्च । पक्षधर्मत्वेन हेतुत्वनिरूपणात् । व्याप्तपक्षधर्मत्वस्य हेतुत्वात् । हेतुना च पक्षनिरूपणात् । स्वार्थानुमाने च हेतोरप्रयोज्यत्वात्, पक्षाभावेनानुमानानुदयप्रसङ्गात् । विरुद्धहेतौ पक्षस्याभासत्त्वप्रसङ्गात् तत्र साध्यस्य तद्धेतुविषयत्वाभावात्, हेतोरेव च साध्यविपरीतव्याप्तत्या दुष्टत्वात् ॥१२॥

एतेन सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः, साध्यत्वञ्च स्वपरार्थानुमानसाधारणमुत्पाद्यज्ञानत्वमिति निरस्तम् । भवतु वा यः कश्चन पक्षः, केयं पक्षधर्मता । पक्षाश्रिततेति

खण्डन—जिस काल में हेतु (धूम आदि) का पर्वत में अनिश्चय है, उस काल में भी पर्वत, पक्ष हो जायगा और उस काल में अनुमिति न होने से वह पक्ष नहीं है और धूम के ज्ञान होने पर धर्म्म के ज्ञात होने से पर्वत पक्ष नहीं कहावेगा और पक्ष कहाता है ॥११॥

समर्थन—हेतु का विषय साध्यरूप धर्म अज्ञात है जिस धर्मी में, वह पक्ष है ।

खण्डन—यह लक्षण भी युक्त नहीं है; कारण कि किससे अज्ञात ? यदि न्यायप्रयोक्ता से अज्ञात कहें तो परार्थानुमान में अनुमानप्रयोक्ता से पर्वत में वह्नि के ज्ञात होने से पर्वत पक्ष न कहावेगा। और यदि प्रतिवादी से अज्ञात कहें तो युक्त नहीं, कारण कि प्रतिवादी से साध्य के ज्ञात होने पर भी परस्पर विद्या के उत्कर्ष के बाधन के अर्थ प्रतिवादी अनुमान का प्रयोग करते हैं । तथा यत्किञ्चित्हेतुविषयधर्म का अनवधारण अपेक्षित है अथवा वादिप्रयोक्तव्यहेतुविषयधर्म का अनवधारण । प्रथमपक्ष में अग्नि के निश्चय होने पर भी तत् तत् अन्यहेतु विषय बहुत से धर्म्मों के अनिश्चय होने से धूम के प्रति पर्वत पक्ष हो जायगा । द्वितीयकल्प भी युक्त नहीं है; कारण कि अग्नि की निश्चयदशा में भी वादिप्रयोक्तव्य धूमरूप हेतु विषय श्यामत्वप्रदेशवत्त्वरूपादि धर्म का अज्ञान है ही । अथवा अन्य हेतु भी कदाचित् वादी से प्रयोक्तव्य हैं ही । यदि कहें कि वादिप्रयोक्तव्य धूमरूप हेतु के विषय वह्निरूप धर्म का अनवधारण जहाँ हो, वह पक्ष है, तो साध्यसाधन भेद से पक्ष लक्षण के भेद होने से लक्षण में अननुगम दोष हो जायगा । किञ्च अन्योन्याश्रयदोष भी होगा, कारण कि व्याप्ति पक्षधर्मताविशिष्ट को ही हेतु कहते हैं । अतः पक्ष से हेतु का और हेतु से पक्ष का निरूपण है । किञ्च स्वार्थानुमान में हेतु का प्रयोग होता भी नहीं है, अतः पक्ष न होने से अनुमिति नहीं होगी । किञ्च विरुद्धहेतु में पक्षधर्मत्व का अभाव हो जायगा; कारण कि वहाँ साध्य हेतु का विषय नहीं होता है, किन्तु हेतु के साध्याभाव से व्याप्य होने से ही दुष्ट होता है ॥१२॥

जहाँ साध्य का सन्देह हो वह पक्ष है और स्वार्थ परार्थ अनुमिति साधारण उत्पाद्य (जायमान) ज्ञान का विषय ही साध्य है—यह पक्ष का लक्षण भी युक्त नहीं है, कारण कि

चेन्न । नैयायिकादीन् प्रति प्रमेयत्त्वस्याहेतुत्त्वप्रसङ्गात् । विपयविपयिभावस्य ज्ञेयज्ञानरूपातिरिक्तस्यानङ्गीकारात् । तयोश्च ज्ञेयाश्रितत्त्वायोगात् ।

प्रतीतिं व्याप्तिबलेन सामान्यतो व्यापकावगाहनप्रवृत्तां विशेषमादाय परं पर्य्यवसाययितुं व्याप्तस्य सामर्थ्यं सेति चेन्न । तस्याः सामान्यविपयायाः अनुपपत्तेरसिद्धेर्व्याप्तिवत्सम्भवात्, अनुपपत्तित्वे व्याप्त्यनुप्रवेशात्, अधिकविपयाकाङ्क्षित्वे विरम्य व्यापारापत्तेः, मानान्तरत्वापत्तेर्वा । विशेपविषयायाश्चानुपपत्तित्वेऽतिप्रसङ्गात् । पक्षधर्म्मतया च यदि साध्यव्यक्तिभेदः सिद्ध्येत् तर्ह्यनुमाय तां प्रत्यक्षेण पुरुषद्वयदर्शने तद्विशेपासंशयी स्यात् । प्राग्विशेपादर्शनात्तथा स्यादिति चेन्न । पश्चात्तत्र तद्दर्शित्वान्न संशयीतेति ॥१३॥

सन्देह के विशेषणत्व वा उपलक्षणत्व दोनों कल्पों में दोष कह आये हैं। किञ्च वादी का सन्देह वा प्रतिवादी का यह विकल्प कर पूर्वोक्त युक्ति से भी अयुक्त है।

निर्वचन—व्याप्ति के बल से सामान्यरूप से व्यापक को विषयकरनेवाली प्रतीति को विशेष के ग्रहण कर पर्य्यवसित (निराकाङ्क्ष) करनेवाली जो व्याप्य की सामर्थ्य वह पक्षधर्म्मता है ?

खण्डन—यह लक्षण भी युक्त नहीं है; कारण कि सामान्य से जात प्रतीति, विशेष की प्रतीति के विना अनुपपन्न हो नहीं है; कारण कि जैसे "जो जो धूमवाला है वह वह वह्निवाला है" यह सामान्यविपयक व्याप्तिज्ञ न विशेष की प्रतीति के विना ही होता है, ऐसे ही अनुमिति भी विशेष की प्रतीति के विना ही होगी। यदि विशेष की प्रतीति के विना सामान्य की प्रतीति अनुपपन्न मानें, तो व्याप्ति की प्रतीति भी विशेषविपयक हो जायगी। यदि कहें कि सामान्य से प्रतीति, विशेष के विना अनुपपन्न नहीं है, किन्तु विशेष की आकाङ्क्षा करती है, यही अपर्य्यवसान है तो सामान्यविपयक प्रतीति ही अधिक की आकाङ्क्षा करती है अथवा अन्य किसी (पक्ष धर्म्मता आदि) अधिक (विशेष) की आकाङ्क्षा करती है। प्रथमपक्ष में सामान्यबुद्धि के दो व्यापार मानने पड़ेंगे। एक स्वजन्म, द्वितीय विशेष विषयकआकाङ्क्षा, सो बुद्धि के बार २ व्यापार न होने से अयुक्त है। द्वितीयपक्ष में व्याप्ति के बल से सामान्य विपयक प्रतीति एक प्रमिति तथा पक्षधर्म्मता के बल से विशेषविपयक अन्य प्रमिति इस रीति से दो प्रमाण हो जायगें। यदि कहें कि सामान्य की प्रतीति अनुपपन्न नहीं है; किन्तु विशेष की प्रतीति ही पर्वत निष्ठत्वादि अन्य विशेष के विना अनुपपन्न है तो पर्वतनिष्ठत्व भी अन्य विशेष के विना अनुपपन्न है एवं अन्यविशेष भी अन्यविशेष के विना, इस रीति से अनवस्था दोष हो जायगा॥

यदि पक्षधर्म्मता से साध्य व्यक्तिभेद (विशेष) सिद्ध होता तो अनुमान कर चक्षु से वह्नि के दर्शनकाल में तथा शब्दविशेष से पुरुष का अनुमान कर चक्षु से पुरुषद्वय के दर्शन काल में—यही अनुमित वह्नि व्यक्ति है वा अन्य" तथा यही अनुमित पुरुष है वा अन्य-इत्याकारक सन्देह न होता। यदि कहें कि पूर्वकाल में विशेष का दर्शन (प्रत्यक्ष) नहीं है, अतः सन्देह होता है तो पश्चात् (इदानीं सन्देहकाल में) विशेष का प्रत्यक्ष है, अतः सन्देह न होना चाहिये और सन्देह होता है, अतः जानते हैं कि अनुमिति सामान्यविपयक ही होती है; विशेष विपयक नहीं॥

इति अनुमानलक्षण खण्डन

अथोपमानलक्षणखण्डनारम्भः

उपमानमपि किमुच्यते । सादृश्यज्ञानमुपमानमित्येके । तन्न । स्मृतावपि प्रसङ्गात् । अनुभव इत्यभिधाने च सदृशाविमावितीन्द्रियजेऽपि प्रसङ्गात् । सोऽपि गवयो गवा सदृशो गवयत्वात् गवयान्तरवदित्यनुमानस्यापि तत्त्वापत्तेः । एवमाप्तोक्तिजेऽपि ।

किञ्चोपमितिलक्षणमिदमुपमितिकरणलक्षणं वा स्यात् । नाद्यः सादृश्यस्योपमेयत्वापत्तेः । सदृशे चोपमेयव्यवहारोऽस्ति चन्द्रोपमेयं मुखमित्यादि । सदृशमितिः सेति चेन्न । अक्षादिकरणासम्भवे तदुदाहरणासिद्धेः । नापि द्वितीयः । सादृश्यज्ञानस्य सर्वस्यासम्भवत्प्रमाणान्तरव्यापारफलजनकताया दर्शयितुमशक्यत्वात् ॥ १४ ॥

नच सादृश्यमेकमनुगतमस्ति । मुखसादृश्यस्य हस्तसादृश्यस्य च भेदेनैवोपलम्भात् । नच सादृश्यरूपत्वमनुगतं तेष्वपीत्यदोषः । तथापि सादृश्येन सह सादृश्येऽने-

---

अथ मीमांसकादि के अभिमत उपमान का खण्डन

उपमान भी क्या है अर्थात् लक्षण न होने से अनिर्वचनीय है ।

निर्वचन—सादृश्य का ज्ञान उपमान है ऐसा लक्षण होने से अनिर्वचनीय नहीं है ।

खण्डन—यदि ऐसा मानें तो सादृश्य की स्मृति भी उपमान हो जायगी और सादृश्य की स्मृति को उपमिति का करणरूप उपमान नहीं मान सकते हैं, कारण कि उसके अनन्तर अन्य अनुभव नहीं होता है जो, फलरूप उपमिति कहावे, तथा सादृश्य की स्मृति को उपमिति (फलरूप उपमान) भी नहीं मान सकते हैं, कारण कि स्मृति अप्रमा है और उपमिति प्रमा है ॥

समर्थन—सादृश्य का अनुभव उपमान है ।

खण्डन—ऐसा करने पर "सदृशौ इमौ" यह चक्षु आदि से जायमान ज्ञान भी उपमान हो जायगा—इसी रीति से "सोपि गवयो गवा सदृशो गवयत्वात्-गवयान्तरवत्" यह अनुमिति तथा "गोसदृशो गवयः" इस शब्द से जात ज्ञान भी उपमान हो जायगा । किञ्च सादृश्य का अनुभव उपमान है यह लक्षण उपमिति का है अथवा उपमिति के करण का ? इनमें प्रथमकल्प युक्त नहीं है, कारण कि सादृश्य उपमेय हो जायगा और चन्द्रोपमेयं मुखम्—इस स्थल में सदृश में ही उपमेय व्यवहार होता है सादृश्य में नहीं ।

समर्थन—सदृश का अनुभव उपमान है ।

खण्डन—जहाँ चक्षुरादि वा हेतु वा शब्दरूप करण न हो वहाँ सदृश का ज्ञान होता नहीं है जो उपमान कहावे और जहाँ चक्षुरादि करण हैं वहाँ सदृश ज्ञान प्रत्यक्षादि ही है । सदृश का अनुभव उपमिति का करणरूप उपमान है—यह द्वितीयकल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि जिसमें अन्य इन्द्रियादि प्रमाण के व्यापार न हों वैसा उपमितिरूप फल प्रसिद्ध नहीं है, जिसके करण को सदृशज्ञानरूप उपमान मानें ॥ १४ ॥

किञ्च सदृशमात्र में अनुगत एक सादृश्य नहीं है, कारण कि मुख में चन्द्र का सादृश्य तथा हस्त में पल्लव का सादृश्य भिन्न २ है एक नहीं है, अतः यदि मुखनिष्ठ सादृश्य के ज्ञान को उपमान कहें तो हस्तनिष्ठ सादृश्य के ज्ञान में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ।

कस्थलादौ सादृश्यरूपत्वाश्रिते सादृश्यरूपत्वस्याश्रयणाभ्युपगमे परस्पराश्रयभावोऽनभ्युपगमे वाऽननुगमः। तयोः सादृश्यानभ्युपगमे वाऽन्यत्रापि तथापत्तिः। किञ्च वैधर्म्यप्रतीतेरपि प्रमाणान्तरत्वमेवं स्यादविशेषात्। एवमेवाभ्युपगमे च परिगणितप्रमाणाधिक्यप्रसङ्गो वा सादृश्यबुद्धेरपि वा परिगणितेष्वेवान्तर्भावः स्यादिति ॥१५॥

अप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन सह सादृश्यप्रमितिरुपमानमित्यपि न। आप्तवाक्यादपि तथा प्रमितेः।

यत्र तद्व्यापारो नास्तीति चेन्न। स चायश्च अभिन्नाविितिवत् स चायश्च सदृशाविति पूर्वप्रतीतस्य प्रतीयमानेन सहैन्द्रियकसादृश्यप्रतीतावपि प्रसङ्गात्। इन्द्रियासम्पृक्तस्येति चेन्न, प्रत्यक्षतो गोगवयसादृश्यं प्रतीत्य साऽपि च गौर्गवयेन सदृशी गोत्वादियमिवेत्यनुमितावपि प्रसङ्गात्। अलिङ्गजापीति चेन्न। नन्वेवं प्रत्यक्षानुमानशब्दानु-

---

समर्थन—सर्वसादृश्य में सादृश्यत्वरूप धर्म अनुगत है, अतः "सादृश्यत्वविशिष्ट का अनुभव उपमान है" ऐसा लक्षण होने से हस्तनिष्ठसादृश्य ज्ञान में अव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—सादृश्य का अनेकस्थत्वरूप से सादृश्य जो सादृश्यत्व में है उसमें यदि सादृश्यत्व मानें तो अन्योन्याश्रय हो जायगा और यदि सादृश्यत्व न मानें तो उस सादृश्य के ज्ञान का असंग्रह होने से उसमें उपमान के लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च यदि सादृश्य का सादृश्य सादृश्यत्व में न मानें, तो मुख में चन्द्र के सादृश्य को भी न मानिये; कारण कि सादृश्य के न होने पर भी सादृश्य के सादृश्य की प्रतीति के तुल्य मुख में चन्द्र के सादृश्य की प्रतीति भी हो सकती है।

किञ्च "गोविलक्षणोऽयं महिषः" यह वैलक्षण्य की प्रतीति भी सादृश्य के अनुभव के तुल्य अन्य (पञ्चम) प्रमाण हो जायगी, कारण कि सादृश्य की प्रतीति से वैधर्म्य की प्रतीति में कोई विशेष नहीं है, जिससे सादृश्य की प्रतीति को प्रमाण मानें और वैधर्म्य की प्रतीति को प्रमाण न मानें। यदि वैधर्म्य की प्रतीति को प्रमाण मान लें तो परिगणित प्रमाण का आधिक्य हो जायगा अथवा वैधर्म्य की प्रतीति के तुल्य सादृश्य की प्रतीति का भी किसी प्रमाण में अन्तर्भाव हो जायगा ॥ १५ ॥

समर्थन—प्रतीयमान (गवय) का अप्रतीयमान (गो) में सादृश्य की प्रमिति उपमान है।

खण्डन—"त्वदीया गौः अनेन गवयेन सदृशी" इस आप्तवाक्य से जात सादृश्य की प्रमिति भी उपमान कही जायगी।

समर्थन—जहां शब्द का व्यापार न हो ऐसी उक्त प्रतीति उपमान है।

खण्डन—"स च अयश्च अभिन्नौ" इस प्रत्यभिज्ञा के तुल्य "स च अयश्च सदृशौ" यह चाक्षुष प्रत्यभिज्ञा भी होती है वह उपमान हो जायगी।

समर्थन—जहां इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी न हो ऐसी उक्त प्रतीति उपमान है।

खण्डन—जहां प्रत्यक्ष से गो तथा गवय के सादृश्य की प्रतीति के अनन्तर "सापि गाःगवयेन सदृशी, गोत्वात्, इयमिव" ऐसी अनुमिति होती है, उसमें उपमानत्व का प्रसङ्ग हो जायगा।

समर्थन—लिङ्ग से भी अजन्य उक्त प्रतीति, उपमान है।

त्थत्वे सतीत्युक्तं स्यात् । तथा च विशेषणमेव समर्थमित्यप्रतीयमानस्येत्यादि व्यर्थम् ॥१६॥

नोपादेयमेव पदान्तरमिति चेन्न । अर्थापत्तेरवश्यं सम्भवात्, तेन सार्द्धमेतत्सादृश्यस्यानेन सार्द्धं तत्सादृश्यव्यतिरेकेणानुपपद्यमानत्वात् । अन्यथा प्रत्ययोत्पत्तिविषयं प्रमाणान्तरमापद्येत । तस्मादयं ह्रस्व इति प्रतीतेरस्मात् स दीर्घ इति चान्यथा कतमा प्रमा स्यात् । अर्थापत्तिं प्रमाणान्तरमनिच्छतापीयमर्थापत्तिरनुमाने वाऽन्तर्भाव्या पृथक् प्रमाणीकर्त्तव्या वा ।

एतेनाप्रतीतगवयगवान्तरसामान्यस्यादृष्टान्तानुमानासम्भवात्, गवयेनानेन सदृशी सा गौरिति मितिरुपमितिरित्यपि व्युदस्तम् । तयैतत्सादृश्यस्यैतेन तत्सादृश्यं विनाऽनुपपत्त्यैव सिद्धेरिति ॥१७॥

खण्डन—ऐसा कहने पर प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द से, अजन्य हो-यह कथित हुआ, तब तो प्रत्यक्षानुमान और शब्द से अजन्य ज्ञान उपमान है इतनामात्रही लक्षण युक्त है "अप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन" इत्यादि विशेष्य दल व्यर्थ है । ॥१६॥

यदि कहें कि अप्रतीयमानस्य इत्यादि विशेष्यांश नहीं ही देना चाहिये, तो यह भी युक्त नहीं, कारण कि उपमान का फल अर्थापत्ति से ही सिद्ध है। देखिये—उसके साथ इसका सादृश्य, इसके साथ उसके सादृश्य के विना अनुपपद्यमान है । अतः उसके साथ इसके सादृश्य से इसके साथ तत्सादृश्य का आक्षेपरूप ज्ञान हो जायगा । अन्यथा यदि प्रतीयमान के साथ अप्रतीयमान के सादृश्य की प्रतीति को अर्थापत्ति न मानें (प्रमाणान्तर मानें) तो प्रतीयमान महिष के साथ अप्रतीयमान गौ के वैधर्म्य की प्रतीति भी प्रमाणान्तर कही जायगी। तथा "उससे यह ह्रस्व है" इस प्रतीति से जात "इससे वह दीर्घ है" यह प्रतीति कौनसी प्रमा होगी, जो पण्डित अर्थापत्ति को अन्य प्रमाण नहीं मानते हैं अनुमान में अन्तर्भूत मानते हैं। "इससे वह दीर्घ है" इस अर्थापत्ति को अनुमान के अन्तर्गत मानेंगे अथवा पृथक् प्रमाण मानेंगे। जिस पुरुष को पूर्वकाल में गो-गवय के सादृश्य की प्रतीति नहीं है, उस पुरुष को दृष्टान्त के न होने से अनुमान ज्ञान तो होगा नहीं, अतः उस पुरुष की इस गवय के सदृश मेरी गौ है—यह प्रतीति उपमान है—यह कथन भी खण्डित जानना चाहिये, कारण कि उसके साथ एतत्सादृश्य की (इसके साथ तत्सादृश्य के विना) अनुपपत्ति से ही इस गवय के सदृश मेरी गौ है—यह प्रतीति हो सकती है ॥ १७ ॥

अथ नैयायिकाभिमत उपमान का खण्डन

निर्वचन—जिस शब्द का संकेत अज्ञात हो, उस शब्द से युक्त वाक्य के अर्थ का शब्द में अनुसंधान उपमान है ।

खण्डन—यह लक्षण युक्त नहीं है, कारण कि जिस शब्द का संकेत प्रथम तो अवगत हो और पश्चात् विस्मृत हो गया हो, उस शब्द से समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द में उप-

अनवगतसङ्गतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थस्य संज्ञिन्यनुसन्धानमुपमानमित्यपि न, प्रस्मृतसङ्गतेरेवम्भूतोपमित्यव्यापनात्। अस्मृतसंगतीत्यभिधेयमिति चेन्न। अनुभूतस्मृत-कालान्तरप्रस्मृतसङ्गतेरव्यापनात्। अस्मर्य्यमाणेति चेन्न। कदाचित् स्मर्य्यमाणताया स्तत्रापि सम्भवात्। सर्व्वदा अस्मर्य्यमाणतायाः क्वचिदप्यसम्भवात्। उपमितिप्राक्काल इति चेत्स्यादेवैतद्यद्युपमितिर्लक्षिता स्यात्, तदर्थमेव तु क्रन्दनमिदम्भवतः ॥१८॥

किञ्च सर्व्वैरनवगतसङ्गतित्वस्य प्रकृतेऽप्यसिद्धेः। केनाप्यनवगतसङ्गतित्वस्य वाक्यजेऽपि सम्भवात्। उपमात्रेति च पूर्ववत् निरस्तम्। यस्याः प्रमितेर्येन प्रमात्रेति चाभिधाने अनुगतरूपाभावात् व्यक्तौ पतनेन लक्षणाननुगत्यापत्तेः।

संज्ञेत्यप्याकुलं, गोसदृशो गवयः प्रायः कानने महति दृश्यत इति श्रुतवाक्यस्य काननपदाविदितसङ्गतेर्गवयपदविदितसङ्गतेश्चासंज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलायामीदृ-शप्रतिपत्तौ गतत्वेनातिव्यापकत्वात्। विनापि वा प्रायः शब्दमभिहितस्य तस्यानुस-

---

संहार भी उपमान है और सङ्केत के ज्ञान होने से उक्त लक्षण समन्वित होता नहीं है, अतः अव्याप्ति होगी।

समर्थन—जिस शब्द का संकेत अस्मृत हो उससे समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द में अनुसंधान उपमान है। प्रकृत में यद्यपि संकेत अवगत है, तथापि स्मृत तो नहीं है, अतः अव्याप्ति नहीं।

खण्डन—जहाँ प्रथम तो संकेत अनुभूत हुआ हो, पश्चात् स्मृत हुआ हो पुनः काल-वश से विस्मृत हुआ हो, वहाँ भी शब्द में उक्त वाक्यार्थ का अनुसन्धान उपमान ही है, और संकेत में स्मृतिविषयत्व ही है, स्मृतिविषयत्व का अभाव नहीं है, अतः उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—अस्मर्यमाण (वर्तमानस्मरण का अविषय) है संकेत जिस शब्द का उससे समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द में अनुसंधान उपमान है और उक्तस्थल में वर्तमान स्मरण नहीं है, अतः अव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—यदा कदाचित् वर्तमान स्मरण का विषयत्व उक्तस्थल में भी है, अतः वह अव्याप्ति तदवस्थ ही है और सर्वदा वर्तमान स्मरण के विषयत्व का अभाव कहीं भी नहीं है, कारण कि स्मृति के क्षणिक होने से सर्वदा वह वर्तमान नहीं रहती है, अतः अलीकप्रतियो-गिक होने से उक्त अभाव हो नहीं सकता है, अतः असम्भव हो जायगा।

समर्थन—उपमिति से प्राक्काल में वर्तमान स्मरण का अविषय जो संकेत—इत्यादि कथन में कुछ दोष नहीं है।

खण्डन—ऐसा कह सकते, यदि उपमिति की निरुक्ति हो चुकी होती। उपमिति के लक्षण के अर्थ ही तो आपका यह क्रन्दन है, फिर इस काल में ऐसा परिष्कार कैसे हो सकता है ॥१८॥

किञ्च सब मनुष्यों से अनवगत संकेत उपमितिस्थल में भी नहीं है और एक दो व्यक्तियों से अनवगत संकेत वाक्य से जायमान बोधमात्र में है, अतः सब मनुष्यों से अन-वगतत्व की विवक्षा में असम्भव और एक दो व्यक्तियों से अनवगतत्व की विवक्षा में

न्धाने प्रसङ्गः। तत्र काननसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धावधारणेऽप्यन्यत्रेव पदान्तरसमभिव्याहारोत्थाया अन्यथानुपपत्तेः प्रमाणत्वात्। न तूपमानस्य। उपमेयसंज्ञासमभिव्याहृतेति विशेषणे च पूर्वोक्त एव निरासः॥१९॥

वाक्यार्थेत्यपि तादृगेव, प्रतिपत्तिकालास्मृतातिदेशवाक्यावगतकाननादिपदार्थस्य तथाविधप्रत्ययाव्यापनात्। वाक्यैकदेशस्यापि वाक्यत्वेन विवक्षितत्वे सदृशो गवय इत्यादिसारिणोऽपि प्रत्यये प्रसङ्गात्। प्रतीत्युत्पत्तिं प्रति प्रयोजकीभूतं यावत्तावद्वाक्यं विवक्षितमिति चेन्न। अन्तर्भावितवनाधिकरणतादृशप्रतिपत्तिं प्रति तस्याऽपि प्रयोजक-

---

अतिव्याप्ति हो जायगी। उपमितिकर्ता से अनवगत संकेत इत्यादि [उपमितिनिरुक्ति से पूर्व] कह नहीं सकते। यदि कहें कि जिस प्रमाता से अनवगत है संकेत जिस संज्ञा का, उससे समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द में अनुसन्धान, उस प्रमाता के लिये उस शब्द के विषय में उपमान है तो यत् तत् शब्द के व्यक्तिपरक होने से जिस व्यक्ति का यत् शब्द से ग्रहण करेंगे, उससे अन्यव्यक्ति में अव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च लक्षण में शब्दपद का निवेश भी सदोष ही है, देखिये—जिस पुरुष ने "गोसदृशो गवयः प्रायो महति कानने दृश्यते" इस वाक्य का श्रवण तो किया है—परन्तु कानन पद के संकेत को नहीं जाना है तथा गवय पद के संकेत को जानता है उस पुरुष के अनुमानरूप [यही कानन है गवयाधार होने से, इत्याकारक] अनुसन्धान में अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि उसका भी कानन पद का संकेतज्ञान ही फल है। जहां "प्रायः" पद नहीं है—ऐसे उक्त वाक्य के अनुसन्धान में भी अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि यहां भी कानन पद का संज्ञासंज्ञिसम्बन्धावधारण में "इहहि प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति" इस वाक्यगत मधुकर पद के तुल्य अन्य पद के सम्बन्ध से उत्थ, अन्यथा (यदि यह कानन पद का अर्थ न हो तो) कानन पद में गवय पद का सन्निधान अनुपपन्न हो जायगा इत्याकारक अनुपपत्ति ही प्रमाण है, उपमान प्रमाण नहीं है। अनवगतसङ्गति जो उपमेयसंज्ञा, उससे समभिव्याहृत इत्यादि निवेश भी, उपमिति की निरुक्ति से पूर्व नहीं हो सकता॥१९॥

किञ्च लक्षण में वाक्यार्थ का निवेश भी सदोष ही है। श्रवण कीजिये—जहाँ पूर्व में श्रुत तो "गोसदृशो गवयः प्रायो महति कानने दृश्यते" यह वाक्य हुआ है, परन्तु अदृष्ट के वश से वाक्यघटित कानन पद का अर्थ स्मृत नहीं हुआ है, उस स्थल में वाक्यार्थ का अनुसन्धान नहीं है, किन्तु वाक्य के एकदेशार्थ का अनुसन्धान है, अतः अव्याप्ति हो जायगी। यदि वाक्य के एकदेश को भी वाक्य मान लें तो "सदृशो गवयः" एतन्मात्र के अर्थ का अनुसन्धान भी उपमान हो जायगा।

समर्थन—प्रतीतिप्रयोजक जो उक्त वाक्य, तदर्थ का अनुसन्धान उपमान है और "सदृशो गवयः" यह वाक्य प्रतीति में प्रयोजक नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—वन भी जिसका विषय है ऐसी प्रतीति का "गोसदृशो गवयः प्रायो महति कानने दृश्यते" यह वाक्य भी प्रयोजक है और दैववश से जहाँ उक्त वाक्यगत काननपदार्थ का स्मरण नहीं हुआ, उस स्थल में वाक्यार्थ का अनुसन्धान न होने से उपमिति का प्रयोजक जितना अंश हो, उतना ही उक्त लक्षण में वाक्य है—यह नहीं कह सकते हैं।

समर्थन—संज्ञासंज्ञी-सम्बन्ध की बुद्धि का प्रयोजक यावत् अंश हो तावन्मात्र की—उक्त लक्षण में वाक्यशब्द से विवक्षा है।

त्वात् । उपमितिं प्रतीति तु पूर्ववन्निरस्तमिति । यावत्संज्ञासंज्ञिबुद्ध्यौपयिकं तावद्विवक्षितमिति चेन्न । लक्षणसहचरितसंज्ञोपदेशार्थानुसन्धानेऽपि प्रसङ्गात् ॥ २० ॥

किञ्च यदा तर्कानुसन्धानविरहिणः सत्यप्येवंविधानुसन्धाने सादृश्यमेव गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति मितिः फलमुत्पद्यते, तदा तस्याप्रमाकरणस्यापि उपमानत्वमापद्यते। प्रमाफलकमितिविशेषणप्रक्षेपपक्षे चानुसंहितरूपव्यवहार्य्यतानुमित्युत्पादेनाप्येतादृशानुसन्धानमुपमानं स्यात् । अव्याप्तविषयप्रमाफलकमिति विशेषणीयमिति चेन्न । वस्तुगत्याऽव्याप्तत्वस्योपमेयेऽप्यभावात् । व्याप्ततयाऽनवगम्यमानस्येति च कृते यत्प्रति तल्लिङ्गं तेन सह व्याप्तत्वावगतमुपमितिकरणमपि न व्याप्नुयात् । उपमेयेन सह व्याप्तत्वानवगत-

---

खण्डन—"गन्धवती पृथिवी" इस लक्षणवाक्य के श्रवण के बाद गन्धयुक्त व्यक्ति के प्रत्यक्ष होने पर जो "सा इयं गन्धवती पृथिवी" यह अनुसन्धान होता है, उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि यहाँ भी अज्ञातसंकेत समभिव्याहृत वाक्यार्थ का संज्ञी में अनुसन्धान है ही और यह व्यतिरेकी अनुमान है, उपमान नहीं है ॥२०॥

किञ्च लाघवरूप तर्क का अनुसन्धान न होनेपर "गोसदृशो गवयः" इस वाक्य के श्रवण के बाद गोसदृश व्यक्ति के प्रत्यक्ष होने पर जहाँ "स एव अयं गोसदृशो गवयः" यह अनुसन्धान होता है, उस स्थल में गो सादृश्य ही गवय पद का प्रवृत्तनिमित्त है—ऐसा ज्ञान होता है, उस अप्रमा का करण भी उपमान हो जायगा । यदि कहें कि प्रमिति का जनक उक्तवाक्य के अर्थ का अनुसन्धान उपमान है, तो अनुसंहित जो पृथिवीत्वरूप धर्म, तद्व्यवहार्य्यत्वानुमिति के उत्पादक लक्षण वाक्य के अर्थ के अनुसन्धान में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—व्याप्त (लिङ्ग) जिसका विषय न हो ऐसा जो [प्रमाफलक उक्त-वाक्यार्थ के संज्ञी में] अनुसन्धान, वह उपमान है, अतः लक्षण वाक्यार्थ के अनुसन्धान में अतिव्याप्ति नहीं ; कारण कि पृथिवीत्व से व्यवहार्य्यत्व का व्याप्त गन्धवत्त्व आदि लिङ्ग, उक्त अनुसन्धान के विषय हैं ।

खण्डन—ऐसा मानने पर "स एव अयं गोसदृशो गवयः" इत्याकारक अनुसन्धान भी उपमान न कहावेगा, कारण कि पदार्थत्व आदि से व्याप्त ही गोसादृश्य उक्त अनुसन्धान का विषय होता है। यदि कहें कि व्याप्तत्वरूप से ज्ञात है विषय जिसका ऐसा [प्रमाफलक उक्त वाक्यार्थ का] अनुसन्धान उपमान है और गोसादृश्य—व्याप्त होने पर भी व्याप्तत्वरूप से—ज्ञात नहीं है; अतः अव्याप्ति नहीं, तो जिस काल में पदार्थत्व के व्याप्तस्वरूप से गोसादृश्य अवगत होता है, उस काल में उसका अनुसन्धान उपमान न कहा जायगा ।

समर्थन—उपमेय के साथ व्याप्तत्वरूप से अनवगम्यमान विषयक उक्त अनुसन्धान उपमान है और गोसादृश्य, उपमेय गवय से व्याप्तत्वरूप से अवगत नहीं है, अतः अव्याप्ति नहीं ।

खण्डन—गन्धवत्व भी उपमेय के साथ व्याप्तत्वरूप से अनवगम्यमान नहीं है, अतः लक्षणवाक्यार्थ का अनुसन्धान भी उपमान हो जायगा । यदि अनुमेय के साथ व्याप्तत्वरूप

लोकावप्यनुमाने प्रसङ्गस्तदवस्थः । अनुमेयेन सहेति कृते च तदनपायादव्याप्तिस्तदवस्थैव ॥ २१ ॥

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रमितिकरणमिति चेन्न । तथात्वासिद्धेः । अर्थापत्त्यादितस्तत्सिद्धेर्वक्ष्यमाणत्वात् । अननुमितिजनकं तादृक् प्रतिसन्धानमुपमानमिति चेन्न । तज्जातीयस्यानुमितिजनकत्वात् । व्यक्त्यपेक्षायाश्च जनकत्वस्य सामान्याकारपर्य्यवसायिनो नित्यं व्यक्तावसम्भावितया अननुगमेन चायुक्तत्वादिति ॥ २२ ॥

किञ्च गोसादृश्यं विहाय गवयत्वजातौ गवयशब्दार्थताप्रतीतिः कल्पनालाघवाख्यं तर्कमपास्य न स्यादिति तदुपन्यासस्थितौ किमानुमानिक्येव तत्र गवयत्वस्य गवयपदवाच्यताप्रमितिरियं नेष्यते । सम्भवति हि प्रयोगः विमतिपदं गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तथात्वे तर्केण विपयीक्रियमाणविपर्य्ययकत्वात् । न यदेवं न तदेवं यथा गोत्वं तथा चेदं ततस्तथेति । न ह्यस्ति सम्भवो मूलशैथिल्यादिदोषविरहिततर्कनिवेदितविपर्ययश्रा-

---

से अनवगम्यमान कहें तो जिस काल में पदार्थत्व के साथ व्याप्तत्व रूप से अवगत गोसादृश्य है उस काल में "स एव अयं गोसदृशो गवयः" यह अनुसन्धान उपमान नहीं कहावेगा ॥ २१ ॥

समर्थन—संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध की जो प्रमिति उसका करण जो उक्त अनुसंधान, वह उपमिति है ।

खण्डन—लक्षण वाक्यार्थ का अनुसन्धान भी उपमान हो जायगा । किञ्च संज्ञासंज्ञिभाव की प्रमिति, अर्थापत्ति वा अनुमान से ही सिद्ध है, अतः उक्त अनुसन्धान उसका कारण नहीं है ॥

समर्थन—अनुमिति का अजनक उक्त अनुसन्धान उपमान है ।

खण्डन—जिस अनुसन्धान का सजातीय, अनुमिति का अजनक हो—यह अर्थ है अथवा जो अनुसन्धान व्यक्ति अनुमिति का अजनक हो—यह अर्थ है । इनमें प्रथमपक्ष युक्त नहीं है कारण कि "स एव अयं गोसदृशो गवयः" इस अनुसन्धान के सजातीय अन्य अनुसन्धान भी कदाचित् अनुमिति का जनक हो सकता है ।

द्वितीयकल्प भी अयुक्त है कारण कि सामान्यरूप से गृहीत जनकत्व (फलोपधायकत्व न हो, परन्तु स्वरूपयोग्यत्व) सब ही व्यक्ति में अवश्य रहता है, अतः किसी भी व्यक्ति को अनुमिति का अजनक न होने से असम्भव हो जायगा, तथा लक्षण में व्यक्ति के प्रवेश होने से व्यक्ति के भेद से लक्षण के भेद होने से लक्षण का अननुगम हो जायगा ॥२२॥

किञ्च गोसादृश्य को छोड़कर गवयत्वजाति में गवयशब्दार्थत्व की कल्पना लाघवरूप तर्क के बिना हो नहीं सकती है । जब उपमान में भी लाघवरूप तर्क की अपेक्षा ही है, तो जिस अनुमान को सब ही मानते हैं, उसीमें लाघवरूप तर्क को सहकारी क्यों न माना जाय । पञ्चावयव के प्रयोग का भी सम्भव है । देखिये—विप्रतिपत्ति (सन्देह) का विषय गवयत्व, गवय शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है, गवयत्व के प्रवृत्तिनिमित्तत्व में तर्क से अविषयीकृत विपर्य्यय के होने से, जो गवयशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है, वह तर्क से अविषयीक्रियमाण विपर्य्यय एक नहीं है, जैसे गोत्व अथवा गोसादृश्य, यह गवय तर्क से

र्थो नच तथेति। अथवा गवयपदमसम्भवत्प्रवृत्तिनिमित्तान्तरमनुपपद्यमानाप्तोक्तगोसादृश्यसामानाधिकरण्यमर्थाद्गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकतामाक्षिपतीत्यर्थापत्तिरेवात्र प्रमाणमस्तु। सा च त्वया व्यतिरेकीकृत्य परेण पृथगेवावश्यं प्रमाणनीयेति ॥ २३ ॥

अथ शब्दलक्षणखण्डनारम्भः

शब्दोऽपि क उच्यते। आप्तवाक्यं हि शब्दः प्रमाणमिति न युक्तं, विकल्पानुपपत्तेः। तथा हि कोऽयमाप्तो नाम। यथादृष्टवादीति चेन्न। भ्रान्तिप्रतिपन्नवादिवाक्येऽपि प्रसङ्गात्। प्रमाणदृष्टेतिविशेषणे च तथा भूतस्यान्यथावादव्यापनात्। यथाप्रमाणेति करणे चांशे तथाभूतवादिवाक्यस्याऽयथार्थस्याऽपि व्यापनात्। यावद्यथाप्रमाणदृष्टनिरुक्तौ च प्रायेणातथाभूतत्त्वादेव लक्ष्याणां तदव्याप्तेः। नहि यावत्प्रमितं तावदभिधीयते। यथाप्रमितस्यैव च वक्तुर्वाक्यमिति व्याकारे च युधिष्ठिरवाक्यस्याप्यनेवम्भूतत्त्वे-

---

अविपर्योक्रियमाण विपर्य्ययक है, अतः गवयशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है, यह सम्भव नहीं है कि अर्थमूलशैथिल्य आदि दोष से रहित तर्क से निवेदित विपर्य्ययक हो और प्रवृत्ति में निमित्त न हो। अथवा गवय शब्द के गवयत्व प्रवृत्तिनिमित्तकत्व के बिना गवय शब्द में आप्तपुरुषों से उक्त गोसदृश शब्द का सामानाधिकरण्य अनुपपद्यमान है, अतः गवय शब्द का गवयत्व प्रवृत्तिनिमित्तकत्व का आक्षेप करेगा, अतः अर्थापत्ति ही प्रमाण रहे उसको आप व्यतिरेकी अनुमानरूप से और अन्य मीमांसकादि पृथक् प्रमाणरूप अवश्य मानते हैं। गोत्व कथंचित् कालिकादि सम्बन्ध से गवय में रहता है, अतः उसको प्रवृत्तिनिमित्त मानने में गौरव है ॥२३॥

इति उपमानप्रमाणखण्डन

शब्दप्रमाणलक्षणखण्डन

प्रमाणभूत शब्द भी क्या वस्तु है अर्थात् लक्षण न होने से अनिर्वचनीय ही है।

निर्वचन—आप्त का वाक्य, प्रमाण शब्द है ऐसा लक्षण होने से अनिर्वचनीय नहीं है।

खण्डन—यह लक्षण युक्त नहीं है, कारण कि आप्तत्व की निरुक्ति नहीं हो सकती है। कहिये—आप्त कौन है ?

निर्वचन—जैसा देखा हो वैसा ही कहनेवाला आप्त है।

खण्डन—भ्रम से शुक्ति को रजतस्वरूप से देख कर जो शुक्ति को रजत कहता, है वह भी आप्त हो जायगा, कारण कि उसने जैसा देखा है, वैसा ही कहा है।

समर्थन—प्रमाण से जो दृष्ट हो उसको कहनेवाला आप्त है ?

खण्डन—प्रमाण से दृष्ट शुक्ति को इदानीं रजत कहनेवाला भी आप्त हो जायगा।

समर्थन—प्रमाण से जैसा देखा हो वैसा ही कहनेवाला आप्त है।

खण्डन—रङ्ग (राग) में—इमे रङ्गरजते, इस भ्रमस्थल में उक्त वाक्य का वक्ता भी आप्त हो जायगा, कारण कि रङ्गत्वरूप से प्रमाणदृष्ट को रङ्गत्वरूप से भी वह कहता ही है।

नाव्याप्त्यापत्तेः । तत्र विषय इति विशेषणे च विशेषरूपस्य विषयस्यासाधारण्येनाऽव्यापकत्त्वापातात् ॥ २४ ॥

अथ निर्दोषस्य वाक्यं तथेति चेन्न । सदोषस्य-नास्ति घट इत्यभिधित्सतोऽस्ति घट इति दैवान्निर्गतयथार्थवाक्याव्याप्तेः । तत्प्रमाणं न भवत्येवेति चेन्न । पूर्वमुक्तोत्तरत्वात् । प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्यावधारणसम्भवादापाततः सन्देहेऽप्यदोषात्, सामान्यतो निर्दोषत्वस्य भीमाग्रजेऽप्यभावात्, विशेषतस्तथात्वस्यासाधारण्यपर्य्यवसायित्वात् ॥ २५ ॥

यथार्थवाक्य शब्दः प्रमाणमित्यत्र को दोष इति चेन्न । पूर्व्वोक्तयाथार्थ्यदूषणानि तावत्प्रथमः । यथार्थमिति विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वाव्यवच्छेदकत्वयोः पूर्व्ववद्दोषश्च द्वितीयः । वाक्यत्वानिरुक्तिश्च तृतीयः ।

समर्थन—जितनी वस्तु जिसरूप से प्रमाण द्वारा दृष्ट हों, उतनी ही वस्तु को उसीरूप से कहनेवाला आप्त है।

खण्डन—प्रायः उदाहरण वैसे नहीं मिलते हैं, अतः असम्भव हो जायगा, कारण कि जिस जिस रूप से वस्तु प्रमित होती है, उन सब रूपों से वस्तु का एक साथ कथन हो नहीं सकता है।

समर्थन—जैसा जो प्रमित हो उसी प्रकार से उसको ही जो कहे, अप्रमित को कदापि न कहे, ऐसे वक्ता का वाक्य प्रमाण है।

खण्डन—युधिष्ठिर जो आप्तस्वरूप से प्रसिद्ध हैं, उनके वाक्य में भी अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि कदाचित् उन्होंने भी अप्रमित—अश्वत्थामा हतो नरो वा हस्ती वा—इस वाक्य कोकहा था।

समर्थन—जैसा जो प्रमित हो उसको उसीप्रकार से कथन करनेवाला उस विषय में आप्त है और उसी विषय में उसका वाक्य प्रमाण है।

खण्डन—लक्षण में यत् शब्द को तत्तत्व्यक्तिपरक ही मानेंगे, अतः जिस व्यक्ति का ग्रहण करेंगे उससे अन्य व्यक्ति में अव्याप्ति हो जायगी ॥ २४ ॥

समर्थन—निर्दोष पुरुष का वाक्य प्रमाण शब्द है।

खण्डन—घटवत् भूतल में-नास्ति घटः, इस कथन के इच्छाकाल में दैववश से कथित सदोष पुरुष का-अस्ति घटः—यह वाक्य प्रमाण न कहावेगा। वह वाक्य अप्रमाण नहीं है—यह नहीं कह सकते हैं, कारण कि इसका विषय अबाधित है और संवादी प्रवृत्ति होने से उक्त वाक्य में प्रामाण्य का ही सम्भव है। सदोष के वचन होने से आपात से सन्देह हो भी तो कुछ हानि नहीं है। किञ्च यदि सब दोषों से रहित को निर्दोष शब्द का अर्थ मानें, तो युधिष्ठिर भी ऐसे नहीं हैं और यदि यत्किञ्चित् दोष के अभाव से विशिष्ट को निर्दोष शब्दार्थ मानें, तो लक्षण सर्वलक्ष्य साधारण नहीं होगा

अर्थात् यदि वञ्चनारूप दोष के अभाव का लक्षण में निवेश करें तो तदभाव विशिष्ट वक्ता के वाक्यमात्र में समन्वय होगा, लोभरूप दोषाभावविशिष्ट वक्ता के वाक्य में समन्वय नहीं होगा ॥२५॥

समर्थन—यथार्थवाक्य शब्द प्रमाण है—इस लक्षण में क्या दोष है ?

तथाहि किमिदं वाक्यं नाम? एकार्थावच्छिन्नपदसमुदायो वाक्यमिति चेन्न। एकत्त्वविषयत्त्वावच्छिन्नत्त्वानां वाच्यानि दूषणानि तावत्सन्तु, पदपदार्थन्तु चिन्तयामः ॥ २६ ॥

सुप्तिङन्तं पदमिति केचित्। वर्णा विभक्त्यन्ताः पदमित्यन्ये। तत्र नाद्यः प्रत्येकं मिलितस्य चाव्यापकत्वात्। पृथक्प्रवृत्तिनिमित्ततायाश्च वाक्यलक्षणाव्यापकत्वापातात्।

नापि द्वितीयः विभक्त्यर्थस्यानुगतस्यासम्भवात् "विभक्ति" रित्यनेन सुप्तिङोः, "प्राग्दिशोऽविभक्ति" रित्यनेन च तसिलादेः पृथक् पृथगेव विभक्तिसंज्ञाविधानात् शब्दसाम्येन च लक्षणायोगात् ॥ २७ ॥

किञ्च वर्णा इति बहुलस्य विवक्षितत्वे अहमित्यादेरपदत्वप्रसङ्गः। अविवक्षितत्वे देवदत्त इत्यन्ताकारस्य पदत्वापातः तस्य विभक्त्यन्तत्वात्। सार्थकस्तथेति चेत्। भवतीत्यादौ शवकारादीनां पदत्वप्रसङ्गः, शपः सार्थकत्वात्। यत्र विहिता विभक्तिस्तदिति चेन्न। शवकारं परित्यज्य पदत्वप्रसङ्गात्। तन्मध्यपतितत्वाच्छवकारोऽपि गृह्यत

खण्डन—यदि वाक्य में अर्थसादृश्य का प्रमेयत्वरूप से ग्रहण करें तो आभास वाक्य में अतिव्याप्ति हो जायगी, अतः यथार्थज्ञानजनकवाक्य-प्रमाण है—ऐसा लक्षण करेंगे। इस लक्षण में भी यदि यत्किञ्चित्रूप से सादृश्य का ग्रहण करें तो भ्रान्तिज्ञान के प्रमेयत्वरूप से अर्थसदृश होने से उसके जनक वाक्य में अतिव्याप्ति हो जायगी, और यदि भासमान आकार से सादृश्य का ग्रहण करें तो "रूपी घटः" इस वाक्य में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि रूपवत्व से ज्ञान में अर्थ सादृश्य नहीं है इत्यादि। यथार्थानुभवः प्रमाणम्—इस प्रकरण में उक्त प्रथम दोष है। तथा यदि अयथार्थवाक्य को यथार्थ इस विशेषण का व्यवच्छेद्य मानें, तो अंश में जो यथार्थ है तथा अंश में अयथार्थ है वह वाक्य यथार्थ अंश में भी प्रमाण न होगा। यदि व्यवच्छेद्य न मानें, तो यथार्थ विशेषण व्यर्थ हो जायगा यह द्वितीय दोष है और वाक्यत्व की अनिरुक्ति तृतीय दोष है। देखिये—वाक्य क्या वस्तु है।

निर्वचन—एक अर्थ से अवच्छिन्न अर्थात् एक अर्थ का वाचक पदसमुदाय वाक्य है।

खण्डन—एकत्व अर्थत्व और अवच्छिन्नत्व में वक्तव्य दोष तब तक रहे। पद शब्द के अर्थ का सम्प्रति विचार करते हैं कि पद शब्द का अर्थ क्या है ॥ २६ ॥

निर्वचन—कोई आचार्य "सुप्तिङन्तं पदम्" यह पद का लक्षण करते हैं और अन्य आचार्यों का-विभक्त्यन्त वर्ण पद है—यह लक्षण है।

खण्डन—इनमें प्रथमलक्षण युक्त नहीं है, कारण कि यदि सुबन्त को पद कहें तो तिङन्त में और यदि तिङन्त को पद कहें तो सुबन्त में अव्याप्ति हो जायगी और यदि सुप्तिङन्त को पद कहें तो सुप्तिङ् दोनों किसीके अन्त में नहीं है, इससे असम्भव हो जायगा और यदि (सुबन्तपदं तिङन्तपदं) इस रीति से दो लक्षण करें तो सुबन्त पद है इस लक्षण की तिङन्त में और तिङन्त पद है इस लक्षण की सुबन्त में अव्याप्ति हो जायगी। द्वितीय लक्षण भी युक्त नहीं है, कारण कि—विभक्तिश्च, इससे सुप्तिङ् की और "प्राग्दिशोऽविभक्तिः" इससे तसिलादि की पृथक् पृथक् विभक्तिसंज्ञा होने से विभक्ति शब्द का अनुगत

इति चेत् तर्हि यत्र विभक्तिर्विधीयते तत्र तद्विभक्तिमध्यपतितं पदमिति वा विवक्षितं, यत्र विभक्तिर्विधीयते तत्तद्विभक्तिमध्यवर्त्तिसहितं पदमिति वा, आद्ये शबकारस्यापि पृथगेव पदत्वप्रसङ्गः लक्षणस्य चाव्यापकत्वात्। द्वितीये देवदत्त इत्यस्यापदत्वप्रसङ्गः मध्यवर्तिनोऽभावेन मध्यवर्तिसहितविशेषणाभावात्। क्वचिन्मध्यवर्तिसहितस्य क्वचित्केवलस्येतियथासम्भव इति चेन्न। एकानुगतरूपानभिधाने लक्षणस्याव्यापकतापत्तेर्दुर्निवारत्वात् ॥ २८ ॥

किञ्च देवदत्तस्त्रित्यपि पदं स्यात्। अथ अपशब्दोऽयं पदत्वे सति रुत्वादेर्विधानस्यावश्यम्भावित्वात् इति चेन्न। यत एवायमपशब्दः अत एव भवतो दोषः प्रसज्यते, अपशब्देऽपि पदलक्षणं गतमिति। तस्मात् पाणिनिनाऽऽचार्येण शब्दसिद्ध्यर्थं पदसंज्ञेयं रुत्वादिविध्यनुरोधेनापशब्ददशायामन्यैव कृता नदीसंज्ञावन्न लौकिकपदव्यवहारसिद्ध्यर्थं साधुशब्दविशेषे, ततश्च तस्यान्यदेव लक्षणं वाच्यमन्यथा दाक्षीनन्दनोदी-

---

अर्थ नहीं है। अतः शब्दसम होने से केवल सुबन्त-तिङन्त में समन्वित विभक्त्यन्त वर्ण पद है यह लक्षण हो नहीं सकता है। अन्यथा यदि यह लक्षण मानें तो सुप्रहित केवल तसिलन्त भी पद हो जायगा ॥२७॥

किञ्च "वर्णाः" इसमें बहुत्व की यदि विवक्षा करें तो "अहम्" इत्यादि पद न कहावेगा। यदि बहुत्व की विवक्षा न करें तो "देवदत्तः" यहाँ अ भी विभक्त्यन्त होने से पद कहा जायगा।

समर्थन—सार्थक, विभक्त्यन्त पद है, अतः "देवदत्तः" इसका घटक "अः" पद हो जायगा।

खण्डन—ऐसा कहने पर-भवति, इसका घटक "अति" पद हो जायगा, कारण कि शप् प्रत्यय होने से सार्थक है।

समर्थन—जिससे विभक्ति विहित हो [सार्थक विभक्त्यन्त] वह पद है, अतः शप् से विभक्ति के अविहित होने से वह विभक्त्यन्त पद नहीं होगा।

खण्डन—शप् के आकार को त्याग कर "भूति" एतन्मात्र पद हो जायगा और लोक में तन्मात्र में पदत्व प्रसिद्ध है, अतः इष्टापत्ति नहीं कर सकते हैं।

समर्थन—प्रकृतिप्रत्यय के मध्य में होने से शप् विशिष्ट ही पद है।

खण्डन—जहां विभक्ति का विधान हो वहां तन्मध्यपतित पद है-यह अर्थ विवक्षित है अथवा जिससे विभक्ति का विधान हो तन्मध्यपतितयुक्त पद है—यह अर्थ विवक्षित है। प्रथमपक्ष में शप् का अकार पृथक् ही पद हो जायगा। किञ्च भवति इत्यादि में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

द्वितीयपक्ष में "देवदत्तः" यह पद न कहावेगा, कारण कि मध्यवर्त्ती के अभाव होने से तद्विशिष्ट नहीं है।

समर्थन—कहीं कहीं जिससे विभक्ति विहित हो, मध्यवर्तिसहित विभक्त्यन्त वह पद है तथा कहीं कहीं जिससे विभक्ति विहित हो केवल विभक्त्यन्त ही पद है।

खण्डन—सब लक्ष्यों में एक अनुगत लक्षण के न होने से प्रथम लक्षण की द्वितीय लक्षणों के लक्ष्य में और द्वितीय की प्रथमलक्षण के लक्ष्य में अव्याप्ति हो जायगी ॥ २८ ॥

रितनदीसंज्ञाप्रत्यभिज्ञायां पाथः प्रार्थयमानः काननस्थलीमलीकाभिमानी भवानीहेत ॥ २९ ॥

अथोच्यते विभक्त्यन्तमेव सर्व्वलक्षणप्रवृत्त्या निष्पन्नं व्यावहारिकं पदमिति लक्षणमस्तु । मैवम् । सर्व्वलक्षणप्रवृत्तेः सर्वत्रासम्भवात् । सम्भवत्सर्वलक्षणप्रवृत्त्येति चेन्न । सम्भवत्त्वं तत्काले कालान्तरे वा विवक्षितम् । आद्ये देवदत्त रु, इत्यपि पदं स्यात् । रुत्वविधानकाले विसर्गस्यासम्भावितत्वात् । कालान्तरेऽपीतिपक्षे देवदत्त इत्यपि पदं न स्यात्, इत्यादिपदपूर्व्वकालभाविनो यत्वयलोपादेरकरणात् ॥ ३० ॥

शब्दान्तरसन्निधिव्यतिरेकेण यद्भावि लक्षणं तद्विवक्षितमिति चेन्न । जीविकाकृत्य व्याचष्ट इत्यर्थे जीविकां कृत्वा व्याचष्ट इति प्रयुज्यमानं वाक्यं स्यात् । एकार्थावच्छिन्नपदसमुदायस्य तत्रापि गतत्वात् । कृत्वेत्यनेन सम्बद्धस्य जीविकामित्यस्योक्तपदलक्षणेन सङ्गृहीतत्वात् ।

किञ्च "देवदत्त सु" यह भी पद हो जायगा, कारण कि यह भी विभक्त्यन्त है ।

समर्थन—यह अपशब्द—अशुद्धशब्द है, अतः बोलते नहीं है, परन्तु पद ही है, कारण कि पद न हो तो रुत्व विसर्ग होगा कैसे ।

खण्डन—अपशब्द है इसीसे तो दोष होता है कि अपशब्द में भी आपके पद-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । तस्मात् पाणिनि आचार्य ने शब्दसिद्धि के अर्थ रुत्व आदि विधि के अनुरोध से अपशब्द, साधारण नदीसंज्ञा के तुल्य अन्य ही पद का लक्षण किया है, लौकिक पदव्यवहार की सिद्धि के अर्थ केवल साधुशब्दविषयक लक्षण नहीं किया है, अतः लौकिक पद का और ही लक्षण करना चाहिये । अन्यथा यदि पाणिनिकृत (लक्षण को लोकसाधारण मानें तो) दाक्षीनन्दन कृत नदीसंज्ञा का अनुसन्धान कर अलीक अभिमानी आप निर्जल काननस्थली को नदी मान कर जल के लिये उसको प्राप्त कीजिये ॥ २९ ॥

समर्थन—विभक्त्यन्त ही [सब लक्षणों की प्रवृत्ति से निष्पन्न] लौकिक पद है ।

खण्डन—सर्वत्र सब लक्षणों की प्रवृत्ति न होने से असम्भव हो जायगा ।

समर्थन—जिन जिन लक्षणों की जहाँ जहाँ प्रवृत्ति हो उन सब लक्षणों से निष्पन्न विभक्त्यन्त लौकिक पद है ।

खण्डन—उस काल में जिन २ लक्षणों की प्रवृत्ति का सम्भव हो—यह अर्थ है वा अन्यकाल में भी जिन २ लक्षणों की प्रवृत्ति का सम्भव हो—यह अर्थ है । प्रथमपक्ष में "देवदत्त" यह भी पद हो जायगा, कारण कि रु विधान काल में विसर्ग की प्रवृत्ति तो है नहीं और जिन २ सूत्रों की प्रवृत्ति है, वे प्रवृत्त हो चुके हैं और द्वितीय पक्ष में "देवदत्तः" यह भी पद न कहावेगा, कारण कि इति आदि जोडने पर यत्व आदि की प्रवृत्ति की भी सम्भावना है और यत्वादि प्रवृत्त नहीं हैं ॥३०॥

समर्थन—शब्दान्तर का जो सन्निधान उसके अभावकाल में जिन २ लक्षणों की प्रवृत्ति हो, उन २ लक्षणों की प्रवृत्ति से निष्पन्न, पद है ।

यदुपाधिका यल्लक्षणप्रवृत्तिस्तदुपाधिसम्पत्तौ तेन निष्पन्नं तथेति चेन्न, यत्र नास्त्युपाधिसम्पत्तिस्तत्र केवले तस्यां सत्यामित्यस्याभावादपदत्वापत्तेः। यस्यामवस्थायां यस्य लक्षणस्योपनिपातस्तत्सर्वसम्पत्तौ विभक्त्यन्तं पदमिति चेन्न, यस्यामवस्थायामित्यवस्थानां भिन्नभिन्नाकारेण परामर्शे लक्षणस्याननुगमादव्यापकतादोषः। अत्रस्थानामैक्यमविवक्षितमसम्भावितं च। सर्वदा सर्वावस्थाविषये लक्षणप्रसङ्गादिति। स च भवति भवति भवतीति, भवत्यस्तीति, पटः पटाविति, पटं पट इति चेत्यतिव्याप्तिः।

एतेनापौरुषेयं वाक्यं तदित्यपि निरस्तम् ॥३१॥

खण्डन—जीविका कृत्य व्याचष्टे—इस अर्थ में प्रयुक्त—जीविकां कृत्वा व्याचष्टे—यह भी वाक्य हो जायगा, कारण कि कृत्वा इससे सम्बद्ध "जीविकाम्" इसको उक्त पद लक्षण से संगृहीत होने से वह एक अर्थ से अवच्छिन्न पदसमुदायरूप वाक्य है ही।

समर्थन—जिन २ कारणों से जिन २ सूत्रों की प्रवृत्ति हो उन २ कारणों की सम्पत्ति होने पर उन २ सूत्रों की प्रवृत्ति से निष्पन्न ही पद है और औपम्यरूप अर्थ तथा "कृत्वा" और "जीविकाम्" इन दो पदों का परस्पर सन्निधानरूप कारण से गतिसंज्ञा—समासल्यप् की प्रवृत्ति होती है, अतः इन सूत्रों की प्रवृत्ति होने पर ही उक्त वाक्यघटक पद होंगे, अन्यथा नहीं।

खण्डन—जहां कारण औपम्यादि नहीं हैं वहां, उपाधिसम्पत्तौ सत्यां—इस लक्षणांश के समन्वय न होने से पदत्व नहीं होगा।

समर्थन—जिस अवस्था में जिन २ सूत्रों की प्रवृत्ति हो, उन २ सूत्रों की प्रवृत्ति होने पर उस अवस्था में विभक्त्यन्त पद है।

खण्डन—लक्षण में अवस्था पद से अवस्थाविशेष का ग्रहण है या अवस्थासामान्य का। यदि अवस्थाविशेष का ग्रहण करें तो जिस देवदत्तः इस अवस्था का लक्षण में निवेश होगा, उससे अन्य यज्ञदत्त इत्यादि अवस्था में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं, कारण कि अवस्थामात्र में ऐकरूप्य अविवक्षित है तथा असम्भावित है। अन्यथा सब अवस्थाओं में सब कालों में सब लक्षणों की प्रवृत्ति हो जायगी अर्थात् यदि अवस्थाओं के ऐक्य, पदों की एकरूपतारूप हैं तो "भवति"—यह तिङन्त तथा "भवति" सप्तम्यन्त तथा "भवति"—सम्बोधन इन तीनों की एक अवस्था होने से "भवति" इस अवस्था में प्रवृत्त सब लक्षणों की प्रवृत्ति किसी "भवति" में नहीं है, अतः तीनों में अपदत्व हो जायगा। यदि अर्थैक्यरूप अवस्थाओं का ऐक्य हो तो अस्ति भवति—इन दोनों की एक अवस्था होने से उस अवस्था में प्रवृत्त सब लक्षणों की एक में प्रवृत्ति न होने से अव्याप्ति हो जायगी। यदि एकविभक्तिकत्वरूप अवस्थाओं का ऐक्य हो तो "पटः पटौ" इन दोनों में की प्रथमारूप एक विभक्ति होने से एक अवस्था हो जायगी और उस अवस्था में प्रवृत्त सब लक्षणों से प्रत्येक की निष्पत्ति न होने से अव्याप्ति हो जायगी। यदि प्रातिपदिक की ऐक्यरूप्य अवस्थाओं का ऐक्य है, तो पटम् पटः इन दोनों की एक अवस्था होने से इस अवस्था में प्राप्त सब लक्षणों से प्रत्येक की निष्पत्ति न होने से अव्याप्ति हो जायगी, पद तथा वाक्य की निरुक्ति न होने से ही अपौरुषेय वैदिकवाक्य, प्रमाणशब्द है यह लक्षण भी खण्डित जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

इति शब्दप्रमाणलक्षणखण्डन,

अथार्थापत्तिलक्षणखण्डनारम्भः ।

का पुनरर्थापत्तिरपि । अन्यथाऽनुपपत्तिरिति चेन्न, यतोऽन्यत्त्वं तत्सिद्धेरग्रे तदसिद्धेः ।

सिद्धे नानुपपत्तिरिति चेन्न, विशेषणव्यवच्छेद्याप्रतीतौ तद्वैयर्थ्येन तदनुपादाने सर्वथाऽनुपपत्त्यर्थतायां फलविरोधात् । केनाऽप्यनुपपत्त्यर्थत्वे साध्यसिद्ध्यपर्यवसानात् ॥३२॥

प्रमाणयोर्विरोधानुपपत्तिरिति चेन्न , असिद्धत्वात् । प्रमाणत्वेनाभिमन्यमानयोरिति चेन्न, अभिमतेर्भ्रमार्थत्वेऽतिप्रसङ्गात् । ज्ञानार्थत्वेऽप्युक्तदोषाऽनिवृत्तिरेव । अनिर्णीयमानप्रामाण्याप्रामाण्ययोरित्यत्रापि तथैव । तथाहि—सत्प्रतिपक्षेऽपि तस्य तदुपपाद-

अथ अर्थापत्तिलक्षणखण्डनानुवाद

अर्थापत्ति क्या वस्तु है * अर्थात् लक्षण न होने से मीमांसक का अभिमत-अर्थापत्तिप्रमाण भी अनिर्वचनीय ही है ।

निर्वचन—अन्यथा (बहिःसत्व के विना) जीवित देवदत्त के गृह में असत्व की अनुपपत्ति अर्थापत्ति प्रमाण है, ऐसा लक्षण होने से अनिर्वचनीय नहीं है ।

खण्डन—जिस वहिःसत्व के विना अनुपपत्ति है, उसकी पहले से ही सिद्धि होने से अर्थापत्ति प्रमाण का कुछ फल नहीं है ।

समर्थन—देवदत्त का वहिःसत्व अर्थापत्ति का फल है और सामान्य से सिद्ध वहिःसत्व के विना अनुपपत्ति अर्थापत्तिरूप करण है, अतः वहिःसत्व की प्रथम से सिद्धि होने पर भी कुछ हानि नहीं है ।

खण्डन—यदि विशेष से असिद्ध देवदत्तीय वहिःसत्व के व्यवच्छेद के अर्थ "सिद्धेन" यह विशेषण है, तो यदि व्यवच्छेद्य प्रसिद्ध है तो फल की प्रथम से ही सिद्धि होने से अर्थापत्ति व्यर्थ है और यदि नहीं प्रसिद्ध है तो व्यवच्छेद्य के अभाव होने से विशेषण व्यर्थ है और यदि "अन्यथा" विशेषण न देकर अनुपपत्तिमात्र को अर्थापत्ति कहें तो जो कारण के विना नहीं—किन्तु स्वतः अनुपपन्न है, उसके उपपादक कारण की कल्पना न होने से अर्थापत्ति व्यर्थ हो जायगी ।

समर्थन—जिस किसीके विना अनुपपत्ति, अर्थापत्ति है ।

खण्डन—ऐसा मानने पर देवदत्तीय वहिःसत्व के विना अनुपपत्ति तो है नहीं, अतः देवदत्तीय वहिःसत्व का कल्पन नहीं होगा ॥ ३२ ॥

* जहाँ पर ज्योतिषशास्त्र से "वर्षशतजीवी देवदत्तः" ऐसा ज्ञान होने पर "देवदत्तः क्वचिदस्ति वर्षशतजीवित्वात्" ऐसा सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है । ततः अनुपलब्धिप्रमाण से "देवदत्तो गृहे नास्ति" ऐसा ज्ञान होता है वहाँ पर "देवदत्तस्य गृहे असत्वे सति वर्षशतजीवित्वं वहिःसत्वं विना अनुपपन्नम् इति तेन वहिःसत्वं कल्प्यते" ऐसा ज्ञान होता है यहां पर अन्यथानुपपत्ति प्रमाणरूप अर्थापत्ति है और वहिः सत्वकल्पन फलरूप अर्थापत्ति है। अर्थस्य आपत्तिर्यस्याः इस व्युत्पत्ति से प्रमामें अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग होता है । प्रत्यक्षादि चार प्रमाण से पृथक् अर्थापत्ति को पञ्चम प्रमाण मीमांसक मानते हैं । उसीका खण्डन यहाँ करते हैं ।

कप्रमाफलकत्वापत्तेः। तत्र विरोधे व्याहत्यैकाप्रामाण्यनिश्चयो यत्र तु नैवं तद्विवक्षित-मिति चेन्न, एवं सत्प्रतिपक्षवदन्यत्रापि विरोधार्थत्वेनैवाभासत्वाविशेषात्। तर्कयोर्वि-रोधोऽपेक्षित इति चेन्न, मिथो विरोधेन तर्कयोरप्याभासत्वात् ॥३३॥

विशेषप्रवृत्तप्रमाणार्थप्रतिक्षेपविषयत्वसंशयोऽविशेषप्रवृत्ततद्विपरीतार्थप्रमाणस्य वि-रोध इति चेन्न, विशेषविषयप्रमाणबाधितवैपरीत्ये सति तद्विरुद्धार्थतांशे संशयस्य दुर्बलस्यानवकाशत्वेनाविशेषप्रवृत्तप्रमाणविषयतां तदीयां गोचरयितुमप्यसामर्थ्यादेव। अविशेषप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य तद्विपरीतार्थविशेषविषयप्रमाणदर्शनं तदितरविशेषविषय-प्रमाफलकं तथेति चेन्न, अविशेषप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य तद्विपरीतार्थविशेषविषयस्य च प्रमाणस्य च विषययोस्तद्विपरीतत्वविशेषणप्रतीत्यङ्गीकारलब्धायां परस्परविरुद्धत्वप्रतीतौ

समर्थन—ज्योतिःशास्त्र से "वर्षशतजीवी देवदत्त"—ऐसा निश्चय होने पर "देवदत्तः क्वचिदस्ति वर्षशतजीवित्वात्" इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान और देवदत्तः गृहे नास्ति, इस अनुपलब्धि प्रमाण के परस्पर विरोध की [बहिः सत्व कल्पन के विना] अनुपपत्ति अर्था-पत्ति है और बहिःसत्व कल्पनफल है।

खण्डन—प्रमाणों में परस्पर विरोध कहीं भी देखा नहीं गया है, अतः अयुक्त है।

समर्थन—प्रमाणत्व से अभिमतों में विरोध की अनुपपत्ति अर्थापत्ति है।

खण्डन—अभिमत शब्द का प्रमा अर्थ करें अथवा ज्ञान अर्थ करें अथवा जिस ज्ञान का प्रामाण्य अप्रामाण्य अनिश्चित हो ऐसा ज्ञान अर्थ करें इन तीनों पक्षों में दोष होगा। देखिये—यदि ज्ञानों के विरोध की अनुपपत्ति से उपपादक की कल्पना हो तो—शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, शब्दोनित्यः श्रावणत्वात्, इस सत्प्रतिपक्ष स्थल में भी ज्ञानों का विरोध अनुपपन्न होकर किसी उपपादक की कल्पना करेगा।

समर्थन—सत्प्रतिपक्ष स्थल में विरोध से व्याघात होने से एक के अप्रामाण्य का निश्चय होता है और अर्थापत्ति स्थल में बहिः सत्व के कल्पन से भी उपपत्ति है व्याघात है नहीं, अतः एक के अप्रामाण्य का निश्चय नहीं होता है।

खण्डन—जैसे सत्प्रतिपक्षस्थल में विरोध से एक के आभासत्व का कल्पन होता है ऐसे ही अर्थापत्तिस्थल में भी विरोध से एक का आभासत्व हो जायगा।

समर्थन—ज्योतिषशास्त्र से "वर्षशतजीवी देवदत्तः" ऐसा ज्ञान होने पर यदि देव-दत्तः "क्वचित् न स्यात्, तदा वर्षशतजीवी न स्यात्, यदि देवदत्तः बहिर्न स्यात् तदा गेहनिष्ठ अत्यन्ताऽभावप्रतियोगी न स्यात्" इन दोनों तर्कों का क्वचित् शब्द के गृहसत्व में पर्य्यवसान से विरोध अर्थापत्ति है।

खण्डन—प्रमाण के तुल्य तर्कों में भी विरोध नहीं होता है, यदि विरोध हो तो तर्क आभास हो जाते हैं। प्रकरण में अनुपलब्धि से बाधित होने से क्वचित्त्व से प्रवृत्त तर्क का गृहसत्व में पर्य्यवसान नहीं हो सकता है, अतः विरोध नहीं है ॥३३॥

समर्थन—सामान्य से प्रवृत्त सत्वविषयक पूर्वजात सामान्यतोदृष्टरूप प्रमाणमें—अनुपलब्धिरूप पीछे जात प्रमाण का जो गृहे असत्वरूप विषय उसका अभाव, गृहसत्व है विषय जिसका—तत्व का संशय अर्थात् देवदत्तः क्वचिदस्ति, वर्षशतजीवित्वात्, इत्यनु-मितौ गृहसत्वविषयत्वं न वा—यह संशय अर्थापत्ति है।

धर्मिणोर्विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदस्य विरोधविवेचनस्फुटतद्गर्भप्रवेशतया तत्सहज्ञेयस्य तन्नान्तरीयकस्य चान्यत्रेवाऽन्यत एव प्राप्तेः ॥३४॥

किञ्चाविशेषप्रवृत्तस्यैव तस्य किं विशेषविषयत्वं ? अथ सामान्यतः प्रवृत्तस्य नान्तरीयकतया प्रागेव विशेषविषयस्य विशेषविषयत्वेनाज्ञातस्य विशेषविषयत्वं ? अथ वा सामान्यस्य तद्विषयस्य विशेषः ? उत तद्विषयीकृतविशेषगतं किमपि धर्मान्तरमिदानीं प्रमीयते। नाद्यः, अर्थापत्तेर्भ्रमकरणत्वापत्तेः। न द्वितीयः, तदनुव्यवसायोत्पत्तेस्तद्विषयप्रतीत्यसम्भवात्। न तृतीयः, सामान्यस्यानन्तर्भावितार्थस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्, प्रागेव तत्सिद्धेः ॥ ३५ ॥

खण्डन—देवदत्तो गेहे नास्ति इस अनुपलब्धिरूप प्रमाण से गृहासत्व के बोध होने पर गृहसत्व अंश में दुर्बल संशय को बाधित होने से अविशेष से प्रवृत्त प्रमाण की विरुद्ध अंशीय विषयता को विषय करने में उसकी सामर्थ्य नहीं हो सकती है।

समर्थन—अविशेष से प्रवृत्त देवदत्तः क्वचिदस्ति वर्षशतजीवित्वात् इस सामान्यतो दृष्टरूप प्रमाण का [तद्विषय विपरीत गृहासत्व विषय का अनुपलब्धिरूप प्रमाण के दर्शन से] बहिः सत्वप्रमा की उत्पत्ति में पर्य्यवसान अर्थापत्ति है।

खण्डन—अविशेष से प्रवृत्त "देवदत्तः क्वचित् अस्ति वर्षशतजीवित्वात्" इस सामान्यतोदृष्ट प्रमाण का तथा उसके विपरीत अर्थ का विषय करनेवाला "देवदत्तः गृहे-नास्ति" इस विशेषविषयक प्रमाण का जो विषय अस्तित्व, नास्तित्व उन विषयों का जो तद् विपरीतत्व विशेषण की प्रतीति के अङ्गीकार से लब्ध परस्पर विरुद्धत्व प्रतीति उसके होने पर बहिः गृहरूप धर्मियों के विरुद्ध धर्म का अध्यासरूप भेद—धर्मों का जो विरोधप्रतिसंधान उसके गर्भ में धर्मि भेद के प्रविष्ट होने से—विरुद्धत्व के सहज्ञेय है, अथवा जो विरुद्ध धर्माध्यास को भेद का हेतु मानते हैं उनके मत में विरुद्धत्व के नान्तरीयक है, अतः अन्यत्र के तुल्य अन्य से (अनुमान प्रमाण से) ही सिद्ध है। अर्थात् अस्तित्व नास्तित्वरूप विरुद्ध धर्म का अध्यास ही गेह तथा बहिःरूप धर्मी के भेद है, अतः विरुद्ध धर्मी का अध्यास से सहज्ञेय धर्मी का भेद है, वा विरुद्ध धर्माध्यास से अनुमेय है, अतः तदर्थ अर्थापत्ति को मानना व्यर्थ है ॥३४॥

किञ्च अविशेष से प्रवृत्त प्रमाण में ही विशेष विषयकत्व पश्चात् ज्ञात होता है, अथवा सामान्य से प्रवृत्त प्रमाण ही नान्तरीयक होने से प्रथम से ही विशेषविषयक है परन्तु विशेष विषयकत्व अज्ञात है वह इदानीं ज्ञात होता है ? अथवा सामान्य विषयक ज्ञान ही विनिगमन न होने से गृहसत्वबहिःसत्व उभय विषयक है उसके बहिःसत्व में पर्य्यवसान गृहे नास्ति इसकी अन्यथानुपपत्ति से इदानीं ज्ञात होता है ? अथवा सामान्य ज्ञान के विषय विशेष में कोई अन्य धर्म इदानीं प्रतीत होता है ? इनमें प्रथमकल्प युक्त नहीं है कारण कि सामान्यविषयक ज्ञान में विशेष विषयत्व का विषय करनेवाला ज्ञान भ्रम हुआ अतः तत्करण अर्थापत्ति अप्रमाण हो जायगी। द्वितीयकल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि सामान्य विषयक ज्ञान नान्तरीयक होने से विशेष विषयक भी है अतः अनुव्यवसाय से ही विशेष विषयत्व के ज्ञान होने से तदर्थ अर्थापत्ति का स्वीकार व्यर्थ है। तृतीयविकल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि यदि सामान्य ज्ञान नान्तरीयक होने से विशेषद्वय विषयक मानें तो भी अभिमत बहिःसत्व विषयकत्व पूर्व से ही सिद्ध है, अतः तद्ज्ञापक अर्थापत्ति अनुवादक हुई ॥३५॥

नापि चतुर्थः, तद्धि प्रतीयमानविरोधिव्यतिरिक्तत्वमन्यद्वा स्यात् । नान्त्यः, तत्प्रतीतौ सामर्थ्यानुपदर्शनेनानियमप्रसङ्गात् । न प्रथमः, अनुगतानुगतजातिव्यक्तिचाक्षुषाचाक्षुषादिव्यक्तिगन्धादितादात्म्यवादिनये तदुभयप्रमातादात्म्यविषयताव्युदासं विना विरोधाऽसिद्ध्या तद्गमनिकावलस्यैवासिद्धेः । तदुभयप्रतीतौ च तदवधारणे प्रागेव तत्प्रतीत्याऽर्थापत्त्यनुवादतापत्तेः ॥ ३६ ॥

अथानुपलब्धिप्रमाणलक्षणखण्डनारम्भः

योग्यानुपलम्भोऽभावप्रमाकरणमित्यप्ययुक्तम् । प्रमाणाभावस्य तथात्वे विभ्रमानुदयप्रसङ्गात् । उपलम्भाभावमात्रस्य तथात्वे शङ्खधवलिमप्रतिसन्धानवतः पीतभ्रमानुदयप्रसङ्गात् । कालभेदात्तत्ताविरोध इति चेन्न, तथापि संसृष्टयोरन्योन्याभावाग्रहण-

---

चतुर्थकल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि वह धर्म्म कौन है, प्रतीयमान जो विरोधी धर्म्मगृहासत्वतद्व्यतिरिक्तत्व (वहिः सत्व) है ? अथवा उससे अन्य ही कोई धर्म्म है ? इनमें द्वितीयपक्ष तो युक्त नहीं है । कारण कि उक्त धर्म्म का अन्यत्वरूप से ज्ञान होने पर भी विशेषरूप से ज्ञान न होने से उसमें अर्थापत्ति की सामर्थ्य कह नहीं सकते हैं । प्रथमकल्प भी अयुक्त है, कारण कि जो (आचार्य्य) अनुगत जाति और अननुगत व्यक्ति का तथा चाक्षुष व्यक्ति और अचाक्षुष गन्ध का तादात्म्य मानते हैं, उनके मतमें देवदत्त के सत्व असत्व का भी गृह के साथ तादात्म्य ही है, अतः उन दोनों का विरोध ही नहीं है । फिर विरुद्धत्व "प्रतीति से वहिःसत्व का गमक कैसे होगा, जो धर्म्म और धर्म्मी के भेद मानते हैं उनके मत में भी धर्म्मी के विरोध की प्रतीति के सहज्ञेय धर्म्मी का भेद है, अथवा नान्तरीयक होने से अनुमान का विषय है। अतः अर्थापत्ति [अनुवादक होने से] प्रमाण नहीं हो सकती है ॥ ३६ ॥

इति अर्थापत्तिप्रमाणखण्डनानुवाद ।

अथ अनुपलब्धिप्रमाणखण्डन

योग्य अनुपलब्धि, अभाव-प्रमा का कारण है—यह भी अयुक्त है, कारण कि यदि उपलब्धि शब्द का अर्थ प्रमा हो तो (इदं रजतम्) इस भ्रम से पूर्व रजतत्व की स्मृति रूप ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति होने पर भी रजतत्व की प्रमा का अभाव ही है । अतः अनुपलब्धिरूप कारण होने से (इदं न रजतम्) ऐसी अभाव की प्रमा ही होनी चाहिये (इदं रजतम्) ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिये । यदि उपलम्भ शब्द का ज्ञानमात्र अर्थ करें तो यद्यपि (इदं रजतम्) इस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही भ्रमस्थल में दोष नहीं है, कारण कि

* "भूतले घटः" "भूतले पटः" इत्यादि व्यवहार से जैसे घटादिभाव को बाह्य पदार्थ मानते हैं वैसे ही भूतले घटाभावः" "भूतले पटाभावः" इत्यादि व्यवहार से भेदवादी अभाव को भी बाह्य पदार्थ मानते हैं । भेद यह है कि नैयायिक उसको प्रत्यक्ष मानते हैं और मीमांसक चक्षुरादि सन्निकर्ष न होने से अभाव प्रमा को अनुलब्धि प्रमाणजन्य मानते हैं । यहाँ उसी अनुलब्धि प्रमाण का खण्डन करते हैं ।

प्रसङ्गात् । तादात्म्यस्य स्वरूपमात्राऽनतिरेकात् । अभावस्फुरणे च तत्प्रतिभानस्य ध्रौव्यात् ॥ ३७ ॥

किञ्च योग्यता हि तत्तदविनाभूतान्यप्रतियोगिप्रमापकसाकल्यमिष्यते, तथा सति च यत्र भावोपलम्भस्तत्राप्यभावप्रमा स्यात् । नहि तत्र हेतुव्यतिरेकेणैव वा सत्येव वा तदभावप्रमोत्पद्यते । तत्तदविनाभूतविरहसहितः स तथेति चेन्न । तदविनाभूतव्यतिरेकस्य तद्व्यतिरेकेणैवान्यथासिद्धसन्निधेरपि हेतुत्वाङ्गीकारे प्रमाणाभावात् । अतएवा-

---

प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष के विना भान न होने से भ्रम से पूर्व ज्ञानलक्षणा के सम्पत्यर्थ रजतत्व की स्मृति अवश्य माननी पड़ेगी अतः रजतत्वोपलब्धि के अभावरूप कारण न होने से (इदं न रजतम्) यह अभाव की प्रमा नहीं होगी ? किन्तु (इदं रजतम्) यह भ्रम ही होगा, तथापि "श्वेतः शंखः"—ऐसा प्रतिसन्धान (स्मरण) वाले को विरोधी ज्ञान होने से पीतत्वस्मृति नहीं है, अतः पीतत्वोपलम्भाभावरूप कारण होने से "पीतो न शंखः" यह अभाव की प्रमा ही होनी चाहिये "पीतः शंख" यह भ्रम नहीं होना चाहिये ।

समर्थन—"पीतः शङ्खः" इस भ्रम में पीतत्व का भान पीतत्वस्मृतिरूप ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति के विना हो नहीं सकता है, अतः अनुभव के अनुरोध से कल्पना करेंगे कि उक्त स्मृति के जनक संस्कार के उद्बोधक पित्तादि दोष से ही "श्वेतः शंखः" इस पूर्व द्वितीय क्षणवर्ति प्रतिसन्धान का प्रतिबन्ध भी होता है, अर्थात् प्रतिबन्धक के न होने से भ्रम से पूर्वलक्षण में पीतत्व स्मृति है, अतः अनुपलम्भरूप कारण के न होने से अभाव की प्रमा नहीं होती है, किन्तु "पीतः शङ्ख" ऐसा भ्रम ही होता है ।

खण्डन—चक्षु से संयुक्त घट पट के अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष नहीं होगा, कारण कि अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी के प्रत्यक्ष का अभाव कारण है, और अन्योन्याभाव के ग्रहस्थल में सर्वत्र नियम से प्रतियोगी का प्रत्यक्ष रहता है । तादात्म्य अन्योन्याभाव का प्रतियोगी है, घट पट प्रतियोगी नहीं है—यह नहीं कह सकते, कारण कि घट पट के तादात्म्य को घट पट रूप होने से यदि तादात्म्य प्रतियोगी है तो घट पट भी प्रतियोगी ही हैं, तथा "घटः पटात्मा न" इत्याकारक अन्योन्याभाव के प्रत्यक्षस्थल में सर्वत्र ही नियम से घट पट की प्रतीति ही रहती है, अतः यदि अनुपलब्धि को कारण मानें तो अन्योन्याभाव का कहीं भी प्रत्यक्ष नहीं होगा ॥ ३७ ॥

किञ्च प्रतियोगी से और प्रतियोगीव्याप्त प्रतियोगीसन्निकर्षादि से अन्य, प्रतियोगी प्रमाजनक आलोकादि का समूह ही योग्यता है, ऐसा मानने पर जहां भाव (प्रतियोगी) का प्रत्यक्ष होता है—वहां भी अभाव की प्रमा हो जायगी, कारण कि वहां हेतु के विना ही, अथवा नित्या हो घटादि प्रमा नहीं होती है, किन्तु हेतु से ही होती है, अतः प्रतियोगी की प्रमा की कारणसमूहरूप योग्यता विद्यमान है ।

समर्थन—प्रतियोगी और प्रतियोगीव्याप्त के अभाव से युक्त प्रतियोगी प्रमाजनक साकल्य उक्त स्थल में नहीं है, किन्तु प्रतियोगी का सन्निकर्ष ही है, अतः अभाव की प्रमा नहीं होती है ।

खण्डन—प्रतियोगीव्याप्त के अभाव को प्रतियोगी के अभाव से अन्यथासिद्ध होने से उसके अभाव का प्रमा के हेतुत्व में प्रमाण नहीं है, अर्थात् जब अभाव की प्रमा में प्रति-

लोकस्याध्यक्षणे नालोकान्तरवत्ताऽवयवेनावयविना वा, आलोकेनान्यथासिद्धसन्निधि-रहेतुरित्यालोकाभावग्रहे सा नापेक्ष्यते ॥ ३८ ॥

अर्थात्तद्योगस्तु नार्थव्याप्तोंऽशतयैक्यात् । तद्विरहसहितः स तथेति चेन्न, इन्द्रियसन्निकर्षस्य हि प्रतियोग्यनुपलम्भे तावद्धेतुताऽङ्गीक्रियते तत्र । किं सन्निकर्षव्यतिरेके कार्य्यानुदयोदाहरणमेष्टव्यं न वा, न यदि, तदा सन्निकर्षस्य हेतुतैव कुतो मन्तव्याऽन्यथैव कार्य्योत्पत्त्युपपत्तेः । एष्टव्यश्चेत्तर्हि तत्रैवोदाहरणे व्यवधायकेनेन्द्रियसन्निकर्षशून्ये परमार्थतश्चाभाववत्युक्तकारणसम्पत्तेरभावप्रमा स्यात् । तत्र व्यवधायकाभावः प्रतियोग्युपलम्भको नास्तीति चेन्न । सन्निकर्षस्य प्रमाव्यतिरेकप्रयोजकत्वावधारणोदाहरणमेव तर्हि तन्न स्यात् । व्यवधायकस्य सन्निकर्षविरोधिनैव प्रमाविरोधित्वमिति चेत्तर्हि व्यवधायकाभावः सन्निकर्षोत्पत्तौ कारणं, न त्वभावप्रमाविशेषोत्पत्ताविति स्थिते स प्रसङ्गस्तदवस्थ एव । नच सन्निकर्षाभावादेव तदानीमुक्तकारणासम्पत्तिः प्रतियोगिसन्निक-

---

योगी-व्याप्त का अभाव कारण ही नहीं है, तब प्रतियोगीव्याप्त के होने पर भी अभाव-प्रमा होनी चाहिये, अन्यथासिद्ध हेतु नहीं होते हैं ? इसीसे अवयवी अथवा अवयवरूप आलोक के प्रत्यक्ष में अवयव अथवा अवयवीरूप अन्य आलोक (अन्यथासिद्ध होने से) कारण नहीं होता है, आलोक के प्रत्यक्ष में अकारण होने से ही आलोक के अभाव (तमः) के प्रत्यक्ष में भी आलोक की अपेक्षा नहीं होती है ॥३८॥

किञ्च योग्यता के लक्षण में तदविनाभूत शब्द से प्रतियोगी के सन्निकर्ष का ग्रहण अभिप्रेत है, परंतु प्रतियोगी से व्याप्त प्रतियोगी का सन्निकर्ष होता नहीं है, कारण कि प्रतियोगी का सन्निकर्ष "प्रतियोगी" से घटित है, अतः अंशतः एक है और स्व से व्याप्त, स्व होता नहीं है ।

समर्थन—प्रतियोगी के अभाव से सहित प्रतियोगी की प्रमा के जनक साकल्य अभावप्रमा का हेतु है और प्रतियोगी के प्रत्यक्षस्थल में प्रतियोगी का अभाव नहीं है, अतः अभाव की प्रमा नहीं होती है ।

खण्डन—इन्द्रिय के सन्निकर्ष को प्रतियोगी के उपलम्भ में हेतु मानते हैं, अतः सन्निकर्ष के अभाव में प्रतियोगी का अप्रत्यक्ष इष्ट है । अन्यथा सन्निकर्ष की हेतुता सिद्ध कैसे होगी, कारण कि सन्निकर्ष के विना भी कार्य्य की उत्पत्ति हो गई । यदि उक्तस्थल में अप्रत्यक्ष इष्ट है तो उसी उदाहरण में व्यवधायक के होने से इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं है और वस्तुतः अभाव है और उक्त योग्यता भी है, अतः अभाव की प्रमा होनी चाहिये ।

समर्थन—वहाँ व्यवधायक का अभावरूप प्रतियोगी के उपलम्भ का कारण नहीं है, अतः उक्त योग्यता के न होने से अभाव की प्रमा नहीं होती है ।

खण्डन—यदि व्यवधायक के अभाव को कारण मानें, तो सन्निकर्ष के अभाव से प्रतियोगी की प्रमा का अभाव उक्तस्थल में नहीं हुआ, अतः सन्निकर्ष की हेतुता सिद्ध नहीं होगी, यदि कहें कि व्यवधायक, सन्निकर्ष के विरोधी होने से प्रमा का विरोधी है ? तो व्यवधायक का अभाव सन्निकर्ष की उत्पत्ति में कारण है, प्रतियोगी की प्रमा में नहीं, अतः उक्तस्थल में अभाव की प्रमा क्यों नहीं होती है, यह प्रसङ्ग वैसा ही रहा ।

र्पस्याभावप्रमोत्पादकत्वे नित्यं तदनुत्पत्त्यापत्तेः। अतएव नाव्यवधानमधिकं कारणमेष्टव्यं, इन्द्रियसन्निकर्षे एव तदुपपत्तेः। नचाश्रयसाक्षात्कारोपि प्राङ्नास्तिताग्रहादौ व्यभिचारात् ॥ ३९ ॥

ननु व्यवधायकसद्भावेऽपि यत्र परमार्थतोऽस्त्यभावस्तत्रोक्तकारणादभावावधारणमस्त्येव को विरोधः। स न तावद्भावयोगिन्यपि तावता तद्विरहप्रमा प्रसज्येत। तर्हि प्रतियोग्यभावसहितोऽनुपलम्भ एवाभावप्रमाणमस्तु, जहीहि योग्यताविशेषणनिवेशव्यसनम्। योग्यताविशेषणाप्रक्षेपेऽनुपलम्भमात्रतो वस्तुगत्या प्रतियोग्यभाववत्यपि नाभावनिश्चयः, कदाचित्तु संशयो जायते, तत्कथं तथाङ्गीक्रियत इति चेत् तर्हि व्यवधानेऽप्येवमेवेति योग्यताविशेषणप्रक्षेपेऽपि तुल्यम् ॥ ४० ॥

समर्थन—प्रतियोगी का सन्निकर्ष, प्रतियोगी का व्याप्त नहीं है, कारण कि अंशतः एक है और स्व से स्व, व्याप्त होता नहीं है ? अतः तत् तत् अविनाभूत से अन्य प्रतियोगी के प्रमापक साकल्य के मध्य में प्रतियोगी का सन्निकर्ष भी प्राप्त हुआ और उक्तस्थल में वह है नहीं, अतः अभाव की प्रमा नहीं होती है।

खण्डन—प्रतियोगी का सन्निकर्ष, अभाव की प्रमा का कारण नहीं है, कारण कि यदि प्रतियोगी के सन्निकर्ष को अभाव की प्रमा का कारण मानें तो प्रतियोगी के सन्निकर्षस्थल में सर्वत्र अभाव का ही ग्रहण होने लगेगा—और व्यवधायक के अभाव के तुल्य व्यवधान का अभाव भी प्रतियोगी के प्रत्यक्ष में अधिक कारण नहीं है ? कारण कि सन्निकर्ष की उत्पत्ति में ही उसका सार्थक्य है।

समर्थन—अभाव के प्रत्यक्ष में आश्रय का साक्षात्कार भी कारण है और उक्त स्थल में वह नहीं है, अतः अभाव की प्रमा नहीं होती है।

खण्डन—यदि अभाव की प्रमा में आश्रय के साक्षात्कार को कारण मानें, तो गृह से बाहरस्थित पुरुष का गृहनिष्ठ चैत्राभाव का प्रत्यक्ष नहीं होगी, कारण कि आश्रय का साक्षात्कार नहीं है ॥ ३९ ॥

समर्थन—व्यवधायक के होने पर वस्तुतः जहाँ अभाव है, वहाँ उक्त कारण से अभाव का ज्ञान होता ही है, विरोध ही क्या है इससे जहाँ भाव है वहाँ अभाव की प्रमा नहीं होगी।

खण्डन—तब प्रतियोगी के अभाव से विशिष्ट अनुपलम्भ को ही अभाव की प्रमा का कारण मानिये, योग्यता के निवेश के व्यसन को छोड़िये।

समर्थन—यदि योग्यता का निवेश न करें तो कदाचित् अन्धकारादि में अभावयुक्त देश में भी अनुपलब्धिमात्र से अभाव का निश्चय नहीं होता है, किन्तु सन्देह ही होता है वह उपपन्न कैसे होगा ?

खण्डन—तब तो व्यवधायक होने पर भी अभाव का सन्देह हीं होता है, निश्चय नहीं होता है और उक्त योग्यता के निवेश करने पर अभाव का निश्चय हो जायगा। वह अनुभव से विरुद्ध है, अतः उक्त योग्यता का निवेश निर्दोष नहीं है ॥४०॥

किञ्च मेय का वास्तविक सत्व, प्रमाण कोटि में निवेश के अर्ह नहीं है, कारण कि मेयरूप वस्तु के सत्व के निर्धारण के अर्थ ही विचारक लोग प्रमाण अप्रमाण का विवेचन,

अपि च मेयस्य वास्तवसत्त्वं प्रमाणकोटावनिवेशार्हमेव मेयवस्तुसत्त्वनिर्द्धारणार्थमेव हि प्रमाणाप्रमाणविवेचनं विचारकाणाम्। अन्यथाऽनुमाने व्याप्तावुपाधिनिरासायायासो व्यर्थः स्यात्, व्याप्तपक्षधर्मताज्ञानमात्रस्यैव कारणत्वाङ्गीकारेण सौस्थ्यात्। प्राङ्नास्तिताप्रमितौ च यद्यभावप्रमाणतां मन्यसे, तर्हि सा न स्यात्। तत्रेदानीं जायमानाभावप्रमोत्पत्तावभाववास्तवसत्ताविरहस्यापीदानीं क्वचित्सम्भवात्। फलविषयकालिकाभावोपलक्षिताश्रयादेः कारणकोटिनिवेशने विशेषाभावात्। तदुपलक्षितत्वस्यैव विशेषणस्य विशेषत्वेऽतिप्रसङ्गात्। तथापि सामान्यतो विशेषाभावोऽसिद्ध इति चेन्न, तस्य सत्त्वे निर्व्वचनापातात् ॥४१॥

लक्षण से करते हैं, अन्यथा (यदि मेय के स्वरूप का प्रमाणदल में निवेश कर सकें तो) अनुमानस्थल में व्याप्ति में उपाधि के निरास के अर्थ प्रयास व्यर्थ हो जायगा, कारण कि मेय से विशिष्ट व्याप्तिपक्षधर्म्मता के ज्ञानमात्र की कारणता के स्वीकार से ही निर्वाह हो जायगा।

किञ्च यदि प्रतियोगी के अभाव से विशिष्ट प्रतियोगी के प्रमापक साकल्यरूप योग्यता से विशिष्ट अनुपलब्धि को प्रमाण मानें, तो जहां सम्प्रति भाव है; परन्तु पहले अभाव था, वहां अतीत अभाव का "प्रागत्र घटो नासीत्" ऐसी प्रमा नहीं होगी, कारण कि सम्प्रति अभावघटित उक्त प्रमाण नहीं है। यदि फल (प्रमा) विषय जो अतीतकाल, तात्कालिक अभाव से उपलक्षित अधिकरण से विशिष्ट प्रतियोगी के प्रमापक साकल्य को योग्यता कहें तो उक्त स्थल में यद्यपि आपाततः दोष की प्रतीति नहीं होती है, तथापि उक्त निवेश में कोई विशेष नहीं है। फलविषयकालिकाभावोपलक्षितत्व के अतिप्रसङ्ग होने से विशेष कह नहीं सकते हैं और यदि अभाव से उपलक्षित आश्रय को अभाव के प्रत्यक्ष में कारण मानें तो सर्वत्र प्रतियोगी से युक्त अधिकरण में अभाव की प्रमा हो जायगी, कारण कि यदा कदाचित् विद्यमान अभाव से उपलक्षित प्रतियोगी से युक्त अधिकरणमात्र है ही।

समर्थन—यद्यपि विशेष का निर्वचन नहीं हो सकता, तथापि प्राङ्नास्तितास्थल में अभाव की प्रमा होती है और अन्यत्र प्रतियोगी से युक्त अधिकरण में अभाव की प्रमा नहीं होती है, अतः फल के अनुरोध से विशेष की कल्पना करेंगे कि कोई विशेष है।

खण्डन—यदि उक्त स्थल में विशेष है तो अवश्य उसका निर्वचन करना चाहिये अन्यथा सामान्य से ही सर्वत्र उत्तर होगा, विशेष से उत्तर का सर्वत्र अभाव हो जायगा ॥ ४१ ॥

इति अनुपलब्धिखण्डन

अथ असिद्धलक्षणखण्डनानुवाद

असिद्ध भी क्या वस्तु है ? अर्थात् लक्षण न होने से अनिर्वचनीय है।

निर्वचन—व्याप्ति और पक्षधर्मता से जो अप्रमित हो वह असिद्ध है।

कश्चाऽयमसिद्धो नाम ? तथाहि-व्याप्तिपक्षधर्मलाभ्यामप्रमितोऽसिद्ध इत्यलक्षणं, हेत्वाभासान्तराणामपि ह्यसिद्धप्रवेश एवं सति स्यात् । व्याप्तिं पक्षधर्मतां तत्प्रमितिं वा न विरुन्धतां हेतुदोषत्वासम्भवात्

ननु नेदमीदृशं तथाहि—केचिद्दोषा व्याप्तिपक्षधर्मतातत्प्रमितिविरहात्मानः, केचित्तु व्याप्त्यादिभङ्गे लिङ्गभूताः, प्रतिबन्धकतयाऽनुमित्युत्पत्तिं निरुन्धनाश्च केचिद्दोषभूयं भजन्ते। तत्र प्रथमे तावदसिद्धमध्यमध्यासते, तद्यथा—व्याप्यत्वासिद्धः सोपाधिरूपः अनौपाधिकसम्बन्धिता हि व्याप्तिः सहोपाधिता चानुपाधिताविरहरूपैव एवमधिकरणासिद्धिरप्यसिद्धावेवान्तर्भविष्णुः पक्षपदोपात्तस्याश्रयस्य व्यतिरेकरूपा हि सा ॥४२॥

सिद्धसाधनमपि तथैव । सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो हि पक्ष उच्यते, यच्च सिद्धं न तत्र सिषाधयिषाऽस्ति ततो, विशेषणाभावायत्तो विशिष्टपक्षरूपस्य तत्राभावः । नच वाच्यं यथा सव्यभिचारत्वान्नष्टव्याप्तिकमिति पृथगेव सव्यभिचारस्य दोषत्वं तथासिद्धत्वात्तत्र सिषाधयिषा नास्तीति सिद्धत्वस्यापि पृथगेव दोषत्वं प्राप्नोति लिङ्गद्वारेणासिद्धिपर्य्यवसायित्वात्, अन्यथा व्याप्त्यादिविरहपर्य्यवसायितमात्रेण सव्यभिचारत्वादीनामप्यसिद्धावेवान्तर्भावः स्यादिति । यतः सिषाधयिषाभावो न प्रतिपत्त्रा सिद्धत्वा-

---

खण्डन—ऐसा मानने पर अन्य विरुद्ध आदि हेत्वाभासों का भी असिद्ध में ही प्रवेश हो जायगा, कारण कि व्याप्ति तथा पक्षधर्मता और इनकी प्रमिति के जो विरोधी नहीं हैं, वे हेतु दोष ही नहीं हैं, और विरुद्धादि हेतु दोष हैं, अतः व्याप्ति तथा पक्षधर्मता और तत्प्रमिति के अवश्य विरोधी हैं और विरोधी होने से व्याप्तिपक्षधर्म्मता से अप्रमित हैं

समर्थन—यह वस्तु ऐसी नहीं है । देखिये—कोई दोष व्याप्तिपक्षधर्मतातत्प्रमिति के अभाव रूप हैं और कोई दोष व्याप्ति आदि के अभाव में अनुमापक हेतु हैं तथा कोई प्रतिबन्धक होने से अनुमिति के निरोध करने से दोष हैं। उनमें प्रथम दोष असिद्ध के मध्य में स्थित है, कारण कि व्याप्यत्वासिद्ध सोपाधिरूप है, और अनौपाधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है और अनुपाधित्व-विरहरूप सोपाधित्व है, इसी प्रकार अधिकरणासिद्धि भी असिद्ध के मध्य में ही अन्तर्भूत होने योग्य है, कारण कि पक्षपद से उपात्त आश्रय का व्यतिरेकरूप अधिकरणासिद्धि है ॥ ४२ ॥

तथा सिद्धसाधन भी असिद्ध के मध्य में अन्तर्भूत है, कारण कि सिषाधयिषित धर्मविशिष्ट ही पक्ष है और जो सिद्ध है उसमें सिषाधयिषा होती नहीं, तस्मात् विशेषण (सिषाधयिषा) के अभाव से प्रयुक्त विशिष्टरूप पक्ष का वहां भी अभाव है ही ।

प्रश्न—जैसे—यह हेतु, नष्टव्याप्तिक है, सव्यभिचार होने से, ऐसी अनुमिति होती है, अतः असिद्ध से पृथक् ही सव्यभिचारत्व दोष होता है, ऐसे ही साध्य के सिद्ध होने से सिषाधयिषा नहीं होती है; अतः सिद्धत्व भी असिद्धि से पृथक् ही दोष होना चाहिये, कारण कि सिद्धत्व का पर्यवसान हेतुरूपता द्वारा असिद्धि में है, अन्यथा (यदि सिद्धसाधन को पृथक् दोष न मानें तो) व्याप्त्यादि के विरह में पर्यवसान होने से सव्यभिचार आदि का भी असिद्ध में ही अन्तर्भाव क्यों न हो ।

ल्लिङ्गाद्गम्यते । किं नाम ? इच्छाभावस्य तस्य यथादर्शनं प्रत्यक्षादेरेवाधिगम, इच्छैव तु तत्र यन्नास्ति तत्र सिद्धत्वं प्रयोजकमित्येतावन्मात्रेण सिद्धत्वमुपन्यस्यते सिद्धसाधने न त्विच्छाभावमनुमातुं लिङ्गतयेति । एवं स्वरूपासिद्धिरपि पक्षधर्मताविरहरूपैव ॥४३॥

ये तु व्याप्तिपक्षधर्म्मताविरहलिङ्गभूतास्तेऽसिद्धतः पृथगेव हेत्वाभासाः। तद्यथा—विरुद्धः साध्यविपरीतव्याप्तः तत्र साध्यव्यतिरेकव्याप्तता हेतोर्न साध्यव्याप्तताभावः । किन्नाम ? साध्यव्यतिरेकेण सहानौपाधिकः सम्बन्धोऽन्य एवासौ, इत्थमेव पक्षधर्मता-विरहात्माऽपि नायम् । किन्नाम ? ततःसाध्यव्यतिरेकेण सह निरुपाधिसम्बन्धत्वात् तत्र साध्यव्याप्तिरस्य नास्तीत्यनुमीयते । तथासति च साध्यव्याप्तिव्यतिरेकलिङ्गं सद्विरुद्धः पृथगेव हेत्वाभासो भवति ॥४४॥

एवमनैकान्तिकोऽपि न व्याप्तिव्यतिरेकरूपः, किन्तु तल्लिङ्गमेव। तथाहि—हेतोर-न्वयस्य व्यतिरेकस्य वा व्यभिचारो न साध्यसाधनव्याप्तिविरहात्मा, किं नाम ? व्यभि-चारो हेतोः साध्यव्याप्तिविरहं विना न सम्भवतीति लिङ्गभावेन व्याप्तिभङ्गं बोधयति, यदि हि निरुपाधिः साध्येन सम्बन्धोऽस्य भवेत्, कथं व्यभिचरितुं शक्नुयात्तस्माद्व्या-प्तिविरहलिङ्गं व्यभिचारः, नतु व्याप्तिविरहः । पक्षधर्मताविरहरूपता त्वनैकान्तिकस्या-सम्भावितैव ॥४५॥

उत्तर—सिषाधयिषाऽभाव का ज्ञान सिद्धत्वरूप हेतु से नहीं होता है, किन्तु इच्छाऽभावरूप सिषाधयिषाऽभाव का ज्ञान न्यायमत में प्रत्यक्ष से और मीमांसा मत में अनुपलब्धि से ही होता है, जहां जो इच्छा नहीं होती है उसमें सिद्धत्व प्रयोजक है, इससे ही सिद्धत्व का सिद्धसाधन में कथन है इच्छाभाव के अनुमान से नहीं ।

इसी प्रकार "शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्" यहां स्वरूपासिद्धि भी पक्षवृत्तित्वरूप पक्षधर्मता का अभावरूप ही है ॥४३॥

जो दोष व्याप्ति, पक्ष-धर्मता के अभाव के हेतु हैं, वे असिद्ध से पृथक् ही हेत्वा-भास हैं । देखिये—साध्याभाव से व्याप्त विरुद्ध है और हेतु में साध्याभावव्याप्तता साध्य-व्याप्तत्वाभाव नहीं है ; किन्तु साध्याभाव के साथ अनौपाधिक सम्बन्धरूप है । इसी प्रकार विरुद्ध पक्षधर्मता का विरहरूप भी नहीं है; किन्तु साध्याभाव के साथ निरुपाधिक सम्बन्ध होने से "साध्य की व्याप्ति इस हेतु में नहीं है" ऐसी अनुमिति होती है। अतः विरुद्ध साध्य की व्याप्ति के अभाव में हेतु होने से पृथक् ही हेत्वाभास है ।।४४॥

इसी प्रकार अनैकान्तिक भी व्याप्ति का अभावरूप नहीं है, किन्तु व्याप्त्यभाव का लिङ्गरूप है, देखिये—हेतु के अन्वय वा व्यतिरेक का व्यभिचार साध्यसाधनव्याप्तिविरह—रूप नहीं है, किन्तु व्यभिचार, हेतु में साध्य की व्याप्ति के विरह के विना हो नहीं सकता, अतः हेतुरूप से व्याप्ति के भङ्ग का बोधन करता है। यदि हेतु में साध्य का निरुपाधिक सम्बन्ध होता तो व्यभिचार कैसे होता इससे व्याप्तिविरह का लिङ्गव्यभिचार है, व्याप्ति-विरहरूप नहीं है। "शब्दोऽनित्यः सत्वात्" इत्यादि व्यभिचारस्थल में पक्षधर्मता है, अतः व्यभिचार पक्षधर्मता का विरहरूप नहीं है ॥४५॥

सत्प्रतिपक्ष में प्रकृतहेतु में प्रतिहेतु से व्याप्तिपक्षधर्मता का सत्य असत्वरूप विशेष

सत्प्रतिपक्षतायां चानवगम्यमानविशेषप्रतिपक्षप्रतिरुद्धतया यत्साध्यनिश्चयाजनकत्वं हेतोः स प्रतिबन्धकसद्भावे कार्याजनकत्वमितरकारणसाधारणो वस्तुस्वभावः, तस्य व्याप्तिपक्षधर्मताविरहरूपताऽसम्भावितैव ॥४६॥

बाधस्तु साधनवति पक्षे साध्याभावबोधनात्मा भवन्नपि न व्याप्तिविरहावगमरूपः। सामान्यतोऽनौपाधिकसम्बन्धरूपा हि व्याप्तिः, साधनवति च पक्षे साध्यविरहो न सोपाधिता साध्याविरोधिस्वभावत्वात्तस्याः। नाप्यसौ सामान्यतः साध्यसाधनसम्बन्धस्य विरहरूपः, बाधे सत्यपि सामान्येन साध्यसाधनयोः सम्बन्धस्य दृष्टान्तावगतस्यानपलापात्, बाधस्य किञ्चिद्विशेषविषयत्वात् सामान्याकारपरिगृहीतस्य सम्बन्धस्य विशेषान्तरमादाय पर्यवसानाऽविरोधात्। तस्माद्विशेषबाधेन सामान्यतः सम्बन्धस्य सोपाधिताऽनुमीयते निरुपाधित्वे बाधानुपपत्तेः। यथाह "बाधाद्वोपाधिरुन्नीयतेऽन्यथा वेति न कश्चिद्विशेष" इति ॥४७॥

अन्यस्तु सत्प्रतिपक्षवत् बाधस्यापि प्रतिबन्धकत्वमेव तेन बाधे सति प्रतिबद्धत्वान्निश्चयं न करोति हेतुरिति व्याप्तिपक्षधर्म्मतादोषमनालोच्य अन्यथैव बाधस्य दोषत्वमित्याह ॥४८॥

तस्माद्व्याप्तिपक्षधर्म्मताप्रमितित्वानां यत्र साक्षादेव विरहस्योद्भावनं तत्रासिद्धः। यत्र तु व्याप्त्यादिविरहलिङ्गोपन्यासःसत्प्रतिपक्षोपन्यासो वा तत्रान्यो हेत्वाभासः ॥४९॥

ज्ञात नहीं है, अतः प्रतिहेतु प्रतिबद्ध होने से हेतु में जो साध्यनिश्चय का अजनकत्व है, वह प्रतिबन्धक होने पर कार्य का अजनकत्व इतर कारण के साधारण वस्तु का स्वभाव है वह सत्प्रतिपक्ष पक्षधर्मता का विरहरूप नहीं है ।४६॥

साधनयुक्त अधिकरण में साध्याभाव का ज्ञानरूप बाध भी व्याप्ति-विरह का ज्ञान रूप नहीं है। देखिये—सामान्य से अनौपाधिकसम्बन्धरूप व्याप्ति है और साधनवाले पक्ष में साध्य का विरह उपाधि रूप नहीं है, क्योंकि उपाधि साध्य का विरोधिरूप नहीं है और साध्यविरह साध्य का विरोधिरूप है। तथा बाध सामान्य से साध्यसाधन के सम्बन्धका विरहरूप भी नहीं है कारण कि बाध होने पर भी दृष्टान्त में ज्ञात साध्यसाधनसंबन्ध का अपलाप. नहीं हो सकता। बाध पर्वतादि विशेष विषयक है और सामान्याकार से गृहीत व्याप्ति का अन्य विशेष (महानस) का आदान कर भी पर्यवसान हो सकता है, अतः विशेष विषयक बाध से सामान्य से गृहीत सम्बन्ध में सोपाधित्व का अनुमान होता है, कारण कि निरुपाधि, में बाध नहीं हो सकता यह बात कही भी है कि बाध से अथवा—अनुकूल तर्काभाव से उपाधि का अनुमान होता है ॥४७॥

अन्य अचार्य्य तो सत्प्रतिपक्ष के तुल्य बाध को भी अनुमिति का प्रतिबन्धक ही कहते हैं, तस्मात् बाध होने पर प्रतिबन्धक होने से हेतु साध्य का निश्चय नहीं कर सकता है, अतः व्याप्ति वा पक्षधर्मता के अभाव का आलोचन न कर साक्षात् ही बाधदोष है ॥४८॥

इससे जहां व्याप्ति या पक्षधर्मता अथवा तत्प्रमिति के साक्षात् अभाव का उद्भावन हो वहां तो असिद्ध है और जहां व्याप्ति आदि के विरह के लिङ्ग का उपन्यास हो अथवा सत्प्रतिपक्ष का उपन्यास हो वहां अन्य हेत्वाभास हैं ॥४९॥

ननु सोपाधित्वादयोऽपि यतोऽवगम्यन्ते तत् कुतः पृथक् दूषणं न भवत्यनैकान्तिकत्वादिवत् । मैवम् । अनैकान्तिकत्वादेर्व्याप्त्यादिविरहबोधने लिङ्गभावनियमात् पृथगुपन्यासः । सोपाधित्वादेस्तु प्रत्यक्षादपि प्रतीतेः । ननु लिङ्गभावनियमं तत्र प्रतिपादकं किञ्चिदस्ति । नच वाच्यं यत्र लिङ्गात्सोपाधितादेः प्रतीतिरतीन्द्रियप्रभृतिविषये, तत्र तल्लिङ्गं पृथगेव दूषणतयाऽभिधीयतां, न ह्यनैकान्तिकत्वादिकमपि सार्व्वत्रिकं व्याप्तिविरहलिङ्गमिति हेत्वाभासाधिक्यमापन्नमिति । अनैकान्तिकत्वादिवत्तेषां लिङ्गानामैकरूप्येण निर्देष्टुमशक्यत्वात् पृथक् पृथगेव वाऽभिधानमशक्यमपरिसङ्ख्येयत्वादिति । वक्ष्यामश्चाग्रे हेतुं तदनभिधानस्य ॥५०॥

नन्वनुचितमुच्यते व्याप्त्यादिविरहलिङ्गतयाऽनैकान्तिकत्वादीनां पृथग्दूषणत्वमिति यतो व्याप्तिपक्षधर्म्मतोपेतलिङ्गप्रमितिसाध्यानुमितिस्तद्वैकल्यान्न भवेत् । यतश्च सा न भवति तदेव तस्यां दूषणं वक्तुं युक्तमिदमनुमित्युत्पत्तिकारणमिह नास्तीति । नच व्याप्तिपक्षधर्म्मते तत्प्रमितिश्च विहायान्यत्तदुत्पत्तिकारणमस्ति व्यतिरेकोपदर्शनयोग्यं तस्मादनुमितिदोषप्रतीतिकारणत्वमनैकान्तिकत्वादीनां न तु साक्षाद्दोषत्वं दोषप्रति-

---

प्रश्न—जैसे व्याप्ति विरह का लिङ्ग अनैकान्तिक पृथक् हेत्वाभास है, वैसे ही सोपाधित्व का ज्ञान जिनसे होता है वे भी पृथक् हेत्वाभास क्यों न कहावें ।

उत्तर—व्याप्ति-विरह-बोधन में अनैकान्तिक नियम से हेतु होता है, अतः अनैकान्तिक का पृथक् उपन्यास है और हेतु में उपाधि प्रत्यक्ष से भी ज्ञात होता है, लिङ्ग भाव से नियतप्रतिपादक वहाँ कुछ नहीं है ।

प्रश्न—जिस अतीन्द्रियस्थल में लिङ्ग से सोपाधित्व की प्रतीति होती है, वहाँ लिङ्ग को पृथक् दूषण कहना चाहिये, कारण कि अनैकान्तिक भी सर्वत्र व्याप्तिविरह का लिङ्ग नहीं है, अतः हेत्वाभास अधिक हुए ।

उत्तर—अनैकान्तिक के तुल्य उन लिङ्गों का एक रूप से निर्देश नहीं हो सकता और पृथक् भी असंख्येय होने से निर्देश अशक्य है, अतः सोपाधित्व के लिङ्ग पृथक् हेत्वाभास नहीं हैं, इसका अन्य हेतु भी आगे कहेंगे ॥५०॥

प्रश्न—व्याप्ति आदि के विरह का लिङ्ग होने से अनैकान्तिक आदि पृथक् दूषण हैं। आपका यह कथन अनुचित है, कारण कि व्याप्ति-पक्षधर्मता-प्रमिति से साध्य की अनुमिति होती है, और व्याप्तिपक्षधर्मता-प्रमिति के वैकल्य में अनुमिति नहीं होती है, जिनसे अनुमिति नहीं होती है वेही अनुमिति में दोषरूप से कथन के योग्य हैं कि ये अनुमिति के कारण यहाँ नहीं हैं, व्याप्ति, पक्षधर्मता, तत्प्रमिति से अन्य अनुमिति का कारण नहीं है जिनका व्यतिरेक अनुमिति के व्यतिरेक में उपदर्शन योग्य हो। तस्मात् अनुमिति दोष की प्रतीति में कारण अनैकान्तिक आदि हैं, साक्षात् दोष नहीं हैं जो दोष के प्रतिपादक होने से दोष हैं उनका अभिधान साक्षात् दोष के उपजीवन विना अशक्य है, अतः प्रधान दोष का ही दोषरूप से अभिधान युक्त है, सव्यभिचार आदि का दोषरूप से कथनयुक्त

पादकतयापि च दोषत्वं साक्षाद्दोषत्वमनुपजीव्याशक्याभिधानमिति प्रधानदोषस्यैव दोषतयोद्भावनं युक्तं न सव्यभिचारत्वादीनामिति विभागसूत्रमनर्थकमिति ॥५१॥

सत्यमेतत्। साक्षाद्दोषत्वं प्रतिबन्धकस्य व्याप्त्यादिविरहस्य वा, विरुद्धत्वादीनान्तु तत्प्रमापकतया यद्यपि दोषपक्षनिक्षेपस्तथापि विरुद्धत्वादयो यद्दोषप्रतिपादकतयोक्तास्तदुद्भावनलाघवानुरोधात् व्याप्त्यादिविरहे तत्रोद्भाव्यमाने न हेतुर्मन्तुं शक्यते। अनैकान्तिकत्वादौ तूद्भाविते व्याप्त्यादिविरहोऽर्थाद्ध गम्यते। व्याप्त्यादिविरहव्यतिरेकेणानैकान्तिकत्वादेरनुपपन्नत्वात्। यथा तस्माद्दीर्घोऽयमित्युक्ते अस्मात् ह्रस्वः स इत्यर्थाद्गम्यते न तु तत्र प्रतिपाद्यान्तरापेक्षा तथेहापि निरग्नौ धूमोऽस्तीति प्रतिपादिते अग्निनाऽसौ न व्याप्त इत्यर्थाद्गम्यते। न हि सम्भवत्यग्निना च व्याप्तोऽनग्नौ चास्तीति। अतएवाऽऽनन्त्यादतीन्द्रियोपाध्यादिलिङ्गानां येषां पूर्वमनभिधानं समर्थितं तेषामनभिधानेऽयमपि हेतुः। तानि ह्युपाधिलिङ्गानि नार्थवशादुपाधिमनपेक्षाणि गमयन्ति येन येन तेषां व्याप्तिर्नावधारिता तं प्रति तत्प्रतिपादनमन्तरेणाप्रतिपादकत्वस्यापि सम्भवात्। अनैकान्तिकत्वाद्यवगतौ च व्याप्त्यादिविरहबोधाय न प्रतिपादनीयान्तरापेक्षा कस्यचित्सचेतसः सम्भवतीति पूर्व्वपक्षसङ्क्षेपः ॥५२॥

नहीं अतः सव्यभिचार आदि हेत्वाभासत्व का प्रतिपादक गौतम जी का विभाग सूत्र अनर्थक है॥५१॥

उत्तर—यह आपकी शङ्का युक्त ही है, साक्षाद्दोष अनुमिति के प्रतिबन्धक सत्प्रतिपक्ष और व्याप्ति आदि के विरह ही हैं, और विरुद्ध आदि की यद्यपि व्याप्ति आदि के विरह के प्रमापक होने से दोषपक्ष में गणना है, तथापि (दोष के प्रतिपादक होने पर भी) विरुद्ध आदि जो दोषरूप से कहे गये हैं वह उद्भावन में लाघव होने से हैं। देखिये—अनैकान्तिक स्थल में यदि अनैकान्तिक का उद्भावन करें तो व्याप्त्यादि का विरह अर्थाद्गम्य होता है, कारण कि व्याप्ति के विरह के बिना अनैकान्तिकत्व अनुपपन्न है, जैसे उससे यह दीर्घ है—यह कहने पर-इससे वह ह्रस्व है—यह अर्थाद्गम्य होता है अन्य प्रतिपाद्य की अपेक्षा नहीं होती है, वैसे ही अग्नि के अनधिकरण में धूम है ऐसा कहने पर अग्नि से व्याप्ति नहीं है यह अर्थाद्गम्य होता है, कारण कि यह सम्भव नहीं है कि अग्नि से व्याप्त हो और अग्नि के अधिकरण में न रहता हो, अतीन्द्रिय उपाधियों के लिङ्गों के आनन्त्य होने से हेतु दोषरूप से अभिधान नहीं है यह जो पूर्व कह आये हैं उनके अनभिधान में यह भी हेतु जानना चाहिये कि वे उपाधियों के लिंग उपाधि के अर्थवश अन्य प्रतिपाद्य की अनपेक्षा से बोधक नहीं हैं-कारण कि जिस पुरुष ने उपाधि की—उपाधि लिंग में—व्याप्ति नहीं जानी है, सम्भव है वह पुरुष व्याप्ति के प्रतिपादन के बिना उपाधि की अनुमिति न कर सके, किसी सचेता को अनैकान्तिकत्व आदि के अवगम होने पर व्याप्त्यादि-विरह-बोधन के अर्थ अन्य प्रतिपाद्य (व्याप्तिविरह की अनैकान्तिकत्व में व्याप्ति) की अपेक्षा नहीं होती है यह पूर्वपक्ष का संक्षेप है ॥ ५२ ॥

खण्डन—इस रीति से असिद्ध के लक्षण के व्यवस्थित होने पर यह दोष होता है कि (आपने) इस पूर्वपक्षमें उक्त कथन से कीदृश असिद्ध का लक्षण व्यवस्थित किया, व्याप्ति

एवमसिद्धलक्षणे व्यवस्थिते बाधोऽयमभिधीयते। एतेन कीदृशमसिद्धलक्षणं व्यवस्थापितमायुष्मता भवति। व्याप्तिपक्षधर्म्मत्वाभ्यामप्रमितोऽसिद्ध इति तावत् विरुद्धादिषु लक्षणं किन्नास्ति किं वाऽस्ति। यदि नास्ति तदा व्याप्तिपक्षधर्म्मताभ्यां प्रमिता विरुद्धादयः प्राप्नुवन्ति। अथास्ति तदा तेऽप्यसिद्धभेदाः प्राप्ताः। अथैतस्मिंल्लक्षणे सत्यपि ते नासिद्धान्तर्भूताः, तर्हि लक्षणमिदमतिव्यापकमापन्नम्। अथ यत्र व्याप्तिपक्षधर्म्मत्वाप्रमितत्वं साक्षादुद्भाव्यते तदसिद्धमित्युच्यते तर्हि लक्षणान्तरमिदमुक्तं स्यात्। नचैतदपि युक्तं यत्र व्याप्यत्वासिद्धेर्व्याप्तिविरहमात्रं प्रतिपाद्यते तत्र व्याप्तिपक्षधर्म्मताप्रमितत्वानां हानं मिलितं नोद्भाव्यत इति नासावसिद्धः स्यात्। एवं सर्वासिद्धविशेषमुदाहृत्य प्रसङ्गो विधातव्यः॥५३॥

अथ प्रत्येकमिदं लक्षणं व्याप्त्यप्रमिततया साक्षादुद्भाव्योऽसिद्धः पक्षधर्म्मताप्रमिततया चेति तर्हि अन्योन्योदाहरणाव्याप्तेरव्यापकत्वमुभयोः, अथोभयोरप्यसिद्धविशेषलक्षणत्वादन्योन्यविषयाव्यापकता न दोषायेति मन्यसे। न, सामान्यलक्षणे निर्व्वक्तुमशक्ये कथमिदं विशेषलक्षणमपि घटते। अथानुमितेरसाधारणहेतु व्यतिरेकोद्भावनं सामान्यलक्षणमस्तु। मैवम्। सत्प्रतिपक्षोद्भावनं तथेत्यतिव्याप्तेः।

पक्षधर्मता से अप्रमित असिद्ध है—यह लक्षण विरुद्धादि में है अथवा नहीं है। यदि नहीं है तो विरुद्धादि व्याप्तिपक्षधर्म्मता से प्रमित प्राप्त होते हैं और यदि यह लक्षण विरुद्धादि में है तो विरुद्धादि भी असिद्ध के भेद प्राप्त हुए और इस लक्षण के समन्वय होने पर भी यदि विरुद्धादि असिद्ध में अन्तर्भूत नहीं हैं तो यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित हुआ।

समर्थन—जिसमें व्याप्तिपक्षधर्मता प्रमितत्व का अभाव साक्षात् उद्भावित हो वह असिद्ध है।

खण्डन—यह लक्षणान्तर हुआ, अतः प्रतिज्ञाहानिरूप आपका निग्रह हुआ। किञ्च जिस व्याप्यत्वासिद्ध में केवल व्याप्ति का ही विरह उद्भावित होता है, वहां व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितत्व का अभाव उद्भावित नहीं होता है, अतः वह असिद्ध नहीं कहावेगा, एवं आश्रयासिद्धि स्वरूपासिद्धि में केवल पक्षधर्मता का विरह उद्भावित होता है। उक्त समुदाय का अभाव उद्भावित नहीं होता है, अतः उनमें भी अव्याप्ति हो जायगी॥५३॥

समर्थन—प्रत्येक यह लक्षण है अर्थात् व्याप्ति की प्रमिति के अभाव का जहाँ उद्भावन हो वह असिद्ध है तथा पक्षधर्मता की प्रमिति के अभाव का जहां उद्भावन हो वह असिद्ध है इस प्रकार से दो लक्षण हैं।

खण्डन—ऐसा करने पर प्रथमलक्षण की आश्रयासिद्धि में और द्वितीय लक्षण की व्याप्यत्वासिद्धि में अव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें कि असिद्धविशेष के ये लक्षण हैं, अतः अव्याप्ति नहीं है, तो सामान्यलक्षण के न होने पर विशेष लक्षण का निर्वचन अयुक्त है, कारण कि सामान्य के ज्ञान विना विशेष की जिज्ञासा ही नहीं होती है।

समर्थन—अनुमिति के जो असाधारण हेतु उनके अभाव का उद्भावन असिद्ध है।

खण्डन—अनुमिति का असाधारण हेतु असत्प्रतिपक्षत्व भी है और उसका अभाव सत्प्रतिपक्षत्व है, अतः उसका उद्भावन भी असिद्ध हो जायगा, यदि कहें कि अनुमिति के

भावरूपतया हेतुविशेषणे च निरुपाधित्वव्यतिरेकोद्भावनाव्याप्तेः स्वरूपासिद्धिः सर्वप्रमाणसाधारणो दोष इत्यत्र तदुद्भावनाव्याप्तेश्च। अथोच्यते व्याप्तत्वपक्षधर्म्मताभ्यां प्रमितत्वस्य व्यतिरेको यत्र साक्षादुपन्यस्यते सोऽसिद्ध इति इदमप्यलक्षणमव्यापकत्वात्। यत्र व्याप्त्यादिव्यतिरेक उपन्यस्यते, तत्र वस्तुगत्या व्याप्तत्वप्रमितेर्व्यतिरेकोऽस्तु नाम नतूपन्यस्यतेऽपि, प्रयोजनाभावात्। व्याप्तिव्यतिरेकदर्शनादेवानुमानाङ्गवैकल्यात्मनो दोषस्योद्भावनपर्य्यवसानात्। तस्मात्तत्र प्रमितत्वव्यतिरेकोद्भावनं नास्तीत्यव्यापकत्वं दोषः ॥५४॥

ननु विशेषणाद्यभावोऽपि वस्तुतो विशिष्टाभाव एवेति नोक्तदोषः। न, यदि विशेषणाद्यधिको विशिष्टस्तदा तदभावभेदोऽपि स्यात्। अथ नाधिकस्तदा विशेषणाभावत्वान्नान्या सा विशिष्टाभावतेति विशेष्याभावेपि तथात्वे पृथगेव विशिष्टाभावत्वार्थस्तयोरित्यननुगम एव। स्वार्थानुमित्यसिद्ध्यव्याप्तिश्चानुद्भावनादिति ॥५५॥

अथ ब्रूषे यत्र व्याप्तत्वपक्षधर्म्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकः साक्षाच्छक्योपन्यासस्तदसिद्धं शक्योपन्यासत्वस्यानुपन्यस्तेपि सम्भवान्नास्त्यव्यापकतेति। नैतदपि युक्तम्। तथाहि शक्योपन्यासत्वं किं शक्यस्वरूपनिर्देशत्वमात्रं, उत शक्यप्रमापणत्वम्। आद्येऽ

असाधारण जो भावरूप हेतु उसका व्यतिरेकोद्भावन असिद्धि है तो व्याप्यत्वासिद्धि में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि अनुमिति के असाधारण हेतु अनौपाधिकत्व भाव रूप नहीं है। किञ्च स्वरूपासिद्धि सर्वप्रमाण का साधारण दोष है, अनुमिति का असाधारण नहीं है, अतः उसके उद्भावन में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—जहां व्याप्तत्व पक्षधर्मत्व से प्रमितत्व का व्यतिरेक साक्षात् उद्भावित हो वह असिद्ध है।

खण्डन—अव्यापक होने से यह भी अलक्षण है, कारण कि जहां व्याप्ति के व्यतिरेक का उद्भावन होता है, वहां वस्तुतः व्याप्ति-प्रमिति का व्यतिरेक है भी, परन्तु उसका उपन्यास प्रयोजनाभाव से नहीं होता है, कारण कि व्याप्तिव्यतिरेक के दर्शन से ही अनुमान के साधन के अभाव का उद्भावन हो गया, तस्मात् यहां प्रमितत्वव्यतिरेक का उद्भावन नहीं होता है, अतः अव्याप्ति दोष हो जायगा ॥ ५४ ॥

समर्थन—विशेषण (व्याप्ति) का अभाव भी वस्तुतः विशिष्ट (व्याप्ति-प्रमितत्व) का अभाव रूप ही है, अतः उक्त दोष नहीं होगा।

खण्डन—यदि विशिष्ट विशेषण, विशेष्य से भिन्न है, तो विशिष्टाभाव भी विशेषणाभाव से भिन्न ही है और यदि विशिष्ट विशेषण वा विशेष्य से भिन्न नहीं है तो विशेषणाभाव विशिष्टाभाव जैसे है वैसे ही विशेष्याभाव भी विशिष्टाभाव है, अतः अननुगम हो जायगा। किञ्च स्वार्थानुमिति में व्याप्त्यादि व्यतिरेक के उद्भावन के न होने से अव्याप्ति हो जायगी ॥ ५५ ॥

समर्थन—जिस स्थल में व्याप्ति-पक्षधर्मताप्रमितत्व का व्यतिरेक साक्षात् शक्योपन्यास हो वह असिद्ध है, जहां उपन्यास नहीं होता है, वहां भी उपन्यास हो सकता है, अतः अव्याप्ति नहीं होगी।

नैकान्तिकादावपि व्याप्तिशून्यत्वं शक्यप्रतिज्ञमभवत्येव। द्वितीयेऽपि यदि साक्षादिति प्रत्यक्षेणेत्यर्थः, तदा प्रत्यक्षेण प्रमापणीयत्वं व्याप्तिपक्षधर्म्मताप्रमितिविरहस्य प्रत्यक्ष-प्रतियोगिकाभावप्रत्यक्षतावादिमते विरुद्धादावप्यस्तीत्यतिव्याप्तिः। अन्यमते न क्वचि-दपीति सर्वाव्याप्तिः ॥५६॥

अथ व्याप्तिपक्षधर्म्मताविरहस्यापि प्रत्यक्षप्रमापणीयता विवक्षिता सा न युक्ता, उक्तलक्षणवाक्यस्य व्याप्तिपक्षधर्म्मताविरहानभिधायित्वात्। तद्विरहेऽपि तात्पर्याभ्यु-पगमे प्रत्येकसमुदितलक्षणताविकल्पेनाव्यापकत्वापातात्। अतीन्द्रियपक्षादिविरहे च विषये तदभावादव्यापकत्वापत्तेः ॥ ५७ ॥

एतेन यदि लिङ्गानपेक्षत्वं साक्षादर्थः सोऽपि निरस्तः। अथोच्यते यत्र व्याप्तत्व-पक्षधर्म्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकः प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षतया तत्प्रमापकस्य लिङ्गस्योपन्या-सव्यतिरेकेण शक्योद्भावनः, तदसिद्धमिति। नैतदप्युपपन्नम्। अतिव्यापकत्वात्। तथा

खण्डन—"शक्योपन्यास" शब्द का क्या अर्थ है। जिसके स्वरूप का निर्देश शक्य हो—यह अर्थ है अथवा जिसका प्रमापण शक्य हो यह अर्थ है। प्रथमपक्ष में अनैकान्तिक आदि में भी व्याप्तिव्यतिरेक की प्रतिज्ञा (उपन्यास) शक्य है। अतः अव्याप्ति तदवस्थ ही है। द्वितीय पक्ष में साक्षात् शब्द का प्रत्यक्ष से ऐसा अर्थ करें तो व्याप्तिपक्षधर्मताविरह में प्रत्यक्ष से प्रमापणीयत्व [प्रत्यक्ष के अभाव को प्रत्यक्ष जो मानते हैं उनके मत में] विरुद्धादि में अतिव्याप्ति हो जायगी और प्रत्यक्ष के अभाव को प्रत्यक्ष जो नहीं मानते हैं, उनके मत में सर्वत्र असम्भव हो जायगा ॥५६॥

समर्थन—जहां व्याप्ति तथा पक्षधर्मता का अभाव प्रत्यक्षज्ञान का विषय हो वह असिद्ध है।

खण्डन—यह भी युक्त नहीं है, कारण कि प्रमितिघटित उक्त लक्षण वाक्य का यह अर्थ नहीं है। मान भी लें कि उक्त वाक्य का यह भी अर्थ है तो यदि उभयविरह का उद्भावन मिलित असिद्ध है तो जहां केवल व्याप्ति के विरह का उद्भावन है, वहां अव्याप्ति हो जायगी और यदि एक २ के अभाव का उद्भावन सिद्ध है तो यदि व्याप्तिविरह का उद्भावन असिद्ध है तो पक्षधर्मताविरहोद्भावनस्थल (आश्रयासिद्ध) में और यदि पक्षधर्मता के व्यतिरेक का उद्भावन असिद्ध कहें तो व्याप्यत्वासिद्ध में अव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च जहां अतीन्द्रिय पक्षादि विरह है, वहां पक्षधर्मता का व्यतिरेक प्रत्यक्षप्रमा का विषय नहीं है, अतः अव्याप्ति हो जायगी ॥ ५७ ॥

समर्थन—साक्षात् शब्द का लिङ्गानपेक्षत्व अर्थ है अर्थात् जहां व्याप्ति पक्षधर्मता का विरह लिङ्ग की अनपेक्षा से प्रमाविषय हो वह असिद्ध है।

खण्डन—यह कथन भी युक्त नहीं है, कारण कि अतीन्द्रियपक्षस्थल में आश्रया-सिद्धि का अवगम लिंग से ही होता है, अतः अतीन्द्रिय आश्रयासिद्धि में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—जहां व्याप्ति अथवा पक्षधर्मता या तत्प्रमिति के व्यतिरेक का कथन [अन्य प्रतिपाद्य की अनपेक्षा से प्रमितिजनकहेतु के उपन्यास के बिना ही] हो सके

हि–विरुद्धादौ शक्यते तावद्विपक्षव्यावृत्तिदण्डभूततर्काभावात् सोपाधिताऽवगन्तुम् । यदाह "यत्रानुकूलस्तर्को नास्ति सोऽप्रयोजक" इति । तस्मात्तेषामप्येवं लक्षणयोगित्वादसिद्धत्वप्रसङ्गः । नच तादृशतर्काविषयत्वमपि प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षव्याप्तिपक्षधर्म्मताप्रमितिविरहप्रमापकलिङ्गभूतमेवेति वाच्यम् । तथा सति विरुद्धत्वादिवत्तस्य हेत्वाभासान्तरत्वप्रसङ्गात् ॥ ५८ ॥

अथोच्यते, तथोपन्यस्यमानं तदसिद्धम्भवतु-साध्यविपरीतव्याप्तित्वादिना तु दूष्यमाणं विरुद्धाद्येव तत्, उपन्यासप्रकारभेदाच्च भेदव्यवस्था हेत्वाभासानाम् । नह्यत्र गोत्वाश्वत्वादिवदत्यन्तासङ्कर इष्यते । किं नाम ? प्रमाणप्रमेयभाववत् प्रकारासङ्करमात्रमिति । तदप्ययुक्ताभिधानम् । वक्तव्यं हि केन प्रकारेणासिद्धत्वम्भवति, न तावदुक्तलक्षणेन, तथाशक्योद्भावनत्वस्य विरुद्धोचितप्रकारेणोपन्यस्यमानस्य सम्भवात् । सर्वथा

यह असिद्ध है। इस लक्षण में विरुद्ध में लिङ्ग का उपन्यास होने से अतिव्याप्ति नहीं है और अतीन्द्रियपक्षस्थल में लिङ्ग का उपन्यास तो है, परन्तु लिङ्ग में व्याप्ति-प्रतिपादन की अपेक्षा है, अतः अव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—यह भी युक्त नहीं है, कारण कि शब्दोनित्यः कृतकत्वात्, शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वात् इत्यादि विरुद्ध अनैकान्तिक स्थल में विपक्षबाधक तर्काभाव से भी व्याप्ति के व्यतिरेक का अवगम होता है। यह बात उदयनाचार्य जी ने भी कही है कि जहाँ अनुकूल तर्क न हो वह हेतु प्रयोजक (व्याप्तिरहित) है, तस्मात् विरुद्धादि में उक्त लक्षण के योग होने से अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—विपक्ष-बाधक तर्क का अभाव भी प्रतिपादनीयान्तर की अनपेक्षा से लिङ्गरूप से ही विरुद्धादि में व्याप्तिविरह का अनुमापक है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—ऐसा मानने पर विरुद्धादि के तुल्य विपक्षबाधक तर्काभाव भी हेत्वाभास हो जायगा ॥५८॥

समर्थन—कृतकत्व आदिहेतु में जिस समय विपक्षबाधक तर्क के अभाव से व्याप्यभाव का अवगम होता है, उस काल में वह असिद्ध है और जब साध्याभाव व्याप्तत्वादिरूप हेतु से व्याप्यभाव का अवगम होता है, तब वह विरुद्धादि हैं। उपन्यास के प्रकार के भेद-से ही हेत्वाभासों में भेद है। गोत्व अश्वत्व के तुल्य भेद नहीं है, किन्तु प्रमाण प्रमेय के तुल्य भेद हैं अर्थात् जैसे एक ही वस्तु चक्षुरादिप्रमिति के करण होने से प्रमाण और प्रमिति के विषय होने से प्रमेय है। ऐसे ही प्रकार का असङ्करमात्र है।

खण्डन—यह कथन भी अयुक्त है, कारण कि प्रकार के असङ्कर होने पर भी यह अवश्य कहना होगा कि किस प्रकार से असिद्धत्व है। उक्त लक्षणरूप प्रकार से असिद्धत्व नहीं कह सकते हैं, कारण कि व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमिति के अभाव का शक्योद्भावनत्वरूप उक्त प्रकार—विरुद्ध के उचित प्रकार (लक्षण) से कथित कृतकत्वादि में भी—विद्यमान है, अर्थात् यदि असिद्ध का उक्त लक्षण करें तो विरुद्धस्थल में असिद्धरूप हेत्वाभास से ही अनुमिति के प्रतिबन्ध होने से विरुद्ध की हेत्वाभास में गणना व्यर्थ हो जायगी।

समर्थन—जहाँ साध्य के अभाव से व्याप्तत्वरूप विरुद्धत्व का उद्भावन न हो और व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमिति के व्यतिरेक शक्योद्भावनत्व का उद्भावन हो वह असिद्ध है।

निष्प्रकारकस्यासिद्धधर्म्मिणस्तदुद्भावनाशक्यत्वात्। नच तथाशक्योद्भावनत्वमप्युद्भाव्यते, असिद्धेः, येन प्रकारभेदव्यवस्थितिरनेन भवेत्। नच शक्योद्भावनपदस्थाने उद्भाव्यमानत्वमिति कृते निस्तारः, सोपाधित्वाद्युद्भावने प्रमित्यभावोद्भावनं व्यर्थत्वान्न क्रियत इति तदव्यापकत्वं प्रसज्येतेति प्रागेवोक्तत्वादिति ॥ ५९ ॥

एतेनासिद्धः साध्यसम इति प्रत्युक्तम्। यथाकथञ्चित्साध्यसाम्यस्य सर्वसाधारणत्वात्। साम्यविशेषस्य चोक्तप्रकारपर्य्यवसानव्यतिरेकेणान्यस्यासम्भवात्, लक्षणान्तरेषु चोक्तदूषणप्रकारा यथासम्भवमिह योजनीया इत्यलंविस्तरेणेति ॥ ६० ॥

अपिचासिद्धलक्षणविशेषेषु प्रमाणव्यवच्छेदकव्यतिरिक्तेन यद्व्यवच्छेद्यं तत् किं केनचिद्विरुद्धं केनचिदन्यदिति चेत्। विरुद्धमेव किमुच्यते। तथा हि–साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्ध इत्याहुः। तत्र, साध्यव्यतिरेकेण हि व्याप्तिः कात्स्न्र्येन वा अनौपा-

---

खण्डन—ऐसा कोई स्थल नहीं है जहां विरुद्धादि प्रकार न हों, केवल असिद्ध प्रकार ही हो। किञ्च स्वार्थानुमिति में असिद्धस्थल में भी शक्योद्भावनत्व का उद्भावन नहीं होता है, फिर उक्तस्थल में उक्त प्रकार से भी व्यवस्था कैसे होगी।

समर्थन—शक्योद्भावन पद के स्थान में उद्भावनमात्र दें अर्थात् व्याप्तिपक्षधर्म्मताप्रमिति के व्यतिरेक का जहां उद्भावन हो वह असिद्ध है। विरुद्धादि में यद्यपि उक्त व्यतिरेक है, तथापि उद्भावन नहीं होता है, अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—व्याप्यत्वासिद्ध स्थल में केवल व्याप्ति के व्यतिरेक का ही उद्भावन होता है। प्रयोजन न होने से व्याप्तिप्रमिति के व्यतिरेक का उद्भावन नहीं होता है, अतः अव्याप्ति हो जायगी इत्यादि पीछे कह आये हैं ॥५९॥

समर्थन—साध्य से सम असिद्ध है।

खण्डन—यदि अस्तित्व ज्ञेयत्व आदि धर्म से साम्य की विवक्षा करें तो विरुद्धादि हेतु भी उक्त प्रकार से साध्यसम होने से असिद्ध हो जायगें और यदि साम्यविशेष की विवक्षा करें अर्थात् जैसे साध्य साध्य से व्याप्तत्वरूप से प्रमित नहीं है, एक होने से तथा साध्य, पक्षधर्मता से प्रमित नहीं है, संदिग्ध होने से एवं व्याप्तिपक्षधर्मता से जो प्रमित न हो वह साध्यसम है—ऐसी विवक्षा करें तो उक्त प्रकार में ही पर्यवसान होगा और उन प्रकारों का खण्डन कर चुके हैं। अन्य असिद्धि के लक्षणों में भी उक्त दूषणों का अथवा उक्त दूषणों से सदृश अन्य दूषणों की यथासंभव योजना करना चाहिये, ग्रन्थ का विस्तार व्यर्थ है ॥ ६० ॥

इति असिद्धलक्षणखण्डन

अथविरुद्धलक्षणखण्डनानुवाद।

किञ्च व्याप्तिपक्षधर्म्मतात्प्रमिति के व्यतिरेक का कथन जहां लिङ्ग के उपन्यास के विना हो सके वह असिद्ध है इस लक्षण में प्रमित्यन्त प्रमाण के व्यवच्छेद का अर्थ है—लिङ्ग के उपन्यास के विना इस विशेषण का तथा शक्योपन्यास इस विशेषण का व्यवच्छेद्य क्या है। यदि कहें कि किसीका व्यवच्छेद्य विरुद्ध है और किसीका स्वार्थानुमितिस्थलीय

धिको वा स्वाभाविको वा सम्बन्ध इत्याद्युक्तिभिः सविशेषेण सहभाव एव निरुच्यते। तथा सति च साध्यव्यतिरेकेण सामानाधिकरण्यमेव विशेषणविशेषयुक्तं विरुद्धत्वमित्युक्तं स्यात्। यदा चैवं तदा साध्यव्यतिरेकसामानाधिकरण्यमेव हेतोरगमकत्वे समर्थमिति तन्मात्रमुद्भाव्यं वृथा विशेषणप्रक्षेपः। तथा चानैकान्तिक एवायं स्यात्॥ ६१॥

ननु साध्यव्यतिरेकसम्बन्धो यद्यपि विरुद्धानैकान्तिकयोर्द्वयोरप्यस्ति तथापि वस्तुगत्या स्वाभाविकोऽसौ विरुद्ध एवेत्येतावन्मात्रविशेषविवक्षया विरुद्धस्यानैकान्तिकाद्भेदोपन्यासः। मैवम्। दत्तोत्तरत्वात्। वस्तुगत्या सन्नप्ययं विशेषो नोद्भावनार्ह इत्युपेक्षणीय इत्युक्तम्। तथा हि नेदमस्य साधकमेतत्साध्यं प्रति विरुद्धत्वादित्यभिधीयमाने विरुद्धशब्दार्थनिरुक्तौ विशेषणाधिक्यस्योक्तन्यायेन दुष्परिहरत्वात्। अत एवानैकान्तिके सन्देहेन प्रत्यवस्थानं विरुद्धे तु व्यतिरेकनिश्चयेनेति विशेषादनयोर्भेदेनोपन्यास इत्यप्यनवकाशम्, अनुमितिहेतुव्यतिरेको हि हेतुदोषोऽनुमितिहेतुश्चैको व्याप्तिस्ततस्तदभावस्य दोषत्वात्तावन्मात्रं ज्ञाप्यं तच्चहेतुविपक्षसम्बन्धोद्भावनमात्रादेव गम्यते, तस्मा-

---

असिद्ध का संग्रह फल है तो विरुद्ध हो क्या वस्तु है, अर्थात् लक्षण न होने से अनिर्वचनीय है, अतः व्यवच्छेद्य के न होने से विशेषण व्यर्थ है।

समर्थन—साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध है। यहां साध्याभाव के साथ व्याप्ति विशेषण से युक्त सहभाव ही है, क्योंकि सार्वत्रिक वा अनौपाधिक अथवा स्वाभाविक सम्बन्ध ही व्याप्ति है। ऐसा होने पर साध्याभाव के साथ विशेषण (सार्वत्रिकत्व) से युक्त सामानाधिकरण्य ही विरुद्ध हुआ।

खण्डन—यदि ऐसा है तो साध्याभाव के साथ सामानाधिकरण्य ही हेतु के व्याप्तिशून्यत्व में समर्थ प्रयोजक है, अतः तन्मात्र ही लक्षण कहना चाहिये, विशेषण का प्रक्षेप व्यर्थ है और यदि विशेषण न दें तो विरुद्ध भी अनैकान्तिक ही हो जायगा॥ ६१॥

समर्थन—यद्यपि साध्याभाव के साथ सम्बन्ध विरुद्ध अनैकान्तिक दोनों में है, तथापि स्वाभाविक संबन्ध विरुद्ध में ही है। केवल इसीसे विरुद्ध से अनैकान्तिक का भेद है।

खण्डन—वस्तुतः सार्वत्रिकत्व के निवेश से कृतभेद हैं, परन्तु यह भेद कथन के योग्य नहीं है यह उत्तर दे चुके हैं। देखिये—"यह हेतु साध्य का साधक नहीं है, साध्य के विरुद्ध होने से" यह कहने पर विरुद्ध शब्दार्थ की निरुक्ति में उक्त रीति से विशेषण का आधिक्य दुःपरिहर है।

समर्थन—अनैकान्तिकस्थल में हेतु में साध्याभाव की व्याप्ति का सन्देहमात्र रहता है और विरुद्धस्थल में हेतु में साध्याभाव के साथ व्याप्ति का निश्चय रहता है—यह दोनों में परस्पर भेद है।

खण्डन—यह भी युक्त नहीं है, कारण कि अनुमिति हेतु का अभाव हेतु का दोष है और अनुमिति का हेतु एक व्याप्ति है और दूसरा पक्षधर्मता है, इससे उन दोनों के अभाव ही को दोष होने से तन्मात्र ही ज्ञाप्य है और उसका अवगम हेतु के—विपक्ष में—संबन्ध मात्र से ही होता है, तस्मात् अनुमिति का हेतु जो व्याप्ति उसकी प्रमिति के अभाव के बोधन के अर्थ पूर्वोक्त सन्देह अथवा निश्चय का उद्भावन भी करें तो उक्त संदेह वा निश्चय ही कैसे

दनुमितिहेतुव्याप्तिप्रमितिव्यतिरेकबोधनाय संशये व्यतिरेकनिश्चये चोद्भाव्यमानेऽपि कुतस्तावेवेत्यत्र विपक्षसम्बन्धमात्रनियततत्सम्बन्धावश्योपन्यास्याविति तत्सम्बन्धमात्रमेवास्तु, व्याप्तेस्तत्प्रमितेश्च व्यतिरेकस्य लिङ्गत्वादुद्भाव्यं कृतमितराभ्यामिति ॥६२॥

लकारभेदप्रयोगे तैस्तैर्लकारैः कालविषयविशेषप्रतिपादनवद्विभक्तिभिर्लिङ्गसङ्ख्याज्ञापनवत् पर्वतोऽग्निमानित्यादौ धर्म्यादिप्रतिपादनवच्च नेदं घटते तत्र तेपामतात्पर्य्यविषयाणामपि प्रदप्रयोगे विशिष्टबोधने वा अन्यथासिद्धानां यथा बोधनं तथा यद्यत्रापि व्याप्तेरतात्पर्य्यविपयत्वं तदनैकान्तिकसाधारण्यादेव, अन्यथोक्तदोपापरिहारादेवेति ॥६३॥

अनैकान्तिकत्वश्चानुद्भावयता अनधिगच्छता वा विरुद्धमशक्योद्भावनमशक्याधिगमश्चेति तदुपजीवित्वान्न पृथक् दूपणं विशेष्यप्रतिपादनं विशेष्यावगमश्च विना विशिष्टप्रतिपादनस्य विशिष्टावगमस्य चाशक्यत्वात्। एवमन्यत्रापि विशेषणस्याप्रयोजकता विशेष्यस्य सामर्थ्ये स्वयमूहनीया। तद्यथा-इदमसाधकं साधारणानैकान्तिकत्वादित्यत्र साधारणेति विशेषणे सपक्षविपक्षगतत्वादित्यत्र सपक्षगतत्वेऽप्युद्भाव्यमाने एवमसाधारणेऽपीनि इदमसाधकं जातित्वादिति जातित्वविवेचने स्वव्याघातकमुत्तरं

हुआ इस जिज्ञासा में विपक्षसम्बन्धमात्र तथा नियतविपक्षसम्बन्ध अवश्य वक्तव्य है, अतः व्याप्ति वा तत्प्रमिति के अभाव का कारण होने से विपक्ष में सम्बन्ध का ही कथन करना चाहिये, सन्देह वा निश्चय का उपन्यास व्यर्थ है ॥ ६२ ॥

"शब्दो नित्योऽस्ति" इस प्रतिज्ञावाक्य में कालसामान्य की विवक्षा होने से वर्तमान के प्रतिपादन के तुल्य तथा "वासः परिधेहि" यहां कर्ममात्र की विवक्षा होने से लिङ्ग संख्या के बोधन के तुल्य "पर्वतो वन्हिमान्" यहां विशिष्ट के बोध में तात्पर्य होने से धर्म्यादि के बोध के तुल्य यहां सम्भव नहीं है, कारण कि उक्त स्थलों में तात्पर्य का विषय न होने से पदप्रयोग में वा विशिष्ट के बोध में अन्यथासिद्ध (तात्पर्य का अविपय) काल विशेपादि का जैसे बोध होता है, वैसे यदि विरुद्धस्थल में व्याप्ति के बोध को तात्पर्य का विषय न मानें, तो लक्षण अनैकान्तिक साधारण हो जायगा और यदि व्याप्तिबोध को तात्पर्य का विषय मानें तो लक्षण में उक्त प्रकार से व्याप्ति का निवेश व्यर्थ हो जायगा ॥६३॥

किञ्च अनैकान्तिक के अज्ञान तथा अनुद्भावन के काल में विरुद्ध का ज्ञान तथा उद्भावन अशक्य है? कारण कि साध्याभाव के साथ सम्बन्धरूप विशेष्य के ज्ञान और प्रतिपादन के विना सार्वत्रिक सम्बन्धरूप विशिष्ट का अवगम और प्रतिपादन अशक्य है, अतः विशेष्य ज्ञान उपजीव्य है।

इसी प्रकार से विशेष्य के सामर्थ्य होनेपर विशेषण का वैयर्थ्य अन्यत्र भी जानना चाहिये। देखिए—"इदं साधारणं, साधारणानैकान्तिकत्वात्" यहां साधारण यह विशेषण तथा "इदमसाधकं सपक्षविपक्षगतत्वात्" यहां सपक्ष यह विशेषण व्यर्थ है। इसी प्रकार शब्दो नित्यः शब्दत्वात् इस असाधारणस्थल में-शब्दत्वम् असाधकम् असाधारणानैकान्तिकत्वात्-यहां असाधारण विशेषण तथा-शब्दत्वम् असाधकं सपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वात् यहां विपक्षविशेषण व्यर्थ जानना चाहिये।

जातिरिति स्वव्याघातकत्वस्यैव सर्व्वमसत् ज्ञेयत्वादित्याद्यजातिजातिसाधारणस्य दूषणासमर्थत्वेनोत्तरत्वाभिधान इति ॥६४॥

किञ्च साध्यविपरीतेति साध्याभावेत्यर्थे, यदा अभावात्मैव साध्यः क्वचिद्भवति तत्र तद्विपरीतस्य भावत्वात्तदव्यापकत्वं लक्षणस्य। नच विपरीतशब्दस्य विरोधिमात्रार्थत्वे भावाभावोभयव्याप्तिरिति वाच्यम्। सहानवस्थानं हि भावाभावयोर्विरोधोऽभ्युपेयते, अनवस्थानञ्च संसर्गनिषेधः स च भावाभावयोरन्योन्यानवस्थानमेव परस्परप्रतिषेधरूपत्वात्तयोः, तथा च सति भावाभावयोः स्वरूपस्यानुपसङ्ग्रहे प्रत्येकमव्याप्तिर्मिलितस्यासम्भव एवेति। वक्ष्यामश्च भावाभावयोर्विरोधनिरुक्तिनिराकरणमुपरिष्टादिति ॥६५॥

किञ्च व्याप्तिपदेन लक्षणप्रविष्टेन किं व्यवच्छेद्यम्। अनैकान्तिकमिति चेत्, किं तदनैकान्तिकम्। तथा हि—अनैकान्तिकः सव्यभिचार इत्यलक्षणम्। सव्यभिचा-

---

"इदमसाधकम् जातित्वात्" यहां स्वव्याघातक उत्तर जाति है ऐसा जाति शब्दार्थ के विचारने पर स्वव्याघातकत्व ही "सर्वम् असत् ज्ञेयत्वात्" इस अजातिस्थल के तुल्य दूषण में समर्थ है, अतः "उत्तर" इस विशेष्य अंश का अभिधान व्यर्थ है ॥६४॥

किञ्च लक्षण में साध्यविपरीत शब्द का यदि साध्याभाव अर्थ करें तो जहां अभावही साध्य है, वहां साध्यविपरीत भाव है अभाव नहीं, अतः वहां लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—लक्षणघटक विपरीत शब्द का विरोध अर्थ है, अतः अव्याप्ति नहीं।

खण्डन—सह अनवस्थान ही भाव अभाव का विरोध है और अनवस्थान संसर्ग का निषेध है और वह भाव अभाव के अन्योऽन्य के अनवस्थानरूप है-कारण कि भाव का प्रतिषेधरूप अभाव है और अभाव का प्रतिषेधरूप भाव है।

ऐसा होने से विरोध शब्द से दोनों के स्वरूप का संग्रह नहीं होगा, अतः लक्षण में अभाव के उपादान होने पर जहां अभावरूप साध्य विपरीत है, वहां अव्याप्ति हो जायगी। लक्षण में भाव अभाव दोनों का विपरीतशब्द से ग्रहण करें तो सर्वत्र असम्भव हो जायगा और भाव तथा अभाव के विरोध की निरुक्ति का खण्डन भी आगे कहेंगे ॥६५॥

इति विरुद्धलक्षणखण्डन

अथ सव्यभिचारखण्डनानुवाद

किञ्च विरुद्ध के लक्षण में प्रविष्ट व्याप्ति का व्यवच्छेद्य क्या है। यदि अनैकान्तिक को कहें तो अनैकान्तिक क्या वस्तु है अर्थात् लक्षण न होने से अनिर्वचनीय हैं, अतः व्यावर्त्य न होने से लक्षण में व्याप्ति का निवेश व्यर्थ है।

निर्वचन—सव्यभिचार अनैकान्तिक है।

खण्डन—यह लक्षण युक्त नहीं है, कारण कि यदि सव्यभिचार विपक्षवृत्तित्व है तो "शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्" इस विरुद्ध में अतिव्याप्ति तथा "शब्दोऽनित्यः आकाशविशेष-

रत्वं हि यदि विपक्षवर्जिता तदानीं विरुद्धेऽपि प्रसङ्गः असाधारणानैकान्तिकाव्याप्तिश्च । अथ सपक्षविपक्षगताभावता तदा साधारणोदाहरणाव्यापकत्वम् ॥६६॥

अथोच्यते सव्यभिचारत्वं सपक्षविपक्षसाधारणता अभिप्रेता सा चान्वयेन साधारणस्यव्यतिरेकेणासाधारणस्यानैकान्तिकस्य सङ्ग्राहिका, सपक्षविपक्षसाधारणतामात्रं त्वन्वयेन व्यतिरेकेण वेति विशेषणवत्तया न विवक्षिता, अतः साधारणासाधारणानैकान्तिकयोरुभयोरपि सङ्ग्रहः । विवादाध्यासितं क्षणिकं सत्त्वादित्यादेरनुपसंहार्य्यस्यापि सपक्षविपक्षशून्यत्वादेव सपक्षविपक्षगतत्वाभावेन साम्यमिति । विचार्य्यमेतद्व्याख्यानं परमस्तु तावदापाततः, तथापि व्यतिरेकेण सपक्षविपक्षसाधारणतायाः सपक्षाव्यापके सद्धेतौ धूमविशेषादौ गतत्वेनातिव्यापकत्वात् । यदि त्वस्य दोषस्य परिहारार्थं सर्वविपक्षसपक्षसाधारणमनैकान्तिकमिति ब्रूषे । तदा व्यतिरेकमात्रेण सर्वसपक्षविपक्षापक्षसाधारणता धूमानुमानादिगामिनी न भवतु नाम । अन्वयेन तु सर्व्वसपक्षविपक्षसाधारणता विपक्षसपक्षैकदेशगामिनं साधारणानैकान्तिकं शब्दो न नित्यः प्रत्यक्षग्राह्यत्वादित्यादिकं न सङ्गृह्णातीत्यव्याप्तिरित्येकं सन्धित्सतोऽपरं प्रच्यवते॥६७॥

गुणत्वात्" इस असाधारण में अव्याप्ति हो जायगी और यदि सपक्षविपक्ष में जिसका अभाव हो वह सव्यभिचार है तो "शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वात्" इस साधारण में अनैकान्तिक में अव्याप्ति हो जायगी ॥६६॥

समर्थन—सपक्ष विपक्ष में साधारणता सव्यभिचारत्व है, वह अन्वय से साधारण का और व्यतिरेक से असाधारण का संग्राहक है, यदि केवल अन्वय से सपक्ष विपक्ष में साधरणता कहें, तो असाधारण में और यदि केवल व्यतिरेक से कहें तो साधारण में और यदि अन्वयव्यतिरेक दोनों से सपक्षविपक्ष साधारणता कहें तो दोनों में अव्याप्ति हो जायगी, अतः विशेष की विवक्षा नहीं है, किन्तु जहां अन्वय से समन्वय की सम्भावना हो वहाँ अन्वय से और जहाँ व्यतिरेक से लक्षण के समन्वय की सम्भावना हो वहाँ व्यतिरेक से सपक्ष विपक्ष साधारणता का ग्रहण करना चाहिये।

विवाद का विषय—सब वस्तु क्षणिक है, ज्ञेय होने से इस अनुपसंहारी का भी—सपक्ष विपक्ष न होने से ही व्यतिरेक से सपक्ष विपक्ष साधारणता होने से—संग्रह है ।

खण्डन—यह व्याख्यान विचारणीय है, परन्तु आपात से है, देखिये—व्यतिरेक से सपक्षविपक्षसाधारणता सपक्ष (तप्तअयोगोलक) में अवृत्तिसद्धेतु धूम में भी है, अतः सद्धेतु में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि इस दोष के वारण के अर्थ सब सपक्ष विपक्ष साधारणता को अनैकान्तिकत्व कहें तो यद्यपि व्यतिरेक से सब सपक्षविपक्ष साधारणता धूमरूप सद्धेतु में नहीं है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होगी, तथापि अन्वय से सब सपक्षविपक्षसाधारणता विपक्ष (आत्मा) सपक्ष (घटादि) एक देश में स्थित "शब्दोऽनित्यः प्रत्यक्षग्राह्यत्वात्" इस साधारण अनैकान्तिक में—अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि सब सपक्ष में गुरुत्व गुण भी है और सब विपक्ष मध्य में आकाश भी है, उनमें अन्वय से प्रत्यक्षत्व नहीं है, इस प्रकार आप एक दोष के समाधान की इच्छा करते हैं, अन्य दोष होता है ॥६७॥

अपि चान्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वसपक्षविपक्षगतत्वाद्धूमानुमानादौ स एव प्रसङ्गः, विशेषरूपेण तयोरविवक्षितत्वात् ।

किञ्च सर्व्वसपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमिति वाक्ये यदि सर्वेति विपक्षस्यापि विशेषणं तदा विपक्षैकदेशवृत्तेः सपक्षव्यापिनः साधारणानैकान्तिकस्य त्रसरेणुः कार्य्यावयवको महत्त्वात् घटवदित्यादेरव्यापकं लक्षणमिदम् । अथ सर्व्वेति न विपक्षस्य विशेषणं तदा व्यतिरेकमादाय विपक्षसर्व्वसपक्षसाधाणमनैकान्तिकमिति एतद्विपक्षैकदेशमात्रवृत्तौ विरुद्धे क्षितिर्नित्या सावयवत्यादित्यादौ गतत्वादतिव्यापकमिति ॥६८॥

का चेयं वाचोयुक्तिः सपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमित्युक्ते सर्वं सङ्गृह्यते अन्वयेन व्यतिरेकेण चेति कथमनुपसंहार्य्यस्यासत्सपक्षविपक्षस्य सपक्षे विपक्षे वा अन्वयेन व्यतिरेकेण वा साधारण्यं स्यात् तयोरेवाभावात् । यदि च सपक्षे च विपक्षे च साधारणत्वमुभयत्र स्वरूपानुगमो विवक्षितस्तदानीमसाधारणानैकान्तिकाव्याप्तिः । अथोभयस्मिंस्तस्मिन्नसत्त्वं तद्विवक्षितं तदा सर्वाव्याप्तिः, तदसत्त्वस्यातद्धर्म्मत्वात् । अथ तदुभयवर्त्त्यभावप्रतियोगित्वं तदुभयसम्बन्धस्य योऽभावस्तदाश्रयत्वं वाऽभिप्रेतं तदापि साधारणोदाहरणाव्याप्तिः ॥ ६९ ॥

किञ्च अन्वयव्यतिरेक से सब सपक्ष में और व्यतिरेक से सब विपक्ष में साधारण होने से धूमादि सद्धेतु में अतिव्याप्ति भी हो जायगी, कारण कि अन्वय से ही सपक्ष साधारण हो ऐसी—विशेष की विवक्षा है नहीं।

किञ्च सब सपक्ष विपक्ष साधारण अनैकान्तिक है इस वाक्य में-सब-यदि विपक्ष का भी विशेषण मानें तो परमाणुरूप में विपक्ष न रहने से विपक्ष का एकदेश दिग् आदि में वृत्ति तथा सब सपक्षवृत्ति "त्रसरेणुः कार्य्यावयवकः महत्त्वात् पटवत्" इस साधारण अनैकान्तिक में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी और यदि सब विपक्ष का विशेषण न दें तो विपक्ष तथा सब सपक्ष में साधारण अनैकान्तिक है ऐसा लक्षण हुआ, उसकी "क्षितिर्नित्या सावयवत्वात्" इस विरुद्ध में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि व्यतिरेक से बुद्ध्यादि विपक्ष और परमाणु आदि सब सपक्ष में सावयवत्व हेतु साधारण है ॥ ६८ ॥

किञ्च सपक्ष विपक्ष साधारणरूप अनैकान्तिक अन्वय व्यतिरेक से सब का संग्राहक है यह वचन की रचना कैसी असङ्गत है जिसका सपक्ष विपक्ष दोनों नहीं हैं।

उस अनुपसंहारी का सपक्ष विपक्ष में अन्वय या व्यतिरेक से साधारण्य कैसे होगा, यदि सत्व को सपक्ष विपक्ष में साधारण्य कहें तो असाधारण अनैकान्तिक का असंग्रह हो जायगा, कारण कि असाधारण हेतु का सत्व सपक्ष विपक्ष में नहीं होता है और यदि असत्व को सपक्ष विपक्ष में साधारण्य कहें तो असम्भव हो जायगा, कारण कि हेतुवृत्ति असत्व हेतु में नहीं रहता है, क्योंकि अंशतः आत्माश्रय हो जायगा। यदि सपक्ष विपक्ष में स्थित जो अभाव तत्प्रतियोगित्व अथवा सपक्ष विपक्ष सम्बन्ध का जो अभाव तदाश्रयत्व को साधारण्य कहें तो साधारण अनैकान्तिक में अव्याप्ति हो जायगी ॥ ६९ ॥

अथ मन्यसे-तदुभयसाधारण्यं नाम एकस्मिन् याद्रूप्यं हेतोः सत्त्वमसत्त्वं वा ताद्रूप्यमपरस्मिन्नपि यत्तदुच्यते, तथा सति नाव्यापकतादोष इति । मैवम् , मुख्यस्तावद्वचनार्थो नोपपद्यते हेतोरैकरूप्यस्य सपक्षविपक्षावाश्रय इति । किं नाम ऐकरूप्यवतो हेतोस्तावाश्रयाविति, स्यात्तदा चासाधारणाव्याप्तिः, तत्र सपक्षे विपक्षे च हेतोरसत्त्वेन तदाश्रयत्वासम्भवात् । तस्मात् सपक्षे विपक्षे च साधारणत्वं हेतोरनैकान्तिकत्वमित्यनुपपन्नमेव ॥ ७० ॥

असत्त्वपक्षे हेतोस्तदाश्रयकत्वानुपपत्त्या सपक्षे विपक्षे चेति सप्तमीनिर्देशस्यासङ्गतत्वात् । तदभावापेक्षया चाश्रयत्वस्योपपत्तौ हेतोस्तदाश्रयत्वे किमायातम् । आयातु वा किञ्चित्, तथापि साधारणोदाहरणेषु हेत्वभावापेक्षया सपक्षविपक्षयोर्नाश्रयता सप्तम्यर्थः; किन्तु हेत्वपेक्षयैवेति एकार्थापर्य्यवसायित्वे वाक्यस्य लक्षणाव्यापकतापत्तिरेव ॥ ७१ ॥

किञ्च सपक्षविपक्षसाधारणत्वं यदि सामान्यतो लक्षणं साधारणासाधारणानैकान्तिकभेदद्वयसङ्ग्रहार्थमुच्यते, तदा सपक्षविपक्षयोरन्यत्वादिभिर्हेतोः साधारण्यमस्त्यन्यत्रापीत्यतिव्याप्तिः । अथातिव्याप्तिपरिजिहीर्षयाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सपक्षविपक्ष-

---

समर्थन—एक (सपक्ष वा विपक्ष) में हेतु का जो रूप (सत्व वा असत्व) हो उसी रूप का अन्य (विपक्ष वा सपक्ष) में होना ही सपक्षविपक्षसाधारण्य है, अतः अव्याप्ति दोष नहीं।

खण्डन—हेतु के ऐकरूप्य (सत्व वा असत्व) का सपक्ष विपक्ष आश्रय हैं इस मुख्य अर्थ का तो सम्भव नहीं है, कारण कि हेतु के सत्व का आश्रय हेतु ही है सपक्षादि नहीं है, किन्तु लक्षणा से ऐकरूप्य से युक्त हेतु के सपक्ष विपक्ष आश्रय हों इस अर्थ का सम्भव है और ऐसा अर्थ मानने पर असाधारण में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि वहां हेतु का सपक्ष विपक्ष में असत्व होने से आश्रयत्व नहीं है, तस्मात् हेतु का सपक्ष विपक्ष में साधारणत्व अनैकान्तिकत्व है यह अनुपपन्न ही है ॥७०॥

किञ्च असाधारण स्थल में हेतु का सत्व सपक्षादि में नहीं है, अतः हेतु की अपेक्षा से सपक्ष में विपक्ष में यह सप्तमी निर्देश अनुपपन्न है। यद्यपि हेत्वभाव की अपेक्षा से सप्तमी निर्देश उपपन्न है, परन्तु उससे हेतु में लक्षण का समन्वय कैसे होगा।

सपक्षविपक्षनिष्ठ अभाव के प्रतियोगित्व के हेतु में होने से समन्वय हो जायगा—यदि ऐसा कहें तो भी साधारण के उदाहरण में हेत्वभाव की अपेक्षा से आश्रयत्व सप्तम्यर्थ नहीं है, किन्तु हेतु की अपेक्षा से ही आश्रयत्व सप्तम्यर्थ है, अतः वाक्य के अनेकार्थक होने से लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ॥७१॥

किञ्च यदि साधारण असाधारण दोनों अनैकान्तिकों के संग्रहार्थ सामान्य से सपक्ष विपक्ष साधारण्यमात्र लक्षण करें तो अन्यत्र (विरुद्धादि) में भी हेतु का [अन्यत्व सत्व ज्ञेयत्व आदि से] सपक्षविपक्ष साधारण्य (सादृश्य) है, अतः उनमें अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि अतिव्याप्ति के परिहार की इच्छा से अन्वयव्यतिरेक से सपक्षविपक्षसाधा-

साधारणमनैकान्तिकमित्युच्यते तदा अन्वयव्यतिरेकयोः प्रत्येकमिलितविकल्पानुपपत्त्या अव्यापकत्वापातः ॥७२॥

स्यादेतत्-स्वस्वाभावविरोधाश्रयाश्रितसपक्षविपक्षत्वं सपक्षविपक्षसाधारण्यं विवक्षितमेवं नाव्याप्त्यतिव्याप्ती इति। तदप्यसत्। तथाह्यस्तु तावत्सर्वपदविशेषणोपादानानुपादानपक्षोक्तदोषापातः, सर्वशब्दोपादाने धूमानुमानादौ प्रसङ्गश्च। स्वस्वाभावविरोधशब्दार्थस्याप्येकस्यानुगतस्यासम्भवेन लक्षणानुगमाभावो दोषः, तत्तदभावयोर्हि विरोधः सहानवस्थाम्, अनवस्थानञ्चावस्थानप्रतिषेधो, नच तद्भावस्याभावस्वरूपादन्यत्, नचाभावस्याप्यनवस्थानं भावस्वरूपादन्यत्, किन्तु तदेव भावस्य स्वरूपं तत्र स्वस्वाभावविरोधाश्रय इत्यस्य नार्थैक्यं किञ्चिन्मृग्यमाणमवाप्यते। स्वस्वाभावविरोधाश्रय इति वचनं विचारमर्हति। स्वस्वाभावयोर्विरोधविशेषणतया आधेयकोटिनिवेशात् विशेषणघटितमूर्तित्वाद्विशिष्टपदार्थस्य तदाधारत्वानुपपत्तेः। अतिव्यापकता च स्यात्। अन्वयमादाय सपक्षे, व्यतिरेकमादाय विपक्षे, वर्त्तमानस्याप्युक्तलक्ष-

---

रणय अनैकान्तिक है तो, यदि केवल अन्वय से साधारण्य की विवक्षा करें तो, असाधारण में और यदि केवल व्यतिरेक से साधारण्य की विवक्षा करें तो, साधारण में और यदि दोनों से साधारण्य की विवक्षा करें तो, उभयत्र अव्याप्ति हो जायगी ॥७२॥

समर्थन—जिस हेतु का सपक्षविपक्ष, हेतु और हेत्वभाव के विरोध के आश्रय का आश्रय हो, तत्त्व ही सपक्ष विपक्ष साधारण्य है, अतः अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—यह भी युक्त नहीं है, कारण कि सपक्षविपक्ष के विशेषण रूप से "सर्व" का उपादान करेंगे वा नहीं ? प्रथमपक्ष में, "शब्दो न नित्यः, प्रत्यक्ष-ग्राह्यत्वात्" इस साधारण में अव्याप्ति हो जायगी। द्वितीयपक्ष में तथा प्रथम में भी पक्ष, सपक्ष को धूम धूमाभाव के विरोध के आश्रय का आश्रय होने से "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस सत् हेतु में अतिव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च स्वस्वाभाव विरोध शब्द के अनुगत एक अर्थ के असम्भव होने से लक्षण के अनुगम का अभाव हो जायगा, देखिये—प्रतियोगी और अभाव का विरोध सह अनवस्थान ही है और यह अनवस्थान अवस्थान का प्रतिषेधरूप है, वह भाव का अनवस्थान अभावस्वरूप से अन्य नहीं है, किन्तु अभावस्वरूप ही है और अभाव का अनवस्थान भावस्वरूप से अन्य नहीं है, किन्तु भावस्वरूप ही है, अतः स्वस्वाभाव विरोधाश्रय शब्द का अन्वेषण करने पर भी एक अर्थ प्राप्त नहीं होता है।

किञ्च स्वस्वाभाव विरोधाश्रय—यह वचन भी विचारणीय है। स्वस्वाभाव का विरोध में विशेषण होने से आधेयकोटि में निवेश है, विशिष्टपदार्थ विशेषण से घटितमूर्त्तिक होता है और स्वस्वाभावविशिष्ट विरोध का आश्रय स्वस्वाभाव नहीं हो सकता है, कारण कि अंशतः आत्माश्रय होने से स्व का स्व आश्रय नहीं हो सकता है।

किञ्च सद्धेतुमात्र में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि वहाँ भी स्व (हेतु) से आश्रित सपक्ष और स्वाभाव से आश्रित विपक्ष हैं। यदि स्वस्वाभाव से अविशेषित विरोधाश्रयाश्रित सपक्षविपक्षत्व का अभिधान करें तो, सम्पूर्ण अनुमान में अतिव्याप्ति हो

णोपेतत्वात्। स्वस्वाभावाविशेषितस्य तु विरोधस्याश्रयेऽभिधीयमाने सर्व्वानुमानव्यापकत्वमनैकान्तिकलक्षणस्यापतेत् ॥७३॥

न च वाच्यं स्वस्वाभावोपलक्षितो विरोधोऽभिमतः, तेन विशेषणपक्षोक्तदोषस्य नावकाश इति, यतः स्वस्वाभावाभ्यां विरोधमात्रं वा लक्ष्यते तद्व्यक्तिर्वा काचित्। आद्ये यदेव स्वस्वाभावाभ्यां लक्षितं विरोधमात्रं तदेवान्यदपीत्युक्ताऽतिव्याप्तिस्तदवस्थैव, स्वस्वाभावपदोपादानवैयर्थ्यञ्च। अथ द्वितीयस्तदा लक्षणस्याननुगमः, एकस्य विरोधव्यक्तिविशेषस्यात्र परिगृहीतस्यापरविरोधव्यक्त्यनात्मत्वात्। अथ यावत्योऽपेक्षिता विरोधव्यक्तयस्ता उपलक्ष्यन्त इत्युच्यते, किन्नोपलक्ष्यन्ते, किन्तु किं केनचिदनुगतेन रूपेण, उत प्रतिस्वं व्यावृत्तेनात्मना। प्रथमे तदेवोच्यतां किमुपलक्षणोपन्यासप्रयासेन। न च तत्सम्भवति विरोधमात्रस्यातिप्रसञ्जकत्वात्, प्रतिस्वं व्यावृत्तेन व्यक्तीनामात्मनोपलक्ष्यत्वे तथैव तासां लक्षणप्रवेश इति मिलितानां लक्षणत्वे सर्व्वाव्याप्तिः, प्रत्येकं लक्षणत्वे परस्परोदाहरणाव्याप्तिः ॥७४॥

जायगी, कारण कि हेतुमात्र में अभेद के विरोध के आश्रयभेद से आश्रित सपक्षविपक्षत्व हैं ॥७३॥

समर्थन—स्वस्वाभाव से उपलक्षित जो विरोध तदाश्रयाश्रित सपक्षविपक्षत्व—लक्षण है, अतः विशेषण पक्ष में उक्त दोष नहीं है।

खण्डन—स्वस्वाभाव से विरोधमात्र उपलक्षित होता है अथवा कोई एकव्यक्ति उपलक्षित होती है। आद्यकल्प में स्वस्वाभाव से उपलक्षित विरोध के आश्रय सद्धेतु में अतिव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च स्वस्वाभाव का निवेश व्यर्थ हो जायगा और द्वितीयकल्प में लक्षण का अननुगम हो जायगा, कारण कि लक्षण में प्रविष्ट जो एक विरोध व्यक्ति वह अन्यत्र नहीं है। यदि कहें कि अनैकान्तिक हेतु में अपेक्षित यावत् विरोध व्यक्ति हैं, वे सब स्वस्वाभाव से उपलक्षित होती हैं तो यह कथन युक्त है, परन्तु यह कहिये कि किसी अनुगतरूप से संगृहीत तावद् व्यक्ति का उपलक्षण है, अथवा प्रतिव्यक्ति भिन्न एक २ का उपलक्षण है? प्रथमपक्ष में उसी अनुगतरूप को कहिये उपलक्षण में व्यर्थ प्रयास क्यों करते हैं। अनुगतरूप का सम्भव नहीं है और विरोधमात्र अन्यत्र भी है। यदि प्रतिव्यक्ति में विद्यमान अन्य व्यक्ति से व्यावृत्त किसी स्वरूप को उपलक्षण मानें तो जिस रूप से उपलक्षित मानें उसी रूप से लक्षण में प्रवेश होगा और यदि सम्पूर्ण व्यक्ति का लक्षण में प्रवेश करें तो सब विरोधव्यक्ति कहीं भी नहीं है, अतः असम्भव हो जायगा और यदि एक व्यक्ति का लक्षण में प्रवेश करें तो अन्यत्र अव्याप्ति हो जायगी ॥७४॥

समर्थन—सपक्ष में हो विपक्ष में ही जो न रहता हो, वह अनैकान्तिक है—ऐसा लक्षण मानने पर साधारण असाधारण दोनों का संग्रह हुआ।

खण्डन—सद्धेतु धूम में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि धूम विपक्ष में सर्वथा न रहने से विपक्ष में ही नहीं है और पक्ष में होने से सपक्ष में ही नहीं है।

समर्थन—पक्षवृत्ति जो हेतु सपक्ष में हो, विपक्ष में ही न रहता हो वह अनैकान्तिक है

स्यादेतत्-सपक्ष एव विपक्ष एव वर्त्तते न यः सोऽनैकान्तिक इति लक्षणमस्तु, तेन साधारणासाधारणानैकान्तिकोदाहरणव्याप्तिर्भवतीति। एतदप्यलक्षणम्। सद्धेतौ धूमादावपि गतत्वात्। नह्यसौ विपक्ष एव वर्त्तते, सर्वथा तत्राप्रवृत्तेः, नापि सपक्ष एव, पक्षेऽपि वर्त्तमानत्वात्। अथ पक्षवृत्तिरिति विशेषयसि तथापि सद्धेतोरपरित्यागः। पक्षवृत्तित्वादेव सपक्ष एव वृत्तेरभावात्। असिद्धानैकान्तिकसङ्कराव्याप्तिश्च। अथ पक्षव्यतिरिक्त इति विशेषणं प्रक्षिपसि, तदानीमप्रसक्तव्यावर्त्तनमनुपपन्नम्। न हि पक्षाव्यतिरिक्तः सपक्षो विपक्षो वा सम्भवतीति सपक्षस्य विपक्षस्य च कुतश्चिदव्यावर्त्तकं विशेषणमेवेदं तयोः कथं घटेत। अथ पक्षव्यतिरिक्ते वर्त्तमान इति विशेषयसि तदानीमसाधारणाव्याप्तिः, नासौ पक्षव्यतिरिक्ते वर्तमानः। अथ पक्षव्यतिरेकेणेति विशेषणमुपादत्से, तदाऽपि पक्षव्यतिरेकस्य पक्षविरहरूपस्योपलक्षणत्वं हेतुत्वं वा द्वयमपि पक्षमात्रवृत्तावसाधारणानैकान्तिके न सम्भवति पक्षविरहस्य तत्राऽसम्भवादेव। निषेध्यविशेषणत्वे तस्य सद्धेतौ गमनं स्यात् ॥७५॥

खण्डन—फिर भी सद्धेतु में ही अतिव्याप्ति है, कारण कि पक्षवृत्ति होने से सपक्ष में ही नहीं वृत्ति है। किञ्च "शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात्" इस असिद्ध और नित्य अभाव में वृत्ति होने से अनैकान्तिक के सङ्कर में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि हेतु पक्षवृत्ति नहीं है।

समर्थन—पक्षव्यतिरिक्त सपक्ष में ही विपक्ष में ही जो न रहता हो, वह अनैकान्तिक है।

खण्डन—पक्षव्यतिरिक्त विशेषण व्यर्थ है, कारण कि यदि कहीं पक्षरूप सपक्ष-विपक्ष होता तो उसकी व्यावृत्ति के अर्थ पक्षव्यतिरिक्त विशेषण सार्थक होता, पक्षव्यतिरिक्त सपक्ष विपक्ष हैं नहीं, अतः पक्षव्यतिरिक्त विशेषण व्यर्थ है।

समर्थन—पक्षव्यतिरिक्त में वर्त्तमान जो हेतु पक्ष में ही विपक्ष में ही न रहता हो वह अनैकान्तिक है।

खण्डन—ऐसा लक्षण होने पर असाधारण में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि वह पक्षव्यतिरिक्त में वर्त्तमान नहीं है।

समर्थन—पक्षव्यतिरेकेण पक्ष में ही विपक्ष में ही जो न रहता हो वह अनैकान्तिक है।

खण्डन—पक्षव्यतिरेक पक्ष का अभावरूप है, उसका उपलक्षणत्व या हेतुत्व दोनों पक्षमात्रवृत्ति असाधारण में नहीं हो सकते हैं; कारण कि असाधारण हेतु में पक्षविरहत्व है नहीं, पुनः वह उपलक्षण या हेतु होगा कैसे।

यदि कहें कि पक्षव्यतिरेकेण इस तृतीयार्थ उपलक्षणत्व वा हेतुत्व का व्यावर्त्य सद्धेतु और विरुद्ध में अन्वय है, तो सद्धेतु में पूर्वोक्त प्रकार से अतिव्याप्ति हो जायगी ॥७५॥

समर्थन—पक्षव्यतिरिक्त में यदि रहता हो तो जो सपक्ष में ही विपक्ष में ही न रहता हो, वह अनैकान्तिक है—ऐसा होनेपर असाधारण का संग्रह और सद्धेतु का वारण दोनों हुए।

खण्डन—यदि आप ऐसा मानते हैं तो अतिभ्रम में हैं, कारण कि इससे साधारण असाधारण दोनों का भी संग्रह नहीं हुआ। देखिये—असाधारण में यदि पक्षव्यतिरिक्त में

एतेन पक्षं विना पक्षमन्तरेणेत्याद्यक्तैर्विशेषाभिधानमपास्तम्। अथ यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्त्तते तदा सपक्ष एव विपक्ष एव न वर्त्तते यः सोऽनैकान्तिकः, तथा सत्यसाधारणस्यापि व्याप्तिः सद्धेतौ चाप्रसक्तिरिति मन्यसे ? तदा भ्रान्तोऽसितराम्। एवं सति नोभयस्यापि सङ्ग्रहः। असाधारणे तावद्यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तत इत्येतन्न सम्भवति, तस्य पक्षमात्रवृत्तेः कदाचिदपि पक्षव्यतिरिक्तवृत्तिसम्भावनानुपपत्तेः। साधारणेऽपि निश्चितसपक्षविपक्षवृत्तौ यदर्थं न पश्यामो यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तत इति, न हि निश्चितवृक्षभावायां शिंशपायां प्रयुज्यते यदि शिंशपावृक्षः स्यादिति, तत्कस्य हेतोः संशयोपस्थापितात् कोटिद्वयादेकस्यां कोटौ तदाश्रये किञ्चिद्धर्मोपदर्शनार्थमारोप्यमाणायां यदीति प्रयुज्यते ननु निश्चित एव वस्तुनि, तस्मादसाधारणानैकान्तिकसङ्ग्रहाय यदीत्याद्युपात्तं तन्न साधारणमपि समग्रहीत् ॥७६॥

अथ विपक्ष एव सपक्ष एव यो हेत्वाभासः सोऽनैकान्तिक इति मन्यसे तदप्यनुपपन्नम्। अनैकान्तिकत्वमनिश्चित्याग्रत एव हेत्वाभासत्वावधारणे तत एव हेतोरसाधकत्वं सिद्धमिति कृतं तदुपजीविनाऽनैकान्तिकत्वोपन्यासेन। अथाग्रे हेत्वाभासत्वं नावधार्य्यते तदा लक्षणस्य दुरवधारणत्वं विशेषणस्य हेत्वाभासत्वस्यानवधारणात् ॥७७॥

रहता हो—यह अंश समन्वित नहीं होता है। वह पक्षमात्रवृत्ति है कदापि पक्षव्यतिरिक्तवृत्तित्व की सम्भावना नहीं है। साधारण में भी सपक्षवृत्तित्व निश्चित है। अतः यदि पक्षव्यतिरिक्त में रहता हो, इस "यदि" शब्द का अर्थ हम नहीं देखते, कारण कि जिसमें वृत्तित्व निश्चित हो उस शिंशपा में—शिंशपा यदि वृक्षः स्यात्,—यह वाक्य नहीं कहते हैं। निश्चय होने पर यदिघटित वाक्य न बोलने का कारण यह है कि संशय से उपस्थापित कोटिद्वय के मध्य में एक कोटि के विषय में किसी धर्म के आरोप के अर्थ यदि शब्द का प्रयोग होता है। निश्चित वस्तु में यदि का प्रयोग नहीं होता है, तस्मात् असाधारण अनैकान्तिक के संग्रह के अर्थ प्रयुक्त यदि शब्द ने साधारण का भी संग्रह नहीं किया ॥७६॥

समर्थन—सपक्ष में ही विपक्ष में ही न रहता हो जो हेत्वाभास वह अनैकान्तिक है।

खण्डन—अनैकान्तिकत्व के निश्चय के विना ही प्रथम ही हेत्वाभासत्व का यदि अवधारण है तो उससे ही हेतु में असाधकत्व सिद्ध है, अतः हेत्वाभासत्व से घटित अनैकान्तिक लक्षण व्यर्थ है और यदि प्रथम हेत्वाभासत्व अनिश्चित है तो विशेषण के अनिश्चय से लक्षण का ज्ञान नहीं होगा ॥७७॥

समर्थन—असिद्ध, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, बाध से अन्य हेत्वाभास अनैकान्तिक हैं।

खण्डन—यह लक्षण भी हेत्वाभास से घटित होने से पूर्वोक्त प्रकार से असङ्गत ही है, किञ्च असिद्ध से सङ्कीर्ण अनैकान्तिक (शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्) में असिद्ध से अन्यत्व न होने से अव्याप्ति हो जायगी।

प्रश्न—अनैकान्तिक का लक्षण समन्वित न हो—हानि क्या है। असिद्ध होने से ही वह अनुमति का साधक नहीं होगा।

अथ ब्रूपे—असिद्धविरुद्धप्रकरणसमकालात्ययापदिष्टादन्यो हेत्वाभासोऽनैकान्तिक इति, तदप्युक्तन्यायेनैव निरस्तम्। किञ्चैवमसिद्ध्यादिसङ्कीर्णस्यानैकान्तिकस्य न सङ्ग्रहः स्यात्। न च तदसिद्धादित्वादेवाहेतुर्भविष्यतीति वाच्यम्। इतरानैकान्तिकवद्विपक्षगतत्वादिनाऽप्युद्भावने दोषत्वसम्भवात् ॥७८॥

उत्तर—शुद्ध अनैकान्तिक के तुल्य असिद्धत्व से सङ्कीर्ण अनैकान्तिक भी विपक्षगतत्वरूप से जहाँ उद्भावित होता है, वहाँ दोष कहाता है। वह उस रूप से दोष न कहावेगा ॥७८॥

समर्थन—साधारणत्व असाधारणत्व का जो अभाव उससे विशिष्ट से अन्य अनैकान्तिक है।

खण्डन—व्यतिरेकद्वय विशेषण है वा उपलक्षण? प्रथम पक्ष में व्यतिरेकद्वय विशेषण से अन्य विशेषण (व्यतिरेकद्वय) तथा विशेष्य (सद्धेतु) भी है, अतः उनमें अतिव्याप्ति हो जायगी और उपलक्षण पक्ष में व्यतिरेकद्वय से उपलक्षित जो विशेष्य (सद्धेतु आदि) उससे अन्य विशिष्ट भी हुआ, कारण कि विशिष्ट और शुद्ध (विशेष्य) में भेद है, जो शुद्ध है, तन्मात्र ही विशिष्ट नहीं है।

समर्थन—यद्यपि विशिष्ट से शुद्ध का भेद है, कारण कि केवल विशेष्य में विशिष्ट की प्रतीति नहीं होती है, तथापि अभेद भी है, कारण कि वस्तुतः विशेष्य ही विशिष्ट भी है, अतः व्यतिरेकद्वय से उपलक्षित जो शुद्ध उससे [अभेद होने से] अन्य विशिष्ट नहीं है।

खण्डन—भेद भी तो है, अतः उपलक्षित विशेष्य से विशिष्ट के अन्य होने से विशिष्ट में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—उपलक्षित से अत्यन्त भेद लक्षण में घटित है और उपलक्षित से अत्यन्त भेद विशिष्ट में नहीं है।

खण्डन—शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्, इस संकीर्ण अनैकान्तिकस्थल में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि व्यतिरेकद्वय से उपलक्षित जो असिद्ध उससे अत्यन्त भेद चाक्षुषत्व में नहीं है।

किञ्च व्यतिरेकद्वय से उपलक्षित व्यक्ति अनन्त हैं अर्थात् सम्पूर्ण में अनुगत प्रतियोगितावच्छेदक धर्म नहीं है, अतः तत्प्रतियोगिक भेद का अवधारण अशक्य है, कारण कि प्रतियोगी के अनन्त होने से भेद भी अनन्त है।

यदि उपलक्षित कतिपय व्यक्ति से अन्यत्व का लक्षण में प्रवेश करें तो उपलक्षित कतिपय सद्धेतु—आदि से अन्य होने से कतिपय सद्धेतु—आदि में अतिव्याप्ति हो जायगा।

खण्डन—साधारणत्वासाधारणत्वव्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्व ही अनुगत प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म्म है, अतः उक्त दोष नहीं है।

खण्डन—उक्त व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वरूप धर्म व्यतिरेकद्वय में नहीं है, अतः उक्त व्यतिरेकद्वय का प्रतियोगिकोटि में प्रवेश न होने से व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वावच्छिन्नप्रतियोगिक (अभाव) रूप उक्तलक्षण की उक्त व्यतिरेकद्वय में अतिव्याप्ति हो जायगी।

इसी प्रकार से जिस पुरुष ने वाण आदि गोपदवाच्य को नहीं देखा है, उस पुरुष से कृत गोपदवाच्यत्व हेतु से वाण में विषाणित्व की अनुमिति उचित हो जायगी कारण कि गोपदवाच्यत्वरूप हेतु अश्वादि विपक्ष में न होने से साधारण नहीं है। तथा

अथ मन्यसे-साधारणत्वासाधारणत्वयोर्व्यतिरेकाभ्यां मिलिताभ्यां विशिष्टादन्यत्वं साधारणासाधारणानैकान्तिकव्यापि सामान्यलक्षणमस्तु। मैवम्। यदि व्यतिरेकद्वयविशिष्टादन्यत्वं तर्हि तस्य विशिष्टस्य विशेष्ये विशेषणे च इदमस्तीत्यतिव्याप्तिः। यदि व्यतिरेकद्वयवचोपलक्षणं तदोपलक्ष्यस्वरूपाणां यदि भेदेनैवोपलक्ष्यता तदा व्यतिरेकोऽप्यविशिष्टे तस्मिन्नस्ति। न हि यदेवाविशिष्टं तन्मात्रं विशिष्टमेवमभेदेनापि। भेदाभेदात्तदेयाति चेन्न। अतद्पीति प्रसङ्गतादवस्थ्यात्। ततोऽन्यन्तान्यत्वं लक्षणमिति चेन्न। असिद्धयादिसङ्कीर्णानैकान्तिकोदाहरणाव्यापनात्। स्वरूपाणाञ्चानन्त्येन तत्प्रतियोगिकान्यत्वावधारणस्याशक्यता, तेषामानन्त्यात्। तन्मध्यपतितकतिपयान्यत्वे चान्यत्र कतिपये प्रसङ्गतादवस्थ्यात्। उपलक्षणत्वे चोभयव्यतिरेकस्यान्यत्वप्रतियोगिकोव्यप्रवेशेन तत्सङ्गृहीतव्यतिरेकपक्षतापातात्। एवञ्चादृष्टत्राणादिना गोत्वादेवम्भूताद्घ्राणादिविषाणित्वानुमानौचित्यापातात्। हेत्वाभासान्तरमप्येवं किन्न सङ्ग्राहीति वासनायां यदेवानयोरितरेभ्यो वैधर्म्यं वाच्यं तस्यैव लक्षणस्य निर्वचनतापत्तेरिति ॥७९॥

असिद्धत्वादिप्रकारादन्येन प्रकारेण हेत्वाभासोऽनैकान्तिक इति चेत्, वाच्यस्तर्हि स प्रकारः कस्यान्यथा ततस्ततोऽन्यत्वं ज्ञेयम्। किञ्चैवं तर्हि असिद्धत्वादन्यदनैकान्तिकमिति कृत्वा विरुद्धादीनामनैकान्तिकत्वेनैव सङ्ग्रहे शक्ये विरुद्धादिवद्रूपान्तरासङ्ग्राह्ययोः साधारणासाधारणयोरेव यदनेन प्रकारेण सङ्ग्रहमकार्षीस्तत्र नियतं रुचिरेव भवतो नियन्त्री। यदा च त्वमसिद्धादिव्यतिरिक्ततयाऽनैकान्तिकं

सपक्ष गो में होने से असाधारण नहीं है। अतः साधारणत्व—असाधारणत्वव्यतिरेकद्वय से उपलक्षित से अन्यत्वरूप अनैकान्तिक नहीं है और प्रथम से विषाणित्व के अनिश्चय होने से बाधित नहीं है।

किञ्च इसी प्रकार से साधारणत्व असाधारणत्व असिद्ध व्यतिरेक से उपलक्षित से अन्यत्व अनैकान्तिक है—ऐसा लक्षण कर असिद्ध का भी अनैकान्तिक में संग्रह क्यों न माना जाय, ऐसी शंका होने पर साधारण असाधारण में इतर (विरुद्ध) से वैलक्षण्य अवश्य कहना पड़ेगा, तब वही वैलक्षण्य लक्षण क्यों न माना जाय ॥७९॥

समर्थन—असिद्धत्व आदि प्रकार से अन्य प्रकार से जो हेत्वाभास हो वह अनैकान्तिक है।

खण्डन—वह प्रकार वक्तव्य है। यदि वह प्रकार न कहें तो उससे अन्यत्व किसमें जाना जायगा। किञ्च असिद्ध से अन्य हेत्वाभास अनैकान्तिक है—ऐसा लक्षण कर विरुद्धादि के अनैकान्तिकत्वरूप से संग्रह के शक्य होने पर भी विरुद्ध के तुल्य रूपान्तर (अन्य लक्षण) से असंग्राह्य साधारण असाधारण का ही जो संग्रह किया है, उसमें आपकी रुचि ही प्रमाण रही। किञ्च जब असिद्धादि व्यतिरिक्तत्वरूप से अनैकान्तिक के लक्षण को आप करते हैं, तो जबतक असिद्धादि का भेदक धर्म अर्थात् असिद्ध का लक्षण ज्ञात न हो, तब तक अन्यत्व से घटित अनैकान्तिक का लक्षण हो नहीं सकता और यदि असिद्धि आदि

लक्षयसि, तदाऽसिद्धादिभेदकं प्रकारमनवगम्य तदन्यत्वमशक्याधिगममिति तदभिधाने प्रसक्ते तदाश्रया ये दोषा दर्शितास्तैः स्मृतिव्यतिरिक्तलोक्तदोषैश्च निराकर्त्तव्योऽसि ।८०।

साध्येनाव्याप्यत्वे सति तदभावाव्याप्तोऽनैकान्तिक इत्यपि न । साध्याविशिष्टेऽपि गतत्वात् । विशेषणीभूतसाध्याव्याप्यत्वावगमाच्च । प्राथमिकाव्याप्यत्वासिद्धिरेवोपजीव्यादूषणं स्यात् । विशेषणांशस्यैव चासाधकत्वसाधनसामर्थ्याद्व्यर्थविशेष्यताऽपि । वस्तुगतिव्यापकवन्मात्रपर्य्यवसायिनि तदभाववन्मात्रपर्य्यवसायिनि वा तत्कालसन्दिह्यमानान्यतरव्यापकत्वे शब्दोऽनित्यः श्रोत्रविशेषगुणत्वादित्यादावसाधारणे व्यावृत्तत्वाच्च । वस्तुतः साध्याव्याप्ते तत्कालेऽपि च सत्प्रतिपक्षतयाऽनिर्द्धारितसाध्यव्याप्तिके प्रकरणसमे गतत्वाच्च । एतेनानैकान्तिकः सव्यभिचार इति प्रत्युक्तं वेदितव्यम् । सव्यभिचारस्योक्तप्रकाराधिकस्य निर्वक्तुमशक्यत्वादिति ॥ ८१ ॥

अपि चोक्तलक्षणविशेषणेन प्रमाणव्यवच्छेदकादन्येन किं व्यवच्छेद्यम् ? केनचित् सत्प्रतिपक्षः केनचिदन्य इति चेत् ।

की निरुक्ति करें, तो असिद्धि आदि के लक्षण में पूर्वोक्त दोष भी प्राप्त होंगे । किञ्च स्मृतिव्यतिरिक्तत्वघटित अनुभव लक्षण में उक्त दोष का भी प्रसङ्ग होगा ॥८०॥

समर्थन—साध्य का अव्याप्य होकर साध्याभाव का जो अव्याप्य हो वह अनैकान्तिक है । सद्धेतु में अतिव्याप्ति न हो इस अर्थ साध्याव्याप्यत्व का निवेश है और विरुद्ध में अतिव्याप्ति न हो इस अर्थ साध्याऽभावाऽव्याप्यत्व का निवेश है ।

खण्डन—"शब्दोऽनित्यः अनित्यत्वात्" इस स्थल में जहाँ साध्य से अविशिष्ट—अभिन्न अर्थात् साध्य ही हेतु है वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी । किञ्च यहाँ साध्याव्याप्यत्वरूप विशेषण का ज्ञान विशिष्ट अनैकान्तिक के ज्ञान का उपजीव्य है, अतः साध्याऽव्याप्यत्वरूप व्याप्यत्वासिद्धि ही दोष रहे, विशिष्ट को दोष मानना व्यर्थ है । किञ्च जब विशेषणमात्र ही हेतु में असाधकत्व के साधन में समर्थ है तब विशेष्य दल का उपादान व्यर्थ है । किञ्च जहाँ पक्ष में व्यापक (साध्य) मात्र हो अथवा व्यापकाऽभावमात्र हो, परन्तु उस काल में सन्देह हो कि हेतु साध्य का व्याप्य है वा साध्याभाव का व्याप्य है, वहां—शब्दोऽनित्यः श्रोत्रविशेषगुणत्वात्-इस असाधारण में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि यदि साध्य का अव्याप्य हो तो साध्याभाव का अव्याप्य नहीं होगा ।

किञ्च जिस—शब्दोऽनित्यः पक्षसपक्षान्यतरत्वात्—इत्यादि स्थल में वस्तुतः हेतु साध्य का अव्याप्य है, परन्तु उस काल में—शब्दो नित्य; श्रोत्रग्राह्यत्वात्—इससे सत्प्रतिपक्षित होने से साध्याव्याप्यत्व अनिर्धारित है, उस सत्प्रतिपक्ष में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि अज्ञानकाल में भी वस्तुतः साध्य का अव्याप्यत्व है ही ।

इससे सव्यभिचार अनैकान्तिक है—यह लक्षण खण्डित जानना चाहिये, कारण कि उक्त प्रकारों से अधिक सव्यभिचार के प्रकार का निर्वचन हो नहीं सकता और उक्त प्रकार खण्डित ही है ॥ ८१ ॥

इति सव्यभिचारखण्डन

कः पुनः सत्प्रतिपक्षः । तथा हि—सत्प्रतिपक्षलक्षणमनुयुक्तो यथाह–समानबलबोधितसाध्यविपर्य्ययको हेतुत्वेनाभिमतः सत्प्रतिपक्ष इति । तन्न तथा हि–किमिह बलं विवक्षितम् । सामर्थ्यमिति चेत् , तत्कुत्र कार्य्येऽभिमतं, न तावत्सर्व्वस्मिन्नेव कार्य्ये, सत्प्रतिपक्षहेत्वोर्भिन्नविषयबुद्ध्यादिजनकतया सर्व्वकार्य्ये समशक्तिकताया असम्भवात् । नापि यत्र क्वचित् कार्य्ये प्रकृतसाध्यं प्रति प्रतीयमानासिद्धत्वादिदोषेणापि प्रमेयत्वप्रतिपादनादौ समर्थेन प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षताप्रसक्त्या सर्व्वहेतूनां शक्यप्रकरणसमहेत्वाभासत्वापत्तेः । नापि पूर्व्वहेतुसाध्याभावबोधनरूपे कार्य्ये, उत्तरहेतोरेवमसत्प्रतिपक्षत्वे स्वसाध्यसाधकतापत्तेः । प्रतिहेतोरिति चेन्न, तत्प्रतिहेतोरसामर्थ्यादेव समशक्तिकत्वानुपपत्तेः । इत्थमेव न हेतुसाध्यस्य विपर्य्ययबोधनेऽपि ॥ ८२ ॥

अथ सत्प्रतिपक्षखण्डन

अपिच उक्त असिद्ध विरुद्ध प्रकरणसम कालात्ययापदिष्ट से अन्य हेत्वाभास अनैकान्तिक है इस लक्षण में हेत्वाभास विशेषण से प्रमाण का व्यवच्छेद होता है, परन्तु अन्य विशेषणों का क्या व्यवच्छेद्य है ? यदि कहें कि किसीका सत्प्रतिपक्ष और किसीका अन्य तो सत्प्रतिपक्ष ही क्या वस्तु है, अर्थात् लक्षण न होने से अनिर्वचनीय है, अतः व्यवच्छेद्य न होने से विशेषण व्यर्थ है ।

समर्थन—जिस हेतु के साध्य का अभाव समान बल से युक्त प्रतिहेतु से बोधित हो, ऐसा जो हेतुत्वरूप से अभिमत वह सत्प्रतिपक्ष है ।

खण्डन—यह युक्त नहीं है । देखिये—यहां बल क्या वस्तु है । यदि कहें कि सामर्थ्य बल है तो वह सामर्थ्य किस कार्य्य में, यदि कहें कि सब कार्य में तो युक्त नहीं है, कारण कि सत्प्रतिपक्ष हेतुभिन्नविषयक स्वस्वसाध्यविषयक बुद्धि के जनक होने से सब कार्यमें समशक्तिवाले नहीं हैं और यदि कहें कि जिस किसी कार्य में समान बल युक्त हों, तो प्रकृतसाध्य के प्रति असिद्धत्व आदि दोष ज्ञात होने पर भी प्रमेयत्व साधन में समान बल से युक्त प्रतिहेतु से भी सत्प्रतिपक्षत्व के होने से सब हेतु सत्प्रतिपक्षित हो जाँयगे ।

समर्थन—पूर्व हेतु का जो साध्य उसके अभावरूपकार्य में समान बल से युक्त उत्तर हेतु से बोधित है साध्याऽभाव जिस पूर्व हेतु का वह सत्प्रतिपक्ष है ।

खण्डन—ऐसा होने पर उत्तर हेतु के असत्प्रतिपक्षित होने से वह उत्तर हेतु स्वसाध्य का साधक हो जायगा ।

समर्थन—प्रतिहेतु का जो साध्य उसका अभाव रूप जो कार्य्य उसमें समान बल से युक्त हेतु से बोधित साध्यविपर्य्यय जिस हेतु का हो ऐसा प्रतिहेतु सत्प्रतिपक्ष है । पूर्व और उत्तर दोनों हेतु हैं तथा परस्पर प्रतिहेतु हैं, अतः उत्तर हेतु भी सत्प्रतिपक्षित होता है ॥

खण्डन—सत्प्रतिपक्षस्थल में दोनों हेतुओं का परस्पर साध्य के अभाव का बोधनरूप कार्य व्यवस्थित है, अतः एक कार्य में दोनों का समान बल नहीं है, इसी प्रकार हेतु का जो साध्य उसके अभाव के बोधनरूप कार्य्य में समान बल से युक्त प्रतिहेतु से बोधित है साध्य विपर्य्यय जिसका, वह हेतु सत्प्रतिपक्ष है—यह लक्षण भी खण्डित जानना चाहिये ॥८२॥

अथोच्यते-स्वकीये स्वकीये प्रकृतसाध्ये यत् सामर्थ्यं पक्षसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वाबाधितविषयत्वलक्षणं तत् सत्प्रतिपक्षहेत्वोस्तुल्यं तदभिप्रायेणेदं समबलाभिधानं, तेनेदमुक्तं भवति पक्षसपक्षसत्वविपक्षव्यावृत्तत्वाबाधितविषयत्वैस्तुल्येन बोधितसाध्यव्यतिरेकः सत्प्रतिपक्ष इति, नैतदपि युक्तम्। प्रतीयमानभागासिद्धत्वेनापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गात्। कियत्यपि पक्षे सत्त्वेन तस्य पक्षसत्वभावात्। नचैष्टव्यमेव भागासिद्धेनापि सत्प्रतिपक्षत्वं, प्रतीयमानदोषान्तरेणापि तथा सति सत्प्रतिपक्षत्वस्यैष्टव्यत्वापत्तेः हेत्वाभासान्तरत्वाविशेषात्। न च सर्वपक्ष इति कृते नायं दोष इति वाच्यम्। यत्रैक एव पक्षः प्रतिहेतौ तस्य सत्प्रतिपक्षस्याव्यापनात्। तत्र पक्षस्य सर्वशब्दार्थत्वाभावादेव सर्वपक्षसत्वाभावेनोक्तलक्षणानुपपत्तेः। एतेन यावदित्यपि पक्षविशेषणे दोष उक्तप्रायः ॥८३॥

समर्थन—स्वकीय स्वकीय प्रकृत साध्यरूपकार्य में जो पक्षसपक्षसत्वविपक्षव्यावृत्तत्व अबाधितत्व रूप सामर्थ्य, वह दोनों हेतुओं का तुल्य है, इसी अभिप्राय से समबलत्व का अभिधान है, इससे यह निष्कृष्ट लक्षण हुआ कि पक्ष सपक्ष-सत्य विपक्षव्यावृतत्व अबाधितत्वरूपबल जिनका तुल्य हो, ऐसे हेतुओं से बोधित है साध्यविपर्य्यय जिनके वे हेतु सत्प्रतिपक्ष हैं।

खण्डन—यह भी युक्त नहीं है, कारण कि "परमाण्वाकाशौ नित्यौ नीरूपद्रव्यत्वात् आत्मवत्" इसका, "परमाण्वाकाशौ अनित्यौ भूतमहत्त्वात् घटवत्" इससे (जहाँ भागासिद्धि ज्ञात है वहाँ भी) सत्प्रतिपक्षत्व हो जायगा, कारण कि कुछ एक पक्ष में रहने से भागासिद्ध हेतु में पक्षसत्व है और प्रतीयमान भागासिद्ध से सत्प्रतिपक्षत्व इष्ट नहीं है, अन्यथा प्रतीयमान अन्यदोष से भी सत्प्रतिपक्षत्व हो जायगा, कारण कि अन्यहेत्वाभासों से भागासिद्ध में कोई भेद नहीं है।

समर्थन—सर्वपक्षसपक्षसत्वविपक्षव्यावृत्तत्वअबाधितत्वरूप बल से युक्त हेतु से बोधित है साध्यविपर्य्यय जिनके वह सत्प्रतिपक्ष हैं इस प्रकार पक्ष में "सर्व" विशेषण देने से ज्ञात भागासिद्ध स्थल में सत्प्रतिपक्षत्व नहीं होगा।

खण्डन—जहां एक ही पक्ष है वहां—आकाशं नित्यं नीरूपद्रव्यत्वात् आत्मवत्, आकाशम् अनित्यम् बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणाधिकरणत्वात् इस-स्थल में अव्याप्ति हो जायगी। ऐसे ही पक्ष में यावत्त्व विशेषण भी खण्डित जानना चाहिये ॥ ८३ ॥

किञ्च-आत्मा स्वव्यवहारहेतुप्रकाशः अदृष्टत्वात् घटवत्-इस केवलव्यतिरेकी से-आत्मा प्रत्यक्षः महत्त्वे सति अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वात् घटवत्, इस अन्वयव्यतिरेकी का सत्प्रतिपक्षत्व तथा—विवादाध्यासितं चित्कर्तृकं सावयवत्वात्—इस केवलव्यतिरेकी का—विवादाध्यासितम् अकर्तृकम् शरीराजन्यत्वात्, आत्मवत्-इस अन्वयव्यतिरेकी से सत्प्रतिपक्षत्व नहीं होगा, कारण कि सपक्षसत्वरूपबल उक्तस्थल में तुल्य नहीं है।

समर्थन—उक्त स्थल में अव्याप्ति न हो इस लिये इस पक्षसत्व का लक्षण में निवेश नहीं करेंगे।

खण्डन—सपक्ष सत्व का निवेश न करने पर-'शब्दोऽनित्यः कार्य्यत्वात् घटवत्'-इसका-शब्दोनित्यः आकाशविशेषगुणत्वात्—इससे असाधारणत्व के ज्ञानकाल में भी सत्प्र-

किञ्चान्वयव्यतिरेकिणः केवलव्यतिरेकिणा, केवलव्यतिरेकिणश्चान्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे लक्षणमिदं नास्ति, सपक्षसत्त्वया तुल्यतायास्तत्राभावात् । न च सपक्षसत्त्वया तुल्येनेति लक्षणे तदनुरोधान्न कर्त्तव्यमेव, तथासत्यसाधारणानैकान्तिकतया निश्चितेनापि सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गात् । नचान्वयव्यतिरेकिणैवान्वयव्यतिरेकिणः केवलव्यतिरेकिणैव केवलव्यतिरेकिणः सत्प्रतिपक्षता न व्यत्यासेनापीति नियमोऽभ्युपगन्तुं शक्यः, उभयोरप्यनवगम्यमानदोषान्तरत्वदशायामेकसम्बन्धिनो दोषस्यावश्यम्भावितया कतरस्य व्याप्यत्वपक्षधर्मत्वावगमो मे भ्रान्तिरिति बुद्धिमादाय प्रतिपत्तुर्निश्चयोत्पत्तिप्रतिबन्धमाधातुं केवलव्यतिरेकिणि अन्वयव्यतिरेकिणोऽन्वयव्यतिरेकिणि च केवलव्यतिरेकिणः प्रतिहेतोः सामर्थ्यस्य दुरपवादत्वात् । एतदेव च सत्प्रतिपक्षत्वस्य दोषत्वाभ्युपगमे मूलं यन्नाम व्याप्तिपक्षधर्म्मताप्रमितिरस्मिन् सति न भवितुमर्हतीति ॥ ८४ ॥

अथाभिधत्से-पक्षसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वाबाधितविषयत्वयोगिना बोधितसाध्यविपर्य्ययः सत्प्रतिपक्ष इति । न, निरस्तप्रायत्वात् । पक्षपदे सर्वशब्दविशेषणप्रक्षेपाप्रक्षेपपक्षोक्तदोषस्य केवलव्यतिरेक्यव्यापकत्वस्यापि भावात् । किञ्च सोपाधिमसिद्धभेदं वदतां मते सोपाधितया निश्चीयमानेऽपि सर्वं यथोक्तमिदं लक्षणमस्तीति तेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यात् ॥ ८५ ॥

तिपक्षत्व हो जायगा, कारण कि पक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वअबाधितविषयत्वरूप बल दोनों में तुल्य है ।

समर्थन—अन्वय—व्यतिरेकी से ही, अन्वयव्यतिरेकी का तथा केवल-व्यतिरेकी से ही केवल व्यतिरेकी का सत्प्रतिपक्षत्व होता है विपरीत नहीं होता है ।

खण्डन—जिस काल में दोनों में दोष का अवगम नहीं है, उस काल में एक हेतु में दोष अवश्य हैं, अतः एक हेतु में व्याप्तिपक्षधर्मता का मेरा भ्रम है—इस बुद्धि का आधान (उत्पादन) कर प्रतिपत्ता (स्थापनावादी) की अनुमिति के प्रतिबन्ध के अर्थ केवल व्यतिरेकी में अन्वय—व्यतिरेकी के और अन्वय—व्यतिरेकी में केवल व्यतिरेकी-प्रतिहेतु के भी उपन्यास का वारण शक्य नहीं है । सत्प्रतिपक्ष को दोष मानने का यही मूल है कि सत्प्रतिपक्षत्वज्ञान होने पर व्याप्तिपक्षधर्म्मता की प्रमिति नहीं होती है ॥८४॥

समर्थन—पक्षसपक्षसत्वविपक्षव्यावृत्तत्व अबाधितविषयत्व से योगी हेतु से बोधित है साध्य विपर्य्यय जिसका वह सत्प्रतिपक्ष है ।

खण्डन—यह लक्षण प्रायः पहले ही खण्डित हो चुका है । देखिये—पक्ष में "सर्व" विशेषण न दें तो प्रतीयमान भागासिद्ध से भी सत्प्रतिपक्षत्व हो जायगा और यदि सर्व विशेषण दें तो जहां एक व्यक्तिकपक्ष है वहां अव्याप्ति हो जायगी । किंच जो आचार्य सोपाधिक को असिद्ध भेद मानते हैं, उनके मत में सोपाधिस्वरूप से निश्चित हेतु से भी सत्प्रतिपक्षत्व हो जायगा, कारण कि वहां भी उक्तलक्षण समन्वित होता है ॥८५॥

अथ ब्रूपे—असिद्धविरुद्धानैकान्तिकबाधितविपयत्वहीनेन बोधितसाध्यासत्त्वः प्रकरणसम इति। नैतदपि सुस्थम्, आपाततोऽस्फुरद्दोपेण वस्तुगत्या चासिद्ध्यादि-दोपवता सत्प्रतिपक्षतास्वीकारात् तदव्यापकत्वात्। किञ्च विरुद्धार्थगोचरयोः सत्प्रति-पक्षहेत्वोर्मध्येऽवश्यमन्यतरासिद्ध्यादिदोपेण भवितव्यमन्यथा धर्म्मिणोर्विरुद्धधर्माध्यास-प्रसङ्गात्। तत्रैकस्य व्यवच्छिद्य दोपानिश्चयात्प्रतिहेतावप्यसिद्ध्यादिदोपाशङ्कायामापति-तायामसिद्ध्यादिहीनेनेति लक्षणांशस्यानिश्चयात् लक्षणस्य दुरवधारणत्वम्। न च वाच्यं किमर्थं सत्प्रतिपक्षहेत्वोरन्यतरासिद्ध्यादिकमवश्यमभ्युपेयं, सत्प्रतिपक्षलक्षणदोपदु-ष्टत्वादेव तयोर्न धर्म्मिणोर्विरुद्धधर्माध्यस्तत्वमापत्स्यत इति, यतोऽवश्यं दुष्टे हेतौ व्याप्तेः पक्षधर्म्मताया वाऽभावेन भवितव्यं तत्सत्त्वाभ्युपगमे साध्यसत्ताया अभ्युपगमप्रसङ्गात्। बाधादीनामप्युपाधिख्यापनद्वारा व्याप्त्यादिभङ्ग एव पर्य्यवसानात्॥ ८६॥

सत्प्रतिपक्षत्वादनुमीयमानोऽपि व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गो न विशिष्यैकस्मिन् हेतौ निर्णेतुं शक्यः, अन्यतरस्मिन् व्याप्त्यादिभङ्गेनापि सत्प्रतिपक्षत्वस्योपपत्तेः, अतो विशेष-निष्ठतया तदुन्नयने स्थिते यदि साक्षादसावनधार्य्यते तदानीमसिद्धिः। अथ लिङ्गतो-ऽनुमीयते तदाऽनैकान्तिकादेरन्यतमं दूपणं वस्तुगत्याऽस्ति सत्प्रतिपक्षे, तत्कथमसिद्ध्या-

---

समर्थन—असिद्धत्व, विरुद्धत्व, अनैकान्तिकत्व, बाधितविपयत्व से हीन हेतु से बोधित है साध्यविपर्यय जिसका, वह सत्प्रतिपक्ष है।

खण्डन—यह भी निर्दोष नहीं है, कारण कि आपात से जहाँ दोष का स्फुरण नहीं है, और वस्तुतः असिद्धि आदि दोष हैं उस हेतु से भी सत्प्रतिपक्षत्व होता है, वहां वह लक्षण अव्याप्त हो जायगा, कारण कि वह हेतु असिद्धि आदि से हीन नहीं है।

किंच विरुद्ध अर्थ के साधक सत्प्रतिपक्ष स्थल के दो हेतुओं के मध्य एक में अवश्य असिद्धयादि हैं। अन्यथा (यदि दोनों को सद्धेतु मानें तो) धर्मी में विरुद्ध दो धर्मों को मानना पड़ेगा। उनके मध्य एक में व्यवच्छेद्य (लक्षण में पर्युदस्त) असिद्धादि दोषों के निश्चय होने से प्रतिहेतु में भी असिद्धि की शङ्का है, अतः-असिद्धयादिहीनेन-इस अंश के अनिश्चय होने से प्रायः कहीं भी लक्षण का समन्वय नहीं होगा।

समर्थन—सत्प्रतिपक्षित हेतुओं के मध्य एक में असिद्धादि दोष क्यों मानें, सत्प्रति-पक्षरूपदोष होने से ही विरुद्ध दो धर्मों का अध्यास नहीं होगा।

खण्डन—दुष्ट हेतु में व्याप्ति पक्षधर्मता का अभाव अवश्य रहता है, कारण कि यदि हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता मानें, तो साध्य की सत्ता भी अवश्य माननी पड़ेगी। बोध का भी उपाधि (पक्षेतरत्व आदि) के बोधन द्वारा व्याप्तिभङ्ग में ही तात्पर्य है॥८६॥

सत्प्रतिपक्षत्व से अनुमीयमान भी व्याप्तिपक्षधर्मता का अभाव एक हेतु में विशेषरूप से निश्चयज्ञान का विषय नहीं होता है, कारण कि किसीमें भी व्याप्तिपक्ष-धर्मता के अभाव से सत्प्रतिपक्षत्व की उपपत्ति हो जाती है। इससे एकमें दोष के उन्न-यन के स्थिर होने पर भी यदि सद्भाव दोष अध्यवसित हो तो असिद्धि है और यदि हेतु से अनुमित हो तो अनैकान्तिक आदि दोष हैं, अतः वस्तुतः सत्प्रतिपक्ष में दूषण हैं, फिर

यन्यतमं नाभ्युपेयं तत्र, तस्मात्तस्य तस्य दोपस्य कुत्र द्वयोर्मध्येऽस्तित्वमस्तीत्यन्यतरानिर्द्धारणे प्रतिहेतावपि तच्छङ्कायां सत्यामसिद्ध्यादिहीनेनेति लक्षणांशस्य दुरवधारणत्वं दुष्परिहरमेव ॥ ८७ ॥

स्यादेतत्-अस्तु लक्षणांशस्यासिद्ध्यादिहीनत्वस्यानिश्चयः। संशयोऽपि तावदस्ति तत्संशयेन शङ्कितसत्प्रतिपक्षतादोपग्रस्तत्वादेवासाधकत्वं दूष्यानुमानस्य शङ्कितोपाधाविवासिद्धिशङ्कया। न च यामसिद्ध्यादिशङ्कामुपजीव्य सत्प्रतिपक्षादिशङ्कादोपः स्यात् सैव तदा दोप इति वाच्यम्। असिद्ध्यादिशङ्काया एव तादृशप्रतिहेतुदर्शनमूलकतया तदुपजीवकत्वादिति ॥ ८८ ॥

वहाँ क्यों न दूपण माना जाय। तस्मात् वह दोप दोनों के मध्य में कहाँ है इसके अनिश्चय होने से प्रतिहेतु में भी दोप की शङ्का से "असिद्ध्यादिहीनेन" इस लक्षणांश का ज्ञान शक्य नहीं है ॥ ८७ ॥

समर्थन—असिद्ध्यादिहीन इस लक्षणांश का अनिश्चय रहे हानि क्या है, असिद्ध्यादि की शंका तो है ही, उससे ही शङ्कित सत्प्रतिपक्षत्वरूपदोप से ग्रस्त होने से ही दूष्य अनुमान असाधक होगा, जैसे व्याप्यत्वासिद्धि की शङ्का से शङ्कित उपाधि। यदि कहें कि जिस असिद्धि की शङ्का से सत्प्रतिपक्षत्व की शङ्का होती है उस असिद्धि का सन्देह ही दोप क्यों न रहे, सो असिद्धि की शङ्का प्रतिहेतु के दर्शन से हुई है, अतः सत्प्रतिपक्ष ही उपजीव्य होने से सदोप है ॥ ८८ ॥

खण्डन—जहां उपाधि की शङ्का से असिद्धि की शङ्का होती है, वहां भी शङ्कित सत्प्रतिपक्ष हो जायगा।

समर्थन—शङ्कित उपाधिस्थल में सत्प्रतिपक्ष इष्ट ही क्यों न माना जाय।

खण्डन—यहाँ प्रतिहेतु में उपाधि की शङ्का से असिद्धि की शङ्का है, अतः हीनबल होने से उसके पक्ष का [सिद्धि होने से बलवान् स्थापनानुमान से] बाध हो जायगा, अतः असमबल होने से सत्प्रतिपक्ष नहीं होता है।

समर्थन—तब तो शङ्कित उपाधिस्थल में बाध होने से ही सत्प्रतिपक्ष नहीं होगा।

खण्डन—यदि आप ऐसा कहें तो जहाँ प्रतिहेतु के दर्शन से असिद्धि की शङ्का होती है, वहाँ भी हीनबल होने से प्रतिहेतु से स्थापनानुमान के हेतु में असाधकत्वप्रसाधन नहीं होगा, कारण कि उपाधि की शङ्का से जहाँ हेतु में असिद्धि की शङ्का हुई है उससे, और जहाँ प्रतिहेतु के दर्शन से असिद्धि की शङ्का हुई है उस हेतु के हेत्वाभासत्व में कोई विशेष नहीं है।

समर्थन—शङ्कित उपाधि से सत्प्रतिपक्षत्व की शङ्का नहीं होती है और प्रतिहेतु के दर्शन से जात असिद्धि की शङ्का से सत्प्रतिपक्षत्व की शङ्का होती है, अतः उस स्थल में शङ्कित सत्प्रतिपक्ष माना जाता है।

खण्डन—उपाधि के शङ्कास्थल में असिद्धि की शङ्का तो अवश्य मानेंगे, फिर वहां सत्प्रतिपक्षत्व की शङ्का नहीं होती है और प्रतिहेतु दर्शन से जात असिद्धि के शङ्कास्थल में सत्प्रतिपक्षत्व की शङ्का होती है, इसमें कोई विशेष कारण नहीं है। किञ्च किसी स्थल

मैवम् । यतः शङ्कितोपाधिनाऽसिद्धेनाप्येवं सत्प्रतिपक्षता प्रसंज्येत । ननु भवत्वेवमपि तेन किन्नाम भवेत् ? तस्यासिद्धतया हीनबलस्य सिद्ध्यादिमता पक्षबाधं विधूय न किञ्चिदन्यत् । बाधादेव तर्हि न तेन सत्प्रतिपक्षतेति चेन्न । सन्दिह्यमानासिद्धतया सत्प्रतिपक्षहेतोरपि तर्हि कथं परहेत्वसाधकत्वप्रसाधकत्वं भविष्यति, हेत्वाभासत्वाविशेषात् । हेत्वाभासान्तरं न दोषसंशयापादकमतो नैवमितिचेन्न, तर्हि यमुपाधिमादाय न्यूनबलतया बाध्यता, तामादायैव तथाविधोपाधेर्दोषसंशयक्षमत्वादेव । किञ्च क्वचित्सत्प्रतिपक्षत्वनिश्चयाभावे संशयानुपपत्तिः ॥८९॥

अथान्यथाकारं लक्षणमभिधत्से, असिद्धविरोधव्यभिचारकालात्ययापदेशविरहितया प्रतीयमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः स प्रकरणसम इति । एतदपि विचारासहम् । केन तथा प्रतीयमानत्वमभिमतं किं प्रत्यनुमानप्रयोक्त्रा ? अथ प्रथमानुमानवादिना ? द्वाभ्यामपि वा ? येन केनचिद्वा ? । न तावदाद्यः, स्वयं दोषं जानतोऽपि दूषणान्तरापरिस्फूर्त्तौ यद्ययं दोषं न प्रतिसन्धास्यति तदाऽभीष्टमेव । अथ प्रतिसन्धास्यति तदानीमन्यथापि ममास्फुरद्दोषान्तरस्य पराजये अनेन कक्षान्तरारूढायां कथायां शाखान्तरं वा सङ्क्रमितुमवकाशमासादयिष्यामीत्यभिप्रायवतोऽल्पप्रज्ञस्य, मयि वदत्यसत्पक्षोऽपि निर्व्वहतीति लोके प्रकर्षदर्शनार्थं कथमपि ग्रन्थकारादिभिरुक्तस्य वा तथाविधमतिहेतोर्निर्व्वाहार्थमन्यानुयुक्तस्य प्रौढप्रज्ञस्य स्फुरद्दोषेणापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षीकरणदर्शनात् । तत्र परेण दोषानुद्भावने जयस्यापि भावात् ॥९०॥

में सत्प्रतिपक्षत्व का निश्चय हो तो अन्यत्र शङ्कित सत्प्रतिपक्ष से भी व्यवहार हो सकता है। परन्तु उक्त प्रकार से जब कहीं भी असिद्ध्यादिहीनत्व का निश्चय नहीं है तो असिद्ध्यादि की शङ्का से सत्प्रतिपक्षत्व की शङ्का कैसे होगी ॥ ८९ ॥

समर्थन—असिद्धि, विरोध, व्यभिचार, कालात्ययापदेश से रहितस्वरूप से ज्ञायमान जो हेतु उससे बोधित है जिस हेतु के साध्य का अभाव, वह प्रकरणसम है।

खण्डन—आपका यह कथन भी विचारसह नहीं है। देखिये—किससे प्रतीयमान, क्या प्रति अनुमानप्रयोक्ता से अथवा प्रथम अनुमान प्रयोक्ता, या दोनों से, या जिस किसीसे। इनमें प्रथमपक्ष युक्त नहीं है, कारण कि जब वादी-प्रयुक्तहेतु में असिद्धि आदि दोष की स्फूर्ति नहीं होती है, तब अल्पज्ञ पण्डित सदोष हेतु से भी सत्प्रतिपक्ष देते हैं, इस आशय से कि यदि वादी को दोषस्फूर्ति न हुई तो अवश्य विजय होगा, और दोषस्फूर्त्ति हो भी तो द्वितीय कक्षा में पराजय होगा, अथवा शाखान्तर के अवलम्बन का अवसर मिलेगा। सदोष हेतु से सत्प्रतिपक्ष न देने पर इसी कक्षा में पराजय होता है। विशेषज्ञ भी सदोष हेतु से सत्प्रतिपक्ष करते हैं इस अभिप्राय से कि जब हम कहते हैं तब सदोष हेतु का भी समर्थन हो सकता है। अथवा किसीके अनुरोध से किसी ग्रन्थकार के सदोष हेतु से भी अपनी प्रौढि दिखाने के लिये सत्प्रतिपक्ष करते हैं, सम्भव है कि यदि दूसरे को दोषस्फूर्त्ति न हो तो विजय भी हो जाय ॥९०॥

किञ्च प्रतीयमानता यदि निश्चीयमानता विवक्षिता तदानीमसम्भव एव, यतो विरुद्धार्थयोरेकस्यावश्यं दोषः, स च कस्यास्तीति तदा निर्द्धारयितुमशक्यतया प्रतिहेतावपि तत्संशयात् । अथ सम्भावना प्रतीयमानता, तत्रोद्भावनसम्भावनां दूषयन्तो यद्वक्ष्यामस्तदेव दूषणमतिदेष्टव्यम् ॥ ६१ ॥

नापि द्वितीयतृतीयचतुर्थाः, परबुद्धेर्दुरवधारणतयापरस्यासिद्ध्यादिविरहित्त्वबुद्धिरत्र भविष्यतीत्यग्रेऽवधारयितुं प्रमाणाभावेनाशक्यत्वात् कथं सत्प्रतिपक्षतां प्रतिज्ञाय व्युत्पादयेत् । शङ्कान्तरञ्चात्र निरसिष्यामः ॥६२॥

एतेनासिद्धिविरोधकालात्ययापदेशव्यभिचारवत्तया व्याप्तिपक्षधर्मताविरहवत्तया वाऽगृह्यमाणेन वोधितसाध्यविपर्य्ययः सत्प्रतिपक्ष इति निरस्तम् । केनाऽगृह्यमाणत्वमिति निर्वक्तुमशक्यत्वात् ।

किञ्च, सर्वेषामेवैषां लक्षणानां धर्म्यादिग्राहकानुमानवाधितेऽपि गतत्वादतिव्यापकत्वम् । एतेन स्वार्थानुमाने तदाभासेऽपि वा सत्प्रतिपक्षस्य दोषत्वमपोढम् ॥ ६३॥

किंच यदि प्रतीति निश्चयरूप कहें, तो असम्भव हो जायगा, कारण कि विरुद्ध अर्थ के साधक दो हेतुओं में से एक हेतु में अवश्य दोष रहता है, वह दोष किसमें है यह निश्चय उस काल में नहीं रहता है, अतः प्रतिहेतु में दोष का सम्बन्ध रहता है और यदि प्रतीति से सम्भावना का ग्रहण करें तो हम उद्भावन को सम्भावना के खण्डन के प्रस्ताव में जो दोष देंगे यहाँ भी उन्ही दोषों को जानना चाहिए ॥६१॥

द्वितीय, तृतीय, चतुर्थकल्प भी युक्त नहीं हैं, कारण कि दूसरे को पर की बुद्धि का अवधारण न होने से, पर की असिद्ध्यादि रहितत्व बुद्धि यहाँ होगी, इस अवधारणा में कुछ प्रमाण नहीं है, अतः सत्प्रतिपक्ष की प्रतिज्ञा कर उसका व्युत्पादन कैसे करेगा । इस लक्षण की अन्य शङ्काओं का निरास आगे करेंगे ॥६२॥

समर्थन—असिद्धि, विरोध, कालात्ययापदेश, व्यभिचार से युक्तत्व रूप से तथा व्याप्तिपक्षधर्मता विरहितत्त्वरूप से अगृह्यमाण प्रतिहेतु से बोधित है साध्य-विपर्य्यय जिस हेतु का वह सत्प्रतिपक्ष है ।

खण्डन—यह लक्षण भी खण्डित है, कारण कि इस लक्षण में किससे अगृह्यमाण हो इत्यादि विकल्पक पूर्वोक्त दोष हैं, तथा इन सब लक्षणों में धर्म्मीग्राहकमान से बाधित हेतु में अतिव्याप्ति है, देखिये—"परमाणुः निरवयवः विश्रान्तपरिमाणतरतमादिभावत्वात् व्योमवत्" इस अनुमान में "परमाणुः सावयवः मूर्त्तत्वात् घटवत्" इस अनुमान से सत्प्रतिपक्ष हो जायगा और परमाणुरूपधर्मी के ग्रहणकरनेवाला "अणुपरिमाणतरतमभावः क्वचित् विश्रान्तः, परिमाणतरतमादिभावत्वात्, महत्परिमाणतरतमादिभाववत्" इस अनुमान से बाधित होने से सत्प्रतिपक्ष होता नहीं है ।

स्वार्थानुमान में सत्प्रतिपक्ष दोष है और यहां स्व से दोष अगृहीत है, अतः केन प्रतीयमानत्व इत्यादि विकल्पोक्त दोष नहीं है, यह कथन भी खण्डित हुआ, कारण कि उस दोष के न होने पर भी धर्मीग्राहकमान से बाधित अनुमानस्थलीय दोष तदवस्थ ही है ।

समर्थन—अगृह्यमाण है विशेष जिसका, ऐसे हेतु से बोधित है साध्यविपर्य्यय जिसका वह हेतु प्रकरणसम है ॥६३॥

अथोच्यते अगृह्यमाणविशेषेण बोधितसाध्यविपर्ययः प्रकरणसम इति । अस्तु तावत् केनागृह्यमाणत्वमित्यादिविकल्पदोषाभिधानं, यदि यः कश्चिद्विशेषो विशेषशब्देनाभिप्रेत स्तदा तदग्रहणं क्वचिदपि नास्तीति सर्वाव्याप्तिः । अथ हेतुदोषलक्षणो विशेषोऽभिमत स्तदा धर्म्यादिग्राहकानुमानबाधितेऽपि गतत्वादतिव्यापकता, अगृह्यमाणहेतुदोषरूपविशेषेण बोधितसाध्यविपर्ययत्वात्तस्यापि, तत्र हेतुदोषस्याभावादेवागृह्यमाणविशेषत्वात् । न चागृह्यमाणपरमार्थस्थितहेतुदोषरूपविशेषेणेति कृते निस्तार स्तथा सति सत्प्रतिपक्षहेतुकः सत्प्रतिपक्षो न व्याप्यते। परमार्थतस्तिष्ठतीति च दर्शनीयं न च ज्ञेयमिति च महती प्रज्ञा । न चागृह्यमाणहेतुदोषहेतुगुणरूपविशेषेणेति विशेषणे विवक्षिते निस्तारः, व्यतिरेकिण्यन्वयव्यतिरेकिणा सत्पतिपक्षे हेतुगुणरूपो विशेषः सपक्षसत्त्वलक्षणो गृह्यते इति तदव्यापकत्त्वापत्तेः ॥ ६४ ॥

खण्डन—इस लक्षण में भी "केन अगृह्यमाण" इत्यादि विकल्पोक्त दोष है ही। किंच विशेष से यदि यत्किंचित् विशेष का ग्रहण करें तो यत् किंचित् विशेष सर्वत्र गृहीत है, अतः अगृह्यमाणत्व के न होने से सर्वत्र असम्भव हो जायगा।

यदि हेतु दोष लक्षण विशेष का ग्रहण करें, तो धर्मीग्राहक अनुमान से बाधित में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि वहाँ भी अगृह्यमाण है विशेष जिसका ऐसे हेतु से बोधितसाध्य विपर्य्य है ही; हेतु में दोष न होने से ही दोष अगृहीत है।

समर्थन—अगृह्यमाण है परमार्थ से स्थित हेतुदोषरूप विशेष जिसका ऐसे हेतु से बोधित है साध्य विपर्य्य जिसका वह प्रकरणसम है।

खण्डन—ऐसा मानने पर सद्धेतु से सत्प्रतिपक्षस्थल में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि सद्धेतु में परमार्थस्थित दोष नहीं होता है। किञ्च इस हेतु में परमार्थ से दोष है यह देखाना पड़ेगा फिर अगृह्यमाण कैसे रहेगा। अतः दोष परमार्थस्थित हो तथा अगृह्यमाण हो यह आपका कथन बड़ी बुद्धिमानी का है।

समर्थन—अगृह्यमाण है हेतु का दोषगुणरूप विशेष जिसका इत्यादि विवक्षा में निर्वाह है।

खण्डन—इस विवक्षा में "आत्मा स्वव्यवहारहेतुप्रकाशः अदृष्टत्वात्" इस व्यतिरेकी में "आत्मा प्रत्यक्षः महत्त्वे सति अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वात्" इस अन्वय व्यतिरेकी से सत्प्रतिपक्ष स्थल में सपक्षसत्त्वलक्षण हेतु का गुणरूप विशेष गृहीत है अतः उक्त लक्षण को अव्याप्ति हो जायगी। प्रतिवादी स्वोक्त हेतु में सपक्षसत्व को न जानता हो-यह अशक्य है ॥६४॥

समर्थन—अगृह्यमाण है व्याप्तिपक्षधर्मता (भाव अभाव) रूप विशेष जिसका ऐसे हेतु से बोधित है साध्य विपर्य्यय जिसका वह सत्प्रतिपक्ष है।

खण्डन—इस लक्षण में यह प्रष्टव्य है कि किसकी अपेक्षा से विशेष अभिप्रेत है, यदि यत्किञ्चित् की अपेक्षा से तो यत्किञ्चित् की अपेक्षा से विशेष सदनुमान में भी अगृहीत है अतः यहाँ अव्याप्ति हो जायगी और यदि प्रकृति हेतु की अपेक्षा से कहें तो लक्षण वाक्य

१ सन् = निरवद्यः प्रतिपक्षः = प्रतिहेतुः सद्धेतुरित्यर्थः

अथाऽगृह्यमाणव्याप्तिपक्षधर्म्मताभङ्गरूपविशेषेणेति क्रियते, तदा प्रष्टव्यं—किमपेक्ष्य विशेषत्वमिदमिष्टम्, यदि यत्किञ्चिदपेक्ष्य तदा असिद्धासिद्ध्यादिभावं हेत्वाभासमपेक्ष्य विशेषो गृह्यते सदनुमानात्मके प्रतिहेताविति तत्राव्यापकत्त्वम्।

अथ प्रकृतविरोधिनं हेतुमपेक्ष्य, तदा लक्षणवाक्यमीदृशं पर्य्यवस्यति, व्याप्तिपक्षधर्म्मताभङ्गाभङ्गरूपः प्रकृतहेतुतो यस्य विशेषो न गृह्यते तेन बोधितो यदीयसाध्यव्यतिरेकः स प्रकरणसम इति। ईदृशमप्येतद्वाक्यं व्याकारमर्हति। तथा हि व्याप्तिपक्षधर्म्मतेति मिलितस्य भङ्गाभङ्गपदसम्बन्धे विवक्षिते प्रत्येकोदाहरणातिव्याप्तिः, तद्भङ्गाभङ्गरूप इत्यस्य च मिलितस्य विशेषपदसम्बन्धेऽभिप्रेते सर्वथा सम्भवितया सर्वाव्याप्तिः॥ ६५॥

अपि चैवमस्य वाक्यस्यार्थो वक्तव्यः व्याप्तिभङ्गरूपो व्याप्त्यभङ्गरूपः पक्षधर्मताभङ्गरूपः पक्षधर्मत्वाभङ्गरूपः प्रकृतहेतुतो विशेषो न गृह्यते यस्य तेन बोधितो यदीयसाध्यव्यतिरेकः स प्रकरणसमः, तथा सति परमाणुर्निरवयवो विश्रान्तपरिमाणतरतमादिभावत्वाद्व्योमवदित्युक्ते परमाणुः सावयवो मूर्त्तत्वात् घटवदिति प्रत्यनुमानेन प्रतिवाद्युक्तेन परमाणुधर्मिग्राहिणोऽप्यणुपरिमाणतरतमादिभावः क्वचिद्विश्रान्तः परिमाणतरतमादिभावत्वात् महत्परिमाणतरतमादिभाववदित्यादेः सदनुमानतयेष्टस्य पक्षधर्मताबलेन तदीयनिरवयवत्वेऽपि प्रमाणतां गतस्य सत्प्रतिपक्षता स्यात्। यश्चास्य सदनुमान-

ऐसा हुआ कि व्याप्तिपक्षधर्मता भावअभावरूप प्रकृत हेतु की अपेक्षा से जिसका विशेष गृह्यमाण न हो, उससे बोधित है साध्य विपर्य्यय जिसका वह सत्प्रतिपक्ष है—ईदृश इस वाक्य में यह विचारणीय है कि यदि व्याप्तिपक्षधर्मता समुदाय का भङ्गाभङ्गपद से सम्बन्ध करें तो जहाँ केवल व्याप्ति का भङ्ग ही या केवल पक्षधर्मता का भङ्ग ही गृह्यमाण है वहाँ भी समुदाय का भङ्गाभङ्ग अगृह्यमाण ही है, अतः अतिव्याप्ति हो जायगी। किञ्च भङ्गाभङ्गरूप समुदाय का विशेष पद में सम्बन्ध करें, तो एक हेतु में भङ्ग अभङ्ग दोनों कहीं नहीं हैं, अतः सर्वत्र असम्भव हो जायगा॥६५॥

अतः भङ्गाभङ्गरूप समुदाय का विशेष में सम्बन्ध न करें, तो ऐसा वाक्यार्थबोध होगा कि व्याप्तिभङ्गरूप या पक्षधर्मताभङ्गरूप व्याप्त्यभङ्गरूप या पक्षधर्मत्वाऽभङ्गरूप हेतु से विशेष गृह्यमाण न हो जिस हेतु का, उससे बोधित है साध्यविपर्य्यय जिसका वह प्रकरण सम है—ऐसा लक्षण होने पर "परमाणुः निरवयवः विश्रान्तपरिमाणतरतमादिभावात् व्योमवत्" यह कहने पर "परमाणुः सावयवः मूर्तत्वाद् घटवत्" प्रतिवादी से उक्त प्रत्यनुमान से परमाणुरूप धर्म्मी के ग्राही "अणुपरिमाणतरतमादिभावः क्वचिद् विश्रान्तः परिमाणतरतमादिभावत्वात् महत्परिमाणतरतमादिभाववत्" सदनुमानता से इष्ट परमाणु के निरवयवत्व में प्रमाणत्व को प्राप्त, इस अनुमान को सत्प्रतिपक्षत्व हो जायगा। जो भट्ट आदि इसको सदनुमान ही मानते, उनके मत में "—आकाशं विभु निःस्पर्शद्रव्यत्वात्" यह कहने पर "आकाशं न विभु आत्माऽन्यविशेष गुणवत्वात्" इससे शब्दो भूतेन्द्रियग्राह्यो बहिर्द्रव्यत्वात् "इसको सत्प्रतिपक्षत्व हो जायगा। यहाँ आकाशरूपधर्म्मी

तां न मन्यते तं प्रत्येवम्भायाणि बहून्युदाहरणानि सन्तीति तेपु प्रसङ्गः। न च सोऽपि तथाऽस्त्येव, तस्य धर्मिसिद्ध्यर्थमुपजीव्यत्वेन बलवत्वात् ॥ ९६ ॥

तद्व्यवच्छेदार्थं स प्रकृतः प्रकरणसम इति कर्त्तव्यमिति चेत् तथाप्यनुपपत्तिः, अत्र हि यदि यस्य न गृह्यत इति सम्बन्धस्तेन यत्सम्बन्धितया न गृह्यत इत्यर्थो विवक्षितस्तदाऽव्यापकत्वं दोपस्तथा हि—यत्र द्वयोरपि हेत्वोः परमार्थतः साधारणो व्याप्त्यादिभङ्गः सत्प्रतिपक्षदशायामगृह्यमाणस्तत्र नास्त्येतल्लक्षणं, न हि तत्र व्याप्त्यादिभङ्गो विशेपोऽपि तु प्रकृतहेतुना सह साधारण एव।

नन्वत्यन्तासतो व्याप्त्यादिभङ्गरूपस्य विशेपस्यापि तावत्तत्राग्रहणमस्ति तदादायैव लक्षणं तत्रापि भविष्यति। तर्हि यत्र वादी स्वहेतुसाधारणं व्याप्तिभङ्गादिदोषं जानन् प्रतिहेतुनिष्ठतया परस्योद्भावयति, परश्च परिहर्त्तुं न शक्नोति तत्राप्येवं सत्प्रतिपक्षताऽक्षतैव स्यात्, यत उक्तरूपविशेपवत्तया तेनासौ न गृहीत उक्तरूपस्य समानतयैव तेन गृहीतत्वात् ॥ ९७ ॥

का ग्राहक तृतीय अनुमान आकाश के विभुत्व में पर्य्यवसित है। यहाँ तृतीयानुमान सत्प्रतिपक्षित ही है ऐसी इष्टापत्ति नहीं हो सकती, कारण कि वह अनुमान धर्म्मी की सिद्धि के अर्थ है, अतः उपजीव्य होने से प्रबल है ॥९६॥

समर्थन—इस दोष के निवारणार्थ हेतु में प्रकृत (प्रथम) विशेषण देंगे, अतः तृतीय में अव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—यहाँ पर यदि "विशेपो यस्य न गृह्यते" ऐसा अन्वय करें तो विशेष यत्सम्बन्धित्वरूप से गृहीत न हो यह अर्थ हुआ, तब अव्याप्तिदोष होगा। देखिये-जहाँ दोनों हेतुओं में वस्तुतः साधारण (व्याप्त्यादि भङ्गरूप) दोष है और सत्प्रतिपक्षदशा में अगृह्यमाण हैं, वहाँ इस लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि व्याप्ति आदि का भङ्ग विशेष नहीं है, किन्तु दोनों हेतुओं के सम्बन्धी होने से साधारण (सामान्य) ही है, फिर जब विशेष नहीं है, तो हेतुसम्बन्धित्वरूप से ग्रहण किसका होगा। यदि कहें कि अत्यन्त असत् जो व्याप्त्यादिभङ्गरूप विशेष उसका अग्रहण यहां है ही, अतः अव्याप्ति नहीं होगी, तो जहाँ वादी-स्वरूपहेतु साधारण व्याप्त्यादिभङ्गरूप दोष को जानता हुआ, पर के प्रति प्रतिहेतुनिष्ठत्वरूप से उद्भावन करता है और पर परिहार करने में समर्थ नहीं है वहाँ भी सत्प्रतिपक्षता हो जायगी, कारण कि व्याप्ति आदि के भङ्ग (सामान्यरूप से ग्रहण होने पर भी विशेषरूप से) अगृह्यमाण ही है ॥९७॥

समर्थन—प्रतिवादी से विशेषरूप से ही व्याप्ति का भङ्ग गृहीत है, कारण कि वादी के हेतु में व्याप्ति के भङ्ग की स्फूर्ति उसे नहीं है। लक्षण में भ्रान्तिप्रमा साधारणप्रतीतिमात्र का निवेश है।

खण्डन—प्रतिहेतु वादी के अभिप्राय से अगृह्यमाणतापक्ष का प्रथम खण्डन हो चुका है। किञ्च प्रतिहेतुवादी भी यदि व्याप्त्यादिभङ्गादि की उभयहेतुसाधारणता उसी काल में जान जाय, तो वहाँ क्या गति होगी अर्थात् अतिव्याप्ति हो जायगी।

तथापि प्रतिहेतुवादिना तावद्विशेषवत्तयैव गृहीतस्तस्य तत्साधारणभावास्फुरणात् भ्रान्त्यभ्रान्तिसाधारणस्य चात्र ग्रहणमात्रस्य विवक्षितत्वादिति चेन्न, प्रतिहेतुवाद्यभिप्रायेणागृह्यमाणतापत्तस्य प्रागेव निरस्तत्वात् । किञ्च प्रतिहेतुवाद्यपि यदि साधारणतां तस्य दोषस्य तदैव पश्येत्तदा का गतिः ? यद्यसौ वादिहेतावपि दोषं पश्येत् तदा तमुद्भावयेत्तथा सति च तत्रैव कथासङ्क्रमः स्यात् सत्प्रतिपक्षमुपेक्ष्येति चेन्न, यदि पश्यन्नपि प्रतिवादी तत्र दोषमेवं मन्त्रयेत् । यदीदानीं सत्प्रतिपक्षतां प्रतिज्ञातां विहाय दोषान्तरमुद्भावयामि तदापि प्रतिज्ञातत्यागान्मम भङ्गः । अथ नोद्भावयामि, तथापि प्रतिज्ञातदोषानिर्व्वाहान्मम पराजयः, तदेवं वृथा दोषान्तरव्युत्पादनायास इति परामृश्य तूष्णीमास्ते तदा का गतिः ॥ ९८ ॥

अथ यस्य विशेष इत्युक्तलक्षणवाक्ये पदमस्वन्धस्तत्राभिमतः, तदा उक्तस्तावद्दोषो, दोषान्तरं च स्यात् । व्याप्त्यभङ्गादेर्विरुद्धार्थहेत्वोः साधारणस्यासम्भवाद्विशेषपदेनाव्यवच्छेदकेन सह विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः ।

अथोच्यते—व्याप्तिपक्षधर्म्मताभङ्गाभङ्गरूपप्रकृतहेत्वपेक्षविशेषवत्तयाऽनुद्भाव्यमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्य्ययः स प्रकृतः सत्प्रतिपक्ष इति । तदपि नोपपन्नम्, यदि परस्त्वदीयोऽयं प्रतिहेतुरित्थं भग्नव्याप्तिक इत्येवाभिधत्ते न तु सद्धेतुतोऽयं विशेष इत्यपि ब्रूते, आभासान्तरत्वव्युत्पादनादेव प्रतिहेतोः सत्प्रतिपक्षताभङ्गात्तदापीत्थं सत्प्रति-

समर्थन—यदि वह वादी के हेतु में भी दोष जान ले तो सत्प्रतिपक्ष की उपेक्षा कर उस दोष ही का उद्भावन करेगा और सत्प्रतिपक्ष को छोड़कर उसीमें कथा का सङ्क्रम हो जायगा ।

खण्डन—यदि दोष को देखता हुआ भी प्रतिवादी ऐसा ध्यान करे कि यदि उस काल में सत्प्रतिपक्षता की प्रतिज्ञा को त्याग कर अन्य दोष की उद्भावना करता हूँ तो प्रतिज्ञात्याग नाम भङ्ग (पराजय) होता है और यदि नहीं उद्भावन करता हूँ तो प्रतिज्ञात दोष के अनिर्वाह होने से मेरा पराजय होता है । तस्मात् दोषान्तर के उपन्यास में आयास व्यर्थ है, ऐसा सोच कर चुप हो कर बैठ जाऊँ, तो क्या गति होगी ॥९८॥

और यदि "यस्य विशेषः" (यत्सम्बन्धी विशेष) ऐसा उक्त लक्षण वाक्य में पद सम्बन्ध हो तो भी प्रथम पक्ष में उक्त दोष ही है और अन्य दोष भी है । देखिये—व्याप्ति आदि के भङ्गादि (विरुद्ध अर्थ के साधक दो हेतुओं में) कहीं साधारण तो मिलेंगे ही नहीं फिर विशेषपद अव्यवच्छेदक है, अतः भङ्गाभङ्ग के साथ विशेष पदार्थ विशेषण भाव से सम्बद्ध नहीं होगा ।

समर्थन—व्याप्तिपक्षधर्मता भङ्गाभङ्ग जो प्रकृत हेत्वपेक्ष विशेष तादृशविशेषवत्त्वरूप से अनुद्भाव्यमान जो प्रतिहेतु उससे बोधित है साध्य विपर्यय जिस हेतु का वह सत्प्रतिपक्ष है ।

खण्डन—यह भी लक्षण युक्त नहीं, कारण कि यदि पर कहे कि तुम्हारा हेतु इस प्रकार से व्याप्तिरहित है और मेरे हेतु से यह विशेष है—ऐसा नहीं कहे, क्योंकि व्याप्तिभङ्ग कहने से ही प्रतिहेतु में सत्प्रतिपक्षत्व का भङ्ग हो जाता है, तब वहां सत्प्रतिपक्षत्व नहीं है और उक्त लक्षण है, अतः उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । ऐसा मान लेने पर

पक्षता न निवर्त्तेत, तथा सति च प्रतीयमानासिद्ध्यादिनापि सत्प्रतिपक्षीकरणमिति साधु व्युत्पादितं सर्वानुमानानुकूलं स्यात् ॥ ९९ ॥

किञ्च कस्मिन् काले तथाऽनुद्भाव्यमानत्वमपेक्षितं, यदि यदा प्रतिहेतूद्भावनेन परहेतुं दूषयति प्रतिवादी तस्मिन् कालेऽनुद्भावनं, तदा पश्चादुक्तेऽपि प्रतिहेतुदोषे पूर्वकालिकानुद्भावने प्रतीकारो न कश्चिदिति सर्व्वहेत्वाभासैः सत्प्रतिपक्षीकरणमदुष्टमिति गतमनुमानकथया। अथ प्रतिवादिनाऽभिहिते यदा पुनर्वादिवचनावसरस्तदाऽनुद्भावनमिष्टं, तर्हि तत्कथमग्रे प्रत्यनुमानवादिनाऽवधारणीयमयमत्र विशेषतो दोषं नोद्भावयिष्यतीति ॥ १०० ॥

दोषशून्यत्वात् स्वकीयस्य प्रतिहेतोः समर्थस्तदवधारयितुं शक्नोतीति चेन्न, उक्तमत्र प्रतीतदोषेणाऽपि सत्प्रतिपक्षताकरणं सम्भवति, तत्र परेण दोषेऽनुद्भाविते विजयश्च भवतीति। किञ्च विशेषदोषशून्यत्वमपि स्वकीयहेतोः कथमयमवधारयेत्, विरुद्धार्थयोस्तावद्धेत्वोरेकस्यावश्यं दोषेण भाव्यं, तत्र यथा तेन स्वहेतौ दोषो न दृश्यते तथा परहेतावपि। तद्दर्शने तमेवोद्भावयेत्। को हि सचेता निश्चितं दोषमुपेक्ष्य सदोषस्य निर्दोषसामान्येन प्रत्यवतिष्ठते। तस्मात् सदोषेऽपि दोषमपश्यन्नयं न स्वेनादर्शनं दोषाभावे प्रमाणयितुमर्हतीति ॥ १ ॥

जिस हेतु में असिद्धादि प्रतीयमान भी है उस हेतु से भी सत्प्रतिपक्षत्व हो सकेगा, अतः आपने बहुत सुन्दर कहा, आपका कथन अनुमितिमात्र का अनुकूल हुआ ॥९९॥

किञ्च जिस काल में प्रतिहेतु का उद्भावन कर, परहेतु को वादी दूषित करता है, यदि उस काल में विशेषवत्वरूप से उद्भावन अभिप्रेत है, जो जहां उस काल में प्रतिहेतु के दोष का उद्भावन तो नहीं है, किन्तु पश्चात् प्रतिहेतु के दोष का उद्भावन है, वहाँ भी पूर्वकालिक अनुद्भावन के वारण का कोई प्रतीकार नहीं है, अतः लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी और इसी प्रकार से स्फुटज्ञात सब हेत्वाभासों से सत्प्रतिपक्षत्व होने से अनुमान की कथा ही नष्ट हो जायगी अर्थात् सद्धेतु में भी व्यक्त हेत्वाभास से युक्त प्रतिहेतु से सत्प्रतिपक्ष दे सकते हैं, और यदि कहें कि प्रतिवादी के कथन के बाद फिर जब वादी के वचन का अवसर हो, उस काल में उद्भावन अभिप्रेत है, तो आप यह कहें कि पूर्वकाल में प्रतिवादी यह कैसे जानेगा कि यहाँ वादी दोष का उद्भावन नहीं करेगा ॥१००॥

स्वहेतु में दोष न होने से वादी इसमें दोषोद्भावन नहीं करेगा यह निश्चय हो सकता है यह कथन युक्त नहीं है, कारण कि हम कह आये हैं, कि सदोष हेतु से भी सत्प्रतिपक्षीकरण हो सकता है, और पर यदि दोष का उद्भावन न करे तो विजय भी होता है। किञ्च विशेषदोष से शून्यत्व का भी अवधारण हेतु में कैसे करेगा, विरुद्धार्थ हेतुओं के मध्य एक में अवश्य दोष है और प्रतिवादी जैसे अपने हेतु में दोष नहीं देखता है, वैसे ही परहेतु में भी दोष नहीं देखता है, यदि पर हेतु में दोष देखता तो उसीका उद्भावन करता, कौन बुद्धिमान् पुरुष, निश्चित दोष को छोड़ कर निर्दोष के साम्य से सदोष का खण्डन करेगा, तस्मात् सदोष में भी दोष को न देखता हुआ, वह स्व के अदर्शन (अनुपलब्धि) को दोषाभाव में प्रमाण नहीं कर सकता ॥ १ ॥

अथोच्यते—व्याप्तिपक्षधर्म्मताभङ्गाभङ्गरूपप्रकृतहेत्वपेक्षविशेषवत्त्वेनानुद्भाव्यतया सम्भाव्यमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्य्ययः स प्रकृतः प्रकरणसम इति । नैतदपि सुस्थम्, यद्युद्भावनकालात् पूर्वकालिकी सम्भावना विवक्षिता, तदा तात्कालिकानुद्भवनपक्षोक्त एव दोषोऽतिदेष्टव्यः। अथोद्भावनस्य योऽवसरो भविष्यति तत्कालिकतया, तदा सत्प्रतिपक्षताव्युत्पादनकाले सा नास्तीति विशेषणाभावाल्लक्षणाभावः ॥ २ ॥

अथोच्यते—यावत्सम्भावनाऽनुवर्त्तते तावत्सत्प्रतिपक्षता, किं सम्भावनायाः कालनियमगवेषणेन । मैवम्, एवं हि प्रतिहेतोर्दोषेऽनुद्भाविते प्रत्युत निर्दोषतयैव स्वीकृते दोषोद्भावनसम्भावनाया निवृत्तेः सत्प्रतिपक्षता निवर्त्तते । तथाचेत्थङ्कारमेव वादी सत्प्रतिपक्षतां परिहरेदिति साधु स्यात् । प्रतिहेतोः प्रतिक्षेपमकृत्वा स्वीकृत्यैव तत् सत्प्रतिपक्षता प्रतिक्षेप्स्यतेति । न च स्वीकारादेव प्रतिहेतोः पराजयः स्यात्, सत्प्रतिपक्षतापरिहारोपायतया स्वीकारस्य करणात्, स्वीकारे सति सम्भावनानिवृत्त्या तल्ल-

---

समर्थन—व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गअभङ्गरूप प्रकृतहेतु से जो विशेष, तादृश विशेषवत्त्वरूप से अनुद्भाव्यमानत्व से सम्भाव्यमान जो हेतु उससे बोधित है साध्य विपर्य्यय जिसका वह प्रकृत सत्प्रतिपक्ष है ।

खण्डन—यह भी युक्त नहीं, कारण कि यदि उद्भावन से पूर्वकालिकसम्भावना की अर्थात् जिस काल में प्रतिवादी प्रतिहेतु का उद्भावन करता है उससे पूर्वकालिक सम्भावना का ग्रहण विवक्षित हो, तब जहाँ प्रतिहेतु के उद्भावनकाल में तो दोषोद्भावन की सम्भावना है नहीं; किन्तु फिर जब वादी के वचन का अवसर हुआ उस काल में दोषोद्भावन की सम्भावना है, वहाँ भी पूर्वकालिक अनुद्भावन की सम्भावना होने से अतिव्याप्ति हो जायगी, और यदि कहें कि प्रतिहेतु के उपन्यास के बाद वादी के दोष के उद्भावन का जब अवसर हो उस काल में दोषानुद्भावन की सम्भावना विवक्षित है, तो जहाँ स्थापनावादी से प्रतिहेतु को दूषित करने पर प्रतिवादी, दोषों का उद्धार कर सत्प्रतिपक्षत्व को ही दृढ़ करे वहाँ अनुद्भावन की सम्भावना न होने से लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ॥ २ ॥

समर्थन—यावत्कालपर्य्यन्त दोषानुद्भावन की सम्भावना हो, तावत्कालपर्य्यन्त ही सत्प्रतिपक्षत्व रहता है अर्थात् जिस काल में प्रतिवादी, वादी के दोषों का उद्धार कर सत्प्रतिपक्षत्व का दृढ़ीकरण करता है, उस काल में वह सत्प्रतिपक्ष ही नहीं है, पुनः अव्याप्ति होगी कहाँ; किन्तु उस काल में वादी से उक्त दोषों का उद्धार कर निरनुयोज्यानुयोगरूप निग्रहस्थान से ही वादी का पराजय अभिप्रेत है, अतः सम्भावना काल का गवेषण व्यर्थ है।

खण्डन—यदि ऐसा है, तो प्रतिहेतु का दोष-उद्भावन न कर प्रत्युत निर्दोषत्वरूप से प्रतिहेतु के स्वीकार करने पर दोषों का उद्भावन वा अनुद्भावन सम्भावना की निवृत्ति होने से सम्भावनाघटित उक्त लक्षण भी व्यावृत्त हो जायगा। तब इसीप्रकार से सर्वत्र वादी सत्प्रतिपक्ष का परिहार करेगा। अतः यह अच्छा हुआ कि सत्प्रतिपक्षहेतु का प्रतिक्षेप न कर स्वीकार से ही सत्प्रतिपक्ष का प्रतिक्षेप हो गया।

समर्थन—वादी ने प्रतिहेतु का स्वीकार किया, इसीसे उसका पराजय होगा।

क्षणकस्य सत्प्रतिपक्षस्यापि निवृत्तेः। तस्मात् स्वीकारोऽप्ययं परस्यानिष्टार्थं सिद्ध-साधने परकीयसाध्यस्वीकारवद्गुणाय, स्वीकर्त्तुर्न दोषायेति ॥ ३ ॥

यदि च सत्प्रतिपक्षो वादिनोः समानप्रतिपक्षदर्शनजनितात्स्वहेतावाभासत्व-संशयात्, तदा क्वचिदपि नास्ति सत्प्रतिपक्षता, स्वहेतुपक्षपातेन परहेतावेव दोषः कश्चिदस्ति मया तु न गृह्यत इति ताभ्यां मन्यमानत्वात्। यदाह "निश्चितौ हि वादं कुरुत" इति। अथौचित्यादावर्ज्जता संशयेन सत्प्रतिपक्षता स्यात्, तदा सर्वत्रैव वादे सर्वानुमानानां सत्प्रतिपक्षता दुर्निवारा। तद्यथा-शब्दानित्यत्वानुमानेन, बुद्धिमद्भिः शतशः शब्दनित्यत्ववादिजयात्, शब्दनित्यत्वानुमानेन च प्राज्ञैः शतशः शब्दानित्य-त्ववादिजयात्। द्वयोः पक्षयोरनुमानेषु कतरद्वस्तुतः सदनुमानमित्यर्हतो दोषसंशयस्य दुर्निवारत्वादिति ॥४॥

प्रकारभेदाभावाच्च न कालात्ययापदिष्टः पृथक्। तद्यथा-बाधितविषयः कालात्ययापदिष्ट इत्यलक्षणम्।

खण्डन—सत्प्रतिपक्षता के परिहार का उपायरूप से स्वीकार किया है, कारण कि स्वीकार करने पर सत्प्रतिपक्षत्व भी निवृत्त हो जाता है। सत्प्रतिपक्षत्व का स्वीकार भी पर के पराजय के अर्थ है। जैसे सिद्धसाधन में पर के साध्य का स्वीकार स्वीकर्ता के बहुत उपकार के अर्थ होता है, दोष के अर्थ नहीं ॥ ३ ॥

किञ्च यदि सत्प्रतिपक्ष का फल वादीप्रतिवादी दोनों को (प्रतिपक्षदर्शन से जनित स्वहेतु में) आभासत्व का संशय है, तो कहीं भी सत्प्रतिपक्षत्व न होना चाहिये, कारण कि स्वहेतु में पक्षपात होने से परहेतु में ही कोई दोष होगा, हमें ज्ञात नहीं होता है, ऐसा दोनों मानेंगे, फिर सन्देह होगा कैसे। यह बात कही भी है कि निश्चय में ही विवाद करते हैं।

समर्थन—यद्यपि स्वहेतु में पक्षपात है, तथापि प्रतिहेतु के दर्शन होने पर उचित होने से ही स्वहेतु में आभासत्व का सन्देह होने से सत्प्रतिपक्षता युक्त ही है।

खण्डन—तब तो सर्ववाद में अनुमानमात्र में सत्प्रतिपक्षत्व दुर्निवार हो जायगा, कारण कि बुद्धिमान् नैयायिकों ने शब्दानित्यत्वानुमान से शतवार शब्दनित्यत्ववादी को परास्त किया होगा। तथा प्राज्ञ मीमांसकों ने शब्दनित्यत्वानुमान से सहस्र वार शब्दानित्यत्व-वादियों को परास्त किया होगा, अतः दोनों पक्षों में कौन वस्तुतः सद्अनुमान है यह योग्य सन्देह सर्वत्र दुर्वार है। फिर जब स्वहेतु में औचित्य से आभासत्व का सन्देहरूप सत्प्रति-पक्ष का फल सर्वत्र विद्यमान है, तो सर्वत्र सत्प्रतिपक्षत्व क्यों न हो ॥ ४ ॥

इति सत्प्रतिपक्षखण्डन

अथ बाधखण्डन

उक्त हेत्वाभास के प्रकारों से अन्य प्रकार का सम्भव नहीं है, अतः कालात्ययाप-देश भी भिन्न हेत्वाभास नहीं है। देखिये—बाधित विषय (साध्य) है जिसका वह कालात्य-

तथाहि—बाधितविषयत्त्वं किं विवक्षितं, न तावद्बलवता बोधितो विषय-विपर्य्ययो यस्य तत्त्वम् ? यथाश्रुतस्य सत्प्रतिपक्षेऽपि गतत्वात् । तत्र प्रत्यनुमानस्य प्रथमानुमानविषयविपर्य्ययबोधकस्य पक्षधर्म्मतादिबलसम्भवात् । अथ बलवतेत्यधिक-बलेनेति विवक्षितम्, तदापि केवलव्यतिरेकिणोऽन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे गतत्वा-दतिव्यापकं, तत्रान्वयव्यतिरेकिणः प्रतिहेतोः सपक्षसत्त्वलक्षणबलाधिक्यसम्भवात् ॥५॥

किञ्चैवं प्रत्यक्षेणानुमानाभासबाधो न स्यात् । प्रत्यक्षस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्ना-भ्रान्तज्ञानकरणत्वमात्रं बलमनुमानस्य तु पक्षधर्म्मतादिभूयिष्ठं बलमिति ।

अथ मन्यसेऽनन्यथासिद्धत्वं बलं विवक्षितत्त्वेदमुच्यते, तेनानन्यथासिद्धेन बोधितो यदीयसाध्यस्य व्यतिरेकस्तत्त्वं बाधितविषयत्वमिति । मैवम्, तथाऽपि वस्तुतोऽनन्य-थासिद्धेन सत्प्रतिपक्षेऽपि गतत्वम् ।

किञ्चान्यथेत्यन्येन प्रकारेणेत्युच्यते, अनन्यथेति चानन्येन प्रकारेण यस्मादन-न्यत्वं तेनैवेत्यर्थः सम्पद्यते, तथा च वक्तव्यं किं तदन्यताप्रतियोगीति ? प्रामाण्यं तदिति चेत्, अहो दुर्वैदग्धी भवतः, प्रामाण्येनेति वक्तव्ये प्रामाण्याद्योऽन्यः स यो न भवति तेन प्रकारेण यः सिद्धः प्रतीत उत्पन्नो वा तेनेति ब्रुवाणस्य ॥ ६ ॥

यापदेश है, यह अलक्षण है, कारण कि बाधितविषयत्व क्या वस्तु है। बलवान् से बोधित है विषय का अभाव जिसका वह नहीं है, क्योंकि यथाश्रुत सत्प्रतिपक्ष में भी है, वहाँ भी प्रथम अनुमान के विषय के अभाव का बोधक द्वितीय अनुमान में पक्षधर्मतादि बल है और बल से यदि अधिक बल का ग्रहण करें, तो केवलव्यतिरेकी के अन्वयव्यतिरेकी से सत्प्रतिपक्षत्व में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि वहाँ अन्वयव्यतिरेकी प्रतिहेतु में पक्ष-सत्त्वरूप अधिक बल है ॥ ५ ॥

किञ्च ऐसा लक्षण मानने पर प्रत्यक्ष से अनुमानाभास का बाध नहीं होगा, कारण कि प्रत्यक्ष में इन्द्रिय अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न जो भ्रमभिन्न ज्ञान उसका करणत्वमात्र बल है और अनुमान में पक्षधर्मता आदि बहुत बल हैं।

समर्थन—अन्यथासिद्ध बल के अभिप्राय से यह अधिक बल का कथन है, उससे अनन्यथासिद्ध बोधित है जिसके साध्य का अभाव वह कालात्ययापदेश है।

खण्डन—ऐसा लक्षण करने पर भी वस्तुतः अनन्यथासिद्ध (सद्धेतु) से प्रति-पक्ष में अतिव्याप्ति हो जायगी। किञ्च अन्यथाशब्द का अन्य (प्रकारान्तर) से यह अर्थ है और अनन्यथा शब्द का अनन्य प्रकार से अर्थात् जिससे अन्य हो उसीसे यह अर्थ सम्पन्न हुआ। अब यह कथन करना चाहिये कि अन्यत्व का प्रतियोगी कौन है, यदि प्रामा-ण्य को अन्य का प्रतियोगी कहें, तो प्रमाण्य से सिद्ध अर्थात् प्रमाण से इस कथन के स्थान में प्रामाण्य से जो अन्य वह जो न हो उससे सिद्ध (उत्पन्न या प्रतीत) उससे—यह कथन करने वाले आपकी वैदग्धी (चातुर्य्य) आश्चर्य्यजनक है ॥६॥

निर्वचन—तब भी प्रमाण से बोधित है साध्य का अभाव जिसका वह कालात्य-यापदिष्ट है।

तथापि प्रमाणेन बोधितविपर्य्ययो विषयो यस्य स कालात्ययापदिष्ट इति। न, इदं रजतमिति शुक्तिं विषयीकुर्वति प्रत्यक्षाभासे नेदं रजतमिति प्रमाणेन बाध्यमानेऽपि हेत्वाभासविशेषलक्षणमिदं गच्छदतिव्यापकतामापद्येत। एवं बाध्यविषयिण्यामिच्छायामपि गच्छेत्। प्रमाणेन बोधितो यदीयविषयस्यान्यथाभावः स हेतुः कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, यदि मुख्यार्थो हेतुशब्दः, तदा हेत्वाभासत्वव्याघातः। अथामुख्यार्थस्तदा कोऽस्यार्थः, यत्रैष व्यवस्थाप्यते इति सोऽभिधातव्यः। प्रमाणेन बोधितो यदीयविषयस्य व्यतिरेकः स हेत्वाभासः कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न। यद्यग्रे हेत्वाभासत्वानिश्चय स्तदा लक्षणस्य दुरवधारणत्वम्। अथ कालात्ययापदिष्टत्वे निरूपित एव हेत्वाभासत्वनिर्णयस्तदा तत एव दुष्टत्वसिद्धेः कृतं पश्चात्प्रतीतिकस्य कालात्ययापदेशस्योपन्यासेनेति। तदिदं त्वन्मते लक्षणमस्तु मा वा भूत् सामुद्रिकप्रामाण्येन पुनर्महदेतदलक्षणं कालात्ययापदेशस्य, येनास्य नाम हेत्वाभासभेदपदेऽपभ्रंशः प्रासाधि ॥७॥

अथ ब्रूपे हेत्वाभासत्वं हेतुवदाभासमानत्वं हेतुसदृशतया प्रतीयमानत्वं न तु हेतुदोषवत्त्वमिति। मैवम्, हेतुना तुल्यता ह्यहेतुत्वावगमं विना न शक्यप्रतिपत्तिः, सादृ-

---

खण्डन—यह युक्त नहीं है, कारण कि शुक्ति को विषय करनेवाला "इदं रजतम्" इस प्रत्यक्षाभास का बाध" नेदम् रजतम्" इस प्रत्यक्ष प्रमाण से जहाँ होता है, वहाँ इस हेत्वाभासके लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, इसी प्रकार से परदार में सुभ्रूत्वादि के अध्यास से जात "परस्त्रियं गच्छेयम्" इस इच्छा का बाध "परस्त्रियन्न गच्छेत्" इस शब्द से जात बोध से जहाँ होता है वहाँ—बाधित इच्छा में भी अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—प्रमाण से बोधित है यदीय साध्य का अन्यथाभाव वह हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

खण्डन—इस लक्षण में हेतु शब्द यदि मुख्यार्थक अर्थात् व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्ट को कहता है तो उसमें हेत्वाभासत्व का व्याघात है, कारण कि हेतु हेत्वाभास नहीं हो सकता है और यदि मुख्यअर्थपरक न हो तो क्या इसका अर्थ है, जिसमें यह हेतु शब्द व्यवस्थित हो यह आप कहें। यदि कहें कि प्रमाण से बोधित है जिसके विषय का व्यतिरेक वह हेत्वाभास कालात्ययापदिष्ट है तो यह युक्त नहीं है, कारण कि यदि प्रथम से हेत्वाभास का अनिश्चय है तो लक्षण का अवधारण (ज्ञान) नहीं होगा और यदि कालात्ययापदिष्ट के अनिश्चय की दशा में ही हेत्वाभास का निश्चय है, तो उसीसे हेतु में दुष्टत्व सिद्ध है, अतः पश्चात् जिसकी प्रतीति है; उस कालात्ययापदिष्ट का उपन्यास व्यर्थ है। तस्मात् आपके मत में कालात्ययापदिष्ट का यह लक्षण हो या न हो, परन्तु सामुद्रिक प्रमाण से कालात्ययापदिष्ट का महान् यह अलक्षण हुआ। जिस अलक्षण से यह कालात्ययापदिष्ट, हेत्वाभास का भेदरूप स्थान से भ्रष्ट (पतित) हुआ ॥७॥

समर्थन—इस लक्षण में हेत्वाभासत्व हेतु सदृशरूप से प्रतीयमानत्व है, हेतु दोषवत्व नहीं है।

खण्डन—हेतु से तुल्यत्व अहेतुत्व के अवगम के विना प्रमित नहीं हो सकता, कारण कि भेदनिबन्धन सादृश्य की भेदज्ञानपूर्वक ही प्रतीति हो सकती है, अन्यथा हेतु

श्यस्य भिन्नाधिष्ठानस्य तथैव प्रतीतेः। अन्यथा हेतोरपि हेत्वाभासत्वापातात्। ततश्च हेतुरूपवैकल्यस्यावश्यं प्रत्येतव्यत्वेन प्रागुक्तदोषानिवृत्तिः॥ ८॥

प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयपक्षव्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, आश्रयासिद्धव्यापनात्। आश्रयासिद्धव्यतिरिक्त इति विशेषणीयमिति चेन्न। विशेषणाप्रसिद्ध्याऽऽश्रयासिद्धेन सह सङ्कीर्णकालात्ययापदिष्टोदाहरणमेवं न व्याप्येत।

प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य व्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, प्रत्यक्षाभासव्यापनात्॥ ९॥

तत्रापि हि साध्यस्य ज्ञाप्यरूपस्य व्यतिरेको बोध्यत एव प्रमाणेन। प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य व्यापकस्य व्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न। प्रमाणेन बोध्यमानाभावस्य प्रकृतहेतुव्यापकत्वासम्भवात्। प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य प्रतिज्ञातस्याभावः स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, स्वार्थानुमाने कालात्य-

---

भी हेत्वाभास हो जायगा। तब हेतुरूप का अभाव अवश्य ज्ञातव्य है, और यदि वह लक्षण से पूर्व अज्ञात है, तो लक्षण का अवधारण नहीं होगा और यदि प्रथम ज्ञात है, तो उसीसे हेतु में दुष्टत्व का ज्ञान हो जायगा, अतः कालात्ययापदेश का लक्षण व्यर्थ है॥ ८॥

समर्थन—प्रमाण से बोध्यमान है जिसके पक्ष का अभाव वह कालात्ययापदेश है और साध्यरूप विशेषण के अभाव से कृत सिषाधयिषित साध्यरूप धर्म से विशिष्ट पक्ष का भी अभाव बाधस्थल में रहता है, इससे सम्भव नहीं होगा॥

खण्डन—आश्रयासिद्धि पक्ष का अभावरूप है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि लक्षण में आश्रयासिद्धि-भिन्नत्व का निवेश करें, तो आश्रयासिद्धिभिन्नत्वरूप विशेषण के अभाव होने से आश्रयासिद्धि से-संकीर्णप्रधानपुरुषेश्वरा अनित्याः पदार्थत्वात्—इस कालात्ययापदेश में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—प्रमाण से बोध्यमान है जिसके साध्य का अभाव वह कालात्ययापदेश है।

खण्डन—प्रत्यक्षाभास का बाध "नेदम् रजतम्" इस प्रत्यक्ष से जहाँ होता है, वहाँ प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि "इदं रजतम्" इससे ज्ञाप्य होने से रजत भी साध्य ही है॥ ९॥

समर्थन—प्रमाण से बोध्यमान है व्यापकसाध्य का व्यतिरेक जिसका वह कालात्ययापदेश है।

खण्डन—प्रमाण से जिस साध्य का अभाव बोध्यमान है, वह साध्य हेतु का व्यापक हो नहीं सकता।

समर्थन—प्रमाण से बोध्यमान है जिसके प्रतिज्ञात साध्य का अभाव, वह कालात्ययापदिष्ट है।

खण्डन—स्वार्थानुमान में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि शब्दप्रयोग दूसरे के अर्थ होता है, अतः यहां शब्दरूप प्रतिज्ञा नहीं होती है।

समर्थन—प्रमाण से बोध्यमान है जिसके पक्षनिविष्ट साध्य का व्यतिरेक वह कालात्ययापदिष्ट है।

यापदिष्टस्यैवमव्यापनात् । तत्र शब्दरूपस्य प्रतिज्ञातस्याभावात् । शब्दस्य परार्थत्वात् । प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य पक्षनिविष्टस्य व्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, तथाभूतस्य पक्षाभासत्वाभ्युपगमेन मुख्यपक्षार्थत्वासम्भवात् । पक्षाभासनिविष्टत्वे सतीति तु क्रियमाणे पूर्वं पक्षाभासत्वप्रतीत्यप्रतीतिपक्षयोः पृथक् हेत्वाभासत्वप्रतीत्यप्रतीतिपक्षोक्तदोषवद्दोषो द्रष्टव्यः ॥ १० ॥

पक्षत्वाभिमतांशभूतस्येति च क्रियमाणे प्रष्टव्यं, किं पक्षत्वाभिमतत्वं, किमु पक्षतयाऽभ्युपगम्यमानत्वम् ? । अथ तत्तया प्रमितत्वम् ? । उत प्रत्यक्षतया प्रतीतत्वम् ? । नाद्यः, दूषकं प्रति तदसम्भवात्, तेन बाध्यसाध्यस्य पक्षाभासतयैव प्रत्युताङ्गीकारात् । अनुमानवाद्यपेक्षयाऽपि नियमाभावः सदनुमानापरिस्फूर्तौ मन्दप्रज्ञेन प्रज्ञाभिमानभृता च मयि वदति स्फुटदोषमपि को दूषयितुं शक्त इत्यभिप्रायेण यदृच्छया ज्ञातदोषस्यापि प्रयोगस्य सम्भवात्, तत्रानुमानवादिना पक्षत्वाङ्गीकाराभावेन तथाभूतबाधितानुमानाव्यापकमिदं लक्षणं स्यात् । न च पक्षतयोपन्यस्यमानत्वमङ्गीकारार्थ इति युक्तं, तथा सति स्वार्थानुमाने कालात्ययापदेशाव्याप्तिः ॥ ११ ॥

खण्डन—बाध्यस्थल में मुख्य पक्ष के अभाव होने से पक्ष से पक्षाभास का ही ग्रहण करेंगे और पक्षाभास निविष्ट साध्य के ग्रहण करने पर लक्षण से पूर्व पक्षाभासत्व की प्रतीति है कि नहीं—ऐसा विकल्प कर हेत्वाभासघटित लक्षण में लक्षण से पूर्व हेत्वाभासत्व की प्रतीति है कि नहीं इस विकल्प के तुल्य दोष जानना चाहिये ॥ १० ॥

यदि साध्य में पक्षत्वाभिमत में अंशभूत—यह विशेषण दें तो यह प्रश्न होता है कि पक्षत्वाभिमतत्व क्या वस्तु है । पक्षत्वरूप से अभ्युपगम्यमानत्व अथवा पक्षत्वरूप से प्रमितत्व या पक्षत्वरूप से प्रतीतिमात्र ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि बाध का उद्भावनकर्ता (अनुमान का दूषक) साध्य का बाधित होने से उसे पक्षत्वरूप से स्वीकार नहीं करता, किन्तु पक्षाभासत्वरूप से ही स्वीकार करता है । अनुमानवादी भी पक्षत्वरूप से मानें, यह नियम नहीं है, कारण कि सत् अनुमान की अस्फूर्ति की दशा में मन्दप्रज्ञ तथा प्रज्ञा का अभिमानवाला भी "जब मैं कहता हूँ तो सद्दोष को भी दूषित कौन कर सकता है" इस अभिप्राय से स्वेच्छा से सदोषत्वरूप से ज्ञात का भी प्रयोग करता है, वहां अनुमानवादी भी पक्षत्वरूप से स्वीकार नहीं करता है, अतः उस स्थल में अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—पक्षत्वरूप से उपन्यास अभ्युपगम्यमानत्व है और उपन्यास उक्तस्थल में है, अतः दोष नहीं ।

खण्डन—यह भी युक्त नहीं है, कारण कि स्वार्थानुमान में पक्ष का उपन्यास होता नहीं है, अतः वहां अव्याप्ति हो जायगी ॥ ११ ॥

द्वितीयकल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि जहां पक्ष की प्रमति है, वहां कालात्ययापदेश हो नहीं सकता । तृतीयकल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि उस कल्प में ऐसा लक्षण सम्पन्न हुआ कि प्रमाण से बोधित है जिसके पक्ष की प्रतीति के अंशभूत साध्य का व्यतिरेक वह कालात्ययापदिष्ट है, इस वाक्य का कहीं भी सम्भव नहीं दीखता है । जब प्रमाण

नापि द्वितीयः, पक्षत्त्वेन प्रमिते विषये कालात्ययापदेशानवकाशात्। नापि तृतीयः, तदा ह्येवं लक्षणमिदं सम्पद्यते—प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्यस्य पक्षप्रतीतिविषयांशस्य व्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट इति। अस्य च वाक्यार्थस्य न कदाचिदपि सम्भवं पश्यामः, यदा तावत्प्रमाणेन साध्यस्य व्यतिरेकबोधस्तदा पक्षप्रतीतिर्नास्ति विशेषदर्शने भ्रमस्यानवकाशात्, ततश्च तदा पक्षप्रतीत्यभावेन तद्विषयलाभावात् तद्विषयांशस्येति विशेषणाभावाधीनो विशिष्टस्य लक्षणात्मनोऽभावः। यदापि च प्रमाणेन साध्यव्यतिरेकबोधनं नास्ति, तदा तस्यैव लक्षणभागस्याभावाल्लक्षणाभाव इति नित्यमसत्त्वव्यवस्थितेन लक्षणेन लक्ष्यं व्यवस्थापयन् श्लाघनीयप्रज्ञो भवान्॥१२॥

न च वैशेषिकप्रक्रियामाश्रित्य विनश्यदवस्थापि पक्षप्रतीतिस्तत्काले सम्भावनीया, तदीयसाध्यव्यतिरेकावगमनिवर्तनीया हि सा, तत्साध्यव्यतिरेकावगमश्च पूर्वतरमेव भूत इत्यवश्यमभ्युपगम्यमन्यथा प्रमाणेन बोध्यमानत्वं कथं साध्यव्यतिरेकस्य तदाऽवगम्येत॥ १३॥

न च वाच्यं प्रतीतिविषयत्वमिदं विशेषणं न भवति, किन्तूपलक्षणं, उपलक्षणेन चासताऽपि व्यवच्छिन्नप्रतीतिरुपजन्यते, यथा काकवन्तो देवदत्तगृहा इत्युपलक्षणीभूतया

से साध्य के व्यतिरेक का बोध है, तब पक्ष की प्रतीति हो नहीं सकती, कारण कि विशेष दर्शन होने से भ्रम का अवकाश नहीं है, तब तो उस काल में पक्ष की प्रतीति के अभाव होने से तद्विषयत्व का अभाव है, अतः तद्विषयांशरूप विशेषण के अभाव से विशिष्ट लक्षण के अभाव से सर्वत्र अव्याप्ति हो जायगी और जिस काल में प्रमाण से साध्य के व्यतिरेक का बोध नहीं है, उस काल में उसी लक्षणभाग के अभाव से लक्षण का अभाव है, अतः सदा लक्ष्य में अविद्यमान लक्षण से लक्ष्य की व्यवस्था करनेवाले आपकी बुद्धि प्रशंसनीय है॥ १२॥

समर्थन—वैशेषिक-प्रक्रिया के आश्रयण से उस काल में भी विनश्यत् अवस्था में पक्ष की प्रतीति है, अतः उस प्रतीति का आश्रयण कर समन्वय हो जायगा।

खण्डन—साध्य की प्रतीति की निवृत्ति साध्याभाव की प्रतीति से होती है और साध्याभाव की प्रतीति पहिले हो चुकी है यह अवश्य मानना पड़ेगा। अन्यथा साध्य के व्यतिरेक के प्रमाण से बोध्यमानत्व का अवगम कैसे होगा॥ १३॥

समर्थन—प्रतीति का विषयत्व पक्ष का विशेषण नहीं है, किन्तु उपलक्षण है और अविद्यमान भी उपलक्षण व्यवच्छिन्नत्वरूप से उपलक्ष्य की प्रतीति का कारण होता है। जैसे "काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः" यहां असत् भी काक उपलक्ष्य देवदत्तगृह की प्रतीति का कारण होता है।

खण्डन—काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः—इस स्थल में व्यवहार काल में काकरूप उपलक्षण न होने पर उपलक्ष्य देवदत्त गृह में इष्टकादारुमयत्वादि विशेष विद्यमान हैं, अतः व्यवहार की प्रवृत्ति होती है। असत् काक वहां भी व्यवहार का कारण नहीं है। यहां तत् तत् व्यक्ति को उपलक्ष्य मानें तो लक्षण का अननुगम होगा और अनुगम का कुछ रूप दीखता

काकवत्तया देवदत्तगृहस्य व्यवहारकाल इति । यतस्तत्रोपलक्ष्यदेवदत्तगृहस्य स्वाभाविको विशेषोऽस्ति व्यवहारकाले, तेन काकवत्ताऽभावेऽपि तमादाय व्यवहारनियमप्रवृत्तिः, न तु तत्राऽप्यसत उपलक्षणस्य कारणत्वम् । अत्र तु व्यक्तीनामुपलक्ष्यत्वे लक्षणस्यानुगतत्वम् । अनुगतश्च किञ्चिदुपलक्ष्यं न लक्षयामहे । अत उक्तमेव वाक्यार्थमादाय प्रवर्त्तमाने लक्षणात्मके साधने विशेषणासिद्धिर्दुर्निवारा ।

एतेन पूर्वशङ्कितस्य हेतुरित्यस्य प्रत्यक्षाभासव्यवच्छेदार्थमुपात्तस्य स्थाने हेतुत्वाभिमत इत्येतादृशस्य करणं दूपितप्रायम् ॥ १४ ॥

अथ ब्रूषे — प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्यस्याभावः, स प्रत्यक्षाभासातिरिक्तः कालात्ययापदिष्ट इति । नैतदपि सुस्थम्, शब्दोपमानाभाससाधारण्यात् ।

तद्व्यतिरिक्त इत्यपि विशेषणीयमिति चेत् । एतदपि विचार्य्यताम् । किं प्रत्यक्षाभासादिव्यतिरिक्तत्वं प्रत्यक्षाभासादिभ्यो वैधर्म्यं किञ्चित् ? उत स्वरूपभेदः ? अथवाऽन्योन्याभावः ? न तावदाद्यः तद्भेदकस्य धर्म्मस्य निर्व्वक्तुमशक्यत्वात् । नापि द्वितीयः, स्वरूपस्य परस्परव्यावृत्ततया लक्षणानौपयिकत्वात् । नापि तृतीयः, व्यतिरिक्तत्वस्यान्योन्याभावात्मनः प्रत्यक्षाभासादावपि भावेन तद्व्यवच्छेदानुपपत्तेः १५॥

नहीं है, अतः प्रतीति विशेषण रहेगी, फिर लक्ष्य में व्यतिरेकानुमिति का साधक जो उक्त लक्षण उसमें विशेषण की असिद्धि हो जायगी। इसी प्रकार से ही प्रत्यक्षाभास के व्यवच्छेदक के अर्थ उपात्त हेतु के स्थान में कृत जो हेतुत्वाभिमतत्वरूप विशेषण वह भी दूषित जानना चाहिये ॥ १४ ॥

समर्थन—प्रमाण से बोधित है साध्यव्यतिरेक जिसका [प्रत्यक्षाभास से व्यतिरिक्त] वह कालात्ययापदिष्ट है।

खण्डन—यह भी युक्त नहीं है, कारण कि शब्द से जहां शब्दाभास का बाध है अथवा उपमानाभास का जहां बाध है, वहां अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—शब्दाभास उपमानाभास व्यतिरिक्तत्व के निवेश से उक्त दोष नहीं होगा।

खण्डन—यहां यह विचारना चाहिये कि प्रत्यक्षाभासादि व्यतिरिक्तत्व क्या वस्तु है। क्या प्रत्यक्षाभास से कुछ वैधर्म्य है, अथवा स्वरूप भेद है, अथवा अन्योन्याभाव है ? इनमें प्रथम वैधर्म्य रूप व्यतिरिक्तत्व नहीं है, कारण कि कालात्ययापदेश में कोई भेदक धर्म अद्यावधि निरुक्त हुआ नहीं है। द्वितीय (स्वरूपरूप) भी व्यतिरिक्तत्व नहीं है, कारण कि स्वरूप परस्पर व्यावृत्त होने से लक्षण का उपयोगी नहीं हैं, अर्थात् लक्ष्य मात्र का उपसंग्राहक लक्षण होना चाहिये और स्वरूप ऐसा नहीं है। तृतीय (अन्योन्याभावरूप) भी व्यतिरिक्तत्व नहीं है, कारण कि अन्योन्याभावरूप व्यतिरिक्तत्व प्रत्यक्षाभास में भी विद्यमान है, अतः उसका व्यवच्छेक नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

समर्थन—अन्योन्याभावरूप व्यतिरिक्तत्वमात्र विशेषण हम नहीं देते हैं, किन्तु प्रत्यक्षाभास व्यतिरिक्तत्व विशेषण देते हैं और प्रत्यक्षाभास अपने आत्मा से भिन्न नहीं है फिर उक्त प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति कैसे होगी।

ननु न व्यतिरिक्तत्वमात्रमन्योन्याभावस्वरूपं विशेषणमस्माभिरुपात्तं, किन्नाम ? प्रत्यक्षाभासादिभ्यो व्यतिरिक्तत्वं, न च प्रत्यक्षाभासादयः स्वात्मभ्य एव भिन्नास्तत्कथमुक्तस्य प्रसङ्गस्यावकाशः । अवगतमिदं त्वद्विवक्षितं, एतदेव विचार्य्यते, किं प्रत्यक्षाभासादिभिर्विशेषितोऽसावन्योन्याभावस्त्वयोच्यते ? उत तैरुपलक्षितः यं प्रत्यक्षाभासादिष्वप्रसक्तं मन्यसे ? आद्यस्तावन्न सम्भवति, न हि प्रतियोगिरूपविशेषणसहितोऽभावः क्वचिदप्यस्ति, ततस्तादृशस्य विवक्षितत्वे सर्व्वाव्याप्तिः । द्वितीये तु प्रत्यक्षाभासादिभिरुपलक्षणैर्यदुपलक्ष्यमन्योन्याभावस्य स्वरूपमेकं तत्प्रत्यक्षाभासादिषु बाधितानुमानेषु च साधारणमिति कथं नोक्तदोषप्रसङ्गः ॥ १६ ॥

अन्यदस्तु सदात्मकं विशेषणं प्रतियोगीत्त्वभावस्यासन्नेव तज्ज्ञानस्य विशेष्ये व्यावृत्तबुद्ध्याधानाविरोधात् विशेषणम्भवतीति चेत् । अयुक्तमेतत् । विशिष्टं तावदभावस्य स्वरूपमिहोपात्तं तच्च विशेष्यमात्रशरीरं न भवितुमर्हति, तथा सति विशेष्यस्वरूपमेवोच्यतां वृथा विशेषणपदोपन्यासः, तदनुपन्यासे चान्योन्याभाववत्त्वमात्रमुपन्यस्तं भवेत्, तच्च प्रत्यक्षाभासादेर्व्यवच्छेद्यस्यापि सङ्ग्राहकं, ततश्च विशेष्यादन्योन्याभावादधिकं किञ्चिद्वक्तव्यं तद्विशिष्टमुपन्यस्यताम् । स च यदि प्रतियोगी तदीयोऽभिधीयते, तर्हि तस्याभावात्तदानीं विशिष्टाभावः प्रसक्तः । विशेष्यमात्रं परिशिष्टं तच्च केवलमतिप्रसक्तं तस्माद्विशिष्टव्यवहारप्रवर्त्तनकाले विशेष्यातिरिक्तं किञ्चिदन-

---

खण्डन—आपके कथन को मैंने जाना । परन्तु यह विचारणीय है कि प्रत्यक्षाभास से विशेषित अन्योन्याभाव का लक्षण में निवेश है अथवा प्रत्यक्षाभास से उपलक्षित अन्योन्याभाव का, जिसको प्रत्यक्षाभास में अप्रसक्त आप मानते हैं । प्रथमपक्ष युक्त नहीं है, कारण कि प्रतियोगी से विशिष्ट अभाव कहीं नहीं रहता है, अतः प्रतियोगी से विशिष्ट अन्योन्याभाव का लक्षण में निवेश करने पर असम्भव हो जायगा । द्वितीयपक्ष में प्रत्यक्षाभासरूप उपलक्षण से उपलक्ष्य जो अन्योन्याभाव का स्वरूप एक है, वह प्रत्यक्षाभास और बाधित अनुमान उभय साधारण है, अतः प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति क्यों न हो ॥ १६ ॥

समर्थन—अन्यगुणक्रियादि तो विद्यमान ही विशेषण होते हैं, किन्तु प्रतियोगी अविद्यमान ही अभाव का विशेषण होता है, कारण कि विशेषण का ज्ञान विशेष्य में इतर से व्यावृत्त बुद्धि कर सकता है, इसमें कुछ विरोध नहीं है ।

खण्डन—यह कथन अयुक्त है, कारण कि यहां विशिष्ट अभाव का स्वरूप कहा गया है वह विशेषणमात्र शरीर नहीं हो सकता, कारण कि यदि विशेष्यमात्र ही शरीर हो तो विशेष्यमात्र कहना चाहिये, विशेषण पद का उपन्यास व्यर्थ है और यदि विशेष्यमात्र का उपन्यास करें, तो अन्योन्याभावमात्र का उपन्यास हुआ, वह व्यवच्छेद्य प्रत्यक्षाभास का संग्राहक हुआ । अतः विशेष्य अन्योन्याभाव से अधिक कुछ कहना चाहिये । यद्विशिष्ट अभाव का उपन्यास करें, वह यदि प्रतियोगी है, तो उस लक्ष्य में प्रतियोगी का अभाव है । अतः विशिष्ट (प्रत्यक्षाभासान्योन्याभाव) का लक्ष्य में अभाव है, अतः असम्भव हो जायगा और यदि विशेष्यमात्र कहें तो उसकी प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

भ्युपेत्य विशिष्टसत्ता व्यवहर्त्तुमशक्या, अतः प्रतियोगी नाभावस्य विशेषणं भवितु-मर्हति, उपलक्षणन्तु स्यात् तत्र चोक्तमेव ॥१७॥

नचान्योन्यभाव एको न भवति भिन्नप्रतियोगिकौ द्वावभावौ तौ, तथा च प्रति-योगिलक्षितं तत्स्वरूपमन्यदेवेति सिद्धान्ताविरोधि। न च युक्तम्, उभयं ह्यन्योन्या-भावस्यैकात्मतया प्रतियोगि, एकात्मतायाश्च भेदविरोध एव। ततश्च येन च रूपेण प्रतियोगित्वं तेन रूपेण भेदानवकाशात्, भिन्नप्रतियोगिकता कुतोऽन्योन्याभावस्य। येन च रूपेण भिन्नता तेनान्योन्याभावं प्रति प्रतियोगिता नास्ति वस्तुनोः।

ननु वस्तुतस्तयोरेकत्वाभावात्कथमेकतया प्रतियोगित्वमन्योन्याभावं प्रति घटेत वस्तुनोः। यथा वस्तुतो भूतलसंसर्गाभावेऽपि घटस्य भूतलसंसृष्टतया संसर्गा-भावं प्रति, तत्र यथाऽन्यद्द भूतलसंसृष्टतया दृष्टं तथाऽत्रापि तावेव सप्रकारभेदौ तदा-त्मानौ दृष्टौ, सोऽयं त्वद्दर्शनाभिप्रायो नास्माकं निर्वाहार्ह इत्यास्तां विस्तरः ॥१८॥

अपिच घटपटयोः स्वरूपभेदेन वैधर्म्यभेदेन चोभयकोटीकृतयोरन्योन्याभाव-निरूपणं भवति। अत्र तु प्रत्यक्षाऽभासादेः प्रत्यक्षाभासत्वादिना एककोटिताऽस्तु नाम, यत्तु प्रत्यक्षाभासत्वादिभ्यो व्यतिरिक्ततया प्रतिपत्तव्यं तस्य केन रूपेणैकको-

---

तस्मात् विशिष्टव्यवहार के प्रवर्तनकाल में विशेष्य से अन्य कुछ न मानकर विशिष्टसत्ता का व्यवहार अशक्य है, अतः प्रतियोगी का अभाव व्यवहार काल में स्वीकार अवश्य करना चाहिये-और प्रतियोगी उक्त प्रकार से विशेषण तो हो नहीं सकता; किन्तु उपलक्षण हो सकता है और उपलक्षणपक्ष में दोष दे आये हैं ॥ १७ ॥

समर्थन—अन्योन्याभाव एक नहीं है, किन्तु कालात्ययापदिष्ट में प्रत्यक्षाभास का अन्य है और प्रत्यक्षाभास में कालात्ययापदिष्ट का अन्य है, अतः प्रत्यक्षाभास प्रतियोगिक अन्योन्याभाव के प्रत्यक्षाभास में न होने से प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—यह कथन सिद्धान्त का अविरोधी नहीं है, और युक्त भी नहीं है, कारण कि अन्योन्याभाव के (तादात्म्य से) दोनों प्रतियोगी हैं, और तादात्म्य का भेद विरोध है, इससे जिस रूप (तादात्म्य) से प्रतियोगी है, उस तादात्म्यरूप से भेद नहीं फिर अन्य २ अन्योन्याभाव के प्रतियोगी होंगे कैसे और जिन घटत्व पटत्वादिरूपों से भेद है, उन्हीं घटत्वपटत्वरूपों से वस्तु अन्योन्याभाव के प्रतियोगी ही नहीं है।

समर्थन—उन घटपटादि वस्तुओं के वस्तुभूत तादात्म्य है नहीं, फिर तादात्म्य से अन्योन्याभाव का प्रतियोगी कैसे होगा।

खण्डन—जैसे वस्तुभूत भूतलसंसृष्ट घट नहीं है, तथापि संसर्गाभाव का भूतल-संसृष्टत्वरूप से घट प्रतियोगी होता है, वैसेही वस्तुभूत तादात्म्य न होने पर भी तादात्म्य रूप से घटपट प्रतियोगी होगा, हानि क्या है। यदि कहें कि अन्य घट का अर्थ व कालान्तर में उसी घट का भूतल में संसर्ग प्रसिद्ध है और घटपट का तादात्म्य अप्रसिद्ध है यह प्रति-योगी कैसे होगा, तो घटपट का तादात्म्य भी प्रमेयत्वद्रव्यत्वसत्त्वरूप प्रकार से सहित में आप मानते ही हैं, कारण कि प्रमेयत्वादि रूप से घटपट का भेद अनुभवविरुद्ध है- यह आपके दर्शन का अभिप्राय है, हमें इसका निर्वाह नहीं करना है, अतः विस्तार व्यर्थ है ॥१८॥

टीकरणं, न तावत्प्रतिव्यक्ति भिन्नेन स्वरूपेण, तेषामनन्ततया बुद्धिस्थीकर्त्तुमशक्यत्वात् । नापि यद्रूपोपात्तं विशेष्यं प्रत्यक्षाभासादिव्यतिरिक्तत्वेन विशेषणेन विशेषणीयं तद्रूपक्रोडीकृततयैवान्योन्याभावनिरूपणमिति युक्तं, तस्य स्वरूपस्य प्रत्यक्षाभासादिसङ्ग्राहकतया कोटिद्वैतभङ्गापादकत्वेनान्योन्याभावनिरूपणविरोधित्वात् । तस्मात् स्वरूपभेदं वैधर्म्यभेदं वा कोटिद्वयं व्यवस्थापकमप्रतिसन्धाय अन्योन्याभावनिरूपणमशक्यमिति स्थिते स्वरूपभेदपक्षस्येह दूषितत्वाद्धर्म्मभेदः कश्चिद्वक्तव्यो, न चासौ वक्तुं शक्यः, शक्यत्वे वा तमादायैव लक्षणव्यवस्थितिरस्तु, कृतमन्योन्यव्यतिरिक्तत्वकुयुक्त्या । तदनेन न्यायेनाऽन्यत्राप्यतिप्रसक्त्युदाहरणान्यत्वेन व्यावर्त्तनं लक्षणवादिनो भग्नस्य शरणमस्त्रं निरसनीयम् । अत एव भेदकान्तरं विना तद्व्यतिरिक्तत्वमेव दुर्निरूपमित्यभिप्रायेण तत्तदन्यत्वे सतीति विशेष्यमाणं वैशेषिकहेतुं 'नैतदेवं येन येन व्यभिचारस्तदन्यत्वे सति प्रमेयत्वादिति सत्प्रतिपक्षहेतूपन्यासादुपहसन्ति सन्त' इति ।

इति कवितार्किकचक्रवर्तिश्रीश्रीहर्षकृते खण्डनखण्डखाद्ये प्रमाणतदाभासखण्डनं नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥ १६ ॥

किञ्च–घटपट के स्वरूपभेद से वा वैधर्म्यभेद से उभयकोटी हैं, अतः उन दोनों (प्रतियोगी अनुयोगियों) से अन्योन्याभाव का निरूपण हो सकता है, और यहां प्रत्यक्षाभासत्व से प्रत्यक्षाभास का एककोटीकरण तो है, परन्तु जिसको प्रत्यक्षाभास व्यतिरिक्तत्वरूप से जानना है, उसकी किस रूप से कोटि करें, प्रतिव्यक्ति भिन्न भिन्न जो स्वरूप उससे एककोटीकरण नहीं हो सकता, कारण कि अनन्त होने से बुद्धिस्थ हो नहीं सकते। प्रत्यक्षाभास व्यतिरिक्तत्वरूप से विशेषणीय जो विशेष्य (उपलक्षण) तद्रूप से क्रोड़ीकार कर अन्योन्यभाव का निरूपण नहीं हो सकता, कारण कि वह रूप प्रत्यक्षाभास में भी है, अतः उस रूप से दो कोटी न रहे, फिर उस रूप से अन्योन्याभाव का निरूपण होगा कैसे, तस्मात् कोटिद्वय के व्यवस्थापक स्वरूप भेद वा वैधर्म्य भेद का स्मरण न करके अन्योन्याभाव का निरूपण अशक्य है, ऐसा होने पर स्वरूपभेद से लक्षण की व्यवस्था अनन्त वा अननुगत होने से अशक्य हैं। अतः किसी धर्म्म को कहना चाहिये और उसको कह नहीं सकते हैं और यदि धर्म्म को कह सकें, तो उसीसे लक्षण की व्यवस्थिति होने से अन्योन्य व्यतिरिक्तत्वरूप कुसृष्टि व्यर्थ है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जिसमें अतिव्याप्ति दी जाय, तदन्यत्व से व्यावृत्तिरूप भग्न (परास्त) लक्षण वादी का रक्षक अस्त्र निरसनीय है। जबतक भेदधर्म्म ज्ञात न हो, तबतक तदन्यत्व का निरूपण हो नहीं सकता, अतः तदन्यत्व से विशेषित वैशिषिक (लक्ष्य में इतर भेद के साधक) लक्षणरूप हेतु का लक्ष्य इतर से भिन्न नहीं हैं, जिस जिस में व्यभिचार हो तदन्य होकर प्रमेयत्व होने से इस सत्प्रतिपक्ष का उपन्यास कर सन्त लोग उपहास करते हैं ॥१६॥

इति प्रथमपरिच्छेद का भाषानुवाद समाप्त

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

ननु यदि दुर्लक्ष्या हेत्वाभासास्तर्हि निग्रहस्थानानि प्रतिज्ञाहान्यादीनि बाधकानि भविष्यन्ति । मैवम्, का पुनः प्रतिज्ञाहानिः ? स्वीकृतोक्तपरित्यागः प्रतिज्ञाहानिरित्यलक्षणम् । तथाहि—झटिति संवरणे निग्रहस्थानेऽपि गतत्वेन परदूषिते सतीत्यपि विशेषणीयत्वात् ॥२०॥

किञ्च स्वीकृतेत्यनेनाभीष्टमात्रं वाऽभिधीयते अस्तित्वेनेष्टं वा । आद्ये केनचिद्रूपेणेष्टस्य रूपान्तरेण त्यागः क्व नाम नास्तीत्यतिव्याप्तिः । स्वीकार-पूर्वकोऽस्वीकारस्त्यागः न रूपान्तरेण तत्र तत्स्वीकारः, ततस्त्याग एवासौ न भवतीति नातिप्रसङ्ग इति चेन्न । स्वीकारस्यापि परित्यागपदार्थान्तर्भावे स्वीकृतेति व्यर्थं, तत्त्यागेऽपि च नाद्यद्वितीयौ, अस्तित्वेनेष्टस्य रूपान्तरेण सर्व्वत्रैवानिष्टत्वसम्भवात् । संयोगाद्यव्याप्य-

---

मङ्गलाचरण

शिवमनोहरपादरजोजुप शिवमनोहरशर्म्मजनिप्रद ।
शिवमनोहरपादसरोरुह शिवमनोहरपूतरजोजुपे ?

समर्थन—यदि हेत्वाभास के लक्षण करने में मेरी अशक्ति है तो क्या हानि है, प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थान ही अद्वैतसिद्धि या विजय का बाधक होंगे।

खण्डन—प्रतिज्ञाहानि भी क्या वस्तु है अर्थात् लक्षण न होने से अनिर्वचनीय है फिर उससे अद्वैतसिद्धि का प्रतिबन्ध कैसे होगा।

निर्वचन—स्वीकृत उक्त का परित्याग प्रतिज्ञाहानि है।

खण्डन—यह लक्षण युक्त नहीं है देखिये—जहाँ नैयायिक "अनित्यः शब्दः" इस प्रतिज्ञा के स्थान में प्रमाद से "नित्यः शब्दः" ऐसी प्रतिज्ञा कर शीघ्र ही स्मरण होने पर "अनित्यः शब्दः" ऐसी प्रतिज्ञा करते हों वहाँ लक्षण की अतिव्याप्ति के भेद से "पर दूषित" यह विशेषण देना पड़ेगा और विशेषण देने से हेत्वन्तर नाम निग्रहस्थान हो जायगा ॥ २० ॥

किञ्च—स्वीकृत शब्द से इष्टमात्र अभिप्रेत है ? अथवा अस्तित्व से इष्ट अभिप्रेत है ? प्रथम पक्ष में गुणस्वरूप से इष्ट शब्द में नित्यत्वरूप से त्याग होने से उस त्याग में अतिव्याप्ति हो जायगी । यदि कहें कि स्वीकारपूर्वक अस्वीकार त्याग है और नित्यत्वरूप से शब्द का स्वीकार नहीं है, अतः नित्यत्वरूप से अस्वीकार त्याग ही नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं तो स्वीकार को त्याग पद के अर्थ में अन्तर्भाव होने से "स्वीकृत" यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा । स्वीकृत विशेषण न भी दें तब भी दोनों पक्ष युक्त नहीं, कारण कि "अस्तित्व" रूप से इष्ट का अन्य रूप (नित्यत्व आदि) से त्याग सर्वत्र शब्दादिस्थल में है, अतः अतिव्याप्ति हो जायगी । जो लोग संयोग आदि को अव्याप्य वृत्ति मानते हैं उनके मत में वृक्ष में अस्तित्व से इष्ट संयोग नास्तित्व रूप से भी इष्ट है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी । इसी प्रकार से "देश-काल-भेद से मीमांसक के अनुयायी बन कर जो शब्द का

वृत्तितावादिपक्षे चैकस्यैव संयोगस्यास्तित्वनास्तित्वाभ्यामभ्युपगम्यमानत्वात्। एवञ्च कालदेशादिभेदेन सत्त्वासत्त्वाभ्युपगमेऽपि प्रसङ्गो द्रष्टव्यः ॥२१॥

तस्यैव तदैव तत्रैव तेनैव तथैवेष्टत्वानिष्टत्वे विवक्षिते अत्रेति चेत्, एवं तर्हि कालमभ्युपगम्यानभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्न स्यात्। तत्र तदेत्युक्तविशेषणांशस्यासंभवात्। नहि कालः कालान्तरं स्वात्मानमेव वाऽध्यास्ते, काले तदेति विशेषणस्य प्रतिक्षेपेऽन्यत्र च प्रक्षेपे लक्षणैकताक्षतिः कालं प्रति च प्रतिज्ञाहानेरदोषत्वे तद्वदन्यत्राप्यदोषत्वापातः। यदैवास्वीकारस्तदैवास्वीकारासिद्धेश्च। तदेति तत्कथाकालो विवक्षित इतिचेन्न, तच्छब्दस्यैकव्यक्तिपरत्वे लक्षणाननुगमः, वादादित्वेन साम्ये कदाचिदपि तद्विपरीतवादान्तराकरणप्रसङ्गः, एवं तथैव तस्यैवेत्यादिपदस्य द्रष्टव्यम्।

नित्यत्व मान चुके हैं, वही यदि इस देशकाल में नैयायिक होकर शब्दनित्यत्व का त्याग करें तो उसमें भी अतिव्याप्ति हो जायगी ॥२१॥

समर्थन—जिस देश काल में जिस पुरुष ने जिस रूप से जिस पदार्थ का अस्वीकार किया हो, उस देश काल में उस पुरुष का उस रूप से उस पदार्थ का अस्वीकार प्रतिज्ञाहानि है, अतः देश-काल पुरुष भेद से वा प्रकारभेद से स्वीकृत के अस्वीकार में अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डन—ऐसा लक्षण करने पर "कालोऽस्ति" ऐसा मान कर "कालो नास्ति" ऐसा कथन करने पर भी प्रतिज्ञाहानि नहीं होगी अर्थात् वहाँ प्रतिज्ञाहानि के लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि काल अन्यकाल में वा अपने में नहीं रहता है, अतः वहां "तदा" यह विशेषण नहीं है। यदि कहें कि कालस्थल के लक्षण में "तदा" यह विशेषण नहीं देंगे और अन्यस्थल के लक्षण में "तदा" यह विशेषण देंगे, अतः कालस्थल में अव्याप्ति नहीं है तो एक लक्षण न रहा, किन्तु लक्षण भेद हुआ। यदि कहें कि कालस्थल में प्रतिज्ञाहानि दोष नहीं है, तो इसमें कुछ प्रमाण नहीं है, अन्यथा (यदि प्रमाण के विना भी कालस्थल में प्रतिज्ञाहानि को दोष न मानें तो) अन्यत्र भी प्रतिज्ञाहानिदोष न होगा। किञ्च जिस काल में स्वीकार हो उसी काल में अस्वीकार हो भी नहीं सकता।

समर्थन—यदातदा पद एक क्षणपरक नहीं हैं, किन्तु तत्कथाकालपरक हैं और एक कथा से उपलक्षित काल में स्वीकार अस्वीकार [क्षणभेद से] हो सकता है, अतः असम्भव दोष नहीं है।

खण्डन—तद् शब्द एककथाव्यक्तिपरक है, अथवा कथात्व या वादत्वादिरूप से कथामात्र या वादमात्रपरक है। प्रथमपक्ष में जिस कथाव्यक्ति का तद् शब्द से ग्रहण करेंगे, उससे अन्यत्र अव्याप्ति हो जायगी और तद् शब्द को कथामात्रपरक मानें तो मीमांसक होकर कदाचित् किसी वाद में शब्दनित्यत्व स्वीकार कर नैयायिक बन कर अन्य कथा में भी शब्द नित्यत्व का अस्वीकार प्रतिज्ञाहानि हो जायगी, इसी प्रकार से तथा शब्द को यदि एकप्रकारव्यक्तिपरक मानें तो अन्य प्रकार से स्वीकारअस्वीकारस्थल में अव्याप्ति हो जायगी और यदि प्रकारमात्रपरक तद् शब्द को कहें, तो अस्तित्व से स्वीकृत का नित्यत्व से अस्वीकार प्रतिज्ञाहानि हो जायगी इसी प्रकार से "तस्य तेन" इत्यादि पद में भी दोष जानना। किञ्च स्वीकृत उक्त का परित्याग प्रतिज्ञाहानि है इस लक्षण में अपसिद्धान्त का व्यवच्छेदक उक्त पद [विरुद्ध के लक्षण में सव्यभिचार का व्यवच्छेदक नियम के तुल्य]

उक्तेतिपदस्य चापसिद्धान्तव्यवच्छेदकस्य विरुद्धन्यायेनासमर्थविशेषणत्वम्। एवं सर्व्वनिग्रहस्थानेषु द्रष्टव्यमिति सङ्क्षेपः ॥२२॥

प्रतिज्ञाहान्यादीत्यादिपदेन च किं सङ्गृह्यते। प्रतिज्ञान्तरादीति चेन्न, प्रतिज्ञान्तरमेव न निरूपयितुं शक्यते। तद्यथा—स्वोक्तस्य परदूषितस्य साध्यभागस्य पूर्व्वानुक्तविशेषणवतोऽभिधानं प्रतिज्ञान्तरमित्यलक्षणम्। तथा हि–यत्र वादिना प्रथमं सविशेषणः प्रतिज्ञाभागोऽभिहितः, परेण च निर्विशेषणोक्तभ्रमाद्द दूषितः, ततो वादी प्रथमाभिहितं सविशेषणमेवोपन्यस्येदृशं मयोक्तं न तु निर्विशेषणमतो निरनुयोज्यानुयोगो भवत इति सदुत्तरमेव ब्रूते तत्रापि गतत्त्वादतिव्यापकमेतत् ॥२३॥

पूर्व्वानुक्तविशेषणवत्त्वं तत्र नास्ति तत्कथमतिव्याप्तिरिति चेन्न, प्रथमोक्तेः प्रागभावस्य पूर्व्वं स्थितत्वात्। विशेष्योक्तिरपि तदा नासीदिति चेत् किमायातं तावता विशेषणानुक्त्यतिप्रसङ्गस्य।

व्यर्थ है, कारण कि स्वीकृत का परित्यागमात्र दूषण में पर्य्याप्त है, इसी प्रकार से अन्य निग्रहस्थान के लक्षण में भी विशेषण का वैयर्थ्य जानना चाहिये—यह प्रतिज्ञाहानि के खण्डन का संक्षेप से कथन है ॥२२॥

इति प्रतिज्ञाहानिखण्डनानुवाद

अथ प्रतिज्ञान्तरखण्डनानुवाद

प्रतिज्ञाहानि आदि यहाँ आदि शब्द से किसका ग्रहण है। प्रतिज्ञान्तर का निरूपण न हो सकने से प्रतिज्ञान्तर का आदि शब्द से ग्रहण तो हो नहीं सकता। देखिए—स्व से उक्त और पर से दूषित साध्यभाग का [पूर्व अनुक्त जो विशेषण, तादृशविशेषण युक्तत्व रूप से] अभिधान प्रतिज्ञान्तर है—यह लक्षण युक्त नहीं है, कारण कि जहाँ वादी ने सविशेषण ही साध्यभाग कथन किया हो, परन्तु प्रतिवादी ने विशेषणरहितत्व भ्रम से दूषित किया है—इसके बाद वादी, पूर्वकथितसविशेषण प्रतिज्ञाभाग का कथन कर–ऐसा हमने कहा है निर्विशेषण नहीं कहा है इससे आपका दोष अयुक्त है यह सत् उत्तर ही देता हो वहाँ लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—यहाँ हमने प्रथम विशेषण देकर ही कहा है, अतः पूर्वानुक्त विशेषण नहीं है अतः लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है ॥२३॥

खण्डन—प्रथम विशेषण की उक्ति से पूर्वकाल में विशेषणोक्ति का अभाव है हीं अर्थात् पूर्वानुक्त इत्यादि शब्द का पूर्वकाल में विद्यमान जो प्रागभाव तत्प्रतियोगी जो उक्ति तद्विषय जो विशेषण तादृश विशेषणवत्त्वरूप से अर्थ है और उक्तस्थल में प्रथमोक्ति से पूर्व विद्यमान प्रागभाव का प्रतियोगी जो उक्ति तद्विषय विशेषणवत्त्वरूप से अभिधान है, अतः अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है।

समर्थन—उसकाल में विशेष्य की उक्ति भी नहीं है।

विशेष्योक्तिकाले विशेषणानुक्तिर्व्विवक्षितेति चेन्न, एककर्तृकायां वाचो युगपदसम्भवेन सर्वत्र तथाभावस्यैव भावात्। विशेष्योक्तेरनन्तरकाल इति चेन्न, नीलोत्पलमित्यादौ पूर्व्वनिपातिविशेषणे तदभावात् । विशेष्योक्तेरव्यवहितपूर्व्वकाल इति चेन्न, उत्पलं नीलमित्यादौ तदभावात्। अव्यवहित इति चेन्न, बहुविशेषणके विशेष्ये तदभावात्। विशेषणाभिधानोचितकाल इति चेन्न, नानाविशेषणके विशेष्ये क्रमवृत्तित्वाद्वाचः क्रमेणाभिधीयमाने य एकविशेषणाभिधानकालः सोऽपरेषामपि विशेषणाभिधानानां योग्यो भवत्येवेति तदाऽन्येषां क्रमभाविनामभावात्सैवातिव्याप्तिः॥२४॥

सर्वस्मिन् योग्यकाल इति चेन्न, दूषणानन्तरकालस्य योग्यकालत्वाभ्युपगमेऽव्याप्तिः, दूषणपूर्वकालस्य तथाऽभिमतत्वे च दूषणानन्तरभाविन्या विशेषणोक्तिव्यक्तेस्तदानीमभावात् पूर्ववदतिव्याप्तिः । सर्वस्यास्तज्जातीयाया विशेषणस्योक्तेरभावो विवक्षित इति चेन् न, व्यक्तीनामभावप्रतियोगिभूतानां सर्वासां पृथक् पृथक् प्रमाणेन केनापि अस्मादृशा प्रत्येतुमशक्यतयाऽभावानिरूपणेन लक्षणस्याज्ञानादसिद्धिप्रसङ्गात्। सामान्यप्रत्यासत्त्या व्यक्तयः प्रतिभान्तीति निरस्तमनुमानावसरे ।

खण्डन—इस कथन से विशेषणानुक्ति का जो अतिप्रसङ्ग है, उसमें क्या लाभ हुआ अर्थात् वह अतिप्रसङ्ग ज्यों का त्यों बना ही रहा ।

समर्थन—विशेष्योक्ति के काल में अनुक्त जो विशेषण तादृश विशेषणवत्वरूप से अभिधान प्रतिज्ञान्तर है ।

खण्डन—एक मनुष्य से उच्चरित वचन में एक काल में विशेष्य और विशेषण दोनों की उक्ति हो नहीं सकती, अतः सविशेषण वाक्य में सर्वत्र ही विशेष्योक्ति काल में अनुक्त जो विशेषण तादृश विशेषणवत्वरूप से अभिधान होने से अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—विशेष्योक्ति के उत्तर काल में अनुक्त जो विशेषण तादृशविशेषणवत्व रूप से अभिधान प्रतिज्ञान्तर है ।

खण्डन—ऐसे निवेश में जहां विशेष्योक्ति से पूर्वकाल में विशेषणोक्ति है, वहां नीलमुत्पलम्, इस स्थल में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि विशेष्योक्ति से अव्यवहित पूर्वकाल में अनुक्त जो विशेषण इत्यादि निवेश करें तो—उत्पलंनीलम्—यहां अतिव्याप्ति हो जायगी और यदि विशेष्योक्ति से अव्यवहितकाल में अनुक्त जो विशेषण इत्यादि निवेश करें तो बहु विशेषणवाले "सुरभि नीलम् उत्पलं विकासि मनोहरम्" इस वाक्य में अतिव्याप्ति हो जायगी ॥ २४ ॥

समर्थन—विशेषण के अभिधान का उचित जो काल उस काल में अनुक्त जो विशेषण तादृश विशेषणवत्वरूप से स्वोक्तपरदूषित साध्यभाग का अभिधान प्रतिज्ञान्तर है, अतः "सुरभि नीलमुत्पलम्" इत्यादि पूर्वोक्त वाक्य में अतिव्याप्ति नहीं है, कारण कि उक्त वाक्य में विशेषणोक्तिकाल में सर्व विशेषण उक्त ही हैं, अनुक्त नहीं ।

खण्डन—नानाविशेषणवाले विशेष्य में वचन के क्रमवृत्तिक होने से जहाँ क्रम से विशेषण का अभिधान है, वहाँ एक विशेषण का जो अभिधानकाल है, वहीं अन्य विशे-

एतेन पूर्व्वमविशिष्टोक्तस्येति विशेषणं प्रक्षेप्यमिति निरस्तम् । उत्तरकाल-वाच्यविशेषणकविशेष्यस्य प्रथममविशिष्टोक्तत्वसम्भवस्य दर्शितत्वात् ॥ २५ ॥

किञ्च प्रथममविशिष्टमुक्त्वा भवता यदि विशेषणमिदं प्रक्षिप्यते, तदा हेत्वन्तरं भवतोऽपि स्यात्तथापि तदभावे वा ममापि कुतः प्रतिज्ञान्तरम् । अथ प्रथममेवेदं विशेषणमुपादाय ब्रवीषि, तथाप्यव्याप्तिः । प्रथमं सविशेषणमुक्त्वा विशेषणवैयर्थ्यभ्रमेण झटिति सम्वरणान्निर्विशेषणेऽभिहिते परेण च दूषिते पुनः सविशेषणमभिदधतो नैवं प्रतिज्ञान्तरं स्यादित्यव्याप्तिः, स्वपरसाध्यपूर्वपदानां विवेचने व्यक्तौ पतनादव्याप्तिश्च । प्रकरणादिलभ्यतया प्रागनुक्तस्य विशेषणस्य भ्रान्तपरदूषितस्य प्रकरण--

---

पण के अभिधान के योग्य भी है ही और एक विशेषण के अभिधान में अन्य विशेषण की अनुक्ति ही है, अतः पूर्वोक्त अतिव्याप्ति वैसी ही है।

समर्थन—सम्पूर्ण योग्य काल में अनुक्त जो विशेषण तादृश विशेषणवत्वरूप से स्वोक्तपरदूषित साध्यभाग का अभिधान प्रतिज्ञान्तर है और उक्त वाक्य में सम्पूर्ण योग्यकाल में अनुक्त विशेषण नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—जहाँ दूषणदान से उत्तर काल में विशेषण का अभिधान है वहाँ लक्ष्य में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वहाँ भी योग्यकाल में विशेषण उक्त ही है, अनुक्त नहीं है।

समर्थन—दूषणदान से पूर्वकाल में अनुक्त जो विशेषण तादृशविशेषणवत्व रूप से स्वोक्तपरदूषित साध्यभाग का अभिधान प्रतिज्ञान्तर है।

खण्डन—प्रति उच्चारण शब्द भिन्न भिन्न होते हैं, अतः दूषण से उत्तर काल में उक्त विशेषण व्यक्ति के भी पूर्वकाल में अनुक्त होने से पूर्वोक्तस्थल में (जहाँ सविशेषण ही निर्विशेषण भ्रम से वादी से दूषित होने पर पूर्वोक्त विशेषणवत्व से कहा हो वहां) अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—दूषण से पूर्व उक्त जो विशेषण तत्सजातीय जो यावत् विशेषण उन सब से भिन्न जो विशेषण तादृशविशेषणवत्वरूप से स्वोक्तपरदूषितसाध्यभाग का अभिधान प्रतिज्ञान्तर है।

खण्डन—उक्त लक्षण में अभाव के प्रतियोगी सम्पूर्ण विशेषण व्यक्तियों का हम लोगों को किसी प्रमाण से ज्ञान न होने से अभाव के दुर्ज्ञेयत्व से लक्षण की असिद्धि हो जायगी। सामान्यलक्षणा से सर्वप्रतियोगि व्यक्तियों का ज्ञान नहीं हो सकता, कारण कि सामान्य लक्षण का खण्डन अनुमान खण्डनावसर में कर चुके हैं।

समर्थन—पूर्वकाल में अविशिष्टत्वरूप से उक्त परदूषित साध्यभाग के विशेषण-वत्वरूप से अभिधान प्रतिज्ञान्तर है।

खण्डन—किससे पूर्वकाल में अविशिष्टत्वरूप से उक्त हो यह विशेषरूप से नहीं कहा है, अतः यदि विशेष्योक्ति से पूर्वकाल का ग्रहण करें, तो जहां विशेष्य से उत्तरकाल में विशेषण की उक्ति है वहां विशेष्योक्ति से पूर्व अविशिष्टत्वरूप से अनुक्ति होने से अति-व्याप्ति हो जायगी ॥६५॥

किञ्च-प्रथम तो आपने "पूर्वम् अविशिष्टतया उक्तस्य" यह विशेषण दिया नहीं, अब यह विशेषण देते हैं, अतः हेत्वन्तर नाम निग्रहस्थान हो जायगा—ऐसा होने पर भी

लभ्यविशेषणवत्तयाऽनुवदतोऽपि सद्वादे प्रसङ्गः। अनुक्तस्थाने चाऽप्रतिपादितकरणेऽपि दोषः परस्मिन्नजातप्रतिपत्तौ प्रतिपादितत्वानुपपत्तेरित्यादि स्वयमूहनीयम् ॥ २६ ॥

प्रतिज्ञान्तरादीत्यादिपदेन किमिष्टम्? प्रतिज्ञाविरोधादीति चेन्न। यत एक वक्तृकैकवाक्यांशयोर्मिथो व्याघातः साध्यविपरीतव्याप्तत्वोद्भावनानपेक्षोद्भावनः प्रतिज्ञाविरोधः। तदेतदलक्षणम्। तथा हि—इह भूतले घटो नास्तीत्यादावपि गतत्वेनातिव्यापकमिदम्। वचनयोर्हि व्याघातोऽन्योन्यविरुद्धार्थत्वं तच्चेहास्ति, घटोऽस्तीत्यंशस्य घटसत्त्वबोधकत्वात् नकारस्य च तन्निषेधकत्वात् ॥ २७ ॥

नन्वयुक्तमिदमुच्यते, न हि घटो नास्तीत्यत्र घटोऽपि विधीयते घटनिषेधोऽपि च, येन मिथो व्याघातः स्यात्; किन्तु घटो निषिध्यते, घटनिषेध एव तु विधीयत इति यावत्, तत्कुतो व्याहतिरिति चेत्। मैवम्, घट इत्यस्य तावदंशस्य घटविधि-

---

यदि हेत्वन्तर न हो, तो हमें प्रतिज्ञान्तर कैसे होगा और यदि प्रथम से ही इस विशेषण को दे कर आप कहें, तब भी अव्याप्ति है। देखिये—जहां प्रथम से सविशेषण ही कह कर विशेषण के वैयर्थ्य के भ्रम से झटिति विशेषण का त्याग कर निर्विशेषण का ही अभिधान किया हो और फिर प्रतिवादी के दोष देने पर सविशेषण का अभिधान हो वहां अव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च— लक्षणघटकस्वपर-साध्य-पद के यदि अर्थ का विवेचन करते हैं तो तत्-तत्व्यक्तिपरक होने से जिस व्यक्ति का स्व शब्द से ग्रहण करेंगे उससे अन्यत्र अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च जहाँ प्रकरण से लभ्य होने से प्राक्काल में विशेषण अनुक्त है, परन्तु अज्ञानवश प्रतिवादी से दूषित है और वादी ने प्रकरणलभ्य विशेषण का अनुवादमात्र किया है, वहाँ सद्वाद में अतिव्याप्ति हो जायगी और यदि पूर्वकाल में अप्रतिपादित विशेषणवत्वरूप से अभिधान प्रतिज्ञान्तर है ऐसा लक्षण करें तो यद्यपि प्रकरणलभ्य विशेषण भी प्रतिपत्ति के विषय होने से प्रतिपादित ही है अप्रतिपादित नहीं, अतः उक्त-स्थल में अव्याप्ति नहीं है, तथापि पर की जहाँ प्रतिपत्ति नहीं हुई है, वहाँ प्रकरणलभ्य विशेषण को भी अप्रतिपादित होने से अव्याप्ति वैसे ही है इत्यादि दोष स्वयं ऊहनीय हैं ॥२६॥

इति प्रतिज्ञान्तरखण्डनानुवाद

अथ प्रतिज्ञाविरोधखण्डनानुवाद

प्रतिज्ञान्तर आदि यहां आदि पद से किसका ग्रहण इष्ट है। प्रतिज्ञाविरोध का ग्रहण तो इष्ट नहीं है, कारण कि साध्य के अभाव के व्याप्तत्व के उद्भावन की अनपेक्षा से जिसका उद्भावन हो ऐसा एक वक्ता के एक वाक्य के दो अंशो का मिथः व्याघात प्रतिज्ञा विरोध है—यह लक्षण युक्त नहीं है। देखिये "इह भूतले घटो नास्ति" यहां गत होने से यह लक्षण अतिव्यापक है, परस्पर विरुद्ध अर्थ होना ही वचनों का व्याघात है वह विरोध घट इस अंश को घटसत्व के बोधक होने से और "न" के घट निषेध के बोधक होने से यहां विद्यमान है ॥ २७॥

बोधकत्वं, नास्तीत्यस्यापि तत्प्रतिषेधार्थत्वं भवताऽपि मन्तव्यम्। यदित्वेवं नाभ्युपैषि, तदा तयोरविरुद्धार्थतया घटश्चाऽपेक्षितनिषेधास्तित्वं च भूतलाश्रितं द्वयमस्य वाक्यस्य बोधनीयं स्यादिति, तस्माद्विधिरूप एव घट इति तत्प्रतिक्षेप एव च नेति किमेतावेककर्तृकवाक्यांशौ न भवतः? परस्परविरोधार्थाभिधायकौ वा न भवतः? येन लक्षणमिदं भवतस्तत्र न गच्छेत्। न मिथो विरुद्धत्वमात्रं मिथो व्याघातकत्वं किन्त्वेकदेशकालादौ परस्परविरुद्धार्थयोरस्तित्वं, न च नास्तीत्यनेनैकदेशकालादौ विधिनिषेधौ वर्त्तमानौ बोध्येते इति चेन्न। उक्तोत्तरत्वात् देशकालाद्यनन्तर्भावे विरोधस्यैवानुपपत्तेः ॥ २८ ॥

किञ्च यद्येकदेशादौ विरुद्धास्तित्वं प्रामाणिकमभ्युपैषि, तदा विरुद्धशब्दस्तवायमन्य एव सामयिकार्थः कश्चित्, प्रमाणेन तथाभूतस्य ग्रहणादेव विरुद्धत्वाभ्युपगमशान्तेः। अथ प्रामाणिकं तन्नाभ्युपैषि तदाऽप्रामाणिकं मिथो व्याघातकत्वं क नाम नास्तीत्यतिव्याप्तिः॥ २९ ॥

समर्थन—"घटो नास्ति" इस वाक्य में घट और घटनिषेध दोनों का विधान नहीं है जिससे व्याघात हो; किन्तु घटनिषेध का ही विधान है फिर इस वाक्य में व्याघात कहां है, अतः "घटो नास्ति" इस वाक्य में व्याघात है यह कथन युक्त नहीं है।

खण्डन—"घटः" यह अंश घटविधि का बोधक है और "नास्ति" यह अंश घट निषेध के बोधक है—यह तो आप भी मानेंगे, यदि ऐसा न मानें तो दोनों के अविरुद्धार्थक होने से घट और घटनिषेध दोनों के भूतल में अस्तित्व वाक्यार्थ हो जायगा, तस्मात् "घट" विधिरूप है और "न" का अर्थ घट का निषेध रूप ही है, फिर क्या यह एककर्तृकवाक्य का अंश नहीं है, अथवा परस्पर विरुद्ध अर्थ का वाचक नहीं, जिससे आपके लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो।

समर्थन—परस्पर विरोधमात्र व्याघात नहीं है, किन्तु एक देश या काल में विरुद्ध दो पदार्थों का अस्तित्व व्याघात है और उक्त वाक्य से एकदेश अथवा काल में वर्तमान विधि निषेध बोधित नहीं होता है, अतः उक्त वाक्य में व्याघात नहीं है।

खण्डन—घट और घटनिषेध दोनों परस्पर विरुद्ध हैं—यह तो आप भी मानते ही हैं। वह विरोध एक देशकाल के अन्तरभाव के विना हो नहीं सकता, अतः अगत्या देशकाल का अन्तरभाव भी मानना ही पड़ेगा ॥ २८ ॥

किञ्च—विरुद्ध दो पदार्थों का एक देश या काल में अस्तित्व प्रामाणिक है अथवा नहीं? यदि एक देश में अस्तित्व प्रामाणिक है, तो रूप रस के तुल्य वे दोनों एक देश में रहने से विरुद्ध ही नहीं हैं। उनको विरुद्ध कहना अपना सङ्केतमात्र है और यदि उन दोनों का एक देश में अस्तित्व प्रामाणिक नहीं है, तो अमुक वाक्य व्याहत है—इस कथन का यह अर्थ हुआ कि यहां अप्रामाणिक व्याघात दोष है। फिर इससे हानि क्या हुई, कारण कि प्रमाणिक दोष ही कार्य्य का प्रतिबन्धक होता है। किञ्च प्रामाणिक व्याघात कहां नहीं है "घटो नास्ति" इस वाक्य में भी है, अतः पूर्वोक्त अतिव्याप्ति वैसी ही है ॥ २९ ॥

अथ मन्यसे–यथा परेणाभिधीयेते अर्थौ तथा मिथो व्याघातकाविति ब्रूमः, तत्र च प्रमाणं प्रसरत्येवेति। न कथमपि तत्र प्रमाणप्रसृतौ विरोधभाषापरिभाषामात्त्वापत्तेः। यथा परेणोक्तोऽर्थस्तथा मिथो व्याघातक इत्यपि क्वचिन्मिथोव्याघातकमर्थमप्रमाय न वक्तुं शक्यम्। प्रसज्यते मिथो व्याघातो न प्रसाध्यत इति चेन्न, क्वचिदप्यप्रमितस्य प्रसञ्जयितुमपि भवताऽशक्यत्वात्। मा प्रमायि अप्रमायैव तद्व्यवहार इति चेन्न। क्वचिदप्यप्रमितमाभासमात्रोपस्थितं क्व नाम नोपस्थापयितुं शक्यमित्युक्तैवातिव्याप्तिरावर्त्तते। अनेकत्र नियतयोरेकत्र प्रसञ्जनमिति चेन् न, प्रसञ्जकस्य तद्द्वयस्यैकत्र स्थितिनियततप्रमितावविरोधस्यानेवम्भावे चाऽनापादकत्वस्यापत्तेः॥३०॥

समर्थन—वादी ने जिस प्रकार से अर्थात् सामानाधिकरण्यरूप से वन्ध्यात्व मातृत्व रूप दो अर्थों का प्रयोग किया है, उस सामानाधिकरण्य रूप से व्याघातक है—यह हम कहते हैं, वहां पर वायुक्त "वन्ध्यामाता" इस वाक्य के बाधितार्थक होने से अप्रमाण होने पर भी उक्त वाक्य प्रतिपाद्यत्वरूप से वन्ध्यात्व मातृत्व सामानाधिकरण्य प्रमाण विषय हैं ही, अतः उक्त दोष नहीं है।

खण्डन—किसी प्रकार से अर्थात् वाक्यप्रतिपाद्यत्वरूप से भी यदि वन्ध्यात्वमातृत्व का सामानाधिकरण्य प्रमाण का विषय है तो रूपरस के तुल्य वे दोनों विरुद्ध ही नहीं हैं, अतः विरोध का कथन परिभाषामात्र है। किञ्च जब तक मिथः व्याघातकत्व प्रामाणिक न हो तबतक जिस प्रकार से इत्यादि कथन भी नहीं कर सकते।

समर्थन—पर से उक्त वन्ध्या में माता इस प्रसञ्जक वाक्य से मिथोव्याघात का प्रसञ्जन (आरोप) मात्र होता है, साधन नहीं होता है।

खण्डन—जो कहीं प्रामाणिक नहीं है, उसका प्रसञ्जन भी नहीं हो सकता। तर्कस्थल में भी ह्रद में प्रमित ही धूमाभाव का पर्वत में प्रसञ्जन होता है।

समर्थन—प्रमित न हो क्या हानि है, पर का जो अभ्युपगम है उससे ही प्रसञ्जन होगा जैसे भ्रम के "नेदं रजतम्" इस बाध में शुक्ति रजततादात्म्य [प्रतियोगीरूप से] भासता है।

खण्डन—अप्रमित केवल भ्रम से उपस्थित व्याघात का प्रसञ्जन सर्वत्र हो सकता है। अतः "घटो नास्ति" इस वाक्य स्थल में प्रसञ्जन होने से पूर्वोक्त अतिव्याप्ति वैसी ही है।

समर्थन—वन्ध्या में वन्ध्यात्व और माता में मातृत्व प्रमित है, उन दोनों के एक धर्मी में [वन्ध्या माता इस वाक्य स्थल में प्रसञ्जक के बल से] प्रसञ्जन होता है।

खण्डन—विरुद्ध दो धर्मों का एक में प्रसञ्जन विना किसी प्रसञ्जक के हो नहीं सकता और उस प्रसञ्जक में प्रसज्यद्वय की व्याप्ति यदि प्रमित है तो उन दोनों के एकत्र प्रमित होने से वस्तुतः विरोध है नहीं, केवल विरोध का परिभाषामात्र है और यदि व्याप्ति प्रमित नहीं है तो आपादक हो नहीं सकते।

समर्थन—एक २ के व्याप्य दो प्रसञ्जकों से मिलित दोनों का आपादन नहीं होता है, किन्तु पृथक् २ दोनों का प्रसञ्जन होता है ॥३०॥

खण्डन—ऐसा होने पर दोनों का एकत्र साधक तो है नहीं, अतः व्याघात ही नहीं होगा।

एकैकव्याप्याभ्यां पृथक् पृथक् तद्द्वयापादनमिति चेन्न, एकैकमव्याघातात्। अर्थात् द्वयं स्यादिति चेन्न, अर्थापत्त्यर्थत्वेनैवाव्याघातात्। अर्थादापादनं न साधनमिति चेन्न, मिथो विरोधित्वेन तर्काभासत्वापत्तेः, इष्टापादनाच्च। मिथो व्याघातात् कथं तथा स्यादिति चेन्न, तद्द्वयधर्म्मिकत्वात् व्याघातापत्तेर्धर्म्मिणि प्रमापेक्षायामव्याघातात् ॥ ३१ ॥

एवमादीनां दोषाणां परं प्रत्यभिधाने तत्रापि सर्वमिदं सुवचमिति चेन्न, तत्राप्यन्यत्र दोषो मयाऽऽपाद्यत इति प्रतिबन्दीं गृह्णतः किं परपक्षे दोषापादनमात्रं

समर्थन—दोनों के व्याप्यों से एक २ के अवस्थान होने पर अनुपपत्ति से ही दोनों की एकत्र अवस्थिति होने से व्याघात है।

खण्डन—प्रत्येक दोनों के एकत्र आपादन की अनुपपत्ति से उन दोनों की अवस्थिति का एकत्र आप साधन करते हैं या आरोपमात्र। प्रथमपक्ष में अनुपपत्ति को अर्थापत्तिरूप-प्रमाण होने से उससे प्रमित विरुद्धद्वय का एकत्र अवस्थान रूपरस के तुल्य व्याहत ही नहीं है। यदि कहें कि अनुपपत्ति से प्रसञ्जनमात्र करते हैं और प्रसञ्जन में प्रमा की अपेक्षा नहीं; कारण कि प्रसञ्जन ज्ञानमात्र से ही होता है, अतः पूर्वोक्त दोष नहीं तो जैसे व्यापक धर्म्मद्वय का एकत्र अवस्थान व्याघात है वैसे ही उनके व्याप्य आपादक दोनों का भी एकत्र अवस्थान भी व्याघात है, अतः उनसे प्रसञ्जन तर्काभास हो जायगा। किञ्च एक २ का आपादन ही इष्ट है अनिष्ट नहीं और अनिष्ट का आपादान ही तर्क है इससे भी यह तर्काभास है।

समर्थन—एक एक का आपादान ही विरुद्ध धर्म्मद्वय के आपादन में पर्य्यवसित होता है, अतः अनिष्टापादन ही है, इष्टापादन कैसे होगा।

खण्डन—तब तो एक धर्म्मी विरुद्ध धर्म्मद्वय युक्त है ऐसा ही व्याघात का आपादन हुआ, यह तब हो सकता है जब धर्म्मद्वययुक्त धर्म्मी प्रमित हो और यदि प्रमित मान लें तो रूप रस के तुल्य प्रमित होने से व्याहत ही नहीं है ॥ ३१ ॥

इतिप्रतिज्ञाविरोधखण्डनानुवाद

अथ प्रतिबन्दीखण्डनानुवाद

आप अद्वैतसिद्धि में प्रवृत्त हैं और आपको यदि नैयायिक आदि प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थान से निगृहीत करें तो जैसे आप प्रतिज्ञाहानि आदि के लक्षण का खण्डन कर प्रतिज्ञाहानि आदि का निवारण करते हैं, नैयायिक आदि द्वैतसिद्धि में प्रवृत्त हों और यदि आप भी प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थान का उपन्यास करें तो वैसे ही नैयायिक आदि भी प्रतिज्ञाहान्यादि के लक्षण के खण्डन कर प्रतिज्ञाहान्यादि का निवारण कर सकते हैं।

विवक्षितम्, उत यस्त्वया तत्र समाधिरभिधेयः स मयापीत्यभिप्रायात् स्वपक्षे समाधिः ? न तावदाद्यः, अप्रस्तुतत्वात् । परोक्तदोषानुद्धारे तावतैव कथायास्तदर्द्धस्य वा पर्य्यवसानात्, निग्रहापरिहारावधित्वात्तयोः ॥ ३२ ॥

द्वितीये तु स एवाभिधीयतां का नो हानिः । भवाँस्तावदभिधत्तां कस्तत्र समाधिः, ततो मयाप्यभिधेय इति चेन्न । मया तदभिधानस्य साम्प्रतमप्रस्तुतत्वात् । नहि मया स्वपक्षसाधनं त्वया च तद्दूषणं प्रक्रान्ते वक्तुमारब्धमस्ति, किन्तु त्वया स्वःपक्षो निर्वाह्यः, तद्दूषणञ्च मयाऽभिधानीयमिति कथा प्रस्तुता वर्त्तते । ईदृशि च कथाविभागे मत्पक्षसमाधानाय मां पर्य्यनुयोक्तुं भवतः कुतोऽधिकारः ॥ ३३ ॥

अथ विशेषतस्तन्निष्टङ्कने किं प्रयोजनमस्ति तावदेतादृशि चोद्ये परिहारो यतस्त्वयाऽपि स्वपक्षेऽसौ स्वीकार्य्य इत्याशयस्ते, सोऽपि न युक्तः, न हि मत्पक्षे चेत्समाधिरस्ति तावता त्वत्पक्षेऽपि तेन भवितव्यमित्यत्र किञ्चिदपि प्रमाणमस्ति । साम्यादेवमिति चेन्न, वैषम्यस्यावश्याभ्युपेयत्वात् । यदि तद्गतमसाधारणं स्वरूपमादाय

खण्डन—आप क्या अन्य पक्ष में दोष के आपादान से प्रतिबन्दीरूप दोष देकर केवल परपक्ष में दोष का आपादानमात्र चाहते हैं अथवा जो परपक्ष में दोष है वह दोष मेरे पक्ष में भी है इस अभिप्राय से स्वपक्ष में समाधि चाहते हैं । इनमें प्रथमपक्ष युक्त नहीं है, कारण कि सम्प्रति परपक्ष में दोष प्रस्तुत नहीं है, स्वपक्ष में परोक्त दोष का उद्धार न होने से ही वितण्डारूप कथा तथा वादजल्परूप कथा का अर्द्ध समाप्त हो जाता है, कारण कि निग्रहस्थान का अपरिहार ही उसकी अवधि है ॥३२॥

द्वितीयपक्ष में उस समाधि को ही कहिये मेरी हानि क्या है ।

समर्थन—पहिले आप ही कहिये कि आपके पक्ष में क्या समाधि है, पीछे हम भी अपने पक्ष में समाधि कहेंगे ।

खण्डन—मेरे पक्ष में समाधान सम्प्रति अप्रस्तुत है, कारण कि हमने स्वपक्षमें समाधान कहने का तथा आपने हमारे पक्ष में दूषण कहने का आरम्भ नहीं किया है; किन्तु आप अपने पक्ष का निर्वाह करें और हम आपके पक्ष में दोष दें ऐसी ही कथा प्रस्तुत है, इस कथा में मेरे पक्ष में समाधान के लिये मुझे प्रेरणा करने में आपका अधिकार कैसे हो सकता है ॥३३॥

समर्थन—विशेषरूप से अपने पक्ष में समाधान देने से क्या लाभ है इस दोष का समाधान है, कारण कि आप भी अपने पक्ष में उस समाधान को स्वीकार करते हैं ।

खण्डन—आपका यह आशय युक्त नहीं है, कारण कि मेरे पक्ष में समाधान हो इससे तुम्हारे पक्ष में भी समाधान हो इसमें कुछ प्रमाण नहीं है ।

समर्थन—दोष तुल्य है इससे समाधान भी तुल्य हो ऐसी अनुमिति हो सकती है ।

खण्डन—समाधेय व्यक्तिगत विशेष का ग्रहणकर तथा स्वदर्शन प्रतिदर्शन के सिद्धान्त का आश्रयण कर समाधान में वैषम्य की भी सम्भावना है । देखिये—नैयायिक जहां द्रव्य में सद्व्यवहारविषयत्व से सत्ता की सिद्धि करता हो और यदि सत्ता की सिद्धि सद्व्यवहारविषयत्व से हो तो सत्ता में भी सद्व्यवहारविषयत्व से सत्ता की सिद्धि क्यों न हो ऐसी प्रतिबन्दी मीमांसक देता हो, वहां समाधेय व्यक्ति सत्ता तथा द्रव्य भी

मद्दर्शनं प्रतितन्त्रसिद्धान्तं वा तत्र समाधिः स्यात्, अत्र च त्वत्पक्षे तदभावान्न स्यात्, तथा सति साम्यमात्रात्कथं सामाधिरसावत्रापीति निश्चेतुं शक्यते। कोऽसौ तत्र विशेष इति चेन्न, मया साम्प्रतं तदभिधानस्याप्रस्तुतत्त्वमित्युक्तत्वात् ॥ ३४ ॥

चोद्यसाम्यात् समाधिसाम्यमिति चेन्न। दूष्यगतविशेषभावाभावविशेषितत्वादिनापि तद्वैषम्यसम्भवात्। यथा सद्व्यवहारस्य सत्तास्वीकारत्वे तुल्येऽपि सत्तायां तदभ्युपगमेऽनवस्थया तदाश्रये च तदभावेन, एवमन्यत्रापि बहुलं दर्शनादिति ॥३५॥

किञ्च परोद्भावितमसिद्ध्यादिकमपरिहृत्य प्रतिबन्द्या प्रत्यवतिष्ठमानस्य कोऽभिप्रायः। किं यदिदं दोषतया परेणोद्भावितं तददूषणम् अदूष्येऽपि गतत्वात्, उत दूषणमपि सन्नोद्भावनीयं तुल्ययोगक्षेमत्त्वात्। यथाऽऽहुः—"यत्रोभयोरित्यादि"। नाद्यः यद्यत्राऽसिद्ध्यादिलक्षणमस्ति उद्भाविते दूषणे तदा दोषत्वस्याशक्यपरिहार-

---

विशेष है तथा सत्ता में सद्व्यवहार [स्वरूपसत्व को] विषय करता है, ऐसा नैयायिकदर्शन प्रतिदर्शन (मीमांसा) सिद्धान्तरूप समाधि है और तुम्हारे पक्ष में द्रव्य में वह समाधान नहीं है, अतः दोष के साम्य से यहां भी समाधि है यह निश्चय कैसे हो सकता है।

समर्थन—दोष तुल्य होने पर भी समाधि में वैषम्य का प्रयोजक विशेष क्या है।

खण्डन—मैं विशेष का अभिधान करूँ यह अप्रस्तुत है—यह कह आया हूं ॥ ३४ ॥

समर्थन—फिर भी जब प्रश्न सम है तब समाधि सम ही होनी चाहिये।

खण्डन—दूष्य व्यक्तिगत जो विशेष (भाव अभाव) उसके होने से भी समाधि में भेद हो सकता है। देखिये—सद् व्यवहार के सत्तासाधकत्व के तुल्य होने पर भी सत्ता में सत्ता मानने में अनवस्था का भाव है और द्रव्य में सत्ता मानने में अनवस्था का अभाव है, इसी प्रकार से अन्यत्र भी दोष के सम होने पर भी समाधि में वैषम्य देखा जाता है ॥ ३५॥

किञ्च स्वपक्ष में प्रतिवादी से दत्त असिद्धि आदि का परिहार न कर प्रतिबन्दी से समाधान देनेवाले का क्या अभिप्राय है। आप जिस दोष को देते हैं वह दोष नहीं है, कारण कि अदूष्य आपके मत में भी है यह अभिप्राय है। अथवा दूषण तो है परन्तु इसका उद्भाव नहीं करना चाहिये, कारण कि दोनों पक्षों में इसकी स्थिति तुल्य है। यह बात भट्ट जी ने कही भी है कि जहाँ दोष दोनों पक्ष में सम हो और उसका समाधान भी तुल्य हो ऐसे अर्थ के विचार में एक पर प्रश्न नहीं करना चाहिये। इनमें प्रथमपक्ष युक्त नहीं, कारण कि यदि यहाँ कथित दोष में दोष का लक्षण है तो दोषत्व का परिहार अशक्य है और यदि दोषत्व का परिहार करें तो वह दोष का लक्षण ही नहीं कहावेगा।

समर्थन—यदि यह दोष है तो वादी से अदूष्यत्वरूप से स्वीकृत प्रतिबन्दी के स्थान में क्यों गया।

खण्डन—यदि यह दोष नहीं है तो दोष के लक्षण से युक्त कैसे हुआ इस बात पर भी ध्यान दीजिये।

समर्थन—निश्चय के कारण होने से प्रकृत दोष में दोषत्व का सन्देह होगा।

खण्डन—दोषत्व का सन्देह ही रहे हानि क्या है। दोष के सन्देह से ही आपका हेतु साधक नहीं होगा, संदिग्ध असिद्धि के तुल्य। किञ्च जिस लक्षण से युक्त असिद्ध्यादि में

स्यात् परिहारेपि वा तस्यालक्षणत्वप्रसङ्गात्। यद्येतद्दूषणं कथं तर्हदूष्यत्वेन वादिनाङ्गीकृतेऽपि प्रतिबन्दीस्थाने गतमिति चेत्। यद्येतददूषणं कथं दोषलक्षणोपपन्नमित्यत्रापि दीयतां दृष्टिः। नियामकभावे तर्हेतदीयदूषणत्वे सन्देहः पर्य्यवसित इति चेत् अस्तु दोषत्वसन्देहेऽपि भवदीयसाधनस्यासाधकत्वात् सन्दिग्धासिद्धवत्। किञ्च यल्लक्षणवतोऽस्य दोषत्वसन्देहस्तल्लक्षणक एवायमन्यत्रापीति तत्राप्यसिद्ध्यादेरदूषणत्वमेव स्यादितीयं प्रतीवन्दी दुरुत्तरा प्रतिवादिनेति ॥ ३६ ॥

नापि द्वितीयः, तथा ह्युभयवादिसम्मतादूष्यत्वं धूमानुमानादिकं यदि प्रतिबन्दीकरोति परस्तदा तद्दर्शनेऽन्यत्र क्वचिदप्येतदसिद्ध्यादिकं नोद्भावनीयं परसाधनेषु तस्यैव धूमानुमानादेः प्रतिबन्ध्या भयादित्येषा मयापि सुग्रहैव तं प्रति प्रतिबन्दी अत्रापि शक्यत एव पठितुं "यत्रोभयोः समो दोष" इत्यादि ॥ ३७ ॥

अथ यं विशेषमादाय प्रतिबन्दी स्यात् तन्मात्रस्यानुद्भावनं न तु सामान्यत एवेति चेन्न। तत्र विशेषे प्रतिबन्द्या त्याजितदुष्टत्वे गतत्वात्तल्लक्षणमेव नेति स्यात्, विशिष्य तद्विशेषत्याजने च तादृशस्य लक्षणस्यासिद्धिरेव स्यादिति कृतं प्रतिबन्द्या।

प्रकृतस्थल में दोषत्व का सन्देह है, उस लक्षण से युक्त ही असिद्ध्यादि अन्यत्र भी है, अतः यदि असिद्ध्यादि को यहाँ दूषण न मानें तो अन्यत्र भी असिद्ध्यादि दूषण न कहावेगा यह प्रतिबन्दी प्रतिबन्दीवादी को भी दुरुत्तर ही है ॥३६॥

द्वितीयपक्ष भी युक्त नहीं है देखिये "वर्णाः अनित्याः श्रावणत्वात् ध्वनिवत्" नैयायिक की इस अनुमिति में उपान्त्यवर्ण में असिद्धि और शब्दत्व में अनैकान्तिकत्व दोष को मीमांसक के देने पर नैयायिक उभयमत में अदूष्य धूमानुमान को प्रतिबन्दी यदि करें अर्थात् धूम भी आकाश में अनैकान्तिक है तथा आर्द्रेन्धन संयुक्त प्रदेश अन्यत्र पर्वत में असिद्ध है, अतः असिद्धि और अनैकान्तिक यदि प्रस्तुतस्थल में दोष हो तो उक्त दोष धूमानुमान में भी हो जायगा ऐसा कहें तो नैयायिक मत में कहीं भी धूमानुमानरूप प्रतिबन्दी के भय से असिद्धि आदि का उद्भावन न हो सकेगा। भाव यह है कि यदि प्रस्तुत श्रावणत्वानुमान में धूमानुमानरूप प्रतिबन्दी के भय से असिद्ध्यादि दोष न कहावे तो उक्त प्रतिबन्दी के भय से कहीं भी असिद्ध्यादि दोष न कहावेगा। ऐसी प्रतिबन्दी नैयायिक पर भी हो सकती है। यहाँ भी यत्रोभयः इत्यादि पढ़ ही सकते हैं ॥३७॥

समर्थन—जिस असिद्धि के प्रकारविशेष को ग्रहण कर प्रतिबन्दी करते हैं उस दोष से विशिष्ट प्रकृत हेतु का उद्भावन नहीं होता है। सामान्य से असिद्धि का उद्भावन तो होता ही है।

खण्डन—प्रतिबन्दी ने जिस (असिद्धि) विशेष में दोषत्व तो दूर कर दिया है और असिद्धि का लक्षण है, उस स्थल में उक्तलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—असिद्धि आदि दोषों के लक्षण में प्रतिबन्दी से त्याजित दुष्टत्व से अन्य हो ऐसा निवेश करने से अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—यदि ऐसा है, तो प्रतिबन्दी का उद्भावन व्यर्थ है, असिद्धि के लक्षण का अभाव है, केवल इतना ही उद्भावन करना चाहिये।

अथ मद्दर्शनमात्राभ्युपगतादृश्यत्वं किञ्चित्पदार्थं प्रतिवन्दीकरोतित दैतदुक्तं तेन स्यात् । इह नेदं दूषणं वक्तव्यमित्यभिधानेऽनयैव युक्त्या तवेष्टभङ्गप्रसङ्गादिति, तन्न । इदमिह दूषणं वक्तव्यमनभिधानेऽस्यैवानिष्टस्य परसिषाधयिषितस्य सिद्धिप्रसङ्गादित्यभिधानानुकूलाया अपि प्रतिवन्द्याः सम्भवात् ॥ ३८ ॥

नन्वेवमेवास्तु तथाचाभिधानेऽनभिधाने चोभयतः पाशा प्रतिवन्दीरज्जुर्भवत एव दुर्निवारा स्यात् । मैवम्, मिथोविरुद्धायाः प्रतिवन्द्यास्तर्काभासत्वात् मिथोविरुद्धत्वस्य तर्कदूषणत्वात् । सत्प्रतिपक्षानुमानवद्द्वयोरपि परस्परप्रतिक्षेपेणैवोपक्षीणत्वादिति । न्यायद्वितीयाध्यायप्रथमाह्निकसूत्रे च "प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्" इत्यत्रा-

---

समर्थन—जहाँ-प्रपञ्चः सत्यो व्यावहारिकत्वात्, इस नैयायिक के अनुमान में वेदान्ती असिद्धि का उद्भावन करता हो वहाँ यदि मेरी अनुमिति में असिद्धि दोष हो, तो—प्रपञ्चो मिथ्या व्यावहारिकत्वात्, इस आपके अनुमान में भी असिद्धि हो जायगी, ऐसी प्रतिवन्दी का उपन्यास नैयायिक करता हो वहाँ उसका यह अभिप्राय है कि इस दोष का अभिधान यहाँ मत करो, यदि अभिधान करोगे, तो इसी दोष से तुम्हारे इष्ट का भी भङ्ग हो जायगा।

खण्डन—यहाँ दोष अवश्य कहना चाहिये, यदि अभिधान न करेंगे तो परका सिसाधयिषित अनिष्ट का प्रसङ्ग हो जायगा, ऐसे अभिधान के अनुकूल प्रतिवन्दी की भी सम्भावना है ॥३८॥

समर्थन—ऐसी ही रहे हानि क्या है, यदि असिद्धि का अभिधान करते हैं, तो इसी दोष से मेरे अभीष्ट को असिद्धि होती है और यदि असिद्धि का अभिधान नहीं करते हैं, तो पर के सियाधयिषित मेरे अनिष्ट की सिद्धि होती है इत्याकारक उभयतः पाश प्रतिवन्दी वेदान्ती के ऊपर ही होती है।

खण्डन—असिद्धि आदि दोष के अभिधान अनभिधान से मेरे पक्ष में दोष का आपादन आप करते हैं—यह तृतीय प्रतिवन्दी होती है। यह युक्त नहीं, कारण कि मिथः विरुद्ध दो धर्म्मों से एक का आपादन नहीं हो सकता। प्रतिवन्दी तर्क है और मिथोविरोध तर्क का दोष है। सत्प्रतिपक्षानुमान के तुल्य यदि अभिधान पक्ष में दोष हो तो अनभिधान पक्ष दोष युक्त नहीं है और यदि अनभिधान पक्ष में दोष हो, तो अभिधानपक्ष में दोष नहीं है, इस प्रकार से परस्पर के प्रतिक्षेप से दोनों पक्षों में दोष अनुपपन्न है। चक्षुरादि इन्द्रिय प्रमेय हैं, अतः वे प्रमाण कैसे हो सकते हैं, कारण कि प्रमाकरणत्व रूप प्रमाणत्व और प्रमाविषयत्व रूप प्रमेयत्व विरुद्ध दो धर्म एक में नहीं रह सकते। इस शङ्का के समाधान के अर्थ न्याय द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक प्रयुक्त "प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्" इस सूत्र का—[जैसे तुला प्रमेय भी है और प्रमाण भी है। वैसे ही चक्षुरादि प्रमाण भी हैं और प्रमेय भी हैं अर्थात् एक ही में अनेक कारकत्व और अनेक काल का योग हो सकता है]—यह अर्थ है। यहां पर एक में अनेक काल के सम्बन्ध में प्रमाण कारण का कार्य्यानुगतरूप से अनुभव है। अननुगत ही कारण है और अननुगत ही कार्य्य है—क्षणिक पदार्थों में ही कार्य्यकारण भाव होता है तस्मात् कारण से अनुगत कार्य्य है, इसमें प्रमाण नहीं बौद्ध के ऐसा प्रश्न करने पर कार्य्य के कारण से अननुगत होने में कुछ दृष्टान्त नहीं है—ऐसा समाधान देने पर कार्य्य कारण से अन्वित हैं, इस पक्ष में भी कुछ दृष्टान्त नहीं है ऐसा सुगत के फिर प्रति-

ऽऽपातिदृष्टान्ताभावलक्षणदोषसाम्येन प्रत्यवस्थितं पूर्वपक्षवादिनं निराकर्त्तुमाचार्य्यः "समानमित्यनुत्तरमभ्युपगमात्, अभ्युपगतं तावद्भवता नास्मत्पक्षे दृष्टान्तोऽस्ती"ति ब्रुवन्नुद्योतकरो यत्तोभयोरित्यादि वदतो भट्टस्य प्रतिभटीकर्तव्यः। ३६ ॥

तत् किं प्रतिवन्द्यादि दूषणान्न भवत्येव, नन्वेवं भवतोऽपसिद्धान्तः स्यादिति चेत्, तर्हि दर्शयापसिद्धान्तस्य लक्षणं प्रकृतसम्बद्धतया, वाङ्मात्रेणापसिद्धान्ते भवतः किमिति नापसिद्धान्तः स्यात्। सिद्धान्तविपरीताभ्युपगमोऽपसिद्धान्तः प्रतिवन्द्यादि च भवता सिद्धान्तत्वेनाभ्युपेतं मयेदं दर्शनमाश्रित्याभिधेयमिति भवता दर्शनविशेषस्याभ्युपेतत्वात् दर्शनस्य च तत्तत्पदार्थस्वीकारात्मकत्वात् तेषु च पदार्थेषु प्रतिबन्दीदूषणादेः प्रविष्टत्वादिति चेन्न, लक्षणमेव तावदपसिद्धान्तस्य नोपपद्यते मत्सिद्धान्तविपरीतमभ्युपगच्छतो भवतोऽपसिद्धान्तप्रसङ्गात् ॥ ४० ॥

स्वसिद्धान्तस्तथाऽपेक्षित इति चेन्न, विशेषणपूरणमन्तरेण तदलाभात्, अन्यथा सर्वत्र विशेषणोपादानप्रयासवैयर्थ्यं स्यात्। एवमेवाभ्युपगमे भवत एवापः

वन्दी रूप प्रश्न करने पर उसके समाधान में प्रयुक्त "समानमिति अनुत्तरमभ्युपगतत्वात्" इस सूत्र के व्याख्यान में आपने इस बात को मान लिया है कि मेरे पक्ष में दृष्टान्त नहीं है, अतः स्वमत में दृष्टान्ताभाव को मान कर परपक्ष में दृष्टान्ताभाव रूप दोष देनेवाले आप के प्रति मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थान प्राप्त हुआ इत्यादि कहनेवाले उद्योतकर को प्रतिवन्दी माननेवाले भट्ट का प्रतिभट (प्रतिवादी) जानना चाहिये ॥ ३६ ॥

इति प्रतिबन्दीखण्डनानुवाद

अथ अपसिद्धान्त खण्डनानुवाद

प्रश्न—तब क्या प्रतिबन्दी आदि दूषण नहीं हैं ऐसा मानने पर आपको अपसिद्धान्त दोष हो जायगा।

उत्तर—यदि ऐसा है तो प्रकृत में सम्बद्ध अपसिद्धान्त का लक्षण दिखाइये, लक्षण न दिखाकर केवल वचन से यदि अपसिद्धान्त हो तो आपको ही अपसिद्धान्त क्यों न हो।

निर्वचन—सिद्धान्त का जो विपरीत उसका अभ्युपगम अपसिद्धान्त है। आप प्रतिबन्दी आदि को सिद्धान्तरूप से मानते हैं, कारण कि हम अमुकदर्शन का आश्रयण कर कहेंगे—इस प्रकार से आपने दर्शन (शास्त्र) विशेष को मान लिया है, और दर्शन तत्तत्पदार्थों का स्वीकाररूप है। उन पदार्थों में प्रतिबन्दी दूषण भी प्रविष्ट है।

खण्डन—अपसिद्धान्त का यह लक्षण युक्त नहीं है, कारण कि मेरे सिद्धान्त के विपरीत का अभ्युपगम आप भी करते हैं, अतः आपके अभ्युपगम में अतिव्याप्ति हो जायगी ॥ ४० ॥

समर्थन—स्व का जो सिद्धान्त उसके विपरीत का अभ्युपगम अपसिद्धान्त है।

सिद्धान्तकृत्या निवृत्त्याऽऽपतेत् । त्वत्सिद्धान्ते शतशो हेत्वादौ विशेषणोपादानदर्शनात् । परसिद्धान्तहेतूनाञ्चानुपात्तविशेषणानामनैकान्तिकीकृत्य त्वच्छास्त्रे बहुशो दूषितत्वात् । प्रथमं स्वशब्दं विशेषणमनुपादाय दूषणभयेनेदानीं तत्करणे च हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवतः, हेत्वन्तरं हि प्रथममविशेषणं साधकभागमभिधाय पश्चाद्विशेषणवत्तद्वचनम् ॥ ४१ ॥

किञ्चैवं लक्षणमभिदधानस्य भवतोऽप्राप्तकालत्वापातः, अप्राप्तकालोऽवयवविपर्यास इति, लक्ष्यमभिधाय हि लक्षणाभिधानं युक्तं, तस्य च भवता विपर्यासः कृतः, एवमेवाभ्युपगमे भवत एवापसिद्धान्तापातात् ।

यस्तु प्रथमत एव स्वेतिविशेषणमुपादत्ते तं प्रत्यनुपात्तविशेषणपक्षाभिहितो दोषो वक्तव्यः । मदीयो हि सिद्धान्तः स्वसिद्धान्त एव मम ॥ ४२ ॥

अत्र वाक्येऽभ्युपगमपदश्रवणात् अभ्युपगन्ता लभ्यते, तस्य यः स्वकीयः स स्वशब्दार्थः पर्य्यवस्यतीति चेन्न, ममाभ्युपगन्तृत्वात् मयापि हि किञ्चिदभ्युपगम्यत

खण्डन—यावत् "स्व" विशेषण का निवेश न हो तावत् उक्त अर्थ का लाभ नहीं होगा, अन्यथा [यदि बिना विशेषण के प्रवेश ही विशेषण का लाभ हो तो] उपादान व्यर्थ हो जायगा, यदि मान लें कि विशेषण के देने में श्रम व्यर्थ ही है अर्थात् बिना विशेषण दिये ही सर्वत्र विशेषण का लाभ हो जाता है, तो आप पर ही अपसिद्धान्तरूपकृत्या लौट कर आजायगी, कारण कि आपके शास्त्र में शतशः हेतु आदि में विशेषण का उपादान देखा जाता है तथा विशेषण रहित जो परसिद्धान्त के हेतु हैं उनको आपके शास्त्र में शतशः अनैकान्तिक दोष से दूषित किया गया है। प्रथम स्वशब्दरूप विशेषण न देकर दूषण के भय से जब विशेषण देने पर हेत्वन्तररूप निग्रह स्थान हो जायगा। प्रथम विशेषणरहित साधक भाग का अभिधान कर पीछे विशेषणयुक्त साधन का कथन हेत्वन्तर है ॥ ४१ ॥

किञ्च सिद्धान्त विपरीताभ्युपगम अपसिद्धान्त है ऐसे लक्षण का कथन करनेवाले आपके मत में अप्राप्तकालता नाम निग्रह हो जायगा। देखिये—अप्राप्तकाल अवयव का विपर्यास है। अतः लक्ष्य का अभिधान कर लक्षण का अभिधान करना चाहिये, उसका आपने विपर्यास किया । यदि आप अप्राप्तकालता को दोष न मानें तो आप का ही अपसिद्धान्त हो जायगा। जो वादी प्रथम ही स्वविशेषण देकर लक्षण का उपादान करते हैं उनके प्रति भी स्वपद के अनुपादान पक्ष का दोष कहना चाहिये, कारण कि मेरा सिद्धान्त भी मेरा स्वसिद्धान्त ही है और उसके विपरीत का आप अभ्युपगम करते हैं, अतः आप का अभ्युपगम भी अपसिद्धान्त हो जायगा ॥ ४२ ॥

समर्थन—इस वाक्य में अभ्युपगम पद का श्रवण है, अतः अभ्युपगन्ता का लाभ होगा उसका जो स्वकीय वह स्व शब्द का अर्थ है।

खण्डन—मैं भी अभ्युपगन्ता ही हूं कारण कि मैं भी कुछ मानता ही हूं।

समर्थन—विपरीत का अभ्युपगन्ता स्वशब्द का अपेक्षित अर्थ है।

खण्डन—इसमें भी कुछ विशेष नहीं है, कारण कि मैं भी आपके विपरीत का अभ्युपगन्ता ही हूं।

एव । विपरीताभ्युपगन्ताऽपेक्षित इति चेन्न, अविशेषात् । सिद्धान्तविपरीताऽभ्युपगन्ता विपरीताभ्युपगन्तेति चेन्न तथाप्यविशेषात्, ममापि त्वत्सिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्तृत्वात् । स्वसिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्ता तथाऽपेक्षित इति चेन्न, नूनमतिप्राज्ञोऽसि यत्, स्वपदमभ्युपगन्त्रा विशेषयितुं प्रवृत्तोऽभ्युपगन्तारमेव स्वपदद्वारा विशेषयसि, परस्पराश्रयादपि न बिभेषि, स्वपदेऽपि साधारण्यमत्यवस्थानं परोक्तं पुनस्तदवस्थमेवेति च न प्रतिसन्धत्से ॥ ४३ ॥

यस्य यः सिद्धान्तस्तेन तत्परित्यागोऽपसिद्धान्तस्तदीयइति चेत्, मैवम्, यस्य यः सिद्धान्त इति पुरुषव्यक्तिविशेषसिद्धान्तव्यक्तिविशेषपरत्वेऽसाधारण्याद-व्यापकत्वं लक्षणदोषः । यस्येति सिद्धान्तसम्बन्धिन इत्यर्थे तेनेति सिद्धान्तसम्बन्धिनेत्यर्थे च भवतोऽपसिद्धान्तात् । तथा हि—सिद्धान्तसम्बन्धिनो मम यः सिद्धान्तः तस्य सिद्धान्तान्तरसम्बन्धिना भवता त्यागोऽस्त्येव ।

त्याग एव तस्य नास्ति, मया परिगृहीतविषयत्वात् त्यागस्येति चेन्न, यदि त्यागोऽस्वीकारस्तदा न परिगृहीतविषयतानियमः । अथ स्वीकृतस्यास्वीकारस्तदा

समर्थन—सिद्धान्त के विपरीत का अभ्युपगन्ता स्व शब्द का अर्थ है ।

खण्डन—तब भी कुछ विशेष नहीं है, कारण कि हम भी आपके सिद्धान्त के विपरीत के अभ्युपगन्ता हैं ही ।

समर्थन—स्वसिद्धान्त के विपरीत का अभ्युपगन्ता स्व शब्द का अर्थ है ।

खण्डन—निश्चय आप अति बुद्धिमान् हैं, कारण कि स्वपद को अभ्युपगन्ता से विशिष्ट करने के लिये प्रवृत्त आप अभ्युपगन्ता को स्वपद से विशिष्ट करते हैं और अन्योन्याश्रय से नहीं भीत होते हैं और अभ्युपगन्ता के विशेषण स्वशब्द में भी परोक्त प्रश्न वैसा ही है इसका ध्यान नहीं करते हैं ॥ ४३ ॥

समर्थन—जिस का जो सिद्धान्त हो उससे उसका त्याग अपसिद्धान्त है ।

खण्डन—यहां यद् तद् शब्द से पुरुषव्यक्ति विशेषसिद्धान्त व्यक्तिविशेष का यदि ग्रहण करें तो असाधारण (एक व्यक्ति वृत्ति) होने से जिस व्यक्ति का यद् शब्द से ग्रहण करेंगे उससे अन्यत्र लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी और यदि यद् तद् शब्द को सिद्धान्त-सम्बन्धीपरक मानें तो आप पर ही अपसिद्धान्त हो जायगा । देखिये—सिद्धान्तसम्बन्धी मेरा जो सिद्धान्त उसका [अन्य सिद्धान्तसम्बन्धीआप से] त्याग है ही ।

समर्थन—हमने उसका त्याग ही नहीं किया है, कारण कि परिगृहीत का त्याग होता है और हमने उसका ग्रहण नहीं किया है ।

खण्डन—यदि त्याग शब्द का अस्वीकार अर्थ है तो स्वीकृत का ही त्याग होता है यह नियम नहीं रहा और यदि स्वीकृत का अस्वीकार ही त्याग है तब भी कोई हानि नहीं, कारण कि मेरे से स्वीकृत का आपसे अस्वीकार भी वैसा है ही । अतः इस कथन से भी विशेष लाभ नहीं है ।

समर्थन—उससे स्वीकृत का उसीसे ही अस्वीकार त्याग है अतः दोष नहीं है ।

मया स्वीकृतस्य भवताऽस्वीकारो भवत्येव तथेति विशेषो नास्ति । अथ तेनैव स्वीकृतस्य तेनैवास्वीकारः सोऽपि न, तेनेति स्वीकर्त्रेत्यर्थे, ममापि स्वीकर्तृत्वेन मया स्वीकृतस्य भवताऽस्वीकारे तवापऽसिद्धान्तापातः ॥४४॥

एकेनैकस्य स्वीकृतस्यास्वीकारोऽपसिद्धान्त इति चेन्न, एकेनेति यद्येकसङ्ख्यायोगिनेति तदा मम यथैकसङ्ख्यायोगित्वं तथा तवापीति स एवापसिद्धान्तापातः । अथैकेनेत्यभिन्नेनेति तथापि स्वस्मादभिन्नत्वं तव च मम च समानम् । अन्यस्मादभिन्नत्वं न मम न वा तवेत्यपसिद्धान्तविपयोच्छेदः । अथ स्वीकर्त्तुरस्वीकर्तृतो न भिन्नत्वं-तदाऽयमर्थः स्यात् , स्वीकर्तृतो न भिन्नेनैकस्य स्वीकृतस्यास्वीकारोऽपसिद्धान्तः तथा च स एव भवतोऽपसिद्धान्तः मया यदीयाङ्गीकारः किञ्चित्स्वीकर्त्तुरभिन्नस्य भवतस्तदीयास्वीकर्तृत्वात् ।

एतेनैकस्यैकेन स्वीकारास्वीकारावपसिद्धान्त इत्यपास्तम् । मिलितयोरेवावयोरपसिद्धान्तापातात् ॥४५॥

खण्डन—यहाँ तद् शब्द का यदि स्वीकर्त्ता अर्थ मानें तो मैं भी स्वीकर्ता हूँ, अतः मेरे से स्वीकृत का आपसे अस्वीकार होने से आपके प्रति पुनः अपसिद्धान्त हो जायगा ॥४४॥

समर्थन—एक से स्वीकृत का एक से अस्वीकार अपसिद्धान्त है ।

खण्डन—एक शब्द का यदि एकत्वसंख्यायोगी अर्थ करें तो जैसे ही हम एकत्व संख्या से युक्त हैं वैसे ही आप भी एकत्वयोगी हैं, अतः आप पर वही अपसिद्धान्त है, और यदि एक शब्द का अभिन्न अर्थ करें, तो भी स्व से अभिन्न आप भी हैं और हम भी हैं और अन्य से अभिन्नत्व न हम में है, न आप में है, अतः अपसिद्धान्त के विषय का असम्भव हो जायगा और यदि स्वीकर्त्ता में अस्वीकर्त्ता से अभिन्नत्व की विवक्षा करें तो यह अर्थ हुआ कि स्वीकर्त्ता से अभिन्न एक से स्वीकृत का अस्वीकार अपसिद्धान्त है तो वही अपसिद्धान्त आपके प्रति हुआ । देखिये—मैंने जिसका अङ्गीकार किया है कुछ स्वीकार करने वाले आप से उसका अस्वीकार है ही ।

समर्थन—एक वस्तु का एक पुरुष से स्वीकारअस्वीकार दोनों मिल कर अपसिद्धान्त हैं ।

खण्डन—मिलित हम दानों के प्रति अपसिद्धान्त हो जायगा ॥४५॥

समथन—तत्स्वीकार के कर्त्ता का तत् के अस्वीकार कर्त्ता से अभेद एक शब्द का अर्थ है ।

खण्डन—तत् शब्द से यदि स्वीकार के विषय का अभिन्नत्व अस्वीकार के विषय से अभिप्रेत है तो स्वीकर्त्ता के अन्य स्वीकार के विषय को कुछ स्वीकार करनेवाले से अभिन्न आप के अस्वीकार विषय होने से स्वीकर्त्ता के स्वीकार के विषय में अभिन्नत्व है, अतः आपके प्रति अपसिद्धान्त दुर्वार है ।

समर्थन—एक स्वीकर्त्ता से (भिन्न से नहीं) जो स्वीकार अस्वीकार वह अपसिद्धान्त है ।

अथ तत्स्वीकर्त्तुरेव तदस्वीकर्त्तुरभिन्नत्वमेकशब्देनाभिमतं, तदापि यदि स्वीकारविषयाभिन्नत्वं तच्छब्देनोच्यते अस्वीकारविषयस्य, तदा स्वीकर्त्रन्तरस्वीकारविषयस्य भवता किञ्चित्स्वीकर्त्रभिन्नेनास्वीकारविषयतया स्वीकारकर्तृविषयाभिन्नत्वस्वीकारेण भवतोऽपसिद्धान्तप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्। एकेन स्वीकर्त्ता न तु भिन्नेन स्वीकारास्वीकारौ विवक्षिताविति चेन्न, एकेन स्वीकर्त्रेत्येतदेव विवेचयन् भूयस्तदेवाकर्षन्नभिहिततद्दूषणगणाव्यावृत्यापत्या कथय कथं न घनघनाघनसमयसमागमोदीयमानतरलतरतरङ्गिणीवेणिजलविवर्त्तनिर्व्वर्त्तितावर्त्तचक्रचङ्क्रम्यमाणतृणकदम्बविडम्बनामनुभविष्यसि। स्वीकृत्यास्वीकारः स इति चेन्न, कृत्वार्थविवेचनेनोक्तबाधापातात् अस्वीकृत्य स्वीकारे च तदभावापत्तेः॥४६॥

किञ्च सिद्धान्तपरित्यक्तरि यदपसिद्धान्तोद्भावनं तत् किं स्वीकृतदर्शनानुमतापसिद्धान्तदूषणभावे वादिनि उतानेवम्भूते। आद्ये पूर्व्वसिद्धान्तवदपसिद्धान्तेऽप्यनेन

खण्डन—"एकेन स्वीकर्त्रा" इस का विचार करते हुए आप फिर भी उसी एक अभिन्न शब्द का आकर्षण करते हैं। अतः कथित दूषण की प्राप्ति होने से कहिये आप सान्द्रवर्षाकाल के समागम से प्रादुर्भूत जो चञ्चलतर नदी को धारा की जलवृद्धि उससे जात भ्रमि के समूहों से कुटिल भ्रमण करते हुए तृण समूह का अनुकरण क्यों न करेंगे।

समर्थन—स्वीकृत्य (स्वीकार करके) अस्वीकार अपसिद्धान्त है।

खण्डन—यह भी अयुक्त है, कारण कि कृत्वा का अर्थ एककर्तृकत्व है और अतः एक शब्द के अर्थ के विवेचन करने में उक्त दोष होते हैं॥ ४६॥

किञ्च जहाँ अस्वीकृत का स्वीकार है वहां भी अपसिद्धान्त है और उक्त लक्षण नहीं है, अतः उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च—सिद्धान्त को त्यागनेवाले वादी के प्रति जो अपसिद्धान्त आप देते हैं, वह किस वादी के प्रति, क्या जिसके दर्शन (शास्त्र) में अपसिद्धान्त दूषण अनुमत है उसके प्रति अथवा जिसके दर्शन में अपसिद्धान्त दूषण अनुमत नहीं है उसके प्रति। प्रथमपक्ष में वह वादी पूर्व सिद्धान्त के तुल्य अपसिद्धान्त का भी अस्वीकार कर सकता है, वहाँ आप क्या कहेंगे।

समर्थन—वहाँ कुछ नहीं कहेंगे, कारण कि पूर्वसिद्धान्त के त्यागने से अपसिद्धान्तरूप निग्रह से ही वह निगृहीत (पराजित) है। मृत का मारण अयुक्त है।

खण्डन—यदि वह अपसिद्धान्त दूषण को स्वीकार करता तो अवश्य अपसिद्धांत से निगृहीत होता। वह तो अपसिद्धांत को निग्रह स्थान नहीं मानता है, अतः उसने अपसिद्धान्त दूषण का अस्वीकाररूप परिहार अथवा अपसिद्धान्त का परिहार इन दोनों में एक अपसिद्धान्त दूषण का अस्वीकाररूप अपसिद्धान्त का परिहार किया है फिर वह निगृहीत कैसे होगा।

अन्यथा (यदि अपसिद्धान्त को न स्वीकार कर भी अपसिद्धान्त से निगृहीत हो तो) अपने अभिप्राय से रचित असिद्ध का उद्भावन कर कथा का विच्छेद करनेवाला भी

व्युत्थातुं शक्यते तत्र किं वक्तव्यं, न तावन्न वक्तव्यमेव किञ्चित् पूर्वसिद्धान्तत्यागादेवापसिद्धान्तेन निगृहीतत्वादिति युक्तम्, अपसिद्धान्ते तत्परिहारस्य तद्दूषणत्वान्यतरासिद्धेस्तेनाभिहितत्वात्। अन्यथा स्वाभिप्रायेणासिद्धिमुद्भाव्यैव कथां विच्छिन्दानो विजयेत परासिद्धिपरिहारं नापेक्षेतेत्यनसिद्धावप्यसिद्धिमुद्भाव्य परं पराजित्याप्रत्यूहं गृहान् प्रतिष्ठेत ॥४७॥

निगृहीतस्य तस्यापरमभिधानमनादरणीयमेवेति चेन्न, अन्यतरासिद्ध्या निग्रहपरिहारस्यैव तेनाभिधीयमानत्वात्। तथाऽप्यनादरणेऽनसिद्धावसिद्धिमुद्भाव्य पराभिधीयमानमसिद्धिपरिहारमनादृत्य विजयेतैवेत्युक्तम्। अथ मन्यसे-मध्यस्थेनैतद्विचारणीयं किमनसिद्धावनेनासिद्धिरुक्ता अनपसिद्धान्ते वापसिद्धान्तः, एतद्विचार्य्य तेनैव जयपराजयाववधारणीयौ, तदर्थमेव मध्यस्थोपस्थापनमिति। न तर्हि वादिना साधनेऽभिहिते दुष्टमेतदित्यभिधायैव प्रतिवादिना निवर्त्तनीयं, मध्यस्थस्तु परमार्थतो दुष्टत्वमदुष्टत्वं वा तस्य साधनस्य विचार्य्य जयपराजयाववधारयिष्यति, सोऽयं प्रसूय निर्वृत्तीभूतपिकदाम्पत्यापत्यपोषणकृतमहायासवायसव्यसनं समासादयिष्यति मध्यस्थो वराकस्तावकदुष्परामर्शप्रकर्षेण ॥४८॥

विजय का लाभ कर सकेगा और वादी से कृत असिद्ध के परिहार की अपेक्षा नहीं करेगा। अतः जहां असिद्ध नहीं है वहां भी असिद्ध का उद्भावन कर वादी को पराजित कर निर्विघ्न स्वगृह पर प्रस्थान करेगा ॥ ४७ ॥

समर्थन—वह हार गया है अतः उसका वचन आदर योग्य नहीं है।

खण्डन—उसने अपसिद्धान्त का अस्वीकार कर उसका परिहार ही किया है वह हारा नहीं है। फिर भी यदि उसके वचन का आदर न करो तो जहां असिद्धि नहीं है वहां असिद्धि का उद्भावन कर प्रतिवादी से कृत असिद्धि परिहार का आदर न कर विजय का लाभ करेगा।

समर्थन—मध्यस्थ को यह विचारना चाहिए कि जहां असिद्धि नहीं है, वहां यह असिद्धि उद्भावित हुई है, जहां अपसिद्धान्त नहीं है, वहां यह अपसिद्धान्त उद्भावित हुआ है और इस प्रकार विचार कर मध्यस्थ को ही जय, पराजय की व्यवस्था करनी चाहिये, कारण कि इस लिए ही वाद में मध्यस्थ होता है।

खण्डन—यदि ऐसा मानें तो वादी के साधन कहने पर प्रतिवादी को-यह दुष्ट है ऐसा कह कर ही निवृत्त हो जाना चाहिए, कारण कि मध्यस्थ ही उस साधन के परमार्थ से दुष्टत्व या अदुष्टत्व का विचार कर जय या पराजय की व्यवस्था करेगा। तुम्हारी कुत्सित मन्त्रणा से वह मध्यस्थ बेचारा प्रसव कर निवृत्त कोकिल के अपत्य के पालन में महान् परिश्रमवाला काक के दुःख को पावेगा ॥ ४८ ॥

समर्थन—सम्प्रति यह अपसिद्धान्त को न मानता हो इससे हानि क्या हुई, जिस दर्शन में अपसिद्धान्त दूषण का स्वीकार है, उस दर्शन का वह स्वीकार करता है, इसीसे उस पर अपसिद्धान्तरूप निग्रह का उपन्यास हो सकता है।

अथोच्यते-सम्प्रति विप्रतिपद्यतां नामापसिद्धान्तेऽप्यसौ किमेतावता, पूर्वं स्वीकृतापसिद्धान्तदूषणभावस्य दर्शनस्य तावत्तेन स्वीकरणमकारि, तदेवादायापसिद्धान्तस्योपन्यासो युक्त इति मैवम्, यदीदानीन्तन्यनन्नुमतिरस्य नाद्रियते अस्यामुपजातायामपि प्राक्तनानुमतिमादायैव च दूषणप्रवृत्तिस्तदाऽपसिद्धान्तस्यापि कुतोऽवकाशः। स हि पूर्वानुमतस्येदानीमनन्नुमतिमाश्रित्यैव प्रवर्त्तते नान्यथा। तस्मात् स्वीकृतापसिद्धान्तदूषणभावमपि वादि प्रति विप्रतिपत्तिकाले साधनीयमपसिद्धान्तस्य दोषत्वमिति द्वितीयानवकाशः। यस्य तु सौगतादेर्मतेऽपसिद्धान्तो न दूषणं तं प्रत्यवश्यं साधनीयमेवास्य दूषणत्वम् ॥४६॥

नच वाच्यं योऽपसिद्धान्ते विप्रतिपत्तिं करोति तं प्रति व्याघात एवाभिधेयः, दर्शनविशेषं स्वीकुर्व्वता प्रथमं तद्दर्शनान्तर्निवेशिनः प्रतिवन्दीदूषणत्वादेस्तेन स्वीकारात् पश्चात्तस्यैवास्वीकारस्तावेतौ स्वीकारास्वीकारावेकेनैकस्य व्याहताविति। यद्ययमपसिद्धान्तात्मैव व्याघातः, तदाऽपसिद्धान्तदूषणत्वेऽपि विप्रतिपन्नस्य विप्रतिपत्तिमभ्युदस्य नाभिधातुं युक्तः। अथ दूषणान्तरमयं व्याघातोऽपसिद्धान्तमनुपजीव्य सम्भाव्यमानोद्भावनस्तदा सार्व्वत्रिकापसिद्धन्तोदाहरणेऽयमेवास्तु किमपसिद्धान्तस्य दूषणताङ्गीकारेण।

—यदि प्रतिवादी की वर्त्तमानकालिक अनुमिति के अभाव का आदर न करें अर्थात् वर्त्तमान काल में अस्वीकार होने पर भी भूतकालिक स्वीकार का ग्रहण कर ही दूषण की प्रवृत्ति हो तो अपसिद्धान्त ही कैसे होगा, कारण कि पूर्व अनुमत को ही वर्त्तमान काल में वह अस्वीकार करता है अन्यथा नहीं करता है और वर्त्तमान अस्वीकार का आप आदर करते नहीं। तस्मात् जो वादी अपसिद्धान्त दूषण को स्वीकार न करता हो उसके प्रति विप्रतिपत्ति काल में अपसिद्धान्त दूषण का साधन अवश्य करना होगा। अतः इस विषय में मध्यस्थ का अवकाश नहीं अर्थात् अपसिद्धान्त है अथवा अन्यथा, इसका निर्णय मध्यस्थ करेगा इत्यादिक आपका कथन युक्त नहीं और जो सौगत आदि अपसिद्धान्त को दूषण नहीं मानें तो उनके प्रति अपसिद्धान्त दूषण का साधन करना चाहिये ॥४६॥

समर्थन—जो अपसिद्धान्त में विप्रतिपत्ति करते हों उनके प्रति व्याघात का ही अभिधान करना चाहिये। देखिये—दर्शन (शास्त्र) के विषय के स्वीकर्त्ता वादी ने उस दर्शन के अन्तर्गत प्रतिवन्दी दूषण को प्रथम स्वीकार किया हो और पीछे प्रतिवन्दी का अस्वीकार करता है यह एक से एक का स्वीकार अस्वीकार व्याहत है।

खण्डन—यदि व्याघात अपसिद्धान्त रूप ही है तो जो अपसिद्धान्त को नहीं मानता हो उसके प्रति अपसिद्धान्त का साधन न कर व्याघात का अभिधान ही नहीं कर सकते, कारण कि जो अपसिद्धान्त में विप्रतिपन्न है वह तद्रूप व्याघात में भी विप्रतिपन्न है। अतः उसके प्रति व्याघात का अभिधान नहीं हो सकता और यदि अपसिद्धान्त की अनपेक्षा से जिसके उद्भावन की सम्भावना हो ऐसा व्याघात दूषणान्तर है तो सर्वत्र अपसिद्धान्त के उदाहरण में इसीका उद्भावन करना चाहिये, अपसिद्धान्त व्यर्थ है।

किञ्चैवमपसिद्धान्त उद्भाविते पश्चात्तद्विप्रतिपत्तावुपजातायामपसिद्धान्तमु-पेक्ष्य व्याघातलक्षणस्यास्य दोषान्तरस्याभिधाने प्रतिज्ञाहान्यापत्तेः, प्रतिज्ञाहानिः स्वी-कृतोक्तत्याग इति। एवं प्रथमं किञ्चिद्दूषणमुक्त्वा तत्परिहारिणि दूषणान्तराभिधाने न प्रतिज्ञाहानिरिति गतं प्रतिज्ञाहान्यादिभिर्निग्रहैः ॥ ५० ॥

प्राक् प्रतिज्ञातदोषनिर्व्वाहार्थमेव निग्रहान्तरकथनान्नैष दोष इति चेन्न, पूर्व्व निग्रहपरिहारमकृतवति तेनैव पराजिते निग्रहान्तरोपन्यासस्यायुक्तत्वादिति। नचानेन भयेन भवता व्याघात एवाभिधेयः प्रथमं नापसिद्धान्त इति वाच्यम्। अपसिद्धान्त-वैयर्थ्यप्रसङ्गात् सर्व्वत्रापसिद्धान्तोदाहरणे व्याघाताभिधानस्यैवमङ्गीकर्त्तव्यत्वात्। न हि क्वचिच्छक्यतेऽवधारयितुं मयाऽपसिद्धान्त उद्भाविते नायं विप्रतिपत्स्यत इति।

नन्वस्त्वेवं विप्रतिपन्नं प्रति अपसिद्धान्तस्य दूषणत्वं प्रसाधनीयमिति मैवम्, येनाप्यस्वीकारदण्डेन दूषणेन तत्स्वीकारयिष्यसि तदनङ्गीकारस्यापि सम्भवात्। उक्तञ्च सौगतैः—"न हि शास्त्राश्रया वादा भवन्तीति नापसिद्धान्तो निग्रहाधिकरणमिति"

किञ्च इस प्रकार से अपसिद्धान्त का उद्भावन होने पर पीछे अपसिद्धान्त में विप्रतिपत्ति करने पर उस विप्रतिपत्ति का निरास न कर अपसिद्धान्त की उपेक्षा कर व्याघात का यदि उद्भावन करें तो प्रतिज्ञाहानि हो जायगी। स्वीकृत उक्त का परित्याग प्रतिज्ञाहानि है। इस प्रकार से किसी दूषण का कथन करें और उस दूषण को त्याग कर अन्य दूषण का अभिधान करने पर भी यदि प्रतिज्ञाहानि न हो तो कहीं भी प्रतिज्ञाहान्यादि न होने से प्रतिज्ञाहान्यादि व्यर्थ हो जायँगे ॥ ५० ॥

समर्थन—प्रथम प्रतिज्ञात दोष के निर्वाहार्थ ही अन्य निग्रह का कथन किया है।

खण्डन—यदि पूर्वनिग्रह अपसिद्धान्त का परिहार करने पर व्याघात का उद्भावन करते हैं तो पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिज्ञाहानि होती है। और यदि वादी ने अपसिद्धान्त का परिहार नहीं किया है तो उसीसे वह परास्त है, अतः उसके प्रति व्याघात का उपन्यास व्यर्थ है।

समर्थन—प्रतिज्ञाहानि के भय से पहिले ही व्याघात का उपन्यास करेंगे। अपसिद्धान्त का उपन्यास ही नहीं करेंगे।

खण्डन—यदि ऐसा मानें तो अपसिद्धान्त व्यर्थ हो जायगा, कारण कि अपसिद्धान्त के उद्भावन करने पर यह वादी विप्रतिपन्न नहीं होगा, कहीं भी पहिले से इस निर्धारण के न होने से सर्वत्र प्रतिज्ञाहानि के भय से व्याघात का अभिधान करना पड़ेगा।

समर्थन—जो अपसिद्धान्त के दूषण में विप्रतिपन्न हैं उनके प्रति अपसिद्धान्त दूषण का व्याघात से साधन करेंगे। देखिये—यदि अपसिद्धान्त को न मानें तो एक ही वस्तु का स्वीकार अस्वीकाररूप व्याघात हो जायगा अतः अपसिद्धान्त को मानना चाहिये।

खण्डन—जिस व्याघात से आप अपसिद्धान्त को स्वीकार करावेंगे हम उस व्याघात कोभी नहीं मानेंगे, फिर अपसिद्धान्त सिद्ध कैसे होगा। बौद्धों ने यह बात कही है कि शास्त्र के आश्रयण कर वाद नहीं होता है" अपसिद्धान्त निग्रह का अधिकरण (स्थान) नहीं है, गुण

रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य गुणदोषमपश्यतः ॥
विलब्धा बत केनामी सिद्धान्तविषयग्रहा" इति च ॥ ५१ ॥

तत्र कश्चिदाह—शास्त्रमनाश्रित्य कथारम्भानुपपत्तिः, यदा हि क्षणभङ्गसाधनमयोक्ता अस्फूर्त्तिमता स्थिरवादिना सिद्धसाधनमुद्भाव्य निगृह्यते तदा किं कुर्य्यात्। प्रथमविप्रतिपत्तिविरोधमुद्भावयेदिति चेत्, एवं तर्हि विप्रतिपत्त्यनुगुणप्रमेयान्तरव्यतिक्रममप्युद्भावयेदेव, अन्यथा विप्रतिपत्तिव्यतिक्रममप्युपेक्षेत, न खलु तत्तदनुगुणव्यतिक्रमयोर्व्विरोधापत्तिं प्रति कश्चिद्विशेषः। न चैकपुरुषार्थानुगुणाङ्गाङ्गिभावव्यवस्थितपदार्थजातव्युत्पादनादन्यच्छास्त्रं नाम, तस्मात् क्षणिकत्वस्वीकारे तदनुगुणापोहादिसमस्तस्वीकारः, तदेकपरिहारे वा समस्ततदनुगुणपरिहार इति सर्व्वज्ञोऽपि नान्यथा प्रमातुं क्षमः। न च समस्ततदनुगुणपदार्थजातं कथारम्भे स्वशब्देनाभिधातुमुचितं, तदैव शास्त्रप्रणयनप्रसङ्गात् परिषदनपेक्षितत्वाच्च। नच तद्व्यतिक्रमोद्भावनाय समस्ततदनुगुणोहः

दोष दोनों को न देखनेवाला शास्त्र सिद्धान्त से शून्य जात मनुष्य को सिद्धान्त रूप विषय की प्राप्ति किसने करायी। अर्थात् विषयी मनुष्य को जैसे विषय पीछे प्राप्त होता है वैसे ही सिद्धान्त पीछे प्राप्त होता है, अतः किसी का कुछ सिद्धान्त नहीं है ॥५१॥

समर्थन—यहाँ कोई कहते हैं कि शास्त्र का आश्रयण न कर कथा का आरम्भ नहीं हो सकता, कारण कि जिस काल में क्षणभङ्ग के साधन का कर्त्ता—स्फूर्त्तिरहित स्थिर वादी नैयायिक से सिद्ध साधन का उद्भावन कर—निगृहीत किया जाय तो वह क्या करे। क्षणिकत्व को मानने से अपसिद्धान्त होगा ऐसा वह कह नहीं सकते हैं, क्योंकि अपसिद्धान्त को वह नहीं मानते हैं। यदि कहें कि प्रथम विप्रतिपत्ति (विमतं क्षणिकम् अक्षणिकंवा) के विषय क्षणिकत्व का स्वीकार करने से व्याघात ही का उद्भावन करें।

तब तो विप्रतिपत्ति के विषय के साधक अन्यप्रमेय (प्रत्यभिज्ञा) आदि के अस्वीकार का भी उद्भावन करेगा ही, कारण कि स्थिरवादी प्रत्यभिज्ञा का स्वीकार करता है, अतः उसे व्याघात होता है और यदि इस व्याघात के होते भी उद्भावन न करे तो विप्रतिपत्ति के विषय स्थिरत्व के स्वीकार अस्वीकार रूप व्याघात का भी उद्भावन नहीं करेगा," कारण कि दोनों के उद्भावन में कोई विशेष नहीं है। एक पुरुषार्थ—(स्वर्ग वा अपवर्ग) के साधक उपकार्य्योपकारकभाव से युक्त पदार्थ समूह का कथन ही शास्त्र है इस से अन्य शास्त्र नहीं है। तस्मात् जो क्षणिकत्व का स्वीकार करता हो वह क्षणिकत्व के अनुगुण अपोह आदि सब का स्वीकार भी करेगा और यदि एक क्षणिकत्व का अस्वीकार करेगा तो उसके अनुगुण समस्त अपोहादि का अस्वीकार करना पड़ेगा इसके अन्यथाकरण में परमेश्वर भी समर्थ नहीं है। क्षणिकत्व के अनुगुण अपोहादि सम्पूर्ण पदार्थों का कथाकाल में अभिधान नहीं हो सकता, कारण कि यदि सम्पूर्ण पदार्थों का उसी कालमें अभिधान करें तो उसी कालमें शास्त्र का प्रणयन हो जायगा और सम्पूर्ण के अभिधान को परिषत् चाहती भी नहीं है और विरोध के उद्भावन के लिये सम्पूर्ण तदनुगुण की ऊहा—शास्त्र के आश्रयण के विना हो भी नहीं सकती और क्षणिकत्व के अनुगुण अपोह के विरोध होने पर क्षणिकवादी का और अपोहादि व्यतिक्रम की उपेक्षा करने पर स्थिरवादी का तत्वनिर्णय

परस्परस्य शास्त्रमनाश्रित्य शक्यः। नच तत्तदनुगुणव्यतिक्रमे तदुपेक्षणे वा तत्त्वप्रतिपत्तिजयाविति अकामेनापि तदधिकारप्रवृत्तं शास्त्रमेवाश्रयणीयमिति ॥ ५२ ॥

तदेतदपेशलम्। किं तदनुगुणं प्रमेयान्तरं यदनभ्युपगमे विरोधमुद्भावयेदित्युच्यते। द्वयमभ्युपगम्यं सम्भवति। एकं तावद्यदनभ्युपगमे कथैव प्रवर्त्तयितुमशक्या, यथा प्रमाणादि सर्व्वकथकसिद्धम्। इतरत्तु प्रतिदर्शनसिद्धं किञ्चित् यथा क्षणभङ्गेश्वरादि। तत्र यदि प्रथममभ्युपगम्यैव कथाप्रवृत्तिरिति तत्स्वीकारे पश्चात्तदनङ्गीकारोऽपसिद्धान्तः। तन्न, स्वव्याघातकत्वेन तस्य भवद्भिरेव जातित्वाङ्गीकारात्। जातेश्च निरनुयोज्यानुयोगे निवेशात् ॥ ५३ ॥

नापि द्वितीयः दर्शनभेदनियतं हि क्षणभङ्गादि, यत्कथारम्भेऽभ्युपगन्तव्यं तत् किं तदभ्युपगमस्य प्रकृतसाध्यापोहाभ्युपायतया, उत तन्नान्तरीयकतया। न प्रथमः, क्षणभङ्गसाधनप्रस्तावे अपोहादि परित्यजतः सौगतस्यापसिद्धान्ताभावापत्तेः तदभ्युपगमस्य तदनुपायत्वात्। अन्योन्याभ्युपगमोपायत्वे चान्योन्यविचारस्य निष्पत्तिरेव न स्यात्

या विजय हो नहीं सकता है। अतः इच्छा न होने पर भी क्षणिकत्वादि के साधन में प्रवृत्त शास्त्र अवश्य मानना चाहिये ॥ ५२ ॥

खण्डन—यह मत सुन्दर नहीं है। कहिये—तदनुगुण अन्य प्रमेय कौन है जिनके अनभ्युपगम में अपसिद्धान्त का उद्भावन आप करेंगे—ऐसा आप कहते हैं। कथा में दो का स्वीकार योग्य होता है। एक तो उसका जिसके अनभ्युपगम में कथा की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। जैसे सब कथकों से सिद्ध प्रमाणादि और अन्य, प्रतिदर्शन से सिद्ध कुछ, जैसे क्षणभङ्ग ईश्वर आदि। उनमें प्रथम प्रमाणादि के स्वीकार करने पर ही कथा की प्रवृत्ति होती है, अतः उनको स्वीकार कर अङ्गीकार में यदि अपसिद्धान्त कहें तो वह युक्त नहीं है। कारण कि स्वव्याघातक होने से आप ही उसको जाति मानते हैं और जाति का निरनुयोज्यानुयोग रूप निग्रहस्थान में निवेश है ॥ ५३ ॥

द्वितीय भी युक्त नहीं, कारण कि दर्शन विशेष में नियत क्षणभङ्गादि का जो कथा के आरम्भ में स्वीकार करें—वह क्यों? क्षणभङ्गादि का अभ्युपगम, प्रकृत साध्य अपोहादि के साधन का उपाय है इससे अथवा अपोह के नान्तरीयक (व्यापक) होने से? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है कारण कि क्षणभङ्ग के साधन की अवस्था में अपोह के त्यागनेवाले बौद्ध को अपसिद्धान्त नहीं होगा। अपोह का अभ्युपगम क्षणभङ्ग के साधन का उपाय नहीं है। अन्योन्य के अभ्युपगम को अन्योन्य के उपाय मानें तो अन्योन्य के विचार की निष्पत्ति ही नहीं होगी, कारण कि विचार होने पर प्रामाणिकत्व की प्रतिति होने पर अन्योन्य का अभ्युपगम होगा और अभ्युपगम होने पर विचार होगा।

समर्थन—अन्योन्य का अभ्युपगम, स्वसूत्रकार के प्रामाण्य से होता है, विचार से नहीं, अतः अन्योन्याश्रय नहीं है।

खण्डन—जो जिसका उपाय है उसको मान कर विचार की प्रवृत्ति करनी चाहिये। यह कैसे हो सकता है। वह उपाय है इससे, उसीसे विचार करना चाहिये यही युक्त है। उपाय का अभ्युपगम उपाय नहीं है, कारण कि उपाय और उपाय का अभ्युपगम दोनों की

विचारे सति प्रमाणिकत्वप्रतीतौ तदभ्युपगमः तदनभ्युपगमे च विचार इति । अभ्युपगतोपायत्यागविषय एवायमपसिद्धान्तो नान्यत्रेति चेन्न, यो हि यदुपायस्तमभ्युपगम्य विचारः प्रवर्त्तयितव्य इत्येव कुतः, तस्योपायतया तेन विचारः प्रवर्त्तयितव्य इत्येव युक्तं, न तु तदभ्युपगमोऽपि तावता तदुपायः स्यात्, तस्य च तदभ्युपगमस्य च पृथक्कारणत्वाभ्युपगमे प्रमाणस्योपदर्शयितुमशक्यत्वात् शक्यत्वेपि वा तत्रापि स्वाभ्युपगमः किमित्यभ्युपेयो वैयर्थ्यात् उपायत्वादेव परस्य तथा प्रतीत्युपपत्तेः ॥ ५४ ॥

अथोच्यते उपेयमुपायेन साधयता उपेयवदुपायस्यापि सत्त्वमुपगन्तव्यमिति, पश्चात्तदनुपगमेऽपसिद्धान्तोपन्यासः सावकाशः, असत उपायत्वानुपपत्तेः । तदुपायत्वेनोपन्यासनात्तत्सत्त्वाभ्युपगमस्तस्य साक्षादश्रुतोऽप्यसत्त्वेनाभ्युपगम्यमानस्योपायत्वस्वीकारानुपपत्त्या कल्पनीयः, कल्पितेन तेन श्रूयमाणतत्सत्त्वानभ्युपगमविरोधादपसिद्धान्तोऽभिधेयः । एवञ्च सति सत्त्वानभ्युपगम एवोपायत्वानुपपत्तिप्रसङ्गो दूषणमुच्यतामुपजीव्यत्वात् तदुपन्यासमन्तरेणाश्रूयमाणतदीयाभ्युपगमस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् कृतं तदुपजीविना पश्चात्तनेनापसिद्धान्तेन ।

अतएव न द्वितीयः तन्नान्तरीयकाभ्युपगमोऽपि हि तत्सत्तानभ्युपगमे साध्यस्याभावापत्त्याऽनुमन्तव्यः, तथा च सैव दूषणमस्त्वनभ्युपगमे कृतं तयाभ्युपगमं

पृथक् पृथक् कारणता में कोई प्रमाण नहीं दिखा सकते । उपाय के स्वीकार के कारणत्व में कोई प्रमाण दिखा सकें तब भी उपाय का स्वीकार हम करें—यह व्यर्थ है क्यों करें उपाय होने से ही वादी उपाय को मानेगा ॥ ५४ ॥

समर्थन—कारण से कार्य्य को साधन करनेवाला कार्य्य के तुल्य कारण को अवश्य मानेगा पीछे उसके न मानने पर अपसिद्धान्त का अवकाश होगा ।

खण्डन—असत्वरूप से स्वीकृत कारण नहीं होता है और कारणत्वरूप से कथन है, अतः कारणत्व की अनुपपत्ति से साक्षात् अश्रुत भी कारण के स्वीकार की कल्पना करते हैं और कल्पित कारण के स्वीकार से श्रूयमाण अस्वीकार के विरोध होने से अपसिद्धान्त का कथन आप करेंगे । यदि ऐसा है तो सत्व के अस्वीकार होने पर कारणत्व की अनुपपत्ति के प्रसङ्ग को ही दूषण मानिये, कारण कि अनुपपत्ति के कथन के विना अश्रुतकारण के स्वीकार को दिखा नहीं सकते, अतः यह अनुपपत्ति उपजीव्य है । अनुपपत्ति से जनित पीछे होनेवाला अपसिद्धान्त का कथन व्यर्थ है । प्रकृतसाध्य अपोह क्षणिकत्व का नान्तरीयक (व्याप्य) है, अतः अपोह के सत्व से क्षणिकत्व का अभ्युपगम है– यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि क्षणिकत्व के सत्व का स्वीकार न करें तो प्रकृत साध्य अपोह का अभाव हो जायगा, अतः अपोह से व्यापक क्षणिकत्व के स्वीकार की कल्पना होती है, तब तो व्यापक क्षणिकत्व के स्वीकार के अभाव में व्याप्य के सत्व की अनुपपत्ति ही दोष रहे । उससे कल्पित क्षणिकत्व के स्वीकार से श्रुत क्षणिकत्व के स्वीकार के विरोध होने

परिकल्प्यते नानभ्युपगमविरोधादपसिद्धान्तोपन्यासेनेति। एवं निग्रहान्तरखण्डनमूह-नीयम् ॥ ५५ ॥

इति कवितार्किकचक्रवर्ति—श्रीश्रीहर्ष—कृते खण्डनखण्डखाद्ये निग्रहानिरुक्तिर्नाम द्वितीयः परिच्छेदः

अथ यान्यवलम्ब्य बहुलं वाग्व्यवहारास्तेषां सर्वनाम्नामर्थाः कथं निर्वाच्याः। तथाहीश्वरसद्भावे किं प्रमाणमिति ब्रुवाणः प्रतिवक्तव्यः किं शब्दोऽयमाक्षेपार्थो वा कुत्सितार्थो वा, वितर्कार्थो वा, प्रश्नार्थो वा स्यात्। तत्र यदि प्रथमः पक्षः तदेश्वरसद्भावे नास्ति प्रमाणमित्युक्तं स्यात् तथा च सति न प्रतिज्ञामात्रात्साध्यसिद्धिरिति हेत्वादिकं वाच्यं भवति तच्च भवता नाभ्यधायि तस्मान्न्यूनत्वं दोषः, अत एव न द्वितीयः ईश्वरसद्भावे कुत्सितं प्रमाणमित्यस्यापि प्रतिज्ञामात्रत्वात् ॥ ५६ ॥

अपि च साध्यासाधकत्वाद्वा तत् कुत्स्यते भवता, अन्यथा वा। अन्यथा चेद्व्यर्थं तदुद्भावनया साध्यसिद्धेरप्रत्यूहत्वात्। नापि प्रथमः, प्रमाणञ्च साध्यासाधकञ्चेति व्याघातात्। गौणोयं प्रमाणशब्द इति चेन्न। प्रमाणत्वयोगिनि यद्ययं प्रमाणशब्दप्रयोगस्तदा गौणत्वव्याघातो मुख्यत्वात्, अथ प्रमाणाभासे, तदा अत्यन्तदुद्भावनया। ईश्वरसद्भावे

से अपसिद्धान्त का कथन व्यर्थ है। इसी प्रकार से अन्य निग्रहस्थानों का खण्डन स्वयं करना चाहिये ॥५५॥

इति द्वितीय परिच्छेदानुवाद

जिन सर्वनामों का अवलम्बन कर बहुत से व्यवहार होते हैं उनका क्या अर्थ है। देखिये—ईश्वरे किं प्रमाणम् इस प्रश्नकर्त्ता से पूछना चाहिये कि यहां किं शब्द का निषेध अर्थ है, अथवा कुत्सा अर्थ है, अथवा वितर्क अर्थ है, अथवा प्रश्न अर्थ है। इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है कारण कि प्रथम पक्ष में ईश्वर सद्भाव में प्रमाण नहीं है यह अर्थ हुआ—यह अर्थ युक्त नहीं है कारण कि प्रतिज्ञामात्र से साध्य की सिद्धि होती नहीं है, अतः कुछ हेतु बोलना चाहिये। हेतु को आपने कहा नहीं है, जिससे न्यूनत्व दोष हो जायगा। इसीसे द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं, कारण कि ईश्वर में कुत्सित प्रमाण है यह भी प्रतिज्ञामात्र है ॥ ५६ ॥

किञ्च—आप प्रमाण की जो कुत्सा करते हैं, वह साध्य के असाधक होने से अथवा अन्य कारण से, यदि अन्य कारण से कुत्सा करते हों तो उसका उद्भावन व्यर्थ है, कारण कि साध्य की सिद्धि में कोई विघ्न है नहीं, अतः कुत्सा से हानि नहीं। प्रथमकल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि साध्य का असाधक हो और प्रमाण हो यह व्याहत है।

समर्थन—यह प्रमाण शब्द गौण है।

खण्डन—यदि प्रमाण में प्रमाण शब्द का प्रयोग है तो गौणत्व कथन व्याहत है, कारण कि वह मुख्य है और यदि प्रमाणाभास में प्रमाण शब्द का प्रयोग है तो उसमें कुत्सितत्व का उद्भावन व्यर्थ है, कारण कि ईश्वर में जो प्रमाणाभास है वह कुत्सित है इस बात

यः प्रमाणाभासः कुत्सित इत्यत्र परस्यापि सम्प्रतिपन्नत्वात् । ईश्वरसद्भाव इति च विशेषोपादानं व्यर्थं स्याद्, अन्यत्रापि हि विषये प्रमाणाभासः कुत्सित एव साध्यासाधकत्वात् । नापि तृतीयः, तथा सति हि वितर्कस्य पक्षान्तरसापेक्षत्वेन पक्षान्तरमपि वचनीयं भवति, ईश्वरसद्भावे किमेतत् प्रमाणमुतान्यदिति तच्च भवता नाभ्यधायि ततो न्यूनत्वं दोषः ॥ ५७ ॥

नापि चतुर्थः, प्रश्नार्थात् खलु किंशब्दात्कस्यचित् पदार्थस्य जिज्ञास्यमानता प्रतीयते सा चेह प्रमाणपदसमभिव्याहारात् प्रमाणविषयिणी प्रतीयते यद्विषयश्च प्रश्नस्तदुत्तरवादिनाऽभिधेयं' तत् अयं प्रश्न ईश्वरसद्भावे प्रमाणसामान्यविषयस्तद्विशेषविषयो वाऽभिप्रेतः, आद्यश्चेदीश्वरसद्भावे प्रमाणमित्येवोत्तरमापद्येत यद्विषयो हि प्रश्नस्तदभिधेयं, प्रमाणसामान्यविषयश्च प्रश्नः, तच्च प्रमाणशब्देनाभिधीयत एव । अथ द्वितीयः, तथापीश्वरसद्भावे प्रमाणमित्येवोत्तरमापद्येत यथा प्रश्नवाक्ये प्रमाणशब्दो विशेषपरस्तथोत्तरवाक्येऽपि ॥ ५८ ॥

कोसौ विशेष इति चेन्न । पूर्ववदुत्तरत्वात्, किञ्च, अस्यापि प्रश्नस्य विशेषो विषयः किंशब्दस्य विशेषशब्देनसामानाधिकरण्यात्, तथा च सति विशेष इत्येवोत्तरं

का प्रतिवादी भी मानता है। किञ्च ईश्वरसद्भावरूप विशेषविषय का कथन व्यर्थ है, कारण कि अन्य विषय में भी साध्य के असाधक होने से प्रमाणाभास कुत्सित ही है। इसी से तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि वितर्क के अन्य पक्ष में सापेक्ष होने से अन्य पक्ष को भी कहना चाहिये अर्थात् ईश्वर सद्भाव में यह प्रमाण है वा यह, ऐसा कहना चाहिये और ऐसा आपने कहा नहीं है, अतः न्यूनत्व दोष हो जायगा ॥ ५७ ॥

चतुर्थपक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि प्रश्नार्थक किम्‌शब्द से किसी पदार्थ की जिज्ञासा प्रतीत होती है, और प्रकृत में प्रमाण पद के सन्निधान से वह जिज्ञासा प्रमाणरूप विषय में प्रतीत होती है। और जिस विषय में प्रश्न हो, उत्तरवादी को उसको कहना चाहिये, तब ईश्वर सद्भाव में जो यह प्रश्न है, वह प्रमाण सामान्य विषयक है वा प्रमाण विशेष विषयक है। यदि प्रथम पक्ष है, तो "ईश्वरसद्भावे प्रमाणम्" यही उत्तर ठीक है, कारण कि जिस विषय में प्रश्न हो, उसका कथन करना चाहिये। और प्रमाण सामान्य विषय में प्रश्न है और उस प्रमाणसामान्य का प्रमाण शब्द से कथन हुआ ही है। और यदि द्वितीय पक्ष है तब भी ईश्वर प्रमाण है—यही उत्तर ठीक होता है, कारण कि प्रश्न वाक्य में जैसे प्रमाण शब्द विशेषपरक होगा वैसे ही उत्तर वाक्य में भी प्रमाण शब्द विशेषपरक होगा ॥५८॥

प्रश्न—वह विशेष कौन है।

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर भी पूर्व के तुल्य ही जानना चाहिये।

देखिये—इस प्रश्न का भी किंशब्द से सामानाधिकरण्य होने से विशेष ही विषय है। यदि ऐसा है, तो विशेष यही उत्तर युक्त है।

प्रश्न—यहाँ प्रश्न वाक्य में विशेष शब्द से अनिश्चित केवल विशेष विवक्षित नहीं है, किन्तु असाधारण (एक) व्यक्ति में किं शब्द का तात्पर्य है अतः वह असाधारण व्यक्ति

स्यात् । स्यादेतत्, विशेषशब्देन न विशेषमात्रमनिर्द्धारितमत्र विवक्षितं किन्त्वसाधारणी व्यक्तिस्तत्र विशेषशब्दस्य तात्पर्य्यं तस्मात्काऽसावसाधारणी प्रमाणव्यक्तिरिति प्रश्नार्थः, तत्र च तादृश्याः प्रमाणव्यक्तेरभिधानमुत्तरं युक्तं नैवम्विधाः प्रलापा इति । नैतदेवं, यतोऽत्रापि विशेष इत्येवोत्तरं यथा प्रश्नवाक्यगतस्य विशेषशब्दस्य सर्व्वतोव्यावृत्तस्वरूपायां प्रमाणव्यक्तौ तात्पर्य्यं तथोत्तरवाक्यस्थितस्यापि, एवञ्च सति यत्र विषये भवदीयस्य प्रश्नवाक्यस्य तात्पर्य्यं तदेवास्माकमुत्तरवाक्येन प्रतिपादितमिति युक्तमुक्तम् ॥ ५९ ॥

अथ मन्यसे किमिह प्रमाणमिति पृच्छतोऽयमभिप्रायः, अत्रार्थेऽनुमानं प्रमाणमितरद्वेति । अत्राप्यनुमानमित्युत्तरमस्माकम् । किं तदनुमानमिति चेत् । अयमपि प्रश्नोऽनुमानमात्रविषय, उत तद्विशेषविषय इति विकल्प्य प्रमाणप्रश्नवदुत्तरं वाच्यमिति । अत्र च सङ्ग्रहश्लोकौ—

"यथाविधं यं विषयं निजस्य प्रश्नस्य निर्व्वक्ति परो ययोक्त्या ।
वाच्यस्तथैवोत्तरवादिनापि तयैव वाचा स तथाविधोऽर्थः ॥ १ ॥
प्रश्नस्य यः स्याद्विषयः स वाच्यो वाचा तया चैष भवेन्निरुक्तः ।
इदं त्वयाप्यास्थितमेतयैव गिरा स्वपृच्छाविषयस्य वक्त्रा" ॥ २ ॥ ६० ॥

कौन है, यह प्रश्न का तात्पर्य्य है, यहाँ पर उस असाधारण व्यक्ति का अभिधान उत्तर है—ऐसा प्रलाप उत्तर नहीं है ।

उत्तर—इस आशय में भी विशेष—यही उत्तर युक्त है । जैसे प्रश्नवाक्यगत विशेष शब्द का सर्वतः व्यावृत्त व्यक्ति में तात्पर्य्य होगा वैसे ही उत्तर वाक्यगत विशेष शब्द का भी सर्वतः व्यावृत्त व्यक्ति में तात्पर्य्य होगा । ऐसा होने पर आपके प्रश्न वाक्य का जिस विषय में तात्पर्य्य है, यही हमारे उत्तर वाक्य से प्रतिपादित होता है, अतः युक्त ही उत्तर है ॥५९॥

प्रश्न—यहाँ क्या प्रमाण है, इस प्रश्न के कर्ता का यह अभिप्राय है कि इस अर्थ में अनुमान प्रमाण है, अथवा अन्य प्रमाण है ।

उत्तर—इस प्रश्न का भी अनुमान ही उत्तर है ।

प्रश्न—वह अनुमान व्यक्ति कौन है ?

उत्तर—यह प्रश्न अनुमानमात्र विषयक है अथवा अनुमानविशेष विषयक है ऐसा विकल्प कर इस प्रश्न का उत्तर भी प्रमाण प्रश्न के तुल्य जानना चाहिये ।

इस पूर्वोक्त अर्थ के संग्राहक श्लोक का यह अर्थ है, प्रश्न कर्ता जिस वचन से निज प्रश्न का जिस प्रकार विषय कहे, उत्तर वादी भी उसी वचन से उसीप्रकार अर्थ कहे, जो प्रश्न का विषय हो उत्तरवादी को उसे कहना चाहिये । और उस प्रश्न के विषय को उसी वचन से यह कह सकता है—इस बात को आप भी मानते ही हैं, कारण कि उसी शब्द से उस अर्थ को प्रश्न में आप भी कहते हैं ॥६०॥

प्रश्नार्थाच्च किंशब्दाज्जिज्ञासाविषयताऽर्थस्य प्रतीयते, जिज्ञासा च ज्ञातुमिच्छा, इच्छा च नाज्ञाते भवत्यतिप्रसङ्गात्, तस्मादीश्वरविषयं प्रमाणं ज्ञातुमिच्छता तत्र स्वज्ञानमिच्छाकारणीभूतं वक्तव्यं तदयथार्थं यथार्थं वा स्यात् । यथार्थश्चेत् तर्हि तेनैव ज्ञानेन स्वकीयो विषयः प्रमाणमुपस्थाप्यते, विषये प्रमाणप्रवृत्तिमन्तरेण तदीययथार्थत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । तेनापि प्रमाणेन स्वगोचर ईश्वरसद्भाव उपस्थाप्यत इत्यनायासेनैव सिद्धोऽस्माकमीश्वरसिद्धिमनोरथः । अथाऽयथार्थं तत्रास्मिन्नयथार्थज्ञानविषये यद्यस्माभिरयथार्थमेव ज्ञानमुत्पादनीयमिति भवतः पृच्छतो वाञ्छितं तदा केयं स्वाधीनेऽर्थे परापेक्षा भवानेवायथार्थज्ञानोत्पादनकुशलो यथैकं तत्र मिथ्याज्ञानमजीजनत्तथा परमप्युत्पादयतु । वयं पुन यथार्थज्ञानस्योत्पादयितारो मिथ्याज्ञाने सर्व्वथैवाकुशलिनः किमिह नियुज्येमहीति ॥ ६१ ॥

अथ मदीयस्यायथार्थज्ञानस्य यो विषयः स मदीययथार्थज्ञानविषयो भवता क्रियतामिति त्वदीयं वाञ्छितं तदा व्याघातादीदृश्यर्थे भवतः प्रवृत्तिरेवानुपपन्ना, शुक्तिका रजतत्वेन मम यथार्थज्ञानविषयो भवत्वित्येदर्थं प्रेक्षावान् कथङ्कारं प्रयतेत । येन रूपेणायथार्थज्ञानविषयत्वं तेनैव रूपेण यथार्थज्ञानविषयत्वे व्याघातात् ।

किञ्च प्रश्नार्थक किम् शब्द से अर्थ की जिज्ञासा प्रतीत होती है । जिज्ञासा ज्ञान की इच्छा है, और इच्छा अज्ञात में नहीं होती है, कारण कि यदि अज्ञात में इच्छा मानें, तो सब विषय में सर्वदा सब की इच्छा होनी चाहिये । तस्मात् जिस मनुष्य की ईश्वर के सद्भाव में प्रमाण जानने की इच्छा हो उस मनुष्य की इच्छा का कारण प्रमाण का ज्ञान है यह अवश्य कहना चाहिये । और वह ज्ञान यथार्थ है, वा अयथार्थ । यदि यथार्थ कहें तो वही ज्ञान स्वविषय प्रमाण की भी उपस्थिति करेगा, कारण कि विषय में प्रमाण की प्रवृत्ति के विना प्रमाण विषयक ज्ञान के यथार्थत्व का निश्चय नहीं हो सकता है । और वह प्रमाण भी स्वविषय ईश्वर के सद्भाव की उपस्थिति करेगा । इस रीति से विना परिश्रम हमारा ईश्वर सद्भावरूप मनोरथ सिद्ध हुआ । और यदि अयथार्थ ज्ञान का विषय प्रमाण हम में अयथार्थ ज्ञान ही उत्पन्न करे—ऐसी आपकी इच्छा है, तो स्वाधीन अर्थ में पर की अपेक्षा यह कैसी, आप ही अयथार्थ ज्ञान के उत्पादन में कुशल हैं, जैसे उस विषय में एक मिथ्या ज्ञान को उत्पन्न किया है, वैसे ही और भी अयथार्थ ज्ञान का उत्पादन करें । हम यथार्थ ज्ञान के उत्पादक हैं, मिथ्या ज्ञान के उत्पादन में सर्वथा अकुशल हैं । फिर इस विषय में हमारी प्रेरणा क्यों करते हैं ॥ ६१ ॥

समर्थन—मेरे अयथार्थ ज्ञान के विषय को मेरे यथार्थ ज्ञान का विषय आप करें ।

खण्डन—यदि ऐसी आपकी इच्छा है, तो व्याघात से इस अर्थ में आपकी प्रवृत्ति ही अनुपपन्न है । शुक्तिका रजतत्व रूप से मेरे यथार्थ ज्ञान का विषय हो—इसलिए प्रेक्षावान् की कैसे प्रवृत्ति हो सकती है । जिस रूप से यथार्थ ज्ञान का विषय हो, उसी रूप से अयथार्थ ज्ञान का विषय होने में व्याघात है ।

समर्थन—अपने सिद्धान्त के अनुरोध से आप ईश्वरविषयक प्रमाण में यथार्थ ज्ञान का उत्पादन करें, इसीलिए आपसे पूछते हैं ।

अथ मन्यसे स्वसिद्धान्तमनुरुन्धानेन भवता यथार्थज्ञानं तत्रोत्पादनीयमत-स्तदर्थं भवाननुयुज्यत इति मैवम् । य ईश्वरसद्भावविषयो भवता प्रमाणाभासः प्रमाण-तया भ्रान्त्या प्रतीतस्तस्य प्रमाणत्वमस्माभिर्व्युत्पादनीयमिति नास्माकमीदृशः सिद्धा-न्तः प्रत्युतेश्वरसद्भावविषयं यत्प्रमाणं भवता प्रमाणाभासत्वेन भ्रान्त्या प्रतीतमस्ति तत्प्रमाणनीयमिति ॥ ६२ ॥

स्यान्मतमीश्वरसद्भावविषयस्य प्रमाणस्य भवता ज्ञापनमात्रं क्रियतामित्यभिमतं पृच्छतामस्माकं नतु प्रमाणेनाऽप्रमाणेन वेति विशेषोऽप्यभिमत इति, न । ज्ञापनमात्र-स्याप्रमाणज्ञानमादायाऽप्युपपत्तेः । तत्र स्वाधीने केयं परापेक्षेत्याद्युक्तमनुषञ्जनीयम् ।

स्यादेतत् येयमीश्वरसद्भावविषया प्रमाणप्रतीतिरस्माकमुत्पन्ना सा व्यभिचा-रिणी सत्या वेति संशयोऽत्रास्माकं तेनैकपक्षनिर्द्धारणाधीनं यदिदं दूषणमवादि भव-ता तन्निरवकाशमिति । नैतदस्ति । एवं हि तस्यां प्रतीतौ यथार्थत्वायथार्थत्वसंशयेन तस्याः प्रतीतेर्गोचरो यत्प्रमाणं तस्यापि योऽसौ विषय ईश्वरसद्भावस्तत्र सर्व्वत्रैव संशयानस्य भवतः प्रश्नोऽयं न तु विप्रतिपन्नस्येति स्यात् तथा च स्वीकुरु शिष्यभावं, प्रसादय चिरं चरणशुश्रूषाभिरस्मान्, च्छेत्स्यामस्ते संशयमिति ॥ ६३ ॥

खण्डन—यदि प्रश्न का यह आशय हो तो युक्त नहीं है, कारण कि ईश्वर सद्भाव विषयक प्रमाणाऽऽभास (अनुमानादि) को आप भ्रम से प्रमाण मानते हैं, उस प्रमाणाभास के प्रमाणत्व का प्रतिपादन हम करें—यह हमारा सिद्धान्त नहीं है; किन्तु हमारा यह सिद्धान्त है कि ईश्वरसद्भावविषयक प्रमाण (वेद) को आपने भ्रम से प्रमाणाभास मान रखा है उस वेद के प्रमाणत्व का प्रतिपादन करें ॥६२॥

समर्थन—ईश्वर सद्भावविषयक प्रमाण का बोधनमात्र आप करें—यह प्रश्नकर्त्ता का आशय है, प्रमाण से ही बोधन करें वा अप्रमाण से ही बोधन करें—ऐसा विशेष अभि-मत नहीं है।

खण्डन—यह आपका मत भी युक्त नहीं है, कारण कि केवल बोधन अप्रमाण से भी हो सकता है और अयथार्थ ज्ञान के उत्पादन में आप स्वाधीन हैं। उसमें पर की अपेक्षा व्यर्थ है, अतः पूर्वोक्त खण्डन की अनुवृत्ति करनी चाहिये।

समर्थन—ईश्वर सद्भाव विषयक प्रमाण का जो ज्ञान हमें हुआ है, वह यथार्थ है या अयथार्थ है, ऐसा इस विषय में हमें सन्देह है। अतः एककोटि यथार्थत्व वा अयथार्थत्व का निश्चय कर जो दूषण आपने दिया है वह युक्त नहीं है।

खण्डन—प्रश्न का यह आशय होता, परन्तु हो नहीं सकता, कारण कि ऐसा मानने पर अर्थात्—प्रमाण की प्रतीति में यथार्थत्व अयथार्थत्व के सन्देह होने पर—विषय जो प्रमाण है उसके विषय ईश्वर सद्भाव में आपको सन्देह ही है। अतः संशय से आप प्रश्न करते हैं, आप विप्रतिपन्न नहीं हैं, तब तो शिष्य बनकर चरणशुश्रूषा से हमें प्रसन्न कीजिये। हम आपके सन्देह का छेदन करेंगे ॥६३॥

समर्थन—हम विप्रतिपन्न हैं, और हमारा संशय भी आहार्य्य (इच्छा से ही जन्य) है।

विप्रतिपन्ना एव वयमाहार्य्यः संशयोऽस्माकमिति चेत्, तर्ह्यवधृतैककोटय एव वयं कार्य्यानुरोधात्तु संशयमालम्बामह इत्युक्तं स्यात्, एवं तर्हि तदेव कोट्यवधारणं भवतां यथार्थमयथार्थं वेति विकल्पोक्तयुक्त्या दूषणीयम्।

एतेनानध्यवसायेन तदस्माभिः प्रतिपन्नमित्यपि निरस्तं वेदितव्यम्। व्यभिचारिविषयमव्यभिचारिविषयं वा तदिति विकल्पाभ्यां तस्यापि ग्रस्तत्वात्—

"परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थिति"

रिति न्यायात्। एवमीश्वराभिसन्ध्यादावपि तत्तत्स्थाने तिष्ठत्सर्व्वनामान्तरखण्डनमत्र द्रष्टव्यम्॥ ६४॥

इति कवितार्किकचक्रवर्त्ति—श्रीश्रीहर्षमिश्रकृते खण्डनखण्डखाद्ये सर्व्वनामार्थानिरुक्तिर्नाम तृतीयः परिच्छेदः।

खण्डन—तब ऐसा कहिये कि एककोटि अर्थात् अभाव का हमें निश्चय है। बाध की इच्छा से हम सन्देह का आलम्बन करते हैं—यह आपके प्रश्न का आशय हुआ, अतः वह एक कोटि का ज्ञान आपका भ्रम है अथवा यथार्थ, ऐसा विकल्प कर उक्त युक्ति से वह खण्डनीय है।

समर्थन—वैशेषिकाभिमत अनध्यवसाय अविद्यारूप ज्ञान से ईश्वर सद्भाव में प्रमाण के ज्ञात होने से उसमें प्रश्न हो सकता है।

खण्डन—वह अविद्यारूप ज्ञान यथार्थ है अथवा अयथार्थ है, ऐसे विकल्प से ग्रस्त होने से उक्त आशय भी खण्डनीय है। यथार्थत्व अयथार्थत्व ये दो कोटि परस्पर विरुद्ध हैं। अतः एक कोटि के न होने पर अन्य तृतीय कोटि की प्राप्ति होती है। दोनों से अन्य तृतीय कोटि की प्राप्ति नहीं होती है। इसी प्रकार से ईश्वराभिसन्धि नामक ग्रन्थ के तत् २ प्रकरण में अन्य सर्वनाम शब्दों का खण्डन भी देखना चाहिये॥६४॥

इति तृतीय परिच्छेदानुवाद॥२५॥

अथ चतुर्थः परिच्छेदः ।

ननु तथापि भावात्मके तस्मिन्नीश्वरे विधायकं किञ्चित्प्रमाणं वक्तव्यमिति चेत् । किं पुनर्भावत्वम् । विधित्वमिति चेन्न, पर्य्यायाप्रश्नात् । स्वरूपसत्त्वमिति चेत्, अभावस्यापि तथाभावात् । प्रतिस्वं व्यावृत्तत्वेनाननुगतत्वापत्तेश्च । अस्तीति-प्रतीतिविषयत्वमितिचेन्न, अभावो घटस्यास्तीतिप्रत्ययसम्भवेनाभावस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् ।। नास्तीतिप्रतीतिविषयत्वेऽपि च घटादेर्भावत्वानिवृत्तेः ॥ ६५ ॥

अस्तीति चास्त्यर्थो वा शब्दो वा विवक्षितः । नाद्यः, तस्यानिरुक्तेः । सत्ता तदर्थ इति चेन्न, सामान्यादीनां तदभावादभावत्वापत्तेः । स्वरूपसत्त्वञ्च निरस्तम् । नापि द्वितीयः, अभावोऽस्तीतिप्रतीतेरुक्तत्वात् । वर्त्तत इत्याद्याकारेण च प्रतीयमानस्याभावत्वप्रसङ्गात् । सोऽप्यस्तिपर्य्याय इति चेन्न, उभयसाधारणैकार्थनिर्व्वचनमन्तरेण

अथ चतुर्थ परिच्छेद में भावत्व की निरुक्ति के खण्डन का भाषानुवाद ।

यद्यपि किम्शब्दार्थ के निर्वचन के न होने से ईश्वर के सद्भाव में प्रमाण का प्रश्न नहीं हो सकता है, तो भी भावरूप ईश्वर में विधायक कुछ प्रमाण अवश्य कहना चाहिये ।

प्रश्न— भाव क्या वस्तु है, अर्थात् भाव [निर्वचन न होने से] अनिर्वचनीय है उस में प्रमाण का प्रयोजन नहीं है ।

निर्वचन—विधि भाव है ।

खण्डन—पर्य्याय नहीं पूछते हैं, लक्षण पूछते हैं, अतः आप को लक्षण कहना चाहिये ।

समर्थन—स्वरूप से जो सत् हो, वह भाव है ।

खण्डन—अभाव भी स्वरूप से सत् है, अतः अभाव में अतिव्याप्ति हो जायगी । किञ्च स्वरूपसत्व प्रतिव्यक्ति पृथक् पृथक् होने से उसको लक्षण मानने में उक्त लक्षण से लक्ष्य का अनुगम नहीं होगा ।

समर्थन—"अस्ति" इस प्रतीति का विषय भाव है ।

खण्डन—"घटस्य अभावोस्ति" ऐसी प्रतीति होती है, अतः अस्ति इस प्रतीति के विषय होने से अभाव में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । किञ्च यदि अस्ति प्रतीति के विषय को भाव कहें, तो "घटा भावो नास्ति" इस प्रतीति के विषय होने से घट में भावत्व की निवृत्ति होनी चाहिये ॥ ६५ ॥

किञ्च अस्तिसे अर्थ अभिप्रेत है, अथवा शब्द इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं, है कारण कि, अब तक अस्ति के अर्थ की निरुक्ति हुई ही नहीं है । यदि सत्ता को अस्ति का अर्थ मानें, तो सामान्य आदि में सत्ता का अभाव होने से उनमें लक्षण की अव्याप्ति होजायगी । और यदि स्वरूप से स्वत्त्व को अस्ति का अर्थ मानें, तो उसके अभाव में होने से लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । तथा द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि द्वितीय पक्ष में अस्ति-शब्द से जिसका उल्लेख होता हो ऐसी प्रतीति का विषय भाव है, ऐसा लक्षण हुआ उसकी

पर्य्यायत्वस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्। यत्रैकस्यास्तिपदप्रयोगः तत्रैवापरस्य वर्त्ततइति प्रयोगात् सामान्येन तावत् पर्य्यायत्वं शक्याधिगममिति चेन्न। प्रमेयाभिधेयादिशब्दानां तथात्वेऽप्यपर्य्यायत्वात्। यत्रेत्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तार्थत्वे च तन्निर्वचनप्रसङ्गस्तदवस्थः स एवार्थो भावत्वमुच्यतां किं शब्दोल्लेखगवेषणया ॥ ६६ ॥

अपरप्रतिषेधात्मकत्वं भावत्वमिति चेन्न। व्यवच्छेद्यासम्भवेन परपदवैर्य्यात्। भावाभावयोः परस्परप्रतिषेधात्मकतास्वीकाराच्च। तथापि भावो नास्तीत्यभावप्रतिपत्तिवदभावो नास्तीतिभावस्याप्रतीतिरिति चेन्न, तावतापि लक्षणानिरुक्तेः। अपरप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वमेव भावत्वमिति चेन्न। चक्षुरादिभिर्भावत्वाग्रहणप्रसङ्गात्, नहि प्रतीयमानत्वं चक्षुरादिग्राह्यम्। अभावो नास्तीतिप्रतीतेर्निर्विषयत्वप्रसङ्गाच्च नहीयं भावविषया, भवत्पक्षे परप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वात्। नाप्यभावविषयैव तन्निषे-

---

"अभावोऽस्ति" इस प्रतीति का विषय अभाव में अतिव्याप्ति हो जायगी। और यदि केवल अस्तिशब्द के उल्लेखवाली प्रतीति विषय को ही भाव मानें तो "घटोवर्तते" "घटो भवति" इत्यादि प्रतीति का विषय घट अभाव हो जायगा।

समर्थन—अस्तिपर्य्याय का उल्लेख करने वाली प्रतीति का विषय भाव है, और अस्ति का पर्य्याय 'भवति, 'वर्तते' भी हैं, अतः भवति वर्तते का उल्लेख करने वाली प्रतीति के विषय में अव्याप्ति नहीं।

खण्डन—एक अर्थ के वाचक को ही पर्य्याय कहते हैं। अतः यावत् भावरूप एक अर्थ का निर्वचन न हो, तावत् पर्य्यायघटित इस लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता है।

समर्थन—जिस अर्थ में एक पुरुष अस्ति का प्रयोग करता है। उसी अर्थ में अन्य पुरुष भवति वर्तते का प्रयोग करता है, इस से सामान्यरूप से भावत्व के निर्वचन के विना भी पर्य्यायत्व का ज्ञान हो सकता है।

खण्डन—एक अर्थ में प्रयोग होने पर भी प्रमेय और अभिधेय शब्द पर्य्याय नहीं है, अतः एक अर्थ में प्रयोग होने से पर्य्यायत्व का सामान्य से ज्ञान नहीं हो सकता।

समर्थन—जिन दो अर्थों का एक प्रवृत्तिनिमित्त हो, वे दोनों आपस में पर्य्याय हैं, और प्रमेय अभिधेय शब्द के प्रमाविषयत्व अभिधाविषयत्वरूप दो प्रवृत्तिनिमित्त हैं अतः पर्य्यायत्व नहीं हैं।

खण्डन—यावत् अस्ति शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का ज्ञान न हो, तावत् प्रवृत्तिनिमित्त घटित पर्य्यायत्व के अज्ञान से पर्य्यात्वघटित उक्त लक्षण का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा। अतः उस अस्ति के प्रवृत्तिनिमित्त का ही निर्वचन करिये। अस्ति शब्द के उल्लेख का अन्वेषण व्यर्थ है ॥ ६६ ॥

समर्थन—परका प्रतिषेधरूप जो न हो वह भाव है

खण्डन—अप्रतिषेधरूप भाव है, इतना ही कहने में कोई दोष तो है नहीं, अतः व्यवच्छेद्य न होने से पर पद का निवेश व्यर्थ है। किञ्च भाव भी अभाव का प्रतिषेध रूप है अतः उक्त लक्षण का असम्भव हो जायगा।

थार्थत्वात्, नैवं प्रतीतिरेव स्यादिति चेन्न, शाब्द्याः प्रतीतेः सम्भवात्। आकाङ्क्षादिमद्भिः पदैः प्रतिस्वं संसर्गबोधनात्।

"अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि" ॥ ६७ ॥

प्रत्यक्षप्रतीतेस्तथा विवक्षितत्वादयमदोष इति चेन्न। सर्वस्य भावस्य प्रत्यक्षत्वानङ्गीकारात्। सेश्वरपक्षे सर्व्वं प्रत्यक्षमिति चेन्न, तेन तेषामपपरप्रतिषेधात्मतया ग्रहणे प्रमाणाभावात्। तेषां विधिरूपतया तथैव ग्रहणमिति चेन्न, विधिरूपत्वस्यानवधारणात्। यदपरप्रतिषेधात्मकतया शब्देनापि बोध्यते, तत्तावत् भावरूपमिति चेन्न, परपदवैयर्थ्यात्। तत्त्यागेऽप्यचाक्षुपादित्वापत्तेः। सुरभि चन्दनमित्यादाविवान्योपनी-

---

समर्थन—जैसे भावो नास्ति, ऐसी अभाव की प्रतिषेधरूप से प्रतीति होती है, वैसे ही "अभावो नास्ति" ऐसी भाव की प्रतिषेधरूप से प्रतीति नहीं होती है।

खण्डन—इस कथन से भी लक्षण की निरुक्ति तो नहीं हुई।

समर्थन—पर के प्रतिषेधरूप से जो अप्रतीयमान हो, वह भाव है।

खण्डन—प्रतीति घटित उक्त भावत्व का चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होगा, कारण कि प्रतीति का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। किञ्च "अभावो नास्ति" 'यह प्रतीति' निर्विषयक हो जायगी। देखिये—यह प्रतीति भाव विषयक नहीं है, कारण कि आपके मत में पर के प्रतिषेधरूप से प्रतीयमान है, और अभाव विषयक भी नहीं है, कारण कि अभाव के प्रतिषेधरूप से प्रतीयमान है—ऐसी प्रतीति ही नहीं होती है—यह भी नहीं कह सकते, कारण कि आकाङ्क्षादि युक्त पदों से प्रतिपदार्थों के परस्पर संसर्ग बोध होने से शब्द से जन्य ऐसी प्रतीति हो सकती है जब "शशशृङ्गं नास्ति" इस शब्द प्रयोगस्थल में अत्यन्त असत् अर्थ का भी शब्द से बोध होता है तब प्रकृतस्थल में जहाँ सत् अर्थ है वहाँ शब्द से प्रतीति क्यों नहीं होगी ॥ ६७ ॥

समर्थन—अपर प्रतिषेधमुख से जायमान जो प्रत्यक्ष उसका विषय भाव है। और घटादि का प्रत्यक्ष प्रतिषेधरूप से नहीं होता है, अतः घटादि में अव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—देश, काल, स्वरूप से विप्रकृष्टभाव के प्रत्यक्ष न होने से सब भाव का प्रत्यक्ष होता हो, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि ईश्वरऔर योगी को सब वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है तब भी उन्हें अपरप्रतिषेधरूप से ही प्रत्यक्ष होता हो इसमें कुछ प्रमाण नहीं है।

समर्थन—घटादि विधि अपरप्रतिषेधरूप हैं, अतः उसी रूप से ग्रहण होता है।

खण्डन—अद्यावधि घटादि के विधि (अपर प्रतिषेध) रूपत्व का अवधारण नहीं हुआ है।

समर्थन—जो अपरप्रतिषेधरूप से शब्द से भी बोधित हो, वह भाव है।

खण्डन—पूर्वोक्त रीतिसे अपर पद का वैयर्थ्य हो जायगा। यदि पर पद का लक्षण में निवेश न भी करें, तब भी बोध घटित होने से उक्तभावत्व का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होगा।

समर्थन—सुरभि चन्दनम्, यहाँ जैसे सौरभ का तथा "ज्ञातो घटः" यहाँ जैसे ज्ञान का ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति से भान होता है, वैसेही उक्त लक्षणरूप भावत्व का भी प्रत्यक्षहोगा।

तभागवत् तत्र चाक्षुपत्वं भविष्यतीति चेन्न, तथाविधविषयेण विशिष्टाया बुद्धेर्विषय-विशेषणताग्रहे स्वाश्रयोऽप्यंशतः स्यात्। तेनोपलक्षितायास्तथात्वे चाभावविशिष्टभा-वग्रहार्थस्याभावस्य तथात्वापत्तेः॥ ६८॥

तेन यदेवंविधं तद्भावरूपमिति च ब्रुवतैवंविधस्वाद्भावत्त्वमन्यद्वाच्यमभेदे च यदेवंविधं तद्भावरूपमिति नियमानुपपत्तेः। अस्योपलक्षणत्वे चोपलक्ष्यस्यान्यस्य वाच्यत्त्वात्। अस्यैव भावार्थत्वे चाभावो नास्तीति कृत्वा प्रतीयमानस्य भावस्य भाव-त्वाभावप्रसङ्गात्। भिन्नश्च भावत्वं न सम्भवति, षट्पदार्थव्यतिरेकप्रसङ्गात्। यच्च कि-ञ्चिद्भावत्वं तत्स्वात्मन्यस्ति नो वा, अस्ति चेदात्मनि वृत्तिविरोधः, नास्ति चेत्स्वस्या-न्यप्रतिषेधमुखेन चाप्रतीयमानस्याभावत्वप्रसङ्ग इति। ६९॥

खण्डन—अपर प्रतिषेधरूप जो विषय उससे विशिष्ट बुद्धि को यदि लक्षण प्रविष्ट विषय का विशेषण मानें, तो विषयविशिष्टबुद्धि के विषय में वृत्ति होने से बुद्धि द्वारा विषय भी विषयवृत्ति हुआ, अतः आत्माश्रय हो जायगा। और यदि अपर प्रतिषेधरूप विषय को बुद्धि में और उससे उपलक्षित बुद्धि को विषय में उपलक्षण मानें, तो अपर भूतल पर विषय से उपलक्षित "घटाभाववद् भूतलम्" इत्याकारक बुद्धि से उपलक्षित जो घटा भावरूपविषयत्व वह घटाभाव में भी है, अतः लक्षण की घटाभाव में अतिव्याप्ति हो जायगी॥ ६८॥

किञ्च अपरप्रतिषेधरूप से प्रतीयमान भाव है ऐसा आप कहते हैं, तो लक्षण से अन्य भावत्वरूप लक्ष्यता के अवच्छेदक को भी कहना चाहिये, कारण कि लक्षण और लक्ष्यता-वच्छेदक को एक मानो, तो जो ऐसा हो वह भाव है—यह कथन नहीं बनेगा। यदि लक्षण को उपलक्षण भी मानें, तो भी उपलक्षण से अन्य उपलक्ष्यता के अवच्छेदक को कहना चाहिये, यदि किसी प्रकार से अपर प्रतिषेध मुख से प्रतीयमानत्वरूप लक्षण को ही लक्ष्य का अवच्छेदक मानो तो "अभावो नास्ति" इस प्रकार प्रतिषेधरूप से प्रतीयमान घटादिभाव लक्ष्य न कहावेगा। और उस लक्षण से अन्य भावत्व की सम्भावना है नहीं, कारण कि द्रव्यादि पदार्थों से अन्य पदार्थ को मानना पड़ेगा। किञ्च जो कुछ भी भावत्व हो वह भावत्व के लक्षण में रहता है, वा नहीं, यदि रहता है, तो स्व में स्व को वृत्तित्व हो जायगा। जो विरुद्ध है। और यदि नहीं रहता है, तो लक्षण में परप्रतिषेधरूप से अप्रतीयमान होने पर भी अभावत्व का प्रसङ्ग हो जायगा॥ ६९॥

॥ इति भावत्वनिर्वचनखण्डनानुवाद॥

अथ अभावत्वनिर्वचनखण्डनानुवाद।

इस प्रकार से प्रश्न में प्रश्न कर ईश्वर में प्रमाण को नहीं दिखा सके। अतः ईश्वर के अभाव का प्रसङ्ग हुआ।

प्रश्न—अभाव ही क्या वस्तु है। अर्थात् निर्वचन न होने से अनिर्वचनीय है अतः ईश्वर का अभाव नहीं होगा।

नन्वेवमीश्वरे प्रमाणानुपदर्शनात्तदभाव एवापद्यत इति चेत्, अभावत्वं किमभिधीयते। निषेधात्मकत्वमिति चेत् तद्यदि प्रतिक्षेपात्मकत्वं तदा भावेऽप्यस्ति, भावाभावयोर्द्वयोरपि परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वस्वीकारात्। अथाभावत्वमेव तदा न निवृत्तः पर्यनुयोगः। एतेन निषेधमुखेन प्रतीयमानत्वमिति निरस्तम्। ७० ॥

भावविरोधित्वमिति चेन्न, सर्व्वभावविरोधित्वं तद्विशेषविरोधित्वं वा। नाद्यः, असिद्धेः, नहि घटाभावो भूतलादि विरुणद्धि। नापि द्वितीयः, भावानामपि केषाञ्चित्तथाभावात्। अथ सहानवस्थानं विरोधो विवक्षितः, स भावानां नास्तीति चेन्न, गोत्वाश्वत्वादौ तस्यापि भावात्। एकविधावन्यनिषेधः स इति चेन्न, भेदे भावभेदयोरेव प्रसङ्गात्। एकविधिरेवापरनिषेधः स इति चेन्न, निषेधस्याभावार्थत्वे भावार्थत्वे

निर्वचन—जो निषेधरूप हो, वह अभाव है।

खण्डन—यदि निषेध प्रतिक्षेप है, तो भाव में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि भाव अभाव दोनों परस्पर प्रतिक्षेपरूप हैं, और यदि निषेध अभाव ही है, तो प्रश्न निवृत्त नहीं हुआ। अर्थात् प्रश्न का उत्तर नहीं हुआ।

समर्थन—निषेधमुख से प्रतीयमान अभाव है।

खण्डन—यह लक्षण भी युक्त नहीं है कारण कि यदि निषेध प्रतिक्षेपरूप मानें, तो भाव में अतिव्याप्ति हो जायगी। और यदि अभावरूप मानें, तो पक्ष निवृत्त नहीं हुआ।

समर्थन—भाव का विरोधी अभाव है।

खण्डन—सब भावों का विरोधित्व लक्षण है, अथवा यत् किञ्चित् भाव का। इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि घटाभाव का भूतल अविरोधी है। अतः सर्व भावों का किसी भी अभाव में विरोध न होने से असंभव हो जायगा। और द्वितीय पक्ष में यदि किञ्चिद्भाव (उत्तर संयोग) के साथ वध्यघातकभावरूप विरोध कर्म को भी है अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—सहानवस्थानरूप विरोध की विवक्षा है वह भावों में नहीं है।

खण्डन—गोत्व अश्वत्व में सहानवस्थानरूप विरोध है, अतः उनमें अतिव्याप्ति होने से यह भी युक्त नहीं है।

समर्थन—एक के विधि में अन्य का निषेध अभाव है।

खण्डन—यदि लक्षण घटक विधिनिषेध में भेद है, तो पीत की विधिमें नील के निषेध होने से नील में अव्याप्ति हो जायगी। और यदि एक की विधि हो अपर का निषेध हो इस प्रकार विधि निषेध का अभेद है, तो निषेध शब्द का यदि अभाव अर्थ करें, तो अद्य पर्य्यन्त अभाव की निरुक्ति न होने से और यदि निषेध शब्द का भाव अर्थ करें, तो निषेध शब्द के भावार्थत्व की अप्रसिद्धि होने से लक्षण की असिद्धि हो जायगी।

समर्थन—नास्ति इत्याकारक जो (ज्ञान) उसका विषय अभाव है।

खण्डन—घटाभावोनास्ति इत्याकारक प्रतीति का विषय घट भी है, अतः घट में अतिव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च इस लक्षण में अस्ति इत्याकारक प्रतीति का विषय भाव है, इस भाव की निरुक्ति में उक्त दोष भी हो जायँगें।

चासिद्धेः । नास्तीति प्रतीयमानत्वमिति चेन्न । घटाभावो नास्तीति घटस्य तथाप्रतीयमानतया अभावत्वापत्तेः । अस्तीति भावत्वनिरुक्तौ यदुक्तं दूषणं तदापत्तेश्च ॥७१॥

प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वमिति चेन्न । प्रतियोगिनः परार्थत्वेऽतिप्रसङ्गात्, विरोध्यर्थत्वे चैतदनिरुक्तेः, असदर्थत्वे नञर्थस्यासिद्धेः, अतीतानागतज्ञानादौ विषयादिनाऽतिप्रसङ्गात् ॥ ७२ ॥

यच्च किञ्चिदभावस्य लक्षणमुच्यते, स भावोऽभावो वा स्यात् । नाद्यः, भावस्याभावानाश्रितत्वात् विषयिधर्म्मेण च कथमपि तथात्वे तन्निर्वाच्यं स्यात् । अन्यदेव तद्वदिति चेन्न । तद्वदभावस्याभावत्वे स्ववृत्तिः, भावत्वे च व्याघातात् । न द्वितीयः, तस्यात्मनि वृत्तौ विरोधापत्तेः, अवृत्तावव्यापकत्वप्रसङ्गादिति । प्रतिक्षेप्यविशिष्टमेव यत् प्रतिभाति सोऽभाव इति चेन्न । प्रतिक्षेपानिरुक्तौ प्रतिक्षेप्यानिरुक्तेः ॥ ७३ ॥

अर्थात् नास्ति यह शब्द शब्दपरक है या अर्थ परक, यदि शब्द परक मानें, तो "न वर्तते" "न भवति" इत्यादि प्रतीति का विषय अभाव न कहावेगा और यदि अर्थपरक कहें तो अद्यावधि नास्ति शब्द के अर्थ का निश्चय हुआ नहीं है, अतः असिद्धि वा आत्माश्रय दोष हो जायगा ॥ ७ ॥

समर्थन—प्रतियोगी के निरूपण के अधीन निरूपण जिसका हो वह अभाव है।

खण्डन—यदि प्रतियोगी शब्द का "पर" अर्थ करें तो विषय के निरूपण के अधीन बुद्धि के निरूपण होने से बुद्धि में एवं संयोगादि इत्यादि में अतिव्याप्ति हो जायगी। और विरोधी अर्थ कर नहीं सकते, कारण कि विरोध का अद्यावधि निर्वचन हुआ नहीं है।

और नञर्थ की निरुक्ति न होने से प्रतियोगी शब्द का "असत्" अर्थ भी नहीं कर सकते। किञ्च अतीत अनागत वस्तुका ज्ञान वर्तमान काल में असत् विषय से ही निरूपित होता है अतः उसमें अतिव्याप्ति भी हो जायगी ॥ ७२ ॥

किञ्च आप जो कुछ अभाव का लक्षण करते हैं। वह भाव है, वा अभाव, इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि भाव अभाव में नहीं रहता है। यदि विषयिधर्म्म प्रमेयत्व अभिधेयत्व के तुल्य भावरूप लक्षण को अभाव मानें भी, तो उस लक्षण का निर्वचन करना चाहिये। और उस प्रकार से सब निर्वचन खण्डित हैं। प्रमेयत्व के तुल्य किसी भावरूप अभाव के लक्षण का कथन भी करें, तो लक्षणयुक्त अभाव को यदि अभाव मानें, तो उसमें भी लक्षण का अस्तित्व कहना पड़ेगा, तब तो विशिष्टवृत्ति धर्म के विशेषण में रहने से आत्माश्रय हो जायगा। और लक्षणयुक्त अभाव को यदि भाव कहें, तो अभाव भाव है—ऐसा व्याघात हो जायगा। और लक्षण को यदि अभावरूप मानें, तो आत्माश्रय होगा। और यदि अभावरूप लक्षण में लक्षण की स्थिति न मानें, तो लक्षणरूप अभाव में ही लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—प्रतिक्षेप निषेध्य से विशिष्ट ही जो भासता हो वह अभाव है।

खण्डन—प्रतिक्षेप शब्द के अर्थ की यावत् निरुक्ति न हो, तावत् यह लक्षण दुर्बोध है। और प्रतिक्षेप शब्द के अर्थ की अद्यावधि निरुक्ति हुई नहीं ॥ ७३ ॥

इति अभाव निर्वचन खण्डनानुवाद।

विशिष्टशब्दार्थश्च निर्वचनीयः स्यात्। तत्र विशिष्टं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा। नाद्यः, दण्डपुरुषसम्बन्धमन्तरेण दण्डिनोऽन्यस्याप्रतीतेः। दण्डिनमानयेत्युक्तेऽतदानयनप्रसङ्गाच्च। तत्सम्बन्धेनोपलक्षितत्वात्तथेति चेन्न, अतद्गत उपलक्ष्यत्वेऽतिप्रसङ्गात्। तद्गतश्चान्यत्वात्। सम्बन्धो हेतुः स च तदधिकरण एवेति चेन्न, सम्बन्धात्तदधिकरणसम्बन्धान्यत्वापत्तेरित्येप न पन्थाः। तत्सम्बन्धिनि तत्र व्यवहार इति चेन्न। तस्यापि विशिष्टत्वेनान्यत्वापत्तौ व्यवहारविषयगतविशेषस्य वक्तु-

अथ विशिष्ट खण्डनानुवाद।

किञ्च अभावलक्षणघटकविशिष्ट पदार्थ का लक्षण करना चाहिए। विशिष्ट विशेषण, विशेष्य और उनके सम्बन्ध से भिन्न है या अभिन्न? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि "दण्डिनमानय" इस वाक्य के श्रवण के अनन्तर दण्ड पुरुष सम्बन्ध से भिन्न किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती है—

किञ्च यदि विशिष्ट को भिन्न मानें तो "दण्डिनमानय" इस वाक्य के कथन के अनन्तर विशेषण विशेष्य सम्बन्ध, से भिन्न का आनयन होना चाहिये। इनसे भिन्न का आनयन होता नहीं है।

समर्थन—विशिष्ट विशेषण विशेष्य के सम्बन्ध से उपलक्षित होता है, अतः विशिष्ट में होता हुआ व्यवहार, विशेषण विशेष्य में भी होता है।

खण्डन—प्रकृत विशेषण विशेष्य से शून्य विशिष्ट उपलक्ष्य है, अथवा प्रकृत विशेषण-विशेष्य से घटित? प्रथम पक्ष में "दण्डिन मानय" ऐसा कहने पर कुण्डली की प्रतीति या आनयन होना चाहिये, और द्वितीय पक्ष में विशिष्ट के अन्य होने से विशिष्ट के व्यवहार को विशेषण विशेष्य में नहीं होना चाहिये।

समर्थन—सम्बन्धविशिष्ट की प्रतीति अथवा व्यवहार में हेतु है और सम्बन्ध विशेषण विशेष्य उभयाश्रित है, अतः विशिष्ट व्यवहार विशेषण, विशेष्य दोनोंको ग्रहण कर ही होता है।

खण्डन—केवल सम्बन्ध अतिप्रसक्त होने से विशिष्टव्यवहार का हेतु नहीं है। किन्तु दण्डादिरूप अधिकरण से विशिष्ट सम्बन्ध ही हेतु है, और दण्डाधिकरणविशिष्ट सम्बन्ध विशिष्ट होने से सम्बन्ध से अन्य है, और विशिष्ट व्यवहार का हेतु उक्त विशिष्ट का अधिकरण—अंशतः आत्माश्रय होने से—विशेषण विशेष्य है नहीं, अतः विशिष्ट व्यवहार विशेषण विशेष्य दोनों में नहीं होगा। तस्मात् विशिष्ट अन्य है—यह कथन युक्त नहीं है।

समर्थन—यद्यपि विशिष्ट विशेषणविशेष्य सम्बन्ध से अन्य है तथापि विशेषण विशेष्य का सम्बन्धी है, अतः विशिष्ट व्यवहार विशेषण विशेष्य उभय को ग्रहण कर ही होता है।

खण्डन—विशिष्ट मात्र तो दण्ड पुरुष का सम्बन्धी है नहीं, किन्तु दण्ड पुरुषीयत्व-विशिष्ट ही विशिष्ट दण्ड पुरुष का सम्बन्धी है। और वह अन्य है अतः दण्ड पुरुषीयत्व विशिष्ट में जो व्यवहार होता है वह दण्ड पुरुष का आदान कर होवे। केवल दण्डी रूप विशिष्ट में जो व्यवहार होता है वह दण्ड, पुरुष में कैसे होगा।

मशक्यत्वात् । एवं परम्पराकल्पनायामप्यनवस्थामात्रं न तु व्यवहार्यगतो विशेषः कश्चित् ॥ ७४ ॥

द्वितीये तु प्रत्येकं दण्डिव्यवहारप्रसङ्गो विशेषाऽभावात् । न ते प्रत्येकं दण्डिपदार्थाः किन्तु मिलिता इति चेत्, मिलिता इति किं ते च मेलकं चाभिधीयते उत तेभ्योऽन्य एव कश्चित्, आद्ये, प्रत्येकं स एव प्रसङ्गः, मेलकेऽप्याधिकः । द्वितीयस्तु प्रतीतिव्यवहारविरोधात्पूर्ववदेवनिरस्तः । एकज्ञानारूढो वा अविरलनानाज्ञानारूढोवाऽनेकश्च सम्बन्धश्च विशिष्टपदार्थ इति चेन्न । घटपटाविति बुद्धावारूढौ घटपटौ सम्बन्धश्च घटपटरूपो विशिष्टः स्यात् । घटत्वपटत्वसम्बन्धानां तद्बुद्धावारूढानामभ्युपगमेन सम्बन्धस्यापि तद्बुद्ध्यारोहोपगमध्रौव्यात्, अन्यथा घटत्वविशिष्टरूपो घटः, पटत्वविशिष्टरूपश्च पटः कथमभ्युपेयस्तत्र । नच घटपटावित्यपि विशिष्टमेव, स्वतन्त्रयोः घटपटयोः परस्परासम्बन्धयोस्तत्र व्यवहारात् न पुनर्यथा दण्डी पुरुषस्तथा घटी पटः, पटी घट इति वा तत्र व्यवहारः ।

समर्थन—दण्डी पुरुष इस विशिष्ट का सम्बन्धी दण्ड पुरुषीयत्व से विशिष्ट विशिष्ट है और उसका सम्बन्धी दण्ड पुरुष है अतः परम्परा से विशिष्ट का सम्बन्धी दण्ड पुरुषको भी होने से विशिष्ट में व्यवहार दण्ड पुरुष का ग्रहण कर ही होगा ।

खण्डन—दण्ड पुरुषीयत्व से विशिष्ट भी विशिष्ट मात्र नहीं है किन्तु विशिष्ट विशेष ही है और वह अन्य है तथा दण्ड पुरुष का सम्बन्धी है नहीं, अतः विशिष्ट का व्यवहार दण्ड पुरुष का आदान कर नहीं होगा । इस रीति से विशिष्ट परम्परा के आश्रयण में केवल अनवस्था होगी व्यवहर्त्तव्य विषयगत विशेष का लाभ नहीं होगा ॥ ७४ ॥

विशेषण, विशेष्य, सम्बन्ध से अभिन्न ही विशिष्ट है, इस द्वितीय पक्ष में भी दण्ड, पुरुष, सम्बन्ध प्रत्येक में दण्डी व्यवहार हो जायगा ।

समर्थन—दण्ड, पुरुषादि प्रत्येक दण्डीपद का अर्थ नहीं है, किन्तु मिलित (समुदाय) दण्डी पद का अर्थ है अतः प्रत्येक में दण्डी व्यवहार नहीं होता है ।

खण्डन—मिलित शब्द का क्या अर्थ है, दण्ड, पुरुष, सम्बन्ध और इनका समूह अर्थ है, अथवा दण्डादि से अन्य ही समुदायरूप अर्थ है ? प्रथम पक्ष में प्रत्येक में भी विशिष्ट व्यवहार हो जायगा और समुदाय में भी विशिष्ट व्यवहार होगा—यह अधिक हुआ । द्वितीय पक्ष का पूर्व ही (विशिष्ट अन्य है इस कल्प के खण्डन के समय में ही) निराकरण कर आये हैं ।

समर्थन—एक ज्ञान अथवा अव्यवधान से जात अनेक ज्ञान का विषय अनेक और सम्बन्ध विशिष्ट पद का अर्थ है ।

खण्डन—"घटपटौ" इत्या कारक बुद्धि का विषय घटपट तथा संबन्ध भी घट पटरूप विशिष्ट हो जायगा, कारण कि घटत्व पटत्व और उनके सम्बन्ध को उस ज्ञानके विषय होने से सम्बन्ध भी उस ज्ञान का विषय है ही । यदि सम्बन्ध को उस ज्ञान का विषय न मानें, तो घट को घटत्वविशिष्ट तथा पट को पटत्वविशिष्ट कैसे मानेंगे । घट पटविशिष्ट ही है ऐसा नहीं मान सकते । कारण कि स्वतन्त्र (परस्पर असम्बद्ध) ही घट पट का वहां व्यवहार होता है । जैसे "दण्डीपुरुषः" यह व्यवहार होता है वैसे "घटी पटः" "पटी घटः" ऐसा व्यवहार नहीं होता है ।

न चैकज्ञानाद्यारूढ़तैव तयोर्न मन्तव्या, यतो घटपटाविति द्वित्वं तयोस्तद्द्वयानवगाहिना कथं विज्ञानेनावगाह्येतेति प्रत्यभिज्ञाप्रस्तावोक्तान् दोषानाहास्यामः। अत एवाविरल-नानाज्ञानारूढतापि विशिष्टता निरवकाशा ॥ ७५ ॥

अथाप्रकाशमानासम्बन्धोऽनेक एकबुद्ध्यारूढस्तथा नचैवं घटपटौ तत्कथमुक्त-दोषापत्तिरिति चेन्न, अप्रकाशमानोऽसम्बन्धो ययोरित्ययमप्यर्थो विशकलित इति घट-त्वपटत्वव्यवत्यादवैशिष्ट्यमपि तत्र भज्येताविशेषात्। अथ धर्म्मधर्म्मिसम्बंधाः स्वतन्त्रा एवैकबुद्ध्यारूढास्तथा नच घटपटौ धर्म्मधर्म्मिरूपावित्यनतिप्रसङ्ग इति चेन्न। धर्म्म-त्वस्यैकस्य दण्डादिगुणादिसाधारणस्य वक्तव्यत्वापातात्। सोऽप्येष्टव्य इति चेत्। इष्यतां परं तस्यापि वालुकावद्विशकलितस्योपगन्तव्यत्वेन धर्म्म्येव किन्न धर्म्मः स्यात् ॥ ७६ ॥

तथाप्रतीत्यभावान्न स्यादिति चेन्न। त्वदुक्तैकप्रतीत्यारोहस्याविशेषे प्रतीति-रपि तथा किन्न स्यात्। मास्तु धर्म्मत्वमनुगतं तत्तद्रूपादिपदार्थस्वरूपमेव तथा विचित्रं

समर्थन—घट पट दोनों एक ज्ञान के विषय नहीं होते हैं।

खण्डन—घट पट दोनों को विषय न करने वाले विज्ञान का विषय उन दोनों का द्वित्व कैसे होगा। इस प्रकार से प्रत्यभिज्ञा के खण्डन के प्रकरण के दोष आहृत होंगे। इसी प्रकार से अव्यवधान से जात नानाज्ञानविषय अनेक और सम्बन्ध विशिष्ट हैं—यह लक्षण भी खण्डित जानना चाहिये ॥ ७५ ॥

समर्थन—अप्रकाशमान है असम्बन्ध जिनका ऐसे एक बुद्धि के विषय अनेक विशिष्ट हैं, घट पट का असम्बन्ध प्रकाशित है, अतः "घट पटौ" इत्याकारक समूहालम्बन ज्ञान के विषय घट पट में विशिष्ट लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डन—अप्रकाशमान है असम्बन्ध जिनका यह अर्थ साफ नहीं है, किस का किसमें असम्बन्ध अप्रकासित हो यह स्पष्ट कहना चाहिये, अतः घटत्व का पट में तथा पटत्व का घट में असम्बन्ध अप्रकाशित होने से घटत्वविशिष्ट घट, पटत्वविशिष्ट पट में अव्याप्ति हो जायगी

समर्थन—धर्म्म, धर्म्मी, सम्बन्ध स्वतन्त्र विशिष्ट का अविशेषण एक बुद्धि के विषय विशिष्ट हैं घट पट परस्पर धर्म्म-धर्म्मी भावापन्न नहीं हैं, अतः उक्तस्थल में अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—दण्डादि और गुणादि उभय साधारण धर्म्म का निर्वचन करना चाहिये। और प्रमेयत्वादि के तुल्य दण्डादि साधारण धर्म्म को मान भी लें, तब भी विशिष्ट के अथावधि निर्वचन न होने से धर्म्मत्व विशिष्ट धर्म्म है, ऐसा धर्म्म का लक्षण हो नहीं सकता। अतः उपसंग्राहकरूप न होने से बालू के तुल्य विशकलित ही धर्म्म हुए फिर धर्म्मी ही धर्म्म क्यों न कहावे ॥ ७६ ॥

समर्थन—धर्मत्व विशिष्ट रूप से धर्म्मी की प्रतीति नहीं होती है अतः धर्म्मी धर्म्म नहीं है।

खण्डन—यावत् विशिष्ट की निरुक्ति न हो, तावत् ऐसी व्यवस्था हो नहीं सकती। किसी प्रकार से हो भी तो धर्म्मत्व, धर्म्मी, सम्बन्ध, एक बुद्धि के विषय होते ही हैं, अतः आपके अभिमत विशिष्ट लक्षण के समन्वय होने से धर्म्मत्व विशिष्टरूप से धर्म्मी की प्रतीति ही क्यों न हो

यत्तदेव धर्म्मिणा सम्बन्धेन च सममेकबुद्ध्यारूढं विशिष्टं नान्यदिति चेन्न, तेषां स्वरूपाणां भेदेन नानाभूतेषु विशिष्टेषु अनुगता विशिष्टबुद्धिर्न स्यात् । सम्बन्धमपि तर्हि विलुम्प, एवंस्वभावादेव रूपादिकं तथाधियमाधत्ताम् । एतदपि किं न स्यादितिचेत्तर्हि वराको धर्म्यपि विसृज्यतां यथा विना सम्बन्धं विशिष्टबुद्धी रूपादिस्वभावसामर्थ्यात्समर्थिता तथा विना धर्मिणमप्यस्त्विति जितं जैनैः ॥ ७७ ॥

स्यादप्येवं यदि शुक्ल इत्येतावन्मात्रमेव प्रतीयेत, किन्तु शुक्लः शङ्ख इत्यादिना प्रत्ययेन सामानाधिकरण्यमुल्लिखता धर्म्यप्यानीय दीयत इति चेन्न । शङ्खजातेरुपाधेर्वा रूपादेरविरलतादृगवस्थितस्य वा स्वरूपवैलक्षण्यमेव तत्पदेऽभिषिच्यतां येन विनाऽप्यधिकरणं सामानाधिकरण्यव्यवहारः स्यात् । किञ्च नैतावन्मात्रं, बुद्धिमादाय तदर्थगतवैचित्र्यान्तरखण्डने बुद्धिरेव स्वकारणसामर्थ्यात्तथोच्चिथता तत्तद्व्यवहारप्रसवित्री स्वीक्रियतां कृतमर्थव्यसनेन ।

तस्मात्—

"प्रत्येतव्यस्य वैचित्र्यं प्रत्ययोल्लेखसाक्षिकम् ।
धियं निवेश्य लुम्पद्भ्यो भङ्गं साध्येव यच्छति" ॥ ७८ ॥

समर्थन—धर्म्मत्व अनुगत न हो हानि क्या है। रूपादि पदार्थों के स्वरूप ही वैसे विचित्र हैं जिस से धर्म्मी और सम्बन्ध के साथ एक बुद्धि के विषय हो कर विशिष्ट हैं अन्य विशिष्ट नहीं हैं।

खण्डन—रूपादि के स्वरूप भिन्न भिन्न हैं, अतः विशिष्ट मात्र में अनुगत विशिष्ट बुद्धि नहीं होगी। किंच यदि रूपादि के स्वभाव के वैचित्र्य से ही निर्वाह करना है, तो सम्बन्ध को भी त्यागिये, स्वभाव से ही रूपादि सम्बन्ध विषयक बुद्धि का भी उत्पादन करेंगे। यदि कहें कि सम्बन्ध को भी त्याग देंगे, तो बिचार धर्म्मी को भी त्यागिये जैसे बिना सम्बन्ध रूपादि के स्वभाव से विशिष्ट बुद्धि होगी ऐसी ही बिना धर्म्मी के भी विशिष्ट बुद्धि होगी अतः धर्म्मी को भी न मानने वाले बौद्धों ने विजय पाया ॥ ७७ ॥

समर्थन—यदि ऐसा होता तो "शुक्ल" इत्याकार ही प्रतीति होती किन्तु सामानाधिकरण्य उल्लेख करने वाले "शुक्लः शंखः" इस ज्ञान से धर्म्मी भी गृहीत होता है।

खण्डन—शंखत्व जाति या उपाधि तथा एक ज्ञान विषय रूपादि के स्वरूप के वैलक्षण्य को ही उसके स्थान में अभिषिक्त कीजिये, जिससे अधिकरण के विना भी सामानाधिकरण्य व्यवहार हो। किञ्च यही नहीं होगा किन्तु यदि बुद्धि को ग्रहण कर अर्थ के वैचित्र्य का खण्डन करें, तो स्वकारण से विचित्ररूप से उत्थित बुद्धि ही को उस उस व्यवहार का जनक मान लीजिये, बाह्य अर्थ के स्वीकार में व्यसन व्यर्थ है। तस्मात् ज्ञान का आकार जिस में प्रमाण है ऐसे प्रत्येतव्य (विशिष्टरूप विषय) के वैलक्षण्य का—बुद्धि घटित लक्षण के निवेश कर—अपलाप करने वाले मनुष्य को पराजय उक्त प्रकार से बाह्य पदार्थ मात्र के खण्डन द्वारा बुद्धि ही देगी। अर्थात् अतिरिक्त विशिष्ट के खण्डन का विज्ञान वाद में पर्य्यवसान न होने से नैयायिक का अपसिद्धान्त हो जायगा ॥ ७८ ॥

यत्तु केनचिदभावस्य स्थाने तन्मात्रधीरभिषिक्ता तत्तस्य परमुचितम् ।
गुरुर्धियमभावस्य स्थाने स्थानेऽभिषिक्तवान् ।
प्रसिद्ध एव लोकेऽस्मिन् बुद्धबन्धुः प्रभाकरः ॥ २ ॥

अपि चैकबुद्ध्यारूढोऽनेकश्च सम्बन्धश्च विशिष्टइति पक्षे योप्येवंरूपवैलक्षण्यभाग्विशिष्ट इति कथ्यते, सोऽप्ययं विशिष्टोऽविशिष्टाद्वैलक्षण्येन बोध्यमानो ज्ञानमन्तर्भाव्यैव स्यादिति तत्र तत्रापि ज्ञानान्तरनिवेशनेऽनवस्था क्वचिदनिवेशे तदभावादविशिष्टत्वे शेषस्याऽऽमूलमविशिष्टत्वापातः । तद्योग्यस्तथेति चेत् । न तर्हि योग्यतापि तद्विशेषणं वालुकावदसंलग्नाऽतिप्रसङ्गिकैवेत्युक्तमावर्त्तते ।

एवमेकमिति ज्ञानमित्यारूढमित्यादिद्वारे द्रष्टव्यम् । तथाहि—
"अविशिष्टाद्विशिष्टस्य वैशिष्ट्ये यदि धीर्विशेत् ।
तद्बुद्धिधाराविश्रान्तिः स्याद्वा मूलाविशिष्टतेति ॥ ३ ॥

विशिष्टनिरासेन च सर्वाणि लक्षणानि निरस्तानीति मन्तव्यं यथा गुणाश्रयो द्रव्यमित्यादि ॥ ७९ ॥

जो मीमांसक प्रभाकर अभाव के स्थान में अभाव बुद्धि का अभिषेक करते हैं, "घटाभाववत् भूतलम्" इत्याकारक ज्ञान ही भूतल में घटा भाव है, उक्त बुद्धि से अन्य घटाभाव बाह्य पदार्थ नहीं है—ऐसा कहते हैं, उनका यह कथन युक्त ही है, कारण कि इस लोक में "गौतमश्चार्कबन्धुश्च" इस अमर के अनुसार बुद्ध का बन्धु अर्क (प्रभाकर) प्रसिद्ध ही है।

किञ्च—विशिष्ट का जो [एक बुद्धि में आरूढ़ अनेक तथा सम्बन्ध विशिष्ट है] लक्षण है उस लक्षण से विशिष्ट भी लक्ष्य ही है। अतः उसकी अविशिष्ट से व्यावृत्ति भी अन्य ज्ञान से घटित उक्तलक्षण से ही होगी, अतः ज्ञान परम्परा के निवेश से अनवस्था हो जायगी, और यदि अन्य ज्ञान का निवेश न करें, तो मूल पर्य्यन्त अविशिष्ट हो जायगा।

समर्थन—लक्षण विशिष्ट में अन्य ज्ञान घटित लक्षण नहीं रहता है किन्तु ज्ञान की योग्यता से घटित ही लक्षण रहता है (अतः ज्ञान परम्परा के अनिवेश से अनवस्था नहीं।

खण्डन—योग्यता से घटित उक्त लक्षण विशिष्ट में भी यदि उक्त लक्षण को मानें, तो अनवस्था और यदि न मानें तो मूल पर्य्यन्त अवैशिष्ट्य हो जायगा। इसी प्रकार से एक ज्ञान में आरुढ़-रूप विशेषण से विशिष्ठ जो लक्षण रूप विशिष्ट उसको भी लक्ष्य होने से लक्षण का वैशिष्ट्य मानेंगे इस प्रकार से विशेषण परम्परा विशिष्ट लक्षण परम्परा के स्वीकार में अनवस्था जानना चाहिये। लक्षण विशिष्ट की अविशिष्ट से व्यावृत्ति यदि अन्य ज्ञान से घटित उक्त लक्षण से मानें, तो ज्ञान परम्परा मानने में अनवस्था और यदि व्यावृत्ति न करे तो मूल पर्य्यन्त अवैशिष्ट्य हो जायगा ॥ ७९ ॥

इति विशिष्ट लक्षण खण्डनानुवाद

इतोऽपि गुणाश्रयो द्रव्यमित्यसङ्गतं तथाहि—कथमेतल्लक्षणमवधारणीयं सङ्ख्यारूपगुणवत्तया रूपादेरपि प्रतीतेः। भ्रान्तिरसाविति चेत्, पृथिव्यादौ कथमभ्रान्तिरिति वक्तव्यम्। तत्र बाधकाभावादिति चेत्, तुल्यम्। गुणस्य गुणवत्तायां बाधकमस्माभिरवश्यं वक्तव्यं निर्गुणा गुणा इति सिद्धान्तादिति चेन्न, रूपादेर्गुणत्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात्॥ ८०॥

सामान्यवान् गुण इत्यादिगुणलक्षणयोगात्तन्निश्चय इति चेन्न, अगुण इति गुणलक्षणांशस्यासिद्धेः सङ्ख्यावत्तया प्रतीतेर्विद्यमानत्वात्। भ्रान्तिरिति चेन्न, परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। सङ्ख्यावत्तया प्रतीतेर्भ्रान्तित्वे गुणलक्षणसिद्धिः तत्सिद्धौ च बाधेन भ्रान्तित्वस्थापनम्। नच हेत्वन्तराद्रूपादेर्गुणत्वसिद्धौ बाधकसिद्धिः दृष्टान्तस्यापि सङ्ख्यायोगिप्रत्ययाक्रान्तत्वेन प्रसक्तद्रव्यकोटिप्रवेशतया गुणत्वेनासिद्धेः। सङ्ख्यायाः

अथ द्रव्यलक्षण-खण्डनानुवाद

विशिष्ट के खण्डन से सम्पूर्ण लक्षण को खण्डित जानना चाहिये, कारण कि विशिष्ट के प्रवेश के विना कोई भी लक्षण हो नहीं सकता—जैसे गुण-विशिष्ट द्रव्य है—यह लक्षण, और वक्ष्यमाण दोषों से भी गुण-विशिष्ट द्रव्य है—यह लक्षण असङ्गत है। देखिये-संख्यारूप गुण, रूपरस आदि में भी है—फिर यह कैसे जाना जाय कि गुण विशिष्ट ही द्रव्य है। रूप रस में सङ्ख्या की प्रतीति भ्रम है—यह कह नहीं सकते, कारण कि पृथ्वीआदि में संख्या की प्रतीति भ्रम नहीं है और रूपादि में सङ्ख्या की प्रतीति भ्रम है—इसमें कुछ प्रमाण नहीं है। पृथिवी में संङ्ख्या की प्रतीति का बाधक नहीं है—यह भी रूपादि में संख्या की प्रतीति में बाधक न होने से तुल्य ही है।

समर्थन—रूपादि गुण में सङ्ख्यादि गुण नहीं रहता है, इसमें बाधक हम अवश्य कहेंगे, कारण कि "निर्गुणा गुणाः" यह सिद्धान्त है॥ ८०॥

खण्डन—रूप गुण है इसमें प्रमाण न होने से यह अनिश्चित है।

समर्थन—जिसमें जाति रहती हो और गुण न रहता हो, वह गुण है। इस लक्षण से निश्चय करेंगे कि रूप गुण है।

खण्डन—रूपमें सङ्ख्यारूप गुण के होने से गुणलक्षणघटक "अगुण" इस अंश का समन्वय न होने से रूप गुण है—इसमें कुछ प्रमाण नहीं है।

समर्थन—रूप रस में संख्या की प्रतीति भ्रम है।

खण्डन—अन्योन्याश्रय हो जायगा। देखिये—रूप में सङ्ख्या की प्रतीति भ्रम है—ऐसा निश्चय होने पर गुणलक्षण की रूप में सिद्धि होगी। और रूप में लक्षण की सिद्धि होने पर बाध होने से प्रतीति भ्रम सिद्ध होगी।

समर्थन—"रूपादयो गुणाः सामान्यवत्त्वे सति अचलनात्मकत्वात् शब्दवत्" इस अनुमान से रूप में गुणत्व की सिद्धि होने पर रूप में संख्या का बाध सिद्ध होगा।

खण्डन—शब्दरूप दृष्टान्त में संख्या के होने से उसका द्रव्य कोटि में प्रवेश होने से दृष्टान्त के अभाव से अनुमिति नहीं होगी, अनवस्था होने से, संख्या में संख्या के न होने से संख्या ही दृष्टान्त होगी, यह नहीं कह सकते, कारण कि संख्या में भी पृथक्त्वरूप गुण

सङ्ख्यावत्त्वेनानवस्थाप्रसङ्गान्निःसङ्ख्यत्वव्यवस्थितौ दृष्टान्तत्वं सम्भविष्यतीति चेन्न, पृथक्त्वेनापि तस्याः सम्भावितद्रव्यकोटिप्रवेशत्वात्। एवं पृथक्त्वस्यापि सङ्ख्यावत्तयेति ॥ ८१ ॥

जातीतरानाश्रयोऽकर्म्मरूपो गुण इत्यपि न, जातिव्यापकत्वात्। जातिमात्राश्रय इत्येवार्थ इति चेन्न, अभावाश्रयतया सर्वाव्यापनात्। जातिमात्रभावाश्रय इति चेन्न, उपाधीनामपि तदाश्रत्वात्। नोपाधीनामाश्रयो रूपादिः, किन्तु कथमपि सम्बन्धी, तावतैवानुमादिप्रवृत्तिरिति चेन्न, उपाधिसम्बन्धं प्रत्यप्याश्रयत्वस्य मन्तव्यत्वात्। अन्यथा यदि किञ्चिद्रूपमत्र नेष्यते तदा सामान्यविशेषानुमानं तत्र न स्यात्, व्यधिकरणयोर्गम्यगमकभावानभ्युपगमात्। तस्माद्यदेतदेव लक्षणं तत्तावन्न जातिरूपं तदिदं रूपं यदि रूपादौ नास्ति तदानीमस्ति, यद्यस्ति तदा नास्तीति विचित्रेण लगेत्युक्ते न लगति मा लगेत्युक्ते च लगतीति प्रवह्लिकामनुकरोति ॥ ८२ ॥

अपि च गुणाश्रय इत्यत्र कश्चाश्रयार्थः ? समवायीति चेन्न, गुणत्वादेरपि द्रव्यत्वप्रसङ्गात् गुणावच्छिन्नस्य समवायस्य गुणत्वेऽपि विश्रान्तत्वात्। गुणः समवेतो यत्र

रहता है, अतः उसका भी द्रव्य में ही अन्तर्भाव होने से वह भी दृष्टान्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार से पृथक्त्व में संख्या होने से उसका भी द्रव्यकोटि में अन्तर्भाव होने से वह भी दृष्टान्त नहीं हो सकता ॥ ८१ ॥

समर्थन—जो जाति से इतर के आश्रय न हों और कर्म्म से भिन्न हों, वे गुण हैं।

खण्डन—यह लक्षण भी जाति में अतिव्याप्त होने से अयुक्त है।

समर्थन—केवल जाति के ही आश्रय हों और कर्म्म भिन्न हों, वे गुण हैं।

खण्डन—अभाव के सब गुणों में रहने से लक्षण में असम्भव दोष हो जायगा।

समर्थन—केवल जातिरूप भाव के जो आश्रय हों तथा कर्म्म से भिन्न हों, वे गुण हैं।

खण्डन—प्रमेयत्वआदि उपाधि के गुण में होने से फिर भी असम्भव हो जायगा ॥

समर्थन—उपाधिप्रमेयत्वआदि का रूपादि आश्रय नहीं है किन्तु किसी प्रकार से सम्बन्धी हैं इसीसे "रूपादि अभिधेयं प्रमेयत्वात्" इस अनुमिति की प्रवृत्ति होती है।

खण्डन—प्रमेयत्व के सम्बन्ध का आश्रय अवश्य रूपादि को मानना होगा यदि सम्बन्ध का भी आश्रय न मानें, तो रूपादि में विशेषगुणत्व का तथा सङ्ख्यादि में सामान्यगुणत्व का अनुमान नहीं होगा, कारण कि एक अधिकरण में न रहने वालों में गम्यगमक भाव होता नहीं हैं। और यहाँ कोई उपाधि आपके मत में है नहीं।

तस्मात् जो यह लक्षण है वह जातिरूप तो है नहीं किन्तु उपाधिरूप है, अतः यह लक्षण यदि रूपादि में नहीं है, तब तो लक्षण के समन्वय होने से है, और यदि है तो लक्षण के समन्वय न होने से नहीं है, अतः "लग" कहने पर तो नहीं लगता और "मालग" कहने पर लगता है—इस विचित्र पहेली का अनुकरण आप का लक्षण करता है[1] ॥ ८२ ॥

---

१ प्रश्न—ऐसी कौन वस्तु है जो "मागल" कहने पर लगता हो और "लग" कहने पर न लगता हो ? उत्तर—अ

स गुणसमवायीति विवक्षितमिति चेन्न, यत्रेत्यस्याधिकरणार्थस्याद्याप्यनिरूपणेन तेनैव तद्व्याकारानुपपत्तेः, इहेति प्रत्ययहेतुराधार इति चेन्न, इह शङ्खे पीतिमेति प्रत्यया-च्छङ्खस्य पीतगुणाधिकरणत्वप्रसङ्गात् । भ्रान्तिरसौ, यथार्थश्च प्रत्ययोऽत्र विवक्षित इति चेन्न, तदर्थासत्त्वनिरूपणव्यतिरेकेण तदप्रामाण्यस्य बोद्धुमशक्यत्वात् । न चाद्यापी-हेति प्रत्ययस्यार्थः प्रतीतो यत्प्रतियोगिकमसत्त्वं तत्र निरूप्यते । पीतत्वं प्रतियोगि तच्च क्वचित्सिद्धमेवेति चेन्न, तस्य प्रमितत्वादेवासत्त्वानुपपत्तेः । तत्र न तस्य प्रमितत्वमिति चेन्न, तत्रेत्याधारत्वानिरूपणादिति ॥ ८३ ॥

एतेन समवायिकारणं द्रव्यमित्यपि लक्षणं निरस्तम् । कथं निर्णेतव्यमिदं सम-वायिकारणमिदं नेति रूपादौ घटादौ च सङ्ख्यासमवायिकारणत्वयुक्तेस्तुल्यत्वात् ।

किञ्च गुणका आश्रय द्रव्य है यहाँ आश्रय शब्द का अर्थ क्या है समवाय आश्रय शब्द का अर्थ नहीं है, कारण कि गुण समवाय के गुणत्व में होने से गुणत्व भी द्रव्य हो जायगा ।

समर्थन—गुण [समवाय सम्बन्ध से जहाँ] रहता हो वह द्रव्य है ।

खण्डन—"जहाँ" शब्द के अर्थ का अद्यावधि निश्चय न होने से अधिकरण से ही अधिकरण का लक्षण करना युक्त नहीं ।

समर्थन—" इह " इत्याकारक जो ज्ञान उस ज्ञान का विषय अधिकरण है ।

खण्डन—" इह शंखे पीतिमा " ऐसा ज्ञान होने से पीतिमा का आश्रय शंख हो जायगा । उक्त प्रतीति भ्रम है और लक्षणघटक यथार्थ प्रतीति है, अतः शंख में पीतिम के अधिकरणत्व की आपत्ति नहीं—यह नहीं कह सकते, कारण कि अधिकरणरूप अर्थ के असत्व का यावत् निश्चय न हो तावत् " शंखे पीतिमा " यह ज्ञान भ्रम है—ऐसा निश्चय नहीं हो सकता और अद्य पर्यन्त " इह " इस ज्ञान का विषय निर्णीत नहीं है जिसके असत्व का "शंखे पीतिमा" इस ज्ञान में निश्चय करें ।

समर्थन—असत्व का प्रतीयोगी पीतत्व है, वह पुष्पादि में कहीं सिद्ध ही है ।

खण्डन—पीतत्व के प्रमित होने से ही उसका असत्व नहीं होसकता ।

समर्थन—यद्यपि समान्य से पीतिमा का असत्व नहीं है, तो भी शंखरूप अधिकरण में असत्व है ही ।

खण्डन—यावत् अधिकरण की निरुक्ति न हो तावत् शंखरूप अधिकरण में इत्यादि विशेष का प्रदर्शन नहीं कर सकते ॥ ८३ ॥

समर्थन—समवायी कारण द्रव्य है ।

खण्डन—घटादि समवायी कारण है और रूपादि नहीं है—यह निश्चय कैसे हो, कारण कि घटादि में और रूपादि में संख्या समवायी कारणत्व की युक्ति तुल्य है ।

समर्थन—रूप में संख्या नहीं है, अतः रूप में समवायी कारणत्वरूप लक्षण की अति-व्याप्ति नहीं है ।

खण्डन—घट में संख्या है इसमें क्या प्रमाण है । यदि "एकोघटः" "द्वौघटौ" इस प्रतीति को प्रमाण कहें, तो "एकं रूपं द्वे रूपे" इत्यादि प्रतीति से रूप में संख्या होने से रूप में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

सङ्ख्यैव रूपादौ नास्तीति चेत् घटादौ कथमस्ति प्रत्ययस्योभयत्रापि तुल्यत्वादित्युक्तमनुपञ्जनीयम्। द्रव्य एव सङ्ख्यास्वीकारे तत्सम्बन्धात् गुणेऽपि तद्व्यवहारोपपत्तौ कल्पनालाघवात् गुणे सङ्ख्याद्यस्वीकार इति चेत्, विपरीतमेव कुतो न स्यात् सत्तासामान्याद्यपि गुणादौ किमर्थमङ्गीक्रियते द्रव्यद्वारैव तत्र व्यवहारोपपत्तेः ॥८४॥

ननु सामान्यार्थ एव कः ? तथाहि—अनुवृत्तप्रत्ययकारणं सामान्यमिति न लक्षणं, सामग्र्या सर्वकार्य्योत्पत्तेः, तथा तदेकदेशान्तरैश्च व्यभिचारात्। असाधारणविशेषणादनन्यजातीयप्रयोजकत्वश्च तदिति चेन्न, स्वसामग्र्यामपि प्रसक्तादवस्थ्यात् भेदप्रतिपत्त्यादावपि प्रयोजकत्वाच्च। एतत्प्रतिपत्तिप्रमाणकत्वमिति चेन्न, स्वसामग्र्यामप्यस्याः प्रमाणत्वात्। एतदेकप्रमाणकत्वमिति चेन्न, अर्थक्रियाभेदादेरपि तत्र प्रमाण-

समर्थन—द्रव्यमें संख्या समवाय से उत्पन्न होती है और गुण में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से है, अतः गुण में संख्या व्यवहार होता है फिर रूप में संख्या समवाय मानने में गौरव है क्यों मानें।

खण्डन—विपरीत ही क्यों न मानें, अर्थात् गुण में समवाय से संख्या की उत्पत्ति और परम्परा सम्बन्ध से द्रव्य में व्यवहार क्यों न मानें। किञ्च सत्ता को भी गुण में क्यों मानते हैं, द्रव्य में सत्ता है—इसी से ही परम्परा सम्बन्ध से गुण में सत्ता की प्रतीति का निर्वाह हो जायगा ॥ ८४ ॥

इति द्रव्यगुणलक्षण-खण्डनानुवाद।

अथ सामान्य-खण्डनानुवाद।

सामान्य शब्द का क्या अर्थ है, देखिये—अनुवृत्त जो प्रयत्य अर्थात् अनेक वस्तुओं में एकाकार जो ज्ञान उसका कारण सामान्य है—यह लक्षण युक्त नहीं है, कारण कि सामग्री से सब कार्य होते हैं। अतः सामग्री में तथा सामग्री के एक देश में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—अनुवृत्त प्रत्यय का असाधारण कारण सामान्य है। और अन्य जातीय कार्य्य का अप्रयोजक असाधारण शब्द का अर्थ है।

खण्डन—स्वसामग्री भी अन्य जातीय कार्य्य का अप्रयोजक होती है अतः उसमें अतिव्याप्ति वैसी ही है। किञ्च "अयं न महिषः गोत्वात्" इस प्रकार से भेदानुमिति का भी सामान्य कारण होता है अतः सामान्य अनुवृत्तप्रत्यय का असाधारण कारण है भी नहीं।

समर्थन—अनुवृत्त प्रत्यय है प्रमाण जिसमें, वह सामान्य है।

खण्डन—कार्य्य से कारण की अनुमिति होने से स्वसामग्री में भी अनुवृत्त प्रत्यय प्रमाण है अतः स्वसामग्री में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—अनुवृत्त प्रत्यय ही है एक प्रमाण जिस में वह सामान्य है और सामग्री में अन्य भी प्रमाण है, जैसे सामग्री का एक देश चक्षु, रूपज्ञान से अनुमेय है और आलोक प्रत्यक्ष है।

त्वात् । एतत्प्रतिपत्तिप्रमापकत्वमिति चेन्न तद्विशिष्टस्यापि तत्त्वप्रसङ्गात् । तदवच्छिन्नप्रमांशप्रमापकत्वमिति चेन्न, तदसिद्धचैवासिद्धेः । इयं प्रतीतिर्येन विना नोपपद्यते तत्सामान्यमिति चेन्न, कारकान्तराणामपि तथात्वादिति ॥८५॥

अनुवृत्तं सामान्यमित्यप्यलक्षणम् । किमिदमनुवृत्तत्वं नाम ? अनेकाश्रितत्वमिति चेन्न, अवयविना संयोगादिभिश्च व्यभिचारात् नित्यत्वे सतीति चेन्न, समवायेन व्यभिचारात् । अत एव न बहुवृत्तित्वमित्यपि । असम्बन्धत्वे सतीति चेन्न, अणुभिर्व्यभिचारादिति । नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतं सामान्यमिति चेन्न, विकल्पासहत्वात् । एतल्लक्षणं नित्यमनित्यं वा स्यात् । नाद्यः, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् विशिष्टमविष्टमपि हि नित्यत्वं नित्यमेव ॥८६॥

नापि द्वितीयः, सामान्यस्य समवायस्य च नित्यत्वाभावप्रसङ्गात् । आत्मत्वादौ

खण्डन—अर्थ क्रिया (कार्य्य भेद) आकस्मिक न हो इस लिये कारणता के अवच्छेदकत्वरूप हेतु से सामान्य की सिद्धि होती है, जैसे कार्य्य का समवायी कारणतावच्छेदक होने से द्रव्यत्वजातिसिद्ध होती है, अतः अनुवृत्त प्रत्ययमात्र एक ही को सामान्य में प्रमाण न होने से असम्भव हो जायगा ।

समर्थन—अनुवृत्त प्रत्यय ही प्रमा जिसमें हो, वह सामान्य है ।

खण्डन—सामान्य से विशिष्ट व्यक्ति में भी अनुवृत्त प्रत्यय ही प्रमा है, अतः व्यक्ति में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—विषयरूप से सामान्य से अवच्छिन्न प्रमा जिसमें प्रमाण है, वह सामान्य है ।

खण्डन—यावत् सामान्य की सिद्धि न हो तावत् इस लक्षण की सिद्धि नहीं होगी और इस लक्षण से ही सामान्य की सिद्धि है इस प्रकार से अन्योन्याश्रय हो जायगा ।

समर्थन—अनुवृत्त प्रत्यय जिसके विना न हो, वह सामान्य है ।

खण्डन—आत्ममनःसंयोग आदि अन्य कारण के विना भी अनुवृत्त प्रत्यय नहीं होता है अतः उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी ॥ ८५ ॥

समर्थन—जो अनेक में अनुवृत्त हों, वे सामान्य हैं ।

खण्डन—अनुवृत्तत्व क्या वस्तु है, यदि अनेक में आश्रितत्व कहें, तो संयोग तथा अवयवी में अनेकाश्रितत्व होने से अतिव्याप्ति हो जायगी । और यदि नित्य होकर अनेकाश्रितत्व है, तो समवाय में अतिव्याप्ति हो जायगी । इसीसे बहुवृत्तिकत्व भी अनुवृत्तत्व नहीं है । यदि सम्बन्ध से भिन्न हो ऐसा भी निवेश करें, तो अणु संयोगसम्बन्ध से अनेक दिशा में रहता है अतः अणु में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—नित्य होकर अनेक में जो समवाय सम्बन्ध से रहता हो वह सामान्य है ।

खण्डन—विकल्प के असह होने से यह लक्षण भी युक्त नहीं है, देखिये—यह लक्षण नित्य है या अनित्य, इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि विशिष्टवृत्ति धर्म्म विशेषण में भी रहता है अतः लक्षण में नित्यत्व के रहने से लक्षण के विशेषण में भी नित्यत्व रहेगा । इससे अंशतः आत्माश्रय हो जायगा ॥ ८६ ॥

द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि लक्षण में प्रविष्ट समवाय तथा लक्ष्य सामान्य

व्यक्त्यभावायत्तस्यापि विशिष्टाभावस्यासम्भवात्तस्य च कदाचिदसत्त्वानङ्गीकारे तदनित्यत्वस्यैव वक्तुमशक्यत्वात्। तद्ग्राहिणश्च प्रत्ययस्यैककालिकस्य च मिथ्यात्वेऽविशेषात्। सार्वकालिकस्य च मिथ्यात्वप्रसङ्गेन सर्वथा तदसत्त्वापत्तेः। एकस्य च सत्यत्वेऽविशेषात्। सर्वसत्यतायां कदाचिदपि तदसत्त्वं नास्तीति। एकदा तत्सम्बन्धेनोपलक्षितस्यऽन्यदापि विद्यमानत्वात् तथात्वमिति चेन्न, तादृशोपलक्ष्यासम्भवात्, व्यक्तीनां भेदादनित्यत्वानुपपत्तिरेवेति। एतेन नित्यत्वमन्यत्रापि प्रतिवचनीयमिति ॥८७॥

के चानेन लक्षणेन व्यवच्छिद्यन्ते। विशेषादय इति चेत्, विशेषा एव केऽभिधीयन्ते। तत्र नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्त्तन्त एव ये ते विशेषा इत्यलक्षणम्। आत्मत्वादिना व्यभिचारात् नित्यान्तरेऽसत्त्वाच्च, न तत्सर्व्वत्र नित्ये वर्त्तते विशेषास्तु नैवं, वर्त्तन्तएवेति

भी अनित्य हो जायँगे। यदि कहें, कि लक्षणघटक व्यक्ति के अनित्य होने से लक्षण अनित्य है, तो जहाँ आत्मत्वादि स्थल में आत्मारूप व्यक्ति भी नित्य है वहाँ लक्षण अनित्य कैसे होगा। किञ्च यदि लक्ष्य में कदाचित् भी लक्षण का असत्व न हो, तो लक्षण अनित्य नहीं हो सकता। और यदि लक्षण का कदाचित् असत्व मानें, तो असत्व काल में लक्ष्य में लक्षण का ज्ञान न होना चाहिये। और सर्वदा ज्ञान होता है अतः सर्वदा लक्षण का सत्व है। यदि लक्षण के ग्राही ज्ञान को [उत्तर काल में बाध न रहते भी एक काल में] भ्रम मानें, तो सब काल में जात लक्षण ज्ञान के मिथ्या होने से सर्वदा लक्षण का असत्व हो जायगा। और एक लक्षणज्ञान को सत्य मानें, तो विशेष न होने से सब लक्षणज्ञान के सत्य होने से लक्षण का कदापि असत्व नहीं होगा। यदि लक्षणत्व के असत्व काल में भी लक्ष्य सामान्य का उपलक्षण करता है अतः असत्व काल में भी लक्षण से उपलक्षित लक्ष्यक का ज्ञान भ्रम नहीं है, तो सामान्यरूप व्यक्ति भिन्न भिन्न हैं और सब में वृत्ति कोई एक उपलक्ष्यता का अवच्छेदक धर्म्म है नहीं, अतः लक्षण उपलक्षण नहीं हो सकता है— इससे लक्षण में अनित्यत्व अनुपपन्न है। इसी प्रकार से अन्यत्र भी नित्यत्व का खण्डन जानना ॥ ८७ ॥

॥ इति सामान्यलक्षण-खण्डनानुवाद ॥

❀ अथ विशेषलक्षण-खण्डनानुवाद ❀

इस सामान्य के लक्षण में प्रविष्ट "अनेक" इस विशेषण का व्यवच्छेद्य क्या है। यदि कहें विशेष, तो विशेष ही क्या वस्तु है। लक्षण न होने से अनिर्वचनीय है।

समर्थन—नित्य में ही द्रव्य में ही जो रहते ही हों, वे विशेष हैं।

खण्डन—आत्मत्व भी नित्य में ही द्रव्य में ही रहता है। अतः आत्मत्व में अतिव्याप्ति होने से यह लक्षण असङ्गत है।

समर्थन—आत्मत्व सब नित्य द्रव्यों में नहीं रहता है और सब नित्य द्रव्यों में जो रहे वह विशेष है, अतः आत्मत्व में अतिव्याप्ति नहीं हुई।

खण्डन—एक एक विशेष भी सब नित्यों में नहीं रहते हैं। अतः उनमें अव्याप्ति हो जायगी।

नियमादितिचेन्न, प्रतिविशेषमव्याप्त्याऽलक्षणत्वात् । यज्जातीय एवमिति लक्षणार्थ इति चेन्न, जातेरनङ्गीकारात् । जातीयेत्यस्यापदत्वात् । उपाधिरेव तथा विवक्षित इति चेन्न, तस्येतरव्यावृत्तस्यावगतौ व्यर्थमिदं तदुपजीविलक्षणम् अत एव विजातीयव्यावृत्तिप्रतीतेः इतरव्यावृत्तस्य वाऽनधिगतौ लक्षणस्य दुरवधारणत्वापत्तेः इतरव्यावृत्ततया तज्जातीयत्वत्वस्याप्रतीतेः ॥८८॥

भवतु स एवोपाधिर्लक्षणमिति चेन्न, तस्यानिरुक्तेः । यतो नित्यद्रव्यव्यक्तिषु विश्वव्यावृत्तधीर्योगिनां स विशेष इति चेन्न, स्वरूपधर्म्मव्यक्तिभेदेष्वपि प्रसङ्गात् । अन्यथा कार्य्यद्रव्यगुणादिव्यक्तिषु सा तेषां कुतः स्यात्, तास्विव वैधर्म्यान्तरस्य नित्येऽष्वपि सम्भवात् विशेषवत्, विशेषासम्भवेन लक्ष्यासिद्धिरिति ।

अपि च विशेषादिभ्यो विशेषलक्षणादेर्भेदात्कथं तत्र तत्रैव तैर्विशेषादिव्यवहारः

समर्थन—जिससे समान जाति वाला सब नित्यों में रहता हो, वह विशेष है ।

खण्डन—विशेष में जाति के न होने से जाति घटित उक्त लक्षण युक्त नहीं है । यदि जाति से उपाधि का ग्रहण करें, तो युक्त नहीं, कारण कि यदि विशेष में वृत्ति इतरव्यावृत्त उपाधि प्रथम से ज्ञात है, तो उसीसे इतरव्यावृत्तत्वरूप से विशेष ज्ञान के सिद्ध होने से उस उपाधि का उपजीवी यह लक्षण व्यर्थ है और यदि इतरव्यावृत्तत्वरूप से उपाधि का ज्ञान नहीं है, तो इस लक्षण का ज्ञान अशक्य है, कारण कि इतरव्यावृत्तत्वरूप तज्जातीयत्व की प्रतीति नहीं है ॥ ८८ ॥

वह उपाधि ही लक्षण हो—यह भी नहीं कह सकते हैं, कारण कि अद्यावधि उस उपाधि की निरुक्ति नहीं हुई है ।

समर्थन—नित्य द्रव्य व्यक्तियों में योगियों की इतर सब से व्यावृत्ति बुद्धि जिससे हो वह विशेष है ।

खण्डन—अतीन्द्रिय कार्य्य द्रव्यों में तथा गुणों में योगियों की व्यावृत्तत्व बुद्धि जिस स्वरूपभेद या धर्म्मभेद से होती है वे विशेष नहीं है । अतः उनमें विशेषलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । अन्यथा (यदि स्वरूप भेदादि को व्यावृत्तत्व बुद्धि का हेतु न मानें तो) अतीन्द्रिय कार्य्य द्रव्यादि में उन योगियों की व्यावृत्तत्व बुद्धि कैसे होगी । यदि कहें, कि विशेष के लक्षण में "नित्य द्रव्य में व्यावृत्तत्व बुद्धि जिससे हो" ऐसा निवेश है अतः अतीन्द्रिय कार्य्य द्रव्य में व्यावृत्ति के हेतु स्वरूपभेदादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी । तो जैसे अतीन्द्रिय कार्य्य द्रव्य में स्वरूप भेदादि से व्यावृत्ति बुद्धि होती है, वैसे ही नित्य द्रव्यों में भी व्यावृत्तत्व बुद्धि हो जायगी अतः नित्य द्रव्य में विशेष का स्वीकार व्यर्थ है । किञ्च विशेष में विना विशेष के स्वरूपभेद से ही जैसे व्यावृत्तत्व बुद्धि होती है वैसे ही नित्य द्रव्यों में भी व्यावृत्तत्व बुद्धि हो जायगी, अतः विशेष का स्वीकार व्यर्थ है ।

किञ्च यदि विशेषादि लक्ष्यों से विशेषादि के लक्षणों का भेद है तो उन २ विशेषादि लक्ष्यों में ही उन २ लक्षणों से व्यवहार क्यों होता है अन्यत्र व्यवहार क्यों नहीं होता है । यदि कहें, कि लक्ष्य में लक्षण का सम्बन्ध, व्यवहार का नियामक है, तो सम्बन्ध का भी

क्रियतां नान्यत्र । सम्बन्धो नियामक इति चेन्न, सम्बन्धस्यापि सम्बन्धान्तरेण नियामकत्वेऽनवस्थापातात् । अन्यथा त्वनियमात् ॥ ८६ ॥

तदनिरुक्तेश्च तथाहि कः सम्बन्धशब्दार्थः ? समवायादय इति चेत्, सत्यं किन्तु केन निमित्तेनेति हि प्रश्नवाक्यतात्पर्य्यं प्रतिस्वं व्यावृत्तेन संयोगत्वादिनाऽन्येन वा । आद्ये, अनुगतव्यवहारानुपपत्तिप्रसङ्गः, अस्ति चासाविन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नादिमत्यत्तं नित्यप्राप्तिः समवाय इत्यादि । न द्वितीयः, तस्यैकस्यासम्भवात् ॥९०॥

नियामकत्वं तदिति चेन्न, स्वभावस्यापि भवता नियामकत्वाङ्गीकारात् । तथाविधः सोऽपि सम्बन्ध एवेति चेन्न, त्वया सर्वस्वभावनियन्तृताया अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वेन नियामकनिरुक्तिलभ्यसत्त्वादधिकांशासामर्थ्यापत्तेः । नियम्यस्य च स्वस्यानतिप्रसङ्गेन नियामकत्ववाचोयुक्त्यनुपपत्तेः, अतिप्रसक्तत्वे च तस्यैव नियामकत्वादति-

---

नियामक यदि अन्य सम्बन्ध मानें, तो अनवस्था हो जायगी, और यदि अन्य सम्बन्ध को सम्बन्ध का नियमक न मानें तो सम्बन्ध का नियम नहीं होगा ॥ ८९ ॥

॥ इति विशेषलक्षण-खण्डनानुवाद ॥

❀ अथ सम्बन्ध लक्षण खण्डनानुवाद ❀

किञ्च सम्बन्ध की निरुक्ति भी नहीं हो सकती है। कहिये—सम्बन्धशब्द का क्या अर्थ है, निरुक्ति न होने से अनिर्वचनीय है, यदि कहें, कि समवायआदि सम्बन्ध है, तो सत्य है परन्तु किसरूप से—यह प्रश्न वाक्य का तात्पर्य्य है। क्या प्रतिसम्बन्ध में व्यावृत्त संयोगत्वादिरूप से, अथवा सम्बन्धमात्र में विद्यमान किसी अन्यरूप से। इनमें प्रथम पक्ष में सम्बन्धमात्र में अनुगत सम्बन्ध व्यवहार की उपपत्ति नहीं होगी और "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम् प्रत्यक्षम्" इस सूत्र में सम्बन्धवाचक सन्निकर्षशब्द से संयोग समवाय दोनों के ग्रहण से तथा "नित्या प्राप्तिः समवायः" यहाँ सम्बन्धार्थक प्राप्ति पदसे सम्बन्धमात्र के अभिधान से अनुगत व्यवहार देखा जाता है।

द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि सम्बन्ध मात्र में अनुगत एक रूप का सम्भव नहीं है ॥ ९० ॥

समर्थन—नियम के जनक अर्थात् अतिप्रसङ्ग की निवृत्ति का जनक सम्बन्ध है।

खण्डन—अभाव समवाय आदि की विशिष्ट-बुद्धि में स्वरूप को भी नियामक आप मानते ही हैं, और वह सम्बन्ध है नहीं, अतः वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—नियम का जनक स्वरूप भी सम्बन्ध ही है, अतः वहां लक्षण का जाना भूषण ही है दूषण नहीं।

खण्डन—आप स्वरूपमात्र को सम्बन्ध अवश्य मानेंगे, अतः नियामक पदार्थ के नियतपूर्वसत्वरूप निरुक्ति को घटक सत्व ही सम्बन्ध का लक्षण रहे, सत्व से अधिक अंश व्यर्थ है। किञ्च स्वरूप अनतिप्रसक्त नियम्य का नियामक हो नहीं सकता, कारण कि जो स्वयं अनतिप्रसक्त है उसका अतिप्रसक्ति निवारणरूप निमयन हो नहीं सकता। और

प्रसक्तेन नियमायोगात् भूत्वा नियमकरणे च प्रागनियतत्त्वापत्तेः, एवमन्येनापि जन्य-नियमे, अन्यदपि हि यदि पूर्वं घटादिरूपेणानियतमेव घटादि करोति, तदा पटाद्यपि तथा कुर्य्यात् ॥६१॥

न घटादित्वे नियन्तृत्वमन्यस्य किन्तु घटादेः कालविशेषयोग इति चेन्न, यदि नासौ घटादिकालविशेषयोगिता नियतमिष्यते तदा पटादिकालविशेषयोगमपि तथा कुर्य्यात् । तस्मात्—यदि कुर्यादसत्कालानियतं नियतं परः ।

तत्स्यादतिप्रसक्तत्वमन्यथा चानियन्तृतेति ॥४॥

कार्य्यकारणयोः कालभेदान्नियम्यनियामकत्वोपगमे उत्तरोत्तरेण पूर्वपूर्वनियमः किन्नस्यादित्यविनिगम्यत्वापत्तिः ।

प्राचोत्तरस्य नियमे प्राच एव न तेन किम् ।
अनाद्यनन्तयो नैवं विनिगन्ता प्रवाहयोरिति ॥५॥

यदि नियम्य अतिप्रसक्त है, तो वही नियामक भी है, अतः अतिप्रसक्तस्वरूप, नियमन कर नहीं सकता, कारण कि अतिप्रसङ्ग का निवारण ही नियमन है ।

किञ्च जो नियामक है वह उत्पन्न हो कर नियमन करता है, या अनुत्पन्न ही नियमन करता है। यदि कहैं कि उत्पन्न हो कर नियामक है, तो आपही नियम्य भी है और नियामक भी है अतः उत्पत्ति से प्राक् आप अनियत हो जायगा और यदि उत्पत्ति से प्राक् अनियत मानें, तो उत्पत्ति से उत्तर भी अनियत हो जायगा । इसी प्रकार से अन्य कारणादि से कार्य्य के नियम में दोष जानना चाहिये । देखिये—अन्यद्दण्डादि यदि घटादिरूप कार्य्य से पूर्वकाल में असत् घटादि का नियमन करता है, तो पटादि का भी नियमन क्यों न करे ॥ ६१ ॥

समर्थन—दण्डादि कारण, घटादि कार्य्य का नियामक नहीं है किन्तु काल के सम्बन्ध का नियामक है ।

खण्डन—दण्डादि, घटादि, सम्बन्धी काल के सम्बन्ध का नियमन यदि करता हो, तो घट का ही नियमन लब्ध हुआ, अतः पूर्व उक्त दोष का प्रसङ्ग हो जायगा । और यदि घटका अनन्तर्भाव कर केवल काल के सम्बन्धमात्र का नियम करता हो, तो पट के काल के सम्बन्ध का भी नियमन का प्रसङ्ग हो जायगा । यदि दण्डादि असत्-काल से अनियत घटादि को नियत करता हो, तो अतिप्रसङ्ग हो जायगा । अर्थात् दण्ड पट का भी नियामक हो जायगा । यदि सत् घट का ही नियमन करता है, तो घट के सत् होने से दण्ड नियामक ही नहीं होगा—

किञ्च, कारण यदि भिन्न काल में होने पर भी कार्य्यका नियामक है, तो जैसे पूर्व कारण से उत्तर कार्य्य का नियमन होता है ऐसे ही उत्तर कार्य्य से पूर्व कारण का नियम क्यों न हो ।

समर्थन—नियम में पूर्व अपर भाव नियामक है । पूर्व नियामक होता है और उत्तर नियम्य होता है ।

खण्डन—कार्य्य और कारण का प्रवाह अनादि है अतः किसी . कारण से पूर्व कार्य्य के होने से कारण पूर्व ही है कार्य्य उत्तर ही है ऐसा नियम नहीं पूर्व से उत्तर का जैसे नियमन होता है वैसे ही उत्तर से पूर्व का नियमन क्यों न हो, कार्य्य कारण के अनादि

भूला च करणे व्याघातात् ॥६२॥

सम्बन्धिनश्चाधारत्वात् सम्बन्धस्याधेयत्वात् तस्यैव तदाधारत्वानुपपत्तेः। नहि सुशिक्षितोऽपि नटवटुः स्वस्कन्धमारुह्य नृत्यति। नाप्यन्यस्यासौ सम्बन्धस्त्वयैव तथाऽनभ्युपगमात्। स्वभावादेवायमीदृश इति हि स्वभाववादः तत्र परस्य नियमनाभावात्, कथं परः सम्बन्धी सङ्गच्छते।

यच्च किञ्चित्सम्बन्धत्वमभिधीयते तत्समवायेऽपि स्वीकार्य्यम्, नच समवायाधारत्वं द्रव्यादिषट्कस्य सम्भवति। नचोपाधिभावात् स्यात्, संयोगसमवायासम्भवात्। स्वभावसम्बन्धस्य च निरस्तत्वात्। नचासावभावोऽपि प्रतिषेध्यप्रतियोगिभावभेदाभिधानप्रसङ्गात्। सप्तपदार्थीपरिसमाप्तश्च जगत् परस्परविरोधेन तल्लक्षणव्यवस्थापनादिति। यदपि नियम्यात् भिन्नं नियामकं तदपि कथं तदेव नियमयति नान्यदिति। तदाधारत्वादितिचेत्, कः पुनराधारार्थः ॥ ६३ ॥

अनन्त प्रवाह होने से कारण पूर्व ही है, कार्य्य उत्तर ही है, इसमें कोई विनिगमक नहीं है। यदि कहें, कि असत् कारण नियामक है, तो व्याघात हो जायगा, कारण कि नियम से पूर्व सत् को नियामक कहते हैं ॥ ६२ ॥

किञ्च सम्बन्धी आधार होता है और सम्बन्ध आधेय होता है। और यदि स्वरूप को सम्बन्ध मानें, तो स्वको स्वका आधार मानना पड़ेगा वह अयुक्त है, कारण कि सुशिक्षित भी नट का बालक स्वस्कन्ध पर आरूढ़ होकर नृत्य नहीं कर सकता। और अन्य का स्वरूप अन्य का सम्बन्ध नहीं है, कारण कि आप ऐसा नहीं मानते हैं। स्वरूप से ही अभावादि नियमित हैं—यह आपका स्वभाववाद है उस वाद में पर के नियमन न होने से अन्य सम्बन्धी कैसे होगा।

किञ्च आप सम्बन्ध का लक्षण जो कुछ भी करेंगे उस लक्षण का स्वत्व समवाय में भी अवश्य मानेंगे। और द्रव्यादि छवों में कोई भी समवाय मे नहीं रहता है। अर्थात् आप सम्बन्ध के लक्षण को द्रव्यादि षड्पदार्थ में अन्तर्भूत ही मानेंगे और उनमें से कोई भी समवाय में रहता नहीं है।

यदि कहें, कि प्रमेयत्व के तुल्य उपाधि ही सम्बन्ध का लक्षण है और वह समवाय में रहता है, तो उस लक्षण का भी संयोग अथवा समवायरूप सम्बन्ध समवाय में अवश्य मानना पड़ेगा। और वह समवाय में है नहीं और स्वरूप के सम्बन्धत्व का निरास कर ही चुके हैं। और सम्बन्ध का लक्षण अभावरूप भी नहीं है, कारण कि यदि लक्षण को अभावरूप मानें, तो प्रतिषेध्य भावरूप प्रतियोगी का कथन करना पड़ेगा। और सप्त पदार्थ में ही पदार्थ मात्र का अन्तर्भाव है। तथा ये सप्त पदार्थ परस्पर विलक्षण हैं। जो नियम्य से भिन्न नियामक सम्बन्ध है वह भी कैसे उसी का नियमन करता है, अन्य का नियमन क्यों नहीं करता है। यदि कहें, कि उसका आधार होने से उसी का नियमन करता है, तो आधार क्या वस्तु है। अर्थात् लक्षण न होने से आधार अनिर्वचनीय है फिर उससे अन्य का नियम कैसे होगा ॥ ६३ ॥

॥ इति सम्बन्ध-खण्डनानुवाद ॥

यत्र स्थीयते तदिति चेन्न, यत्रेति सप्तम्यर्थस्यापि विवेचनीयत्वात्। इहेति प्रत्ययविषय इति चेन्न, तत्रेति प्रत्ययविषयस्यानाधारत्वप्रसङ्गात्। किञ्च प्रत्ययविशेषावगमो विषयविशेषावगमात्। विषयविशेषावगमश्च प्रत्ययविशेषावगमादिति व्यक्तमन्योन्याश्रयः। समवायीति चेत्, शशे शृङ्गाभावः कुण्डे बदरमित्याद्यव्याप्तेः। गौणस्तत्र प्रयोग इति चेत्, नैतावन्मात्रं प्रत्ययश्च भ्रान्त इत्यपि वक्तव्यमवशिष्यते भवतः। ओमितिचेत्, अथ विपरीतमेव कुतो न स्यात्। शशे विषाणं नास्तीति च यदि विशेषणाभावाधिकरणत्वप्रतीतिर्भ्रान्ता शृङ्गस्य तर्हि शशोऽधिकरणं स्यात्। भावाभावयोरन्यतरनिषेधस्यान्यतरविधिपर्यवसायित्वेनाभ्युपगमात् ॥६४॥

पतनप्रतिबन्धकमधिकरणमिति चेन्न, अवयविनं गुणादिकञ्च प्रति तदभावात्। अव्यवहिताधःस्थितमिति चेन्न, गुणाद्यपेक्षया गुणवदादेरधःस्थितत्वे प्रमाणाभावात्। अविशेषेण वाऽवयविगुणादीनामवयवाधारत्वप्रसङ्गात्। ऊर्ध्वस्थितस्य संयोगिनः संयोगं प्रति च तदभावात्। सूत्रालम्बितद्रव्यादौ बहुलं व्यभिचारात्।

॥ अथ आधार लक्षण खण्डनानुवाद ॥

निर्वचन—वस्तु जिसमें स्थित होती हो, वह आधार है।

खण्डन—"में" इस सप्तमी का क्या अर्थ है उसका विचार करना चाहिये।

समर्थन—"इह" इत्याकारक ज्ञान का विषय सप्तम्यर्थ है।

खण्डन—"तत्र" इस ज्ञान का विषय सप्तम्यर्थ (आधार) नहीं कहावेगा।

किञ्च ज्ञानविशेष का ज्ञान अर्थात् यह ज्ञान भ्रम है, यह प्रमा है—ऐसा निश्चय विषयविशेष के निश्चय से—होता है। और आप के मत में विषयविशेष (अधार) का निश्चय होगा ज्ञानविशेष (प्रमा) से, अतः अन्योन्याश्रय हो जायगा।

समर्थन—समवायी (समवाय युक्त) आधार है।

खण्डन—"शशे शृङ्गाभावः" "कुण्डे बदराभावः" इत्यादि स्थल में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी यदि कहें, कि यह प्रयोग गौण है, तो इतना ही नहीं कहना चाहिये किन्तु यह भी कहना चाहिये कि—यह ज्ञान भी भ्रम है। प्रतीति को भ्रम मानलें, तो विपरीत ही क्यों न मानें अर्थात् "घटे घटत्वम्" इस प्रतीति को भ्रम तथा शशे शृङ्गाभावः—इस को प्रमा क्यों न मानें, किञ्च यदि "शशे शृङ्गाभावः" इस प्रतीति को भ्रम मानें, तो शशे शृङ्गम्" यह प्रमा हो जायगी। कारण कि भाव अभाव दोनों में एक का निषेध अन्य के विधि में पर्य्यवसित होता है॥ ६४॥

समर्थन—पतन का प्रतिबन्धक अधिकरण है॥

खण्डन—अवयवी के पतन का प्रतिबंधक अवयव तथा गुण के पतन का प्रतिबन्धक गुणी नहीं होता है अतः उनके वे अधिकरण नहीं होंगे॥

समर्थन—अव्यवहित (व्यवधान से रहित) जो अधः स्थित हों वह आधार है।

खण्डन—गुण तथा अवयवी की अपेक्षा से गुणी तथा अवयव अधःस्थित हैं—इस में कुछ प्रमाण नहीं। किञ्च विशेष न होने से अवयवी के गुण का अवयव आधार हो जायगा।

यद्येकोऽधिकरणार्थो नोपपद्यते तर्ह्यक्षशब्दार्थवद्भिन्न एवास्त्विति चेत्, आश्रयासिद्ध्यादेर्भेदप्रसङ्गात्। सोऽपि स्वीकार्य्य इति चेन्न, असिद्ध्यादिविधापरिगणनस्य व्यवहारतोऽन्यथाभावप्रसङ्गात्। क्वचिदाश्रयस्य समवायित्वात् क्वचिच्चाभावं समवायञ्च हेतुं प्रति तदसम्भवात्। एकस्य च तेषामुपसङ्ग्राहकस्य वक्तुमशक्यत्वात् ॥९५॥

बहव एवाश्रयशब्दार्थाः आश्रयासिद्ध्यादयोऽपि पृथक्पृथगेव बहवः असिद्धभेदपरिगणनग्रन्थोऽप्यन्यथाकारं बोद्धव्यो बाधदर्शनादिति चेन्न, तथापीह कुण्डे बदरमित्यत्र क आधारार्थ इति वक्तव्यम्, न तावत्पतनप्रतिबन्धकत्वं सहैव कुण्डेन पतति बदरे तदसम्भवात्। नापि संयोगित्वं वैपरीत्यस्यापि प्रसङ्गात्। संयोगित्वे सत्यधःस्थितत्वं तत्राधिकरणार्थ इति चेन्न, तस्मिन् सत्यप्यन्यत्र चरणतलमिलितधूलीपटलादावधिकरणप्रतीत्यनुपपत्त्या प्रत्युत चरणतले धूलीत्येव प्रतीत्याऽऽधारत्वप्रतीतौ व्यभिचारित्वेन प्रकृतेऽपि तथास्वीकाराऽनुपपत्तेः। न सार्वत्रिकोऽयमाधारार्थः किन्तु काचित्को

किञ्च ऊर्ध्वस्थित घटादि, भूतलघट संयोग का आधार न कहावेगा,। किञ्च सूत्रआदि में अवलम्बित गेन्दुक आदि का सूत्रादि आधार नहीं कहावेंगे,

समर्थन—यदि अधिकरण शब्द का एक अर्थ उपपन्न नहीं होता है, तो अक्षशब्द के तुल्य अनेकार्थ ही अधिकरण शब्द रहे, हानि क्या है।

खण्डन—आश्रयासिद्धिआदि का भेद हो जायगा। और यदि आश्रयासिद्धि के भेद को मानलें, तो व्यवहार का हेतु जो असिद्धि, वह आश्रयासिद्धि आदि भेद से त्रिप्रकार है—यह गणना असङ्गत हो जायगी। कारण कि "इदं द्रव्यं कर्म्मणः" यहाँ आश्रय समवायीरूप है। "शब्दो नित्यः अकृतकत्वात्" तथा पृथवी इतरभिन्ना गुणसमवात्, यहाँ आश्रय को ही अन्यरूप होने से आश्रय एक रूप न रहा। और सब आधारों का उपसंग्राहक एक रूप नहीं रहा ॥९५॥

समर्थन—आश्रय शब्द के बहुत अर्थ हैं। और आश्रयासिद्धि भी पृथक् २ बहुत ही हैं। तथा असिद्धिभेद की गणना भी आधार की निरुक्ति में उक्तबाध होने से स्वरूपासिद्धि व्याप्यत्वासिद्धि से अन्य असिद्धि आश्रयासिद्धि है—ऐसाही जानना चाहिये।

खण्डन—तब भी "इह कुण्डे बदरम्" यहाँ आधार शब्द का क्या अर्थ है यह वक्तव्य है। किञ्च कुण्डकेसाथही बदर जहाँ गिरते हैं, वहाँ बदर का कुण्ड अधिकरण न कहावेगा। संयोगित्व भी आधार नहीं है, कारण कि कुण्ड का संयोग बदर में भी है अतः बदर भी कुण्ड का आधार हो जायगा।

समर्थन—संयोगी होकर जो अधःस्थित हो वह आधार है।

खण्डन—ऐसा लक्षण करने से "कुण्डे बदरम्" यहाँ निर्वाह होने पर भी चरणतल में मिलित धूलिपटल में अव्याप्ति हो जायगी "धूलिपटले चरणतलम्" ऐसा व्यवहार नहीं होता किन्तु इससे विपरीत" चरणतलेधूलिः "ऐसाही व्यवहार होता है अतः यह लक्षण युक्त नहीं है।

समर्थन—यह आधार का लक्षण सार्वत्रिक नहीं है, किंतु कादाचित्क है। और नानारूप आधार है।

नानारूपाधारत्ववादिपक्ष इति चेन्न, भवत्वन्यत्रान्यस्याधारार्थत्वं तस्य त्वाधारार्थत्वं नोपपद्यतेऽनाधारप्रतीतिविषयेऽपि सत्वादित्युक्तेः। आधेयापेक्षया महत्परिमाणत्वे सतीति चेन्न, करतलस्थिततूलराश्यादौ तदसम्भवात् अन्यस्य च वक्तुं तत्राधारार्थस्याशक्यत्वात् ॥९६॥

अधःशब्दार्थस्य च वक्तुमशक्यत्वात्। पतनाभिमुखदिग्स्थितत्वमिति चेन्न। पतनार्थस्य गमनाधिकस्याधः शब्दार्थव्यतिरेकेण निर्वक्तुमशक्यत्वात्। अत एवाधःशब्दार्थस्य दुर्वचत्वमधिगम्याद्वैतवादिना गुरुणा शिष्याय खण्डनमुपाचक्षाणेन भगवता पराशरेणाभिहितम्—"अधः शब्दनिगद्यं किं किञ्चोर्ध्वमभिधीयते"।

पृथिव्यभिमुखी दिगधःशब्दार्थ इति चेन्न, ऊर्ध्वशब्दार्थस्यापि पृथिव्यभिमुखत्वसम्भवात्। यदपेक्षया पृथिव्यभिमुखी या दिक् तदपेक्षया साऽध इति चेन्न, यदपेक्षयेति किं यमवधीकृत्येति विवक्षितम्, उत यदीयाभिमुख्यव्यवस्थितेति। आद्ये, पृथिव्यूर्द्ध्वस्थितं पदार्थमवधीकृत्य योर्द्ध्व दिगिति भवद्भिर्व्यवह्रियते सापि पृथिव्यभिमुखी भवतीति साप्यधः स्यात्। अत एव न द्वितीयोऽपि ॥९७॥

खण्डन—अन्यत्र अन्य आधार का अर्थ हो परन्तु वह युक्त नहीं है, कारण कि अनाधार में गत होने से—यह हम कहते हैं।

समर्थन—आधेय की अपेक्षा से जो महत्परिणाम होकर अधःस्थित संयोगी हो वह अधार है, चरणतल मिलितधूल में महत्परिणाम नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डन—करतल में स्थित तूल राशि में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि तूल राशि की अपेक्षा से करतल में महत्परिमाण नहीं है, और अन्य प्रकार का आधारत्व तूल राशि का करतल में हो नहीं सकता ॥ ९६ ॥

समर्थन—पतन के अभिमुख दिशा में जो अवस्थित हो वह आधार है।

खण्डन—यावत् अधःशब्द के अर्थ का निर्वचन न हो, तावत् गमन से अधिक पतनार्थ हो नहीं सकता है। और अधःशब्द के अर्थ का निर्वचन हो नहीं सकता है। अधःशब्दार्थ के दुर्वचत्व को जान कर ही अद्वैत वादी गुरु ऋभु ने शिष्य निदाघ को जो खण्डन का उपदेश किया था उसके अनुवादकर्ता पराशर मुनि ने कहा है कि अधःशब्द का क्या अर्थ है और ऊर्द्ध्वशब्द का क्या अर्थ है, कुछ नहीं, अर्थात् अधः ऊर्ध्व शब्दार्थ अनिर्वनीय हैं।

समर्थन—पृथिवी के अभिमुख दिशा, अधःशब्द का अर्थ है।

खण्डन—उर्द्ध्व शब्द का अर्थ भी पृथिवी के अभिमुख दिशा ही है अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—जिस मार्तण्डमण्डलादि की आपेक्षा से पृथिवी के अभिमुख जो दिशा हो उसकी आपेक्षा से वह दिशा अधःशब्द का अर्थ है।

खण्डन—यहां अपेक्षाशब्द का क्या अर्थ है, अवधि अर्थ है या अभिमुख अर्थ है, प्रथम पक्ष में पृथिवी के अभिमुख में स्थित है तथा उसमें मार्तण्डमण्डल अवधि भी है। द्वितीय पक्ष में भी मार्तण्डमण्डल से ऊर्द्ध्व देश अधः कहा जायगा, कारण कि उसमें पृथ्वी का जैसे आभिमुख्य है वैसे ही मार्तण्डमण्डल का भी आभिमुख्य है ॥ ९७ ॥

यस्यां दिशि क्रियया पृथ्वी सन्निहिता भवति सा दिगध इति चेन्न, कूपादौ मध्यगतस्य तिर्य्यग्दोलायमानस्य क्रिया पतनं स्यात् तद्गत्याक्रान्ता च तिर्य्यग्दिगधः स्यात्। पृथिवीमवधीकृत्य यं चान्यं पदार्थं अवधीकृत्य यो मध्य इति देशो व्यवह्रियते स पृथिव्यतिरिक्ततदवध्यपेक्षया ऽध इति चेन्न, पृथिव्यामेव तद्व्यवहारापत्तेः। पृथिवीं, पदार्थान्तरञ्चापेक्ष्य मध्यत्वस्य विवक्षितस्याधःशब्दार्थप्रदर्शनमन्तरेण निर्वक्तुमशक्यत्वात्। पृथिव्यपेक्षयोर्ध्वं परापेक्षया चाधः तत्र तयोर्मध्यमित्येवं निरुच्यते मध्यत्वम् अन्यथा तिर्य्यगपि प्रसङ्गात् तद्यथा–पृथिव्यपेक्षया पूर्वमपरापेक्षया च पश्चिमं तयोर्मध्यमुच्यते प्रतीपदिगवस्थितयोः परस्परापेक्षया प्रतीपदिक्सङ्करे मध्यव्यवहारात् ॥६८॥

अथान्यः कश्चिदाधारार्थोऽस्तु प्रतीतिसिद्धत्वात्प्रतीतेश्चैवमनन्योपपाद्यत्वात्। मैवम्। तदनित्यं वा स्यात् नित्यं वा। नाद्यः, तदभावे आधारप्रतीत्यभावप्रसङ्गात् गोत्वादिनित्यत्वन्यायसाम्येऽपि अस्यानित्यत्वे तेषामप्यनित्यत्वापाताच्च। नापि द्विती-

---

समर्थन—जिस दिशा में क्रिया से पृथिवी सन्निहित हो वह दिशा अधःशब्दार्थ है।

खण्डन—कूपादि के मध्य गत टेढ़ा दोलायमान जो घण्टादि उसकी क्रिया, पतन हो जायगी। और उसकी क्रिया से सन्निहित तिर्य्यग् अधः हो जायगा।

समर्थन—पृथिवी को अवधि कर तथा अन्य पदार्थ को अवधि कर जो मध्यदेश कहा जाता है वह देश पृथिवी से इतर अवधि की अपेक्षा से अधःशब्द का अर्थ है।

खण्डन—पृथिवी में मध्य व्यवहार नहीं होगा, कारण कि पृथिवी और इतर अवधि की अपेक्षा से पृथिवी मध्य देश नहीं है, अतः पृथिवी उस अवधि की अपेक्षा से अधः नहीं कहावेगी। किञ्च पृथिवी और पदार्थान्तर की अपेक्षा से विवक्षित मध्यत्व का लक्षण अधः-शब्द के निर्वचन के बिना हो नहीं सकता। पृथिवी की अपेक्षा से ऊर्ध्व और अन्य अवधि से अधः दोनों की अपेक्षा से मध्य है यही वक्तुं इष्ट मध्यत्व का लक्षण है। अतः मध्य से अधः का और अधः से मध्य का लक्षण होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा। यदि अधःशब्द से घटित विवक्षित मध्य काल लक्षण न करें, तो तिर्य्यग् देश भी मध्य कहा जावेगा। देखिये-ऊर्ध्व पृथिवी देश की अपेक्षा से पूर्व और इतर अवधि की अपेक्षा से पश्चिम उन दोनों की अपेक्षा से मध्य है, कारण कि विरुद्ध दो दिशाओं में स्थित दो पदार्थों के परस्पर की अपेक्षा से विरुद्ध दिशायों का सङ्कर (पूर्व पश्चिमरूप) ही मध्य है। और इसी को यदि विवक्षित मध्य कहें, तो इतर अवधि की अपेक्षा से तिर्य्यग् देशरूप जो मध्य देश है वह भी अधः कहा जायगा ॥ ६८ ॥

समर्थन—"इह" इत्याकारक प्रतीति, आधार के कल्पन के बिना अनुपपन्न है अतः उक्त प्रतीति की अन्यथा अनुपपत्ति से ही आधार का कल्पन करेंगे। वह आधार किंरूप है इस निर्णय से कुछ प्रयोजन नहीं।

खण्डन—उस आधारत्व को अनित्य मानेगें अथवा नित्य इनमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है, कारण कि यदि अनित्य मानें, तो कदाचित् उसके अभाव को अवश्य मानना पड़ेगा। अतः आधारत्व के अभाव काल में आधार की प्रतीति नहीं होगी। और आधार की प्रतीति

यः, तादृशमप्यनुगतमननुगतं वा स्यात्। द्वितीयेऽनुगताधारप्रतीत्यसम्भवः सङ्केतग्रहाशक्यत्वञ्च प्रथमे सामान्यवदाश्रयापरित्यागि वा स्यात् तत्त्यागि वा। आद्ये यदेव तदाधारतया प्रतीतं तत्तदाधेयं न स्यात् । द्वितीयेऽपि च यदि नियामकमन्तरेण तत्स्वाश्रयं भजति त्यजति च तदा नियमानुपपत्त्या सर्वदा तद्भजनत्यजनोचितप्रत्ययव्यवहारप्रसङ्गः ॥६६॥

अथ तस्याश्रयभजनत्यजनयोर्नियामकोऽस्ति तर्हि स वक्तव्यः । सोऽपि कल्पयिष्यतेऽन्यथाऽऽधारप्रतीत्यनुपपत्तिरिति चेन्न, तत्परिकल्पने यदेव भजने नियामकं स एवाधारार्थोऽस्तु कृतं पूर्वपरिकल्पितेनेति । अस्त्वेवमेवेति चेन्न, तस्यापि स्वाश्रयभजनत्यजननियामकस्याऽवश्यवाच्यत्वे तस्यापि चैवं वैयर्थ्यमित्यधिकापरिकल्पने नियमानुपपत्तिः । अधिकपरिकल्पने च पूर्वपूर्ववैयर्थ्यप्रसङ्ग इति गुरुतरं व्यसनमापद्येत । परस्परेण परस्परस्य नियामकत्वमिति चेत्, अन्योन्याश्रयिणावर्थावपि परस्प-

---

सर्वदा होती है। किञ्च गोत्वादि जाति के नित्यत्व के साधक युक्तियों के तुल्य होने पर भी यदि आधारत्व को अनित्य मानें, तो गोत्वादि जाति भी अनित्य हो जायगी।

द्वितीय कल्प में भी आधारत्व अनुगत है वा अननुगत है, द्वितीय पक्ष में आधारमात्र में अनुगत एक धर्म न होने से अनुगत आधार की प्रतीति नहीं होगी और संङ्केत (शब्दार्थ सम्बन्ध) का ग्रह भी नहीं होगा। प्रथम पक्ष में आधारत्व सामान्य के तुल्य आश्रय का अपरित्यागी है वा परित्यागी। आद्य पक्ष में जो जिस काल में आधारत्वरूपसे प्रतीत होता है वही उसी काल में आधेयत्वरूप से प्रतीत नहीं होगा। द्वितीय पक्ष में यदि नियामक के विना ही वह आधारत्व, आधार को त्यागता भी है और ग्रहण भी करता है, तो सर्वदा प्राप्ति त्याग को उचित प्रतीति वा व्यवहार होना चाहिये। अर्थात् सर्वदा "आधारः न आधारः" दोनों व्यवहार वा प्रतीति हो जायगी ॥ ६६ ॥

समर्थन—उस आधारत्व के आश्रय के प्राप्तित्याग में नियामक हैं।

खण्डन—तो उस नियामक को कहिये। यदि कहें कि आधारत्व की प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति से कल्पना करेंगे, तो जो प्राप्तित्याग में नियामक है, वही आधारत्व रहे। पूर्व कल्पित आधारत्व व्यर्थ है। यदि कहें कि ऐसा ही रहे, तो उसके भी आश्रय के प्राप्तित्याग में नियामक अवश्य वक्तव्य होने पर पूर्वोक्त प्रकारसे पूर्व नियामक व्यर्थ है। इस प्रकार अधिक २ नियामक की कल्पना न करें, तो नियम नहीं होगा। और यदि अधिक नियामक की कल्पना करें, तो पूर्व नियामक व्यर्थ हो जायगा। इस प्रकार से अनिवार्य्य दुःख परम्परा प्राप्त हो जायगी।

समर्थन—पूर्व नियामक से उत्तर का और उत्तर नियामक से पूर्व का नियम न होगा अतः न तो अनियमन है और न उत्तर २ से पूर्व २ का वैयर्थ्य है।

खण्डन—यदि उत्तर स्वयँ पूर्व से नियमित हो ले, तो पूर्व का नियम करे, और पूर्व भी उत्तर से स्वयम् नियमित हो ले, तो उत्तर का नियमन करे इस प्रकार से अन्योन्याश्रय हो जायगा। उस अन्योन्याश्रय का निवारण कर आप आधारत्व को स्वस्थित करें अनन्तर हम उत्तर देंगे।

राकर्षकभावव्यवस्थया सुस्थीकुरु ततो दास्यामस्तत्रोत्तरम्। जात्यादयोऽपि तर्ह्येवमनुपपन्ना इति चेन्नोच्चैर्वक्तव्यं यदि कोऽपि शृणोति तदा महदनिष्टमस्माकं प्रकाशीकृतं स्यात् ॥१००॥

किञ्च यत्तदाधारत्वं तत् साधारमनाधारं वा। अन्त्ये, क्व स्वविशिष्टप्रत्ययं कुर्य्यात् विशेषाभावात्। आद्ये, तदाधारत्वं वाच्यम्। स्वरूपमेव तादृशं तस्य येन स्वयं सत्ता स्वात्मनि सत्ताप्रत्ययकारिणी सत्तान्तरमन्तरेण यथा तथेदमपि विनैवाधारान्तरमाधारप्रत्ययकारीति चेन्न, भ्रान्तित्वप्रसङ्गात्। यथा विना रजतत्वं तत्प्रत्ययो भ्रान्तिस्तथैव स्यात् उपपाद्यश्चायमर्थो भेदखण्डनप्रस्ताव इत्युपरम्यते। विनाऽप्याधाराधेयभावं स्वभावसम्बन्धेन नियामकत्वं भविष्यति यथा विषयविषयिभावेनार्थज्ञानयोरिति चेन्न, स्वभावसम्बन्धस्य निरस्तत्वात्। यत्तुदाहरसि च विषयविषयिभावं सोऽपि वक्तुं न शक्यते ॥ १ ॥

समर्थन—जाति आदि के भी आश्रय के प्राप्ति त्याग में किसी नियामक की कल्पना करें, तो जाति आदि उक्त प्रकार से व्यर्थ हैं। और यदि नियामक की कल्पना न करें, तो उस व्यक्ति से अन्यत्र भी उस जाति का व्यवहार हो जायगा।

खण्डन—उच्च स्वर से न कहिये। यदि कोई अन्य मत वाला यह सुनेगा तो हम वैदिकों का महान् उपहास होगा। अर्थात् पदार्थमात्र के अनिर्वचनीयत्व वादी के मत में जाति का खण्डन भी इष्ट ही है। अतः इसी युक्ति से जाति का भी खण्डन है ॥ १०० ॥

किञ्च जो वह आधारत्व है वह साधार है अथवा आधार रहित है यदि उसको आधार रहित मानें, तो आधारत्व की प्रतीति कहाँ होगी, कारण कि आधारत्व विशिष्टरूप विशेष नहीं है। और यदि आधारत्व का आधार को मानें, तो आधारत्वरूप जो आधेय उसके आधारत्व को कहना चाहिये अर्थात् आधारत्व का आधारत्व उसका आधारत्व इस रीति अनवस्था होने से आधारत्व को साधार नहीं मान सकते।

समर्थन—आधारत्व का स्वरूप ही वैसा है जिससे जैसे सत्ता, अन्य सत्ताके विनाही स्व में सत्ता प्रतीति का कारण है वैसाही आधारत्व भी अन्य आधारत्व के विना ही स्व में आधारत्व व्यवहार का कारण है।

खण्डन—आधार प्रतीति भ्रान्ति हो जायगी। अर्थात् जैसे विना रजतत्व का ज्ञान भ्रम है वैसेही आधारत्व के विना आधारत्व का ज्ञान भ्रम हो जायगा।

इसका उपपादन भेद खण्डन में हम करेंगे।

समर्थन—आधारत्व के साथ आधाराधेय भाव न होने पर भी स्वरूप परसम्बन्ध से नियामक होगा। जैसे अर्थ—ज्ञान का विषयविषयीभाव से—नियमन करता है।

खण्डन—स्वरूप ,सम्बन्ध का खण्डन हो चुका है। और जिस- विषयविषयीभाव का कथन करते हैं। उसका भी उपपादन आप नहीं कर सकते। कहिये ज्ञानादि का पटादि के साथ विषयविषयीभाव क्या वस्तु है। अर्थात् लक्षण न होने से अनिर्वचनीय है ॥ १ ॥

॥ इति आधारलक्षणखण्डनानुवाद ॥

यथाहि कः पुनर्ज्ञानादेर्घटादिना विषयविषयिभावः । प्रकाशस्य सतस्तदीयतामात्ररूपः स्वभावविशेष इति चेन्न, इच्छादिविषयाव्यापनात् । विषयिण इति चेन्न, तत्त्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात् ।

किञ्च स्वभावः स्वधर्मो वा स्वात्मा वा तस्य विवक्षितः । आद्ये ज्ञानत्वादिकं वा साधारणमसौ तत्तद्घटज्ञाननियतो वा कश्चित् । आद्ये साधारण्यान्न विशेषतस्तदीयतामात्ररूपत्वसम्भवः । द्वितीये तु प्रतिविषयं व्यावृत्तज्ञानधर्मस्वीकारे वचनभङ्गिभेदेन साकारवादस्वीकारः । किञ्च नाऽसौ धर्म उपधेयान्तराधीनो विषयभूतघटाद्यतिरिक्तोपाधिप्रतीत्यपेक्षाप्रसङ्गात् ॥ २ ॥

न च घटादिरेव तथा, असम्बन्धात् । तथापि तथात्वे चातिप्रसङ्गात् । नापि जातिरूपः, क्वचिद्घटमात्रपटमात्रज्ञानगततया पृथग्व्यवस्थितौ सत्यां घटपटविषयैकज्ञाने

॥ अथ विषयविषयीभाव खण्डनानुवाद ॥

निर्वचन—प्रकाशक का [केवल तदीयतारूप] स्वाभावविशेष विषयविषयीभाव है।

खण्डन—इच्छा, कृति, प्रकाशरूप नहीं हैं, अतः उनके साथ अर्थ के सम्बन्ध में अव्याप्ति हो जायगी। और प्रकाश के स्थान पर विषयी का निवेश नहीं कर सकते हैं, कारण कि विषयविषयीभाव का ही यह लक्षण है, अतः यदि निवेश करें, तो आत्माश्रय हो जायगा।

किञ्च स्वभाव उसका धर्म्म है अथवा आत्मा है। प्रथम पक्ष में वह ज्ञानत्वआदि साधारण धर्म्म है अथवा घटादि—ज्ञानादि में ही वृत्ति कोई धर्म्मविशेष है । प्रथम पक्ष में ज्ञानत्वरूप विषयविषयीभाव के साधारण होने से यह घटविषयक ज्ञान है, यह पटविषयक ज्ञान है—ऐसा विशेषरूप से नियम नहीं होगा, और द्वितीय पक्ष में विषय २ की प्रतीति व्यावृत्त भिन्न २ ज्ञान में वृत्तिज्ञानधर्म्म के स्वीकार करने पर वचन की रचना के भेद से साकारवाद का स्वीकार हो जायगा। अर्थात् घटादि बाह्य पदार्थ के ज्ञान के धर्म्म में प्रवेश होने से बाह्य पदार्थ का अपलाप हो जायगा।

किञ्च वह धर्म्म जातिरूप है वा उपाधिरूप है। उपाधिरूप में भी उपाधि का निमित्त अन्य है या घटादि ही निमित्त है। उपाधिरूप में अन्य निमित्त नहीं है, कारण कि यदि अन्य निमित्त मानें, तो "अयं घटः" इत्याकारक ज्ञान में विषयभूत घटादि से इतर की अपेक्षा हो जायगी। और इतर की अपेक्षा होती नहीं है । तथा घटज्ञानत्वादिरूप उपाधि में घटादि भी निमित्त नहीं है, कारण कि घटादि से कोई सम्बन्ध नहीं है। और सम्बन्ध के विना भी यदि घटादि को निमित्त मानें, तो पटादि-ज्ञानत्व में भी घट निमित्त हो जायगा। तथा घटादिज्ञानत्वादि जातिरूप भी नहीं है। कारण कि घटविषयक ज्ञान में घटज्ञानत्व और पटविषयक ज्ञान में पटज्ञानत्व और उभयविषयक समूहालम्बन ज्ञान में घटज्ञानत्व, पटज्ञानत्व दोनों के होने से साङ्कर्य्य हो जायगा।

यदि कहें, कि प्रतिविषय ज्ञान-व्यक्ति के भेद होने से समूहालम्बन ज्ञान होता ही नहीं, तो यह युक्त नहीं है, कारण कि ऐसा मानने पर विशिष्ट ज्ञान भी नहीं होगा। यदि कहें, कि जैसे रूपत्वव्याप्य चित्रत्वजाति है वैसे ही घटपट-समूहालम्बन ज्ञान में घटपटज्ञानत्व से विलक्षण एक जाति मानेंगे। अतः समूहालम्बन में घटज्ञानत्व, पटज्ञानत्व के

सहावस्थित्या जातिसङ्करप्रसङ्गात्। प्रतिविषयं ज्ञानभेदनियमे विशिष्टज्ञानानुपपत्तेः एवम्भूतविचित्रजात्यभ्युपगमे प्रत्येकोचितव्यवहारस्याप्यभावप्रसङ्गात्। अथ जातिसङ्करोऽपीष्यते तथापि स एव विशेषो घटज्ञानत्वादिरस्त्विति विषयासिद्धिः ॥ ३ ॥

अथ विषयेणापि सम्बन्धप्रतिभासनात् सोऽपीष्यते, न, तस्यैव सम्बन्धस्य विचार्य्यमाणत्वात्। स एवासाविति चेन्न, तदैक्यात् ज्ञानार्थसाधारणविषयप्रतीत्यापत्तेः। संयोगप्रतिपत्तिवत् विषयित्वं तत्र अर्थे तु विषयत्वमन्यदिति चेन्न, सैव हि ज्ञातता स्यात् सा च निराकरिष्यते। द्वितीये च स्वात्मा घटपटव्यक्तीनामिव घटपटज्ञानव्यक्तीनां व्यावृत्त इति तत्तद्विषयविषयितागोचरानुगतबुद्धिव्यवहारभङ्गप्रसङ्गः ॥४॥

किञ्च तदीयता ज्ञानस्य स्वभाव इति वचनं विचारमर्हति। तदिति तावद्विषयपरामर्शः सम्बन्धिता छप्रत्ययस्यार्थः तदेतदन्योन्यविशिष्टमुभयं ज्ञानस्य स्वभाव इति

समावेश न होने से सङ्कर नहीं है, तो केवल एकविषयक कोई भी ज्ञान नहीं होता है, कारण कि निर्विकल्पक भी अनेकविषयक होता है अतः घटज्ञानत्व, पटज्ञानत्व एक २ विषयक व्यवहार का लोप हो जायगा।

समर्थन—गुण की जाति में सङ्कर दोष नहीं होता है, अतः घटज्ञानत्व दोनों जाति समूहालम्बन ज्ञान में रहती हैं।

खण्डन—यदि विषय भेद से ज्ञान में जातिभेद को मानलें, तो उन्हीं जातियों से प्रतीति में वैलक्षण्य सिद्ध है फिर घटादि विषय की असिद्धि हो जायगी ॥ ३ ॥

समर्थन—घट-ज्ञानत्वादि को विषय का ही तो सम्बन्ध मानते हैं, अतः सम्बन्ध के अन्यथानुपपत्ति से विषय की सिद्धि होगी।

खण्डन—उसी विषय तथा ज्ञान के सम्बन्ध का विचार करते हैं, कि वह सम्बन्ध किंरूप है। अर्थात् उस सम्बन्ध को यदि घटज्ञानत्वादिरूप मानें, तो उससे ही प्रतीति के वैलक्षण्य की सिद्धि होने से विषय की असिद्धि हो जायगी। अतः घटज्ञानत्वादिरूप यह सम्बन्ध नहीं है।

समर्थन—विषयविषयीभाव ही घट तथा ज्ञान का सम्बन्ध रहे हानि क्या है।

खण्डन—विषयविषयीभावरूप सम्बन्ध एक है, अतः संयोग के तुल्य ज्ञान अर्थ दोनों परस्पर विषयी और विषय हो जायेंगे।

समर्थन—अनुभव के अनुसार ज्ञान में विषयित्व और अर्थ में विषयत्व अन्य ही है।

खण्डन—अर्थ गत जो विषयत्व है—वही मीमांसकों की ज्ञातता है उसका निराकरण आगे करेंगे। द्वितीय पक्ष में घट-पट-व्यक्तियों के तुल्य घटज्ञान-पटज्ञान-व्यक्ति का भी आगे रूप भिन्न २ है अतः संपूर्ण घट-ज्ञान में एकाकार अनुगत प्रतीति नहीं होगी ॥ ४ ॥

किञ्च तदीयता ज्ञानका स्वभाव है—यह वचन भी विचारणीय है। यहां तद्-शब्द से विषय का परामर्श है और सम्बन्धिता (सम्बन्ध) छप्रत्यय का अर्थ है। ये दोनों परस्पर मिलकर अर्थात् विषय-सम्बन्ध-ज्ञान के स्वभाव हैं—यह जो कहते हैं, उससे विषय विज्ञान का स्वभाव है—यह उक्त होता है। अतः विज्ञानवाद के समर्थन होने से विज्ञानवाद के खण्डन के प्रकरण का उपसंहार खूब किया गया।

मुवाणेन विषयो विज्ञानस्य स्वभाव इत्युक्तं भवतीति साधु विज्ञानवादिनिराकरणप्रकरणोपसंहरणमकारि। सम्बन्धमात्रं ज्ञानस्य स्वभावो न तु विषय इत्याशय इति चेन्न, विशेषानुपादाने सम्बन्धमात्रमिदं सर्वस्यैव स्यात्। यतो न तावन्न कस्यचित्, सम्बन्धस्वरूपतात्यागप्रसङ्गात्। नापि नियतस्य तादात्म्यापत्तेरुक्तत्वात् नियामकासम्भवाच्च। कारणं नियामकमितिचेत्, तेन नियामकेन किं भवति। तदीयत्वं तस्य सम्बन्धस्येति चेत्, तदेव तदीयत्वं ज्ञानस्वभावभूतसम्बन्धस्वरूपप्रविष्टमुत बहिर्भूतं धर्मान्तरम्॥ ५॥

यदि प्रथमः, तच्छब्दार्थोऽपि तर्हि स्वरूपप्रविष्ट इति विषयज्ञानयोः स एवाभेदप्रसङ्गः। द्वितीये च तस्य धर्मान्तरस्य विषयेणाभेदः, तच्छब्दार्थस्य विषयस्य विशेषणस्य तदीयशब्दार्थे विशिष्टरूपे प्रविष्टस्य स्वीकृतधर्मान्तरस्वभावतया निरुक्तत्वात्।

समर्थन—सम्बन्धमात्र ज्ञान का स्वभाव है, विषय नहीं।

खण्डन—विशेषविषय का उपादान करें, तो सम्बन्धमात्र सभी वस्तुओं का सब ज्ञान में हो जायगा, कारण कि सम्बन्ध किसी का नहीं है—ऐसा नहीं है, अन्यथा यदि सम्बन्धी से अनियत सम्बन्ध को मानें, तो सम्बन्ध स्वरूप से ही उच्छिन्न हो जायगा अर्थात् सम्बन्ध ही नहीं कहावेगा।

समर्थन—घटादि से नियत सम्बन्ध, ज्ञानका स्वभाव है।

खण्डन—घटनियत सम्बन्ध को यदि ज्ञान का स्वभाव मानें, तो घट का भी ज्ञान के स्वरूप में प्रवेश होने से घट, ज्ञान, दोनों का अभेद हो जायगा।

किञ्च घट का सम्बन्ध घट-ज्ञान का स्वभाव है—इसमें कोई नियामक भी नहीं है।

समर्थन—घट के सम्बन्ध में जो घट-ज्ञान का स्वभावत्व है, उसमें घट और चक्षुस्सम्बन्धजन्यत्व ही नियामक है।

खण्डन—घट, चक्षुस्सम्बन्धजन्यत्वरूप नियामक क्या करता है, यदि कहें, कि ज्ञान के स्वभावभूत सम्बन्ध में घटीयत्व को उत्पन्न करता है, तो यह विकल्प होता है, कि वह घटीयत्व ज्ञान के स्वभावभूत सम्बन्ध के स्वरूप में अन्तर्भूत है वा बहिर्भूत अन्य धर्म्म है? ॥५॥ यदि प्रथम कल्प मानें, तो तद्शब्दार्थ का भी स्वरूप में प्रवेश होने से वही विषय और ज्ञान के अभेद का प्रसङ्ग हो जायगा। और यदि द्वितीय कल्पमानें, तो तदीयत्वरूप उस धर्म्मान्तर का विषय के साथ अभेद हो जायगा, कारण कि तदीयशब्द का अर्थ विशिष्ट में प्रविष्ट तथा विशेषण तत्शब्द के अर्थविषय का [स्वीकृत तदीयत्वरूप धर्म्मान्तर के] स्वरूप में अन्तर्भाव है।

समर्थन—वह तदीयत्व विषय से अभिन्न ही रहे, हानि ही क्या है।

खण्डन—वह तदीयत्व ज्ञान के स्वभाव-सम्बन्ध से संबद्ध है या नहीं, यदि सँबद्ध नहीं है, तो विज्ञान किसी का सम्बन्धी न कहावेगा। और यदि सम्बद्ध है, तो क्या अन्य सम्बन्ध से अथवा स्वरूप सम्बन्ध से। यदि प्रथम कल्प मानें, तो वह सम्बन्ध अन्य सम्बन्ध से ही विज्ञान के स्वभावभूत सम्बन्ध का सम्बन्धी होगा इस प्रकार से उत्तर २ सम्बन्ध के स्वीकार होने से वही अनवस्था हो जायगी जिसके भय से स्वरूप सम्बन्ध का स्वीकार है।

अस्तु असौ धर्मो विषयाभिन्न इति चेत्, तथापि किमसौ स्वीकृतेन स्वभावसम्बन्धेन सम्बद्धो न वा, न चेत्, तद्विज्ञानं न कस्यचित्सम्बन्धि स्यात्। सम्बद्धश्चेत्, किं सम्बन्धान्तरेणाऽऽहो स्वभावसम्बन्धेनैवासौ ज्ञानात्मकसम्बन्धसम्बन्धीयः। आद्ये तत्राप्येवं प्रसङ्गो यस्या भयेन स्वभावसम्बन्धः स्वीकृतः सा तदवस्थैवानवस्था। द्वितीयश्चेत्, ज्ञानात्मकसम्बन्धसम्बन्धीय इत्यत्र विशिष्टस्वरूपे ज्ञानरूपमपि विशेषणं प्रविष्टमिति पूर्वोक्तन्यायेनाधुनोक्तन्यायेन च ज्ञानस्यैकस्यैव द्वयमपि स्वात्मेति वाग्भङ्गिभेदमात्रेण ज्ञानगोचरयोरभेदस्वीकार इति। एतेनान्यत्रापि स्वभावसम्बन्धः प्रत्याख्यातव्यः ॥६॥

ज्ञानीयफलाधारत्वं विषयत्वं तद्वत्त्वं च विषयित्वमित्यपि दुष्टम्। तथाहि—ज्ञानीयं फलं ज्ञातता वा व्यवहारो वा स्यात्। आद्येऽतीतानागतधीभ्रमाद्यर्थाव्याप्तिः। न च तत्रैव फलजनने किं नियामकमिति प्रयोजकमनुगतं शक्यनिर्वचनं, तथात्वे वा तदेव

और यदि स्वभाव सम्बन्ध से सम्बन्धी हैं, तो तदीयत्व का ज्ञानात्मक स्वभाव सम्बन्ध के स्वरूपरूप सम्बन्धी में ज्ञान विशेषण भी प्रविष्ट है—इस पूर्वोक्त रीति से तथा सम्प्रति उक्त-रीति से ज्ञान के ही घट और घटीयत्व-दोनों आत्मा हुए, अतः वचन की रचना के भेद से ज्ञान और विषय का अभेद ही सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार से अन्यत्र (समवायअभावआदि स्थल में) भी स्वरूप सम्बन्ध का खण्डन जानना चाहिये ॥ ६ ॥

समर्थन—ज्ञान का जो फल उसका आधारत्व विषयत्व है, और उस फलका जनकत्व विषयित्व है।

खण्डन—यह भी लक्षण युक्त नहीं है, कारण कि ज्ञानजन्य फल ज्ञातता है, अथवा व्यवहार। प्रथम पक्षमें अतीतअनागतविषयक बुद्धिस्थल में तथा भ्रमविषय में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि उक्त स्थल में उत्पन्न विषय के वर्त्तमान न होने से बिना आधार के ज्ञातता उत्पन्न कहां होगी। किञ्च घट ज्ञानसे घट में ही ज्ञातता होती है।

पट में नहीं इसमें अनुगत प्रयोजक का निर्वचन शक्य नहीं है। यदि कोई अनुगत प्रयोजक हो भी, तो उसी को विषयत्व मान लीजिये, उससे पृथक् ज्ञातता मानना व्यर्थ है। तथा द्वितीय पक्षमें व्यवहार को हस्तआदि से आनयनादिरूप मानें, तो वह सर्वत्र गुणादि वा व्यापक आत्मादि में नहीं है, अतः उसमें विषयत्व के लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च मणि-आनयनरूप व्यवहार उसकी प्रभा में भी है और केवल मणि-विषयक ज्ञान का विषय प्रभा है नहीं, अतः प्रभा में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। और व्यवहारसे यदि इच्छा का ग्रहण करें, तो उसका आधार आत्मा है, घटादि नहीं है, अतः घटादि में अव्याप्ति हो जायगी। यदि ज्ञानजन्य जो इच्छा तद्विषयत्व को व्यवहार कहें, तो विषयत्व से घटित विषयत्व के लक्षण के होने से आत्माश्रय हो जायगा। किञ्च इच्छा-विषयत्व भी ज्ञान-विषयत्व की अपेक्षा करता है अतः यावत् ज्ञानविषयत्व का ज्ञान न हो तावत् इच्छा-विषयत्व का ज्ञान भी अशक्य है।

किञ्च जो उपेक्षा (औदासीन्य) को व्यवहार नहीं मानते उनके मत में "ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति"—इस ज्ञान के विषय तृणस्पर्श में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। यदि हान-उपादानरूप ज्ञान-फल के आधारत्व को ही विषयत्व कहें, तो हानउपादान के ज्ञान का (हान-

विषयत्वमस्तु । व्यवहारश्च यदि कराकर्षणादिः स न सार्वत्रिकः नान्तरीयकश्चान्यत्रापीत्यतिव्यापकं यदीच्छादिस्तदाधारत्वमात्मन इति घटाद्यव्याप्तिः तद्विषयत्वं च तद्विषयत्वमेवापेक्षते । यश्चोपेक्षां नाम व्यवहारं नानुमनुते कथं नोपेक्षाभेक्षामुपेक्षते । हानादिव्यवहारज्ञानानामेव च कथं न निर्विषयत्वं प्रसज्यते । अथ सर्वत्र हानादिव्यवहारोपगमः तदा व्यवहारज्ञानयोरनुपरम एव स्यात् ॥ ७ ॥

एतेन तत्सम्बन्धत्वं यदुच्यते यत्प्रतिबद्धव्यवहारानुकूलस्वभावं यद्विज्ञानं तत्तस्य विषयः तद्वत्त्वं विषयित्वमिति, तदपि प्रागुक्तयुक्तिं नातिवर्तते ।

अथोच्यते य एवार्थो यस्यां संविदि भासते तद्वेद्यः स पृथक् नेति वेद्यावेद्यस्य लक्षणमिति । तदपि न विद्मः, यस्यां संविदीति किं संविदधिकरणम्, अथ तद्विषयः, अथ सम्बन्धिमात्रम् । नाद्यः, घटादेस्तदधिकरणत्वानुपगमेनाऽव्यापनात् यथातथानिर्वचनीयज्ञानत्वाद्यतिव्याप्तेश्च । द्वितीयश्चाद्याप्यनिरूपितः कथं निरूपकः स्यात् वैपरीत्यापाताच्च । तृतीयश्चातिव्यापकः कारणादेरपि तत्सम्बन्धित्वात् ज्ञानान्तरेणावभासमान-

---

उपादान) विषय नहीं हो सकेगा; कारण कि जैसे घटादिज्ञान से हानउपादान होता है वैसे हानउपादानज्ञान से हानउपादान नहीं होता । और यदि हानादिज्ञान से हानादिव्यवहार मानलें, तो उस हानादि-व्यवहार से भी हानादि-व्यवहार मानने में अनवस्था हो जायगी । किञ्च हानादि-ज्ञान से हानादि-व्यवहार का असम्भव भी है ॥ ७ ॥

समर्थन—जो ज्ञान जिस वस्तु से प्रतिबद्ध व्यवहार के अनुकूल स्वभाव वाला हो, वह वस्तु उस ज्ञान का विषय है और उस व्यवहार का जनकत्व ही ज्ञान में विषयित्व है ।

खण्डन—व्यवहार से आनयनादि के ग्रहण करने पर पूर्वोक्त दोष हो जायगा ।

समर्थन—जो अर्थ जिस ज्ञान में भासता हो वह उससे भिन्न नहीं है, और जो ज्ञान का विषय नहीं है, वह उससे भिन्न है, यह विषय अविषय का लक्षण है ।

खण्डन—"यस्यां संविदि" इस सप्तमी का क्या अधिकरण अर्थ है, या विषय अर्थ है वा सम्बन्धित्वमात्र अर्थ है । प्रथम पक्षमें घट का संविद् अधिकरण नहीं है, अतः घट में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी । किञ्च किसी प्रकार से निर्वचनीय ज्ञानत्व में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि ज्ञानत्व का अधिकरण ज्ञान है, अद्यावधि विषयत्व की निरुक्ति न होने से विषयत्व सप्तम्यर्थ है—यह द्वितीय पक्ष भी अयुक्त ही है । किञ्च विषयविषयीभाव के अव्यवस्थित होने से संविद् ही विषय और घटादि ही विषयी क्यों न कहावें । तृतीय पक्ष में संविद् के कारणआदि भी संविद् के सम्बन्धी हैं, तथा ये अन्य ज्ञान से प्रकाशित होते हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—जो जिस संविद् के सम्बन्धी हों तथा उसी संविद् से भासमान हों वे उस संविद् के विषय हैं ।

खण्डन—भासमानत्व विषयत्व का ही यह लक्षण है, और इसमें भासमानत्व का प्रवेश हुआ ,अतः आत्माश्रय हो जायगा ।

समर्थन—जिस संविद् के प्रकाशित होने पर जो वस्तु प्रकाशित हो, उस संविद् का वह विषय है ।

त्वात्। तयैव संविदा भासमानत्वमिति चेन्न, भासमानत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्. तन्निरूप्यत्वात्तद्वत्त्वस्य। यस्यां संविदि प्रकाशमानायां यः प्रकाशत एवेति चेन्न, प्रकाशमानताया एव निरूप्यमाणत्वात्। सामान्यतो विषयत्वे सिद्धे विशेषतो विषयाभिधानमिति चेन्न, सर्वथा विशेषानुपपत्तिद्वारा सामान्यानुपपत्तौ तद्विषयप्रमात्वस्यापि सन्दिग्धत्वात् ॥ ८ ॥

ज्ञानाकारार्पणक्षमो हेतुरेव विषय इति चेन्न, आकार एव केनार्पित इति विनिगन्तुमशक्यत्वात्। न ह्याकारस्ततो ज्ञानस्वरूपादन्यः तत्र च तथोत्पन्नानि कारणानि प्रत्येकमेव समर्थानीति कथं तेषु विशेषं विनिगमयिष्यसि। यद्यपि सकलसमर्थहेत्वनुविधानमस्ति तथापि स्फुटन्तावद्घटस्यानुविधानमिति तदेव तदाकारप्रयोजकमिष्यते इति चेन्न, समस्तकारणान्तरानुविधानवद्घटानुविधानस्य प्रामाणिकत्वाविशेषेण किं स्फुटत्वास्फुटत्वाभ्यां स्यात्। स्फुटानुविधानमादायैव विषयनिरुक्तिं कुर्म्म इति चेन्न, सर्वहेत्वनुविधानस्य न्यायतः स्फुटत्वात्। दृश्यमानमनुविधानं यस्येति चेन्न, दत्तोत्तरत्वात्। दृश्यमानतैव च विषयताऽनिर्वचनान्न शक्योपदर्शना।

खण्डन—प्रकाशमानता विषयता ही का यह लक्षण हैं। अतः इस लक्षण में भी आत्माश्रय हो जायगा।

समर्थन—सामान्यरूप से विषयत्व सिद्ध है और यह लक्षण विशेषरूप से विषयत्व के ज्ञान का अर्थ है, अतः आत्माश्रय नहीं होगा।

खण्डन—निर्विशेष सामान्य नहीं होता है, अतः एक भी विशेष का ज्ञान न होने से सामान्य के सत्त्व में संदेह होने से सामान्य विषयक ज्ञान के प्रमात्व में संदेह है ॥ ८ ॥

समर्थन—ज्ञान में घटाद्याकार का जो अर्पण उसका हेतु विषय है।

खण्डन—ज्ञान में आकार किससे अर्पित होता है—यह ज्ञान ही अशक्य है, कारण कि आकार विज्ञान से भिन्न नहीं है किन्तु विज्ञानरूप ही है, अतः मिलित कारण ही ज्ञान के आकर के हेतु हैं। फिर उन हेतुओं में अमुक आकार का हेतु है—इस विशेष का निश्चय कैसे होगा।

समर्थन—यद्यपि ज्ञान के आकार में हेतुमात्र का अन्वय है तथापि घट का अन्वय स्फुट है, अतः घट ही आकार का प्रयोजक है।

खण्डन—यदि सम्पूर्ण कारणों का आकर में अन्वय प्रमाण से सिद्ध है, तो अमुक कारण का अन्वय स्फुट है और अमुक कारण का अन्वय स्फुट नहीं है—इस कथन से क्या लाभ है। यदि कहें, कि " स्फुट अभिधान " इस कथन का यह प्रयोजन है कि स्फुट लक्षण होता है, तो सब ही कारणों का अन्वय एक सा है, अतः युक्ति से सब ही का अन्वय स्फुट ही है।

समर्थन—जिसका अन्वय ज्ञान के आकार में प्रत्यक्ष है, वह विषय है।

खण्डन—जब सब ही कारण हैं, तो सब ही का अन्वय प्रत्यक्ष ही है। किञ्च प्रत्यक्षता विषयता ही है अतः आत्माश्रय हो जायगा।

समर्थन—ज्ञान का कर्म्म विषय है।

ज्ञानकर्म्मत्वमित्यपि न । ज्ञानेन कर्म्मणः सम्बन्धस्य निर्वक्तव्यत्वात् । तन्निरुक्तिभङ्गश्चेश्वराभिसन्धौ ज्ञाततावादे द्रष्टव्यः ॥ ९ ॥

विना सम्बन्धान्तरं यद्विशेषणज्ञानं स विषयः, तेन विना सम्बन्धान्तरं ज्ञानविशेष्यं विषयः, विशेष्यं चेदं यद्विशिष्टनामकं तत्वान्तरं यद्गतं धर्मं गृह्णातीति । अत्रोच्यते । यद्गतं धर्मं गृह्णातीत्येतावन्मात्रमेव विवक्षितं गृह्णातीत्येवेति वा, आद्ये दण्डस्यापि विशेष्यत्वापातः तद्गतस्यापि सत्वादेधर्मस्य ग्रहणात् । नापरः, भवति हि व्यभिचारिणो धूमस्याविच्छिन्नमूलत्वादि विशेषणं तद्विशिष्टं च तत्वान्तरम् । न च विशेष्यस्य धर्मं व्यभिचारितां गृह्णाति ॥ १० ॥

अथोर्ध्वाविरतगतिविशिष्टस्याविच्छिन्नमूलता विशेषणं न च तथाभूतस्य व्यभिचारिता धर्म इत्युच्यते । मैवम् । प्रथमविशिष्टः किं व्यभिचारी न वा, आद्ये स एव दोषः द्वितीये विशेषणान्तरान्तर्भाववैयर्थ्यं प्रथमविशिष्ट एव च तद्दोषावसरः । अथ यद्धर्मविशिष्टस्य तद्विशेषणं तद्धर्मं गृह्णाति न सर्वं न च व्यभिचारिताविशिष्टस्य तानि

खण्डन—ज्ञान के साथ कर्म्म के सम्बन्ध का निर्वचन के लक्षण का खण्डन ईश्वराभिसन्धि नाम ग्रन्थ के ज्ञाततावाद में देखना चाहिये ॥ ९ ॥

समर्थन—अन्य सम्बन्ध के विना ज्ञान जिसका विशेषण हो, वह विषय है। फलित यह हुआ, कि अन्य सम्बन्ध के विना ज्ञान का विशेष्य विषय है। और विशिष्टनामक पदार्थ जिसके धर्म का ग्रहण करे, वह विशेष्य है।

खण्डन—किसके धर्म्म का ग्रहण करे—इसका क्या अर्थ है। जिसके यत्किंचित् धर्म्म का ग्रहण करे—यह अर्थ है, वा जिसके सम्पूर्ण धर्म्मों का ग्रहण करे—यह अर्थ। प्रथम पक्ष में "दण्डी पुरुषः" यहां दण्ड भी विशेष्य हो जायगा, कारण कि विशिष्ट दण्ड में स्थित सत्वादि धर्म्म का ग्रहण करता है। द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, कारण कि वह्नि के व्यभिचारी धूम से अविच्छिन्नमूलत्वविशिष्ट धूम अन्य है और वह धूम के धर्म्म व्यभिचारित्व का ग्रहण नहीं करता है, अतः धूम में अव्याप्ति हो जायगी ॥ १० ॥

समर्थन—उर्ध्वाविरतगतिविशिष्ट धूम का अविच्छिन्नमूलत्व विशेषण है और उक्त विशेषणविशिष्ट धूम का व्यभिचारित्व धर्म्म नहीं है। अतः धूम में अव्याप्ति नहीं।

खण्डन—(उर्ध्वाविरतगतिविशिष्टरूप) विशेषण से विशिष्ट धूम व्यभिचारी है कि नहीं ! आद्य पक्षमें उर्द्ध्वाविरतगतिविशिष्ट धूम के व्यभिचारिता धर्म्म को अविच्छिन्नमूलत्व विशिष्ट नहीं ग्रहण करता है, अतः अव्याप्ति वैसी ही है। द्वितीय पक्ष में विशेषण व्यर्थ है । किंच उर्द्ध्वाविरतगतिविशिष्ट धूम व्यभिचारितारूप धर्म्म का ग्रहण नहीं करता है अतः धूम में अव्याप्ति पूर्ववत् है।

समर्थन—जिस धर्म्म से विशिष्ट विशेष्य का विशेषण हो तद्धर्मरूप जिसके धर्म्म का विशिष्ट ग्रहण करे सब धर्म्मों का नहीं वह विशेष्य है व्यभिचारिता विशिष्टधूम का अविच्छिन्नमूलत्व विशेषण है नहीं, अतः अव्याप्ति नहीं।

खण्डन—तब क्या धूममात्र व्यभिचारी नहीं है, यदि है, तो व्यभिचारिता विशिष्ट ही अविच्छिन्नमूलत्व धूम में विशेषण है, अतः पूर्ववत् अव्याप्ति है।

विशेषणानीति चेन्न, तत्किं धूममात्रं न व्यभिचारि। ततश्च व्यभिचारिताविशिष्टस्यैव तस्य तानि तथा भवतु व्यभिचारिता तद्विशेषणं परं सा न विशेष्यकोटिरिति चेन्न, अद्यापि विशेष्याज्ञानात् ॥ ११ ॥

किञ्च तद्विशेषणमिति तत्सम्बन्धिमात्रं वा विशेषणतया वा सम्बन्धि। आद्येऽतिप्रसङ्गः। द्वितीये तु तथैवान्योन्याश्रयादि। किञ्च विशेष्यलक्षणो यस्तद्गतो धर्म्मस्तं गृह्णाति न वा, आद्ये ऽतिव्याप्तिः द्वितीये गृह्णात्येवेति नियमोऽसिद्धः।

किञ्च मत्समवायो ज्ञानस्येत्यत्र भवति मत्समवायस्य ज्ञानं विशेषणं सम्बन्धान्तरमन्तरेणैव, नच विषयः। नच गुणगुण्यादिविशेष्यभावे यः सम्बन्धान्तरमन्तरेणेत्युक्त्या व्यवच्छेद्यतां नीतः स एवायं समवाय इति कथं न व्यवच्छेद्यतां प्रतिपत्स्यते, यतोऽत्र तस्यैव विशेषणविशेष्यभावत्वादन्तरत्वस्वासिद्धिरिति। तस्मात् सम्बन्धमन्तरेण ज्ञानं विशेषणं यस्येत्युक्तं तत्र ज्ञानसम्बन्धमनपेक्ष्य स्वभावत एव यथाऽर्थस्यविशेषणं तथा समवायस्यापीति न कश्चिद्विशेष इति साधूक्तं मत्समवायो ज्ञानस्येत्यत्र ज्ञानविषयता समवायस्य स्यादिति ॥ १२ ॥

समर्थन—जो धर्म्म विशेष्यता का अवच्छेदक हो तद्धर्म्मरूप जिस के तद्धर्म्म का विशिष्ट नाम तत्त्वान्तर ग्रहण करे, वह विशेष्य है।

खण्डन—विशेष्य का ही यह लक्षण है अतः अद्यपर्यन्त विशेष्य का ज्ञान न होने से आत्माश्रय हो जायगा ॥ ११ ॥

किंच यद्विशेषण शब्द जिसका सम्बन्धी हो—यह अर्थ है वा जिसका विशेषणतारूप से सम्बन्धी हो—यह अर्थ है। प्रथम पक्षमें उपलक्षण (उपरञ्जक) के भी सम्बन्धी होने से वह भी विशेषण हो जायगा। द्वितीय पक्ष में विषयत्व की निरुक्ति में विशेषणत्व का और विशेषणत्व की निरुक्ति में विषयत्व का प्रवेश होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा, कारण कि ज्ञान की प्रकारतारूप विषयता ही विशेषणता है। किंच विशिष्टविशेष्यधूमगत विशेष्यत्वरूप धर्म का ग्रहण करता है या नहीं ? यदि ग्रहण करता है, तो विशिष्ट में उसमें विशेष्यत्व का प्रसङ्ग हो जायगा। और यदि नहीं ग्रहण करता है, तो सब धर्मों के ग्रहण न होने से धूम में भी असम्भव हो जायगा। किंच "मत्समवायो ज्ञानस्य" यहां समवाय में ज्ञान अन्य सम्बन्ध के विना ही विशेषण होता है, अतः समवाय भी ज्ञान का विषय हो जायगा।

समर्थन—समवाय सम्बन्ध से ज्ञान आत्मा का विशेषण है अतः ज्ञान को विषयत्व न हो, इस वास्ते सम्बन्धान्तर पद समवाय के व्यवच्छेद के अर्थ है। फिर उससे "मत्समवायो ज्ञानस्य" यहां भी समवाय का व्यवच्छेद क्यों न हो।

खण्डन—सम्बन्धान्तर पद का अर्थ अन्य सम्बन्ध है यहां अन्य से विशेष्यविशेषणभाव से अन्य का ग्रहण करते हैं और समवाय विशेष्य से अन्य नहीं हैं, अतः अन्यशब्द से समवाय का व्यवच्छेद नहीं होगा। तस्मात् ज्ञान अन्य सम्बन्ध के विना जिसका विशेषण हो, वह विषय है—इस लक्षण का जैसे ज्ञान सम्बन्ध के विना ही स्वरूप सम्बन्ध से अर्थका विशेषण है वैसे ही "मत्समवायो ज्ञानस्य" यहां समवाय का भी विशेषण दोनों स्थलों में कोई विशेष नहीं है, अतः उक्तस्थलमें समवाय के विषयत्व होने से अतिव्याप्ति हो जायगी यह ठीक ही कहा है ॥ १२ ॥

ज्ञानाभावे च प्रसङ्गात्। न च तत्र स एव समवायः सम्बन्धः, अत्रापि विशेषण-विशेष्यभावस्यैव सम्बन्धत्वात्। नासौ सम्बन्धिनोऽन्यस्तादृशश्च व्यवच्छेद्य इति चेन्न, समवायेऽपि तुल्यत्वात्। संयोगसमवायौ व्यवच्छिद्येते इति चेन्न, ज्ञानाभावे तथाऽपि प्रसङ्गात्। न तत्र ज्ञानं विशेषणं किन्तूपलक्षणमिति चेन्न, अतीतानागतयोरविषयत्वापत्तेः। भावे चिन्तेयमिति चेन्न, अभावस्याविषयत्वापातात्। ज्ञानादन्यत् ज्ञानीयश्च यत्कारणादि तत्रापि प्रसङ्गादिति किं विस्तरेण। न च ज्ञानाकारतायां गोचरस्य

"ज्ञानाभावोस्ति" यहां अभाव में ज्ञान स्वरूप से ही विशेषण होता है, अतः अभाव भी विषय हो जायगा।

समर्थन—"मत्समवायो ज्ञानस्य" यहां स्वरूप सम्बन्ध से ही समवाय में ज्ञान विशेषण है और वह स्वरूप समावायरूप ही है अतः सम्बन्धान्तर (समवाय) से ही विशेषण है उसके विना नहीं अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—यदि ऐसा मानें, तो सर्वत्र असम्भव हो जायगा, कारण कि "ज्ञातो घटः" इत्यादि स्थलमें भी विशेषणविशेष्यभावरूप सम्बन्धान्तर से ही ज्ञान घट में विशेषण होता है।

समर्थन—सम्बन्धान्तर पद से सम्बन्धी से अन्य सम्बन्ध का ग्रहण होता है और विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्धी से अन्य है नहीं, अतः सर्वत्र असम्भव नहीं होगा।

खण्डन—"मत्समवायो ज्ञानस्य" यहां भी समवाय सम्बन्धी ही है और वही उक्त स्थल में स्वरूप है, अतः सम्बन्धान्तर के विना ही ज्ञान के समवाय में विशेषण होने से अतिव्याप्ति युक्त ही है।

समर्थन—सम्बन्धान्तर पद से संयोग समवाय का व्यवच्छेद होता है और "मत्समवायोज्ञानस्य" यहां स्वरूप समवायरूप है, अतः उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं है।

खण्डन—ऐसा मानने पर भी "ज्ञानाभावः" यहां ज्ञान का विषय अभाव हो जायगा, कारण कि उक्त स्थल में संबन्धान्तर (समवाय) के विना ही ज्ञान अभाव का विशेषण होता है।

समर्थन—ज्ञान अभाव में विशेषण नहीं है किन्तु उपलक्षण है, अतः विशेषणघटित उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डन—अतीत विषयक, अभूद्वृष्टिः भविष्यति वृष्टिः, ज्ञान स्थल में वृष्टि विषय न कहावेगी, कारण कि वर्तमान वस्तुओं में ही विशेषणविशेष्यभाव होता है। अतीत-विषय वर्तमान ज्ञान का विशेष्य नहीं हो सकता है। यदि विना सम्बन्धान्तर ज्ञान का भाव-रूप जो विशेष्य वह विषय है—ऐसा लक्षण करें, तो "घटोनास्ति" इस ज्ञानका अभाव विषय नहीं कहावेगा। किंच ज्ञान से भिन्न जो ज्ञान का सम्बन्धी कारणादि उनमें अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि—ज्ञानस्य कारणम्—इत्यादि स्थल में भी विना सम्बन्धान्तर कारणादि ज्ञानका विशेष्य होता है। विज्ञों के लिये विषयविषयीभाव का खण्डन इतना ही बहुत है विस्तार व्यर्थ है।

समर्थन—विषय ज्ञान का स्वरूप ही है अतः ज्ञान और विषय में परस्पर भेद नहीं है, ज्ञानाभिन्नत्व ही ज्ञान-विषयत्व है।

खण्डन—ज्ञान और विषय में अभेद अनुभव से विरुद्ध है, भेद ही अनुभव से सिद्ध है। किंच यदि भेद न हो, तो "ज्ञानगोचरयोर्नास्ति भेदः" इस प्रकार से भेद का खण्डन भी

नास्त्येव ज्ञानगोचरयोर्भेदः, प्रतीतिविरोधात् । भेदमनिच्छता च स प्रतिषेद्धुमप्यनर्ह इति ॥ १३ ॥

वक्तव्यस्तर्हि कोऽसौ भेदो नाम ? स हि स्वरूपं वा स्यात्, इतरेतराभावो वा धर्मान्तरं वा । नाद्यः, भिन्नेऽभिन्नभ्रमानुपपत्तिप्रसङ्गात् । भ्रान्त्याऽपि धर्मिस्वरूपावगाहनात्, अन्यथा कस्याभेदं सा भ्रान्तिरुल्लिखेत् ।

ननु निःसम्बन्धित्वेन व्यवस्थिते तरुदारुप्रभृतिषु नानाधारोऽवयव्यन्य एवाऽऽरोप्यते येषु त्वारोप्यते तेऽभेदे नैव भान्ति किन्त्वनारब्धावयविषु तेष्वारब्धावयवितया विभ्रम्यते । मैवम्, तेषामनुदाहरणीयत्वात् । अतस्मिन् स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाभासार्थानां दृष्टान्तत्वेनेष्टत्वात्, तत्रापि धर्मान्तरारोपाभ्युपगमे तादात्म्याभावस्य संसर्गाभावप्रवेशापत्तेः । न चैवमप्येष्टव्यमेव तथापि स्वरूपभेदग्रहे तत्राभेदस्य धर्मस्याप्यशक्यारोपत्वात् ॥१४॥

नहीं हो सकेगा, कारण कि एक देश अथवा काल में जो रहता है उसी का निषेध अन्य देश अथवा काल में होता है । सर्वथा असत् शशशृङ्ग का निषेध नहीं होता है ॥ १३ ॥

इति विषयविषयीभावखण्डनानुवाद ।

अथ भेद-खण्डनानुवाद

किंच भेद क्या वस्तु है—यह भी वक्तव्य है क्या स्वरूप ही भेद है । अन्योन्याभाव या वैधर्म्य भेद हैं ? इनमें प्रथम पक्ष को यदि मानें, तो अभेद भ्रम नहीं होगा, कारण कि स्वरूप ही भेद है और भेदग्रह अभेदभ्रम का विरोधी है और भ्रम भी स्वरूप को विषय करता ही है, यदि स्वरूप को विषय न करे, तो किसमें अभेद को विषय करेगा ।

समर्थन—परस्पर-सम्बन्ध-रहित भेद से विद्यमान दूरस्थ अनेक वृक्षदारुप्रभृति में एक का अभेद भ्रम नहीं होता है किन्तु नाना अवयव वाला जो अन्य अवयवी (वृक्ष, तत्त्व) का भ्रम होता है ।

खण्डन—जहां दूरत्व दोष से अनेक वृक्षों में एक वृक्षत्व का भ्रम होता है उस स्थल में दोष हमने नहीं दिया है किन्तु जहां भिन्न में "स एवायम्" ऐसा प्रत्यभिज्ञारूप भ्रम होता है उस उदाहरण में दोष दिये हैं ।

समर्थन—प्रत्यभिज्ञारूप भ्रम में भी तादात्म्यरूप धर्म का ही भ्रम होता है धर्मी के अभेद का नहीं होता है ।

खण्डन—यदि ऐसा मानें, तो अन्योन्याभाव का संसर्गाभाव में अन्तर्भाव हो जायगा, कारण कि "नायं चैत्रः" इस विशेष-दर्शन को यदि भेदविषयक मानें, तो धर्म्मारोप की इससे निवृत्ति नहीं होगी, अतः धर्म्मारोपवादी उक्त विशेष-दर्शन को अवश्य धर्म्म-संसर्गाभाव-विषयक मानेंगे । और आप अन्योन्याभाव का अस्वीकार नहीं कर सकते हैं, कारण कि उसीके निरूपण में प्रवृत्त हैं । किंच स्वरूपरूप भेद के ग्रह होने पर तादात्म्यरूप धर्म्म का भी आरोप नहीं हो सकता, कारण कि तादात्म्य भी अभेदरूप ही है और भेद-ग्रह होने पर अभेद-भ्रम नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

नापि द्वितीयः, प्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । प्रतियोगिरूपत्वेनाप्रतीतावधिकरण-प्रतीतिः, अधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्च तद्ग्रहणकारणमतः केतरेतराश्रय इति चेत्, मैवम्, एवं हि सति कुम्भः पटो न भवतीत्यत्र यथैव तस्याभावस्य प्रतियोगितया पटो निषिध्यते तथा कुम्भोऽपीति सोऽपि कुम्भात्मतया निषिद्धः प्रसज्येत ।

वस्तुतोऽन्योन्याभावस्य कुम्भप्रतियोगित्वेऽपि कुम्भस्यापटत्वनिरूपणकाले कुम्भस्य प्रतियोगिता नापेक्ष्यते किन्त्वाश्रयतैवेति कुम्भाप्रतिक्षेपः । पटस्य तु प्रतियोगितैवापेक्ष्यते नत्वाश्रयतेति कुम्भवत् पटस्यापि न सङ्ग्रहापत्तिः । यद्यप्यन्योन्याभावस्योभयप्रतियोगिता तथाप्यन्या कुम्भाश्रयता, अन्या पटाश्रयता, अन्या कुम्भप्रतियोगिता, तेनान्योन्याभावस्योभयप्रतियोगिकत्वे चोभयाश्रितत्वे च नोभयोरपि सङ्ग्रहप्रतिक्षेपविरोधापत्तिः । नापि च प्रतियोगित्वस्यानुयोगिनो भेदोपजीवनेऽन्योन्याश्रयोऽनुपजीवने च स्वस्मादपि भेदग्रहापत्तिः प्रसज्येत । यतः स्मर्यमाणस्य प्रतियोगिता अनुभूयमानस्य चाश्रयतेत्येतावन्मात्र एवोक्ते स्वस्मादपि भेदग्रहाना-

---

द्वितीय पक्ष में अन्योन्याश्रय हो जायगा, कारण कि प्रतियोगिस्वरूप से प्रतियोगी का ज्ञान अन्योन्याभाव के ज्ञान में कारण है, और अभावरूपत्व ही प्रतियोगित्व है अतः यावत् अभाव ज्ञान न हो तावत् अभावाभावत्वरूप प्रतियोगित्व का ज्ञान नहीं होगा।

समर्थन—प्रतियोगित्व से अप्रतीति के काल में अधिकरण की प्रतीति तथा अधिकरणत्वरूप से अस्मृति काल में प्रतियोगी की स्मृति अन्योन्याभाव के ग्रह में कारण है अतः अन्योन्याश्रय नहीं है।

खण्डन—ऐसा मानने पर "कुम्भः पटो न भवति" यहाँ जैसे उस अभाव के प्रतियोगित्वरूप से पट निषिद्ध होता है वैसे ही कुम्भ भी निषिद्ध होता है, अतः उस काल में कुम्भत्वरूप से कुम्भ का निषेध हो जायगा। वस्तुतः अन्योन्याभाव के कुम्भ में प्रतियोगित्व होने पर भी कुम्भ में पट के निषेध के काल में कुम्भ की प्रतियोगिता अपेक्षित नहीं है किन्तु आश्रयता ही अपेक्षित है, अतः उस काल में कुम्भ का निषेध नहीं होता है। और पट की प्रतियोगिता ही अपेक्षित है आश्रयता नहीं, अतः कुम्भ के तुल्य पट का अधिकरणरूप से संग्रह नहीं होता है।

समर्थन—यद्यपि अन्योन्याभाव के दोनों प्रतियोगी और दोनों अधिकरण हैं तथापि कुम्भनिष्ठ आश्रयता अन्य है, और पटनिष्ठ आश्रयता अन्य है, तथा कुम्भनिष्ठ प्रतियोगिता अन्य है, पटनिष्ठ प्रतियोगिता अन्य है—इससे दोनों के प्रतियोगित्व और आश्रयत्व होने पर भी दोनों का निषेध या संग्रह सर्वत्र नहीं होता है। किन्तु जिस काल में जिसमें प्रतियोगित्व की विवक्षा होती है उसका निषेध और अन्य का संग्रह होता है। यदि अनुयोगिनिष्ठ भेद—प्रतियोगित्व ज्ञान की अपेक्षा करता है, तो प्रतियोगित्व के अभावाभावरूप होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा, और यदि अपेक्षा नहीं करता है, तो स्व से स्व में भेदग्रह हो जायगा—यह शङ्का भी युक्त नहीं है, कारण कि स्मृति का विषय प्रतियोगी होता है, और अनुभव का विषय अधिकरण होता है—इस कथन से ही स्व में स्व के भेद का ग्रह नहीं होगा।

पत्तिः । नचैवं स एवायमित्यत्रापि भेदग्रहप्रसङ्गः, वास्तवतत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात् ॥ १५ ॥

मैवम्, तथाहि किमधिकरणप्रतीतिरधिकरणतया प्रतीतिः उत वस्तुगत्याऽधिकरणस्य स्वरूपेण विवक्षिता । आद्ये कीमीयाऽधिकरणतया पटादेः प्रतीतिस्तस्य कारणं स्यात् । न तावदन्योन्याभावाधिकरणतया दण्डाद्यप्रतीतौ दण्डाधिकरणताया इव तदप्रतीतौ तदधिकरणतायाः प्रत्येतुं पूर्वमशक्यत्वात् विशिष्टप्रतीत्या विशेषणस्यावश्योल्लेख्यत्वात् विशिष्टस्य च विशेषणघटितमूर्तित्वात् । नापि यस्य कस्यचिदधिकरणतया प्रतीतिस्तत्कारणं यत्र भिन्नेऽभेदभ्रमस्तत्र धर्मिणः सत्त्वाद्याधारतया प्रतीतावपि तदनुत्पत्तेः ।

न तन्मात्रात्तदुत्पत्तिः, अपि तु प्रतियोगिस्मृतिसहितात्, सा च तदा नास्तीति तदनुत्पत्तिरिति चेन्न, प्रतियोगिस्मृतिरपि किं प्रतियोगितया स्मृतिः, उत वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेणेति—विकल्प्यत्वात् । आद्ये किमन्योन्याभावप्रतियोगितया यस्य कस्यचित् प्रतियोगितया वा । नाद्यः, अन्योन्याभावाप्रतीतौ तदनुपपत्तेः पूर्ववत् । नापि

स एवायम्—यहाँ स्मृत-तच्छब्दार्थ-प्रतियोगिक भेदग्रह क्यों न हो—यह शङ्का भी युक्त नहीं है, कारण कि प्रतियोगी के स्मृत होने पर भी वास्तव भेद के न होने से भेद-प्रतीति नहीं होती है। अर्थात् वास्तविक भेद के सत्व असत्वकृत प्रतीति में विशेष होता है ॥१५॥

खण्डन—अधिकरण की प्रतीति से क्या अधिकरणत्वरूप से अधिकरण की प्रतीति विवक्षित है, अथवा वस्तुतः जो अधिकरण है, उसकी स्वरूप से प्रतीति विवक्षित है। आद्य पक्ष में किसकी अधिकरणता से पटादि की प्रतीति भेद-प्रत्यय का कारण है। अन्योन्याभाव की अधिकरणतारूप से अधिकरणता-प्रतीति तो कारण है नहीं, कारण कि दण्ड के अप्रतीतिकाल में दण्डाधिकरणता के तुल्य अभाव के अप्रतीतिकाल में अन्योन्याभाव की अधिकरणता की प्रतीति अशक्य है। विशिष्ट के विशेषण-घटित होने से विशिष्ट की प्रतीति में विशेषण का अवश्य उल्लेख होता है जिस किसी की अधिकरणतारूप से अधिकरण की प्रतीति भेदग्रह का कारण नहीं है, कारण कि जहाँ भिन्न में अभेद-भ्रम होता है वहाँ भी धर्मी की (सत्व के आधारत्वरूप से) प्रतीति है अतः भेद-प्रत्यय हो जायगा।

समर्थन—केवल अधिकरणत्वरूप से अधिकरण की प्रतीतिमात्र कारण नहीं है किन्तु प्रतियोगी की स्मृति से युक्त कारण है और भ्रमस्थल में प्रतियोगी की स्मृति नहीं है, अतः भेद-ग्रह नहीं होता है।

खण्डन—प्रतियोगी की स्मृति भी प्रतियोगित्वरूप से स्मृति वा वस्तुतः जो प्रतियोगी हो उसकी स्वरूप से स्मृति कारण है? आद्य पक्ष में अन्योन्याभाव के प्रतियोगित्वरूप से प्रतीति कारण है वा जिस किसी के प्रतियोगित्वरूप से प्रतीति कारण है? आद्य पक्ष में अन्योन्याभाव की अप्रतीति काल में अन्योन्याभाव की प्रतियोगितारूप से प्रतीति पूर्वोक्त प्रकार से हो नहीं सकती, फिर वह कारण कैसे हो सकती है। द्वितीय पक्ष भी युक्त

द्वितीयः, तस्य वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमविषयीकृतस्य स्वदेशेतरदेशादावसत्त्वेन प्रतीयमानत्वे स्वाभावप्रतियोगितया प्रतीतावन्योन्याभावप्रतीत्यनुपपत्तेः ॥१६॥

प्रतियोग्यनुभूतिः सा न स्मृतिरिति चेन्न, स्मृतित्वस्याप्रयोजकत्वात्। अन्यथाऽनुभूयमानयोरन्योन्याभावाप्रतीतिप्रसङ्गात्। अत्रान्तराले स्मृतिकल्पनया नान्योन्यात्मानाविमावित्यनुभवबाधितया प्रयोजकत्वेऽपि वा स्मृतित्वस्य योऽसौ तत्र नासीत् सोऽयमिति स्मर्यमाणाभावप्रतियोगिकत्वेऽपि वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमेणोल्लिख्यमानस्यान्योन्याभावप्रतीत्यनुदयात्। दोषाभावोऽपि हेतुः स भ्रमोदाहरणे नास्तीति चेन्न, पूर्वदृष्टे स्मृतिमतो वस्तुगत्याऽन्यस्यैवानन्तरदृष्टस्य पूर्वदृष्टात् भिन्नमभिन्नंवेत्यनिरूपितस्यापि सम्भवेन तत्रेतरेतराभावबुद्ध्यापत्तेः। बुद्ध्यत एवेति चेन्न, पश्चात्तत्संशयदर्शनात्। विशेषधीरपि तत्र हेतुरिति चेन्न, विशेषत्वस्यान्योन्याभावनिरूपणं विना दुर्निरूपत्वात्। एतेन वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेण स्मृतिः

नहीं है, कारण कि जिस काल में अन्य देश-(आपण) निष्ठ अभाव का प्रतियोगित्व-ग्रह है उस काल में वस्तुतः भिन्न में जो अभेद भ्रम होता है वहाँ भेद-ग्रह हो जायगा ॥१६॥

समर्थन—प्रतियोगी की स्मृति भेद-ग्रह का कारण है और यहां प्रतियोगी की अनुभूति है, स्मृति नहीं है, अतः भेद-ग्रह नहीं होता है।

खण्डन—"इमौ न अन्योन्यात्मानौ" इस स्थल में जहां प्रतियोगी का अनुभव है, स्मृति नहीं है। वहां भेद-ग्रह होने से उसमें प्रतियोगी की स्मृति प्रयोजक नहीं है। किंच "इमा न अन्योन्यात्मानौ" यहां अनुभव से बाधित होने से भेद-ग्रह में प्रतियोगी स्मृति के प्रयोजकत्व की कल्पना व्यर्थ है। किंच "योऽसौ तत्र नासीत् सोऽयम्" इस स्थल में जहां स्मृति विषय अभाव प्रतियोगी है वहां वस्तुतः भिन्न में अभिन्न-भ्रम होता है। और प्रतियोगी स्मृति के प्रयोजकत्व को मानें, तो उक्त स्थल में भेद-ग्रह हो जायगा।

समर्थन—भेदज्ञान में दोषाभाव भी हेतु है और वह अभेद-भ्रमस्थल में है नहीं, अतः वहां भेद-ग्रह नहीं होता है।

खण्डन—जहाँ पूर्वदृष्ट की स्मृति हो और उससे वस्तुतः भिन्न का ही अनन्तर प्रत्यक्ष हुआ हो परन्तु ,यह पूर्व दृष्टसे भिन्न है, या अभिन्न है—ऐसा निश्चय नहीं हो, वहां दोषाभाव भी है, अतः भेद-ग्रह हो जायगा। वहां भेद-ग्रह होता ही है—यह नहीं कह सकते, कारण कि पीछे संदेह देखा जाता है, यदि भेद का ग्रह होता तो संदेह कैसे होता।

समर्थन—भेद-ग्रह में विशेष का दर्शन भी कारण है, और अभेद भ्रमस्थल में विशेष का दर्शन है नहीं, अतः भेद-ग्रह नहीं होता है।

खण्डन—यावद् भेद का ज्ञान न हो तावत् विशेष का ज्ञान हो नहीं सकता, कारण कि व्यावृत्ति (इतर से भेद) के ज्ञान के जनकधर्म को ही विशेष कहते हैं।

समर्थन—वस्तुरूप से जो प्रतियोगी हो उसका स्वरूप से ज्ञान भेदज्ञान का कारण है तथा वस्तुतः जो अधिकरण हो उसका स्वरूप से ज्ञान भेद-ग्रह का सहकारी है अतः अन्योन्याश्रय नहीं है।

खण्डन—भिन्न भिन्न वृक्ष का जहां अभेद-भ्रम होता है, वहां भी भेद-ग्रह हो जायगा,

सहकारिणीत्येतदपि व्युदस्तम्। वस्तुगतयाऽधिकरणस्य स्वरूपेण प्रतीतिः सहकारिणीत्यपि, भिन्नस्याभिन्नतया वृक्षादेः प्रतीयमानस्यान्योन्याभाववत्तया ग्रहणप्रसङ्गात्॥ १७॥

नापि तृतीयः, अभावस्य निर्धर्मकतापक्षे तस्य विश्वाभिन्नत्वप्रसक्तौ विश्वस्याप्यभावरूपत्वेन निर्धर्मकतया धर्मलक्षणान्योन्याभावविरहिण ऐकरूप्यापत्तेः, अभावे धर्माभावात्। स्वरूपमेव भेद इति चेत्, योऽसौ भेदस्तस्य स्वात्मा स किं कस्मादपि भेद उत निष्प्रतियोगिक एव, न तावन्निष्प्रतियोगिक एव, प्रमाणाभावेनासत्त्वप्रसङ्गात्। योऽसौ भेदव्यवहारोऽस्ति स कस्मादपि न तु नीलव्यवहारवत् निष्प्रतियोगिकः स च निष्प्रतियोगिको नोपपद्यते, निष्प्रतियोगिकोऽपि वा यद्ययं सप्रतियोगिकव्यवहारं करोति प्रतियोगिनियमो न स्यादिति स्वस्मादपि भेदव्यवहारं कुर्यात्। स्वस्माद्भेदः कथं सम्भवतीति चेत्, तत् किं भिन्नाद्भेदः, नन्वेवमनवस्था स्यात्॥ १८॥

नापि प्रथमः, वक्तव्यं हि तद्यस्मादसौ भेदः, न तावत् सर्वस्मात्, स्वात्मनोऽपि भेदप्रसङ्गात्। नापि घटादेः, घटादिना सह तस्यावध्यवधिमद्भावो योऽसौ स ह्यर्थान्तरं

और होता नहीं है, अतः प्रतियोगित्व से प्रतियोगी के ज्ञानको कारण मानना चाहिये और प्रतियोगित्वरूप से प्रतियोगी के ज्ञान को कारण मानें, तो अन्योन्याश्रय हो जायगा॥ १७॥

भेद = वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) है—यह तृतीय कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि जो पण्डित अभाव में धर्म्म को नहीं मानते हैं, उनके मतमें अभाव (संसर्गाभाव अथवा भेद) विश्व से भिन्न नहीं होगा, किन्तु अभिन्न हो जायगा, और विश्व भी अभावरूप होने से धर्म्मरहित होने से धर्म्मरूप भेद से रहित है, अतः एकरूप हो जायगा।

समर्थन—अभाव में धर्म्म के न होने से स्वरूप लक्षण भेद भी रहता है।

खण्डन—जो अभाव का स्वरूप भेद है वह किसी प्रतियोगी से निरूपित भेद है, वा प्रतियोगी के निरूपण के विना? प्रतियोगी के निरूपण के विना भेद हो नहीं सकता। यदि भेद को निःप्रतियोगिक माने; तो प्रमाणाभाव से उसकी सिद्धि ही नहीं होगी, कारण कि जो भेद-व्यवहार होता है वह किसी से होता है। नीलपीत के तुल्य प्रतियोगी से रहित नहीं होता है अतः विना प्रतियोगी के भेद की उपपत्ति नहीं हो सकती। और यदि प्रतियोगी से रहित भी भेद से प्रतियोगी का व्यवहार करें, तो प्रतियोगी का नियम नहीं होगा अर्थात् स्व से स्व में भेद की प्रतीति होने लगेगी।

समर्थन—स्व में स्व के भेद का सम्भव कैसे होगा।

खण्डन— तो क्या भिन्न से भेद होता है, यदि भिन्न से भेद को मानें, तो अनवस्था हो जायगी। देखिये—जिस भेद से भिन्न है वह भेद भी अन्य भेद से भिन्न में ही रहेगा। एवं एक भेद से भिन्न में अन्य भेद के रहने से अनवस्था हो जायगी॥१८॥

वह भेद किसी प्रतियोगी की अपेक्षा से है—यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि जिसकी अपेक्षा से वह भेद हो उसको कहना चाहिये। सर्व की अपेक्षा से तो वह भेद है नहीं, कारण कि यदि सब की अपेक्षा से भेद को मानें, तो स्व में स्व का अन्तर्भाव होने से स्व से भी स्व का भेद हो जायगा। घटादि की अपेक्षा से सभी भेद अभाव नहीं है, कारण कि घटादि के साथ जो अभाव में अवधि अवधिमद्भाव सम्बन्ध है, वह अन्य पदार्थ है,

वा स्यात् स्वरूपमेव वा। आद्ये तस्यापि भेदावधित्वेन तत्राप्येवमनुयोगे यद्येतदेवोत्तरमनवस्था स्यात्। अथ तत्र स्वरूपमेव, तर्हि प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किन्निबन्धन इति प्रथमत एव स्वरूपं वाच्यं तदपि न, तथा हि—यदि घटादिभिः सार्द्धमवध्यवधिमद्भावसम्बन्धोऽस्य स्वरूपं प्रतियोगिना सार्द्धं तद्भावस्वरूपस्यास्य निषेध्यनिषेधभावलक्षणः सम्बन्धः स्वरूपं न स्यात्, स्वरूपस्यैकत्वात्। अनयोश्च सम्बन्धयोर्भिन्नत्वात्। न हि यदेव प्रतियोगिनः सकाशाद्भिन्नत्वं तदेव तन्निषेधत्वमितिसम्भवति ततो व्यतिरिक्तत्वस्यानिषेध्यसाधारणत्वात्। निषेध्यनिषेधभावस्य नियतवस्त्वपेक्षत्वादिति। एवं कार्यकारणभावादौ स्वभावसम्बन्धान्तरेऽपि वाच्यमूहनीयश्चाऽन्यत्रापि स्वरूपभेदे दोष एषः॥ १९॥

किञ्च धर्मान्तरं भेद इति ब्रुवतः कोऽभिसन्धिः, किं घटत्वादय एव भेद उत भेदो नामान्य एवैकः कश्चिद्धर्मः। आद्ये घटत्वादीनां सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गः, भेदस्य सप्रतियोगिकत्वात्। न च घटत्वादयस्तथा पटाद्यनपेक्षतयैव प्रतीतेः।

अथवा स्वरूप है, यदि उसको अन्य पदार्थ मानें, तो वह भी अभावनिष्ठ भेद का अवधि है अतः उसके साथ अवध्यवधिमद्भाव के भी अर्थान्तर होने से उत्तरोत्तर अवध्यवधिमद्भाव के स्वीकार से अनवस्था हो जायगी। और यदि वहाँ स्वरूप को ही सम्बन्ध मानें, तो प्रथम सम्बन्ध को स्वरूप मानने में क्या द्वेष है, जो कि उसको अर्थान्तर मानते हैं, प्रथम सम्बन्ध ही स्वरूप मानिये, और प्रथम सम्बन्ध को स्वरूप मान नहीं सकते हैं, कारण कि यदि घटादि के साथ अभाव में अवधिअवधिमद्भावरूप संबन्ध को स्वरूप मानें, तो योगी के साथ अभाव के निषेध्यनिषेधकभावरूप संबन्ध स्वरूप न कहावेगा, कारण कि स्वरूप एक है और ये दोनों सम्बध भिन्न २ हैं, जो प्रतियोगी से भिन्नत्व है वही प्रतियोगी का निषेधकत्व है—ऐसा सम्भव नहीं है उस घटादि से भिन्नत्व अनिषेध्य पटादि साधारण है और घटादि से निषेध्य निषेधभाव नियत वस्तु है इसी प्रकार से मृद्घट के कार्य्य-कारण भाव को स्वरूप मानें; तो मृद्घट का विशेष्यविशेषणभावरूप सम्बन्ध स्वरूप न कहावेगा कारण कि स्वरूप एक है और एक कार्य्यकारणभाव से अन्यत्र भी विशेष्यविशेषणभाव होने से दोनों सम्बन्ध भिन्न हैं इस दोष की अन्यत्र भी स्वरूपभेद में ऊहा करनी चाहिये॥१९॥

किञ्च धर्मान्तर भेद है—यह कहने वालों का क्या अभिप्राय है, क्या पटत्वादि भेद हैं अथवा अन्य ही एक कोई धर्म भेद है। आद्यपक्ष में भेद के सप्रतियोगिक होने से पटत्वादि भी सप्रतियोगिक हो जायेंगे। और पटत्वादिक सप्रतियोगिक है नहीं, कारण कि पटादि की अनपेक्षा से पटत्वादि की प्रतीति होती है।

समर्थन—जिस काल में पटत्वादि की—पटादि की अपेक्षा से प्रतीति होती है उस काल में घटत्वादि-भेद व्यवहार कराते हैं। और जिस काल में पटादि की अपेक्षा के विना पटत्वादि की प्रतीति होती है उस काल में घटत्वादि व्यवहार होता है।

खण्डन—प्रतीति में किसको पटादि की अपेक्षा है—यह कहना चाहिये, क्या पटत्वादि को वा घटत्वादिनिष्ठ किसी धर्म को। आद्यपक्ष में पटादि की अपेक्षा के विनाघट-

यदा पटाद्यपेक्षया प्रतीयन्ते तदा भेदव्यवहारं कुर्वन्तीति चेन्न, प्रतीतौ कस्य पटाद्यपेक्षेति वाच्यम्। किं घटत्वादेरुत धर्मस्य कस्यचित्। आद्ये पटापेक्षामन्तरेण घटत्वप्रतीत्यनुपपत्तिप्रसङ्गः। नहि यदन्तरेण यदुत्पद्यते तत्तत्कारणकं नाम? वह्नाविवावान्तरजातिभेदे कारणभेदस्य चरितार्थयितुमशक्यत्वात्। साक्षात्कारित्वादिना सह परापरभावानुपपत्तेः ॥ २० ॥

जात्योः परापरत्वसङ्करमिच्छतामपि मते पञ्चम्याऽवधिभावः प्रतिपाद्यमानः केन सममन्वियात्। घटत्वस्यावधिघटितत्वे तथैव परं प्रतीत्यापत्तेः। तद्धर्मस्य तथात्वमिति चेन्न। तथा हि—न द्वितीयः स एव सापेक्षप्रतिपत्तिर्भेदो न तु घटत्वादिः। घटत्वादेश्च स भेदः स्यात् तद्धर्मकत्वात्। घटादेस्तु भेदपर्य्यनुयोगे तदभिधानमसङ्गतम्। कथञ्च भिन्नैरनुगतव्यवहारः स्यात्। तथापि तथा सति वा किन्न तैरेव तदादिव्यवहारोऽपि स्यात्।

त्वादि की कदाचित् भी प्रतीति नहीं होगी। प्रतीति होती है, और पटादि की अपेक्षा के विना भी यदि पटत्वादि की प्रतीति को आप मानें, तो पटत्वादि में पटादि की अपेक्षा ही नहीं रही, कारण कि जिसकी अपेक्षा के विना जो उत्पन्न होता है उसमें वह कारण नहीं होता है।

समर्थन—वह पटत्वज्ञान विलक्षण है, जिसमें पटादिकी अपेक्षा है। अतः तृणअरणिमणि की कारणता जैसे वह्नि में विलक्षण जाति को मानकर व्यभिचरित नहीं होती है, वैसे ही पटत्वज्ञाननिष्ठ दो जाति होने से पटादि की अपेक्षा का व्यभिचार नहीं होगा।

खण्डन—तृणादि-कारणता वह्नि में प्रत्यक्ष है, अतः वहाँ विलक्षण जाति को मान कर व्यभिचारका निवारण युक्त ही है यहाँ घटत्वज्ञान में पटादिकी अपेक्षा प्रत्यक्ष नहीं है, अतः उससे ज्ञानगत जाति की कल्पना युक्त नहीं है।

किंच प्रत्यक्षत्व जाति पटादि-ज्ञानमें भी है और वहाँ पटत्व ज्ञानत्व नहीं है, और पटत्व-ज्ञानत्व अनुमित्यात्मक पटत्व-ज्ञान में भी है, वहाँ प्रत्यक्षत्व नहीं है और दोनों प्रत्यक्षात्मक पटत्व-ज्ञान में है, अतः सङ्कर दोष होने से पटत्व ज्ञानत्व जाति नहीं हो सकती ॥२०॥

किंच सङ्कर होने पर भी पटत्व ज्ञानत्व को जाति मान भी लें, तो पटात्—इस पंचमी से उक्त अवधित्व का अन्वय कहाँ होगा। घटत्व तो अवधि में साकाँक्ष है नहीं—यदि च अवधि में साकाँक्ष घटत्व को मान लें, तो सर्वदा अवधि की अपेक्षा से घटित ही घटत्वादि की प्रतीति होने लगेगी।

समर्थन—घटत्वादिका धर्म्म भेद है, और वही अवधि में सापेक्ष है।

खण्डन—यही द्वितीय कल्प है, यह भी युक्त नहीं है, कारण कि वही (सापेक्ष जिसकी प्रतीति है) भेद रहे और वह भेद घटत्वादि के धर्म्म होने से घटत्वादि का हुआ, अतः घटनिष्ठभेद के प्रश्न में उसका कथन असङ्गत है।

किंच यदि घटत्व-पटत्वादि प्रत्येकवृत्ति धर्म का भेद कहें, तो उस धर्म के एक एक निष्ठ होने से अनुगत भेद की बुद्धि वा व्यवहार कैसे होगा। यदि च सर्वत्र अनुगत भेद के न होने पर भी अनुगत भेदव्यवहार को मान लें, तो वैसे ही अनुगत गोत्वादि के विना भी अनुगत गवादिव्यवहार हो जायगा। फिर गोत्वादि जाति की कल्पना व्यर्थ है।

नापि द्वितीयः अनभ्युपगमात् । सप्तपदार्थानामनन्तर्भावप्रसङ्गात् स्वात्मनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेश्च । ईदृशाश्चोपाध्यालीढवैचित्र्याणां जात्या समर्थने सर्वोपाध्युपधानानां जात्यैव समर्थनं स्यात् ॥ २१ ॥

ननु घटत्वादय एव भेदा घटत्वादिज्ञानाविशेषेऽपि च प्रतियोगिज्ञानसहकारिवशाद्विचित्रव्यवहारोपपत्तिरिति चेन्न, व्यवहारसत्यत्वार्थं वास्तवानुगतविशेषस्यावश्यं स्वीकर्त्तव्यत्वे तथैव पर्य्यनुयोगानुवृत्तेः । अनन्तभेदपरम्पराभ्युपगमे च तत्क्रमज्ञेयतायां प्रतीत्यपर्य्यवसानात् । तद्युगपज्ज्ञेयतायामत्यन्तसदृशतया कस्यचिदन्यभेदस्यान्यदीयतयापि ग्रहणसम्भवादिना सर्वत्र प्रामाण्यानाश्वासप्रसङ्गात् । सर्वप्रतीतिनियमानङ्गीकारे

भेद एक कोई धर्म है—यह द्वितीय कल्प भी अयुक्त है, कारण कि वैसा धर्म अन्योन्याभाव ही हो सकता है। और अन्योन्याश्रय होने से उसका स्वीकार है नहीं। अन्योन्याभाव से भिन्न ऐसा कोई धर्म है नहीं, जो सप्त पदार्थ में रहता हो और भेद-व्यवहार के योग्य हो। यदि च विलक्षण ऐसे किसी धर्म को मान लें, तो उसका सप्तपदार्थ में अन्तर्भाव न होने से "सात ही पदार्थ हैं" यह वैशेषिकों का विभाग असङ्गत हो जायगा।

किंच वह विलक्षण धर्मरूप भेद स्व (भेद) में रहता है? यदि नहीं रहता है, तो वह भेद स्वाश्रय से भिन्न न हुआ किन्तु स्वाश्रयरूप ही हुआ, अतः भेद का अभाव हो जायगा। और यदि रहता है, तो वही भेद रहता है वा अन्य, यदि वही रहता है, तो आत्माश्रय हो जायगा। और यदि अन्य भेद रहता है, तो उस भेद में अन्य भेद, फिर उस में भी अन्य भेद—इस रीति से अनवस्था हो जायगी।

समर्थन—सप्तपदार्थ में वृत्ति भेद को जाति ही क्यों न मानें।

खण्डन—प्रतियोगित्व-अधिकरणत्व-आदिरूप उपाधि से जिसमें वैचित्र्य है ऐसे भेद को भी यदि जाति मानें, तो प्रमेयत्वादि को भी जाति ही मान लीजिये, फिर उपाधिमात्र का उच्छेद करिये॥२१॥

समर्थन—घटत्वआदि ही भेद हैं। घटत्वआदि के ज्ञान में विशेष न होने पर भी प्रतियोगी के ज्ञानरूप सहकारी की अपेक्षा से विचित्र व्यवहार होता है।

खण्डन—"घटः" इत्याकारक तथा "पटाद् भिन्नः घटः" इत्याकारक दो प्रकार का व्यवहार होता है। उस व्यवहार के सत्यत्व के लिये वास्तविक अर्थगत विशेष को अवश्य मानना चाहिये यदि अर्थगत विशेष को न मानें, तो दोनों में से एक व्यवहार असत्य हो जायगा। और अर्थगत विशेष को मान लें, तो वही भेद हुआ, घटत्वादि भेद न हुए।

यदि भेद को अनन्त मानें, तो वह भेद-परम्परा क्रम से ज्ञेय है वा एक काल में। यदि क्रम से ज्ञेय मानें, तो भेद के अनन्त होने से भेद-प्रतीति की समाप्ति नहीं होगी। यदि एक काल में ही सब भेद का ज्ञान मानें, तो सब भेद के सदृश होने से किससे कौन भिन्न है "यह इससे भिन्न है वा नहीं" ऐसा विपर्य्यय सन्देह के सर्वत्र सुलभ होने से भेद-ज्ञान के प्रामाण्य में अविश्वास हो जायगा।

समर्थन—तीन वा चार भेद का ग्रह होता है। भेद-परम्परा का ग्रह नहीं होता है।

खण्डन—ऐसा मानने पर जिस भेदका ग्रह न हुआ, उसका स्वाश्रय से अभेद होने पर मूल पर्य्यन्त अभेद हो जाने से भेद का अभाव हो जायगा।

चाप्रतीतसत्त्वे प्रमाणाभावात् । जिज्ञासायां तस्य तस्यापि ज्ञेयत्त्वे तद्बुद्धीनां भेदबुद्धि-त्वात्तदर्थेष्वनुगतत्वस्याप्यनुपपत्त्या तेष्वेकजात्याद्यभ्युपगमे तद्भेदेऽपि तदङ्गीकारे पर-स्पराश्रयाश्रयिभावप्रसङ्गात् । एवं सत्तादीनामानन्त्यस्वीकारे द्रष्टव्यम् ॥ २२ ॥

किञ्च घटत्वादेर्भेदत्त्वेऽवधिभूतपटत्वादिसापेक्षप्रतिपत्तिकतायां घटत्ववत् पटत्व-स्याऽपि भेदरूपस्य भेदावधिप्रतिपत्तिसापेक्षतयाऽवधेश्च घटत्वादित्वेन घटत्वादिप्रती-त्यपेक्षायामन्योन्याश्रयत्वप्रसङ्गः । भेदस्वरूपत्त्वे घटत्वादेरवध्यपेक्षा न तु स्वरूपमात्र-प्रतिपत्तौ स्वरूपमात्रेण चावधित्त्वं तत्कृत एवमिति चेन्न, भेदरूपता यदि तस्य स्वात्मैव तदा स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ नावध्यपेक्षेति शून्यं वचनम् । अथ धर्मान्तरं तदा स एव भेदोऽस्तु कृतं तद्वत्तया घटत्वादेर्भेदरूपतेति प्रक्रियाकल्पनया । अस्तु स एव धर्मा-न्तरं भेद इति चेन्न, दूष्यत्वात् । अथाऽपि स्वरूपादित्रयमिदं भेद इति कथं सङ्गच्छते

समर्थन—उस काल में ज्ञान न होने पर भी ज्ञान की इच्छा होने पर सब भेदज्ञान होते हैं, अतः भेद के भाव होने से मूलपर्य्यन्त अभेद नहीं होता है ।

खण्डन—उन सब भेद-बुद्धियों की भेद-बुद्धि होने से उनके विषयभेद में अनुगत एक धर्म्म को न मानने से एकाकार बुद्धि की असिद्धि से एक धर्म वा जाति को अवश्य मानेंगे । और उस जाति में भी भेद को मानेंगे और उस भेद में उस जाति को मानेंगे—इस रीति से परस्पर भेद और जाति में आधाराधेयभाव हो जायगा । इसी प्रकार से सत्ता में सत्ता को मानने में अनवस्था तथा उन सत्ताओं के क्रम से ज्ञेयत्व में प्रतीति का अपर्य्यव-सान और युगपद् ज्ञेय में सत्ताज्ञान में प्रामाण्य के अविश्वासआदि दोषों को जानना चाहिये ॥ ८२ ॥

किंच यदि घटत्वादि को भेदरूप मानें, तो पटत्वादि का ज्ञान (घटत्वादिरूप जो अवधि उसकी अपेक्षा से) होगा । और घटत्व के तुल्य पटत्व के भी भेदरूप होने से उस का ज्ञान भी (पटत्वरूप अवधि की प्रतिपत्ति की अपेक्षा से) होगा अतः भेदरूप होने से पटत्वादि अवधि को घटत्वत्वादिरूप से घटत्वादि की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा ।

समर्थन—घटत्वादि को जिस काल में भेदरूप मानते हैं, उस काल में अवधि की प्रती-ति की अपेक्षा होती है, और स्वरूप से घटत्वादि अवधि में सापेक्ष नहीं है । और स्वरूप से ही अवधि है, अतः अन्योन्याश्रय नहीं है ।

खण्डन—घटत्व का स्वरूप ही भेद है, तो यह कथन—कि स्वरूपमात्र की प्रतिपत्ति-काल में अवधि की अपेक्षा नहीं होती है-युक्ति से शून्य है ।

और यदि घटत्वादिनिष्ठ अन्य धर्म्म ही भेद है, घटत्वादिरूप भेद नहीं है—ऐसा कहें, तो उसी धर्म्म को भेद मानिये, उस धर्म्म के होने से घटत्वादि भेदरूप है इस प्रक्रिया की कल्पना व्यर्थ है । और वही धर्म्म भेद है यह [अन्योन्याश्रय दोष होने से] दूषित है ।

यावत् तीनों में अनुगतभेदस्वरूप अनुगत धर्म को न मानें, तावत् स्वरूप, वैधर्म्य अन्योन्याभाव-यथास्थान तीनों भेद हैं—यह कथन नहीं जचता । यदि च इन तीनों में अनुगत एक रूप के न होने पर भी एकाकार व्यवहार मान लें, तो अनुगत गोत्वादि न होने पर भी "गौः" इत्याकारक गोमात्र में एकाकार व्यवहार हो जाने से गोत्वादि जाति का स्वीकार

तद्व्यवहारस्यैकाकारस्य नानानिमित्तत्वे गोत्वाद्यनुगताकारप्रतीतेरपि कथमेकनिमित्तत्व-सिद्धौ प्रामाण्यं व्यभिचारात् । सामान्यविशेषैरेव परसामान्यबुद्धिव्यवहारोपपत्तौ तत्कल्पनानुपपत्तेः ॥ २३ ॥

किञ्च भेदे भेदान्तरमस्ति न वा, आद्येऽनवस्था, द्वितीये तदभाव एव स्यात्, धर्मिण्येव तत्प्रवेशात् । भेदस्वभावत्वात् स्वात्मन्यपि स्वयमेव तद्व्यवहारमयं करोति सत्त्वेव सद्व्यवहारमिति चेन्न, यदि स्वस्मादभिन्नः स्वभेद इति च स्वस्मादित्यवधेयावधिभाव-स्वरूपः स्वयं भेदोऽन्यस्माच्च स्वस्य तदाऽस्य भेदस्य स्वात्मप्रतियोगिकत्वेन स्वाश्रयत्वेन चाङ्गीकारे स्वस्मादपि स्वयं भिन्नः किं नाङ्गीक्रियते विरोधाभावात् । स्वीक्रियेताप्येवं यदि तथा प्रतीतिर्व्यवहारो वा स्यादिति चेन्न, अस्त्यपि शब्दाभासादेस्तथा प्रतीति-राभासशब्दव्यवहारश्च । सत्यौ प्रतीतिव्यवहारौ स्वीकारकारणं न च तौ स्वात्मन एव स्वस्माद्भेदविषयौ स्त इति चेन्न, स्वात्मा स्वस्यैवाधिकरणमवधिश्चेत्यपि तर्हि न सत्या प्रतीतिः सम्भवति न वा व्यवहारस्तत्कथमित्थमङ्गीकुरुषे ॥ २४ ॥

भी व्यर्थ है। एवंप्रकार से गोत्वअश्वत्वआदि अपर सामान्य से "द्रव्यम्" इत्याकारक अनुगत प्रीतीति के निर्वाह होने से द्रव्यत्वरूप पर जाति का तथा द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वरूप अपर सामान्य से "सन्" इत्याकार अनुगत प्रतीति होने से सत्तारूप पर सामान्य का स्वीकार व्यर्थ हो जायगा ॥ २३ ॥

किंच भेद में अन्य भेद रहता है या नहीं ? यदि रहता है, तो अनवस्था हो जायगी, और यदि नहीं रहता है, तो उसका धर्म के साथ भेद न होने से धर्मी में प्रवेश होने से अभाव हो जायगा।

समर्थन—भेद में भेद न होने पर भी स्वभाव से ही भेद—अपने में भेद-व्यवहार को करता है जैसे सत्ता में सत्ता के न होने पर भी "सत्" ऐसा व्यवहार होता है।

खण्डन—यदि ऐसा मानें, तो "स्वस्मात् अभिन्नो भेदः" "अन्यस्मात् स्वयं स्वस्य भेदः" इस प्रतीति के अनुरोध से वह भेद स्व का प्रतियोगी (अवधि) और स्व का आश्रय भी हुआ, फिर (घटादि) में भेद ही क्यों न माना जाय, कारण कि ऐसा मानने में कोई विरोध तो नहीं है।

अर्थात् "स्वस्मात् स्वस्य भेदः" इस प्रतीति को आप मानते हैं, और इससे अन्य कोई विरोध नहीं है।

समर्थन—ऐसा स्वीकार करते, यदि स्व से स्व में भेदावगाही व्यवहार या बुद्धि होती, व्यवहार या बुद्धि नहीं होती है, अतः स्व से स्व में भेद नहीं है।

खण्डन—शब्दाभासरूप व्यवहार तथा शब्दाभास से स्व से स्व में भेदबुद्धि भी होती है।

समर्थन—सत्य व्यवहार तथा बुद्धि, स्वीकार के कारण हैं और स्व से स्व में भेदाव-गाही सत्यबुद्धि या व्यवहार नहीं होता है अतः स्व से स्व में भेद सत्य सिद्ध नहीं होता।

खण्डन—तब तो भेद स्वयं स्व का अधिकरण है और भेद स्वयं स्व का प्रतियोगी है—ऐसी सत्य प्रतीति या व्यवहार नहीं होता है, फिर भेद को स्व (भेद) का अधिकरण तथा प्रतियोगी क्यों मानते हैं ॥ २४ ॥

ननु न वयं स्वात्मा स्वाधिकरणं स्वावधिर्वेत्यभ्युपगच्छामः किन्तु धर्मान्तरे तत्प्रतियोगिके तदाधारे वा स्वीकृते यौ बुद्धिव्यवहारावुपपद्येते तावनवस्थाभयाद्धर्मान्तरमन्तरेणैव स्वभावाद्भेदः करोतीति ब्रूम इति चेत्, तर्ह्यन्यत्र यादृशी प्रतीतिर्धर्मान्तरविषया तादृश्येवात्र विना धर्मान्तरमुत्पद्यत इति भ्रान्ता स्यात्। यस्य च स्वभावस्य बलेनेदृशी सा जायते स दोषः स्यात् यथा सत्यरजते रजतप्रतीती रजतत्वादुत्पन्नाऽन्यत्र विना रजतत्वं जायमाना भ्रान्ता सा भवति यस्य च सामर्थ्यात् सा तादृशी जायते स दोष इत्युच्यते। तत्र रजतत्त्वं नास्ति अत्र धर्मिरूपोऽपि भेद एव सन्नवलम्बनमिति चेत्, मैवम्। भिन्नप्रतीतिर्विशिष्टविषया भेदतदाश्रयरूपोभयवस्तुविषयाऽन्यत्र यादृशी सत्याऽङ्गीकृता ततो मात्रयाऽप्यन्यूनार्थाया इह जायमानाया यदि द्वय विषयं नाङ्गीकुरुषे तदा शक्रेणापि भ्रान्तत्वं दुर्वारम्। अथाङ्गीकुरुषे तदाऽनवस्थाप्रसङ्गः। अथ तदुभयविषयव्यतिरेकेणैव साऽत्र सत्याऽन्यत्र तर्हि इतोऽन्यादृशविषया मिथ्या स्यादित्यलं पल्लवेन।

यत्तु सत्तेवेत्युक्तं तत् कटकगवोदाहरणमनुहरति यतः सत्ताप्यमुना दूषणेनास्माभिः खण्डनीया ॥२५॥

समर्थन—भेद स्व (भेद) का अधिकरण और प्रतियोगी है—ऐसा हम नहीं मानते हैं, किन्तु यदि भेद में अन्य भेद को मान लें, तो उसमें जैसे भेदप्रतियोगिकत्व तथा भेदाश्रयत्व का व्यवहार वा बुद्धि होती है वैसे ही [अनवस्था के भय से स्व में अन्य भेद को न मान कर भी स्वभाव से ही] भेद भेद-व्यवहार करता है—ऐसा हम मानते हैं।

खण्डन—तब तो भेदविषयक बुद्धि जैसी अन्य स्थलमें होती है, वैसी ही बुद्धि भेद के विना यहां होती है, अतः वह बुद्धि भ्रम और जिस स्वभाव के बल से वैसी बुद्धि होती है वह स्वभाव दोष कहावेगा। जैसे सत्यरजत स्थल में रतजत्व के होने से रजत्वत्व-बुद्धि होती है वैसे ही यदि अन्यत्र रजतत्व के विना रजतत्व-बुद्धि भ्रम कहाती है। और जिसके बल से होती है, वह दोष कहाता है।

समर्थन—वहां रजतत्व नहीं है और यहां धर्म्मीरूप भेद विद्यमान ही अवलम्ब है अतः दोनों स्थलों में महान् भेद है।

खण्डन—भेद और भेदाश्रय को विषय करने वाली विशिष्टविषयक भिन्न बुद्धि अन्यत्र जैसे सत्य होती है उससे किञ्चित् न्यून विषयवाली यहां जायमान बुद्धि का विषय दोनों को न मानें, तो इन्द्र भी उस बुद्धि के भ्रान्तत्व का निवारण नहीं कर सकता। और यदि दोनों को विषय मान लें, तो अनवस्था हो जायगी। और यहां उभय के विषय न होने पर भी यदि उक्त बुद्धि को सत्य मानें, तो अन्यत्र जहाँ उभय विषय है वहाँ वह बुद्धि मिथ्या हो जायगी। बस, ईयन्मात्र ही खण्डन पूर्ण है, विस्तार व्यर्थ है। और आप जिस सत्ता का दृष्टान्त देते हैं, वह दृष्टान्त भी इसी युक्ति से खण्डित होने से शिविर के गौके सादृश्य का अनुकरण करता है। जैसे शिविर में बन्धन से रहित उन्मत्त वृषभ जहां दौड़ता हुआ जाता है वहां ही पीटा जाता है, वैसे ही यहां भी सत्ता को खण्डित ही जानिये ॥ २५ ॥

यत्पुनरभिधीयते किमेतैर्भेदखण्डनवादिभिरभिहितं भवति किं भेदज्ञानमेव नास्ति, सदपि नित्यमनित्यं, अनित्यमपि वा निर्हेतुकं, सहेतुकमपि वा निर्विषयं, सविषयमपि वा बाध्यमानविषयम्। तत्र प्रथमः सर्व्वतोविरोधादनुत्तरः। द्वितीयः सुषुप्त्यवस्थानुरोधादुपेक्षणीयः। तृतीयोऽपि विरोधाद्धेयः। चतुर्थस्तु भेदोल्लेखादेव त्याज्यः। पञ्चमश्चिन्त्यते। किमेतेष्वन्यतमो विषयः तदन्यो वा। द्वितीये किमेताभिर्व्यधिकरणानुपपत्तिभिस्तस्य बाध्यते एवं हि चौरापराधेन व्यक्तमयं माण्डव्यनिग्रहः। अथान्यतमात्मा, तत्रापि यदि धर्मान्तरमेवेति तत्त्वं तदाऽनवस्थाभिया तदधिकः प्रवाहस्त्यज्यताम् तस्य कुतस्त्यागः, नह्यनवस्था प्रतिभासमानमर्थं निवर्त्तयति किन्तु प्रवाहं परिहारयति गन्धे गन्धान्तरवत्। अथेतरेतराभावमेव भेदज्ञानमालम्बते तदाऽपि कात्माश्रयः तेन हि भेदज्ञानमेव न स्यात्। अस्ति च ततो हेत्वन्तरमाक्षिपेत् न तु स्वात्मनि स्वयमहेतुत्वे स्वयमेव निवर्तेत ॥२६॥

अविद्यावशादिति चेत् किञ्चातः न ह्यविद्येत्येवात्माश्रयनिवृत्तिः तथा सति घटादयोऽपि कुलालादिनिरपेक्षाः स्वयमेव भवेयुः। अथात्माश्रयादिदोषोपहततया

समर्थन—जो उदयनाचार्य कहते हैं कि भेद के खण्डन करने वाले का क्या अभिप्राय है। क्या भेद का ज्ञान ही नहीं होता है, अथवा भेद का ज्ञान तो होता है, परन्तु वह नित्य है, अथवा अनित्य भी हेतु से रहित है, अथवा सहेतु भी विषय से रहित है, वा सविषय भी बाधित-विषयक है। इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि यदि भेद-ज्ञान नहीं है, तो आपका भेद खण्डन तथा "भेदोनास्ति" इत्यादि सब प्रयोग असङ्गत हो जायगे। द्वितीय भी सुषुप्ति अवस्था के अनुरोध से त्याज्य है। अर्थात् जिस अवस्था में ज्ञान न हो, वह अवस्था सुषुप्ति है, और सुषुप्ति अनुभव सिद्ध है, अतः उसके अनुरोध से ज्ञान अनित्य है। अनित्य अवश्य हेतु से होता है इस अनुभव के विरोध से तृतीय पक्ष भी हेय है। भेद का उल्लेख अनुभव सिद्ध है अतः चतुर्थ पक्ष भी त्याज्य है। भेदज्ञान सविषय होता है परन्तु बाधित-विषय है—यह पञ्चम पक्ष विचारणीय है। क्या भेदज्ञान का स्वरूप, अन्योन्याभाव वैधर्म्य इन तीनों में एक विषय है या इनसे अन्य विषय है। यदि इनसे अन्य विषय है, तो इन स्वरूपादि के खण्डन की युक्तियों से उसका खण्डन क्या हुआ। ऐसा करने से चोर के अपराध में माण्डव्य को स्पष्ट दण्ड हुआ। और यदि स्वरूपादि में एक को विषय मानें, तो उनमें धर्मान्तर का यदि भेद मानें, तो अनवस्था के भय से उस प्रथम वैधर्म्य से अधिक वैधर्म्यपरम्परा का त्याग कीजिये। उस प्रथम वैधर्म्य का त्याग कैसे होगा, कारण कि अनवस्था अनुभव के विषय अर्थ की निवृत्ति नहीं करती है किन्तु प्रवाह को रोकती है। जैसे गन्ध में अन्य गन्ध का। और यदि भेदज्ञान अन्योन्याभावरूप भेद का अवलम्बन करे, तब भी आत्माश्रय कहाँ है। यदि आत्माश्रय हो, तो भेदज्ञान ही नहीं होगा और भेदज्ञान होता है, अतः आत्मा से अन्य हेतु की कल्पना करेगा, कारण कि उस के आत्मा में स्वयं हेतु नहीं होगा इससे स्वयं निवृत्त नहीं होगा ॥२६॥

खण्डन—अविद्या से भेद-ज्ञान होता है।

समर्थन—अविद्या से क्या होता है। अविद्या से आत्माश्रय की निवृत्ति तो होगी नहीं,

तन्न तस्यैव कारणं ततो यतः कुतश्चित्तस्य जन्म तच्च दुर्निरूपमतोऽविद्येत्युच्यते इति विचारार्थः ? नास्ति तर्हि विवादः। न च तदपि दुर्निरूपं, प्रतियोगित्वेन प्रतीतावधिकरणस्वभावत्वेनाधिकरणप्रतीतिः अधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्चेतरेतराभावग्रहणकारणमिति निरूपणात् ॥ २७ ॥

अथ स्वरूपमेव भेदप्रतिभासस्य विषय इति तत्त्वं, तथापि सहप्रयोग एवानुपपन्नः परिहीयतां भेदेन तु किमपराद्धम्। सोऽपि दृश्यत इति चेत् सत्यं, नैमित्तिकस्तु स्यात् न स्वरूपतः, नहि घटमानय पटमवलोकयेत्यादौ भेदपदमपि प्रेक्षावाननुपादत्ते व्याख्यायान्तु मूढप्रबोधनार्थं घटः कुम्भ इतिवत् सहप्रयोगेऽपि न दोषः ॥२८॥

तथापि कः परमार्थः ? यथायथं त्रयमपि, घटस्य हि घटाद्यात्मना प्रतीतिः अपटाद्यात्मना च प्रतीतिस्ततो वैशिष्ट्यप्रतीतिश्चेत्यनुभवसिद्धम्। तत्राभावस्य प्रथममात्रं, अभावान्तरधर्मान्तराभावात्। सामान्यादिषु त्रिषु द्वयं धर्मान्तराभावात्। द्रव्यादित्रिषु त्रयं त्रयस्यापि सम्भवात्। भवति हि पटोऽयं न घटः तन्तुमयश्चेति, गन्धोऽयं न

कारण कि यदि अविद्या से आत्माश्रय की निवृत्ति हो, तो अविद्या से घटादि भी कुलालादि की अपेक्षा के विना ही उत्पन्न होंगे, फिर कुलादि को घटादि का कारण क्यों मानें।

खण्डन—आत्माश्रय दोष होने से वह उसी का कारण नहीं होता है, किन्तु अन्य किसीसे जन्य होता है और उस कारण का निरूपण अशक्य है अतः उसको अविद्या कहते हैं—यह प्रश्न का आशय है।

समर्थन—तब तो कोई विवाद नहीं है और उसका कारण निरूपण भी अशक्य नहीं है, कारण कि प्रतियोगित्वरूप से प्रतियोगी के अप्रतीतिकाल में अधिकरणत्वरूप से अधिकरण का ज्ञान तथा अधिकरणत्वरूप से अधिकरण के अज्ञानकाल में प्रतियोगी की स्मृति अन्योन्योभाव के ग्रह का कारण है इस रीति से निरूपण हो सकता है ॥ २७ ॥

और यदि स्वरूपरूप भेद को ही भेद-ज्ञान का विषय मानें, तब भी "घटो भिन्नः" इस सहप्रयोग को—अनुपपन्न होने से—त्यागिये। भेद का क्या अपराध है कि उसका त्याग हो।

खण्डन—"घटो भिन्नः" ऐसा सहप्रयोग भी देखा जाता है, अतः उसका भी त्याग नहीं हो सकता।

समर्थन—सत्य है सहप्रयोग दीखता है परन्तु स्वभाव से नहीं किन्तु किसी निमित्त से, कारण कि—घटमानय पटमवलोकय, इत्यादि प्रयोगस्थल में कोई भी बुद्धिमान् "भिन्नं घटमानय" इत्यादि प्रायः नहीं कहता है। कहीं कहीं व्याख्यान काल में मूढ़ के ज्ञापन के अर्थ घटः कुम्भः—इसके तुल्य-घटः भिन्नः—ऐसा सहप्रयोग भी होता है वह सहप्रयोग दोष के लिये नहीं ॥ २८ ॥

प्रश्न—तब भी स्वरूपादि त्रय में युक्त कौन है।

उत्तर—यथास्थान तीनों ही युक्त हैं। घट की घटमृत्कार्यआदिरूप से प्रतीति होती है तथा अपटादिरूप से भी प्रतीति होती है, उस पट से वैधर्म्यरूप धर्म्म से भी प्रतीति होती है—यह अनुभव सिद्ध है। उन तीनों में से प्रथम (स्वरूप भेद अभावमात्र

रूपं सुरभिश्चेति, गतिरियं नोत्क्षेपणं तिर्य्यक् चेति । लक्षणन्तु स्वरूपभेदस्य ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः, इतरेतराभावस्य त्वबाधितः सामानाधिकरण्यो निषेधप्रत्ययः, वैधर्म्यस्य तु विरोधः स चैकधर्मसमावेश इत्येषा दिगिति ॥ २६ ॥

अत्रोच्यते तथा हि यत्तावत् पृष्टं किमेतेष्वन्यतमात्माऽस्य विषयः तदन्यो वेति तन्निर्वचनवादिनि शोभते, नास्मासु, प्रतिभासमानोऽयं भेदः स्वरूपादिपक्षान्तर्भावानन्तर्भावाभ्यां वा सदसत्त्वाभ्यां वा अन्येनापि धर्मेण येन केनचिन्निरुच्यमानोऽन्वयेन च व्यतिरेकेण वा बाध्यतामिति तेन सर्वेणानिर्वचनीय इति ब्रूमः । एतच्च न केवलं भेदस्यापि तर्हि जगत एव, अनिर्वचनीयवादश्चायं यथा तथोदितं प्राक् ॥३०॥

यदप्युक्तमथान्यतमेत्यादि गन्धे गन्धान्तरवदित्यन्तम् । तदपि न साधु । यया युक्त्यैकस्वीकारस्तयैव प्रवाहस्वीकारस्य दुर्वारत्वात् । तत्र यदि प्रवाहस्वीकारे तस्या असाधकत्वं स्वीक्रियते एकस्वीकारेऽपि स्यात्, अविशिष्टलक्षणत्वात् । अत एव प्रति-

---

में रहता है, कारण कि अभाव में अन्य अभाव तथा अन्य धर्म नहीं रहता है। सामान्य विशेष समवाय, इन तीनों में स्वरूपभेद और इतरेतराभाव दोनों रहते हैं, कारण कि इन में अन्य धर्म्म नहीं रहता है। द्रव्यादि तीनों में तीनों अभाव रहते हैं, कारण कि तीनों का सम्भव है, यह पट है घट नहीं है तन्तुमय है। यह गन्ध है-रूप नहीं है सुरभि है, यह गति है उत्क्षेपण नहीं है तिर्यक् है, ऐसी प्रतीति होती है। तादात्म्य की प्रतियोगित्वरूप से अप्रतीति-काल में जो प्रतीति उसका विषयस्वरूप भेद का लक्षण है। समानाधिकरण, अबाधित, निषेधप्रत्यय अन्योन्याभाव का लक्षण है। वैधर्म्य का विरोध लक्षण है और यह विरोध एक धर्मी में असमावेश है। यह भेद समर्थन की दिक् (इसारा) है ॥२६॥

खण्डन—अब समाधान करते हैं। श्रवण कीजिये—जो आप ने यह प्रश्न किया है कि भेद प्रतीति का स्वरूपादिरूप भेद वा अन्यरूप भेद विषय है। निर्वचन वादी से यह प्रश्न शोभता अनिर्वचन वादी से यह प्रश्न नहीं शोभता है। हमारे पक्ष में तो प्रतिभासमान भी यह भेद, स्वरूपादि पक्ष में अन्तर्भाव अनन्तर्भाव से वा सत्व असत्व से वा अन्य किसी धर्म्म से निरूपित बाधित होता है अतः उन रूपों से अनिर्वचनीय है ऐसा हम कहते हैं। यह अनिर्वचनीयत्व केवल भेद का ही नहीं है, अपि तु सम्पूर्ण जगत् का ही है। और यह अनिर्वचनीयतावाद जैसे सिद्ध होता है उस सिद्धिप्रकार को पीछे कह आये हैं ॥ ३० ॥

जो आपने अथ अन्यतमेत्यादि गन्धे गन्धान्तरवत् इत्यन्त कहा है यह भी अच्छा नहीं है, कारण कि जिस भेदप्रतीति की अन्यथानुपपत्तिरूप युक्ति से एक का स्वीकार आप करते हैं; उस ही युक्ति से प्रवाह का भी स्वीकार करना होगा। यदि भेद-प्रतीति की अयथानुपपत्तिरूप युक्ति—भेदप्रवाह का—असाधक हो, तो एक का भी असाधक होगा, कारण कि भेदप्रतीति की अन्यथानुपपत्ति जैसे एक में है वैसे ही प्रवाह में है दोनों स्थलों की युक्ति में कोई भेद नहीं है। प्रतिभासमान होने से एक का स्वीकार है, यह कथा भी अयुक्त है कारण कि प्रतिभासक युक्ति भी एक तथा प्रवाह दोनों स्थलों में एक सी है।

समर्थन—प्रथम भेद में जैसे—घटः पटो न, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है वैसे प्रवाह में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, अतः प्रवाह का स्वीकार नहीं है।

भासमानत्वादेकस्वीकार इत्यप्ययुक्तम्। एकप्रतिभासिकाया युक्तेः सर्वसाधारणत्वात्। नहि प्रत्यक्षादेव जायमानः प्रतिभासः प्रमाणं नानुमानादेरित्यत्र युक्तिरभ्युपगमो वा, नचानवस्थाप्रसञ्जिका युक्तिरनुमानादेरन्या नाम, तर्कस्यापि व्याप्तिमूलत्वं सर्वश्चानुमानच्छायामापद्य दूषणमपि प्रवर्तत इति भवतैव व्युत्पादनात् अतोऽनवस्थाप्रसञ्जिकाया युक्तेर्दोषो वा वक्तव्यः त्यक्तव्यो वा स्वपक्षः ॥३१॥

प्रवाहस्वीकारवदेकस्वीकारे नानवस्थेति चेत् तत्किमनवस्थाभावविशिष्टाया-स्तस्याः युक्तेः साधकत्वं मन्यसे, एवं तर्हि द्वितीयमात्रस्वीकारे नानवस्थेति द्वितीय-स्वीकारप्रसङ्गः। ओमिति चेत् परार्द्धपर्यन्तं प्रवाहस्वीकारं को वारयिता। नैतावन्मात्रेण तुष्यति भवान् परार्द्धादप्यधिकमेकादिकं किं नाभ्युपगम्यत इत्यपि भवता वक्तव्यमेव तथा च सैवानवस्थेति चेत् सत्यं तस्यास्तु भयात् कीदृशमभ्युपगम्यतामिति निपुणं मन्त्रयामहे। द्व्यादिकं परित्यज्यतामिति चेत्, एकस्मिन्नाम कीदृशोऽनुग्रहः येनानवस्था-प्रवाहनिवेशाविशेषेऽपि द्व्यादिकमुपेक्षितमेकन्तु रक्षितम्। द्वितीयमादायानवस्थेति चेत्

खण्डन—केवल प्रत्यक्ष से जायमान प्रतिभास ही प्रमाण है अनुमानादि से जायमान प्रतिभास प्रमाण नहीं है—इसमें आप किसी युक्ति या वचन को प्रमाण नहीं दे सकते हैं।

समर्थन—भेद प्रवाह में भी कोई युक्ति नहीं है। और कोई अनवस्था की प्रसंजक युक्ति भी तो वह अनुमान है इसमें प्रमाण नहीं है।

खण्डन—यदि भेद में अन्य भेद न हो तो वह प्राप्त भेद भी स्वाश्रय से अभिन्न हो कर नष्ट हो जायगा यह अभेद प्रवाह के स्वीकार की साधक-युक्ति भी अनुमानरूप ही है।

समर्थन—यह युक्ति तर्करूप है, अनुमानरूप नहीं।

खण्डन—तर्क का मूल भी व्याप्ति ही है अतः तर्क भी प्रमा का जनक है तथा तर्क का विपर्य्यय में पर्य्यवसान होता है और वह विपर्य्यय-पर्य्यवसान अनुमानरूप ही है। अनवस्थादि सब ही दूषण अनुमान की छाया से युक्त हो कर ही प्रवृत्त होते हैं यह आप का ही वचन है। अनवस्थाप्रसञ्जक युक्ति में दोष कहना चाहिये। अथवा प्रवाह के तुल्य एक का भी अस्वीकार करना चाहिये ॥ ३१ ॥

समर्थन—प्रवाह के स्वीकार के तुल्य एक के स्वीकार में अनवस्था नहीं है, अतः एक का स्वीकार करते हैं।

खण्डन—तो क्या अनवस्था के अभाव से विशिष्ट भेद-प्रतीति का अन्यथानुपपत्ति-रूप युक्ति-भेद साधक है। यदि ऐसा है, तो केवल द्वितीय के स्वीकार में भी अनवस्था नहीं है, अतः द्वितीय का स्वीकार भी करना चाहिये। यदि आप द्वितीय का भी स्वीकार कर लें, तो एवं तृतीय चतुर्थ के स्वीकार में अनवस्था के न होने से तृतीय चतुर्थ का भी स्वीकार करेंगे, फिर इसी प्रकार से परार्द्धपर्य्यन्त के स्वीकार का वारण कौन करेगा। किञ्च यदि परार्द्धपर्यंत से ही आप को संतोष न हुआ, तो परार्द्ध से भी अधिक का स्वीकार आप क्यों नहीं करेंगे, यह भी आप को कहना चाहिये। यदि कहें कि ऐसा मानने में वही अनवस्था होगी, अतः ऐसा नहीं मानते तो सत्य है परन्तु उस अनवस्था के भय से कैसा मानना चाहिये, इस बात को हम दोनों पूर्णरूप से विचारें।

द्वितीयेऽपि यदि भवतोऽनुग्रहः स्यात् तृतीयमादायानवस्थेत्यभिधाय सोऽपि रक्षितः स्यात् तावेतौ भवतो रागद्वेषौ निःश्रेयसाय यतमानस्य मानसमास्कन्दमानौ न कल्याणोदर्कौ तर्कयामि। गन्धे गन्धान्तरप्रसञ्जिका न च युक्तिरस्ति, तदस्तित्वे वा का नो हानिः तस्या अप्यस्माभिः खण्डनीयत्वात् ॥३२॥

यदप्यथेतरेत्यादि निरूपणादित्यन्तं तदप्ययुक्तम्। तथाहि—इतरेतराभावज्ञानं भेदव्यवहारहेतुं मन्यते यस्तस्य पक्षो नोपपन्न आत्माश्रयप्रसङ्गादित्येवं ब्रुवाणस्य न किञ्चिद्बाधकमुक्तं स्यात्प्रतियोगिरूपत्वेनेत्यादिसमाधानं च प्रागेव दूषितम्। अथ स्वरूपमेवेत्यादि न दोष इत्यन्तं यदुक्तं तदप्यस्मदुक्तदोषदूषणमित्युपेक्षितम्। यदपि तथाऽपि कः इत्यादि तिर्यक् चेत्यन्तं तदपि गर्तवर्तिगोधामांसविभजनन्यायमनुहरति पक्षत्रयस्याऽप्युक्तयुक्त्याऽऽच्छादितस्य दर्शयितुमशक्यत्वेन तद्विभागव्यवस्थितेरवसरनिरस्तत्वात् ॥३३॥

समर्थन—अनवस्था के भय से द्वितीयआदि को त्यागना चाहिये।

खण्डन—एक में आप का कैसा अनुराग है जिससे अनवस्था के प्रवाह के विनेश में भेद न होने पर भी द्वितीयआदि की उपेक्षा करते हैं, और एक की रक्षा करते हैं।

समर्थन—प्रथममात्र के स्वीकार में अनवस्था नहीं है और द्वितीयआदि के स्वीकार में अनवस्था है।

खण्डन—यदि द्वितीय में भी आपका अनुग्रह हो, तो तृतीय के स्वीकार में अनवस्था है—ऐसा कह कर द्वितीय की भी रक्षा करेंगे। मोक्ष के लिये यत्नकर्ता आपके ये राग द्वेष कल्याण के कारण नहीं हैं—ऐसा हम अनुमान करते हैं। आपने दृष्टान्त दिया है कि अनवस्था से जैसे गन्ध में अन्य गन्ध नहीं होता है इत्यादि सो युक्त नहीं है, कारण कि गन्ध में अन्य गन्ध का साधक कोई युक्ति नहीं है। यदि युक्ति हो, तो हानि ही क्या है—उक्त प्रकार से अनवस्था के भय से गन्ध में गन्ध के तुल्य प्रथम गन्ध भी सिद्ध नहीं होगा यह दोष अनिर्वचनवादी के ऊपर आप दे नहीं सकते, कारण कि इसी अनवस्थारूप युक्ति से प्रथम गन्ध का भी हम खण्डन कर सकते हैं ॥३२॥

आपने "इतरेतराभावआदि निरूपणात् इत्यन्त" जो कुछ कहा है वह भी अयुक्त है। देखिये—इतरेतराभाव, भेद-व्यवहार का हेतु है इस कथन के कर्त्ता का पक्ष आत्माश्रय होने से अयुक्त है, इस कथन में कोई बाधकयुक्ति आपने नहीं दी है। प्रतियोगित्वरूप से प्रतियोगी के अस्मृति-काल में अधिकरणत्वरूप से अधिकरण की प्रतीति तथा अधिकरणत्वरूप से अधिकरण की अप्रतीति-काल में प्रतियोगित्वरूप से प्रतियोगी की स्मृति, भेदज्ञान में कारण है, अतः आत्माश्रय नहीं है, इस युक्ति का खण्डन पूर्व कर आये हैं।

अथ स्वरूप एव इत्यादि न दोष इत्यन्त जो कहा है वह भी दोष का दूषण नहीं है अतः उसकी उपेक्षा करते हैं। तथापि कः परमार्थः इत्यादि तिर्य्यक् इत्यन्त जो ग्रन्थ है यह भी व्याधों के बिल में स्थित गोधा के मांस विभाग-नीति के सदृश है। और प्रतीति होती है अतः उक्त लक्षण यहां है, कारण कि उक्त युक्तियों से तीनों प्रकार के भेद खण्डित हैं अतः उन भेदों को आप दिखा नहीं सकते अतः उनके विभाग का खण्डन अवसर प्राप्त नहीं है ॥ ३३ ॥

यच्च स्वरूपभेदस्य लक्षणमुक्तं ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिरिति तदप्यवद्यम्। यदेकमेव वस्तु भ्रान्त्या भिन्नमिति प्रतीयते तत्र ताद्रूप्येणैकस्यैकरूपतया प्रतीतिर्नास्ति अस्ति च प्रतीति र्न च स्वरूपभेद इत्यतिव्याप्तिः। ताद्रूप्येणेत्यस्य धर्मान्तररूपभेदासङ्कीर्णोदाहरणार्थत्वात् प्रतीतिरभ्रान्ता विवक्षितेति चेत् स्वरूपप्रतीतेस्तत्राप्यभ्रान्तत्वात्। यच्च स्वरूपमात्रेण प्रतीयते वस्तु न तत्ताद्रूप्येणैकरूप्येण नच नानात्मतया वस्तुगत्या चैकमेव तत् तत्रापि स्वरूपलक्षणो भेदः स्यात्।

नास्त्येवेदृशमुदाहरणं ताद्रूप्याताद्रूप्याभ्यामेकस्यावश्यं प्रतीतेरिति चेन्न, प्रतीतिकलहानवकाशात्। भवति हि यत्त्वया तत्र दृष्टं तत् किमेकमनेकं वेत्यनुयुक्तो नायं विशेषो मया शङ्कितो जिज्ञासितो वा,स्वरूपमात्रन्तु प्रतीत्याहमुदासीनोऽभूवमित्यभिधत्त इति॥ ३४॥

ननु तदपि स्वरूपं भेद एव कस्मादपि, तत् कथमुक्तदोषावतार इति। मैवम्, एवं हि ताद्रूप्येणाप्रतीताविति व्यर्थं स्यात्। प्रतीतिमात्रं लक्षणं वक्तव्यम्। यत्प्रमेयं

जो स्वरूप-भेद का ताद्रूप्य से अप्रतीति-काल में प्रतीतिरूप लक्षण किया है, वह भी सदोष है। देखिये—जो चन्द्र एक वस्तुरूप है और भ्रान्ति से दो प्रतीत होता है वहाँ ताद्रूप्य (एकरूप) से प्रतीति नहीं है, अतः वह स्वरूप भेद नहीं है, वहां अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—ताद्रूप्य शब्द वैधर्म्य अन्योन्याभाव इन दो भेदों से असंकीर्ण उदाहरण के प्रदर्शन के अर्थ है। और लक्षण घटक प्रतीति यथार्थ विवक्षित है, अतः अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डन—स्वरूप की प्रतीति वहां भी यथार्थ ही है। किञ्च जो वस्तु स्वरूपमात्र से प्रतीत हो एकत्वरूप से तथा नानारूप से प्रतीत न हो और वस्तुतः एकरूप हो वहाँ भी स्वरूप-भेद हो जायगा। ऐसा उदाहरण नहीं है, कारण कि ताद्रूप्य अताद्रूप्य दोनों में एकरूप से अवश्य प्रतीति होती है अतः ऐसी प्रतीति नहीं होती है इस कलह का अवकाश नहीं है, कारण कि जो तुमने देखा है वह एक है वा अनेक है—ऐसा प्रश्न होने पर इस विशेष विषय में मुझे न तो शङ्का हुई, न जिज्ञासा, केवल स्वरूप को देखकर ही मैं उदासीन हो गया था—ऐसा उत्तर कहा जाता है॥३४॥

समर्थन—वह भी स्वरूप किसी से भिन्न ही है अतः लक्ष्य होने से लक्षण का जाना भूषण ही है।

खण्डन—यदि ऐसा है, तो प्रतीतिमात्र को ही लक्षण कहिये। ताद्रूप्य से अप्रतीति विशेषण व्यर्थ है, कारण कि जो प्रमेय है वह अवश्य किसी से भिन्न है, अतः प्रमेयमात्र लक्ष्य ही है स्व से स्व में भेद व्यवहार न हो इसलिए ताद्रूप्य से अप्रतीति यह विशेषण है और वह विशेषण उक्त दोष से खण्डित है।

समर्थन—लक्षण-घटक ताद्रूप्य के एक देश तद्‌शब्द से स्वरूप-भेद से अन्य के परामर्श होने से स्वरूप-भेद से अन्यत्वरूप से अप्रतीति काल में जो प्रतीति वह स्वरूपरूप भेद है।

खण्डन—इस लक्षण के घटक अन्य शब्द से यदि स्वरूपभेद का ग्रहण करें, तो स्वरूप-भेद के लक्षण में स्वरूप-भेद के प्रवेश होने से आत्माश्रय हो जायगा। जैसे अन्य

तत् कस्मादप्यवश्यं भिन्नमिति एकस्यैव स्वस्माद्भेदमसङ्गनिराकरणार्थमपि ताद्रूप्येणाप्रतीतावित्युक्तं तच्च खण्डितमिति। ताद्रूप्यमन्यरूपत्वं विवक्षितमिति चेन्न, तदा हि तदाऽनुपस्थापितपरामर्शवत् अन्यत्वस्य स्वरूपभेदत्वे आत्माश्रयः सर्व्वस्वरूपाणां लक्ष्यत्वात् अन्योन्याभावत्वे चान्योन्याश्रयः वैधर्म्ये च चक्रकम् ॥ ३५ ॥

यदपीतरेतराभावस्य लक्षणमबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः। एतदप्यशोभनम्। समानाधिकरण इत्यादि भाषायाः कथं कथमपि तात्पर्यगवेषणेऽपि समानाधिकरणो यो निषेधस्तत्प्रत्ययविषयोऽन्योन्याभाव इति पर्यवसाने समानाधिकरण इति किं तुल्याश्रय, उतैकाश्रय, उत तादात्म्यप्रतियोगिक, उताधिकरणभूतपदार्थवाचिशब्दविशेषणविशेष्यभावव्यवस्थितपदाभिधेय उतान्यदेव।

तत्र न प्रथमः, तुहिनमयूखे प्रियामुखे च न दूषणकणस्यापि सम्भव इति प्रत्ययस्यापि दर्शनात्। तत्र मुखचन्द्रयोरन्योन्याभावोऽस्तीति चेन्न, तस्य सत्त्वेऽप्युक्त-

---

शब्द से अनुपस्थापित अन्यत्व का ताद्रूप्य घटक तद्शब्द के परामर्श से आत्माश्रय होता है। लक्षण घटक अन्य स्वरूप-भेद है और लक्ष्य अन्य है यह भी नहीं कह सकते हैं, कारण कि स्वरूप-भेदमात्र लक्ष्य है। यदि च लक्षण में अन्य शब्द अन्योन्याभाव परक मानें, तो अन्योन्याभाव से स्वरूप-भेद का और स्वरूपभेद के प्रतियोगीरूप होने से स्वरूपभेद से अन्योन्याभाव के ज्ञान होने से अन्योन्यश्रय हो जायगा। यदि लक्षण में वैधर्म्यरूप भेद का प्रवेश करें, तो तदन्योन्याभाव समानाधिकरण धर्म्म ही तद्वैधर्म्य है अतः अन्योन्याभाव से वैधर्म्य का और वैधर्म्य से स्वरूप-भेद का और स्वरूपभेद में अन्योन्याभाव के निरूपण होने से चक्रक हो जायगा ॥ ३५ ॥

जो इतरेतराभाव का अबाधित समानाधिकरण निषेधप्रत्ययरूप लक्षण है—यह भी शोभन नहीं है। समानाधिकरण इस शब्द का किसी प्रकार से अभिप्राय के अन्वेषण होने पर समानाधिकरण जो निषेध उसकी प्रतीति का विषय अन्योन्याभाव है—ऐसा लक्षणार्थ निश्चित होता है। उसमें समानाधिकरण शब्द का तुल्याश्रय अर्थ है, अथवा एकाश्रय अर्थ है, अथवा तादात्म्य प्रतियोगिक अर्थ है, अथवा अधिकरणभूत जो पदार्थ तद्वाचक शब्द के विशेष्य-विशेषणभाव से स्थित पद का अभिधेय अर्थ है, अथवा अन्य ही कुछ अर्थ है। उनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि "चन्द्रे स्त्री मुखे च दोषकणोपि नास्ति" इस प्रतीति के विषय अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति हो जायगी। वहां मुखचन्द्र में परस्पर भेद ही है अतः यह लक्ष्य है—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि मुख चन्द्र का भेद "चन्द्रे मुखे च दोषकणोपि नास्ति" इस प्रतीति का विषय नहीं है।

समर्थन—चन्द्रे मुखेच दोषकणोपिनास्ति—इस प्रतीति का विषय भेद न हो हानि क्या है, कारण कि अन्योन्याभाव का यह लक्षण है वह लक्षण "मुखं न चन्द्रः" इस प्रतीति का ग्रहण कर उक्त भेद में समन्वित होने से दुष्ट नहीं है।

खण्डन—कैसा यह लक्षण है। समानाधिकरण जो निषेध तत् प्रतीतिविषय अन्योन्याभाव है यह लक्षण तो "चन्द्रे मुखे च दोषकणोपि नास्ति" इस प्रतीति के विषय अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्त होने से असङ्गत है। और उक्त प्रतीति का विषय ही अन्योन्याभाव है यह लक्षण भी उक्त प्रतीति के अविषय अन्योन्याभाव में अव्याप्त होने से असङ्गत है। समानाधिकरण

प्रत्ययस्य तदविषयत्वात्। मास्तु तद्विषयो लक्षणं त्वस्यैतच्च तदविषयत्वेऽप्यदुष्टमिति चेत् कीदृशं तर्हीदं लक्षणं न तावत्समानाधिकरणो यो निषेधस्तत्प्रत्ययो यस्तस्य यो विषयः सोऽन्योन्याभाव इति नापि स एवान्योन्याभाव इति, नापि यत्र समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययस्तत्र योऽस्ति सोऽन्योन्याभाव इत्यस्तु तद्धर्मस्य सर्वस्यान्योन्याभावत्वापातात् समानाधिकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। एतेनैकमुदाहरणमादाय द्वितीयोऽपि निरस्तः॥ ३६॥

नापि तृतीयः, तादात्म्यप्रतिसन्धानव्यनतिरेकेण तत्प्रतियोगिकत्वस्य प्रत्येतुमशक्यतया तन्निर्वचनप्रसङ्गात् तच्चाशक्यं तथा हि तदेकत्वं वा भेदाभावो वा, स्वरूपन्तु सम्भावितं तस्य भेदलोपगमात् तस्मिन् दृष्टेऽपि तन्न वेति तादात्म्यसंशयानवकाशापत्तेः। आद्येऽपि संख्याविशेषो वा धर्मान्तरं वा।

नाद्यः गुणादौ तदभावप्रसङ्गात्। प्रथमे क्षणे कार्य्यद्रव्यस्यैकस्यापि स्वातादात्म्यप्रसङ्गात्। वैशेषिकमते व्युत्थाने चैकत्वे तदभावप्रसङ्गात्। उपाधिभिन्नावलम्बि च

शब्द का क्या अर्थ है—इस विकल्प की अनुपपत्ति से भी असङ्गत है। समानाधिकरण निषेध प्रत्यय जिसमें हो उसका धर्म्म अन्योन्याभाव है, यह भी लक्षण युक्त नहीं, कारण कि पटादिनिष्ठ धर्म्म-मात्र अन्योन्याभाव हो जायगा। किञ्च पटनिष्ठ अत्यन्ताभाव में समन्वय होने से उसकी व्यावृत्ति के अर्थ उपात्त समानाधिकरण पद व्यर्थ हो जायगा। समानाधिकरण पद का एकाश्रय अर्थ है—यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि "चन्द्रे दोषकणोऽपि नास्ति" इस प्रतीति के विषय अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति हो जायगी॥ ३६॥

तादात्म्य है प्रतियोगी जिसका, वह अन्योन्याभाव है—यह तृतीय कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि तादात्म्य का यावत् ज्ञान न हो तावत् तत्प्रतियोगिक अभाव का ज्ञान अशक्य है, अतः तादात्म्य का निर्वचन करना होगा और उसका निर्वचन अशक्य है। देखिये—तादात्म्य एकत्व है? अथवा भेदाऽभाव है। स्वरूपरूप तो तादात्म्य हो नहीं सकता, कारण कि स्वरूप भेद है और तादात्म्य भेद का अभावरूप है। किंच यदि तादात्म्य को स्वरूपरूप मानें, तो स्वरूप के प्रत्यक्ष होने पर "तत्नवा" ऐसा तादात्म्य का भ्रम नहीं होना चाहिये। एकत्वरूप तादात्म्य है इस प्रथम कल्प में वह एकत्व संख्यारूप है वा अन्य धर्म्मरूप है? संख्यारूप नहीं है, कारण कि "गुणे गुणानङ्गीकारः" इस सिद्धान्त के अनुसार गुणमें तादात्म्य का अभाव हो जायगा। प्रथम क्षण में एक कार्य द्रव्य में भी स्व का अतादात्म्य हो जायगा यदि "गुणे गुणानङ्गीकारः" इस वैशेषिक सिद्धान्त को न भी मानें तब भी अनवस्था दोष के भय से एकत्व में एकत्व के न होने से एकत्व में तादात्म्य का अभाव हो जायगा। किंच भिन्न भिन्न धर्म्मों में स्थित नानारूप तादात्म्य का—एकत्व में एक अनुगमकरूप न होने से स्वरूपमात्र के प्रतिपादक एकत्व शब्द से—कथन कैसे होगा, कारण कि एकत्व की प्रतिपत्ति अनुगमक एकरूप न होने से भिन्नभिन्नविषयक है एकत्वधर्म्मरूप है—यह द्वितीय कल्प भी अयुक्त है, कारण कि धर्म्म में धर्म्म को मानें, तो अनवस्था हो जायगी। और धर्म्म में धर्म्म को न मानें तो उस धर्म्म का अतादात्म्य हो जायगा। भेद का अभावरूप तादात्म्य है—यह द्वितीय कल्प भी अयुक्त है, कारण कि भेद का अभाव होता हुआ भी

तादात्म्यं कथं स्वरूपमात्रावलम्बेनैकलोकर्त्तुं शक्यं विचित्रप्रतिपत्तिकत्वात् । नापि द्वितीयः, तस्यापि धर्मान्तरापेक्षयानवस्थापातात् अनपेक्षायां स्वातादात्म्यप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः, स हि भेदस्याभावो भवन्नप्यन्योन्याभावस्यैव स्यात् अन्योन्याभावस्य च तत्प्रतिक्षेपात्मकत्वात् तेनाप्यन्योन्याभावप्रतिक्षेपात्मना भवितव्यं परस्परप्रतिक्षेपात्मत्वान्निषेध्यनिषेधयोः तथा च सत्यन्योन्याभावप्रतीतिमन्तरेण तन्निरूपणमशक्यं निषेध्यप्रतीतिसापेक्षत्वान्निषेधबुद्धेरित्यन्योन्याश्रयः ॥ ३७ ॥

नापि तुरीयः, निर्घटं भूतलमित्यत्रापि प्रसङ्गात् । नापि पञ्चमः, समानाधिकरण इति प्रतियोगिसमानाधिकरणो विवक्षितस्तादृशश्च निषेधोऽन्योन्याभावः तत्प्रत्ययश्च तल्लक्षणमित्यस्याप्ययुक्तत्वात् । भावसमानाधिकरणस्यान्योन्याभावस्य कुम्भः पटत्वं न भवतीत्यादेरव्यापनात् । तज्जातीयेतथात्वञ्च यं विशेषमन्योन्याभावगतमादाय स्यात्तदेव लक्षणीभवनसमर्थमुपजीव्यमानमस्य लक्षणस्योपन्यासं प्रत्यादिशति । न च तदपि सम्भवत्यन्योन्याभावसंसर्गाभावभेदखण्डनप्रस्तावे निरस्तत्वात् । प्रकारान्तरस्य चाऽसम्भवात् ।

तादात्म्य स्वरूपरूप वा वैधर्म्यरूप भेद का अभावरूप नहीं है किन्तु अन्योन्याभावरूप भेद का ही अभावरूप है। कारण कि अन्योन्याभाव तादात्म्य का निषेधरूप है। इस कारण से तादात्म्य भी अन्योन्याभाव का निषेधरूप है, कारण कि निषेध्य निषेध दोनों परस्पर प्रतिक्षेपरूप होते हैं। तब तो अन्योन्याभाव की प्रतीति के बिना तादात्म्य का ज्ञान अशक्य है, कारण कि निषेध्यबुद्धि की अपेक्षा कर निषेधबुद्धि होती है, अतः अन्योन्याश्रय हो जायगा ॥ ३७ ॥

अधिकरणभूत अर्थ के वाचक पद के साथ विशेष्य-विशेषणभाव से व्यवस्थित पद का अभिधेय अन्योन्याभाव है—यह चतुर्थकल्प भी "निर्घटं भूतलम्" इस प्रतीति से सिद्ध अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति होने से असङ्गत है। पञ्चमकल्प भी असङ्गत है। देखिये—यदि प्रतियोगी से समानाधिकरण विवक्षित हो, तो प्रतियोगी से समानधिकरण जो निषेध तत्प्रतीति लक्षण हुआ—वह असङ्गत है, कारण कि प्रतियोगी के असमानाधिकरण "कुम्भःपटत्वन्नभवति" इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अन्योन्याभाव में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—प्रतियोगी का समानाधिकरण जो निषेध तत्प्रतीति-विषयवृत्ति जातीयत्व अन्योन्याभाव है।

खण्डन—अन्योन्याभाव में स्थित जिस धर्म्म का ग्रहण कर उक्त लक्षण को करेंगे। उपजीव्य होने से वह धर्म ही लक्षण युक्त है, अतः यह लक्षण ही उक्त लक्षण का प्रत्याख्यान करेगा। अन्योन्याभाव संसर्गाभाव के भेद के खण्डन के प्रस्ताव में खण्डित होने से अन्योन्याभावनिष्ठ वैसे धर्म्म का सम्भव भी नहीं है।

समर्थन—"पटः पटत्वं न" "घटः पटत्वं न" इन दो प्रतीतियों के विषयभेद प्रतियोगी के एक होने से एक ही है और वह भेद कहीं पट में प्रतियोगी से समानधिकरण है, अतः समन्वय होने से यह लक्षण युक्त ही है।

नच पटत्वं न भवतीत्ययमेवाभावः घटः पटत्वं न भवतीत्येक एव, एवं प्रतियोग्यैक्येन मयात्र तथाभ्युपगमादिति कश्चित् प्रतियोगिसमानदेशत्वादपि लक्षणसिद्धिरिति वाच्यम् । तथापि प्रतियोग्यैक्येन तदत्यन्ताभावस्यैक्यापत्तेः तादात्म्यवत्संयोगस्यापि द्विष्ठत्वाविशेषादतिव्याप्तेः कालभेदेन च प्रागभावादेरपि प्रतियोगिसमानाधिकरणतयाऽतिव्याप्तेः कालैक्येन च विशेषणे च तदन्योन्यव्यतिरेकाव्याप्तेरिति ॥ ३८ ॥

यदपि धर्मान्तरस्य लक्षणमवादि वैधर्म्यस्य विरोधः स चैकधर्म्यसमावेश इति तदप्युद्भ्रान्तमनसो भाषितम् । तथा हि प्रमाणप्रमेययोर्भेदोऽस्ति न वा, न चेत्तदभिधानस्य पर्य्यायत्वप्रसङ्गः किंप्रमाणिका बुद्धिरित्युक्ते बुद्धिविषयेणोत्तरप्रसङ्गश्च । नापि प्रथमः स हि न तावत्स्वरूपलक्षणः एकस्याप्युभयभावदर्शनात् । अत एव नान्योन्याभावोऽपि धर्मान्तरन्तु तयोर्भेदः परिशिष्यते यतोऽन्येन रूपेण तत्प्रमाणमन्येन च तदेव प्रमेयमित्युच्यते तथा च सत्येकधर्म्यसमावेशो लक्षणमव्यापकम् । सोऽयं प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवदिति पारमर्षमपि परामर्शं व्यस्मार्षीदित्यास्तां विस्तरः ।

ननु भेदप्रतिपत्तेस्तावत्प्रत्यक्षफलस्यार्थेन्द्रियसन्निकर्षः कारणमसाधारणं वक्तव्यं

खण्डन—यदि प्रतियोगी के एक होने से अभाव एक हो, तो अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव भी एक हो जायगा। यदि कहें, कि अन्योन्याभाव का तादात्म्य प्रतियोगी है और वह तादात्म्य दो में है। अतः दोनों अभाव एक नहीं हैं, तो संसर्गाभाव का भी संसर्ग प्रतियोगी है और वह संसर्ग भी दो में रहता है, अतः दोनों अभाव एक नहीं तो संसर्गाभाव का भी संसर्ग प्रतियोगी है और वह संसर्ग भी दो में रहता है अतः दोनों तुल्य ही हैं। किञ्च काल भेद से प्रागभाव-ध्वंसाभाव भी प्रतियोगी के समानाधिकरण हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि एक काल में प्रतियोगी के साथ समानाधिकरण हो—ऐसा निवेश करें, तो "कालो न" इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अन्योन्याभाव में अव्याप्ति हो जायगी। कारण कि काल में काल के न होने से कालरूप प्रतियोगी से समानाधिकरण कालान्योन्याभाव नहीं है।॥३८॥

जो धर्मान्तर का लक्षण है कि वैधर्म्य विरोध है और विरोध एक धर्मी में समावेशरूप है—यह भी भ्रान्त पुरुष का भाषण है। देखिये—प्रमाण, प्रमेय में परस्पर भेद है कि नहीं? यदि भेद नहीं है, तो दोनों पर्य्याय हो जायेंगे। किञ्च बुद्धि में क्या प्रमाण है—इस प्रश्न में चक्षुरादि का अभिधान न कर प्रमेय का अभिधान हो जायगा। प्रमाण प्रमेय में भेद है—यह द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, कारण कि तुलादि द्रव्य एक ही प्रमाण और प्रमेय उभयरूप हैं। अतः उन दोनों में स्वरूप-भेद नहीं हो सकता। प्रमाण प्रमेय दोनों के एकरूप होने से अन्योन्याभावरूप भेद भी नहीं हो सकता, किन्तु वैधर्म्यरूप से भेद हो सकता है, कारण कि प्रमितिकरणस्वरूप धर्म से वह तुलादि प्रमाण है। और प्रमितिविषयत्वरूप धर्म से वह प्रमेय है। यदि ऐसा है, तो उस वैधर्म्यभेद के उदाहरण स्थल में एक धर्मी में दोनों के समावेश होने से लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। सो आप ने "प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्" इस परम ऋषि गौतम के परामर्श को भी विस्मरण किया। अतः विस्तार रहे।

तत्र य एवेन्द्रियसन्निकर्षस्य भेदप्रतिपत्तिहेतोर्द्वितीयः सम्बन्धः स एव भेदोऽस्तु । न उक्तबाधकैर्बाधितायाः प्रतीतेरर्थसन्निकर्षकारणत्वाभावादिति ॥ ३६ ॥

किं पुनस्तत्कारणत्वम् । पूर्वभावित्वमिति चेन्न, चिरापध्वस्तानामपि कारणत्वप्रसङ्गात् । अव्यवहित पूर्वभावित्वमिति चेन्न, व्यापारस्यैव कारणत्वप्रसङ्गात् । व्यापारेण न व्यवधानमिति चेन्न, कारणकारणस्यापि कारणत्वप्रसङ्गात् । कारणस्यातद्व्यापारत्वात् नैवमिति चेन्न, विना विशेषोक्तिं दुर्विवेकत्वात् । यद्विना यद्यन्न जनयति तत् तस्यावान्तरव्यापार इति चेन्न, सहकारिणामपि तथात्वप्रसङ्गात् । तज्जन्यमिति

समर्थन—प्रत्यक्ष है फल जिसका ऐसी भेद-प्रतिपत्ति का अर्थ और इन्द्रिय के सन्निकर्ष कारण है उस सन्निकर्ष का इन्द्रिय से भिन्न जो सम्बन्धी वह भेद है ।

खण्डन—पूर्वोक्त युक्तियों से बाधित उक्त प्रतीति के अर्थ इन्द्रिय-सन्निकर्षजन्यत्व में कुछ प्रमाण नहीं है ॥ ३६ ॥

इतिभेद लक्षण-खण्डनानुवाद ।

अथ कारणत्व-लक्षणखण्डन ।

वह कारण क्या वस्तु है लक्षण न होने से अनिर्वचनीय है ।

निर्वचन—कार्य्य से पूर्ववर्ती कारण है ।

खण्डन—जो पूर्वभावी चिरनष्ट है, और कार्य से सम्बन्ध रहित है, उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—कार्य्य से अव्यहित पूर्ववर्ती कारण है ।

खण्डन—स्वर्ग से अव्यवहित पूर्ववर्त्ती होने से अदृष्ट ही स्वर्ग का कारण होगा और यागरूप क्रिया व्यवधान होने से कारण नहीं हो सकेगी ।

समर्थन—अपूर्व यागरूप क्रिया का व्यापार है और व्यापार से व्यापारी का व्यवधान होता नहीं है, अतः याग में अव्याप्ति नहीं ।

खण्डन—घट के कारण (कुलाल) का कारण (कुलाल का पिता) भी घट का कारण हो जायगा ।

समर्थन—घटरूप कार्य्य में कुलाल स्वपिता का व्यापार नहीं है ।

खण्डन—जब तक व्यापार का लक्षण न हो तब तक अपूर्व याग का व्यापार है और कुलाल स्वपिता का व्यापार नहीं है यह कैसे कह सकते हैं ।

समर्थन—जो जिसके विना जिसको उत्पन्न कर सके, वह उस कार्य्य में उसका व्यापार है और कुलाल के विना भी उसका पिता घटका उत्पादन कर सकता है, अतः कुलाल व्यापार नहीं है ।

खण्डन—ऐसा व्यापार का लक्षण मानने पर दण्ड का चक्ररूप सहकारी भी व्यापार हो जायगा कारण कि चक्र के विना भी दण्ड घट का उत्पादन नहीं कर सकता ।

समर्थन—जो स्वजन्य जिसके विना जिसको उत्पन्न न कर सके, उस कार्य में वह उसका व्यापार है और चक्र दण्डजन्य नहीं है अतः वह व्यापार नहीं ।

चेन्न, तथापि कारणत्वाव्यवस्थितौ विशेषोक्तेरतिप्रसक्तेः कथमपि विशेषोक्तौ गगनादेः सर्वत्र कार्ये हेतुत्वप्रसङ्गात् ॥ ४० ॥

अनन्यथासिद्धपूर्वभावित्वमिति चेन्न। वक्तव्यं हि कस्मादन्येन प्रकारेण विना, का च सिद्धिरिति, यदि हि कार्यादन्येन प्रकारेण न निष्पत्तिः स्तदाऽसिद्धिः नहि कार्येण कारणस्योत्पादनं नापि कार्यादन्येन प्रकारेण न ज्ञप्तिः प्रत्यक्षादेरपि कारणत्वज्ञप्तेः नखलु सर्वा कार्यलिङ्गजा कारणस्य ज्ञप्तिः। नापि कारणत्वात् व्यतिरिक्तेन प्रकारेण न निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा ज्ञप्तावात्माश्रयात्। प्रकारान्तरवत्तयापि च तदुपगमात्।

व्यतिरिक्तत्वमकारणत्वमिष्टमिति चेन्न। उक्तदोषानिवृत्तेः कारणत्वात् पूर्वं चोत्पत्तिज्ञप्त्योरक्षणिकवादिभिरभ्युपगमात्। अव्यवहितपूर्वतया कदाचिचदपि कारणमेवं तत्पूर्वतरमपि, कस्याश्चित्व्यक्तेरनेवम्भावेऽपि तज्जातीयतया तथाभावित्वविवक्षिततया व्यक्तिव्यभिचाराप्रयोजकत्वादिति चेन्न। कार्यान्तरेऽहि गगनादेरतथाभावस्य विनिगन्तुमशक्यत्वात्। कालदेशव्यापकतयाऽन्यथासिद्धस्थिति तदिति चेन्न। तथा सति

खण्डन—जब तक कारणत्व का लक्षण न हो तब तक अन्यत्वघटित व्यापार का लक्षण हो नहीं सकता। और किसी प्रकार से व्यापार का लक्षण करें भी तो गगन कार्य्यमात्र के अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से कारण हो जायगा ॥४०॥

समर्थन—अनन्यथासिद्ध पूर्वभावी कारण है।

खण्डन—यह वक्तव्य है कि किससे अन्य और सिद्धि क्या वस्तु है। अर्थात् सिद्धि शब्द का क्या अर्थ है। कार्य्य से अन्य प्रकार से निष्पत्ति का अभाव अर्थ है, तो अयुक्त है, कारण कि कार्य्य से कारण की उत्पत्ति नहीं होती है। और कार्य से अन्य प्रकार से ज्ञान का अभाव अर्थ भी नहीं है, कारण कि प्रत्यक्ष से भी कारणत्व का ज्ञान होने से सब ही कारण का कार्य्य से ज्ञान होता हो ऐसा नियम नहीं है। कारणत्व से अन्यप्रकार से निष्पत्ति का अभाव वा ज्ञान का अभाव भी अर्थ नहीं है, कारण कि स्व में स्व की उत्पत्ति या ज्ञान न होने से आत्माश्रय हो जायगा। किञ्च दण्डत्वरूप से भी दण्ड का ज्ञान होने से कारणत्व से ही कारण का ज्ञान हो—यह नियम नहीं है।

समर्थन—अन्यथा शब्द का अर्थ व्यतिरिक्तत्व है और वह अकारणत्व है; अकारणत्वरूप से जिसका ज्ञान न हो और पूर्ववर्त्ती हो वह कारण है—यह समुदायार्थ हुआ।

खण्डन—कारणत्व के ज्ञान के विना अकारणत्व के ज्ञान के न होने से कारणत्व ज्ञानाधीन उक्त लक्षण के ज्ञान होने से आत्माश्रय हो जायगा। किञ्च स्थिरवादी के मत में कारणत्व से पूर्व भी दण्डादि का दण्डत्वादिरूप से ज्ञान होने से दण्डादि में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—कदाचित् अव्यहित पूर्वक्षणवृत्तित्व होने से उससे पूर्वतर काल में भी वह कारण ही है। अर्थात् कार्य्याव्यवहितपूर्वक्षणासम्बन्धानधिकरणत्व ही कारणत्व है वह कारणत्व उस काल में भी विद्यमान है उत्पन्न विनष्ट तन्तु में कदाचित् भी पूर्वक्षणवृत्तित्व न होने पर पूर्वक्षणवृत्ति तन्तुजातीयत्व होने से ही कारणत्व होता है, जातीयत्वनिवेश की विवक्षा से ही एक एक व्यक्ति में व्यभिचार नहीं होता है।

शब्दादौ गगनादेरकारणत्वप्रसङ्गात्। एतेनानन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वमपि व्युदस्तम्। गगनादेर्व्यतिरेकाभावात् अकारणत्वप्रसङ्गश्चाधिकः ॥४१॥

व्यापारवत्त्वं कारणत्वमिति चेन्न, तद्धि व्यापारसमवायित्वं वा व्यापारजनकत्वं वा। नाद्यः, यागादेरकारणत्वप्रसङ्गात्। नोत्तरस्तस्यैव निरूप्यमाणत्वात्। नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिनिवारकत्वमिति चेन्न, निवारकपदावयवस्य प्रत्ययस्य कारणत्वनिर्वचनं विनाऽनिरूप्यमाणार्थत्वात्। अन्यतरार्थस्यैकस्य च निरुक्त्यशक्तेः।

यदनभ्युपगमे यस्य तत्पूर्वसत्त्वप्रसङ्गः तत्तस्य कारणं तद्भावश्च कारणत्वमिति चेन्न, भावस्य विनाशित्वानभ्युपगमे तथा प्रसङ्गेनातिव्यापकत्वात्। तत्पूर्वस्थितत्वेन च विशेषणे सहभावनियतस्याभावेऽपि प्रसङ्गः तथात्वोपगमे सामग्र्यामपि प्रसङ्गः।

खण्डन—शब्द से अन्य घटादि में भी गगनादि कारण हो जायगा। यदि कहें, कि देश से तथा काल से व्यापक होने से गगन अन्यथासिद्ध है, तो शब्द में भी गगन कारण नहीं होगा। अन्यथासिद्धि का निर्दोष लक्षण न होने से ही अनन्यथासिद्ध अन्वय तथा व्यतिरेक के कार्य्य में अनुविधान जिसका हो वह कारण है, यह लक्षण भी खण्डित है। किंच गगन के व्यतिरेक के न होने से वह शब्द का अकारण हो जायगा ॥४१॥

समर्थन—व्यापार जिसमें हो वह कारण है।

खण्डन—व्यापार का समवाय जिसमें हो वह विवक्षित है, अथवा व्यापार का जनक जो हो वह ? प्रथम पक्ष में याग में अपूर्वरूप व्यापार के समवाय के न होने से वह कारण न होगा। द्वितीय पक्ष भी, कारणत्व के लक्षण में जनकत्व (कारणत्व) के प्रवेश होने से अयुक्त है।

समर्थन—कार्य का जो नित्य सत्व अथवा नित्य असत्व, इन दोनों में एक की प्रसक्ति का निवारक (निवृत्तिकारण) कारण है।

खण्डन—यह लक्षण भी कारण के लक्षण में कारण के प्रवेश होने से अयुक्त है क्योंकि निवारक पद में ल्युट्प्रत्यय का अर्थ कर्त्ता है और कारणविशेष ही कर्त्ता है किञ्च अन्यतर शब्द का यदि अनिर्धारित प्रत्येक अर्थ कहें, तो निर्धारण के अभाव का निवेश और अभाव के खण्डित होने से और यदि दोनों से जो अन्य उससे अन्यत्व अर्थ करें, तो भेद के खण्डित होने से असङ्गत है।

समर्थन—जिसके अस्वीकार में स्व से पूर्वकाल में जिसका सत्वप्रसङ्ग हो वह उसका कारण है।

खण्डन—यदि भावविनाश युक्त न होता, तो स्व से पूर्वकाल में होता ऐसा आपादन होने से विनाश भी कारण हो जायगा।

समर्थन—पूर्ववर्ती जिसके अनभ्युपगम में कार्य के पूर्वकाल में सत्व का प्रसङ्ग हो वह कारण है। और विनाश पूर्वभावी नहीं है अतः कारण भी नहीं।

खण्डन—सहभाव से नियत (रूपादि) का प्रागभाव, रस का कारण हो जायगा, कारण कि "यदि रूपप्रागभावो न स्यात्तर्हि रसस्य पूर्वमपि सत्ता स्यात्" ऐसा प्रसङ्ग हो सकता है और रूप-प्रागभाव को रस का कारण मान लें, तो रूप की सामग्री भी रस की सामग्री हो जायगी और रूप की सामग्री को रस की सामग्री भी मान लें, तो दोनों कार्यों का ऐक्य हो जायगा। किञ्च लक्षणघटक यद्शब्द से यदि दण्डादि विशेषव्यक्ति का ग्रहण

तस्या अपि च तथात्वोपगमे कार्यद्वयैक्यप्रसङ्गोऽसाधारण्यञ्च। विशेषापेक्षित्वेऽतिव्याप्तिरविशेषे भाविपूर्वार्थविकल्पावकाशश्च ॥ ४२ ॥

नियतप्राग्भावित्वमिति चेन्न, अवश्यम्भावस्यनियमार्थत्वे गगनादेः सर्वकार्यहेतुत्वप्रसङ्गस्य तदवस्थत्वात्। अवयवरूपादेश्चावयवितद्रसादिषु कारणत्वप्रसङ्गात्। अनौपाधिकत्वं नियमार्थ इति चेत्। एवं ह्यनौपाधिकपूर्वभावो हेतुत्वमित्युक्तं भवति तथा च पिपीलिकोत्थानादेर्वृष्ट्यादौ जनकत्वप्रसङ्गः सहभाविसामाग्र्या वा। न तत्र प्राचि पूर्वभावो नियतः किन्तु वृष्टेः परं भाव इति चेन्न, प्राग्रूपाणामेव नियतत्वात्। तानि कारणमेवेति चेन्न, निदानप्राग्रूपसाङ्कर्यप्रसङ्गात्।

पूर्वार्थश्च वक्तव्यः। पूर्वकालसम्बन्धित्वं पूर्वत्वमिति चेन्न, कालस्याकारणत्वप्रसङ्गात्। तस्यापि किं पूर्वत्वमिति विवेचनीयत्वात्। अतीतोपाध्यवच्छिन्नत्वं तस्य पूर्वत्वमिति चेन्न, अतीत इति निष्ठान्तस्य पूर्वकालवाचिनो विवेचनीयत्वात्। परत्वा-

---

करें, तो लक्षण लक्ष्यमात्र साधारण न होगा, अतः जिस कारणव्यक्ति का यद्शब्द से उपादान करेंगे उससे अन्यत्र अव्याप्ति हो जायगी और कारणमात्र का [यत्शब्द से कारणमात्र में वृत्ति एक उपसंग्राहकरूप न होने से] उपादान हो नहीं सकता। यदि कथञ्चित् सब का यद्शब्द से उपादान करें भी तो कारणत्वरूप से अभिमत व्यक्तिमात्र के अनभ्युपगम में कार्यमात्र के पूर्व सत्व-प्रसङ्ग होने से कार्यमात्र में वस्तुमात्र कारण हो जायगा, अर्थात् घट में तन्तु के कारण होने से लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। वक्ष्यमाण (पूर्वशब्द के अर्थ के) विकल्प का भी अवकाश है ॥४२॥

समर्थन—नियम से पूर्वभावी जो हो वह कारण है।

खण्डन—नियम शब्द का यदि अवश्यम्भाव अर्थ करें, तो गगनआदि—सब कार्यों के कारण हो जायेंगे—और अवयव का रूप अवयवी के रस का भी कारण हो जायगा। और यदि नियम शब्द का उपाधि रहित अर्थ करें, तो पिपीलिकोत्थान वृष्टि का कारण हो जायगा। तथा रूप की सामग्री रस का कारण हो जायगी।

समर्थन—पिपीलिकाण्ड-संचार में वृष्टि का पूर्वभाव नियत नहीं है कारण कि उसके बिना भी वृष्टि देखी गयी है अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। वृष्टि में—पिपीलिका के अण्ड संचार का—परभाव नियत है यह अन्य बात है, कारण कि उसका प्रकृत लक्षण में कुछ उपयोग नहीं है।

खण्डन—प्रागरूप में रोग का पूर्वभाव उपाधि रहित है, अतः वह भी कारण हो जायगा, प्रागरूप कारण ही है ऐसी इष्टापत्ति नहीं कर सकते, कारण कि निदान और प्राग्-रूप का साङ्कर्य हो जायगा और वैद्यक शास्त्र में इनका भेद से कथन है।

किञ्च लक्षणघटक पूर्वशब्द का अर्थ भी कहना चाहिये।

समर्थन—पूर्व काल में सम्बन्धी को पूर्व कहते हैं।

खण्डन—काल में पूर्वकाल का सम्बन्ध न होने से काल कारण न कहावेगा। किञ्च काल में पूर्वत्व क्या वस्तु है इसका विचार करना चाहिये।

समर्थन—अतीत जो उपाधि उससे जो अवच्छिन्नत्व (युक्तत्व) वह काल में पूर्वत्व है।

परत्वयोर्गुणयोर्मध्ये यत्परत्वं तत्पूर्वत्वमुच्यत इति चेन्न, कालादौ गुणादौ च तदनङ्गीकारात् तेषामकारणत्वप्रसङ्गात्। तस्मिन्नेव च तदभावात् साक्षात्कारिज्ञानादावपि तस्याकारणत्वप्रसङ्गात् ॥ ४३ ॥

सामग्र्येकदेशत्वं कारणत्वमिति चेन्न, एकदेशत्वस्यानिर्वचनीयत्वात्। अवयवत्वप्रदेशत्वादीनां सामग्र्यामसम्भवात्। सकलकारणकलापसमवधानस्यैव च मेलकार्थत्वात् तेनैव तन्निर्वचनीयत्वात्। यदनन्तरं कार्यं भवत्येव सा सामग्रीति चेन्न। विभागानन्तरं संयोगनाशस्यावश्योत्पत्तेर्विभागस्यापि सामग्रीत्वप्रसङ्गात्। एवं कर्मणो विभागेऽन्त्यतन्तुसंयोगस्य पट इत्यादि। कार्यकारणभावो नाम सम्बन्धः कोऽपीति चेत् न, तदाऽविशेषेण कार्यकारणसाङ्कर्यापत्तेः। कार्यकारणविशेषितत्वाद्भेदे तयोः पृथक् निर्वाच्यत्वापत्तेः।

खण्डन—अतीत इस पद में निष्ठा का अर्थ भी पूर्वकाल ही है, अतः आत्माश्रय हो जायगा, कारण कि काल में पूर्वत्व का विवेक काल से हुआ।

समर्थन—नियत पूर्व वृत्तित्व कारणत्व है इस लक्षण में पूर्वशब्द परत्वगुणपरक है।

खण्डन—कालादि और गुणादि में परत्व के न होने से वे अकारण हो, जायँगे यदि कालादि और गुणादि में परत्व को मान भी लें तो अनवस्था भय से परत्व में परत्व को तो मानेंगे नहीं, अतः परत्व में अव्याप्ति हो जायगी, और परत्व विषयकसाक्षात्कार का परत्व भी कारण होता है ॥ ४३ ॥

समर्थन—सामग्री का एक देश कारण है।

खण्डन—एक देश शब्द के अर्थ का निर्वचन न होने से यह लक्षण युक्त नहीं है। कारण कि एक देश शब्द का अवयव प्रदेश अर्थ अन्यत्र होता है उन अर्थों का सामग्री में सम्भव नहीं है।

किञ्च सम्पूर्ण कारणों का समुदाय ही सामग्री है, अतः सामग्री से कारण के लक्षण करने में अन्योन्याश्रय हो जायगा।

समर्थन—जिसके अनन्तर कार्य होता ही हो वह सामग्री है।

खण्डन—विभाग के अनन्तर संयोग-नाश अवश्य होता है अतः विभाग भी सामग्री हो जायगा, इसी प्रकार से कर्म विभाग का और अन्त्यतन्तुसंयोग पट का सामग्री हो जायगा।

समर्थन—संयोग समवाय से भिन्न सम्बन्धविशेष को कार्यकारणभाव कहते हैं।

खण्डन—यदि कार्यकारणभाव को सम्बन्धरूप मानेंगे, तो सम्बन्ध द्विष्ठ होता है अतः कार्य ही कारण हो जायगा यदि कार्यसम्बन्धित्व को कारणत्व और कारणसम्बन्धित्व को कार्यत्व कहें, तो पृथक् २ दोनों का निर्वचन करना चाहिये।

समर्थन—कारणत्व कारणवृत्ति कोई (विशेषरूप से वक्तुं अशक्य) धर्म है।

खण्डन—उस कारणत्व के सद्भाव में प्रमाण कहना चाहिये और प्रमाण है नहीं।

समर्थन—दण्डादिप्रत्यक्षपदार्थनिष्ठ कारणत्व तो प्रत्यक्ष है और परमाणुआदिनिष्ठकारणत्व अनुमेय है।

कारणत्वं धर्मः कोऽपीति चेन्न, तत्सद्भावे प्रमाणस्य वाच्यत्वात्। कचित्प्रत्यक्षः सः, कचित् दृष्टानुमेय इति चेन्न, किं हि प्रति कारणतां प्रत्यक्षमुल्लिखेत्। न तावदनिर्लुठितकार्यप्रतीतेः, अन्वयव्यतिरेकादेर्व्यञ्जकस्य च विशेषं प्रत्येव सम्भवात्। नापि सामान्यतो घटादिं प्रत्येवं विशेषतो घटाद्यनुत्पत्त्यापत्तेः। तावन्मात्रात् विशेषोत्पत्तेर्विशेषेषु विनिगमना न स्यात् प्रतिविशेषं चोत्पत्तेः प्राग्वर्तमानत्वादसन्निकर्षादध्यक्षविषयतानुपपत्तेः। कार्य्यसत्त्वकालश्च सामग्र्यभावात् न तज्जननकाल इति तदानीं तज्जननविशिष्टता कथमध्यक्षा स्यात्, प्राक्तदग्रहणेन संस्कारसाचिव्यस्याप्यसम्भवात्। एवं कचिदपि हेतुत्वे साक्षात्कारासम्भवेन किंमूलव्याप्तिग्रहात्तत्राऽनुमाऽपि स्यात्।

खण्डन—कारणत्व को विषय करने वाला प्रत्यक्ष केवल कारणत्व को विषय करता है अथवा कार्यत्व से युक्त कारणत्व को! इन में प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि केवल (कार्यत्व से अयुक्त) कारणत्व की प्रतीति नहीं होती है। किञ्च प्रत्यक्ष के सहकारी अन्वय व्यतिरेक भी कार्यविशेष से युक्त ही कारणत्व में रहता है केवल कारणत्व में नहीं रहता है तथा सामान्य से कार्यत्व से निरूपित (सम्बन्ध) कारणत्व का उल्लेख नहीं करता, कारण कि ऐसा मानने पर प्रमाण न होने से घटादि विशेष कार्य की कारणता सिद्ध नहीं होगी, फिर कारण न होने से विशेष घटआदि व्यक्ति उत्पन्न भी नहीं होगी। और सामान्य कार्यत्व से निरूपित कारण से विशेष की उत्पत्ति मानें, तो यह [उत्पत्स्यमान] घट इस दण्ड से जन्य है, ऐसा निश्चय नहीं होगा। अतः विशेष घट के जननार्थ कारण विशेष में प्रवृत्ति नहीं होगी। और यदि कहें कि कार्य विशेष से निरूपित कारणता का उल्लेख प्रत्यक्ष करता है, तो यह विकल्प होता है कि उत्पत्ति से पूर्वकाल में उक्तरूप कारणता का ज्ञान होता है अथवा उत्पत्ति से उत्तरकाल में यदि कहें कि उत्पत्ति से पूर्वकाल में, तो उस काल में कार्य है नहीं अतः कार्यत्व निरूपितकारणत्वरूपविशिष्ट न होने से विषय सन्निकर्ष नहीं है, अतः प्रत्यक्ष नहीं होगा। और उत्पत्ति से उत्तरकाल में पूर्वकाल के न होने से पूर्वकालवृत्तित्वरूप कारणत्व नहीं है फिर किसका प्रत्यक्ष होगा। पूर्वकाल में कारणता का ज्ञान न होने से इस काल में कारणताविषयक संस्कार भी नहीं है, अतः प्रत्यभिज्ञा में तत्ता के तुल्य संस्कार के बल से प्रत्यक्ष में कार्यता विशिष्ट कारणता भासती है यह भी नहीं कह सकते। जब कभी भी कारणता का प्रत्यक्ष नहीं होता है तब किस प्रमाण के बल से व्याप्तिग्रह होगा। और जब व्याप्तिग्रह नहीं होगा, तो कारणता की अनुमिति ही कैसे होगी। और यदि कारणताग्रह नहीं होता है तो दूसरे के ज्ञानार्थ वाग्व्यवहार में तथा तृषा निवृत्ति के अर्थ जलपान में प्रवृत्ति कैसे होगी। यह प्रतिबन्दी भी युक्त नहीं है, कारण कि अनिर्वचन वादी लोगों के मत में स्वप्नवत् प्रवृति हो सकती है। तथा प्रतिबन्दी भी खण्डित ही है। घटपटआदि कार्य अनित्य हैं उसकी अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण से भी कारणत्व का ग्रह नहीं हो सकता है, कारण कि कारणत्व कारण में है और अनित्य कार्य में है अर्थात् दोनों व्यधिकरण हैं। यदि कहें, कि कार्य के कादाचित्कत्व से कार्य में ही सकारणत्व की कल्पना होती है, तो किसी प्रकार से दोनों समानाधिकरण तो हुए परन्तु उस कारण में भी कादाचित्कत्व से सकारणत्व की कल्पना है तथा कारण की कारण में भी, इस प्रकार अनवस्था हो जायगी अनादि होने से बीजाङ्कुर के तुल्य अनवस्था दोष नहीं है, यह भी नहीं कह सकते हैं, कारण

प्रतिबन्दी चानिर्वचनवादिनि न स्थाने। कादाचित्कत्वानुपपत्त्या तद्ग्रह इति चेन्न, वैयधिकरण्यात्। कथमपि सामानाधिकरण्ये तदुपपादकस्योपपाद्यवदनुपपत्तावविशेषादविश्रान्तिर्नानादित्वेनाऽपि शक्योपपादना। वैयधिकरण्येऽप्युपपाद्यासम्बन्धश्चेदनियमः सम्बन्धश्चेदविश्रान्तिरिति। एतेन शक्तिः कारणत्वमित्यपि निरस्तम् ॥ ४४॥

किञ्च प्रत्यक्षप्रमितौ विषयस्यापि सन्निकर्षव्यापारकस्य कारणतया स्ववृत्त्यापत्तेः अन्यथाऽक्षस्यापि तत्र कारणत्वं न स्यात् अनुविधानाविशेषात्। विषयाविशेषिताक्षसन्निकर्षस्य तथात्वेऽत्यापत्तेः, क्वचित् कारणत्वाकारणत्वविवादस्य चानुच्छेद्यत्वापत्तेः। एकेन तस्य दृष्टेरपरेण चादृष्टेः। तल्लक्षणस्य नियतपूर्वभावित्वादेः कथनेन कथितदोषापत्तेः। विना च तच्चिह्नाद्भ्रमसन्देहौ तत्र किं दर्शनादुच्छेद्यौ अक्षेण हेतुत्वधर्मिणि

कि जब कहीं कारणत्व प्रमाण सिद्ध होता, तब अनादित्व से परिहार होता, कारणत्व में अनवस्था का अदृष्ट बीजाङ्कुर के तुल्य अनादित्व से परिहार कैसे होगा।

किञ्च उपपाद्य, उपपादक का परस्पर सम्बन्ध है कि नहीं, यदि सम्बन्ध नहीं है, तो इस उपपादक से इस उपपाद्य की कल्पना होती है—यह नियम नहीं होगा। और यदि सम्बन्ध है तो उस सम्बन्ध का भी अन्य सम्बन्ध एवं उत्तर उत्तर सम्बन्ध कल्पना में अनवस्था हो जायगी।

कारण में वृत्ति शक्तिविशेष कारणत्व है—यह मीमांसक का मत भी युक्त नहीं है, कारण कि पूर्वोक्त रीति से उसका प्रत्यक्षादि न होने से उसके सत्त्व में कुछ प्रमाण नहीं है ॥४४॥

किञ्च प्रत्यक्ष प्रमा में विषय के कारणत्व होने से कारणत्वप्रत्यक्ष में कारणत्व भी विषयरूप से कारण हुआ, अतः कारणत्व में कारणत्वरहने से स्व में स्ववृत्तित्व हो जायगा। यदि विषय के साथ प्रत्यक्ष के अन्वय व्यतिरेक के होते भी विषय को प्रत्यक्ष में कारण न मानें, तो इन्द्रिय भी प्रत्यक्ष में कारण न होंगे, कारण कि विषय और इन्द्रिय इन दोनों के अन्वय व्यतिरेक प्रत्यक्ष में तुल्य हैं और विषय से अविशेषित सन्निकर्ष को कारण मानें, तो अन्य विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर अन्य विषय का प्रत्यक्ष हो जायगा। किञ्च यदि कारणत्व प्रत्यक्ष है, तो अभाव प्रत्यक्ष में इन्द्रियसन्निकर्ष की कारणता में नैयायिक मीमांसक का जो विवाद होता है वह न होना चाहिये, कारण कि प्रत्यक्ष में विवाद नहीं होता है और यदि प्रत्यक्ष में भी विवाद हो, तो उसका कदापि उच्छेद न होना चाहिये।

समर्थन—नैयायिक के मत में अभाव प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष की कारणता प्रत्यक्ष है और मीमांसक को—स्वमत में आग्रहरूप दोष के प्रतिबन्धक होने से—प्रत्यक्ष नहीं होता है अतः विवाद होता है फिर जब नियत पूर्ववर्तित्वरूप हेतु से नैयायिक मीमांसकों के कारणत्व का अनुमान कराता है तब विवाद का उच्छेद हो जाता है, अतः विवाद अनुच्छेद्य नहीं है।

खण्डन—पूर्ववर्तित्वआदि लक्षण पूर्वोक्त दोष से खण्डित हैं, अतः इनसे कारणता का अनुमान होने से उक्त विवाद का उच्छेद न होना चाहिये। किञ्च कभी २ [इदं कारणं न वा] ऐसा संदेह वा अकारण में [इदं कारणं] ऐसा भ्रम हो जाता है, यदि कारण का लक्षण न हो, तो किसके दर्शन से उक्त संदेह वा भ्रम की निवृत्ति होगी। किञ्च कभी २ कारण के प्रत्यक्ष होने पर भी कारणता का प्रत्यक्ष नहीं होता है अतः कारणता के प्रत्यक्ष में

दृष्टेऽपि तददृष्ट्या यदवगमोऽक्षसहकारी वाच्यस्तदर्थेन सिद्धेन हेतुधियोऽर्थवत्त्वे सम्भवति तदन्यार्थकल्पनागौरवं कुतो बलात् सिध्येत् ॥ ४५ ॥

तस्यान्वयानुविधानादेरनुमेयहेतुत्त्वे व्योमादावनुपपत्तेस्तदन्यत्त्वसिद्धिरिति चेन्न, अन्योन्याश्रयापत्तेः। प्रत्यक्षस्यान्यस्मिन्विषये सिद्धेऽन्यत्र दृष्टान्तेन तदनुमानं तत्सिद्धौ च प्रत्यक्षस्यान्यविषयतासिद्धिः तस्य चानागन्तुकत्त्वे प्रागपि तत्सत्त्वादस्तीतिमतिवत्करोतीतिप्रमापातः। आगन्तुकत्त्वे च तदुत्पत्तेः प्राक् कारणत्त्वं क्वापि न स्यात्। तथाऽप्यजातत्त्वे घटाद्यपि किं न तथा स्यात्। व्यावृत्तेषु तेष्वनुगतौ च सर्वं प्रति सर्वकारणत्त्वापातात्। प्रतिकार्यव्यक्ति तत् पृथगिति चेन्न, साधारणस्यापि तद्गतस्य स्वरूपस्य घटादिकारणात्मतयाऽनुवृत्तौ घटकारणत्वस्यापि तन्तुकारणत्त्वापत्तेः। कारणत्वमात्रेण तदनुगतं रूपं न घटकारणत्वादिनेति चेन्न। घटादिविशेषानुपहितकारण-

इन्द्रिय का कोई सहकारी अवश्य मानना होगा फिर उसी सहकारी से कारणत्वविशिष्ट बुद्धि का यदि निर्वाह है तो उससे अन्य कारणता की कल्पना के गौरव का क्यों स्वीकार करें ॥४५॥

समर्थन—दण्डादि में कारणता अन्वय व्यतिरेक के अनुविधानरूप हेतु से अनुमेय है तथा गगनआदि में व्यतिरेक न होनेसे गगन के ग्राहक प्रमाण [अनुमानादि] से ही ग्राह्य है अतः अनुगत एक सहकारी न होने से अतिरिक्त कारणता मानते हैं।

खण्डन—दण्डःघटकारणम्—इस प्रत्यक्ष का विषय, लक्षण से भिन्न कारणत्व धर्म है—यह सिद्ध होने पर उसको दृष्टान्त मानकर गगनआदि में अतिरिक्त कारणत्व का अनुमान हो और गगनादि में अन्वय व्यतिरेक का अनुविधानरूप कारणत्व के बाध होने पर अतिरिक्त कारणत्व के अनुमान होने पर अनेकरूप कारणत्व न मानना पड़े इसलिये "दण्डः घटकारणम्" इस प्रत्यक्ष का विषय अतिरिक्त कारणत्व है—यह सिद्ध हो, इस प्रकार से अन्योन्याश्रय हो जायगा।

किञ्च कारणत्व नित्य है वा अनित्य प्रथम पक्ष में घट की उत्पत्ति से पूर्वकाल में भी कारणत्व के रहने से पूर्व काल में "दण्डोऽस्ति" इस व्यवहार के तुल्य "दण्डः करोति" यह व्यवहार भी हो जायगा और द्वितीय पक्ष में कारणत्व की उत्पत्ति से प्राक् कारणत्व-व्यवहार कहीं भी न होना चाहिये। और कारणत्व का उत्पादक कोई है नहीं अतः उसकी उत्पत्ति भी नहीं होगी। यदि अनित्य होकर भी कारणत्व को अजात मानें तो घट-आदि को भी अजात क्यों न मानें।

किञ्च यदि स्वरूप से भिन्नरूप दण्ड वेमाआदि कारणों में अनुगत एक कारणत्व को मानें, तो सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिये, कारण कि दण्ड में जो कारणता है वह सब कार्यों के प्रति एक सी है जैसे गौ सब के प्रति गौ है किसी के प्रति अगौ नहीं है।

समर्थन—कार्य २ के भिन्न २ जो कारण उनमें कारणत्व भिन्न २ हैं अतः सब से सब की उत्पत्ति नहीं होती है।

खण्डन—यदि "इदं कारणम्, इदं कारणम्," इस अनुगत प्रतीति से सिद्ध कारणत्व घटादि कारणस्वरूप ही है, तब घट का कारण स्तम्भ का कारण क्यों न हो।

त्वमात्रस्य किंप्रतीत्यनिर्देश्यस्य सद्भावे प्रमाणाभावात् अन्यथा यदि किञ्चित्प्रतिकारणे सामान्यतः कारणत्वं नाम धर्मः स्यात् तदा तस्या एव व्यक्तेः किञ्चित्प्रत्यकारणत्वादकारणत्वमपि रूपं तत्र स्यादित्यनपेक्षितविशेषकारणत्वाध्यासाद्भेदेनैकमात्रमेवोच्छिद्येत ॥ ४६ ॥

किञ्च कार्यव्यक्तेः कारणमस्ति न वा, न चेन्नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसङ्गः । अस्ति चेत् किं तत् कारणं । व्यक्तिविशेष इति चेन्न, पूर्वभावस्य रासभादिसाधारणत्वात् तां कार्यव्यक्तिं प्रति तस्याः किं तत्कारणत्वम् । स्वरूपमेवेतिचेन्न, तस्य व्यावृत्तत्वात् । तस्यास्तत्कारणात्मत्वे चातदात्मनां तत्कारणत्वविरोधात् तत्कारणत्वस्य च समवाय्यसमवायिनिमित्तभूतानेकव्यक्तिसाधारणत्वात् अनेकस्य चैकानुगतव्यवहारबुद्धिनिदानत्वे गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गस्य दर्शितत्वात् ॥ ४७ ॥

समर्थन—कारण में कारणत्वरूप सामान्य धर्म रहता है और घटादि में तत्तत् कार्यत्व से निरूपित तत्तत्कारणमात्रवृत्ति तत्तत्कारणत्वरूप विशेषधर्म रहता है इस प्रकार से दो धर्म रहते हैं अतः दण्ड में सामान्य कारणत्व के रहने पर भी पटादि निरूपित विशेष कारणत्व के न होने से दण्ड से घट की उत्पत्ति नहीं होती है ।

खण्डन—अन्वय व्यतिरेक, कार्यविशेष के कारणविशेष में है अतः अन्वय व्यतिरेक से घटादि-कारणत्वविशेष ही सिद्ध होता है उससे अतिरिक्त कारणत्वसामान्य में कुछ प्रमाण नहीं है अर्थात् घटकारणम्, पटकारणम्, ऐसी ही प्रतीति होती है, कारणम्, कारणम् ऐसी कार्यविशेष-अनालिङ्गित प्रतीति नहीं होती है, अतः उसके सत्व में प्रमाण नहीं है अन्यथा यदि कारणत्वरूप सामान्य धर्म को मानें, तो वही कारणव्यक्ति किसी का अकारण भी है अतः अकारणत्वरूप सामान्य धर्म को भी वहाँ मानना पड़ेगा और यदि अकारणत्वरूप सामान्य को मानें, तो विशेष की अपेक्षा से रहित वह कारणत्व और अकारणत्व परस्पर विरुद्ध हैं, अतः परस्पर विरुद्ध दो धर्मों के अभ्यास होने से एक वस्तु भी भिन्न हो जायगी ॥४६॥

किंच कार्यव्यक्ति का कारण है, वा नहीं, यदि नहीं है तो कार्य का सर्वदा सत्व या सर्वदा असत्व होना चाहिये । यदि है तो वह कारण क्या है व्यक्तिविशेष कारण है, यह तो कह नहीं सकते, कारण कि पूर्ववर्ति त्वरूप कारणत्व अकारण रासभ में भी है फिर उस कार्य-व्यक्ति का उसमें कारणत्व क्या है । जो कारणमात्र में ही रहता है ।

समर्थन—कारण का स्वरूप ही कारणत्व है रासभ के कारण न होने से उसका स्वरूप कारणत्व नहीं है ।

खण्डन—स्वरूप प्रतिव्यक्ति भिन्न भिन्न होता है अतः यदि दण्ड के स्वरूप को कारणत्व मानें, तो चक्र का स्वरूप कारणत्व न होगा । एक कार्य का एक ही कारण होता है ऐसा स्वीकार नहीं कर सकते, कारण कि एक कार्य के समवायी, असमवायी और निमित्त भेद से अनेक कारण होते हैं । किञ्च यदि कारण के स्वरूप को ही कारणत्व मानें, तो स्वरूप के प्रतिव्यक्ति व्यावृत्त होने से कारणमात्र में एक अनुगत धर्म के न होने से अनुगत प्रतीति वा व्यवहार नहीं होगा और यदि भिन्न भिन्न व्यक्ति में अनुगत-कारणत्व के न होने पर भी अनुगत प्रतीति वा व्यवहार को मान लें, तो कारण के तुल्य भिन्न भिन्न गोव्यक्ति में भी अनुगत गोत्व जाति के बिना भी अनुगत बुद्धि या व्यवहार हो जाने से गोत्वादि जाति का भी उच्छेद हो जायगा ॥४७॥

नियतपूर्वभावित्वमिति चेन्न, व्याप्त्यर्थस्य नियमस्यैकस्य सर्वत्र व्यक्तावसम्भवात् पूर्वमात्रस्य चातिप्रसञ्जकत्वात्। तज्जातीयं प्रति नियततज्जातीयत्वमिति चेन्न, तस्य तज्जातीयव्यक्त्यन्तरसाधारण्यात्। नियततज्जातीयत्वे सति तत्पूर्वत्वमिति चेन्न, तत्समानकालोत्पत्तिककार्यव्यक्तिशतजनकव्यक्तिशतसाधारण्यात्। तथाऽभ्युपगमे चैकसमवाय्यादिनाशे सर्वतत्कार्यनाशप्रसङ्गः। तत्कालतज्जातीयसर्वसामग्रीतः सर्वतत्कालतज्जातीयोत्पत्तौ सामग्रीभेदस्य कार्यभेदहेतुतया प्रत्येकमिलितसामग्रीत्वविकल्पेन कार्यव्यक्त्यभेदप्रतिव्यक्तिस्वरूपभेदयोरन्यतरप्रसङ्गश्च ॥ ४८ ॥

समवायित्वं प्रत्यपि साधर्म्यानुविधायिनि नियमेऽत्यापत्तेः। व्यावृत्तत्वे चाऽनियमात्। नियततज्जातीयत्वे सति तत्सादेश्यमिति चेन्न, समवायिदेशापेक्षया कार्य्यकारणयोः सादेश्यनियमानभ्युपगमात् संयोगिदेशापेक्षया गुणादावसम्भवात्। यथा

समर्थन—नियम से पूर्वभावी कारण है।

खण्डन—नियम शब्द का अर्थ व्याप्ति है और वह एक व्याप्ति सब कारण व्यक्ति में नहीं है अर्थात् घट सामान्य की दण्ड सामान्य में ही व्याप्ति होती है। और नियम का निवेश न कर पूर्व भावित्वमात्र लक्षण करें, तो रासभ में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—नियम से पूर्ववर्तीजातीय कारण है।

खण्डन—एक घटव्यक्ति का जो कारण तज्जातीय अन्य व्यक्ति भी कारण है अतः ऐसा लक्षण मानने पर अन्य का कारण भी अन्य का कारण हो जायगा।

समर्थन—नियत तज्जातीयत्व से विशिष्टतत्पूर्वत्व कारणत्व है।

खण्डन—जिस कालमें एक घटकार्य उत्पन्न होता है उसी कालमें अनेक घटकार्य देश-भेद से उत्पन्न होते हैं अतः एक घट से नियत पूर्ववर्त्तिजातीयत्व और तद्घट से पूर्वत्व के अन्य घट के कारण में होने से पूर्ववत् अतिव्याप्ति हो जायगी और यदि एक घट के कारण को घटमात्र का कारण मानलें, तो एक घट के समवायी वा असमवायी कारण के नाश हो जाने पर घटमात्र का नाश हो जायगा, कारण कि समवायी या असमवायी कारण के नाश से कार्य का नाश नैयायिक मानते हैं।

किञ्च समानकालिक समानजातीय सब सामग्री से समानकालिक सजातीय सब कार्यों की यदि उत्पत्ति को मानें, तो सामग्री भेद ही कार्यभेद का हेतु है और अब सामग्री-भेद रहा नहीं अतः यदि सामग्री-समुदाय को सब कार्यों का जनक मानें, तो सब कार्यों का ऐक्य हो जायगा और एक २ सामग्री को सब कार्यों का जनक मानें, तो एक कार्य भिन्नरूप हो जायगा॥ ४८॥

समवायीकारण स्थल में भी यदि तन्तुत्वरूप से तन्तु को पट का समवायी कारण मानें, तो सब पटों के सब तन्तु समवायी कारण हो जायँगे। और यदि तत्पट में तत्तन्तु को कारण मानें, तो कारणत्व का ग्रह नहीं होगा, कारण कि कारणत्व के शरीर में नियम (व्याप्ति) का प्रवेश है और सामान्य का ही सामान्य में नियम रहता है, अतः तत्तन्तु में व्याप्ति के ज्ञान के न होने से कारणत्व का ग्रह भी नहीं होगा।

समर्थन—पट के देश में विद्यमान तन्तु पट में समवायी कारण है अतः तन्तुमात्र पट में कारण नहीं होता है।

कथञ्चित्सादेश्यमात्रस्य चातिप्रसङ्गकत्वात् । अदृष्टादेर्भिन्नदेशस्यापि कारणत्वोपगमे सर्वं प्रति सर्वकार्य्यसामग्र्याः कारणत्वापातात् पूर्वभावनियमादेस्तुल्यत्वात् । अनुगते च रूपेऽन्वयव्यतिरेकसम्भवात् व्यक्तिगतसामान्ययोरेव कार्य्यकारणत्वापत्तेः । तद्गतसामान्ययोरेवान्वयव्यतिरेकादिनियमः व्यक्त्योश्च कार्यकारणतेति लक्ष्यलक्षणभाववैयधिकरण्यात् । सामान्याकारप्रविष्टां व्यक्तिमादायान्वयव्यतिरेके विशेषस्याकारणत्वं स्यात् सामान्याकारेण च पूर्वसतः कार्य्यत्वं, द्रव्यसामग्र्या वृक्षसामग्र्या शिंशपासामग्र्या च पृथग्व्यक्तिजननापत्तेः पृथगेव तासां सामग्रीत्वात् सर्वासाञ्च व्यक्तिं प्रत्येव जनकत्वात् द्रव्यत्वादीनामजन्यत्वात् । शिंशपासामग्र्या वृक्षसामग्रीसहिताया एव सामग्रीभावान्न पृथक् शिंशपाव्यक्तिरिति चेन्न, वृक्षसामग्र्याः शिंशपासामग्रीमतीत्यापि शालतमालादेर्वृक्षस्य जननात्पृथक्तया वृक्षव्यक्तिजननापत्तेः । सापि शिंशपासामग्री

खण्डन—तन्तु, संयोग सम्बन्ध से भूतल में है, और पट, समवाय से तन्तु में, अतः दोनों के एक देश में न होने से असम्भव हो जायगा ।

यदि कहें, कि संयोग से पट भी भूतल में है, तो तन्तु का पटस्थल में तो समन्वय हो जायगा, परन्तु रूपरसआदि गुण संयोग से नहीं रहते हैं, अतः गुण-कार्यस्थल में अव्याप्ति हो जायगी ।

(स्वाश्रय संयोग सम्बन्ध से) समवायी कारण के अधिकरण में है, अतः अव्याप्ति नहीं, तो यथा कथंचित् [स्वसजातीय संयोग संम्बन्ध से] तन्तुमात्र को पटमात्र के अधिकरण में होने से तन्तुमात्र में समवायी कारणत्व का प्रसङ्ग हो जायगा ।

किञ्च अदृष्ट (धर्माधर्म) के कार्य-देश से अन्यत्र (आत्मा में) रह कर भी कारण होने से कार्य-समानदेश ही कारण हो यह नियम नहीं है समानकाल में उत्पन्न कार्यमात्र में समानजातीय कारणमात्र के (नियतपूर्ववर्तिजातीय होने से) कारणत्व का प्रसङ्ग हो जायगा । किञ्च अन्वय व्यतिरेक के विधान का अनुगतरूप दण्डत्वादि सामान्य में सम्भव है, अतः सामान्यरूप (दण्डत्वघटत्वआदि) में कार्यत्व कारणत्व का प्रसङ्ग हो जायगा । और दण्डत्वघटत्व-आदि सामान्य में कार्यत्व कारणत्व है नहीं, अतः वे सामान्य लक्ष्य नहीं हैं, इस प्रकार से लक्ष्य (विशेष) में लक्षण के न होने से अलक्ष्य (सामान्य) में होने से लक्ष्यलक्षणभाव का वैयधिकरण्य हो जायगा । और यदि कहें, कि निर्विशेष सामान्य न होने से सामान्यनिष्ठ का कार्यत्व कारणत्व विशेष में भी है, अतः लक्ष्यलक्षणभाव में भी वैयधिकरण्य नहीं है, तो सामान्यविशिष्ट विशेष में कार्यत्व कारणत्व के और शुद्ध विशेष में लक्ष्यत्व के होने से वैयधिकरण्य तदवस्थ ही है ।

यदि कहें, कि सामान्य लक्ष्य भी है, अतः लक्ष्यलक्षणभाव का वैयधिकरण्य नहीं है यह कह नहीं सकते, कारण कि सामान्य नित्य होने से कार्य नहीं हो सकता । किंच सामान्य को कार्य मानने में सामान्य के पूर्व से सिद्ध होने से सत्कार्यवाद का प्रसङ्ग हो जायगा, अतः असत्कार्यवादी नैयायिकों का अपसिद्धान्त हो जायगा ।

किंच वृक्ष की सामग्री, द्रव्य की सामग्री—शिंशपा की सामग्री से भिन्न भिन्न कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये, कारण कि इनमें प्रत्येक में सामग्रीत्व रहता है, और द्रव्यत्वादि सामान्य के अजन्य होने से ये तीनों सामग्रियां व्यक्ति की ही जनिका हैं ।

तन्मिलिता जनिकेति न व्यक्तिभेद इति चेन्न, शिंशपार्थातिरिक्तवृक्षार्थाभावापत्तेः। वृक्षशिंशपासामग्र्योरेकीभूतयोर्जननाविशेषाद्वृक्षसामग्री च वृक्षजनन एव कथं क्वचिच्छिंशपासामग्री क्वचित्तमालसामग्रीमपेक्षेत इति स्यात्। एकस्य वृक्षलक्षणस्य कार्यस्य सामग्रीभेदे स्वरूपभेदापातात्। अननुगतायाश्च वृक्षसामग्रीत्वे पृथग्वृक्षव्यक्तेः पृथक्शिंशपाव्यक्तेरुत्पत्त्यापत्तेरित्यादि स्वयमूहनीयम्॥ ४६॥

नियमे च प्राक्कालीनतयाऽभिधीयमाने प्रागित्यस्य व्यवच्छेद्यौ वर्तमानभविष्यत्कालौ प्राक्कालश्च व्यवच्छेदको विवेचनीयः, नच तद्विवेचनं शक्यम्। वर्तमानादि-

---

समर्थन—वृक्ष-सामग्री से युक्त ही शिंशपा सामग्री में सामग्रीत्व है, अतः वृक्ष से पृथक् शिंशपा-व्यक्ति की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु वृक्षरूप ही शिंशपा की उत्पत्ति होती है।

खण्डन—ऐसा मानने से वृक्ष से पृथक् शिंशपा की उत्पत्ति न हो परन्तु वृक्ष-सामग्री तो शिंशपा-सामग्री की अपेक्षा करती ही नहीं। अन्यथा वृक्ष-सामग्री भी यदि शिंशपा-सामग्री की अपेक्षा करे, तो वृक्ष-सामग्री से तालतमाल की उत्पत्ति भी न होनी चाहिये अतः शिंशपा-स्थल में शिंशपा से पृथक् वृक्ष की उत्पत्ति क्यों न हो

समर्थन—वृक्ष-सामग्री भी शिंशपा-स्थल में शिंशपा सामग्री से युक्त हो कार्य का जनन करती है, अतः शिंशपा से पृथक् वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती है।

खण्डन—यदि ऐसा मानें, तो शिंशपास्थल में शिंशपा से भिन्न वृक्षशब्द के अर्थ का अभाव हो जायगा, कारण कि सामग्री-भेद से कार्य्य-भेद होता है। और शिंशपास्थल में वृक्ष-सामग्री शिंशपा-सामग्री दोनों एक होकर कार्य जनक होती हैं फिर कार्यभेद कैसे होगा। किञ्च वृक्ष-सामग्री से वृक्ष की ही उत्पत्ति होती है अन्य की उत्पत्ति तो होती ही नहीं, फिर वृक्ष की उत्पत्ति में ही उक्त सामग्री शिंशपासामग्री की और कहीं तालादि-सामग्री की अपेक्षा करती है यह कैसे हो सकता है। अन्यथा [यदि अपेक्षा करें तो] जैसे दण्डमात्र चक्र की अपेक्षा करने से सामग्री नहीं है वैसे उक्त सामग्री भी अपेक्षा करने से सामग्री न कहावेगी।

और यदि एक ही शिंशपारूप वृक्ष की उत्पत्ति में वृक्ष-सामग्री शिंशपा-सामग्री दोनों परस्पर निरपेक्ष समर्थ हों, तो एक ही कार्य का स्वरूप-भेद हो जाना चाहिये।

कारण कि जब वृक्ष सामग्री से पृथक् शिंशपा-सामग्री है तब वृक्ष से पृथक् शिंशपा की उत्पत्ति की आपत्ति क्यों न हो। इस प्रकार के खण्डन की स्वयं भी ऊहा करनी चाहिये॥ ४६॥

इति कारणत्वलक्षणखण्डन

अथ वर्तमानकालादिलक्षणखण्डन।

किञ्च प्राक्कालवृत्तित्वरूप सम्बन्ध से जो कार्य का व्यापक हो वह कारण है इस लक्षण में प्रविष्ट व्यवच्छेदक [इतरनिषेधक] प्राक्काल का तथा व्यवच्छेद्य [निषेध्य] वर्तमान भविष्यत् काल के लक्षण का भी विचार करना चाहिये। और इनके लक्षण का निश्चय हो नहीं सकता इससे कारणत्व अनिर्वचनीय है।

बुद्धय एव स्वविषयवैचित्र्ये प्रमाणमिति चेन्न, तथाहि वर्तमानादिबुद्धेरेव को विषयः। कालविशेष इति चेन्न, कालस्य विशेषः स्वाभाविक औपाधिको वा। नाद्यः, कालस्य भवद्भिरेकत्वाभ्युपगमात् य एव कालो वर्तमानः प्रतीयते स एव पूर्वं भावीति पश्चात् भूत इति च न प्रतीयेत। त्रिविधस्वभाव एवासाविति चेन्न, भेदप्रसङ्गात् व्यवस्थानुपपत्तिप्रसङ्गाच्च। यदैव वर्तन इति प्रत्ययस्तदैव वृत्तो वर्तिष्यत इति प्रत्ययप्रसङ्गात् ॥५०॥

द्वितीयश्चेदुपाधिरभिधीयताम्। सूर्य्यादिक्रियासम्बन्धभेदः स इति चेन्न, भूतभविष्यतोरपि क्रियासम्बन्धप्रत्ययस्यावश्यं वक्तव्यत्वात्। य एव दिवसः सूर्य्यगतिविशेषावच्छिन्नो वर्त्तत इति प्रतीतः स एव हि तदवच्छिन्नो वृत्त इत्यवगम्यते वर्त्स्यन्निति च, न हि निर्विशेषस्य कालस्य तदतीतत्वं प्रतीयतेऽनागतत्वं वा किन्तूपाधिविशेषेण-

---

समर्थन—वर्तमान काल की तथा अतीतकाल और भविष्यत् काल की बुद्धि ही स्वविषय वर्तमानआदि कालों के भेद में प्रमाण हैं।

खण्डन—यह युक्त नहीं है, कारण कि इन बुद्धियों का विषय क्या है, इस बात का यावत् निश्चय न हो तावत् इन बुद्धियों के प्रामाण्य का ग्रह नहीं होगा। अर्थात् विषय के तथात्व के आधीन ज्ञान का प्रामाण्य है अतः विषय के स्वरूप के ज्ञान के बिना ज्ञान में प्रामाण्य का ज्ञान दुर्लभ है यदि कहें, कि कालविशेष वर्तमान है, तो वह काल का विशेष, स्वाभाविक है वा औपाधिक? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि काल को आप एक मानते हैं, अतः जो काल वर्तमानत्वरूप से प्रतीत होता है, वही पहिले भविष्यत्व से और पीछे भूतत्वरूप से प्रतीत नहीं होगा। एक ही काल का त्रिविध स्वभाव है—यह कथन भी युक्त नहीं है, कारण कि स्वभाव के भेद से काल का भी भेद हो जायगा। यदि एक काल के विरुद्ध धर्मत्रय को स्वभाव मान भी लें, तब भी जिस काल में 'वर्तते' यह प्रतीति होती है उस ही काल में "वृत्तः" "वर्तिष्यते" ऐसी प्रतीति हो जायगी, कारण कि तीनों स्वभाव काल में रहते हैं, अतः सदा तीनों व्यवहार होने चाहिये। काल का विशेष औपाधिक है—इस द्वितीय कल्प में भी उपाधि को कहना चाहिये। यदि कहें, कि सूर्यादिक्रिया का सम्बन्ध उपाधि है, तो भूत भविष्यत् में भी सूर्य-क्रिया के सम्बन्ध की प्रतीति अवश्य मानेंगे, कारण कि जिस सूर्य के गतिविशेष से अवच्छिन्न [युक्त] जो दिवस 'वर्तते' इस प्रतीति का विषय है वही दिवस उस ही सूर्यक्रिया से अवच्छिन्न "वृत्तः, वर्तिष्यते" इस प्रतीति का भी विषय होता है। विशेष [उपाधि] से रहित काल में अतीतत्व अनागतत्व की प्रतीति नहीं होती है—किन्तु उपाधिविशेष [सूर्यक्रिया] से अवच्छिन्न में ही अतीतत्वादि की प्रतीति होती है जिस उपाधि से अवच्छिन्न वह दिवस पूर्वकाल में अन्य दिवसों से व्यवच्छिन्न होकर "वर्तते" इस प्रतीति का विषय था उसी उपाधि से उसी अन्य दिवस से व्यावृत वह दिवस किसी काल में "वृत्तः, वर्तिष्यते" इस प्रतीति का भी विषय होता है

समर्थन—यह आपका कथन सत्य है, परन्तु जिस काल में उपाधि का वह सम्बन्ध स्वरूप से वर्तमान है उस काल में "वर्तते" ऐसी प्रतीति होती है और जिस काल में वह उपाधि नष्ट हो जाती है उस काल में "भूतः" इत्याकारक प्रतीति होती है और जब वह उपाधि अनागत रहती है तब "भविष्यति" इस प्रतीति की विषय होती है।

खण्डन—यह कथन भी अयुक्त ही है, कारण कि लक्षणघटक वर्तमानशब्द का अर्थ

वावच्छिन्नस्य येनैवासौ पूर्वं दिनान्तरात् व्यवच्छिन्नो वर्त्तत इति प्रतीतः तेनैवोपाधिना तत एव व्यवच्छिन्नो वृत्त इति वर्त्तिष्यत इति च कदाचित् ज्ञायते। ननु सत्यमेतत् परं यदा तदुपाधिसम्बन्धस्तस्य स्वरूपेणावतिष्ठमानस्तदा वर्त्तमानप्रत्ययः यदा स एव विनष्टो भवति तदा भूतप्रत्ययो यदाऽनागतस्तदा भविष्यत्प्रत्यय इति, नैतदस्ति। यद्यत्र लटो विवक्षितोऽर्थस्तदा तज्ज्ञानस्यैव तज्ज्ञानोपायत्वमित्यात्माश्रयानवस्थयोरन्यतरप्रसङ्गः। विनष्टादिशब्दाश्चातीतादिपर्यायास्तेषां सर्वेषामेवार्थे निरूप्यमाणे तन्मध्यपतितमेकं शब्दं प्रयुज्य तन्निरुक्तिं कुर्वाणः श्लाघनीयप्रज्ञो मातापितृमानसि ॥ ५१ ॥

क्रियावच्छिन्नः कालो वर्तमानः तत्प्रागभावावच्छिन्नो भूतः तत्प्रध्वंसावच्छिन्नो भविष्यन्निति चेन्न, अतीतानागतप्रतीतिकालोऽपि क्रियावच्छिन्नः प्रतीयत इति वर्तमानप्रत्ययप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात् क्रियानवच्छिन्नस्य तत्प्रागभावप्रध्वंसाभावावच्छेदानुपपत्तेः।

प्रागभावश्च प्रागर्थानिरुक्तौ कथं न दुरधिगमः। प्रध्वंसस्याऽपि प्रागभावात्कथं विशेषो वक्तव्यः। अभावो विनाशी प्रागभाव उत्पत्तिमान् प्रध्वंस इत्यनयोर्विशेष

वर्तमान काल ही है, अतः वर्तमानकाल के लक्षण में वर्तमानकाल घटक हुआ वह लक्षणघटक वर्तमान यदि लक्ष्य वर्तमानरूप ही है तो आत्माश्रय और यदि अन्य वर्तमान है तो उसके लक्षण में अन्य वर्तमान के घटक होने से अनवस्था हो जायगी। किञ्च विनष्टअतीतआदि शब्दों का एक ही अर्थ है अतः उन सब शब्दों के ही अर्थ के निरूपण के समय में यदि आप विनष्टघटित अतीत का लक्षण करते हों, तो आपकी प्रज्ञा प्रशंसनीय है और आप माता पिता आदि गुरुजनों से युक्त हैं अर्थात् यदि लक्ष्य अतीत और लक्षणघटक विनष्टशब्द का अर्थ एक ही है तो आत्माश्रय और लक्ष्य से अन्य लक्षणघटक अतीतशब्द का अर्थ है, तो इस प्रकार उत्तरोत्तर निवेश से अनवस्था हो जायगी ॥५१॥

समर्थन—पाकादि क्रिया से अवच्छिन्न काल वर्तमान है और क्रिया के प्रागभाव से अवच्छिन्न काल भूत है और क्रिया के ध्वंसाभाव से अवच्छिन्न काल भविष्यत् है।

खण्डन—अतीत अनागत की प्रतीति के काल में भी क्रिया से अवच्छिन्न ही काल प्रतीत होता है, अतः अतीतआदि की प्रतीति के काल में वर्तमान प्रत्यय हो जायगा, कारण कि जो क्रिया से अनवच्छिन्न है वह क्रिया के प्रागभाव वा ध्वंसाभाव से अवच्छिन्न हो नहीं सकता है, अर्थात् प्रतियोगी से अवशिष्ट प्रागभाव अथवा ध्वंस की प्रतीति होती नहीं है किन्तु प्रतियोगी से विशिष्ट प्रागभाव की ही प्रतीति होती है अतः ध्वंसादि से अवच्छिन्नकाल ध्वंस के विशेषण क्रिया से अवश्य ही अवच्छिन्न रहेगा, कारण कि विशेषण के अवच्छिन्नत्व के विना विशिष्ट से अवच्छिन्नत्व कहीं भी हो नहीं सकता है। किञ्च यावत् प्राक्शब्द के अर्थ का निर्वचन न हो तावत् प्रागभाव शब्द का अर्थ भी दुर्ज्ञेय क्यों नहीं है और ध्वंसाभाव का प्रागभाव से भेद किस प्रकार से होगा।

समर्थन—विनाशी अभाव प्रागभाव है और उत्पत्ति से युक्त अभाव ध्वंसाभाव है—यह दोनों अभावों में भेद है।

खण्डन—प्रागभाव का विनाश क्या वस्तु है जिससे वह विनाशी कहा जाता है। यदि प्रतियोगी घटादि को प्रागभाव का विनाश मानें, तो प्रतियोगी घटादिरूप विनाश ध्वंस का

इति चेन्न, को हि प्रागभावस्य विनाशो येन विनाशीत्युच्यते। यदि प्रतियोगिभूतो घटादिः प्रध्वंसस्यापि प्रागभाववत्प्रतियोगीति सोपि विनाशी प्राप्तः। उत्पत्तिमांश्च प्रध्वंस इत्युत्पत्तिपदार्थो विवेचनीयः यद्यसावसतः सत्त्वं तच्च सामान्यं तदाऽभावेऽसम्भव एव। अथ स्वरूपसत्त्वं तदा प्रागभावेऽपि प्रसङ्गः। तस्यापि कदाचिदसत्त्वात्। पूर्वमसतः पश्चात्सत्त्वं विवक्षितमिति चेन्न, पूर्वेदानींपश्चादर्थस्यैवानिरूपणात्। एतेन कारणावच्छिन्नं सत्त्वमुत्पत्तिरित्यपि निरस्तम्। पूर्वापरनिर्वचनमन्तरेण कारणार्थानिर्वचनात्॥ ५२॥

अस्तु तावदतीतानागतयोर्यथातथा निरुक्तिः यत्क्रियावच्छिन्नो यः कालः स तत्क्रियापेक्षया वर्तमानो नत्वन्यापेक्षयेति चेत् तदपेक्षयेति कोऽर्थः। किं तदुपधानेन, उत तदवधिकतया, उत तत्प्रतियोगिकतया, उत तेन प्रकारेणेत्येव। नाद्यः, उपाध्यवच्छिन्नस्यातीतानागतप्रतिपत्तिविषयत्वमपि तस्येत्यसकृदुक्तत्वात्। नापि द्वितीयः, अस्मादयं दीर्घ इतिवदस्मादयं वर्त्तत इत्यवध्यपेक्षामन्तरेण प्रतीयमानत्वात् सर्वदैव च

भी है, अतः ध्वंस भी विनाशी प्राप्त हुआ। किञ्च उत्पत्तियुक्त अभाव ध्वंस है यहाँ उत्पत्ति का भी विचार करना चाहिये, कि उत्पत्ति क्या वस्तु है। यदि कहें, कि असत् का सत्व उत्पत्ति है और सत्व सत्ता जाति है। तो ध्वंसाभाव में सत्ता जाति के न होने से असम्भव हो जायगा, और यदि स्वरूप सत्व है, तो प्रागभाव का भी कदाचित् कार्य की उत्पत्ति से पूर्व स्वरूप से सत्व है, अतः प्रागभाव में ध्वंस के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—पूर्वकाल में असत् के उत्तरकाल में जो स्वरूपसत्व वह उत्पत्ति है।

खण्डन—पूर्व, इदानीं, पश्चात् शब्द के अर्थ का निरूपण अद्यावधि है नहीं अर्थात् पूर्व (अतीत) के लक्षण में ध्वंसाभाव का ध्वंसाभाव के लक्षण में उत्पत्ति का और उत्पत्ति के लक्षण में पूर्व के निवेश से चक्रक हो जायगा।

समर्थन—कारण से अवच्छिन्न [कारण में समवेत] जिसका सत्व हो, वह उत्पत्ति है। प्रागभाव का सत्व कारण में समवेत नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डन—कारण के लक्षण में पूर्व के निवेश होने से यावत् पूर्व का निर्वचन न हो तावत्कारणत्व की निरुक्ति नहीं हो सकती है अतः उक्त युक्ति से चक्रक हो जायगा॥५२॥

समर्थन—अतीत अनागत काल का लक्षण तावत् रहे, पश्चात् उसका लक्षण कहेंगे। सम्प्रति वर्तमान काल का लक्षण करते हैं। श्रवण कीजिये—जिस पाकादि क्रिया से अवच्छिन्न जो काल हो वह काल उस क्रिया की अपेक्षा से वर्तमान है अन्य क्रिया की अपेक्षा से नहीं।

खण्डन—इस लक्षण में अपेक्षाशब्द का क्या अर्थ है उपाधि अर्थ है, अथवा अवधि, अथवा प्रतियोगी, अथवा प्रकार इनमें प्रथम कल्प युक्त नहीं, कारण कि अतीत अनागत व्यवहार काल में भी उक्त रीति से तत्क्रिया से अवच्छिन्न काल है अतः उस क्रियारूप उपाधि की अपेक्षा से उस काल में वर्तमानत्व हो जायगा—यह दोष बार २ कह आये हैं।

द्वितीय तृतीय कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि जैसे "अस्मात् अयं दीर्घः" इत्यादि व्यवहार में नियम से अवधि की अपेक्षा होती है या "जैसे घटात् भिन्नः पटः" इत्यादि व्यवहार में भेद प्रतियोगी की अपेक्षा करता है वैसे वर्तते इस व्यवहार में नियम से अस्मात् ऐसी

त्रिविधावध्यपेक्षया आसीदस्ति भविष्यतीति प्रत्ययाव्यवस्थाप्रसङ्गात्। अतएव न तृतीयः। नापि चतुर्थः, अतीतानागतप्रतीतिकाले क्रियावच्छेदप्रकारेण वर्त्तमानप्रत्ययविषयत्वप्रसङ्गात्। नासौ क्रियावच्छेदलक्षणः प्रकारोऽतीतानागतकाले वर्तत इति चेन्न, वर्तमानताया अद्याप्यनिरूपणेन वर्तत इत्युक्त्वा विशेषस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। तत्क्रियाकाले तत्क्रियावच्छिन्नः कालो वर्तमान इति चेन्न, कालस्य कालाश्रयतया निरूपणासम्भवात्कालान्तरस्यानभ्युपगमात्, तस्यैव कालस्य तदाश्रयत्वे व्यक्तमात्माश्रयत्वापत्तेः ॥५३॥

स्यादेतत् ग्राहकविज्ञानविषयो ग्राहकविज्ञानाश्रयश्च कालो वर्तमानः वर्तमानोपाधिप्रागभावावच्छिन्नश्च पूर्वस्तत्प्रध्वंसाभावावच्छिन्नश्चानागतः, प्रागभावप्रध्वंसयोश्च स्वाभाविकमेव भेदमादाय व्यवस्था, प्राग्व्यवस्थाहेतुरभावः प्रागभाव इति स्वभावभूतस्यैव

अवधि या प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं होती है। अर्थात् घटो वर्तते—ऐसा व्यवहार होता है। घटाद्वर्तते—ऐसा व्यवहार नहीं होता है यदि अवधि को प्रतियोगी की नियम से अपेक्षा हो, तो घटात्-वर्तते, यह व्यवहार भी होना चाहिये। उसे क्रिया की अपेक्षा से अर्थात् उस क्रियारूप प्रकार से वह चतुर्थ कल्प भी अयुक्त है, कारण कि अतीत अनागत व्यवहार में भी ध्वंसादि के विशेषणस्वरूप से उस क्रिया का अवच्छेद काल में है अतः, उस क्रिया प्रकार से अतीतादि व्यवहारकाल में भी वर्तमान व्यवहार होजायगा।

समर्थन—वह क्रियारूप प्रकार अतीतादि व्यवहारकाल में वर्तमान नहीं है और लक्षण में वर्तमान जो क्रियारूप प्रकार उस प्रकार से वह काल वर्तमान है ऐसा निवेश होने से उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—अद्य पर्यंत वर्तमान के लक्षण के न होने से वर्तमान के निवेशविशेष को आप नहीं दिखा सकते अर्थात् वर्तमान के लक्षण में वर्तमान के प्रवेश होने से आत्माश्रय हो जायगा।

समर्थन—उस पाकादि क्रिया के काल में उस क्रिया से अवछिन्न काल, उस क्रिया प्रकार से वर्तमान है।

खण्डन—काल, काल का आश्रय नहीं हो सकता है, कारण कि काल एक। है दो काल तो आपके मत में भी हैं नहीं और उसी काल को उसी काल का अधिकरण मानें, तो आत्माश्रय हो जायगा; अतः यह भी लक्षण अयुक्त है ॥५३॥

समर्थन—ग्राहक-ज्ञान का विषय होकर ग्राहक-ज्ञान का आश्रय जो काल वह वर्तमान है—यह वर्तमान का लक्षण हो सकता है वर्तमान जो उपाधि [सूर्यादि-क्रिया] उसके प्रागभाव से अवछिन्न काल अतीत है तथा वर्तमान उपाधि के ध्वंसाभाव से अवछिन्न काल भविष्यत् है प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव का जो स्वाभाविक भेद [स्वरूपरूप विशेष] उसका ग्रहण कर ही परस्पर भेद की व्यवस्था है प्राग् व्यवस्था [उपाधि की पूर्व अवस्था] के हेतु जो अभाव वह प्रागभाव है यह लक्षण [प्रागभाव के स्वभावभूत विशेष के प्राग् व्यवस्थारूप-कार्य का ग्रहण कर] हो सकता अनागत व्यवस्था [उपाधि की उत्तर अवस्था] का कारण ध्वंसाभाव है।

विशेषस्य कार्यमादाय लक्षणमनागतव्यवस्थानिदानप्रभावः प्रध्वंस इति च प्रध्वंसस्येति मैवम् । ज्ञानाऽस्वप्रकाशतापक्षे स्वोपहितस्य स्वयं ग्रहणानुपपत्तेः कथं वर्तमानताग्रहः, ज्ञानान्तरेण च तथाग्रहे वर्तमानतावभासाङ्गीकारे तदाऽसौ दृष्टो मयेति प्रत्ययस्य तदाऽसौ मया दृश्यत इत्याकारतापत्तिः । अत एव स्वप्रकाशपक्षेऽप्यनिस्तारः । यावानर्थः स्वप्रकाशे वर्तमानतयोक्तस्तावत एव परेण ग्रहणे व्यभिचारात् स्वप्रकाशतायाश्चाधिक्येऽपि विषये विशेषाभावात् । स्वरूपमेव विशेष इति चेन्न, तस्यानुगमाननुगमाभ्यामनुपपत्तेः । प्राक्प्रध्वंसाभावयोश्च स्वरूपतोऽविशेषेऽपि कतरो भूतव्यवहारस्य कतरश्चानागतव्यवहारस्योपाधिरित्यनुयुक्ते कार्यभेदजनकतया च तन्निरुक्तावुत्तरे पूर्वप्रत्युक्तां पूर्वतापरतानिरुक्तिं विना जन्यजनकत्वाज्ञानमिति । उपाधिभेदाच्च कालभेदे योऽप्येकतयाऽभिमतः कालः सोऽपि चन्द्रसूर्यक्रियाद्यसङ्ख्योपाधिभेदसम्भवेन नाना स्यात्तत्राऽयमेवोपाधिर्नायमिति चाऽविनिगम्यत्वात् प्रतिक्षणस्वभावभेदवादिपक्षे च नानाक्ष-

---

खण्डन—जो ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानते हैं उनके मत में ज्ञान घटित उक्त लक्षण से उपहित वर्तमान काल का ग्रहण कैसे होगा । यदि कहें, कि अन्य ज्ञान से लक्षणघटक ज्ञान के ग्रहण होने से लक्षणयुक्त वर्तमान काल का भी अन्य ज्ञान से ही ग्रहण होगा, तो "तदासौ दृष्टो मया" इत्याकारक ज्ञान का "तदासौ दृश्यते" यह अभिलाप हो जायगा, कारण कि स्वग्राहक-ज्ञान का विषय तथा स्वग्राहक-ज्ञान का आश्रय जो काल तद्विषय पर देवदत्त-रूप जो उक्त वाक्य का अर्थ उसका बाध उक्त अतीत ज्ञानस्थल में नहीं है किन्तु सम्भव ही है । ज्ञान स्वप्रकाश है इस मत में भी "तदासौ दृष्टः" इस का "तदासौ दृश्यते" यह आकार हो जायगा, इस दोष से ही उक्त वर्तमान का लक्षण अयुक्त है, कारण कि जो अर्थ स्वप्रकाशमत में वर्तमानत्वरूप से उक्त है उसी अर्थ का "तदासौ दृष्टः" इस स्थल में अन्य ज्ञान से भी ग्रहण है । जो काल स्वप्रकाश ज्ञान का विषय हो तथा स्वप्रकाश ज्ञान का आश्रय हो वह वर्तमान है इस प्रकार से यदि लक्षण में स्वप्रकाशरूप अधिक विशेषण दें भी तब भी लक्ष्य वर्तमानरूप विषयों में किसी विशेषण का लाभ नहीं होता है ।

समर्थन—स्वप्रकाश ज्ञान का ही विषय हो अन्य का नहीं इस प्रकार से निवेश करने से लक्ष्य में भी विशेष है ।

खण्डन—ऐसा लक्षण करने पर लक्षणघटक स्वशब्द से यदि चैत्रज्ञान ग्रहण करें, तो मैत्रज्ञानमें और मैत्रज्ञान का ग्रहण करें, तो चैत्रज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी यदि लक्ष्य-भेद से लक्षण का भेद मान लें, तो अननुगम दोष हो जायगा । किञ्च प्रागभाव प्रध्वंसाभाव दोनों ही अभाव हैं, अतः इनके स्वरूप में तो कोई विशेष है नहीं फिर कौन [अभाव] भूत व्यवहार का और कौन अनागत व्यवहार का हेतु है—इस प्रश्न के होने पर कार्यभेद [प्रागवस्था अनागतअवस्था] के जनकत्व से इन दोनों अभावों में भेद का प्रतिपादन कर उक्त प्रकार से उत्तर हो नहीं सकता, कारण कि यावत् अतीतत्व का लक्षण न हो तावत् कारण का लक्षण न होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा ।

किञ्च उपाधि-भेद से वर्तमानआदि काल के भेद की कल्पना करें, तो जो एक भी वर्तमान काल है वह भी उपाधि सूर्यचन्द्रआदि की क्रियारूप उपाधि के भेद न होने

रोपु वर्तमानत्वादिव्यवहारार्थमुपाध्यनुसरणावश्यम्भावेनोक्तोपाधिदोषग्रासस्यैवापातादिति ॥५४॥

नन्वु तथाऽपि तावद्विषयभेदेनाऽवश्यं भवितव्यं प्रतीतिभेदस्य दुरपह्नवत्वादतः सामान्यतः सिद्धौ विशेषतो विवेचनाशक्तौ भेदे संशय एवास्तामितिचेन्न, संशयस्याऽपि निर्वक्तुमशक्यत्वात् । तथाहि—संशयस्य निश्चयात्किमुपाधिकृतो विशेषः, उत जातिकृतः । आद्ये किं विषयविशेषेणोपाधिना उत कारणविशेषेण उतान्येनैव केनचित्सम्बन्धिना कृतः । न प्रथमः तस्याऽ निर्वचनात् । उभयकोटिविषयः संशय इति चेन्न, कोटिद्वयसमुच्चयनिश्चयस्याऽपि संशयत्वप्रसङ्गात् प्रतीतिरेव नैवमितिचेन्न, भेदाभेदप्रतीतीनां शाब्दस्वप्नादिप्रतीतीनां च तादृशां सम्भवात् । समुच्चयप्रकाशे कोट्योरविरोधः प्रकाशते संशये तु विरोध इति चेन्न, पीतः शङ्ख इत्यादिपु पीतत्वशङ्खत्वादे

से अनेकरूप हो जायगा। सूर्य की क्रिया ही उपाधि है, चन्द्र-क्रिया नहीं है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं जो बौद्ध प्रतिक्षण काल का स्वाभाविक भेद मानते हैं, उनके मत में भी अनेक क्षण समूह में उपाधि-भेद के विना वर्तमानादि व्यवहार हो नहीं सकता, अतः-सूर्यादि क्रियारूप उपाधि अवश्य माननी पड़ेगी और उनके मानने में पूर्वोक्त दोष व्यक्त हैं ॥ ५४ ॥

इति वर्तमानआदिकाल निर्वचनखण्डन

अथ संशय-लक्षणखण्डन

समर्थन—वर्तमानादि-प्रतीति के भेद होने से विषय-भेद अवश्य होता है अतः सामान्यरूप से वर्तमानादि काल सिद्ध है परन्तु विशेषरूप से लक्षण करने में शक्ति न होने पर भी विशेषकाल में संदेह ही रहे हानि क्या है।

खण्डन—संदेह का लक्षण भी आप नहीं कर सकते हैं। देखिये—संदेह में निश्चय से भेद क्या उपाधि से कृत है या जाति से कृत है? प्रथम पक्ष में विषयविशेष उपाधि है वा कारणविशेष वा अन्य ही कोई सम्बन्धी उपाधि है जिससे संदेह में भेद है इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है कारण कि विषयकृत निश्चय से संशय में भेद है इसमें प्रमाण नहीं।

समर्थन—एक धर्मी में उभयकोटि का अवगाही ज्ञान संदेह है।

खण्डन—एक धर्मी में उभयकोटि के अवगाही निश्चय में संशय-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। एक धर्मी में विरुद्ध कोटिद्वय का अवगाही निश्चय होता ही नहीं है—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि भेदाभेदवादी के मत में भिन्न और अभिन्न यह घट है यह प्रतीति तथा शब्द से स्वप्न में ऐसी प्रतीति होती है। निश्चय में दोनों कोटियों का विरुद्धत्व नहीं भासता है और संशय में दोनों कोटियों का विरुद्धत्व भी भासता है—यह भेद है—ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, कारण कि पीतत्व शङ्खत्व के भिन्नाश्रयत्वलक्षण विरोध को जो जानता है उसको भी पित्तरोग काल में "पीतः शङ्खः" यह प्रतीति होती है।

समर्थन—यद्यपि पीतत्व शंखत्व विरुद्ध हैं, तथापि उक्त निश्चय में विरोध नहीं भासता है।

भिन्नाश्रयतानियमं विरोधं जानतोऽपि प्रत्ययात्। तथाऽपि तस्यां बुद्धौ न भासते विरोध इति चेन्न, कथमेवमिति प्रकाशेऽपि तत्प्रकाशात्। तयोरेकाश्रययोर्विरोधप्रतीतेरवश्योपेयत्त्वात्। मिथ्याधियस्ता इति चेन्न, संशयस्यापि भवद्भिरतत्त्वबुद्धितयाऽङ्गीकारात्। तत्त्वातत्त्वबुद्ध्योश्च तद्विषयत्त्वेन विशेषाभावात् नहि मिथ्यारजतबुद्धी रजतबुद्धिरेव न भवति ॥५५॥

अव्यवस्थितकोटिद्वयविषयः संशय इति चेत्, केयमव्यवस्थितता। पाक्षिकतेति चेत्, न पर्यायं पृच्छामोऽपि तु किं कोटिद्वयस्वरूपमेवोत कोटिद्वयस्य धर्मः कश्चित्। आद्ये कोटिद्वयनिश्चयेन सहाविशेषस्तदवस्थः। द्वितीये यद्यसौ केनचित्प्रमाणेन सिद्धः तदा तस्यैव कोटिद्वयाश्रिततद्धर्मविषयस्य संशयत्त्वप्रसङ्गेन प्रमाणत्त्वव्याघातः। अथ कस्यचित्प्रमाणस्य नासौ विषयः, नास्ति तर्हि विषयकृतो विशेषः। एतेनान्योऽपि यः कश्चिद्विषयविशेषः स्थाणुतदभावपुरुषतदभावादिरूपोऽभिधीयते सोऽपि निरस्तो वेदितव्यः। अत्यन्तासत एव च तस्य प्रतिभासे जितं जिनैरसत्ख्यातिवादिभिः। क्वचित्सतश्चेत्तत्रैव प्रसङ्गः ॥ ५६ ॥

खण्डन—"पीतः शंखः कथम्" ऐसी विरोधविषयक प्रतीति भी होती है, कारण कि पीतत्व और शंखत्व की एकाधिकरण में प्रतीति अवश्य विरोधविषयक है।

समर्थन—"पीतः शंखः" यह प्रतीति भ्रम है, अतः अतिव्याप्ति नहीं, कारण कि संशय के लक्षण में "यथार्थत्वे सति" यह निवेश है।

खण्डन— यदि संशय के लक्षण में यथार्थत्वे सति निवेश करें, तो संशय के अयथार्थ होने से असम्भव हो जायगा। किंच तत्त्वबुद्धि अतत्त्वबुद्धि दोनों के विरुद्धकोटिद्वय के अवगाही होने से संशयत्व में कोई विशेष नहीं है, कारण कि मिथ्यारजत-बुद्धि भी रजतबुद्धि ही है, अर्थात् जहां शुक्ति में "रङ्गं रजतं वा"ऐसा संशय होता है वहां अख्याति के भय से संशय के लक्षण में "यथार्थत्वे सति" यह निवेश नहीं कर सकते हैं ॥ ५५ ॥

समर्थन—अव्यवस्थित जो कोटिद्वय वह जिसका विषय हो, वह संशय है।

खण्डन—अव्यवस्थितता क्या वस्तु है। यदि आप कहें, अव्यवस्थितता पाक्षिकता है, तो यह पर्याय कथन हुआ और पर्याय को हम नहीं पूछते हैं। किंच पाक्षिकता कोटिद्वय का स्वरूप है वा कोटिद्वय का धर्म है। प्रथम पक्ष में "पीतः शङ्खः" इस कोटिद्वय के निश्चय में अतिव्याप्ति वैसी ही है। द्वितीय पक्ष में यदि वह पाक्षिकता किसी प्रमाण से सिद्ध है तो वह प्रमाणकोटिद्वय में आश्रितपाक्षिकता-विषयक होने से संशय हुआ फिर वह प्रमाण कैसे हो सकता है। और यदि पाक्षिकता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, तो विषयकृत संशय में कुछ विशेष सिद्ध न हुआ। स्थाणुत्वपुरुषत्वआदि जो संदेह के विषय तद्रूप वा तन्निष्ठ कोई अतिशय अनुभव सिद्ध है और तद्विषयक ज्ञान संशय है—यह कथन भी उक्त युक्ति से खण्डित है। अर्थात् वह अतिशय यदि प्रमाण-सिद्ध है, तो प्रमाणत्व का व्याघात है और यदि प्रमाण से असिद्ध है, तो प्रमाण के अभाव से अतिशय की असिद्धि है। यदि कहें, कि संशय में अत्यन्त असत् ही अतिशयरूप भासता है, तो असत् स्वीकार होने से आपका अपसिद्धान्त हुआ तथा शून्यवादी बौद्ध का विजय हुआ। जिस प्रमाण से वह सिद्ध हुआ उसी प्रमाण में उस संशय-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी ॥५६॥

नापि द्वितीयः, कारणविशेषो हि विशिष्य सामग्री स्यात्तदेकदेशो वा। नाद्यः, तस्या अप्रत्यक्षत्वेन तदुपहितस्य प्रत्यक्षतोऽवगमानुपपत्तेः। नच तस्या अनुमेयत्वं लिङ्गासम्भवात्। कार्यविशेष एव लिङ्गमितिचेन्न, कार्यगतस्यैव विशेषस्य चिन्त्यमानस्याद्याप्यप्राप्तेः जातिभेदस्य दूषणीयत्वात्। नापि द्वितीयः, दृश्यस्य तदेकदेशस्य साधारणधर्मदर्शनादेर्विशेषद्वयस्मरणादेश्च साधारणधर्मविशेषद्वयज्ञानप्रत्यक्षादावपि हेतुत्वेन साधारण्यात्। अदृश्ये च तस्मिँल्लिङ्गाभावात्। तेन कार्ये विशेषजात्याधानस्य निरस्यत्वात्। तस्या अविषयत्वेनानुव्यवसायसाक्षिककार्यगतविशेषीभवनाऽसामर्थ्यात्॥ ५७॥

नापि तृतीयः, तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। नच द्वितीयः, धर्मिस्वरूपादेरपि तद्विषयतया संशयितत्वप्रसङ्गात्। नचैवं, नह्ययं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशये सतीदमा परामृष्यमाणस्योर्द्ध्वत्वशालिनो धर्मिणः स्वरूपसत्त्वेऽपि स्वरूपमेव भवति नवेति तद्द्रष्टुरभिमानो व्यवहारो वा, किं नाम? तत्र स्वरूपसत्त्वमात्रांशावलम्बिनस्तस्य ज्ञानस्य निश्चयत्वमेव। ततः किमिति चेत्, एकस्यैव ज्ञानस्य निश्चयत्वसंशयत्वजातिसङ्करः। स

कारण से कृत संशय में विशेष है यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि वह कारणविशेष-सामग्री है या सामग्री का एक देश है। यदि सामग्री कहें, तो सामग्री के अप्रत्यक्षत्व से उक्त लक्षण से युक्त संशय का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा और वह सामग्री—लिङ्ग के न होने से—अनुमेय भी नहीं है।

समर्थन—कार्य-विशेष [संशय] ही लिङ्ग है।

खण्डन—संशयगत विशेष का ही विचार हो रहा है और अद्यपर्यंत कुछ निश्चित नहीं हुआ है। संशयत्व जाति है इस पक्ष को आगे दूषित करेंगे। सामग्री के एक देश से कृत संशय में विशेष है—यह द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, कारण कि संशय का दृश्य कारण साधारण धर्म का दर्शन या विशेषद्वय का स्मरण है। वे दोनों स्वप्रत्यक्ष [अनुव्यवसाय] के भी कारण हैं, अतः यदि वे संशयत्व व्यवहार के कारण हों, तो उनके अनुव्यवसाय में संशयत्व व्यवहार हो जायगा अदृश्य सामग्री के एक देश में कुछ प्रमाण नहीं है, अतः उससे कार्य [संशय] में विशेष के आधान का त्याग कीजिये। किंच सामग्री वा उसका अदृश्य एक देश अप्रत्यक्ष हैं अतः वे दोनों [अनुव्यवसाय है साक्षी जिसका ऐसे] संशयगत विशेष के कारण नहीं हो सकते॥ ५७॥

विषय अथवा करण से अन्य प्रकार से कृत भी संशय में विशेष नहीं है, कारण कि उसे दिखा नहीं सकते, संशय में अनुभवसिद्ध संशयत्व जाति है उससे कृत संशय में निश्चय से भेद है—यह द्वितीय कल्प भी अयुक्त है, कारण कि संशयत्व जाति को मानें, तो धर्मी भी उसका विषय है, अतः उस अंश में भी वह ज्ञान संशय हो जायगा। और धर्मी अंश में वह ज्ञान संशय है नहीं, कारण कि "स्थाणु है वा पुरुष" इस संशय-काल में 'इदं' शब्द से परामृष्ट ऊर्द्धत्व शाली धर्मी के स्वरूप सत्वमें "स्वरूप है या नहीं" ऐसा अभिमान या व्यवहार किसी को नहीं होता है, किन्तु स्वरूप अंश में वह ज्ञान निश्चय ही है। यदि कहें, धर्मी अंश में उक्त ज्ञान के निश्चय होने से क्या हुआ? तो यह हुआ, कि एक ज्ञान में निश्चयत्व संशयत्व दोनों जाति के शङ्कर होने से संशयत्व जाति सिद्ध नहीं हुई। यदि कहें कि गुण जाति में

प्रामाण्याप्रामाण्यवद्भविष्यतीति चेन्न, अत एव हि तयोरपि जातित्वानङ्गीकारः, किंनाम ? तथाभूताऽतथाभूतार्थतालक्षणोपाधिद्वयरूपतास्वीकार एव तयोः। यदा च संशयत्वनिश्चयत्वलक्षणजातिद्वयसम्भिन्नं तद्विज्ञानमास्थीयते तदा कञ्चिद्विषयमपेक्ष्य संशयत्वं कञ्चिदपेक्ष्य निश्चयत्वमित्यापेक्षिकी जातिव्यवस्थितिरित्यपूर्वः पन्थाः। ईदृशस्य पथः पान्थेनापि भवता किंनियामकमभिधेयं येन धर्मिणि तस्य निश्चयत्वं व्यवतिष्ठते। विशेषद्वये च संशयत्वं विशेषदर्शनादर्शने इति चेत्। तर्हि भवति स्थाणोः स्थाणुत्वं पुरुषत्वं पुरुषस्य विशेषः प्रतीयते चासाविति विशेषदर्शनात्तत्राऽपि निश्चयप्रसङ्गः॥ ५८॥

संशयात्पूर्वं नास्ति विशेषदर्शनमिति युक्तस्तत्रापि संशय इति चेन्न, धर्मिधियः पूर्वं तर्हि कथं तद्गतविशेषदर्शनं स्यात्। संशयकाले चाऽस्ति विशेषदर्शनमित्यनन्तरं तर्हि संशयाऽननुवृत्तिप्रसङ्गोऽपि युक्त एव। तदीयविषयाद्विशेषाद्व्यतिरिक्तस्य विशेषस्य दर्शनं विवक्षितमिति चेन्न, स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयानन्तरं दारुमयो मांसमयो वाऽयमिति संशयो नोपपद्येत, तदुभयमयत्वातिरिक्तयोः स्थाणुत्वपुरुषत्वयोर्विशेषयोः पूर्वज्ञानेनोल्लिखितत्वात्। अन्यतरविशेषदर्शनं संशयप्रतिरोधकं संशयेन तूभयोरुपदर्शनमतो नोक्तदोषप्रसङ्ग इति चेत्, तर्हि स्थाणुः पुरुषश्चेति कुतोऽपि विभ्रमे जाते दारुमयो वा मांस-

---

संकर दोष नहीं होता है, अतः प्रमात्व अप्रमात्व के तुल्य निश्चयत्व संशयत्व दोनों के एक ही ज्ञान में रहने में हानि क्या है, तो सङ्कर दोष होने से ही प्रमात्व अप्रमात्व को भी जाति नहीं मानते हैं किन्तु तथा भूतार्थत्व तो प्रमात्व है और अतथाभूतार्थत्व अप्रमात्व है ऐसा मानते हैं। यदि एक ही ज्ञानमें किसी विषय की अपेक्षा संशयत्व जाति को और किसी विषय की अपेक्षा निश्चयत्व जाति को मानें, तो इस अपेक्षा से जाति व्यवस्थारूप अपूर्व पन्था का स्वीकार आपने किया—इस अपूर्व पथ के पान्थ होकर भी आप किसको नियामक कहेंगे। जिससे धर्मी-अंश में उस ज्ञान के निश्चयत्व और विशेषद्वय-अंश में संशयत्व व्यवस्थित हो।

समर्थन—निश्चयत्व का विशेष-दर्शन और संशयत्व का विशेष-दर्शन प्रयोजक है।

खण्डन—तब तो स्थाणु में स्थाणुत्वरूप विशेष है और पुरुष में पुरुषत्वरूप विशेष है और उसको प्रतीति भी होती है, अतः विशेष-दर्शन होने से विशेषद्वय-अंश में भी निश्चयत्व हो जायगा॥५८॥

समर्थन—संशय से पूर्वकाल में विशेषदर्शन नहीं है, अतः उस अंश में संशयत्व युक्त ही है।

खण्डन—तब तो धर्मी-अंश में भी उक्त ज्ञान में निश्चयत्व न होना चाहिये, कारण कि उस ज्ञान से पूर्वकाल में विशेष-दर्शन नहीं है। किञ्च संशयरूप विशेष-दर्शन होने से संशय से उत्तरकाल में संशय-धारा की अनुवृत्ति नहीं होनी चाहिये।

समर्थन—संशयविषय जो कोटिद्वयरूप विशेष उससे अन्य विशेष का दर्शन संशय का प्रतिबन्धक है, अतः संशय-धारा की अनुवृत्ति में कोई प्रतिबन्धक नहीं है।

मयो वेति संशयप्रतिरोधो न स्यात् पूर्वज्ञानेन विशेषद्वयोपदर्शनस्य कृतत्वात्। विशेष-दर्शनं हि विशेषनिश्चयो विवक्षितो नतु विशेषज्ञानमात्रं येन संशयोपनीतादपि विशेषात्संशयप्रतिरोधः प्रसज्येतेति चेत्, मैवम्, संशयेन यावुपदर्शितौ विशेषौ तत्र न संशयस्य निश्चयत्वमिति व्यवस्थायां सिद्धायामुपदर्शितनियामकसिद्धिर्भवति, सिद्धे चाऽस्मिन्नियामके संशयस्य विशेषद्वयं प्रति निश्चयत्वं नास्तीति सिद्ध्येदित्यन्योन्याश्रयापत्तेः को वारयिता ॥ ५८ ॥

स्यादेतत् संशयज्ञानस्य धर्मिविषयत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽर्द्धवैशसमापद्येत तच्च तदनभ्युपगम एव निवर्तते तेन धर्मिज्ञानं निश्चयात्मकमन्यदेव स्थाणुर्वा पुरुषो वेति चान्यदेव संशयज्ञानमित्यभ्युपैष्याम इति चेत्, मैवम्, एकधर्मिसम्बन्धोपनयनव्यतिरेकेण स्थाणुत्वपुरुषत्वयोर्विरोध एव नास्तीति स्थाणु र्वा पुरुषो वेत्येतदेव न स्यान्नहि यस्य कस्यचित्स्थाणुत्वेन यस्य कस्यचित्पुरुषत्वं विरुद्ध्यते। एकधर्मिसम्बन्धमनन्तर्भा-

---

खण्डन—तब "स्थाणु है वा पुरुष" इस संशय के अनन्तर "दारुमय है वा मांसमय है" यह संशय नहीं होगा, कारण कि दारुमयत्व मांसमयत्वरूप जो उस संशय का विषय उससे अन्य स्थाणुत्व पुरुषत्वरूप विशेष का दर्शन पूर्वकाल में हो चुका है।

समर्थन—एक विशेष का दर्शन संशय का प्रतिबन्धक है और संशय में दोनों विशेषों का दर्शन है, अतः संशय के बाद उक्त संशय का प्रतिरोध नहीं होता है।

खण्डन—तब किसी कारण से "स्थाणुः पुरुषश्च" ऐसा भ्रम होनेपर "दारुमयो वा मांसमयो वा, इस संशय का प्रतिरोध नहीं होगा, कारण कि पूर्वज्ञान का एक विषय नहीं है, किन्तु दो विषय हैं।

समर्थन—विशेष-दर्शन शब्द से विशेष-निश्चय विवक्षित है, ज्ञानमात्र नहीं है, अतः संशयोपनीत विशेषविषय से संशय का प्रतिरोध नहीं होता है।

खण्डन—संशय के विशेषद्वय अंश में निश्चयत्व नहीं है—इस व्यवस्था की सिद्धि होने पर विशेष-निश्चय संशय का प्रतिबन्धक है—यह नियम सिद्ध होगा, और इस नियम की सिद्धि होनेपर उक्त "स्थाणुः पुरुषो वा" यह ज्ञान विशेषद्वय-अंश में संशय है—यह सिद्ध होगा इस प्रकार से अन्योन्याश्रय हो जायगा उस अन्योन्याश्रय का वारण कौन करेगा ॥५८॥

समर्थन—यदि संशय को धर्मी-अंश में निश्चय मानें, तो एक ही ज्ञान में अंशभेद से संशयत्व निश्चयत्व के होने से संकर हो जायगा। वह संशय में निश्चयत्व के अस्वीकार से निवृत होता है, अतः धर्मी का निश्चयरूप ज्ञान अन्य ही है और स्थाणु वा पुरुषो वा इत्याकारक धर्म्म-अंश में संशय-ज्ञान अन्य नहीं है ऐसा मानेंगे।

खण्डन—यावत् एक धर्मी में सम्बन्ध की प्रतीति न हो तावत् स्थाणुत्व पुरुषत्व का विरोध ही नहीं है, अतः "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" यह आकार ही नहीं होगा, कारण कि जिस किसी के स्थाणुत्व से जिस किसी का पुरुषत्व विरुद्ध नहीं है। यदि एक धर्मी के सम्बन्ध के बिना भी विरोध हो, तो अन्योन्य के नाश करनेवाले उन दोनों का जगत् में असत्व हो जायगा। अथवा उस धर्मी में पुरुषत्व निश्चय से जैसे संशय की निवृति वा अनुत्पत्ति

न्य विरोधे जगति तयोरन्योन्यस्य व्यतिघ्नतोरसत्त्वमेव प्रसज्येत । तस्य धर्मिणो वा पुरुषत्वनिश्चयाद्यथा संशयो निवर्तते नोत्पद्यते वा तथा स्वात्मनः पुरुषत्वनिर्णयात्संशयो निवर्तेत नोत्पद्येत वा, विशेषाभावाद्यथाऽयं द्रष्टुर्न स्वशरीरविषयः संशयः तथैव पुरोवर्तिविषयोऽपि नासौ । कथं चेदमर्थेन सामानाधिकरण्याभिमानः योऽयमूर्ध्वताधर्मा स किं स्थाणुरुत पुरुष इति । कस्माद्वा प्रत्यभिज्ञानादयोऽप्येकं ज्ञानमङ्गीकृता इत्युच्छिन्ना विशिष्टविज्ञानसङ्कथा । सञ्ज्ञातश्च गौरश्वः पुरुष इतिवद्विशकलितो विज्ञानसंसार इत्यास्तां विस्तराभिनिवेशः ।

नन्वस्ति तावदयं स्थाणु र्वा पुरुषो वेति परस्परविरुद्धार्थावगाही प्रत्ययः स स्वविषयं तथाभूतमुपस्थापयिष्यति । न, उक्तबाधकैः सर्वप्रकारखण्डने परिशेषासम्भवात् ॥ ६० ॥

यच्च स्वरूपमादाय विरुद्धार्थत्वमभिधीयते तदपि निर्वक्तुं न शक्यते । तथाहि—भावतदभावयोः को विरोधः । सहानवस्थानमिति चेन्न, देशभेदेन सहाप्यवस्थानात् । देशाभेदेनेति चेन्न, संयोगाद्यव्यापकत्वं यद्यभ्युपैपि तथाऽप्यनुपपत्तिः प्रकारभेदेन तथाभावस्याभ्युपगमात् । तस्य पक्षे एकेन प्रकारेणैकस्मिन् सहानवस्थानं विरोधः,

---

होती है, वैसे ही अपने आत्मा में पुरुषत्व निश्चय से भी संशय की निवृत्ति वा अनुत्पत्ति हो जायगी, कारण कि जैसे यह संशय द्रष्टा के शरीर-विषयक नहीं है, वैसे ही यह संशय पुरोवर्ती-विषयक भी नहीं है । किञ्च यदि संशय धर्मी-विषयक नहीं है, तो जो यह ऊर्ध्व है, वह स्थाणु है वा पुरुष, ऐसा इदं अर्थ के साथ सामानाधिकरण्य का अभिमान कैसे होता है । प्रत्यभिज्ञा को भी एक ज्ञान मानते हैं इस प्रकार से दो ज्ञानों को मानने में विशिष्टज्ञान का नाम उच्छिन्न हो जायगा । गौ, अश्व, पुरुष जैसे भिन्न २ हैं ऐसे ही विज्ञान संसार भी विशकलित हो जायगा । बस, इतना ही संशय का खण्डन पूर्ण है अतः विस्तार का आग्रह रहे ।

समर्थन—"स्थाणुर्वा पुरुषो वा" इत्याकारक परस्पर-विरुद्ध अर्थ का अवगाहन करने वाला ज्ञान होता है वह ज्ञान परस्पर विरुद्ध स्वविषय में प्रमाण होगा ।

खण्डन—विषय से कृत, वा कारण से कृत, वा जाति से कृत, संशय में विशेष के उक्त प्रकार से खण्डित होने से संशय और उसका विषय अनिर्वचनीय है ॥ ६० ॥

इतिसंशयलक्षणखण्डन

॥ भावाभावविरोधनिर्वचनखण्डन ॥

किञ्च भाव अभाव के स्वरूप को ग्रहण कर विरुद्धार्थत्व [संशय में विरुद्ध-धर्म विषयत्व] का आपने जो अभिधान किया है उसका निर्वचन भी अशक्य है । कहिये—भाव अभाव का क्या विरोध है ।

निर्वचन—सहअनवस्थान विरोध है ।

संयोगाद्यव्यापकत्वानभ्युपगन्तृपक्षे च देशाभेदेन सहानवस्थानं स इति चेन्न, तद्धि तदुभयावस्थानसाहित्यनिषेधो वा तदुभयावस्थाननिषेधसाहित्यं वा स्यादाद्येऽप्रसिद्धप्रतियोगिकत्वं, तदुभयावस्थानसाहित्यस्य क्वचिदप्यप्रमितेः शशविषाणनिषेधादेश्च शशके विषाणनिषेधादिरूपत्वाङ्गीकारेण प्रसिद्धप्रतियोगिकत्वाभ्युपगमात्।

यदाहैको " वस्तुनः प्रतियोगिते " ति।

अन्यश्च—

"लब्धरूपं क्वचित्किञ्चित्तादृगेव निषिद्ध्यते" इति ॥ ६१ ॥

द्वितीये तु तदुभयावस्थानसाहित्यस्वीकार एव स्यात्तदुभयनिषेधयोस्तदुभयतयैवाङ्गीकारात्। परस्परप्रतिक्षेपकत्वं विरोध इति चेन्न, तद्धि परस्परप्रतिक्षेपं प्रति कारणत्वं वा तादात्म्यं वा, न प्रथमः, प्रमाणाभावेन तथाविधतत्कार्यानङ्गीकारात्। न द्वितीयः, प्रतिक्षेपशब्दार्थस्योभयानुगतस्यानिर्वचनात्। यत्रैकस्य सत्त्वं तत्रापरस्यासत्त्वं नियमेन यत्स विरोधस्तयोरिति चेन्न, सत्त्वासत्त्वयोरेकापराश्रयत्वे वैयधिकरण्यात्। सम्बन्धस्य तद्व्यतिरिक्तत्वे एकसत्त्वस्यैव चापरासत्त्वात्मकतया स्वीकारेण यत्रैकस्य

खण्डन—यह युक्त नहीं है कारण कि देश-भेद से भाव तदभाव के साथ [एक काल में] अवस्थान होता है।

समर्थन—एक देश में सहअनवस्थान विरोध है।

खण्डन—यह भी युक्त नहीं है कारण कि जो आचार्य संयोग तदभाव को अव्याप्यवृत्ति मानते हैं उनके मत में मूलशाखाप्रकार-भेद से संयोग और तदभाव का वृक्षादिरूप एक देश में भी अवस्थान होता है।

समर्थन—जो संयोगादि को अव्याप्यवृत्ति मानते हैं, उनके मत में एक प्रकार से एक देश में सहअनवस्थान विरोध है और जो संयोगादि को अव्याप्य वृत्ति नहीं मानते है, उनके मतमें एक देश में सहअनवस्थान विरोध है।

खण्डन—सहअनवस्थान शब्द का उभय के अवस्थान के साहित्य का निषेध अर्थ है ? वा उभय के अवस्थान के निषेध का साहित्य अर्थ है ? प्रथम कल्प में उभयावस्थान साहित्यरूप प्रतियोगी को अप्रसिद्धि से सहअनवस्थान भी अप्रसिद्ध है। शशविषाण का निषेध भी शश में विषाण का निषेधरूप होने से ,प्रसिद्धप्रतियोगिक ही है। वस्तु प्रसिद्ध-निषेध का प्रतियोगी होता है–यह एक आचार्य का वचन है और अन्य आचार्य का वचन है कि जो कहीं लब्धरूप होता है उसी का अन्यत्र निषेध होता है ॥ ६१ ॥

द्वितीय पक्ष में उभय के अवस्थान के साहित्य का ही स्वीकार होगा, कारण कि भाव का निषेध अभावरूप और अभाव का निषेध भावरूप ही होता है।

समर्थन—परस्पर प्रतिक्षेपकत्व विरोध है।

खण्डन—परस्पर प्रतिक्षेपकत्व शब्द का परस्पर प्रतिक्षेप [निषेध] का कारणत्व अर्थ है ? वा परस्पर के प्रतिक्षेप का तादात्म्य अर्थ है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है कारण कि घट का कार्य घटाभाव है और घटाभाव का कार्य घट है—इसमें कुछ प्रमाण नहीं है।

द्वितीय पक्ष भी अयुक्त ही है, कारण कि उभय [भावाभाव] में अनुगत प्रतिक्षेप

सत्त्वं तत्रैकस्य सत्त्वमितिवचनार्थप्रसङ्गेन पौनरुक्त्याद्यापातात्। यत्र घटाभाव इत्यत्र खल्वयमर्थो यन्नाम? यस्याऽऽधेयतया सम्बन्धी घटाभावस्तत्र घटो नास्तीत्यस्याप्यय- मर्थः तस्याधेयतया सम्बन्धी घटाभाव इति, यत्र घट इत्यस्य कोऽर्थः यस्याधेयतया सम्बन्धी घटः तत्र घटाभावो नास्तीति कोऽर्थः तस्याधेयतया सम्बन्धी घटाभावसम्ब- न्धनिषेधः घटाभावसम्बन्धस्य घटाभावात्मकतया घटाभावनिषेधस्यापि घटात्मकतेति। तस्मात्तस्याधेयतया सम्बन्धी घट इत्येवार्थः, अतो घटतदभावयोर्भेदं मनसिकृत्यापि न विप्रतिपत्तव्यमिति ॥ ६२ ॥

यत्रैकस्यावस्थानं तत्रैकस्यैवेति नियमाभिप्रायेण न पौनरुक्त्यादिरिति चेन्न, नियमस्य यत्किञ्चिदन्यव्यवच्छेदकत्वेऽसिद्धत्वापातात्। विरोधिव्यवच्छेदकत्वस्य च विरोधानिर्वचनेऽनिर्वचनात्। अभावपक्षे भावव्यवच्छेदो भावपक्षे चाभावव्यवच्छेदो नियमार्थ इति चेन्न, एकरूपानभिधानेऽनुगतविरोधानिर्वचनात्। किंच भावाभावव्यव-

---

का निर्वचन नहीं हो सकता है, अर्थात् भाव के प्रतिक्षेप का तादात्म्य अभावरूप है और अभाव के प्रतिक्षेप का तादात्म्य भावरूप है, अतः उभयानुगत [एकरूप] प्रतिक्षेप का निर्वचन हो नहीं सकता है।

समर्थन—जहां एक [भाव या अभाव] का सत्व हो वहां अपर [अभाव या भाव] का नियम से जो असत्व है वह भावाभाव का विरोध है।

खण्डन—सत्व तो एक में रहेगा और असत्व अन्य में, अतः सत्व असत्व के सामानाधिकरण्य के न होने से असम्भव हो जायगा। और यदि सत्वशब्द का अर्थ सम्बन्ध करें, और उसको सम्बन्धी से भिन्न मानें, तो एक का जो सत्व है वहीं अपर का असत्व है उक्त वाक्य का अर्थ यह हुआ, अतः पुनरुक्ति दोष हो जायगा। देखिये "जहां घटा- भाव है" इसका अर्थ यह है कि जिसका आधेयरूप से सम्बन्धी घटाभाव है और 'वहां घट नहीं है" इस वाक्य का अर्थ यह है कि उसका आधेयरूप से सम्बन्धी घटाभाव है और "जहां घट है" इसका क्या अर्थ है जिसका आधेयरूप से सम्बन्धी घट है और वहां घटाभाव नहीं है इसका क्या अर्थ है, कि उसका आधेयरूप से सम्बन्धी घटाभाव सम्बन्ध का निषेध है और घटाभाव का सम्बन्ध घटाभावरूप है और घटाभाव का निषेध घटरूप है, अतः उसका आधेयरूप से सम्बन्धी घट है यही अर्थ हुआ फिर घट तद- भाव के भेद के हृदय में रहते भी उन दोनों के विरोध के [पुनरुक्तिआदि दोष होने से] लक्षण के न होने से विरोध के असत्व में विप्रतिपत्ति को न कर असत्व ही मान लेना चाहिये ॥६२॥

समर्थन—जहां एक का सत्व हो वहां एक का ही सत्व हो ऐसे नियम के अभिप्राय से पुनरुक्ति नहीं है।

खण्डन—नियम से यदि यत्किंचित् अन्य धर्म का व्यवच्छेद करें, तो कहीं भी विरोध की सिद्धि नहीं होगी, कारण कि भूतलादि सर्वत्र ही प्रतियोगी या अभाव से अतिरिक्त भूतलत्वादि धर्म विद्यमान है। और नियम से विरोधी धर्म के व्यवच्छेद को मान नहीं सकते हैं, कारण कि अद्यावधि विरोध का निर्वचन नहीं हुआ है।

च्छेदयोरभावभावविधानातिरिक्तयोरनभ्युपगमे पुनरपि च यत्र भावस्तत्र भावो यत्राभावस्तत्राभाव इत्युद्देश्यविधेयभावानुपपत्तिरभेदादिति पौनरुक्त्याधिक्यफलाभाव एव ॥६३॥

स्यादेतत् भावाभावयोः स्वरूपमेव विरोधः, नचैवं सत्यविरुद्धतापत्तिः यथा सत्ता भावरूपैव सती स्वात्मनि सदिति भवितृव्यवहारं करोति तथा भावाभावौ विरोधात्मानावेव स्वात्मनि विरुद्धरूपं भवितृव्यवहार कुर्वाते, कस्यैतौ विरोध इति चानुयोगे स्वाश्रयस्येत्युत्तरं, किं तत्र विरोधफलमिति प्रश्ने भेदव्यवस्थानमित्यभिधेयम् । यदाह—"अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति" ॥६४॥

तदेतदनुपपन्नम् । एतयोर्विरोधत्वं प्रत्येकं वा स्यान्मिलितयोर्वा । नाद्यः, प्रत्येकमेवाश्रयैकत्वभङ्गप्रसङ्गात् । नैकत्वाभावो भेदोऽभिमतः किन्त्वन्योन्याश्रयापेक्षभेदरूपधर्मवत्त्वमिति चेन्न, तस्याभावात् । कालभेदेनैकस्यभावाभावाश्रयत्वाभ्युपगमात्तदभेद

समर्थन—जहां एक शब्द से भाव का अभिधान हो वहां अभाव व्यवच्छेद्य है और जहां एक शब्द से अभाव का अभिधान हो वहां भाव व्यवच्छेद्य है, अतः विरोध के अनिर्वचन से आत्माश्रय नहीं है।

खण्डन—भाव अभाव उभय-स्थल साधारण एक लक्षण के न होने से अनुगम नहीं होगा।

किञ्च जहां एक भाव का सत्व हो वहां एक भाव का ही सत्व हो अभाव का सत्व न हो यहां व्यवच्छेद्य अभाव का सत्व न हो इसके भाव का सत्व हो इस अर्थ में पर्य्यवसान होने से उद्देश्यविधेयभाव की अनुपपत्ति तथा पुनरुक्ति दोष वैसा ही है ॥६३॥

समर्थन—भाव अभाव का स्वरूप ही विरोध है। यदि कहें, कि भाव अभाव का स्वरूप विरोध है, तो भाव अभाव में विरोध तो है नहीं, फिर उनमें अविरुद्धत्व व्यवहार क्यों नहीं हो, तो जैसे सत्ता, स्व में अन्य सत्ता के न होने पर भी सत् ऐसा व्यवहार कराती है वैसे ही भाव अभाव दोनों स्व में [अन्य विरोध के न होने पर भी] विरोध व्यवहार कराते हैं। यह विरोध किसका है ? इस प्रश्न में अपने आश्रय का है—यह उत्तर है और विरोध का फल क्या है ? इस प्रश्न में भेद की व्यवस्था—यह उत्तर है। आचार्य्य ने यह बात कही भी है कि जो विरुद्ध धर्म का अवस्थान है, वा कारण का भेद है, वही भेद वा भेद का हेतु है ॥६४॥

खण्डन—यह मत युक्त नहीं, कारण कि भाव और अभाव प्रत्येक विरोध हैं, वा मिलित ? इनमें प्रथम पक्ष अयुक्त है, कारण कि प्रत्येक के आश्रय में एकत्व का भंग हो जायगा।

समर्थन—एकत्व का अभाव भेदरूप नहीं है, किन्तु अन्योन्य [भाव और अभाव का आश्रय] है प्रतियोगी जिसका ऐसा भेदरूप जो धर्म तद्वत्व ही है, अतः प्रत्येक के आश्रय का भेद नहीं है।

खण्डन—काल के भेद से एक ही घट में रक्तरूप और उसका अभाव रहता है और आश्रयभेद नहीं है, अतः अन्योन्य का जो आश्रय तत्प्रतियोगिक भेद विरोध का फल नहीं है।

समर्थन—एक काल में अन्योन्य [भाव अभाव] का जो आश्रय तत्प्रतियोगिक भेद विरोध का फल है, अतः घट रक्त स्थल में कालभेद से भाव अभाव दोनों के होने पर भी आश्रय का भेद नहीं होता है।

इति चेन्न, तदभेदस्य स्वाभाविकस्य विवक्षितत्वे विशेषणवैयर्थ्यात्। एकोपाध्यवच्छिन्नस्य विवक्षितत्वे कालभेदाभिमतेऽपि सम्भवात्। भिन्नोपाध्यनवच्छिन्नत्वस्य विवक्षितत्वेऽसम्भवात्। असहावस्थितभिन्नोपाध्यनवच्छिन्नत्वस्य वाञ्छितत्वे सहत्वस्यैककालरूपत्वेन तत्रापि कालाभेदविकल्पानुवृत्त्यापत्तेः ॥ ६५ ॥

मिलितत्वं चानयोरेकदेशत्वं वाऽभिमतमेककालत्वं वा, एकप्रकारेण वृत्तिर्वा, वृत्तिप्रकारान्यैकोपाध्यवच्छेदो वा। नाद्यः, भावात्यन्ताभावयोस्तदभावात् न द्वितीयः, भावस्य प्रध्वंसप्रागभावाभ्यां तदनुपपत्तेः। न तृतीयः, संयोगाद्यव्याप्यवृत्तितावादिपक्षे गगनादौ संयोगभावाभावयोस्तदभावात्। अव्याप्यवृत्तिधर्मानभ्युपगन्तृपक्षे भावाभावयोर्वृत्तौ प्रकारान्तराभावे प्रमाणाभावात् ॥ ६६ ॥

खण्डन—काल का अभेद (एकत्व) स्वाभाविक है अथवा औपाधिक? यदि स्वाभाविक है, तो विशेषण व्यर्थ है, कारण कि स्वाभाविक काल का भेद तो है नहीं, फिर किसकी व्यावृत्ति के लिये लक्षण में अभेद का निवेश है। और यदि औपाधिक काल का अभेद है, तो यह अर्थ हुआ कि एक उपाधि से अवच्छिन्न काल में रक्त और उसका अभाव नहीं रहता है, अतः आश्रय-भेद नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि एक ही दिनरूप उपाधि से अवच्छिन्न काल में मुहूर्त प्रहरआदि उपाधि के भेद से घट में रक्त उसके अभाव के होने से घटरूप आश्रय का भेद हो जायगा।

समर्थन—भिन्न उपाधि से अनवच्छिन्न काल में विद्यमान भाव तदभाव का अन्योन्य-आश्रयप्रतियोगिक भेद विरोध का फल है उक्तस्थल में मुहूर्त और प्रहर उपाधि-भेद होने से दोष नहीं है।

खण्डन—सूर्य चन्द्र परिस्पंद, कालयंत्र [घड़ी] परिस्पन्दआदि से एक ही काल के अवच्छिन्न होने से भिन्न उपाधि से अनवच्छिन्नत्व की अप्रसिद्धि से असम्भव हो जायगा।

समर्थन—असहअवस्थित जो भिन्न उपाधि उससे अनवच्छिन्न काल में भाव तद्भाव के अन्योन्यआश्रयप्रतियोगिक-भेद विरोध का फल है चन्द्रसूर्य-परिस्पन्दआदि सहअवस्थित हैं, अतः असम्भव नहीं है।

खण्डन—इस लक्षण में सहशब्द का अर्थ एक काल ही है। उसमें भी काल का एकत्व स्वाभाविक है, वा औपाधिक? ऐसा विकल्प करने से पूर्वोक्त दोष हो जायेंगे ॥ ६५ ॥

भाव अभाव दोनों मिलित विरोध हैं—यह कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि भाव अभाव का मिलितत्व एक देश में वृत्तित्व है? या एक काल में वृत्तित्व है? या एक प्रकार से वृत्तित्व है? या इनसे भिन्न उपाधि से अवच्छिन्नत्व है? इन में प्रथम कल्प में भाव और अत्यन्ताभाव को मिलितत्व नहीं होगा। द्वितीय कल्प में भाव और तत्प्रागभाव तत्प्रध्वंस को मिलितत्व नहीं होगा। तृतीय कल्प में भी संयोगादि को जो अव्याप्यवृत्ति मानते हैं, उनके मत में भी आकाशआदि में अवच्छेद [देश] भेद से ही संयोग तदभाव रहते हैं, अतः भाव और तदभाव का मिलितत्व अप्रसिद्ध है और जो संयोगादि को व्याप्यवृत्ति मानते हैं, उनके मत में भाव तदभाव के वृत्तित्व में प्रकारान्तर [अवच्छेदक भेद] के सद्भाव में प्रमाण के न होने से प्रकार में एक विशेषण व्यर्थ है ॥ ६६ ॥

नाऽपि चतुर्थः, स हि यदि निर्देष्टुं शक्यते तदाऽपि भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वंसयो र्वैकदाऽनभ्युपगमेन तद्विशेषितयोरप्येकदाऽवश्यमनभ्युपगन्तव्यतया कदा विरोधस्य तदाश्रयतेति वक्तुमशक्यत्वात्। किञ्च भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वंसयोर्वा यदि तथाभावोऽभ्युपगम्यते तदाश्रयभेदप्रसङ्गः, अभावान्तरेऽपि सावकाशत्वात् न परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वं, परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वं हि भावात्यन्ताभावयोरेव। अथ नाऽभ्युपगम्यते तदा भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वंसयोश्चाविरोधापत्तिः। तदसत्त्वमात्रयोर्विरोधो न तु तत्तदसत्त्वविशेषयोरिति चेन्न, विशेषस्य तथाऽप्यविरोधात्कदाऽपि सहावस्थितियोग्यतापत्तेः। नियमेन तथात्वे च विरोधव्याघातात्। मात्रशब्देन च यदि विशेषशून्यत्वमसत्त्वस्योच्यते तदा तदनभ्युपगम एव प्रमाणाभावात् नहि निर्विशेषासत्त्वमात्रसद्भावे प्रमाणमभिधातुं शक्यते। अथ मात्रशब्दोपादानं सत्यपि विशेषेऽसत्वस्य साधारणरूपपुरस्कारेण विरोधव्यवस्थितिप्रदर्शनार्थं तदा भावप्रध्वंसयोस्तादृगेव दोषापत्तिः। प्रध्वं-

चतुर्थ कल्प का तो कथन ही नहीं हो सकता है। यदि किसी प्रकार से कथन हो भी तो युक्त नहीं है, कारण कि भाव, तद्प्रागभाव तथा भाव, तत्प्रध्वंसाभाव एक काल में नहीं रहते हैं, फिर प्रकार से भिन्न उपाधि से युक्त भाव तत्प्रागभाव एक काल में कैसे रहेंगे? और यदि एक काल में रहते नहीं हैं, तो विरोध के आश्रय या स्वरूप वे कैसे और कब होंगे? किञ्च यदि भाव, तत्प्रागभाव और भाव, तत्प्रध्वंस के विरोध को मानें, तो रक्तरूप और तत्प्रागभाव के अधिकरण घट का भेद हो जायगा। किञ्च घट तत्प्रागभाव और घट तत्प्रध्वंसाभाव परस्पर निषेधरूप भी नहीं हैं, कारण कि घट ध्वंसाभाव का निषेधरूप भी है तथा घटप्रागभाव घटध्वंस का निषेधरूप भी है।

समर्थन—भाव और तदत्यन्ताभाव ही परस्पर निषेधरूप हैं।

खण्डन—यदि भाव और तद्ध्वंसाभाव को तथा भाव और प्रागभाव के परस्पर विरोध को न मानें, तो इन दोनों की—अविरोध होने से एक काल में तथा एक अधिकरण-में--प्रतीति हो जायगी।

समर्थन—केवल भाव और सामान्य से अभाव का विरोध है, भाव और विशेषरूप से अभाव का विरोध नहीं है।

खण्डन—ऐसा मानने पर विशेष प्रागभावादि के साथ अविरोध होने से कदाचित् सहअवस्थिति हो जायगी यदि कहें, घट तत्प्रागभाव तथा तत्प्रध्वंस का स्वभाव है कि ये नियम से साथ नहीं रहते हैं, तो इनमें विरोध नहीं है, इस कथन से व्याघात हो जायगा।

किञ्च, यदि मात्र शब्दार्थ के बल से सामान्य में विशेषशून्यत्व का प्रतिपादन करें, तो प्रमाण के अभाव से सामान्य असत्व का अभाव हो जायगा, कारण कि निर्विशेष सामान्य असत्व में प्रमाण का अभिधान नहीं कर सकते हैं। और यदि मात्रशब्द का उपादान, विशेष के होने पर भी असत्व के सामान्यधर्म के पुरस्कार से विरोध के प्रदर्शन के अर्थ है, तो भाव और प्रध्वंस के भी सामान्यरूप से विरोध होने से अधिकरण का भेद हो जायगा, कारण

सादौ विशेषे सामान्यरूपस्यावश्याभ्युपगम्यत्वात्तदादायैव विशेषे विरोधपर्यवसानात् ॥ ६७ ॥

भावाभावयोर्विरोधानभ्युपगमे तवाऽप्यनिष्टापत्तिरिति चेत् केयमापत्तिः। तर्कभेद इति चेत्, अथ कस्तर्कः? अभ्युपगतव्याप्यं प्रति व्यापकप्रसञ्जनं सः तत्प्रसंजनं च स्वीकारार्हताबोधनमिति चेन्न, अव्याप्तेः। अस्ति ह्यप्रसङ्गोऽपि सम्भावना नाम तर्कः। तद्यथा—यदि जलं सहकारिभिः सम्पत्स्यते तदा मे तृषं शमयिष्यतीति, इष्टापादनेऽपि गतत्वाच्च। अनभ्युपगतव्यापकमित्यपीति चेन्न, तथाभूतमपि प्रत्यव्याप्याद्व्यापकप्रसञ्जने गतत्वात्। व्याप्येनेत्यपिकार्यमिति चेन्न, विकल्पासहत्वात्। किं परमार्थतो व्याप्यव्यापकभावव्यवस्थितयोः, स्वरूपेणेष्टानिष्टत्वमुत व्याप्यव्यापकयोर्भावेन तत्।

कि प्रध्वंसआदि विशेष में सामान्यरूप के अवश्य होने से उस सामान्यरूप का ग्रहण कर ही विशेष [प्रध्वंसादि] में विरोध का पर्य्यवसान हो जायगा ॥ ६७ ॥

इति भावअभाव का विरोधनिर्वचनखण्डन।

अथ तर्कलक्षणखण्डन

भाव और अभाव के विरोध को न मानने पर आपके प्रति भी अनिष्ट की आपत्ति हो जायगी। अद्वैत से द्वैत का प्रतिक्षेप नहीं होगा, क्योंकि इनमें विरोध न रहा।

प्रश्न—आपत्ति क्या वस्तु है? यदि तर्कभेद है, तो तर्क ही क्या वस्तु है?

निर्वचन—जो व्याप्य का स्वीकार करते हों उनके प्रति व्यापक का प्रसञ्जन तर्क है, और व्यापक की स्वीकारार्हता का बोध ही व्यापक का प्रसञ्जन है।

खण्डन—इस लक्षण की "यदि जल सहकारी से सम्पन्न (पीत) होगा, तो मेरी पिपासा की निवृत्ति करेगा, इस प्रसङ्गरूप सम्भावना तर्क में अव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें, कि प्रसङ्गरूप तर्क का ही यह लक्षण है सम्भावना तर्क का लक्षण नहीं है, अतः सम्भावना के लक्ष्य न होने से उसमें अव्याप्ति नहीं है, तो जहां व्यापक वह्नि इष्ट (प्रथम से सिद्ध) है वहां "यदि धूम है, तो वह्नि अवश्य है" इत्यादि इष्टापादनरूप तर्काभासस्थल में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—जो व्याप्य का स्वीकार करता और व्यापक का स्वीकार न करता हो ऐसे पुरुष के प्रति व्यापक का प्रसञ्जन तर्क है।

खण्डन—उस पुरुष के प्रति भी "यदि इन्धन है, तो वह्नि अवश्य है" इस स्थल में (जहां अव्याप्य से व्यापक का प्रसञ्जन है) अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—उक्त लक्षण में व्याप्य से व्यापक का प्रसञ्जन तर्क है, ऐसा निवेश करने से उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डन—यह लक्षण भी विकल्प के असमर्थ होने से अयुक्त है। देखिये—क्या वस्तुभूत व्याप्यव्यापकभाव जिनमें हो उनका स्वरूप से अभ्युपगम अनभ्युपगम लक्षण का घटक है? अथवा व्याप्यत्वरूप से व्यापकत्वरूपसे अभ्युपगम अनभ्युगम लक्षण में प्रविष्ट है? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि जहां धूम और वह्नि का वस्तुतः विद्यमान भी व्याप्य-

नाद्यः, तथात्वाज्ञानेन वैपरीत्येनेष्टेनापि प्रसञ्जने प्रसङ्गात्। अन्यथा परैस्तथात्वेनानङ्गीकृतेन स्वयमपि परान्प्रति तथात्वेन व्युत्पादयितुमशक्तेन परमार्थतस्तथाभूतेन प्रसञ्जने जयप्रसङ्गात् ॥ ६८ ॥

न द्वितीयः, स्वयमपि तथेष्टानिष्टतायां सत्यां कृते तादृशि प्रसङ्गे "यत्रोभयो" रित्यादिना दोषेण सत्प्रसङ्गतयाऽनिष्टेऽपि गततयाऽतिव्यापकत्वात्। स्वयं व्याप्यतयाऽनिष्टेनेत्यपि विशेषणीयमितिचेन्न, स्वयमपि व्याप्यतयेष्टेन स्वमात्रेष्टव्यापके विषये

व्यापकभाव ज्ञात नहीं है वहां भी धूम से वह्नि का प्रसञ्जन तर्क हो जायगा। और अन्यतर के प्रति व्याप्ति की असिद्धि से शिथिल मूल होने से वह तर्काऽऽभास है। तर्क नहीं है, अतः उक्त स्थल में अतिव्याप्ति हो जायगी। किञ्च जहां धूम में ही व्यापकत्व का तथा वह्नि में व्याप्यत्व का भ्रम है वहां भी वस्तुतः धूम के व्याप्य होने से धूम के अभ्युगम से वह्नि का प्रसञ्जन तर्क हो जायगा। किञ्च यदि वस्तुभूत ही व्याप्यत्व व्यापकत्व को प्रसङ्ग का मूल मानें, तो वादी जहां व्याप्यव्यापकभाव को नहीं मानता है और वादी के सामने स्वयं भी व्याप्यव्यापकभाव का प्रतिपादन नहीं कर सकता है वस्तुतः व्याप्यव्यापकभाव है। वहां भी व्याप्य से व्यापक के प्रसङ्ग से प्रतिवादी का विजय हो जायगा। किन्तु होता है वहां पराजय ॥६८॥

द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है कारण कि (यहां वादी के तुल्य आप भी) व्याप्य का अभ्युपगम और व्यापक का अनभ्युपगम करता हो वहां "यदि सत्ता सद्व्यवहार विषय हो तो सत्तावती हो जायगी। इस प्रसङ्ग में अतिव्याप्ति हो जायगी। और स्वमत में भी सत्ता में सत्ता के अनिष्ट होने से यह तर्काभास है तर्क है नहीं, कारण कि "यत्रोभयोः समो दोषः" इस न्याय के अनुसार जो दोष दोनों मत में है उसका एक मत में आपादन कर नहीं सकते।

समर्थन—जिस पुरुष ने व्याप्य का स्वीकार किया हो और वही व्यापक का अस्वीकार करता हो उसके प्रति स्व से अस्वीकृत व्याप्य से व्यापक का प्रसञ्जन तर्क और यदि सत्ता सद्व्यवहार विषय हो, तो सत्तावती हो जायगी। इस स्थल में सत्ता में सद्व्यवहार विषयत्वरूप व्याप्य स्व से इष्ट ही है, अनिष्ट नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डन—स्व से व्याप्यत्वरूप से इष्ट प्रमेयत्व से स्वमात्र से [ईश्वरादि प्रत्यक्ष विषय होने से] इष्ट प्रत्यक्षरूप व्यापक का जहां अदृष्ट में मीमांसक के प्रति नैयायिक "यदि अदृष्ट प्रमेय हो तो प्रत्यक्ष हो जायगा" ऐसा प्रसञ्जन करता हो वहां अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि उक्त स्थल में व्याप्य स्व से अनिष्ट नहीं है, अतः उक्त लक्षण का समन्वय नहीं होता है।

समर्थन—स्व से अनिष्ट व्यापक का स्व से इष्ट व्याप्य से जो प्रसञ्जन उससे भिन्न [अनभ्युपगत है व्यापक जिस पुरुष से उसके प्रति पर से अभ्युपगत व्याप्य से व्यापक का] प्रसञ्जन तर्क है। और "यदि सत्ता सद्व्यवहार विषय हो, तो सत्तावती हो जायगी" इस असत् प्रसङ्ग में स्व से भी अनिष्ट व्यापक के स्व से इष्ट व्याप्य से प्रसङ्ग होने से भिन्न पर्य्यन्त निवेश से अतिव्याप्ति नहीं होगी। "स्व से अस्वीकृत व्याप्य से" इस अंश के त्याग से "यदि अदृष्ट प्रमेय हो, तो प्रत्यक्ष हो जायगा" इस सत्प्रसङ्ग में अव्याप्ति नहीं होगी।

प्रसङ्गस्याऽव्यापनात्। अथ स्वयमनिष्टव्यापके स्वयं व्याप्यतयेष्टेन यत्र भवति तत्रानभ्युपगतव्यापकं परं प्रति पराभ्युपगतेन व्याप्येन व्यापकप्रसञ्जनं तर्कः, एवं सति हि स्वानिष्टव्यापके स्वयमिष्टव्याप्येन यत्र प्रसङ्गस्तत्रगमनादतिव्याप्तिर्या या च स्वमात्रेष्टव्यापके स्वयमपि व्याप्यतयेष्टेन प्रसङ्गस्याव्याप्तिस्ते निरस्ते भवत इति चेन्न, यद्यत्र सत्तयाऽपि घटोऽभविष्यत्तदाऽद्रक्ष्यदित्याद्यव्यापना तत्र स्वयमनिष्टदर्शनरूपव्यापके स्वयं व्याप्यतयेष्टेनैवहि दर्शनयोग्येन घटसत्त्वेनाऽप्रसङ्गः। अथ तत्र सत्तयाऽपि स्वयमिष्टेनेति निषेध्यकोटौ प्रविश्य निषेधोऽभिधीयते, एवं यत्र भवतीति। तदपि न। एवम्भूते एव विपर्ययापर्यवसायिनि गततयाऽतिव्यापकत्वात्। विपर्ययपर्यवसायिनेत्यपि प्रक्षेप्यमिति चेन्न, केवलपरपक्षदूषणाय परमात्राभ्युपगम्यगानव्याप्यत्वेनैवं क्षमस्य परं प्रति व्यापकप्रसञ्जनस्याव्यापनात्। तत्र स्वयं व्याप्त्यनभ्युपगमेन विपर्ययपर्यवसायित्वाऽसम्भवात् ॥ ६६ ॥

स प्रसङ्ग एव न भवति विरोधमात्रं तदिति चेन्न, अनिष्टं व्याप्याभ्युपगमबलेन परं प्रत्यापाद्यत इत्येवम्भूतस्यार्थस्योभयत्राऽपि तुल्यत्वात्। तुल्यत्वेपि लक्षणकरणासामर्थ्याद्यदि विपर्ययपर्यवसायिन्येव प्रसङ्गत्वं त्वया परिभाष्येत तर्हि मया

कारण कि स्व (नैयायिक) से अदृष्ट में या व्यापक (प्रत्यक्ष) के इष्ट होने से भिन्नान्त लक्षण भी समन्वित हो जायगा।

खण्डन—"यदि यहां घट विद्यमान होता तो दीखता" इस प्रसङ्ग में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि यहां स्व से इष्ट वह सत्त्वरूप व्याप्य से ही स्व से अनिष्ट दर्शनरूप व्यापक का प्रसञ्जन होने से भिन्नान्त लक्षणभाग समन्वित नहीं होता है।

समर्थन—स्व से अनिष्ट व्यापक का स्व से सत्त्वरूप से तथा व्याप्यत्वरूप से जो इष्ट उससे जो प्रसञ्जन उससे भिन्न का लक्षण में निवेश होने से उक्त स्थल में अव्याप्ति नहीं होगी, कारण कि उक्त स्थल में स्व से सत्त्वरूप से घट के इष्ट न होने से भिन्नान्त का समन्वय नहीं होता है।

खण्डन—ऐसा निवेश होने पर "यदि ब्रह्म वेदैकगम्य हो, तो अग्निहोत्र के तुल्य अस्वप्रकाश हो जायगा" इस [विपर्य्यय में अपर्य्यवसान से] असत्प्रसङ्ग में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—उक्त लक्षण के विशेष्य दल में विपर्ययपर्य्यवसायी ऐसा विशेषण देने से अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—उक्त विशेषण देने पर केवल परपक्ष के दूषण के अर्थ पर से अभ्युपगत-व्याप्य से परपक्ष के दूषण में क्षम [व्यापक का पर के प्रति] प्रसञ्जन में अव्याप्ति हो जायगी। अर्थात् यदि ब्रह्म को जगत् का उपादान मानें, तो मट्टी के तुल्य विकारी हो जायगा, इस सत्प्रसङ्ग में अव्याप्ति हो जायगी, कारण कि नैयायिक के मत में निर्विकार आकाश के उपादान होनेसे यहां विपर्य्य में पर्य्यवसान नहीं है ॥ ६६ ॥

समर्थन—यदि ब्रह्म को उपादान मानें, तो विकारी हो जायगा, ऐसा प्रसञ्जन उक्त स्थल में (विपर्य्यय में अपर्य्यवसान होने से) नहीं करते किन्तु उपादानत्वरूप व्याप्य ब्रह्म में

परबाधमात्र एव प्रसङ्गताया विपर्ययपर्यवसायिनि तु तत्र विरोधतायाः परिभाषितुं शक्यत्वादन्यथा विरोधत्वमेवोभयोरपि स्यात् । प्रत्यवस्थानवैचित्री चेत्तत्र विरोधाद्विशेषः साऽत्रापि तुल्यैव । अतएव सम्भावनाऽपि तर्कादन्यैवेति निरस्तम् । आरोपादपि व्याप्यतानिमित्तव्यापकाभ्युपगमाविशेषात् । अतएव परप्रमितेनेति विशिष्य परानिष्टापादनमात्ररूपविपर्ययापर्यवसायितर्कता निरस्येति निरस्तम् । परमार्थतो व्याप्त्यभावेऽपि पराभ्युपगममादाय प्रसङ्गप्रवृत्तेरुपपत्तेः । कथं हि परेण व्याप्यतयाऽनुमतात्त्वं प्रति व्यापकानुमत्या नापतितव्यं, नहि प्रसङ्गो वास्तवत्वं व्याप्तेरवलम्बते । किं नाम ? अभ्युपगममात्रम् । अनभ्युपगतौ वस्तुगत्या स्थितेनाऽपि तेनापादनाप्रवृत्तेः । अत एव परस्य प्रमाणेन व्याप्यानुमतिमुत्पाद्याप्यापादनं क्रियते ॥ ७० ॥

है, तो व्यापक (विकारित्व) न होने में विरोध होगा, इस रीति से केवल विरोध का उद्भावन ही करते हैं ।

खण्डन—व्याप्य के अभ्युपगम से पर के प्रति अनिष्ट (व्यापक) का प्रतिपादनरूप अर्थ दोनों स्थलों में तुल्य है । दोनों स्थलों में तुल्य प्रसङ्ग होने पर भी लक्षणकरण में असामर्थ्य से यदि विपर्य्यय में, पर्य्यवसान स्थल में ही प्रसङ्गत्व का व्यवस्थापन आप करें, तो हम भी केवल जहां परपक्ष का बाध है वहां प्रसङ्गत्व का और जहां विपर्य्य में पर्य्यवसान है वहां विरोध की परिभाषा (संकेत) कर सकते हैं । अन्यथा (यदि हमारी परिभाषा को न मानें) तो दोनों स्थल में विरोध को ही मानिये । यदि कहें, कि विपर्य्यय में पर्य्यवसानरूप [विरोध से] विशेष वहां है, तो पराभ्युपगत व्याप्य से अनिष्ट व्यापक के प्रसञ्जन के दोनों स्थलों में तुल्य होने से उक्त वैचित्र्य अकिञ्चित्कर है ऐसा हम भी कह सकते हैं । यदि " जलसहकारी से सम्पन्न हो तो तृषा की शान्ति करे " यह सम्भावना प्रसङ्ग रूप न होने से तर्क नहीं है, यह कथन भी युक्त नहीं है, कारण कि सम्भावना के आरोपरूप होने पर भी व्याप्य के अभ्युपगम से व्यापक के अभ्युपगम में दोनों स्थलों में कोई विशेष नहीं है । "पराभ्युपगत व्याप्य से" इसके स्थान में "परप्रमित व्याप्य" ऐसा निवेश कर पर के प्रति अनिष्ट का जहां आपादन है, विपर्य्यय में पर्यवसान नहीं है, वहां तर्कलक्षण की अतिव्याप्ति का निरास करना चाहिये—यह कथन भी अयुक्त है, कारण कि जहां विपर्य्यय में अपर्यवसान है वहां परमार्थ से व्याप्ति न होने पर भी पर के अभ्युपगममात्र से यदि अनिष्ट का प्रसङ्ग है तब उसको अलक्ष्य जानना अयुक्त है । जब उक्तस्थल में परव्याप्य का अभ्युपगम करता है तब पर के प्रति व्यापक का आपादन क्यों न हो, कारण कि प्रसङ्ग, व्याप्ति के वास्तवत्व की अपेक्षा नहीं करता है किन्तु व्याप्ति के अभ्युपगम मात्र की अपेक्षा करता है, कारण कि यदि व्याप्ति का अभ्युपगम न हो, तो वस्तुतः स्थित व्याप्ति से भी प्रसङ्ग नहीं होता है । इसी से जहां वादी विशिष्ट व्याप्ति को नहीं मानता है वहां पर के प्रति व्याप्य की अनुमिति कर व्यापक का आपादन किया जाता है ।

समर्थन—वस्तुतः व्याप्ति और व्याप्ति का अभ्युपगम दोनों प्रसङ्ग के कारण हैं, अतः जहां वस्तुतः व्याप्ति नहीं है वहां विरोधमात्र है, प्रसङ्ग नहीं है ॥७०॥

वस्तुगत्या व्याप्यत्वं तथात्वेनाभ्युपगतत्वं च द्वयमपि प्रसङ्गस्याङ्गमिति चेन्न, तथात्त्वेनाभ्युपगमस्यावश्यं प्रसङ्गाङ्गतया मन्तव्यस्य परानपेक्षस्यैव समर्थत्वे वास्तवव्याप्तत्वस्यापि प्रवेशने प्रमाणाभावात्। तस्माद्यः प्रसङ्गः स्वपक्षसिद्ध्यङ्गं तस्य विपर्ययापर्यवसायिता दोषायैव स्यात्। प्रसङ्गस्य तस्य विपर्ययपर्यवसानदार्ढ्यार्थं दण्डतयोपन्यासात्। सौगतानां सत्त्वक्षणिकत्वव्याप्तिसाधकविपर्ययान्यथाभावदण्डप्रसङ्गवत् तामन्तरेण तस्य स्वपक्षसाधनाक्षमत्वात्तस्य च व्याप्तिवास्तवत्वमपि मन्तव्यमन्यथा विपर्ययेऽपि व्याप्त्यभावेन स्वपक्षसाधनाक्षमत्वादेव। यस्तु प्रसङ्गः परपक्षबाधनाङ्गं तत्र पराभ्युपगममात्रं प्रयोजकं तावतैव परपक्षप्रतिक्षेपसत्वेन वास्तवव्याप्तिविपर्ययपर्यवसानपर्यन्तानानुसारित्वादिति युक्तं पश्यामः, तथा च सति कथितलक्षणासङ्गतिस्तदवस्थैव ॥७१॥

अथ व्याप्याभ्युपगमेनानिष्टस्य व्यापकस्य प्रतीतिस्तर्क इति चेन्न, इष्टार्थसम्भावनायामव्याप्तेः। तेन व्यापकस्य प्रतीतिः स इति चेन्न, इष्टापादनेऽपि गतत्वात्।

खण्डन—व्याप्यत्वरूप से व्याप्य के अभ्युपगम को अवश्य प्रसङ्ग का कारण मानेंगे, फिर जब पर की अनपेक्षा से वह प्रसङ्ग में समर्थ है तब वास्तव व्याप्ति को प्रसङ्ग के कारण मानने में कुछ प्रमाण नहीं है। तस्मात् जो प्रसङ्ग स्व पक्ष की सिद्धि का अङ्ग है उस प्रसङ्ग के विपर्य्यय में अपर्य्यवसान दोष ही है; कारण कि उस प्रसङ्ग का [विपर्य्यय में पर्यवसानरूप स्वपक्ष की दृढ़ता के अर्थ विपक्ष के बाधनार्थ दण्डरूप से] उपन्यास है। बौद्धों के मत में सत्व में क्षणिकत्व की व्याप्ति के साधन के अर्थ सत्व रहे क्षणिकत्व न रहे" इस व्यभिचार की शङ्का के बाधन के लिये यदि क्षणिकत्व न हो, तो सत्व भी नहीं रहेगा" इस प्रसङ्ग के तुल्य। कारण कि यावत् विपर्यय में पर्यवसान न हो तावत् वह प्रसङ्ग स्व पक्ष के साधन में समर्थ नहीं हो सकता है। और वहां वास्तव व्याप्ति को भी मानना चाहिये। अन्यथा विपर्य्यय में भी न होने से स्वपक्ष का साधन भी नहीं होगा। और जो प्रसङ्ग परपक्ष के बाधन के कारण हैं उन प्रसङ्गों का पर का [व्यापत्व रूप से व्याप्य का] अभ्युगममात्र कारण है। कारण कि पर के अभ्युपगम मात्र से ही परपक्ष के खण्डन होने से वास्तविक व्याप्ति और विपर्य्ययपर्य्यवसान के अनुसरण में कुछ फल न होने से व्याप्तिआदि के अननुसरण ही को युक्त देखते हैं। और ऐसा मानने पर तर्कलक्षण में विपर्य्ययपर्य्यवसायी यह विशेषण यदि दें, तो "यदि ब्रह्म उपादान हो तो विकारी हो जायगा" इस स्थल में [जहां विपर्य्यय में पर्य्यवसान नहीं है वहां] अव्याप्ति हो जायगी ॥७१॥

समर्थन—व्याप्य के अभ्युपगम से अनिष्ट व्यापक को प्रतीति तर्क है।

खण्डन—"यदि जल सहकारी से सम्पन्न हो, तो तृषा की शान्ति करे" यहां अव्याप्ति हो जायगी। यदि "अनिष्ट" इस विशेषण का उपादान न करें, तब भी जहां इष्ट वह्नि का धूम से आपादन है वहां अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—व्याप्य के अभ्युपगम से अप्रमित व्यापक की प्रतीति तर्क है।

खण्डन—धूम से वह्नि की प्रथम अनुमिति में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि वह्नि अनुमिति से पूर्व अप्रमित ही है।

समर्थन—अनुमान स्थल में धूम की प्रमा से वह्नि की अनुमिति होती है अभ्युपगम से नहीं होती है और लक्षण में अभ्युपगम का निवेश है, अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी।

अप्रमितस्य तथेति चेन्न, प्रथमानुमानेऽपि गतत्वात्। अनुमाने व्याप्यस्य प्रमया तथात्वानभ्युपगमेनेति चेन्न, वस्तुगत्या व्याप्यस्य प्रमयाऽपि प्रतिवाद्यसिद्धस्य व्यापकानुमानासम्भवेन तत्राप्यभ्युपगमपर्यन्तं गन्तव्यत्वादेव। नन्वेमन्यतरासिद्धिं व्याप्यं प्रसाध्यानुमानव्यवस्थापनमुच्छिन्नं तदप्रसाधनेऽन्यतरासिद्ध्या तत्प्रसाधने परस्याभ्युपगन्तुरपसिद्धान्तादपसिद्धान्तमनुद्भाव्य वादिना प्रसाधितात् व्याप्यात् व्यापकसाधने पर्यनुयोज्योपेक्षणादिति किं तत्र तथा न स्यात्किमत्राप्रस्तुतया तच्चिन्तया। अन्यतरासिद्धस्य तावद्व्याप्यस्याभ्युपगमं परेणाकारयित्वैव न व्यापकसाधनमुपेयं तस्याऽप्रमा स इति चेन्न, मिथो विरुद्धादौ तर्काभासेऽपि गतत्वात्। आश्रयासिद्ध्यादिव्यतिरेके सतीति चेन्न, सन्दिग्धधूमदर्शनात्। यद्यत्र धूमस्तदाऽग्निमानिति सम्भावनायाः परमार्थतस्तथार्थावस्थानात्। प्रमात्वं त्यक्तुमपारयन्त्या अव्यापनात्। तत्कालं प्रमात्वेनाप्रमीयमाण

खण्डन—वस्तुतः जहां व्याप्ति की प्रमा तो है परन्तु प्रतिवादी व्याप्य का अभ्युपगम नहीं करता हो वहां अनुमान नहीं होता है, अतः अनुमिति में भी व्याप्य के अभ्युपगम को ही कारण मानना चाहिये।

समर्थन—यदि अनुमिति में व्याप्ति के अभ्युपगम को कारण मानें, तो अन्यतर के प्रति असिद्ध व्याप्य का प्रसाधन कर अनुमिति के साधन की रीति का उच्छेद हो जायगा। कारण कि यदि व्याप्य का साधन न करें, तो व्याप्य को अन्यतर के प्रति असिद्धि होने से अनुमिति नहीं होगी और यदि साधन करें, तो पर के व्याप्य के अभ्युपगम से अपसिद्धान्त हो जायगा। अतः अपसिद्धान्त को छोड़ कर वादी से साधित व्याप्य से व्यापक के साधन में पर्य्यनुयोज्य अपसिद्धान्त का उपेक्षणरूप निग्रह हो जायगा।

खण्डन—अन्यतरासिद्ध व्याप्यस्थल में उक्त प्रकार से अनुमान का उच्छेद अवश्य हो जायगा। परन्तु उस अप्रस्तुत की चिन्ता से यहां क्या लाभ है। अन्यतर के प्रति असिद्ध व्याप्य का अभ्युपगम के विना कराये व्यापक का साधन स्वीकर्तव्य नहीं है, अतः उस अनुमिति में तर्कलक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—व्याप्य के अभ्युपगम से अप्रमित व्यापक की अप्रमा तर्क है।

खण्डन—मिथोविरुद्धआदि तर्काभास में अतिव्याप्ति हो जायगी। अर्थात् यदि शुक्ति रूप्य की प्रतीति हो, तो वह सत् हो जायगा और सत् होने पर भी यदि बाध मानें, तो असत् हो जायगा। इस सत् असत् के मिथो विरोधरूप तर्काभास में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—मिथोविरुद्धादि भिन्नत्व के निवेश से उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—संदिग्ध धूम दर्शन से जहां "यदि यहां धूम है तो अग्नि भी है" ऐसी सम्भावना होती है। वस्तुतः वह्नि होने से प्रमारूप उस सम्भावना में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—व्याप्य के अभ्युपगम से व्यापक की [उस काल में प्रमात्वरूप से अप्रमीयमाण] प्रतीति तर्क है।

खण्डन—यह लक्षण भी उस शब्द से घटित होने से अननुगतत्वरूप दोष से तथा वादी से प्रमितत्वरूप से अप्रमीयमाण वा प्रतिवादी से इस विकल्प से कवलित होने से असङ्गत है। किञ्च जहां सत्ता में दोनों के व्यापक (सत्ता) अनिष्ट है और व्याप्य इष्ट है

इत्यपीति चेन्न, बहुशो दत्तोत्तरत्वात्। सर्वस्य चाऽस्य पूर्वोक्तोभयानिष्टव्यापकेष्टव्याप्योदाहरणे गतत्वेनातिव्यापकत्वात्। तद्व्यवच्छेदार्थमारोपितस्य व्याप्यस्याभ्युपगमेनेति करणे च सिद्धेन व्याप्येन प्रसङ्गस्याव्यापनात्। तद्यथा कार्यत्वात् यद्यदृष्टसृष्टमङ्कुरादि मीमांसकः शंसति तदानीमविशेषणकर्तृकार्यमपि पर्यवस्येत् अस्य तदिति॥ ७२॥

अपि चात्माश्रयोऽन्योन्याश्रयश्चक्रकं व्याघातोऽनवस्था प्रतिबन्दी चेत्यापाद्यभिद्यमाना षट्तर्कीष्यते। स्वरूपं चैषां स्वस्याव्यवहितस्वापेक्षणमात्माश्रयः अन्योन्यस्याऽव्यवहितान्योन्यापेक्षित्वमन्योन्याश्रयः, अन्तरितस्य तदेव द्वयमात्माश्रयोऽन्योन्याश्रयश्चक्रकं, विरुद्धः समुच्चयो व्याघातः, उपपाद्योपपादकप्रवाहोऽनवधिरनवस्था, स्वाभ्युपगतदोषतुल्यता प्रतिबन्दी॥ ७३॥

तत्राऽऽत्माश्रयस्य सम्बन्धद्वारभेदादाभासत्वं, यथा प्रमेयत्वस्यात्मनि वृत्तौ, क्वचिन्नैवमपि यथाऽऽनेककालस्थस्य घटस्य पूर्वकालवृत्त्यात्मन उत्तरकालवृत्त्यात्मानं प्रति

वहां (यदि सत्ता सद् व्यवहार विषय हो, तो सात्तावती हो जायगी) इस असत्प्रसङ्ग में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—आरोपित व्याप्य के अभ्युपगम से व्यापक की प्रतीति तर्क है और उक्त स्थल में व्याप्य का आरोप नहीं है, किन्तु विद्यमानता है, अतः अतिव्याप्ति नहीं।

खण्डन—यदि उक्त लक्षण में आरोपितत्व व्यापक विशेषण दें, तो जहाँ मीमांसक के प्रति नैयायिक अंकुरादि में विद्यमान कार्य्यत्वरूप व्याप्य से कर्तृसृष्टत्वरूप व्यापक का (यदि अङ्कुरादि कार्य्य है तो अदृष्ट सृष्ट के तुल्य कर्तृजन्य भी है) ऐसा प्रसङ्ग करता है उस में अव्याप्ति हो जायगी॥७२॥

किञ्च—आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, व्याघात [अनवस्था प्रतिबन्दी, आपाद्य विषय के भेद से भिन्नरूप] षट्तर्क इष्ट है इनमें आत्माश्रय स्व से अव्यवधान से स्व की अपेक्षारूप है। अन्योन्याश्रय अन्योन्य से अव्यवधान से अन्योन्य की अपेक्षा रूप है। व्यवधान से स्व से स्व की अपेक्षा वा व्यवधान से अन्योन्य से अन्योन्य की अपेक्षारूप चक्रक है। विरुद्ध दो धर्मों का एक धर्मी में समुच्चय व्याघात है। अवधि से रहित उपपाद्य उपपादक का प्रवाह अनवस्था है। स्व (वादी) से दत्त दोष की वादी के मत में तुल्यता प्रतिबन्दी है॥ ७३॥

-उनमें सम्बन्धरूप द्वार के भेद से आत्माश्रयदोष आभास है जैसे प्रमेयत्व में प्रमेयत्व के वृत्तित्व में अर्थात् घट में प्रमेयत्व घट प्रमाविषयत्वरूप है और प्रमेयत्व में प्रमेयत्वप्रकारक प्रमाविषयत्वरूप है अतः घटप्रमा प्रमेयत्वप्रमा-रूप द्वार के भेद से आत्माश्रय दोष नहीं होता है। और कहीं कहीं आत्माश्रय आभास नहीं होता है, किन्तु दोष होता है, जैसे अनेककालवृत्तिघट की पूर्वकालवृत्ति आत्मा (स्व) के [उत्तरकालवृत्ति आत्मा के कारणत्व में] व्यक्ति-भेद से अन्योन्याश्रय भी कहीं कहीं आभास होता है जैसे ज्ञान से संस्कार की उत्पत्ति और संस्कार से ज्ञान की उत्पत्ति में। यहां अनुभवरूप ज्ञान से संस्कार उत्पन्न होता है और स्मरणरूप ज्ञान को उत्पन्न करता है, अतः व्यक्ति भेद होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है किन्तु आभास है। चक्रक भी व्यक्ति-भेद से आभास होता है, जैसे बीज

कारणत्वे । अन्योन्याश्रयस्य व्यक्तिभेदात्, यथा-ज्ञानेन संस्कारस्य तेन च ज्ञानस्य जनने । चक्रकस्यापि तस्मात्, यथा-बीजेनाङ्कुरस्तेन स्तम्बः तेन बीजं जन्यत इत्यत्र । व्याघातस्योपाधिभेदात्, यथा-कालभेदादिना जननाजननादौ । अनवस्थायाः क्रियायै परस्परानन्त्यानपेक्षणात्, यथा सामग्र्या कार्यजननाय स्वसामग्र्यानन्त्यानपेक्षणे । तामेतामधोधावन्तीमनवस्थामाचक्षते । क्वचिन्नैवमपि, यथा-स्वाश्रये भिन्नबुद्धिजननाय स्वगतभेदानुपजीवनादपि भेदस्यानन्त्ये प्राग्लोपादिदोषात् । तामेतामूर्ध्वं धावन्तीमनवस्थामाचक्षते । प्रतिबन्ध्या विशेषात्, यथा धूमानुमानेऽप्युपाधिशङ्काप्रतिबन्द्यां तर्कानुकूलत्वादिति । तदेषामापादनानि तर्काभासाः कथमुक्तलक्षणेन न सङ्ग्राह्याः सत्यपि व्याप्याश्रदोषे प्रसङ्गस्थानगतेन तेन विशेषणेनाभासीभूतत्वात् ॥ ७४ ॥

से अङ्कुर और अङ्कुर से स्तम्ब और स्तम्ब से बीज की उत्पत्ति में । यहां बीजादि व्यक्ति का भेद है । व्याघात भी देश-कालरूप निमित्त भेद से आभास होता है जैसे कुशूल (कोठिला) में स्थित बीज में अजनकत्व और क्षेत्रस्थ बीज में जनकत्वरूप विरुद्ध दो धर्म्म, देश और कालभेद से रहते हैं । अथवा समान देश काल में भी अपेक्षा से एक ही पुरुष में जन्यत्व और जनकत्व विरुद्ध धर्म्म हैं । अतः ऐसे स्थान में व्याघात आभास है । अनवस्था भी कार्य्योत्पत्ति स्थल में आभास होती है । जैसे कार्य्य, सामग्री से और वह सामग्री भी स्वसाम ी से ही उत्पन्न होती है । कारण कि वह कादाचित्क है और जो कादाचित्क होता है वह जन्य होता है । इस प्रकार से एक से एक के जन्य होने से कार्य्य कारण की अनवधि धारा होने पर भी सामग्री के कार्य्य जनन में स्व की अपेक्षा (सहकार) न होने से यह अनवस्था आभास है । इस अनवस्था को नीचे दौड़ने वाली अनवस्था पण्डित लोग कहते हैं । कहीं अनवस्था आभास नहीं भी होती है जैसे स्वाश्रय में स्व से भेद के भेदजनन में अन्य भेद की अपेक्षा और अन्य भेद के स्वाश्रय से भेद जनन में उससे भी अन्य भेद की एवं भेद परम्परा की अपेक्षा में । यदि वस्तुतः भेद के आनन्त्य को मानें, तो प्राग्लोप, अविनिगम्यत्व, प्रमाणाभाव ये तीन दोष हो जायेंगे । अतः यहां अनवस्था दोष अनाभास है और अनवस्था दोष होने से भेदानन्त्य अप्रामाणिक है । अर्थात् प्रथम भेद से ही (स्वाश्रय में भेदान्तर के बिना ही) भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है जैसे सत्ता में अन्य सत्ता के बिना भी सत् बुद्धि होती है । इस अनवस्था को उर्द्ध दौड़ने वाली अनवस्था पण्डित लोग कहते हैं । प्रतिबन्दी एक पक्ष में अनुकूल तर्क के रहने से आभास होती है । जैसे "अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्" यह अनुमिति [उपाधि शङ्का होने से मीमांसक के मत में] संदिग्धोपाधि है । यदि नैयायिक यहां "यदि संदिग्धोपाधित्वं दोषः स्यात्तदाधूमानुमितावपि स्यात्" इस प्रकार से प्रतिबन्दी दे, तो मीमांसक कह सकता है कि धूमानुमिति में कार्य्यकारणभावरूप विशेष (तर्क) है, अतः यह प्रतिबन्दी आभास है। इन [आत्माश्रय आदि के] आभासों में उक्त तर्कलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। जो वस्तु है वह स्वाश्रय नहीं है । और परस्परापत्तिसिद्धिक भी नहीं है इत्यादि व्याप्ति होने से ये सब तर्क ही हैं, ऐसा नहीं कह सकते हैं, कारण कि सम्बन्धद्वारआदि भेद से उक्त व्याप्ति के आभासत्व का प्रतिपादन कर आये हैं ॥ ७४ ॥

प्रसङ्गस्थाने तावतां विशेषणानामभावेनाऽपि लक्षणं विशेषणीयमिति चेन्न, अन्योन्याश्रयाभासत्वप्रयोजकस्य व्यक्तिभेदस्याभावो नानवस्थाया, मैवमात्माश्रयाभासत्त्वप्रयोजकस्य द्वारभेदस्याभावो नात्माश्रयान्तरादाविति व्यक्तमव्यापकत्वापत्तेः। अपि चापसिद्धान्तविरोधादिष्वपि तर्कलक्षणं गच्छत्कथङ्कारं वारणीयं, यत्रैवं निग्रहे तर्कान्तराणामन्तर्भावः तत्रैवानयोरपीति पृथक्निग्रहत्त्वानुपपत्तेः ॥ ७५ ॥

आत्माश्रयादेश्च मूलव्याप्तौ प्रमाणोपगमश्चेत्तर्हि प्रामाणिकत्वान्नदोषत्वं न चेन्मूलशैथिल्यमित्युभयतः पाशबन्धः कथं मोचनीयः। अथोच्येत यदेतदाश्रयत्त्वमाश्रयित्त्वं च तद्भेदे दृष्टं तद्यदि विवादाध्यासिते त्वयोपेयते तदा भेदः स्यादित्याकारेणाऽऽ-

समर्थन—आभासत्व के कारण विशेषणों का जहां अभाव हो, वहां आरोपित व्याप्य से व्यापक का प्रसञ्जनतर्क है, ऐसा निवेश करने से उक्त आभास स्थल में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—यदि ऐसा निवेश करें, तो आत्माश्रय के आभासत्व का प्रयोजकसम्बन्ध द्वारभेद ही अन्योन्याश्रय अथवा चक्रक में है उसका अभाव नहीं है, अतः अन्योन्याश्रय आदि में अव्याप्ति हो जायगी। इसी प्रकार से आत्माश्रय का आभासत्वप्रयोजक द्वार (भेद) का अभाव अन्य आत्माश्रय में नहीं है, अतः वहां भी अव्याप्ति हो जायगी।

किंच "यदि संस्कारस्थिरत्वं स्वीकृतं बौद्धेन तदा अपसिद्धान्तः स्यात्" इस अपसिद्धान्त के आपादन में तथा "यदि अस्थिरत्वं कथयित्वा स्थिरत्वं कथ्यते बौद्धेन तदा वचनविरोधःस्यात्" इस वचन विरोध के आपादन में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि उनको तर्क मान लें, तो तर्क में ही आत्माश्रयादि के तुल्य इनकी भी गणना होनी चाहिये। और तर्क होने पर भी यदि इनकी निग्रहस्थान में गणना करें, तो आत्माश्रयादि तर्क की भी निग्रह में ही गणना होनी चाहिये। यदि आत्माश्रयादि का किसी निग्रह में अन्तर्भाव हो तो उस निग्रह में ही अपसिद्धान्त आदि का भी अन्तर्भाव होना चाहिये, पृथक् गणना सर्वथा व्यर्थ है ॥७५॥

किंच आत्माश्रयादि तर्क के मूलव्याप्ति में प्रमाण है कि नहीं? यदि प्रमाण है, तो प्रामाणिक होने से आत्माश्रय को दोष न कहना चाहिये। और यदि व्याप्ति में प्रमाण नहीं है तो मूल के शैथिल्य से वह तर्क ही नहीं है, इस उभयतः पाश (दो तरफा दोष) से पिण्ड कैसे छुड़ायेंगे।

समर्थन—जो आश्रयआश्रयिभाव है, वह भेद में देखा गया है। यदि वह विवादविषय में हो तो भेद हो जायगा—इस प्रकार से यदि आत्माश्रय का आपादन करें, तो उक्त दोष नहीं होगा।

खण्डन—एक ही घट में रूप की अपेक्षा से आश्रयत्व और भूतल की अपेक्षा से आश्रितत्व दोनों के समावेश होने से उक्त प्रकार से आपादन नहीं हो सकता है।

समर्थन—तदाश्रयत्व और तदाश्रितत्व, भेद से नियत हैं, अतः यदि वे विवादविषय में हों तो भेद हो जायगा। इसप्रकार से आपादन में उक्त घटस्थल में व्यभिचार नहीं है।

खण्डन—यह कथन भी लक्षण में तत् और मिथः शब्द के प्रवेश होने से खण्डित है। अर्थात् आत्माश्रयस्थलीय वस्तुमात्र में अनुगत कोई रूप धर्म नहीं है, जिस रूप के पुरस्कार से वस्तुमात्र को तद्शब्द कहें, यदि कथञ्चित् वस्तुमात्र को कहें भी तो उक्त घटस्थल में व्यभिचार

पादने नोक्तदोषापत्तिरिति । मैवम् । एकत्र द्वयस्यापि दृष्टत्वात् । तदाश्रयत्वं तदाश्रितत्वं च मिथो भेदनियतमिति चेन्न, तन्मिथःशब्दाभ्यां चारीकृतत्वात् ॥ ७६ ॥

एतदाश्रयत्वादेतदाश्रितत्वाद्वा नैकत्वं स्यादिति वचनभङ्ग्याऽऽपाद्यमिति चेन्मैवम् । यद्येतदेतदाश्रयादि स्याच्चदैतन्न स्यादिति ह्यापाद्यं, नचैतद्युक्तं धर्म्याऽऽपाद्ययो र्व्याहतत्वात् । नच वाच्यमापाद्यस्य प्रमाणबाध्यताऽनुकूलैवेति व्याघातादपि सा सम्भवन्ती न दोषमर्हतीति, यत आपाद्यापादकयोः सामानाधिकरण्यानादरेऽतिप्रसङ्गः स्यादतो विपर्ययाऽपर्यवसायित्वमेवं स्यात्, एवं हि विपर्ययो वक्तव्यो, यन्नाम ? भवति चैतदेतत्तस्मान्नैतदाश्रय इति । नचैतदेतद्भवितुं शक्नोति एतदित्युद्दिष्टे धर्मिण्येतत्त्वविधानासम्भवादुद्देश्यविधेययोः प्रकारभेदस्याभावात् । न च प्रसङ्गमात्रमेतद्बाधायैवास्तु कृतमस्य विपर्ययपर्यवसानेनेति युक्तम् । स्वयमपि प्रसङ्गमूलस्य व्याप्तेरिष्टतया प्रसञ्जितनिषेधे तद्व्यतिरेकप्रामाणिकत्वस्यावश्यमन्तव्यत्वापत्तेः ॥७७॥

वैसा ही है। और यदि तद् शब्द को एक व्यक्ति परक मानें, तो लक्षण का अनुगम नहीं होगा। एवं मिथः शब्द को यदि एकपरस्परक-व्यक्तिपरक मानें, तो अननुगम हो जायगा ॥७६॥

समर्थन—यदि इसमें एतदाश्रयत्व एतदाश्रितत्व दोनों हों, तो एकत्व न होगा इस प्रकार से आपादन है, अर्थात तद्वा एतद् शब्द एक व्यक्तिपरक ही है तथा लक्ष्य व्यक्ति के भेद से लक्षण का भेद इष्ट ही है। कारण कि लक्षण के भेद होने पर भी लक्ष्य का ज्ञानरूप लक्षण का प्रयोजन सिद्ध हो ही जाता है।

खण्डन—यदि एतत् एतदाश्रय हो तो एतत् एतत् न होगा—यह आप का आपादान हुआ। वह युक्त नहीं है, कारण कि एतत् एतत् न होगा इस कथन में धर्मी (एतत्) और आपाद्य (विधेय) एतद् न इन दोनों में व्याघात हो जायगा।

समर्थन—आत्माश्रयादि जो तर्क परपक्ष के दूषण के लिये ही हैं उनमें आपाद्य के—व्याघातआदि से बाध दोष नहीं है किन्तु गुण है।

खण्डन—एतदाश्रयत्व एतदाश्रितत्व तो आपादक हैं, और अनेकत्व आपाद्य है, इन दोनों के सामाधिकरण्य का यदि अनादर करें, तो एकत्व से अभिमत वस्तुमात्र के एकत्व का भङ्ग हो जायगा। कारण कि अन्यत्र स्थित उक्त आपादक से सर्वत्र भेद का आपादन हो सकेगा। और यदि सामानाधिकरण्य का आदर करें तो विपर्यय में पर्यवसान नहीं होगा। कारण कि विपर्यय में पर्य्यवसान इस प्रकार से करेंगे कि होता है "यह यह" इससे एतदाश्रय नहीं है, और यह हो नहीं सकता है कारण कि एतद् धर्मी में एतत्व का विधान नहीं हो सकता है क्योंकि सर्वत्र उद्देश्य विधेय में प्रकारभेद का नियम है। और यहाँ प्रकार भेद है नहीं।

समर्थन—आत्माश्रयादि केवल परपक्ष के बाध के अर्थ हैं, अतः इनमें विपर्य्यय पर्य्यवसान व्यर्थ है।

खण्डन—आत्माश्रयादि के प्रसङ्ग का मूल व्याप्ति स्व को भी इष्ट है। अतः प्रसञ्जित (अनेकत्व) का निषेध (एकत्व) में तद्व्यतिरेक (व्यतिरेकव्याप्ति) को प्रामाणिक अवश्य मानना चाहिये, कारण कि अन्वयव्याप्ति व्यतिरेकव्याप्ति की व्यापिका होती है और विपर्य्यय पर्य्यवसान के बिना व्यतिरेक व्याप्ति का ग्रह होगा नहीं ॥ ७७ ॥

अतएवैतदन्यत्स्यादित्यपि न शक्यप्रसञ्जनमेतदन्यत्वस्यैतत्स्वरूपभेदमादायैव प्रतीतिपर्यवसायितया प्रसङ्गे व्याघातादेव । विपर्ययोऽप्येतद्विशेषितान्यविशेषितान्यत्व-विधायिनो विशेषणविशेषणताप्रविष्टमात्मानमात्मनि विधीयमानं;न क्षमते-एतदनन्यत्वस्यै-तदन्यान्यत्वस्यैतत्त्वादेव, अन्यत्वावधेरात्मन उपलक्षणत्वे चान्यत्वमात्रमुपलक्ष्यमाण-मन्यस्मादप्यन्यत्वमादाय पर्यवस्येत् । स्वरूपत एव विलक्षणमन्यत्वविशेषमवधिरात्मो-पलक्षयतीति च न घटते यतोऽन्यत्वमात्रमेवावधिविशेषैरुपधीयमानं तदन्यत्वप्रत्यय-व्यवहारोपपादकं भवदन्यत्वव्यक्तिभेदपर्यन्तगमनं प्रमाणस्य न सहते । यदि चान्यत्व-व्यक्तिभेदोऽपि स्यात्तथाऽपि प्रसङ्गमूलभूताव्याप्तिः सामान्याकारपुरस्कारित्वादेतेनैवोप-धीयमानानामन्यत्वव्यक्तीनामैक्यमादाय प्रवृत्ता तथैव प्रसङ्गे विपर्यये चोपनयन्ती स्या-देवोक्तदोषालङ्घनायेति ॥ ७८ ॥

समर्थन—"यदि आश्रयत्व आश्रितत्व दोनों इसमें हों, तो यह इससे अन्य हो जायगा" इस प्रकारसे आत्माश्रय के आपादन में कोई हानि नहीं है।

खण्डन—यह आपादन का प्रकार युक्त नहीं है, कारण कि एतदन्यत्व का भी एतत् स्वरूप के भेद में ही पर्य्यवसान होने से "एतत् एतदन्यत् स्यात्" इस प्रसङ्ग में भी धर्मी और आपाद्य में व्याघात वैसा ही है। और विपर्य्यय में पर्य्यवसान भी, "एतत् एतदन्यत् न" इत्याकारक का एतत् में एतदन्यान्यत्व, विधान करने वाला, विशेषण के विशेषणरूप से प्रविष्ट आत्मा के भी विधीयमानत्व,को नहीं सह सकता है।

समर्थन—"एतत् एतदन्यत् न भवति" इस विपर्य्यय में अन्यत्व में एतत्त्व यदि विशेषण हो तब तो उक्त कथन युक्त न हो परन्तु एतत्त्व उपलक्षण है, अतः उक्त कथन युक्त ही है।

खण्डन—यदि एतद् के अर्थ घट को अन्यत्व में उपलक्षण मानें, तो उद्देश्य घट में पट से अन्यत्व के होने से फिर भी एतत् अन्यत् न इस प्रकार से विपर्य्यय में पर्य्यवसान न होगा।

समर्थन—एतत् अन्यत्वमात्र का उपलक्षण नहीं है किन्तु अन्यत्व विशेष अर्थात् स्वप्रतियोगिक भेद का उपलक्षण है और स्व प्रतियोगिक अन्यत्व के अन्यत्व के—एतत् पद के वाच्य उद्देश्य में—होने से विपर्य्यय में पर्य्यवसान हो जायगा।

खण्डन—तब यह कथन होता यदि प्रतियोगी भेद से अन्यत्व का भेद होता, परन्तु अन्यत्व का भेद है नहीं, कारण कि आकाश के तुल्य अन्यत्व के एक होने पर भी घट पट प्रतियोगीरूप उपाधि के भेद होने से घटाकाश-मठाकाश के तुल्य "घटो न" "मठो न" इत्यादि प्रतीति के भेद की उपपत्ति हो सकती है, फिर प्रतियोगी भेद से अन्यत्व का भेद क्यों मानें, और यदि अन्यत्व व्यक्ति के भेद को किसी प्रकार से मान भी लें, तब भी उपलक्षण कल्प में निर्वाह नहीं है, कारण कि उक्त प्रसङ्ग का मूल (कारण) व्याप्ति सामान्यरूप से अनन्त अन्यत्वव्यक्ति के ऐक्य का ग्रहण कर प्रवृत्त होती है। अतः वह एतत्त्व से उपलक्षित अन्यत्वरूप से प्रसङ्ग तथा विपर्य्यय में प्राप्त होगी, ही होगी, अतः एतत्त्व से उपलक्षित अनन्त अन्यत्व के घट में रहने से प्रसङ्ग अतः उक्त दोष का लंघन नहीं हो सकता। अर्थात् पट के अन्यत्व के घट में रहने से प्रसङ्ग नहीं होगा ॥ ७८ ॥

एवंप्रकारता चाऽऽश्रयाश्रयिभाववत्प्रकारान्तराश्रयेष्वप्यात्माश्रयोदाहरणेऽन्वतिदिश्यते। अन्योन्याश्रयो यथाभेदेनावगताद्भेदज्ञानोपगमे, सोऽपि त्वया कथङ्कारमुपन्यसनीयः। न तावद्यद्येतदेतद्बोधाधीनबोधं स्यात्तदा न बुद्ध्येतेति, तथासति व्याप्त्यसिद्धेः एतद्बोधाधीनबोधं यत्तद्बोधाधीनबोधस्य तस्यैवादृष्टचरत्वात्। क्वचन व्याप्यव्यापकभेदकल्पनया व्यभिचाराप्रतीतचरत्वयो र्वारणेऽप्यतथाभावशङ्काखण्डकदण्डदुर्लभत्वात्। एवमन्योन्याश्रयान्तरेऽपि। चक्रकं च मध्ये परमन्तर्भाव्याऽऽत्माश्रयान्योन्याश्रयावेव विपरिणमत इति तद्दोषं नातिक्रामति ॥ ७९ ॥

व्याघातस्तु यथा सन्नास्तीत्यत्र। तमपि कथं प्रयोक्ष्यसे, यदि यद्ययं सन्न स्यात्तदानीमसन् त्स्यादिति। तर्ह्यसन्न स्यादित्यस्यापि सन्त्स्यादित्यस्मिन्नेवार्थे पर्यवसानादभेदेन व्याप्यव्यापकभावस्यैवाऽसिद्ध्यापत्तिः। स्वभावविरुद्धोपजीविनी च विरुद्धा-

इसी प्रकार से "स्वस्मात् स्वं जायते" इत्यादि आत्माश्रय प्रकार में भी दोष को जानना चाहिये, कारण कि यहां भी "स्व से स्व यदि उत्पन्न हो तो स्व से अन्य हो जायगा ऐसा ही उपपादन प्रकार के होने से व्याघात और विपर्य्यय में पर्य्यवसान नहीं होगा। अन्योन्याश्रय भी [अभाव भाव का प्रतियोगी रूप होने से तथा प्रतियोगी से अनालिङ्गित अभाव की प्रतीति के न होने से भेद के ज्ञान से जात प्रतियोगी के ज्ञान से भेद का ज्ञान और प्रतियोगी के ज्ञान से जात भेद के ज्ञान से प्रतियोगी के ज्ञानस्थल में] है उसका भी उपन्यास आप कैसे करेंगे। यदि भेद, भेद के ज्ञान के अधीन जो प्रतियोगी का ज्ञान उसके अधीन ज्ञान का विषय होता तो ज्ञान का विषय न होता इस प्रकार से प्रसञ्जन तो हो नहीं सकता है। कारण कि प्रतियोगी ज्ञानाधीन ज्ञान विषय भेद अन्यत्र दृष्ट है वा नहीं? यदि दृष्ट है "तो" न बुध्यते, इस आपाद्य (व्यापक) के वहां न होने से व्यभिचार है और यदि नहीं दृष्ट है तो धर्म्मी के अज्ञान से आपाद्य (ज्ञानाविषयत्व) तथा आपादक भेद ज्ञान के अधीन जो प्रतियोगी ज्ञान उसके अधीन ज्ञान के विषयत्व" दोनों के सामानाधिकरण्य न होने से व्याप्ति का ग्रहण नहीं होगा।

समर्थन—जो वस्तु होता है वह परस्पराधीन सिद्धिक नहीं होता है। जैसे घट द्रव्य। इस प्रकार से सामान्यरूप के पुरस्कार से व्याप्ति दृष्ट है। अतः विशेषरूप से भेद के अज्ञान की दशा में भी व्याप्ति का ग्रह हो जायगा और व्यभिचार भी नहीं होगा।

खण्डन—यह भी आपादन का प्रकार युक्त नहीं है। कारण कि "वस्तुत्व रहे और परस्परायत्तबोधत्व का अभाव न रहे हानि क्या है" इस प्रकार से व्यभिचार की शङ्का होने पर उसका निवर्त्तक अनुकूल तर्क नहीं है। इसी प्रकार से अन्य अन्योन्याश्रय में भी दोष को जानना चाहिये। मध्य में अन्य को देकर आत्माश्रय तथा अन्योन्याश्रय ही चक्ररूप से परिणत होता है, अतः चक्रक भी उन दोनों के दोष का उल्लंघन नहीं कर सकता ॥ ७९ ॥

व्याघात भी "सन् नास्ति" इस स्थल में है उसका भी प्रसञ्जन कैसे होगा "यदि यह सत् है तो असत् नहीं है" इस प्रकार से प्रसञ्जन तो हो नहीं सकता है, कारण कि "असन् न" इसका भी फलित अर्थ सत्, यही है और अभेद में व्याप्यव्यापकभाव या उद्देश्यविधेयभाव होता नहीं है। स्वभाव से ही विरुद्ध सत् असत्, के उपजीवन करने वाले अन्य विरुद्धों के खण्डन को सत् असत् के व्याघात के खण्डन से ही जानना चाहिये।

न्तरे तद्व्याघातनिरासादेव निरस्तप्राये । गौर्महिषः ततो न भवति, अगवात्मतानियता यतो महिषात्मतेति, एष हि तयो र्विरोधः । अनवस्था तु यथा सत्तायामपि सत्तान्तरमित्यनवधौ सत्ताप्रवाहे इष्यमाणे, तत्र कथं प्रत्यवस्थेयं, न तावद्यदि सत्तायां सत्ता स्यात्तदा न विश्रान्तिः स्यादिति, सत्तायां सत्ताभ्युपगमस्य विश्रान्त्यभावेन सह व्याप्तिसिद्ध्यसिद्ध्योर्दोषग्रस्तत्वात् । प्रतिबन्दी च खण्डितैव ॥ ८० ॥

किञ्च प्रमेयत्वाभिधेयत्वव्यवहार्यत्वसन्निकर्षवत्त्वाभावप्रतियोगित्वादीनामात्माश्रितत्वदर्शनात् कथमात्माश्रयताखण्डिका व्याप्तिः सव्यभिचारा न स्यात् । द्वारव्यक्तिभेदस्याऽपि व्यभिचारिव्यतिरेकत्वात् । स्वप्रकाशवादिना स्वयमेव स्वज्ञानत्वस्य, एवमभावेऽप्यन्यमभावमस्वीकुर्वता स्वयमेव स्वाभावत्त्वस्य, एवं तदेव ग्राह्यं ग्राहकं चात्मप्रतीतौ, एवं तदेव ज्ञाप्यं ज्ञप्तिकारणं च शब्दो वाचक इत्यत्र, एवं तदेव नाश्यं नाशकं च प्रध्वंसिनि, एवं तदेव सम्बन्धि सम्बन्धश्च स्वभावसम्बन्धोपगमे, इत्यादि बहुलमुपगमादात्माश्रयतदाभासविवेकाय किं नियामकमुपेयम् । अन्योन्याश्रये चान्त्यो-

---

जैसे "गौर्महिषः" यह व्याघात भी इस रीति से प्रवृत्त होता है कि जिस कारण से अगवात्मता से नियत महिषात्मता है अतः गौ महिष नहीं है इस से "अमहिषः महिषः" इस सत् असत् के व्याघात में ही "गौः महिषः" इस व्याघात का भी पर्य्यवसान जानना चाहिये। यदि सत्ता में सत्ता के (अवधि से रहित) प्रवाह को मानें, तो अनवस्था होती है । उस में भी अनिष्ट प्रसञ्जन कैसे होगा । "यदि सत्ता में सत्ता हो तो विश्रान्ति नहीं होगी। इस प्रकार से प्रसञ्जन तो हो नहीं सकता है। कारण कि यदि सत्ता में सत्ता के भ्युपगमरूप आपादक और विश्रान्तिरूप आपाद्य की व्याप्ति को प्रमित मानें, तो प्रमित होने से ही अविश्रान्ति दोष नहीं है और यदि व्याप्ति को अप्रमित मानें, तो प्रमाण के न होने से आपादन नहीं होगा। प्रतिबन्दी का खण्डन द्वितीय परिच्छेद में ही हो चुका है ॥ ८० ॥

किञ्च प्रमेयत्व अभिधेयत्व (वाच्यत्व) व्यवहार्य्यत्व सन्निकर्षवत्व अभावप्रतियोगित्व—आदि धर्म्म आत्माश्रित देखे जाते हैं फिर आत्माश्रय का खण्डन करने वाली व्याप्ति में व्यभिचार क्यों न हो।

समर्थन—प्रमेयत्वआदि स्थल में द्वार-भेद है। अर्थात् घट में घटप्रमाविषयत्वरूप प्रमेयत्व है, अतः आत्माश्रय-खण्डक व्याप्ति में व्यभिचार नहीं है।

खण्डन—वक्ष्यमाण (स्वप्रकाश ज्ञानादि) स्थल में व्यक्ति-भेद के व्यतिरेक (अभाव) के व्यभिचरित होने से अर्थात् न होने से और आत्माश्रय के होने से व्यक्ति के ऐक्य में भी आत्माश्रय के अदोषत्व के देखने से व्यक्ति-भेद भी आत्माश्रय में आभासत्व का प्रयोजक नहीं है।

स्वप्रकाशवादी के मत में स्वज्ञान में स्वविषयकज्ञानत्व के इसी प्रकार से जो अभाव में अन्य अभाव को नहीं मानते हैं उनके मत में अभाव में स्वनिष्ठाभावत्व के तथा आत्मविषयक प्रतीतिस्थल में आत्मा में ही ज्ञाप्यत्व ज्ञापकत्व के तथा "शब्दो वाचकः" इस शब्द से जात बोधस्थल में शब्द में ही ज्ञान के विषयत्व तथा करणत्व के तथा क्षणिकवादी के मत में उसी पदार्थ में नाश्यत्व तथा नाशकत्व के तथा स्वरूप को सम्बन्ध मानने वालों

पान्त्यशब्दयोरन्योन्यनाशकतायां, समव्याप्तिकयोश्चान्योन्यव्याप्यव्यापकतायां, एककार्यकारिणां चान्योन्यसहकारितायां, एवमन्यस्मिन्नपि तत्र तत्र दर्शनात्कथं न व्याप्तिभङ्गः। कश्च विशेषो यद्व्यतिरेको विशेषणमुपादीयेत। तत्रतत्राविरोधान्नैवमितिचेत्, न। अन्यत्र तथाभावादर्शनस्य विरोधाभ्युपगममूलस्याविशेषात्। तत्र तत्र तथात्वे प्रमाणसद्भाव एव विशेष इति चेत्। तर्हि सर्वत्रानभ्युपगममूलं तथात्त्वे प्रमाणाभाव एवोपजीव्यो दूषणमिष्यतां कृतमन्योन्याश्रयेण व्यभिचरितदोषत्वेनेति ॥ ८१ ॥

चक्रकेऽपि दुःखजन्मादिसूत्रोक्तादिषु व्यभिचारदर्शनादव्याप्तिः विशेषव्यतिरेकदर्शनदुःशक्यत्त्वं च। कार्यकारणभावस्य तज्जातीयतया नियतत्त्वेन व्यक्तिभेदस्य

के मत में उसी को सम्बन्धी तथा सम्बन्ध के अभ्युपगम होने से इस स्थल में आत्माश्रय अनाभास है, और इस स्थल में आभास है, इस निश्चय का कारण क्या माना जायगा।

अन्योन्याश्रय स्थल में अन्त्य शब्द का नाशक उपान्त्य शब्द होता है तथा उपान्त्य शब्द का नाशक अन्त्य शब्द होता है, अतः परस्पर नाशकता में तथा गन्ध-पृथिवीत्व-आदि समव्याप्तसाध्यहेतु स्थल में परस्पर व्याप्यव्यापकभाव में तथा घटादि एक कार्य्य के कारण दण्ड-चक्र आदि के परस्पर सहकारित्व में एवं अन्यत्र भी अन्योन्याश्रय दोष में व्यभिचार देखने से अन्योन्याश्रय के खण्डन करने वाली व्याप्ति का भङ्ग क्यों न माना जाय। ज्ञान, संस्कार स्थल में व्यक्ति-भेद विशेष है, अतः अन्योन्याश्रय को आभास मानते हैं, परन्तु उक्त शब्दादि स्थल में व्यक्ति-भेदरूप विशेष भी नहीं है, फिर क्या विशेष है? जिसके होने से अन्योन्याश्रय का आभासत्व तथा उस विशेष के व्यतिरेक (अभाव) को लक्षण में विशेषण देकर अन्योन्याश्रय के अनाभासत्व की व्यवस्था हो।

समर्थन—अन्त्य उपान्त्य शब्द स्थल में परस्पराश्रयत्व में विरोध नहीं है और प्रतियोगी तथा भेदस्थल में परस्परश्रयत्व विरोध है, अतः अन्योन्याश्रय में विरोध तथा अविरोध ही विशेष है।

खण्डन—विरोध के अभ्युपगम (स्वीकार) का मूल, विरोध का अदर्शन है उस में कोई विशेष अन्यत्र (प्रतियोगी, भेद स्थल में) भी नहीं है। अर्थात् यदि अन्त्य उपान्त्य शब्द स्थल में परस्पराश्रय में विरोध के अदर्शन से अविरोध (विरोध को अदुष्ट) मानें, तो प्रतियोगीभेदस्थल में भी परस्पराश्रय में विरोध के अदर्शन से (परस्पराश्रित प्रतीति होने से) विरोध का अभ्युपगम करना चाहिये।

समर्थन—अन्त्य उपान्त्य शब्दादि स्थल में अन्योन्याश्रय को अनाभास मानने में प्रमाण का सद्भाव ही विशेष है।

खण्डन—तब तो सर्वत्र अन्योन्याश्रय को दोष मानने का कारण प्रमाण का अभाव ही हुआ अतः उपजीव्य होने से प्रमाणाभाव को ही दोष मानिये जिसमें दोषत्व व्यभिचरित है ऐसे अन्योन्याश्रय को दोष मानना व्यर्थ है ॥ ८१ ॥

चक्रक का भी—"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" इस सूत्रोक्त दुःखादि में व्यवधान से परस्पर जन्यजनकभाव होने से—व्यभिचार है, अतः लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें कि अन्य जन्म व्यक्ति अन्य दुःख व्यक्ति की जनिका है, तथा व्यवधान से अन्य दुःख व्यक्ति से जन्य है, अतः व्यक्ति-

चक्रकानन्तर्भूतत्वात् । व्याघातेऽप्येकस्यैव जनकत्वाजनकत्वे तथा । नच कालभेदादिविशेषो घटतत्प्रध्वंसादौ कालभेदेऽपि तादात्म्यव्याघातोपगमादेव ॥८२॥

सत्प्रतिपक्षजात्योश्च को विशेषो व्याघाते, येन पूर्वत्र बाध्यबाधकयोर्द्वयोरप्याभासत्वमुत्तरत्र तूत्तरस्य परं तथोपेयत इति गुरवः । यद्यपि प्रतिपक्षहेतुः साध्यान्तरसाधक इत्यस्ति तस्य जात्युत्तरवैधर्म्यं तथाऽपि त्वद्धेतुरसाधकः समबलप्रतिपक्षप्रतिहतत्वादित्यस्य दूषणत्वार्थमवश्यापेक्षस्य द्वारात्मव्याघातकत्वात्साक्षाद्वाऽवश्योपस्थाप्यद्वारेण वा स्वव्याघातकतायामनुपयुक्तविशेषाभावः । नच तत्राऽऽस्तामेव व्याघातः सत्प्रतिपक्षता तु निरवद्यैवेति शक्यं वक्तुम् । यतः शब्दादेर्नित्यत्वमेकस्मादनित्यत्वं चापरस्मादनुमानात्तथा सति किं न स्यात् । तयोर्विरोधग्राहिणः प्रमाणस्य बलादितिचेन्न ।

भेद चक्रक का आभासत्व का तथा व्यक्ति-भेद का (अभाव) अनाभासत्व का प्रयोजक है तो यह कथन भी चक्रक में व्यक्ति-भेद के व्यतिरेक के ज्ञान के अशक्य होने से असङ्गत है, कारण कि कार्यकारणभाव दुःखादि जातीय में नियत है, अतः व्यवधान से परस्पर कार्यकारणभावरूप चक्रक के लक्षण में व्यक्तिविषय का अप्रवेश है। एक ही बीज में अङ्कुर के जनकत्व तथा अजनकत्व को प्रामाणिक होने से व्याघात भी आभास है।

समर्थन—जिस काल में जनकत्व हो उसी काल में अजनकत्व का होना व्याघात है अतः बीज में काल-भेद होने से व्याघात नहीं है।

खण्डन—जो आचार्य प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव को प्रतियोगीरूप मानते हैं, उनके प्रति-काल भेद के होने पर भी "यदि घटः प्रागभावात्मकः प्रध्वंसाभावात्मको वा स्यात् तदा व्याघातः स्यात्" इस प्रकार से व्याघात का प्रसञ्जन आप करते है, अतः लक्षण में काल के अभेद का निवेश हो नहीं सकता है ॥ ८२ ॥

सत्प्रतिपक्ष तथा जाति दोनों में एकसा व्याघात होने पर भी क्या विशेष है, जिस से सत्प्रतिपक्ष में बाध्यबाधक दोनों आभास होते हैं और जाति में केवल उत्तर ही आभास होता है—ऐसा गुरु (प्रभाकर) ने कहा है।

समर्थन—सत्प्रतिपक्षस्थल में हेतु—व्याप्ति होने से साध्य का—साधक होता है। और जाति स्थल हेतु—व्याप्ति न होने से साध्य का—असाधक होता है—यह दोनों में भेद है।

खण्डन—यह भेद अकिञ्चितकर है कारण कि दोष देने के लिये अवश्य अपेक्षणीय "तुम्हारा हेतु, सम बल प्रतिपक्ष से पराहत होने से असाधक है।" इस अनुमितिरूप द्वार से आत्म व्याघात दोनों स्थलों में तुल्य है। भेद यह है कि सब "सत् है" अर्थ क्रियाकारी होने से, नैयायिक के यह कहनेपर "सर्व असत् है, ज्ञेयत्व होने से" इस जातिरूप बौद्ध के उत्तर में ज्ञेयत्व हेतु [स्व के भी ज्ञेय होने से स्व के स्वरूप रूप जो प्रतिपक्ष उससे साक्षात् ही] व्याहत है और "शब्द अनित्य है कृतक होने से" इस नैयायिक के अनुमान में शब्द नित्य है केवल आकाश के गुण होने से" इस सत्प्रतिपक्ष स्थल में प्रथम हेतु में समबल प्रतिपक्ष अकाशैकगुणत्व से पराहतत्व से असाधकत्व के साधन द्वारा आकाशैकगुणत्व हेतु स्व का भी व्याघातक है। अर्थात् जैसे पर के नाश के लिये स्व से उत्थापित भूत पर का नाशकर स्व के नाश का भी कारण होता है वैसे ही स्थापना हेतु के बाधन के अर्थ आकाशैक

यथा नित्यत्वमनित्यत्वमित्युभयमास्तामित्याचक्ष्महे तथा विरुद्धमविरुद्धं चास्तामित्यपि ब्रुवतोऽस्मान्कथं निवारयिष्यसि। स्यादप्येवं यदि सत्प्रतिपक्षत्वमेव तत्र दोषो न स्यादिति चेत्तर्हि मन्तव्यं प्रथमस्य हेतोः समानबलप्रतिपक्षप्रतिहतत्वादसाधकत्वमित्युक्तमावर्तते ॥ ८३ ॥

अनवस्थायां च यस्यां यस्यां सत्तायामपरापरसत्ता यायात्तस्यास्तस्याः प्रमाणेन सिद्धौ नानवस्था दोषः स्यादसिद्धौ चाश्रयासिद्धविषयमापादनमिति। यदि चाऽऽत्माश्रयादिषु सर्वत्र विशेषोऽयमभिधीयते प्रमाणसिद्धत्वात्तत्र तथोपेयत इति तह्यापादनस्थाने तथाऽभ्युपगमाय प्रमाणं नास्तीत्युक्तं भवति तथाच तत्र प्रमाणप्रश्नस्यावसरा न प्रसङ्गस्येति ॥ ८४ ॥

अपरेऽपि विषयभेदात्तर्कभेदा आत्माश्रयादिवन्मन्तुमुचिताः। तद्यथा अविनिगमः उत्सर्गः, कल्पनागौरवलाघवे, चानौचित्यं चेति। विकल्पेनाऽन्वयावगमयोग्ये एक-

---

गुणत्व हेतु से उत्थापित समबलप्रतिपक्ष पराहतत्वरूप हेतु स्व के नाश का भी कारण होता है।

समर्थन—व्याघात तुल्य होनेपर भी व्याप्ति होने से सत्प्रतिपक्ष सत् उत्तर है तथा व्याप्ति न होने से जाति असत् उत्तर है।

खण्डन—यदि सत्प्रतिपक्ष स्थल में दोनों हेतुओं में व्याप्ति को मानें, तो दोनों हेतुओं के बल से नित्यत्व, अनित्यत्व इन दोनों विरुद्ध धर्मों का एकत्र ज्ञान होना चाहिये।

समर्थन—नित्यत्व, अनित्यत्व दोनों धर्मों के विरोध को विषय करने वाले प्रमाण के बल से दोनों का एकत्र ज्ञान नहीं होगा।

खण्डन—जैसे दोनों हेतुओं में व्याप्ति के बल से नित्यत्व का एकत्र आपादन हम करते हैं वैसे ही यदि उक्त व्याप्ति के बल से नित्यत्व अनित्यत्व कहीं विरुद्ध तथा कहीं अविरुद्ध हैं—ऐसा आपादन करें, तो कौन हमें निवारण करेगा।

समर्थन—व्याप्ति के बल से साध्य की सिद्धि—सत्प्रतिपक्षरूप दोष के न होने पर होती है यहां सत्प्रति पक्ष दोष है, अतः नित्यत्व, अनित्यरूप विरुद्ध धर्मों का अध्यास एकत्र नहीं होता है।

खण्डन—तब यह मानना चाहिये कि प्रथम हेतु समानबल प्रतिपक्ष पराहत होने से असाधक है और यदि ऐसा मान लें, तो उक्त वेताल-न्याय से स्व व्याघातक होने से जाति से सत्प्रतिपक्ष में कुछ विशेष नहीं रहा ॥ ८३ ॥

किञ्च अनवस्था स्थल में जिस २ सत्ता में अपर २ सत्ता का आपादन करते हैं उस २ सत्ता में यदि प्रमाण है तो प्रामाणिक होने से अनवस्था दोष नहीं है। और यदि प्रमाण नहीं है, तो आश्रय की प्रसिद्धि होने से अनवस्था का अपादान हो ही नहीं सकता है। यदि च आत्माश्रयादि सब स्थलों में यह विशेष कहा जाय कि अमुक स्थल में प्रमाण सिद्ध होने से आत्माश्रयादि दोष नहीं है, तो आपादन के स्थान में अमुक आत्माश्रयआदि मानने में प्रमाण नहीं है यह कथित होता है, अतः प्रमाण प्रश्न का यह स्थल है प्रसङ्ग का स्थल नहीं है ॥ ८४ ॥

विषय के भेद से आत्माश्रयादि के तुल्य के अविनिगम, उत्सर्ग, कल्पना-गौरव, कल्पना-लाघव और अनौचित्य ये पांच अन्य मानने योग्य तर्क हैं।

स्मिन्नभ्युपगते तदेकदेशान्वयनियमनिर्द्धारणाऽशक्यत्वमविनिगमः, सत्प्रतिपक्षहेत्वोरिव निर्द्धारयितुमशक्यान्वययोः परस्परप्रतिक्षेप एव पर्यवसानात् । नन्वन्यतरमादायाऽपि प्रकृतस्योपपत्तिसम्भवेनाविनिगमस्य दोषत्वमेवाऽनुपपन्नं केवलं पुंसस्तत्र यदि संशयः स्यात्स च किं न स्यादिति चेन्न, भावानवबोधात् प्रमाणासम्भवेन क्वचिदपि विशेषः कथमभ्युपगन्तुं शक्यो यमादाय वस्तुगत्याऽप्येकस्याऽन्वयः स्यात् । नन्वेवं प्रमाणाभाव एव दोषः स्यान्नाविनिगम इति चेन्न, तस्याविनिगमोन्नेयत्वेनाविनिगमस्यैव प्रथमोत्पन्नस्योपन्यासौचित्यात् । नन्वेवमनुमाने व्यक्त्यविनिगमो दोषः स्यादिति चेन्न, तत्रानेकव्यक्तीनामभ्युपगमसिद्ध्यभावात्सामान्योपसंहारस्यैकामेव व्यक्तिमाक्षेप्तुं सामर्थ्यादविनिगमस्य चानेकाभ्युपगमे सत्युपस्थानादिति ॥ ८५ ॥

बाहुल्यदृष्टमपेक्ष्य बाहुल्यदृष्टतया दुर्बलस्योपगमार्हतोत्सर्गः, तद्यथा—स्वस्थस्य

विकल्प से अन्वय के योग्य अनेक के मध्य में एक के अन्वय का जो नियम उसके निश्चय का अशक्यत्व अविनिगम है। जैसे भूतत्व, मूर्तत्व दोनों में जातित्व के अन्वय की योग्यता है और दोनों को जाति मानने में साङ्कर्य दोष होगा, अतः एक ही को जाति मानना चाहिये वहां अनुगत प्रतीतिरूप जातित्व साधक प्रमाण के दोनों स्थलों में तुल्य होने से यह विकल्प होता है कि भूतत्व जाति है? वा मूर्तत्व? उन दोनों के मध्य में एक में भी जातित्व का अन्वय अशक्य नहीं है यही अविनिगमन है। यहांपर सत्प्रतिपक्ष हेतु के तुल्य एक के जातित्व की ग्राहकसामग्री, इतर के जातित्व की प्रतिबन्धिका है।

खण्डन—एक भूतत्व को जाति मानने से सङ्कर दोष का परिहार होता है अतः विनिगम दोष नहीं है। केवल अविनिगम स्थल में पुरुष को सन्देह होता है उसकी भी निवृत्ति हो सकती है।

समर्थन—आपने मेरे भाव को नहीं जाना। भूतत्व मूर्तत्व दोनों के मध्य एक में कोई विशेष (जातित्वसाधक अतिशय) को मानने में प्रमाण है फिर किस के बल से एक में जातित्व का अन्वय करें। अर्थात्, अनुगत प्रतीतिरूप प्रमाण दोनों में तुल्य है और इससे अन्य विशेष में प्रमाण का अभाव है।

खण्डन—यदि ऐसा है तो प्रमाणाभाव ही को दोष मानिये, अविनिगम को दोष मानना व्यर्थ है।

समर्थन—विशेष में प्रमाण (अतीन्द्रिय होने से अविनिगम से) अनुमेय है, अतः प्रथम उपस्थित होने से अविनिगम ही दोष है प्रमाणाभाव नहीं है।

खण्डन—यदि अविनिगम को दोष मानें, तो धूम से पर्वत में तार्णवा पार्णवा काष्ठज वह्नि के मध्य में एक के भी अन्वय के अशक्यत्व होने से अनुमिति स्थल में अविनिगम के दोष होने से अनुमितिमात्र का उच्छेद हो जायगा।

समर्थन—अनुमितिस्थल में अनेक व्यक्ति का विकल्प नहीं होता है, कारण कि सामान्यवह्नि के सम्बन्ध का [एक व्यक्ति के आक्षेप में ही] सामर्थ्य है और अविनिगम का अनेक व्यक्ति के विकल होने पर उपस्थान होता है ॥ ८५ ॥

लोक में अतिप्रसिद्ध की अपेक्षा से अप्रसिद्ध दुर्बल है उनके अस्वीकार की योग्यता उत्सर्ग है। जैसे स्वस्थ जाग्रत् मनुष्य के ज्ञान को [प्रामाण्य अप्रामाण्य निर्णय में

जाग्रतो ज्ञानं प्रामाण्याप्रामाण्यनिर्द्धारकप्रमाणानुपनिपाताविशेषेऽपि विना बाधमप्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तं प्रति स्यात् न तु प्रामाण्यं, यं तर्कमेतमालम्ब्याहुः—

"तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता ।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यत इति"

द्रष्टव्योदाहरणं चैतदीश्वराभिसन्धौ वेदप्रामाण्ये तथा, यथा न सौगतोऽपि विप्रतिपत्तुमर्हति । ननु बलवदेककोटिकः संशय एवोत्सर्गस्तत्कथं तर्कः स्यादिति चेन्न, उत्सर्गस्य सम्भावनायाः स्वार्थस्थित्यनुकूलतयाऽवलम्ब्यत्वात्संशयस्य त्वनेवम्भावात् उत्सर्गस्यैककोटिनिष्ठत्वात्संशयस्य च कोटिद्वयावगाहित्वात् । एतेन संशयस्यैवैका बलवती या कोटिः सैवोत्सर्ग इति निरस्तम् । निर्णयोऽपि संशयस्यैव वस्तुनियतकारणजत्वरूपबलवती कोटिः स्यात् । स्यादप्येवं यद्युत्सर्गवन्निर्णयेऽपि संशयस्यानुस्यूतिः स्यात् इति चेन्न, उत्सर्गोदाहरणे उत्सर्गमाद्रियमाणैः संशयोच्छेदानुमतेरेव बाधाभावं सहकारिणमपेक्ष्योत्सर्गेणार्थैक्याभाव एव प्रमाणीभवनात् । तस्माद्यथाऽनवस्थादयो बाधाद् दूषणत्वं त्यजन्तस्तदभावे दूषणानि भवन्ति तथोत्सर्गेपि तथैवेति ॥ ८६ ॥

प्रमाण की विद्यमानतारूप विशेष के न होने पर भी बाध के अभावकाल में] जो अप्रमाण मानते हैं, उनके प्रति उत्सर्ग दोष होता है, जो उक्त ज्ञान को प्रमाण मानते हैं उनके प्रति उत्सर्ग दोष नहीं होता है । जिस उत्सर्गरूप तर्क का अवलम्बन कर भट्टपाद ने कहा है कि बोधरूप होने से ही बुद्धि को प्रामाण्य प्राप्त हो जाता है, किन्तु वह प्रामाण्य कहीं कहीं अर्थ के अभाव से अर्थ वा चक्षुरादिनिष्ठ दोष से बाधित भी हो जाता है । ईश्वराभिसन्धि के वेदप्रामाण्य नाम प्रकरण में उत्सर्ग का उदाहरण उस प्रकार से हमने दिखाया है जिसमें बौद्ध भी विप्रतिपत्ति नहीं कर सकते हैं ।

प्रश्न—प्रायशः ज्ञानं प्रमैव स्यात् इत्याकारक बलवत् एक कोटिवाला सम्भावनारूप सन्देह ही उत्सर्ग रहे, उसको तर्क क्यों मानें ।

उत्तर—सम्भावनारूप उत्सर्ग स्वप्रयोजन (ज्ञान प्रामाण्य) का साधक है और संशय उभय कोटिक होने से प्रयोजन का साधन नहीं हो सकता है, अतः उत्सर्ग सन्देह नहीं है किन्तु तर्क है इससे "संशय की ही एक बलवती कोटि उत्सर्ग है" यह कथन खण्डित न जानना चाहिये (अन्यथा प्रयोजन के साधक होने पर भी उत्सर्ग को यदि सन्देह मानें, तो निश्चय भी वस्तु से नियत भी सन्निकर्षरूप कारण से जन्यरूप, सन्देह की ही बलवती कोटि क्यों न मानी जाय ।

प्रश्न—उत्सर्ग के उदाहरण में संशय की स्फूर्ति होती है और निश्चय में संशय की स्फूर्ति है नहीं, अतः निश्चय सन्देह की बलवती कोटि नहीं है ।

उत्तर—जो उत्सर्ग का आदर करते हैं वे उत्सर्ग के उदाहरण में संशय की स्फूर्ति नहीं किन्तु संशय का उच्छेद ही मानते हैं, कारण कि बाधाभाव से सहकृत होकर उत्सर्ग ज्ञान के प्रामाण्य में प्रमाण होता है तस्मात् जैसे अनवस्थाआदि बाध होने पर दूषणत्व को त्याग कर भी बाध के अभावस्थल में दूषण होते हैं वैसे ही उत्सर्ग भी बाध के अभाव में प्रमाण होता है ॥ ८६ ॥

सुगमासुगमयोरसुगमदुर्बलत्त्वं कल्पनागौरवं, दृष्टजातीयमपेक्ष्यादृष्टजातीयं दुःखेन प्रमीयते स्वल्पमपेक्ष्य च बह्विति अखिलजनानुभवसिद्धमेतत् । दर्शितं च विविच्येद-मीश्वराभिसन्धौ यथा नैयायिकादिकं प्रति क्षित्यादिषु प्रतिकार्यं कर्तॄणां भिन्नानाम-भ्युपगमापादके, तथाच सौगतं प्रति प्रत्येकं कारणानां समर्थानामनेकसमानदेशकाला-नेकनीलादिव्यक्त्युत्पादापादके चेति दूषणानुकूलमिदम् । तद्व्यतिरेकेण कल्पनालाघवं साधनानुकूलम् ॥ ८७ ॥

प्रामाणिकाव्यवहार्यत्वमसमाधेयजातीयमनौचित्यं वैयात्यनामकं, तस्य भेदाः प्रश्नवैयात्यादयः । प्रश्नविषयमप्रमिण्वतां प्रष्टरि प्रश्नानौचित्यं प्रश्नवैयात्यं, यथाऽवस्तु-नि विधिनिषेधयोः किमिच्छसीति पृच्छति प्रमाणव्यवहारिणां सौगते । अतएवात्रा-नौचित्यापरनामकं वैयात्यं परस्य दोषं मनसि कृत्वैके ब्रुवते अत्र सहृदयानां मूकतैवो-चितेति । अपरे च नह्यप्रतीते देवदत्तादौ स किं गौरः कृष्णो वेति वैयात्यं विना प्रश्नः स्यादिति । यदि चेदमनौचित्यं नाम दोषो नाभ्युपेयते तदानीमर्थान्तरेण प्रकृतमर्थं

सुबोध और दुर्बोध के मध्य में दुर्बोध की दुर्बलत्वकल्पना गौरव है। दृष्टजातीय की अपेक्षा से अदृष्टजातीय, तथा स्वल्प की अपेक्षा से बहु, दुःख से ज्ञात होता है—यह बात अनुभव सिद्ध है। इस कल्पना गौरव का उदाहरण ईश्वराभिसंधि नामक ग्रन्थ में बड़े विवेक से दिखाया गया है। जैसे नैयायिक के कार्यत्व से क्षित्यादि में कर्तृजन्यत्व का साधन करने पर क्षित्यादि कार्य के अनेक होने से अनेक कर्तृसिद्धि क्यों नहीं हो। वादी की इस शंका की निवृत्ति कल्पनागौरवरूप तर्क से होती है। तथा बौद्धमत में प्रत्येक समर्थ कारणों के समान देशकालवाले अनेक नीलादि कार्यकारित्व क्यों न हो" इस शंका की निवृत्ति कल्पना गौरवरूप तर्क से होती है। कल्पना-गौरव प्रतिवादी से कथित दूषण के अनुकूल है। और कल्पनागौरव का अभावरूप कल्पनालाघव, स्वपक्ष के साधन के अनुकूल है ॥८७॥

प्रामाणिकों के व्यहार का अविषय तथा समाधान के अयोग्य, अनौचित्य है। अनौचित्य का ही नाम वैजात्य है, अनौचित्य के भेद प्रश्नवैजात्यआदि हैं। जो पण्डित प्रश्न के विषय को नहीं मानते हैं उनके प्रति उस विषय में विशेष के ज्ञानार्थ प्रश्न, प्रश्ना-नौचित्य है। जैसे प्रमाणव्यवहारी नैयायिकआदि के प्रति आप जगत् को अवस्तु [असत्] तो मानते ही हैं। परन्तु उस असत्व को भावरूप अथवा अभावरूप मानते हैं—इस सौगत के प्रश्न में प्रश्नानौचित्य है। इसी से पर के ऐसे प्रश्न में प्रश्न वैजात्य नाम दोष को अङ्गीकार कर एक आचार्य ने कहा है, कि ऐसे प्रश्न पर सहृदय पण्डितों के लिये मूकता ही उचित है। और आचार्य ने कहा है कि अज्ञात देवदत्त के विषय में देवदत्त कृष्ण है वा गौर—यह प्रश्न धृष्टता के बिना हो नहीं सकता है। यदि अनौचित्यरूप दोष को स्वीकार न करें, तब "शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्" इस प्रकृत अर्थ के अर्थान्तर से अर्थात् शब्द को—विभु होने से—कृतक कहना अज्ञान है इस प्रकार से परिहार करने पर यह परिहार [समाधान] अर्थान्तर है ऐसा कहने पर "अर्थान्तर ही क्या है? यह कहता हुआ प्रश्न पर-म्परा का आलम्बनकारी वादी अनौचित्य से अन्य किस निग्रह से पराजित होगा। अर्थात्

निरस्यार्थान्तरस्यार्थान्तरेण परिहारात् तत्परम्परामालम्बितुकामः केन दोषेणार्थान्तरपरिहाराभासत्ववादिनि अर्थान्तरेणैव तत्परिहरणमनुचितमित्यतोऽन्येन जीयेत। अर्थान्तरनिग्रहतायां विप्रतिपन्नोऽपि प्रश्नपरम्परामालम्ब्य स्वभङ्गभयात्कथाऽवसानमनिच्छन्तं कथं जयेत। नचाऽनवस्थया अयतीति वाच्यम्। यावदुत्तरमर्थान्तरेण परिहरणे प्रश्नान्तरेण वा द्वयोरप्यनवस्थासाम्यात्।

"दोषं व्यक्तिविवेकेऽधुं कविलोकविलोचने।
काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमाऽऽद्दत" ॥ ८८ ॥

ननु कथमत्र प्रामाणिकाव्यवहार्यत्वमिति पृष्टेन यदि मूकत्वमालम्ब्य तथात्वं वादिनि न व्युत्पाद्यते तदानीमप्रतिभाऽऽपतेत्, अथ तथात्वं व्युत्पाद्यते प्रश्नार्थादेः प्रमाणाविषयत्वमुपन्यस्य, तदाऽत्यन्तासद्व्यवहार्यता स्वीकृतैव स्यादिति चेत्, अत्र ब्रुवते। मूकतैवात्र विजयायेति। नचाप्रतिभैवं प्रसज्येत, उत्तरस्याऽप्रतिपत्तिरुत्तराऽर्हस्येति तल्लक्षणात्। यदि चायं नियमो वादिना इष्यते यदभ्रान्त्यैव तेन व्यवहर्तव्यमनुवादादन्य-

---

अर्थान्तर होने से परिहार को आभास कहने वाले के प्रति फिर भी अर्थान्तर से ही परिहार अनुचित है इस प्रकार से अनौचित्य से ही उक्त वादी निगृहीत होता है। किञ्च जो स्वयं अर्थान्तर को निग्रह स्थान नहीं मानते हैं वह पराजय के भय से, प्रश्न परम्परा के भय से, प्रश्न परम्परा का अवलम्बन कर शास्त्रार्थ की समाप्ति न चाहने वाले को, अनौचित्य से अन्य किस निग्रह से परास्त करेंगे। तस्मात् अनौचित्य अवश्य मानना चाहिये।

प्रश्न०—स्वपराजय के भय से प्रश्न परम्परा का अवलम्बन करने वाले पुरुष को अनवस्था से पराजय कर सकते हैं।

उत्तर—अनवस्था ही क्या है ऐसा प्रश्न होने से प्रश्न उत्तर दोनों पक्ष में अनवस्था सम है।

काव्यमीमांसाशाली पण्डितों में प्राप्तमहिमा महिमा नाम (महिम भट्ट) कवि ने कविजन के नेत्र तुल्य व्यक्तिविवेक नामक स्वग्रन्थ में "अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्" यह कह कर इस दोष का आदर किया है ॥८८॥

प्रश्न—अनौचित्य प्रामाणिकों का अव्यवहार्य कैसे है—ऐसा प्रश्न होने पर यदि मूकत्व का अवलम्बन कर वादी के प्रति अनौचित्य के प्रामाणिक व्यवहार्यत्व का प्रतिपादन नहीं किया जाय, तो अप्रतिभा नाम निग्रह होता है और यदि प्रश्नार्थ के प्रमाणाविषयत्व का प्रतिपादन कर अनौचित्य के प्रामाणिक व्यवहार्यत्व का प्रतिपादन किया जाय, तो अत्यन्त असत् में व्यवहार्यत्व के स्वीकार से अपसिद्धान्त हो जायगा।

उत्तर—अनौचित्य अव्यवहार्य कैसे है इस प्रश्न में मूकता ही विजय का हेतु है। और मूकत्व के अवलम्बन में भी अप्रतिभा नहीं होती है, कारण कि उत्तर के अर्ह प्रश्न की अप्रतिपत्ति अप्रतिभा है और अनौचित्य उत्तरार्ह नहीं है।

यदि वादी इस नियम को स्वीकार करता हो कि "अनुवाद से अन्यत्र में भ्रान्ति से व्यवहार नहीं करूँगा„ तो मध्यस्थ को अनौचित्य का प्रयोग करना चाहिये मध्यस्थ जैसे अपभ्रंश से वादी का प्रबोधन करता है वैसे ही अप्रमाण का अवलम्बन कर भी

त्रेति, तदा मध्यस्थोद्भाव्यत्वमस्य दोषस्योपन्यस्यतां, मध्यस्थेन ह्यपभ्रंशभाषयाऽपि यथा वादिप्रबोधनं क्रियते तथा यद्यप्रमाणमवलम्ब्यापि क्रियते तदा को दोषस्तस्य स्यात् तत्र विषये तथैव तेन वादिबोधनस्य शक्यत्वात् । तस्मात् मध्यस्थं प्रत्यनुत्तरदानं स्वदोषपरिहाराय प्रतिवादिनापि वैयात्यलक्षणदर्शनं कार्यं, मध्यस्थं प्रति तस्याऽप्रमाणेनापि प्रतिबोधने निर्दोषत्वात् ॥ ८६ ॥

ननु वादिभ्यामेव वा वादिनि मध्यस्थेन वा, तं प्रतिवादिना वाऽत्यन्तासद्विषये व्यवहारोपगमे कथं नासत्ख्यातिः स्वीकृता स्यात् । किं न स्यात् । विशिष्टरूपे सम्बन्धांशे चाऽसत्ख्यातेरन्यथाख्यातिवादिभिरप्यभ्युपगमात् । ननु वन्ध्यासुताच्छशविषाणं भिन्नमित्यादिषु व्यवहरतः कथं विशेष्ये विशेषणेऽपि नासत्ख्यातिरुपगन्तव्येति चेत्, न असत्ख्यात्यभ्युपगमस्य सत्ख्यातित्वात्यागनियमोपगमविश्रान्तत्वात् । असदपि सदुपश्लिष्टमेव प्रतिभासते न तु केवलमसत् कयाऽपि ख्यात्या समुल्लिख्यते इत्यन्यथाख्यातिवादिभिरिष्यमाणत्वात् । वन्ध्यासुताच्छशविषाणं भिन्नमिति प्रतिपत्त्याऽपि भिन्नमित्ययमंशः सामान्यतोऽन्यत्र दृष्ट एव प्रतीयते केवलं भेदस्य सदाश्रयः प्रतियोगि चेति यद्वस्तुतः तदसदाश्रयः प्रतियोगि च तस्येत्यन्यथा कृत्वा प्रतीयत इत्यन्यथाख्यातिरेवोपगता भवति । यथा तु विशिष्टमत्यन्ताऽसदेव तथाऽश्रयप्रतियोगिनी अत्यन्तासती एव किं न प्रतिभासेते तावताऽपि यथोक्ताऽन्यथाख्यात्यनुल्लङ्घनादेव । नचैवमसत्ख्यातिवादिनाऽपि शक्यं वक्तुं, केवलं सदेव प्रकाशत इत्यस्मात्पक्षाद्विपरीतं विशिष्टं सम्बन्धश्च क्वचिद्विशेषणाद्यप्यत्यन्तासद्भ्रान्त्योल्लिख्यत इत्येवंरूपा तावदसत्ख्यातिः परेणोपगतैव । यदि तु सदपि प्रकाशते किञ्चित्तत्किं नासत्प्रकाशत इति ।

वादी का प्रबोधन करे तो हानि क्या है, कारण कि अनौचित्य का प्रबोधन, भ्रान्ति से ही मध्यस्थ कर सकता है तस्मात् मध्यस्थ के प्रति प्रतिवादी भी उत्तर न देने में स्वदोष के परिहार के अर्थ अनौचित्य का बोध नहीं कर सकता है. कारण कि मध्यस्थ के प्रति अप्रमाण से बोधन में भी कोई दोष नहीं है ॥ ८६ ॥

प्रश्न—परस्पर के प्रति, वादी प्रतिवादी के अथवा वादी के प्रति मध्यस्थ के या मध्यस्थ के प्रति वादी के अत्यन्त असत् को व्यवहार का विषय मानने पर असत्ख्याति का स्वीकार हो जायगा ।

उत्तर—अन्यथाख्यातिवादी विशिष्ट अंश में वा सम्बन्ध अंश में जैसे असत्ख्याति को मानते हैं वैसे ही अनौचित्य विषय में असत्ख्याति को मानें, तो हानि क्या है ।

प्रश्न—वन्ध्या-सुत से शश-विषाण भिन्न है इस स्थल में विशेष्य-विशेषण अंश में भी असत्ख्याति क्यों न मानी जाय ।

उत्तर—असत्ख्याति के अस्वीकार का सत्ख्याति का अत्याग अर्थ है । सर्वथा असत्ख्याति को न मानना अर्थ नहीं है, कारण कि (असत भी सत् से उपश्लिष्ट ही भासता हैं केवल असत् किसी ख्याति से नहीं भासता है, यही अन्यथाख्यातिवादी भी मानते हैं । वन्ध्या-सुत से शशविषाण भिन्न है इस स्थल में भी सामान्य से अन्यत्र दृष्ट ही

यतः परेण विकल्पः सर्वथा वस्त्वनुल्लेखी केवलमलीकमुल्लिखन्नसत्ख्यात्यात्मा स्वीक्रियते। यदि तु यथोक्तमेव परोऽप्यभ्युपगच्छति तदानीमनुमानप्रमाणादिवदत्राप्यविप्रतिपत्तिरेवेति ॥ ९० ॥

ननु सर्वथैवासत्ख्यातिरपि भवतानुऽमन्तव्यैव, तथाहि—वन्ध्यासुतशशविषाणे कूर्मरोमैवेति वदतः शब्दादर्थं प्रतिपादयतां किं तदणुमात्रमपि समुल्लेख्यं तत्प्रतीतेः इति चेन्न, तत्रापि तादात्म्यस्य सामान्यतोऽन्न प्रतीतस्यैवाऽसदुपहितस्य स्फुरणोपगमात्, प्रकारभेदवैशिष्ट्येन भिन्नयोरेकत्वं हि तादात्म्यं तच्चाऽन्यत्रास्त्येव तर्कसंशयाभ्यामप्रमाभ्यां जननेऽपि तत्तत्प्रमावत् मध्यस्थाद्यप्रमया तथा प्रश्नानौचित्यादिप्रमोत्पादनाविरोधे बाधवत् भ्रमविषयाऽतथाभावेऽपि भ्रमस्याप्रमात्वपारमार्थिकतावत्प्रश्नविषयासत्यत्वेऽपि प्रश्नानौचित्यसत्यतोपपत्तिरेव ॥९१॥

भेदप्रतीति का विषय होता है। केवल भेद यह है कि अन्यत्र भेद का सत् आश्रय और प्रतियोगी भासता है और प्रकृत में अन्यथारूप से भेद का असत् प्रतियोगी और आश्रय भासता है फिर यह भी अन्यथाख्याति ही क्यों न मानी जायगी ॥९०॥

जैसे विशिष्ट अत्यन्त असत् ही भासता है, वैसे ही उक्त प्रतीति में आश्रय प्रतियोगी अत्यन्त असत् ही भासता है ऐसा मानने पर भी अन्यथाख्याति का उल्लंघन नहीं है।

प्रश्न—असत्ख्यातिवादी भी इसी प्रकार से कह सकता है कि जैसे केवल सत् ही भासता है इस पक्ष से विपरीत विशिष्ट सम्बन्ध कहीं २ विशेषण भी अत्यन्त असत् ही भासता है ऐसी असत्ख्याति को अन्यथाख्यातिवादी मानते हैं वैसे ही सत् भी असत् से उपश्लिष्ट ही भासता है केवल सत् नहीं भासता है, अतः सर्वज्ञान असत्ख्याति ही है।

उत्तर—बौद्ध सद्वस्तु के अनवगाही केवल असत् का उल्लेख करने वाली विकल्परूप असत्ख्याति को मानते हैं। और अन्यथाख्यातिवादी सत् उपश्लिष्ट ही असत् भासता है ऐसा मानते हैं। दोनों मत में यह महाभेद है। यदि बौद्ध भी सत् से उपश्लिष्ट ही असत् के भान को असत्ख्याति माने, तो अनुमान के प्रामाण्य के तुल्य उक्तरूप असत्ख्याति में मेरी कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी। किन्तु बौद्धों का अपसिद्धान्त होगा।

प्रश्न—आपको सर्वथा असत्ख्याति भी अवश्य माननी होगी। देखिये—वन्ध्या सुत, शशविषाण, कूर्मरोम ही हैं, इस शब्द का क्या अणु मात्र अर्थ है जो उक्त प्रतीति का विषय हो।

उत्तर—सामान्यरूप से अन्यत्र प्रतीत ही असत् से युक्त तादात्म्य इस प्रतीति का विषय होता है। कारण कि प्रकार-भेद से विशिष्ट भिन्न भिन्न अर्थों का ऐक्य, तादात्म्य है और यह तादात्म्य अन्यत्र सत् ही है। किंच तर्क तथा संशय स्वयं अप्रमाण भी हैं परन्तु उनसे जन्य अनुमिति जैसे प्रमाण है वैसे ही मध्यस्थ के अनौचित्य विषय को विषय करने वाली अप्रमा से प्रश्नानौचित्य विषयक प्रमा उत्पन्न हो सकती ही है। अथवा बाधित भ्रम का विषय असत् भी है। परन्तु भ्रम में अप्रमात्व के प्रभाव के तुल्य "शशशृंग मृदु वक्रं वा ?" इस प्रश्न के विषय के असत् होने पर भी प्रश्नानौचित्य में सत्यत्व का अवगाहन करने वाली प्रमा हो सकती है ॥९१॥

एतेन भ्रान्तिजाया धियः प्रमात्वं तथाऽप्यदृष्टचरमित्यपि परास्तप्रायमिति । एवमन्यत्राप्येवंविधोदाहरणे वाच्यम् । नच कश्चिदुक्तप्रकारमन्यथाख्यातिसमाधानं नानुमन्तुं शक्नोति अन्यथा कथमसत्ख्यातिवादिनोमतमपि जानीयादज्ञात्वा च स्वपरमतवैचित्र्यं कथं वादे प्रवर्तेत । एते सर्वेऽपि तर्काः प्रमाणविरोधे वा प्रमाणाभावे वा निष्पीडिताः प्रविशन्तो न बाधासिद्धिभ्यां भिद्यन्ते-पूर्वैरपि लोकसिद्धत्वाद्व्यवहृताः केवलमस्माभिरेव तर्कपदव्यामभिषिक्ताः ततो न प्रबन्धेन निरस्यन्ते । "विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं च्छेत्तुमसाम्प्रत"मिति ॥६२॥

ये च परैस्तर्कदोषाः षट् स्वीक्रियन्ते आश्रयासिद्धिरनुकूलत्वं मूलशैथिल्यमिष्टापादनं विपर्ययापर्यवसानं मिथोविरोधश्चेति, सोऽयं तर्कस्य दोषविभागो नोपपद्यते । व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोः प्रतीतिमपेक्ष्य यथाऽनुमानं जायते तथैव तर्कोऽपि, इयान् परमनयोर्विशेषो यदनुमानं तयोः प्रमितया जायते तर्कस्त्ववास्तवाभ्यामपि ताभ्यां पराभ्यु-

---

इसीसे भ्रान्ति से जायमान बुद्धि में प्रमात्व कहीं देखा नहीं गया है, इस कथन को भी खण्डित जानना चाहिये इसी प्रकार से वन्ध्यासुत में गगनारविन्द उसमें कूर्मरोम, इत्यादि असत्ख्याति में सत् से उपश्लिष्ट ही असत् के भान को जानना चाहिये ।

असत भी सत् से उपश्लिष्ट ही भासता है केवल असत् नहीं भासता है—यही अन्यथाख्याति है कोई भी अन्यथाख्यातिवादी इस प्रकार से उक्त अन्यथाख्याति के निर्वाह का अस्वीकार नहीं कर सकता है। यदि अस्वीकार भी करे, तो असत्ख्यातिवादी के मत को कैसे जानेगा ।

कारण कि असत् के भान को वह मानता नहीं है। और मेरे कथन के अनुसार तो सत् जो ख्याति उससे पश्लिष्ट असत् का भान होता है अतः असत्ख्यातिवादी के मत के ज्ञान में कोई बाधक नहीं है। और स्व पर मत के वैलक्षण्य को न जान कर वाद में पुरुष कैसे प्रवृत्त हो सकेगा ।

विचार करने पर यदि अविनिगमआदि चार तर्क, प्रमाण के विरोधरूप हैं, तो बाध में, और यदि प्रमाण के अभावरूप हैं तो असिद्धि में, ये अन्तर्भूत हैं। इनसे पृथक् नहीं हैं। पूर्वाचार्यों ने भी इन तर्कों को लोकसिद्ध माना है। केवल मैंने ही इनको तर्क पदवी पर आरूढ़ किया है, इसी कारण से अतियत्न से इनका खण्डन नहीं करते हैं, कारण कि विषका वृक्ष भी स्वयं बढ़ा कर स्वयं छेदन के अयोग्य है ॥ ६२ ॥

आश्रयासिद्धि, अनुकूलत्व, मूलशैथिल्य, इष्टापादन, विपर्ययापर्यवसान और मिथोविरोध तर्कों के दोष आचार्यों ने माने हैं। वह दोष विभाग युक्त नहीं है, कारण कि व्याप्तिपक्षधर्मता की प्रतीति की अपेक्षा से जैसे अनुमिति होती है वैसे ही व्याप्तिपक्षता की प्रतीति की अपेक्षा से ही तर्क भी होता है। परन्तु इन दोनों में यह भेद है कि अनुमिति तो व्याप्ति पक्षता की प्रमिति की अपेक्षा से होती है और तर्क तो अवास्तव के बल पर के अभ्युपगममात्र से सिद्ध व्याप्ति पक्षता से होता है इससे विचार ने पर तर्क पर के अभ्युपगममात्र जो प्रसाद उससे सिद्ध सामग्री वाला है। अतः वास्तवी आश्रयासिद्धि का भी अनुरोध नहीं कर सकता है। तस्मात् प्रमितिअभ्युपगम की सिद्धि से कृत वैचित्र्य के

पगममात्रसिद्धाभ्यां, भवति तेन विमृष्यमाणः तर्कः पराभ्युपगममात्रप्रसादसिद्धपरिकरो नाश्रयासिद्धिमपितावद्वास्तवीमनुरोद्धुमधिकरोति ततः प्रमित्यभ्युपगमसिद्धिकृतवैचित्र्याश्रयाद्भेदादन्यो यावान् यथा च हेत्वाभासविभागः तद्वदेव च तर्काभासविभागोपि न्याय्यः तस्मादाश्रयासिद्धिमूलशैथिल्येष्टापादनान्यसिद्धिरेकैव दोषोऽनुमानवत्तत्राप्रमितत्वावलम्बिनीह त्वनभ्युपगमावलम्बिनीति विशेषः। मिथोविरोधश्च सत्प्रतिपक्षतैव। विपर्ययापर्यवसानं तु दोष एवापादनस्य न भवति यन्नाम:विपर्ययापर्यवसानादापादनमात्मसाधनानुकूलं न भवति तदन्यदेव किमपि। बाधविरुद्धत्वव्यभिचारास्त्वनुमानवत् तर्केपि दोषाः पृथग्वाच्याः।बाध उत्सर्गसम्भावनादेरन्यत्रानुकूलः। तर्कस्य सप्तममपि दोषं तर्कस्यापत्तिसाम्यं न नामोपगच्छामः स चोभाभ्यामभ्युपगतव्याप्येनानभ्युपगतव्यापकेन प्रागेव दर्शित इत्यास्तां विस्तर इति ॥६३॥

एवं प्रकाराणि तत्तल्लक्षणेषु खण्डनान्यूहनीयानि। तदेतासु खण्डनयुक्तिषु कामपि स्थानान्तरस्थां केनापि प्रकारान्तरेणानीय तत्सदृशीमन्यादृशीं वा स्वयमूहित्वा

आश्रय भेद से अन्य जितना जिस प्रकार हेत्वाभास का विभाग अनुमान में होता है तर्क में भी उतना ही उसी प्रकार तर्काभास के विभाग को भी जानना चाहिये। आश्रयासिद्धि मूलशैथिल्य इष्टापादन ये तीन दोष असिद्धिरूप एक ही दोष को अनुमान के तुल्य तर्क में भी जानना चाहिये। अनुमान में असिद्धि अप्रमितत्व का अवलम्बन करती है और तर्क में असिद्धि अनभ्युपगम का अवलम्बन करती है और मिथोविरोध सत्प्रतिपक्ष ही है और विपर्ययापर्यवसान तो तर्क का दोष ही नहीं है। जो आपादन विपर्यय में पर्यवसान न होने से आत्मसाधन के अनुकूल नहीं होते हैं; वे और ही कुछ दोष हैं। अर्थात् जहां पर-पक्ष में दोषमात्र देना है वहां पर विपर्ययापर्यवसित तर्क का भी उपयोग होने से विपर्ययापर्यवसान का तर्काभास तो मान नहीं सकते हैं। फिर स्वपक्ष साधन के अर्थ विपर्ययापर्यवसित तर्क का जो उपन्यास नहीं होता है इसका कारण कुछ और ही दोष हैं तर्काभासत्व नहीं है।

बाध, विरुद्ध और व्यभिचार, अनुमान के तुल्य तर्क में भी पृथक् ही दोष हैं। उत्सर्गरूप तथा सम्भावनारूप तर्क से अन्य तर्क में बाध अनुकूल है अर्थात् आभासत्व का प्रयोजक नहीं है। तर्क में आपत्तिसाम्यरूप सप्तमदोष को भी मानते हैं वह आपत्तिसाम्य उस स्थल में होता है जहां दोनों व्याप्य का स्वीकार किया हो और व्यापक का स्वीकार न किया हो उस दोष को यदि सत्ता सद्व्यवहारविषय हो, तो सत्तावती हो जायगी, इस स्थल में प्रथम ही हम दिखा चुके हैं, अतः विस्तार रहे ॥ ६३ ॥

हमने विस्तार भय से जिन लक्षणों का खण्डन नहीं किया है। इन लक्षणों में भी मदुक्त खण्डन के सदृश खण्डनों को स्वयं ऊहा कर अथवा इन खण्डन युक्तियों के मध्य में अन्य स्थान स्थित किसी खण्डनयुक्ति का किसी प्रकार से आनयन कर अथवा तत्सदृश युक्तियों की ऊहा कर वादी से बड़े विचार से कृत अन्य २ पदार्थों के लक्षण का भी खण्डन करना चाहिये। तथा इस ग्रंथ में हमने जिन लक्षणों का खण्डन किया है, यदि वादी उनके तुल्य अन्य लक्षणों की ऊहा करे, अथवा उक्त बाधकों के मध्य में प्रज्ञाबल से किसी का समा-

परैर्विविच्यमानानि पदार्थान्तराण्यपि बुद्धिमता बाधनीयानि। अत्र चाऽस्माभिर्दूषयितुं शङ्कितेभ्यः परपक्षप्रकारेभ्यो यदि प्रकारान्तरं कोऽपि स्वयमूहति उक्तानां बाधकानां मध्ये मध्ये क्वचित्प्रज्ञयाऽपि समाधानमभिदध्यात्तत्र खण्डनवादिनः प्रस्तुता प्रतिक्रिया न स्फुरेत्तदा परेण प्रयुज्यमाने वाक्ये बहुपदात्मके कस्यचित्पदस्यार्थे खण्डनान्तरमवतारणीयम्। एवं तत्रापि परेण प्रज्ञाशोषणे पुनस्तथैव शाखान्तरेषु सङ्क्रमणीयमिति प्रकारेण खण्डनमये चक्रे सम्यगवधेयम्। न च शाखान्तरसङ्क्रान्तावर्थान्तरं पतेत्, अप्रकृतत्वाभावात्। नचैकनिर्णयारम्भेऽन्यसङ्क्रान्तावनौचित्यं स्यात्। शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्यादौ परेणोक्ते कृतकत्वादावविप्रतिपत्तव्यत्वापत्तेरन्यतरासिद्ध्युच्छेदापातात्। येन हि तन्निर्वाह्यते तदनिर्वचनीयतयाऽपि निर्वाह्यानिर्वचनीयतैवेति। तस्मात्—

तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे।
शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया॥ ६४॥

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाऽऽराद्धगुरुः श्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्तर्करसोर्मिमज्जनसुखेष्वासञ्जनं सज्जनः॥

धान भी करे और खण्डनवादी को प्रस्तुत समाधान की स्फूर्ति न हो, तो वादी से प्रयुक्त बहुपदात्मक वाक्य के किसी पद के अर्थ के खण्डन के अर्थ खण्डनान्तर का अवतरण करना चाहिये। और इसी प्रकार से वहां भी यदि वादी प्रज्ञा का शोषण [निष्प्रतिभा] करे, तो पुनः उक्तप्रकार से अन्य शाखा का अवलम्बन करना चाहिये। अन्य शाखा के अवलम्बन से अर्थान्तर भी नहीं होगा, कारण कि अन्य शाखा भी प्रस्तुत ही है। और अप्रस्तुत अन्य अर्थ का अवलम्बन, अर्थान्तर है। तथा एक पदार्थ के निर्णय के आरम्भ में अन्यपदार्थ के संक्रमण में अनौचित्य भी नहीं है, कारण कि अनौचित्य भी अप्रस्तुत अन्य के अवलम्बन में ही होता है, अन्यथा यदि प्रस्तुत विषय में भी अर्थान्तर वा अनौचित्य हो, तो शब्द में कृतकत्व से अनित्यत्व के साधन के प्रस्ताव में कृतकत्व में भी विप्रतिपत्ति (जिज्ञासा) अर्थान्तर के भय से नहीं होगी। तथा अन्यतरासिद्धि स्थल का उच्छेद हो जायगा, कारण कि अन्यतर के प्रति, हेतु के असिद्धिस्थल में हेतु को यदि सिद्धि करें तो अर्थान्तर वा अनौचित्य हो जायगा अतः साध्य के साधन के प्रस्ताव में हेतु का साधन कोई नहीं करेगा और वस्तुतः हेतु का निरूपण प्रस्तुत ही है। कारण कि जिस हेतु से जो निरूपित होता है उस हेतु के अनिर्वचनीयत्व से साध्य का अनिर्वचनीयत्व सिद्ध होता है तस्मात् मदुक्तयुक्ति के तुल्य अन्ययुक्तियों की ऊहा तथा अन्यत्र उक्त मदुक्त युक्तियों के अन्यत्र योजन, तथा उन युक्तियों के खण्डन होने पर शृङ्खला शाखान्तरारोहण इस प्रकार से मेरी खण्डन प्रक्रिया वाद मे त्रिधा भ्रमण करती है॥ ६४॥

इस ग्रन्थ में कहीं कहीं प्रयत्न रचना का काठिन्य हमने इस प्रयोजन से किया है कि जो प्राज्ञम्मन्य है वस्तुतः प्राज्ञ नहीं है तथा हठ से पढ़ने वाले हैं, वे खल जन इस ग्रन्थ में

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परब्रह्मप्रमोदार्णवम् ॥
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याऽभ्युदीयादियम् ॥ ९५ ॥

इति श्रीकवितार्किकचक्रवर्ति-श्रीश्रीहर्षकृतानिर्वचनीयसर्वस्वे
खण्डनखण्डखाद्ये तुरीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥

क्रीड़ा न करें। किन्तु श्रद्धा से आराधित गुरुओं से विघटित है ग्रन्थ काठिन्य जिनसे ऐसे सज्जन विद्वान् ही मदुक्त तर्क की रसरूपी उर्म्मी में मज्जन सुख में प्रेम का लाभ करें।

कान्यकुब्ज देश के महाराज से ताम्बूल की दो बीड़ी तथा आसन जो पाते हैं, तथा समाधि में आनन्दरूप ब्रह्म का साक्षात्कार जो करते हैं, तथा जिनके काव्य मधु के वर्षणकारी होते हैं तथा परपक्ष के खण्डन करने वाले तर्कों में जिसकी उक्तियां हैं, उस श्री श्रीहर्ष कवि का यह ग्रन्थ पण्डितों के आनन्द के अर्थ प्रकट हुआ है ॥ ९५ ॥

गौरीशंकरश्रेष्ठिनाश्रखुरजारत्नेन काश्यां मुदा
जोखीरामपितामहस्य मटरूमल्लस्य तातस्य च।
नामालङ्कृतनामसंस्कृतमहाविद्यालयः स्थापितः
तत्सेवाधिकृतः तदेककरणः चण्डीप्रसादो द्विजः ॥१॥

क्वाहं कुत्र च खण्डनस्य सुदृढग्रन्थिप्रमोकेच्छया,
प्रारम्भो विकटश्रमश्च जननीभाषानुवादस्य मे।
यद्यप्येवमथापि पूर्णकृपया श्रीशस्य संख्यावतां
कारुण्यैकधियां विधाय करयोरेषोऽर्प्यते सादरम् ॥२॥

काशीस्थ श्रीजोखीराममटरूमलगोयनका संस्कृत-महाविद्यालय-प्रधानाध्यापक श्रीचण्डीप्रसाद सुकुल रचित खण्डनखण्डखाद्य-भाषानुवाद समाप्त।